

शा
न्ति
प
र्व

[भाग १]

महाभारत

संपादक - डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर





१२

म हा भा र त

शान्तिपर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



पारडी [जि. बलसाड]

संवत् २०३६, शक १९००, सन् १९७९

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :

वसन्त श्रीपाद सातवलेकर

स्वाध्याय-मण्डळ, भारत मुद्रणालय,

किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

शान्ति पर्व

आ भा र प्र द र्श न

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं ।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय सेठ श्री गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय सेठ श्री बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते । उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।





महाभारत

शान्ति पर्व

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

वैशम्पायन उवाच—

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले—पाण्डव, विदुर, राजा धृतराष्ट्र और भरतकुलकी स्त्रियां—इन सबने अपने सुहृदोंके लिये जलदानादिक क्रियाएं विधिपूर्वक की ॥ १ ॥

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन्कुरुनन्दनाः ।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमेकं बहिः पुरात् ॥ २ ॥

अनन्तर वे महामना कुरुवंशके पुत्र शुद्ध चित्त करनेके लिये एक महीने तक नगरके बाहर गङ्गा तीरपर वास करने लगे ॥ २ ॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३ ॥

तब उदक क्रिया किए हुए धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास महात्मा सिद्ध और श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि गण आए ॥ ३ ॥

द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः ।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ॥ ४ ॥

तब द्वैपायन वेदव्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान और कण्व तथा उनके मुख्य मुख्य शिष्य भी समीप उपस्थित हुए ॥ ४ ॥

अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः ।
गृहस्थाः स्नातकाः सर्वे ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ ५ ॥

साधु पवित्र, शुद्ध बुद्धिवाले तथा वेद जाननेवाले ब्राह्मण, गृहस्थ और स्नातकने आकर कुरु-सत्तम युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ ५ ॥

अभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥ ६ ॥

अनन्तर वे सब वहांपर पहुंचकर महात्मा महर्षि लोग यथा उचित रीतिसे पूजित होकर सुन्दर श्रेष्ठ आसनोंपर बैठ गये ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा ।
पर्युपासन्यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

इसी भांति सैकडों सहस्रों ब्राह्मण लोग उस समयके अनुसार पूजा और दान ग्रहण करके युधिष्ठिरको घेरकर बैठ गए ॥ ७ ॥

पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् ।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥

पवित्र भागीरथीके तीरपर शोकसे व्याकुल राजा युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर धीरज धारण कराते हुए, यथोचितरूपसे उनके पास बैठे ॥ ८ ॥

नारदस्त्वब्रवीत्काले धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
विचार्य मुनिभिः सार्धं तत्कालसदृशं वचः ॥ ९ ॥

देवऋषि नारद, श्रीकृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके सङ्ग मिलकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके उस समयके अनुसार यही वचन बोले ॥ ९ ॥

भवतो बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥ १० ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबलके प्रभाव और श्रीकृष्णकी कृपाप्रसादसे धर्मपूर्वक इस संपूर्ण पृथ्वीको जय किया है ॥ १० ॥

दिष्ट्या मुक्ताः स्थ संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥ ११ ॥

हे पाण्डव ! प्रारब्धसे ही आप इस जगत्को भयमें डालनेवाले महाभयङ्कर संग्रामसे जीवित मुक्त हुए हैं; इससे इस समय आप क्षत्रिय धर्ममें रत होकर सन्तुष्ट तो हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥ १२ ॥

हे राजन् ! आप युद्धभूमिमें आपके संपूर्ण शत्रुओंको नष्ट करके इस समय इष्टमित्रोंके आनन्दको बढाते तो हैं ? आपने इस समय संपूर्ण राज लक्ष्मी प्राप्त की है, इससे शोकादि क्लेश तुम्हारे चित्तको दुःखित तो नहीं करते हैं ? ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले— हे भगवन् ! श्रीकृष्णके बाहुबलके सहारे, ब्राह्मणोंकी कृपा और भीम अर्जुनके बल—पराक्रमसे मैंने इस संपूर्ण पृथ्वीको जीत लिया है ॥ १३ ॥

इदं तु मे महद्दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥ १४ ॥

यह ठीक है, परन्तु लोभके वशमें होकर मैंने जातिके पुरुषोंका महान् नाश कर डाला, इससे मेरा चित्त सदा अत्यंत दुःखित रहता है ॥ १४ ॥

सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा प्रियान्सुतान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन्प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! सुभद्रा—पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों पुत्र, इन संपूर्ण प्रिय पुत्रोंको युद्धमें मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजयके समान ही मालूम हो रही है ॥ १५ ॥

किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम् ।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥

द्वारिकामें रहनेवाली मेरे भाईकी भार्या वृष्णिकुल नन्दिनी सुभद्रा भगवान् प्रतापी मधुसूदन श्रीकृष्णसे जब यहांसे वे द्वारकापुरीमें जांयगे, तब उनको क्या कहेंगी ? ॥ १६ ॥

×

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा ।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥ १७ ॥

हम लोगोंके प्रियकार्यमें सदा रत और हितकारिणी द्रौपदी देवीके पिता, भ्राता और पुत्र मारे गये हैं, उसहीसे यह अत्यन्त कातर होके रूदन करती है, इसे देखनेसे मेरे चित्तमें अत्यन्त पीडा होती है ॥ १७॥

इदमन्यच्च भगवन्यत्त्वां वक्ष्यामि नारद ।
मन्त्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥

हे भगवन् नारद ! मैं आपसे और भी एक दुःखका विषय कहता हूं, आप सुनिये । मेरी कुन्ती देवीने एक बात गोपन की थी, उससे मैं इस समय अधिक दुःखसे व्याकुल होरहा हूं ॥ १८॥

योऽसौ नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे ।
सिंहखेलगतिर्धीमान्घृणी दन्तो यतव्रतः ॥ १९ ॥

जो दस हजार हाथियोंके समान बलशाली, जो इस पृथ्वीके बीच अद्वितीय रथी कहके विख्यात थे, समरमें जिनकी गति और पराक्रम सिंहके समान था, दयावान्, संयमी और व्रताचरणमें रत ॥ १९ ॥

आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः ।
अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र पुत्रोंके आश्रय स्वरूप थे; मानी, अत्यन्त पराक्रमी, निर्भय चित्तवाले, क्रुद्ध स्वभाववाले और युद्धमें हमपर अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले थे ॥ २० ॥

शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः ।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकं च सोदरः ॥ २१ ॥

जो शीघ्र अस्त्र चलानेमें समर्थ, चित्रयोधी, धनुर्वेद प्रवीण, अद्भुत पराक्रम प्रकाशित करनेवाले, महाबलवान् वीर कर्ण, वह हम लोगोंके सहोदर ज्येष्ठ भ्राता थे और गुप्त रूपसे उन्होंने कुन्तीके गर्भसे जन्म लिया था ॥ २१ ॥

तोयकर्मणि यं कुन्ती कथयामास सूर्यजम् ।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥ २२ ॥

आज जलदान करनेके समय कुन्तीने कहा, कि सब गुणोंसे युक्त कर्ण सूर्यके प्रभावसे मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसे मैंने पहले पानीमें बहा दिया था ॥ २२ ॥

यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाप्यमन्यत ।
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः ॥ २३ ॥

जिसे सब कोई सूतवंशमें उत्पन्न हुआ राधाका पुत्र समझते थे, वह कुन्तीके ज्येष्ठपुत्र हम लोगोंके सहोदर भाई थे ॥ २३ ॥

अजानता मया संख्ये राज्यलुब्धेन घातितः।
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ॥ २४ ॥

मैंने विना जाने ही युद्धमें जो अपने राज्यके लोभी मैंने अपने भाईका वध किया है, इस ही कारण मेरा शरीर शोकरूपी अग्निसे इस प्रकार भस्म हुआ चाहता है, जैसे अग्नि रुईको भस्म कर देती है ॥ २४ ॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः।
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान्वेद सुव्रतः ॥ २५ ॥

कर्ण हम लोगोंके सहोदर भ्राता थे, इस वृत्तान्तको मैं तथा भीमसेन, श्वेतवाहन अर्जुन, नकुल और सहदेव कोई भी नहीं जानते थे; परन्तु श्रेष्ठ व्रत करनेवाले कर्ण हम लोगोंको अपना भ्राता ही जानते थे ॥ २५ ॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम्।
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ ॥ २६ ॥

हमने सुना है, कि मेरी माता कुन्ती देवी हम लोगोंके विषयमें शान्ति स्थापित करनेकी इच्छासे कर्णके समीप जाके उनसे बोली कि, "हे कर्ण! तुम मेरे पुत्र हो" ॥ २६ ॥

पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना।
अतिपश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम् ॥ २७ ॥

माता कुन्तीके वचनको सुनकर महात्मा कर्णने उनकी इच्छा पूर्ण न की। हमने ऐसा सुना है, कि अन्तमें फिर कर्णने यह उत्तर दिया था ॥ २७ ॥

न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे।
अनार्यं च नृशंसं च कृतघ्नं च हि मे भवेत् ॥ २८ ॥

कि "मैं इस उपस्थित युद्धमें दुर्योधनको किसी भांति परित्याग न कर सकूंगा; यदि मैं ऐसा कर्म करूं तो मेरी नीचता, क्रूरता और कृतघ्नता प्रकाशित होगी ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरेण संधिं च यदि कुर्यां मते तव।
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः ॥ २९ ॥

विशेष करके यदि मैं तुम्हारे मतके अनुसार युधिष्ठिरके सङ्ग सन्धि करूं, तो सब लोग मुझे युद्धमें अर्जुनसे भयभीत हुआ समझेंगे ॥ २९ ॥

सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम्।
संधास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ॥ ३० ॥

इसलिये युद्धमें मैं श्रीकृष्णके सहित अर्जुनको पराजित करके पश्चात् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सङ्ग सन्धि करूंगा," इस प्रकार उन्होंने कहा ॥ ३० ॥

तमवोचत्किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम्।
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फल्गुनम् ॥ ३१ ॥

महाबाहु कर्णके ऐसे वचनको सुनकर अन्तमें माताने उस विशाल छातीवाले कर्णसे यह वचन कहा, "हे पुत्र! तब तुम केवल अर्जुनके साथ इच्छानुसार युद्ध करो; मेरे अन्य जो चार पुत्र हैं, उन्हें युद्धमें अभयदान करो" ॥ ३१ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान्वेपमानः कृताञ्जलिः।
प्राप्तान्विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान् ॥ ३२ ॥

उस समय कांपते हुए बुद्धिमान् कर्ण हाथ जोडके मातासे यह वचन बोले—"हे देवि! यदि तुम्हारे अन्य चारों पुत्र युद्ध करते असमर्थ होकर मेरे वशमें भी होजावेंगे, तौभी मैं तुम्हारे अन्य चारों पुत्रोंका प्राण नाश नहीं करूंगा ॥ ३२ ॥

पञ्चैव हि सुता मातर्भविष्यन्ति हि ते ध्रुवम्।
सकर्णा वा हते पार्थे सार्जुना वा हते मयि ॥ ३३ ॥

हे माता! इस युद्धमें मेरे मारे जानेपर अर्जुनसहित तुम्हारे पांच पुत्र होंगे। अथवा अर्जुनके मारे जानेपर कर्णसहित वे पांच होंगे। तुम्हारे पांच पुत्र निश्चितरूपसे उपस्थित रहेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं है" ॥ ३३ ॥

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत्।
भ्रातृणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥

अनन्तर पुत्रोंके कल्याणकी इच्छा करनेवाली माताने फिर अपने पुत्र कर्णसे कहा "हे पुत्र! जाओ, तुम जिन चारों भाईयोंका मङ्गल करनेकी अभिलाषा करते हो, उनका अवश्य कल्याण करो" ॥ ३४ ॥

तमेवमुक्त्वा तु पृथा विसृज्योपययौ गृहान्।
सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्रात्रा सहोदरः ॥ ३५ ॥

ऐसा वचन कहके मेरी माता कुन्तीदेवी कर्णको परित्याग करके अपने गृहमें चली आई थी। हम लोगोंके वही सहोदर वीर भ्राता कर्ण अपने भाई अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं ॥ ३५ ॥

न चैव विवृतो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा मुने।
अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनासौ निपातितः ॥ ३६ ॥

हे मुनि! परन्तु इस गुप्त-वृत्तान्तको कुन्तीदेवी अथवा कर्ण, — इन दोनोंमेंसे किसीने भी प्रकाशित नहीं किया था; इस कारण भ्राता महाधनुर्द्धर शूरवीर कर्ण अपने भाई अर्जुनके हाथसे मारे गये ॥ ३६ ॥

अहं त्वज्ञासिषं पश्चात्स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ।
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात्प्रभो ॥ ३७ ॥

हे द्विजसत्तम ! मुझे माताके मुंहसे वह वृत्तान्त बहुत पीछे मालूम हुआ है, कि कर्ण हम लोगोंके ज्येष्ठ सहोदर भ्राता थे ॥ ३७ ॥

तेन मे दूयतेऽतीव हृदयं भ्रातृघातिनः ।
कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम् ॥ ३८ ॥

जबसे मैंने इस वृत्तान्तको सुना है, तभीसे भ्रातृहत्याके कारण शोकसे मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल होरहा है; क्योंकि कर्ण और अर्जुनकी सहायतासे मैं देवताओंके सहित इन्द्रको भी जीत सकता था ॥ ३८ ॥

सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ।
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति ॥ ३९ ॥

कौरवोंकी सभाके बीच जब धृतराष्ट्रके दुष्ट पुत्रोंने हम लोगोंका बहुत अपमान किया, उस समय अकस्मात् मेरे चित्तमें क्रोध उत्पन्न हुआ था, परन्तु कर्णको देखते ही वह शान्त हो गया ॥ ३९ ॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः ।
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः ॥ ४० ॥

जब कटुआहटको बढानेवाले तथा दुर्योधनके हितकी इच्छा करनेवाले तथा जुए तथा सभामें इस कर्णकी रूखी बातको सुनता था ॥ ४० ॥

तदा नश्यति मे क्रोधः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ।
कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ॥ ४१ ॥

तो उसकी बातको सुनकर मुझे गुस्सा आता था, पर उसके दोनों चरणोंको देखकर मेरा क्रोध शान्त हो जाता था; क्योंकि मेरा विश्वास है कि, कर्णके दोनों चरण मेरी माता कुन्तीदेवीके चरणके समान ही थे ॥ ४१ ॥

सादृश्यहेतुमन्विच्छन्पृथायास्तस्य चैव ह ।
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् ॥ ४२ ॥

उनके पांव मेरी माता कुन्तीके पांवके समान कैसे हुए, इस बातकी मैंने बहुत सोच–विचारके ही खोज की, परन्तु मुझे कुछ भी कारण न मालूम हुआ ॥ ४२ ॥

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ।
कथं च शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि ॥ ४३ ॥

मेरे भाई कर्णके रथके चक्रको संग्राममें पृथ्वीने क्यों ग्रास लिया था, और किस भांतिसे उन्हें शाप मिला था, इससे आप इस विषयके सम्पूर्ण वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ ४३ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम् ।
भवान्हि सर्वविद्विद्वाँल्लोके वेद कृताकृतम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ४४ ॥

मैं सम्पूर्ण वृत्तान्तोंको यथार्थरूपसे आपसे सुननेकी इच्छा करता हूं; आप सर्वज्ञ विद्वान् है और लोकमें जो भूत–भविष्यकी घटनाएं हैं, उनको जानते हैं ॥ ४४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ ४४ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच—

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः ।
कथयामास तत्सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– जब राजा युधिष्ठिरने ऐसा वचन कहा, तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ देवऋषि नारदने सूतपुत्र कर्णके शापके विषयमें जो कुछ घटना हुई थी, उन संपूर्ण वृत्तान्तोंको कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद्रणे ॥ २ ॥

हे महाबाहु भारत युधिष्ठिर ! तुमने जो कुछ कहा वह सब सत्य है । युद्धभूमिमें अर्जुन और कर्णसे कोई भी कार्य असाध्य नहीं थे ॥ २ ॥

गुह्यमेतत्तु देवानां कथयिष्यामि ते नृप ।
तन्निबोध महाराज यथा वृत्तमिदं पुरा ॥ ३ ॥

हे राजन् ! परन्तु मैं तुम्हारे समीप देवताओंकी गोपनीय बात वर्णन करता हूं; पहलेके इस यथावत् वृत्तान्तको तुम चित्त लगाके सुनो ॥ ३ ॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो ।
संघर्षजननस्तस्मात्कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! किसी समय ब्रह्माने अपने मनमें चिन्ता की, कि ये संपूर्ण क्षत्रिय पुरुष शस्त्रसे मरकर किस भांति स्वर्ग लोकमें गमन करेंगे; ऐसा ही विचार करके कुन्तीको कन्या अवस्थामें क्षत्रियोंके बीच शत्रुका नाश रूपी अग्नि प्रकट करनेवाला एक गर्भ सूर्यद्वारा उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः ।
चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठे धनुर्वेदं गुरौ तव ॥ ५ ॥

उस गर्भसे जो तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ था वही समयके अनुसार सूतपुत्र कहके विख्यात हुआ और अङ्गिरा वंशमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्यके निकट धनुष विद्याकी प्राप्ति की थी ॥ ५ ॥

स बलं भीमसेनस्य फल्गुनस्य च लाघवम्।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तथा ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! वह भीमसेनके बल, अर्जुनके अस्त्र लाघव, तुम्हारी बुद्धि और नकुल, सहदेवके विनय, ॥ ६ ॥

सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥ ७ ॥

विशेष करके बालक अवस्थामें श्रीकृष्णके साथ गांडीवधारी अर्जुनकी मित्रता और प्रजाका तुम्हारे ऊपर अनुराग देखकर जलते थे ॥ ७ ॥

स सख्यमगमद्बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन वै।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥ ८ ॥

अनन्तर कर्णने बालक अवस्थामें ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता की, परन्तु दैवी संयोग और स्वभाववशके कारण वह तुम लोगोंके द्वेषी हुए ॥ ८ ॥

विद्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनंजयम्।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

उसके अनन्तर कर्णने अर्जुनको धनुर्वेद विद्यामें सबसे श्रेष्ठ देख गुप्तरीतिसे द्रोणाचार्यके निकट जाकर कहा– ॥ ९ ॥

ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम्।
अर्जुनेन समो युद्धे भवेयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

हे आचार्य ! मैं रहस्य, प्रयोग और प्रतिसंहारके सहित ब्रह्मास्त्र सीखनेकी इच्छा करता हूं; क्यों कि युद्धमें अर्जुनके समान होनेकी मेरी अभिलाषा है ॥ १० ॥

समः पुत्रेषु च स्नेहः शिष्येषु च तव ध्रुवम्।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ॥ ११ ॥

पुत्र और शिष्योंके ऊपर निश्चयही आपकी समान ही प्रीति है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है; इससे आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये, जिससे बुद्धिमान् पुरुष मुझे सभी अस्त्रोंका ज्ञाता नहीं है, यह न कह सके ॥ ११ ॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फल्गुनं प्रति।
दौरात्म्यं चापि कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥ १२ ॥

अर्जुनके प्रति पक्षपात रखनेवाले द्रोणाचार्य कर्णके वचनोंको सुनकर उसके चित्तकी दुष्टताको समझकर यह वचन बोले ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद्यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात्कथंचन ॥ १३ ॥

यथावत् व्रताचरण करनेवाला ब्राह्मण अथवा तपस्यामें निष्ठावान क्षत्रिय ही ब्रह्मास्त्र जान सकता है; दूसरी जातिके मनुष्यको ब्रह्मास्त्र सीखनेका अधिकार नहीं है ॥ १३ ॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च ।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥ १४ ॥

जब अंगिरा गोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने ऐसा उत्तर दिया, तब कर्ण उनका सम्मान करके, उनकी अनुमति–आज्ञासे सहसा महेन्द्र पर्वत पर वास करनेवाले परशुरामजीके निकट गये ॥ १४ ॥

स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य च ।
ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥ १५ ॥

कर्णने परशुरामके समीप जाके सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और उनसे कहा, कि "मैं भृगुवंशीय ब्राह्मण हूं" और उनकी शरण ली ॥ १५ ॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः ।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद्भृशम् ॥ १६ ॥

परशुरामने उनका नाम गोत्र और शुभागमनका विषय पूंछ कर उन्हें शिष्यभावसे स्वीकार किया। और तुम यहां रहो, तुम्हारा स्वागत है, ऐसा कहकर वे उसपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ।
गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत्समागमः ॥ १७ ॥

कर्ण प्रसन्न चित्तसे वहां रहने लगे, वह जब परशुरामजीके निकटमें जाकर पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्र पर्वत पर निवास करने लगे, तब धीरे धीरे देवता, गन्धर्व, यक्ष और सब राक्षसोंके संग उनका मिलाप हुआ ॥ १७ ॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद्भृगुश्रेष्ठाद्यथाविधि ।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥ १८ ॥

वहांपर रहके कर्णने भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ परशुराम जी से विधिपूर्वक सम्पूर्ण धनुर्वेद अस्त्र–शस्त्रोंकी विद्या सीख ली; और देवता, दानव तथा राक्षसोंके अत्यन्त ही प्रीति पात्र हुए ॥ १८ ॥

स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके ।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूतजः ॥ १९ ॥

अनन्तर किसी समय सूतपुत्र कर्ण तलवार और धनुष बाण धारण करके समुद्रके तटपर ही आश्रमके समीप अकेले भ्रमण कर रहे थे ॥ १९ ॥

सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद्ब्रह्मवादिनः ।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥ २० ॥

हे पार्थ ! उस समय दैवके वशमें होकर विना जाने उन्होंने एक अग्निहोत्र करनेवाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणके यज्ञकी गऊका प्राण नाश किया ॥ २० ॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद्वचः ॥ २१ ॥

कुछ समय बीतने पर विना जाने भूलसे ब्राह्मणकी गऊका वध किया है, ऐसा समझकर कर्णने उस ब्राह्मणके निकट जाके सब बात बता दी, और बहुत विनती और प्रार्थनासे उसे प्रसन्न करनेके लिये यह वचन बोले ॥ २१ ॥

अबुद्धिपूर्वं भगवान्धेनुरेषा हता तव ।
मया तत्र प्रसादं मे कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥ २२ ॥

"हे द्विजश्रेष्ठ भगवन् ! मैंने विना जाने आपकी गऊका वध किया है, इससे आप मेरे अपराधकी क्षमा करके मुझपर कृपा कीजिये;" कर्णने यह बार बार कहा ॥ २२ ॥

तं स विप्रोऽब्रवीत्क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥

वह ब्राह्मण उनकी बात सुनते ही बहुत ही क्रुद्ध हुआ और कठोर वचनोंसे कर्णकी निन्दा करके यह वचन बोला, रे दुष्टबुद्धिवाले नीच पुरुष ! तेरा वध करना ही उचित है ! जो हो, तू अब अपने किये हुए पाप कर्मके फलको भोग कर ॥ २३ ॥

येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥ २४ ॥

हे पापी ! तू जिसके साथ सदा ही ईर्षा किया करता है, और जिसके लिये दृढताके सहित अस्त्र-शस्त्रोंका अभ्यास कर रहा है, उसके सङ्ग जब तेरा द्वैरथ युद्ध उपस्थित होगा, उस समय तेरे रथके चक्रको पृथ्वी ग्रास करेगी ॥ २४ ॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥

रथचक्रको जब पृथ्वी ग्रास कर लेगी, और तू उस ही शोक तथा दुःखसे मोहित होजावेगा; उस ही समय तेरा शत्रु दृढ पराक्रम प्रकाशित करके तुम्हारे मस्तकको काट गिरायेगा । अरे अधम पुरुष ! इस समय तू यहांसे चला जा ॥ २५ ॥

×

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्यैवमेवान्यः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥

रे मूढ ! जैसे तूने प्रमत्त होकर मेरे यज्ञकी गऊका प्राणनाश किया है, वैसेही तेरी प्रमत्त अवस्थामें ही तेरा शत्रु तेरे शिरको काटके पृथ्वीमें गिरावेगा ॥ २६ ॥

ततः प्रसादयामास पुनस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत् ॥ २७ ॥

जब उस ब्राह्मणने कर्णको इस प्रकार शाप दिया, तब कर्ण अनेक गौएं, धन और रत्न आदि वस्तुओंसे उस ब्राह्मणको यत्नपूर्वक प्रसन्न करने लगे। तब फिर यह तपस्वी ब्राह्मण बोला ॥२७॥

नेदं मद्व्याहृतं कुर्यात्सर्वलोकोऽपि वै मृषा ।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद्वा कार्यं ते तत्समाचर ॥ २८ ॥

"मेरे मुखसे जो वचन निकला है, उसे सम्पूर्ण लोकके प्राणी इकट्ठे होकर भी मिथ्या करनेमें समर्थ नहीं हैं।" —ऐसा विचार कर चाहे तुम यहांसे प्रस्थान करो, चाहे खडा रहो या तुम्हें जो करना हो, वह करो ॥ २८ ॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः ।
राममभ्यागमद्भीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके कर्ण अत्यन्त दीनताके सहित नीचा शिर करके उस ब्राह्मणके आश्रमसे बाहर हुए और शापसे भयभीत होकर मनमें चिन्ता करते हुए वे परशुरामजीके निकट लौट आये ॥ २९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ७२ ॥

ः ३ ः

नारद उवाच—

कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रश्रयेण दमेन च ।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥ १ ॥

नारद मुनि बोले— भृगवंशियोंमें श्रेष्ठ तपस्वी परशुरामजी एकाग्रचित्तसे कर्णके बाहुवीर्य, शिक्षानुराग, इन्द्रियसंयम और गुरुशुश्रुषासे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

तस्मै स विधिवत्कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम् ।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी सुतपस्विने ॥ २ ॥

अनन्तर तपस्वी रामने उत्तम साधनामें रत कर्णको स्थिरताके सहित अस्त्रशस्त्रोंके सम्पूर्ण रहस्यको प्रयोग और निवारण करनेके कौशल सहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रका उपदेश किया ॥ २ ॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः ।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः ॥ ३ ॥

उसके अनन्तर अद्भुत पराक्रमी कर्ण समस्त अस्त्र शस्त्रोंको जानके प्रसन्नतापूर्वक परशुरामके आश्रममें रहके धनुर्वेदमें विशेष परिश्रम करने लगे ॥ ३ ॥

ततः कदाचिद्रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात् ।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥ ४ ॥

किसी समय कर्णके सहित बुद्धिमान् परशुरामजी आश्रमके निकट भ्रमण करते करते उपवासके क्लेशसे थक गये ॥ ४ ॥

सुष्वाप जामदग्न्यो वै विस्रम्भोत्पन्नसौहृदः ।
कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः ॥ ५ ॥

तब थके हुए गुरु जमदग्निपुत्र परशुराम विश्वासपात्र तथा स्नेह भाजन अपने शिष्य कर्णकी जङ्घापर शिर रखके सो गये ॥ ५ ॥

अथ कृमिः श्लेष्ममयो मांसशोणितभोजनः ।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागमत् ॥ ६ ॥

जब परशुरामजी निद्रित हुए तब मांस, श्लेष्मा, रुधिर तथा भेद भोजन करनेवाला एक भयङ्कर कीडा— जिसका स्पर्श अत्यंत दुःसह था— कर्णके समीप आया ॥ ६ ॥

स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः ।
न चैनमशकत्क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥ ७ ॥

रुधिर पीनेकी इच्छासे उनके जांघके पास आकर उसे छेद कर लोहू पीने लगा; कर्ण गुरुके जागनेके भयसे न तो उसे दूर फेंक सके और न उसका वध कर सके ॥ ७ ॥

सदंश्यमानोऽपि तथा कृमिणा तेन भारत ।
गुरुप्रबोधशङ्की च तमुपैक्षत सूतजः ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! उस कीडेके द्वारा काटे जाते हुए सूर्यपुत्र कर्णने केवल परशुरामकी निद्रा-भङ्ग होनेकी शङ्कासे उसकी उपेक्षा कर दी ॥ ८ ॥

कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम् ।
अकम्पन्नव्यथंश्चैव धारयामास भार्गवम् ॥ ९ ॥

उन्होंने अपने घावकी असह्य पीडाको धीरज धरके सहन किया और तनिक भी विचलित और व्यथित न होकर परशुरामजीके शिरको अपने जङ्घेके ऊपर धारण किया ॥ ९ ॥

यदा तु रुधिरेणाङ्गे परिस्पृष्टो भृगूद्वहः ।
तदाबुध्यत तेजस्वी संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब कर्णके जांघके घावसे रुधिर बहके महातेजस्वी परशुरामजीके शरीरमें लगा, तब वह निद्रासे जागके उठे और भयभीत होकर कर्णसे बोले ॥ १० ॥

अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया ।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥ ११ ॥

तुमने यह क्या किया ! हाय ! मेरा शरीर इस समय अपवित्र होगया ! जो हो, अब तुम भय त्यागकर इसका यथार्थ कारण मुझसे वर्णन करो ॥ ११ ॥

तस्य कर्णस्तदाचष्ट कृमिणा परिभक्षणम् ।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसंनिभम् ॥ १२ ॥

अनन्तर कर्णने उनसे कीडेके काटनेकी बात कही; परशुरामने भी उस सूअरके समान कीडेको देखा ॥ १२ ॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम् ।
रोमभिः संनिरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः ॥ १३ ॥

वह कीडा आठ पांव और तीक्ष्ण दांतोंसे युक्त सुईके समान, रूवोंसे पूरित भयसे सिकुडा हुआ था; और अलर्क नामसे ख्यात कीडा था ॥ १३ ॥

स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत् ।
तस्मिन्नेवासृक्संक्लिन्ने तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

उस कृमिने परशुरामके दृष्टिमात्रसे ही विकल होके रुधिरमें ही फंसके प्राण त्याग किया; उस समय उसकी मृत्यु अद्भुत रूपसे दीख पडी ॥ १४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान् ।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥ १५ ॥

उसके अनन्तर आकाशमें मेघमण्डलपर आरूढ काले रंगके शरीरवाला लाल गर्दन और भयङ्कर मूर्तिवाला एक प्रचंड राक्षस दीख पडा ॥ १५ ॥

स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः ।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्यामि यथागतम् ॥ १६ ॥

वह सफल मनोरथ होकर हाथ जोडके परशुरामसे यह वचन बोला, हे भृगुकुल भूषण परशुराम ! आपका कल्याण होवे; इस समय अब मैं जैसे आया था, वैसे अपने योग्य स्थानपर गमन करूंगा ॥ १६ ॥

मोक्षितो नरकादस्मि भवता मुनिसत्तम ।
भद्रं च तेऽस्तु नन्दिश्च प्रियं मे भवता कृतम् ॥ १७ ॥

हे मुनिसत्तम ! आपने मुझे इस नरकसे मुक्त करके मेरा बहुत ही प्रियकार्य किया है; आपका भला हो, मैं संतुष्ट हूं ॥ १७ ॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८ ॥

महाबाहु प्रतापी जमदग्निपुत्र परशुरामने उसका ऐसा वचन सुनके उससे पूछा, " तुम कौन हो और किस कारणसे नरकमें पडे थे ? " यह समाचार मेरे समीप वर्णन करो ॥१८॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राग्गृत्सो नाम महासुरः ।
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥ १९ ॥

वह कहने लगा, हे तात ! सत्ययुगमें मैं गृत्स नामक एक क्रूर राक्षस था; मेरी अवस्था तुम्हारे पूर्वपितामह महर्षि भृगुके समान ही थी ॥ १९ ॥

सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात् ।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि ॥ २० ॥

अनन्तर मैंने महर्षि भृगुकी प्यारी स्त्रीको बलपूर्वक हरण किया, इसीसे महात्मा भृगुके शापसे कीडा होकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ २० ॥

अब्रवीत्तु स मां क्रोधात्तव पूर्वपितामहः ।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥ २१ ॥

अनन्तर तुम्हारे पूर्व पितामह महर्षि भृगु क्रोधित होकर मुझसे यह वचन बोले, अरे पापी ! तू महाघोर नरकमें पडके सदा मलमूत्र, रुधिर और मांसभक्षी होगा ॥ २१ ॥

शापस्यान्तो भवेद्ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रुवम् ।
भविता भार्गवे राम इति मामब्रवीद्भृगुः ॥ २२ ॥

उनका ऐसा दारुण वचन सुनके मैंने उनसे कहा, हे ब्रह्मन् ! तुम्हारे इस शापका अन्त कभी होगा ? मेरे वचनको सुनके भगवान् भृगु मुनि बोले– कि " मेरे कुलमें राम नामक जो महात्मा पुरुष उत्पन्न होगा, उसके दर्शनसे तू शापसे छूटेगा " ॥ २२ ॥

सोऽहमेतां गतिं प्राप्तो यथा नकुशलं तथा ।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥ २३ ॥

इस ही कारणसे मैं दुष्टात्मा लोगोंकी भांति इस नीच गतिको प्राप्त हुआ था; हे साधो ! अब आपके दर्शनसे इस पापयोनिसे मुक्त हुआ हूं ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः ।
रामः कर्णं तु सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

वह राक्षस परशुरामजीके निकट अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त इसी भांति वर्णन कर, उन्हें प्रणाम करके अपने स्थानपर गया । अनन्तर परशुरामजी क्रुद्ध होके कर्णसे बोले ॥ २४ ॥

अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत् ।
क्षत्रियस्यैव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥

अरे मूढ ! तेरा धीरज देखके मुझे बोध होता है, कि तूं क्षत्रिय है, क्यों कि ब्राह्मण जाति कभी भी बहुत दुःख नहीं सह सकती; इससे तूं स्वेच्छापूर्वक अपना सत्य वृत्तान्त वर्णन कर ॥२५॥

तमुवाच ततः कर्णः शापभीतः प्रसादयन् ।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे सूतं जातं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥

अनन्तर कर्ण शापके भयसे डरके गुरुको प्रसन्न करनेकी अभिलाषासे यह वचन बोले, हे भार्गव ! ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे सूत जाति प्रकट हुई है; मुझे भी आप उस ही सूत कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष समझिये ॥ २६ ॥

राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥

इस ही कारणसे जगत्में सब कोई मुझे राधापुत्र कर्ण कहके आवाहन करते हैं । हे ब्रह्मन् ! आप मुझ अस्त्रलोभी पुरुषके ऊपर प्रसन्न होइये ॥ २७ ॥

पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः ।
अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥

वेद और विद्या देनेवाले शक्तिशाली गुरु जो पिता कहके वर्णन किये गये हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; इस ही कारणसे मैंने आपके निकट भार्गव गोत्रीय ब्राह्मण कहके अपना परिचय दिया था ॥ २८ ॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रहसन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥

भृगुवंशिय श्रेष्ठ परशुरामजी कर्णके ऐसे वचनको सुनके अन्तःकरणसे अत्यंत क्रोधित हुए, परन्तु बाहरी भावसे हंसके उस पृथ्वीमें गिरे हुए भयसे कांपते, दोनों हाथ जोडे तथा अत्यन्त दीनभावसे युक्त कर्णसे यह वचन बोले ॥ २९ ॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो अस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥

अरे मूढ ! तूने जब अस्त्रलोभसे मेरे साथ मिथ्या व्यवहार किया है, तब तेरा सीखा हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्र तुझे अन्तकालमें भूल जायगा ॥ ३० ॥

अन्यत्र वधकालात्ते सदृशेन समेयुषः ।
अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत्कदाचन ॥ ३१ ॥

परन्तु जबतक तू अपने समान वीर योद्धाके सङ्ग रणभूमिमें युद्ध करते हुए विपदग्रस्त नहीं होगा, उस मृत्यु कालके अतिरिक्त ये सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्र तुझे स्मरण रहेंगे; क्योंकि ब्रह्मास्त्र ब्राह्मणके सिवा अन्य किसी जातिके पुरुषके हृदयमें कभी स्थिर नहीं रहता ॥ ३१ ॥

गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥ ३२ ॥

इस समय अब तुम इस स्थानसे गमन करो, क्योंकि मिथ्या व्यवहार करनेवाले पुरुष इस स्थानमें रहने योग्य नहीं है; तौभी इस पृथ्वीके बीच कोई क्षत्रिय तेरे समान शूरवीर योद्धा नहीं होगा ॥ ३२ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण न्यायेनोपजगाम सः ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ १०६ ॥

परशुरामजीके ऐसे वचनको सुनके कर्ण उन्हें न्यायपूर्वक प्रणाम करके वहांसे विदा हो, दुर्योधनके समीप गमन करके उनसे यह वचन बोले, " हे महाराज ! अब मैं कृतास्त्र होके आया हूं " ॥ ३३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ १०६ ॥

: ४ :

नारद उवाच—

कर्णस्तु समवाप्यैतदस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।
दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥

नारद मुनि बोले—हे भरतश्रेष्ठ राजेन्द्र ! इसी भांति कर्ण भृगुकुल भूषण परशुरामजीके निकटसे अस्त्र विद्या सीखनके अनन्तर दुर्योधनके सङ्ग मिलके परम आनन्दमें अपने जीवनका समय व्यतीत करने लगे ॥ १ ॥

ततः कदाचिद्राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।
कलिङ्गविषये राजन्राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च । ॥ २ ॥

राजन् ! किसी समयमें पृथ्वीके सैकडों राजा चित्राङ्गदके कलिङ्ग देशमें स्वयंवरके लिए इकट्ठे हुए ॥ २ ॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थं समुपागमन् ॥ ३ ॥

हे भारत ! वे सब राजधानी सौभाग्ययुक्त "राजपुर" नाम नगरीमें स्वयंवर सभाके बीचमें राजकन्या प्राप्त करनेकी अभिलाषासे इकट्ठे हुए थे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान्सर्वपार्थिवान् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥

राजा दुर्योधन भी स्वयंवरका वृत्तान्त सुनके कर्णको सङ्ग लेकर सुवर्णभूपित रथमें बैठकर राजाओंकी मण्डलीके बीच उपस्थित हुए ॥ ४ ॥

ततः स्वयंवरे तस्मिन्संप्रवृत्ते महोत्सवे ।
समापेतुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम ॥ ५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! अनन्तर उस स्वयंवरके महोत्सवको सुनके राजकन्याको पानेके लिये अनेक राजा वहां आये थे ॥ ५ ॥

शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥

शिशुपाल, जरासन्ध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, दृढ पराक्रमी रुक्मी, ॥ ६ ॥

सृगालश्च महाराज स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥

स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज सृगाल, अशोक, शतधन्वा, भोजराज वीर ॥ ७ ॥

एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाचार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्याश्च भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! ये और इनके अतिरिक्त दक्षिण, पूर्व और उत्तर देशीय बहुतेरे म्लेच्छ आर्य राजा लोग उस स्वयंवरके बीच उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे बद्धजाम्बूनदस्रजः ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव मदोत्कटाः ॥ ९ ॥

वे सम्पूर्ण राजा लोग सुवर्णभूषित कवच, बाजूबंद और तपाये हुए जाम्बुनद सोनेकी मालाओंसे युक्त थे; उन सबके शरीर तेजस्वी थे तथा सिंहके समान मदोन्मत्त थे ॥ ९ ॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षधरान्विता ॥ १० ॥

हे भारत ! इसी भांति जब सम्पूर्ण राजा राजसभामें बैठ गये, तब राजकन्या सहेली और खोजोंको सङ्ग लेकर रङ्गभूमि तथा स्वयंवरकी सभामें प्रविष्ट हुई ॥ १० ॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद्धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥

उसके अनन्तर राजाओंके नाम, गोत्र तथा वंशका वृत्तान्त दासियोंके मुखसे सुनती हुई वह सुंदरी राजकन्या अन्य राजाओंकी भांति राजा दुर्योधनको भी अतिक्रम करके आगे बढी ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधनसे यह अपमान नहीं सहा गया, कि राजकन्या उनको लांघकर आगे बढे । अनन्तर उन्होंने सम्पूर्ण राजाओंका अपमान करके उसे आगे बढनेसे रोक दिया ॥ १२ ॥

स वीर्यमदमत्तत्वाद्भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजुहाव नराधिपान् ॥ १३ ॥

भीष्म तथा द्रोणाचार्यके आसरे तथा अपने बलके घमण्डसे उन्मत्त होकर, उसने उस राजकन्याको रथमें बैठाकर वहांसे प्रस्थान किया ॥ १३ ॥

तमन्वयाद्रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी कर्ण कवच और अंगुलित्राणसे युक्त हो, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करके रथ पर चढकर दुर्योधनके पीछे पीछे गमन करने लगे ॥ १४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान्राज्ञामासीद्युधिष्ठिर ।
संनह्यतां तनुत्राणि रथान्योजयतामपि ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! उसे देखकर राजाओंकी मण्डलीके बीच महाघोर कोलाहल होने लगा । अनन्तर वे सम्पूर्ण राजा कवच पहरके तथा अस्त्र शस्त्रोंको ग्रहण कर रथ जोतकर बडा भारी युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

कर्ण और दुर्योधनके ऊपर इस भांति वे अत्यंत क्रोधित हुए राजा अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए उनकी ओर दौडे, जैसे बादल दो पर्वतोंके ऊपर जलकी वर्षा करते हैं ॥ १६ ॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन क्षुरेण ह ।
धनूंषि सशरावापान्यपातयत भूतले ॥ १७ ॥

जब इस भांतिसे सम्पूर्ण राजा लोग सम्मुख उपस्थित हुए, तब पराक्रमी कर्णने एक एक बाणसे उन सम्पूर्ण आक्रमक राजाओंके धनुष और बाणसमूहोंको काट काट पृथ्वीमें गिरा दिया ॥ १७ ॥

×

ततो विधनुषः कांश्चित्कांश्चिदुद्यतकार्मुकान्।
कांश्चिदुद्वहतो बाणान्रथशक्तिगदास्तथा ॥ १८ ॥
लाघवादाकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥

उस समय कोई कोई धनुष चढाके तथा कोई कोई राजा बाण, रथशक्ति, गदा आदि अस्त्र शस्त्रोंको ग्रहण करके कर्णके सम्मुख उपस्थित हुए; परन्तु प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें मुख्य कर्णने अपने हस्त लाघवसे बाण चला कर समस्त राजाओंको व्याकुल कर दिया, तथा कितनों-को धनुष रहित कर दिया, कितनेहि धनुषको ऊपर उठाये रह गये; कोई बाण, रथशक्ति और गदा लिये रह गये। और कितनोंके सारथियोंको मार डाला; उन बहुतसे राजाओंको पराजित किया ॥ १८–१९ ॥

ते स्वयं त्वरयन्तोऽश्वान्याहि याहीति वादिनः।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥ २० ॥

उस समय सम्पूर्ण राजाओंका मनोरथ निष्फल होगया और वे लोग पराजित होकर स्वयं अपने रथके घोडोंको हांकते तथा कितने ही राजा अपने सारथियोंको 'चलो! पीछे लौटो!' ऐसा वचन कहते हुए रणभूमि छोडकर भाग गये ॥ २० ॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात्तदा।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ १२७ ॥

उस समय राजा दुर्योधन इसी भांति कर्णसे रक्षित होकर राजकन्या ग्रहण करके हर्षयुक्त तथा आनन्दित चित्तसे हस्तिनापुरमें आ विराजे ॥ २१ ॥

इस प्रकार महाभारतके शान्तिपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ १२७ ॥

: ५ :

नारद उवाच—

आविष्कृतबलं कर्णं ज्ञात्वा राजा तु मागधः।
आह्वयद्द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः ॥ १ ॥

नारद मुनि बोले—मगधदेशके राजा पराक्रमी जरासन्धने कर्णके बल-पराक्रमका वृतान्त जानके उन्हें द्वैरथ युद्धके लिये आह्वान किया ॥ १ ॥

तयोः समभवद्युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥ २ ॥

अनन्तर परम दिव्य अस्त्रशस्त्रोंके जाननेवाले वे दोनों वीर समरमें नाना भांतिके अस्त्र-शस्त्रोंको चलाते हुए महाघोर युद्ध करने लगे ॥ २ ॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥ ३ ॥

धीरे धीरे जब उन दोनों वीरोंके धनुष कटे और तूणीर बाणोंसे रहित हुए तथा तलवार आदिक शस्त्र टूट गये, तब वे दोनों बलवान् वीर रथसे उतरके आपसमें भुजाओंसे मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।
बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य ह ॥ ४ ॥

अनन्तर पराक्रमी कर्णने बाहुकण्टक युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए जरासंधके जरा राक्षसीके जोडे हुए सन्धिस्थलको चीर दिया ॥ ४ ॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत्कर्णं वैरमुत्सृज्य भारत ॥ ५ ॥

भारत ! तब जरासन्ध अपने शरीरका विकृत भाव देखकर शत्रुता त्यागके कर्णसे यह वचन बोले, 'हे कर्ण ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं' ॥ ५ ॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजासीत्सपत्नजित् ॥ ६ ॥

अनन्तर उसही प्रसन्नताके कारण उसने कर्णको अङ्गदेशकी मालिनी नाम्नी नगरी दान किया। हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! शत्रुनाशन कर्ण तभीसे अङ्गदेशके राजा हो गये थे ॥ ६ ॥

पालयामास चम्पां तु कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर शत्रु सैन्य नाशक कर्ण चम्पा नगरीका दुर्योधनकी अनुमतिसे पालन करने लगे, वह सब वृत्तान्त तुम तो जानते है ॥ ७ ॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत्क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥

कर्ण केवल इसी भांति अपने शस्त्र-बलके प्रभावसे पृथ्वीके बीच विख्यात हुए थे; शेषमें देवराज इन्द्रने तुम्हारे हितकी अभिलाषासे कर्णसे अभेद कवच और कुण्डलका दान मांगा ॥ ८ ॥

स दिव्ये सहजे प्रादात्कुण्डले परमार्चिते ।
सहजं कवचं चैव मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥

उस समय कर्णने दैवी मायासे मोहित होकर अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए अभेद कवच और दिव्य कुण्डलोंको देवराज इन्द्रको दे दिया था ॥ ९ ॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा ।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १० ॥

महाराज ! वह जन्मसे ही उत्पन्न हुए अपने शरीरके अभेद कवच और कुण्डलोंसे रहित होनेके कारण युद्धभूमिमें श्रीकृष्णके सम्मुख अर्जुनके हाथसे मारे गये ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः ।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥ ११ ॥

तोभी देखिये कि महात्मा परशुराम और अग्निहोत्री ब्राह्मणके शाप, कुन्तीके अन्य चार भाईयोंकी रक्षाके लिये दिया वरदान, इन्द्रकी मायाकौशल ॥ ११ ॥

भीष्मावमानात्संख्यायां रथानामर्धकीर्तनात् ।
शल्यात्तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥ १२ ॥

सभाके बीच महारथियोंकी गणना करते समय भीष्मके अर्धरथी कहके पुकारे जानेका अपमान, शल्यके कठोर वचनोंसे तेजहानि और श्रीकृष्णचन्द्रके नीतिबल वा उपायके एकत्र मिलित होनेसे ॥ १२ ॥

रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

तथा रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोणाचार्य तथा महात्मा कृपाचार्यके निकटसे ॥ १३ ॥

अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना ।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥ १४ ॥

गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनने सम्पूर्ण दिव्य अस्त्रशस्त्रोंको प्राप्त किया था; इस ही कारण युद्धमें सूर्यके समान तेजस्वी वैकर्तन कर्ण उनसे मारे गये हैं ॥ १४ ॥

एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः ।
न शोच्यः स नरव्याघ्रो युद्धे हि निधनं गतः ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ १४२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारे भ्राता कर्ण इसी प्रकार महात्माओंके शापसे युक्त और बहुत लोगोंसे वञ्चित हुए थे; तो भी संग्राममें मारे गये हैं; इससे उनके लिये अब आप शोक न कीजिये ॥ १५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पांचवा अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ १४२ ॥

: ६ :

वैशंपायन उवाच—

एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशंपायन मुनि बोले— देवर्षि नारद इतनी कथा सुनाके चुप होगये । अनन्तर राजर्षि युधिष्ठिर अत्यन्तही शोक और चिन्तासे मोहित होगये ॥ १ ॥

तं दीनमनसं वीरमधोवदनमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥ २ ॥

वे वीर दुःखित चित्तसे नीचे मुंह करके वार वार सर्पकी भांति लम्बी स्वांस छोडते हुए आंखोंसे आंसू वहाने लगे ॥ २ ॥

कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुराभाषा काले वचनमर्थवत् ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरकी ऐसी दशा देखके सारे अंगोंमें शोक व्याप्त और दुःखसे विह्वल होकर कुन्ती देवी उस समयके अनुसार यह अर्थयुक्त वचन वोली ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥ ४ ॥

हे महावाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें इस भांतिसे कर्णके लिये शोकित होना उचित नहीं है । हे महाप्राज्ञ ! तुम शोक त्यागके मेरा वचन चित्त लगाके सुनो ॥ ४ ॥

यतितः स मया पूर्वं भ्रात्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वर ॥ ५ ॥

हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! तुम कर्णके भ्राता हो, यह वृत्तान्त कर्णको विदित करानेके लिये पहिले कर्णके पिता भगवान् सूर्यदेव और मैंने वहुत ही यत्न किया था ॥ ५ ॥

यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा भूतिमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥

विशेष करके भगवान् सूर्यने कर्णके हितकी अभिलाप करके जो कुछ वचन सुहृद्को कहना उचित था, वह उससे स्वप्नमें तथा मेरे सम्मुखमें कहे थे ॥ ६ ॥

न चैनमशकद्भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्येकतां त्वया ॥ ७ ॥

परन्तु प्रीति प्रेम तथा नाना कारण दिखाके भी भगवान् सूर्य और मैं हम दोनों तुम्हारे पक्षमें करने वा तुम दोनोंकी संधि स्थापित करवानेमें समर्थ न हो सके ॥ ७ ॥

ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धुक्षणे रतः ।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥ ८ ॥

वह कालके वशमें होकर सदा तुम लोगोंके सङ्ग शत्रुताचरण करनेमें प्रवृत्त था, अतः उसे तुम्हारा शत्रु समझकर मैंने भी उसकी उपेक्षा कर दी ॥ ८ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः ।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः ॥ ९ ॥

राजा धर्मराज युधिष्ठिर माता कुन्तीके वचनको सुनकर आंखोंमें आंसू भरके, शोकसे व्याकुल चित्त होकर वे धर्मात्मा यह वचन बोले– ॥ ९ ॥

भवत्या गूढमन्त्रत्वात्पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ।
शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु च स्त्रियः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्यतिदुःखसमन्वितः ॥ १० ॥

हे माता ! तुमने इस विषयको छिपा रक्खा, इसी निमित्त इस समय मुझे इतना दुःख तथा शोक हुआ है । ऐसा वचन कहते कहते महा तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त ही दुःखित होकर यह वचन कहके सम्पूर्ण जगत्के स्त्रियोंको शाप दिया, कि, "आजसे स्त्रियां गूढ विचारको छिपानेमें समर्थ न होंगी" ॥ १० ॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तथा ।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवास्वस्थचेतनः ॥ ११ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, पौत्र, सम्बन्धी तथा इष्ट मित्रोंकी मृत्युको स्मरण करके अत्यन्त ही उद्विग्न और व्याकुल चित्त हुए ॥ ११ ॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः ।
निर्वेदमगमद्धीमान्राजा सन्तापपीडितः ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥ १५४ ॥

वह बुद्धिमान् राजा धीरे धीरे शोक तथा दुःखसे अत्यन्त ही विकल होके धूएंसे व्याप्त अग्निकी भांति मन मलिन चित्त होकर बहुत चिन्ता करने लगे और विरक्त हुए ॥ १२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छठवां अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ १५४ ॥

ः ७ ः

वैशम्पायन उवाच–

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः ।
शुशोच दुःखसन्तप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर महारथी कर्णको स्मरण करके शोक तथा दुःखसे व्याकुल चित्त होकर अत्यन्त ही चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥ २ ॥

यह बार बार दुःख और शोकसे पीडित होकर लम्बी सांस छोडते हुए, अर्जुनको संमुख देखकर शोक पीडित हो यह वचन बोले— ॥ २ ॥

यद्भैक्षमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन्निष्पुरुषान्कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! यदि हम लोग इसके पहले वृष्णी और अन्धक लोगोंकी नगरी द्वारिकामें जाके भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके अपनी जीविकाका निर्वाह करते, तो जातिके पुरुषोंका नाश न होता, और न हम लोगोंकी ऐसी दुर्गति ही होती ॥ ३ ॥

अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥

हम लोगोंके शत्रु कौरव लोग ही इस समय अधिक ऐश्वर्यवान् हुए हैं, क्योंकि वे लोग क्षत्रिय धर्मके अनुसार संग्राममें मरके स्वर्ग लोकमें गये हैं; और जातिके लोगोंका वध करनेसे हम लोगोंका वल पुरुषार्थ घट गया है; क्योंकि जो पुरुष स्वयं अपना नाश करते हैं, उन्हें धर्म–लाभकी कौनसी सम्भावना है ? ॥ ४ ॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलमौरसम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥ ५ ॥

इससे क्षत्रियोंके आचार, बल और पुरुषार्थको धिक्कार है ! और क्रोधको भी धिक्कार है, जिनके कारण हम लोगोंको इस भांति विपद्ग्रस्त होना पडा ॥ ५ ॥

साधु क्षमा दमः शौचमवैरोध्यममत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥

क्षमा, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, शत्रुत्वरहितता, अमत्सर, अहिंसा और सत्य वचन आदि वनवासी ऋषि मुनियोंके व्यवहार ही उत्तम हैं ॥ ६ ॥

वयं तु लोभान्मोहाच्च स्तम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थामापन्ना राज्यलेशबुभुक्षया ॥ ७ ॥

हम लोग केवल लोभ और मोहके वशमें होकर राज्य लोभकी लालसासे दर्प और अभिमानका आश्रय लेकर ही ऐसी दशाको प्राप्त हुये हैं ॥ ७ ॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चित्प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यामामिषैषिणः ॥ ८ ॥

पृथ्वीके विजयकी अभिलाषा करनेवाले अपने बन्धुबान्धवोंको मारे हुए देखकर हम लोगोंका चित्त जैसा दुःखित हुआ है, उससे बोध होता है, कि कोई तीनों लोकोंका राज्य देकर भी हम लोगोंको सन्तुष्ट नहीं कर सकता है ॥ ८ ॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान्पृथिवीसमान् ।
संपरित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ९ ॥

हम लोग पृथ्वीके राज्यके लिये अवध्य स्वजनोंको मारकर उन्हें छोडकर बन्धु-बान्धवोंसे रहित और अर्थहीन होकर भी इस समय जीवित हैं ॥ ९ ॥

आमिषे गृध्यमानानामशुनां नः शुनामिव ।
आमिषं चैव नो नष्टमामिषस्य च भोजिनः ॥ १० ॥

मांसके लोभसे आपसमें लडनेवाले कुत्तोंके समूहकी भांति राज्य लोभसे स्वजनोंका नाश करके हमको इस प्रकार अमङ्गल प्राप्त हुआ है, इससे अब इस समय इस राज्यरूपी मांसको ग्रहण करनेमें हमारी अभिलाषा नहीं होती है ॥ १० ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥

इसको त्यागनाही उत्तम है; क्योंकि इस युद्धमें जो लोग मारे गये हैं, वे लोग सम्पूर्ण पृथ्वीके राज्य, सुवर्णके ढेर अथवा गऊ, घोडे आदि समस्त वस्तुओंके वास्ते भी वध करनेके योग्य नहीं थे ॥ ११ ॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधामर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥

वे सब लोग काम और क्रोध युक्त थे; तथा हर्ष और दोषसे परिपूर्ण थे; इसलिये मृत्युरूपी विमान पर चढके यमलोकको गये हैं ॥ १२ ॥

बहु कल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण वन्दनेन तितिक्षया ॥ १३ ॥

पिता तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और तितिक्षा आदिओंके अनुष्ठानसे कल्याण भाजन पुत्रोंकी इच्छा करते हैं ॥ १३ ॥

उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भांस्तान्मासान्दश बिभ्रति ॥ १४ ॥

इसी भांति माताएं भी उपवास, यज्ञ, व्रत, कौतुक और नाना भांतिके माङ्गलिक कार्योंके अनुष्ठानसे गर्भिणी होकर दस महीनोंतक अपने गर्भोंको धारण करती हैं ॥ १४ ॥

यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
संभाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ।
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १५ ॥

अनन्तर "क्या यह सन्तान कुशलसे जन्मेगी ? क्या यह उत्पन्न होके जीवित रहेगी ? क्या यह बलयुक्त और सर्वत्र सम्मानित होकर हमारे सुखका विधान करेगी ?" माताएं इस जन्म और दूसरे जन्मके निमित्त (पुत्रके विषयमें) इसी भांति फल पानेकी आशा करती हुई सदा कातर रहती हैं ॥ १५ ॥

तासामयं समारम्भो निवृत्तः केवलोऽफलः ।
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥ १६ ॥

हाय ! हम लोगोंके मरे हुए स्वजन तथा बान्धवोंकी माताओंके ये सम्पूर्ण मनोरथ अब निष्फल होगये; क्योंकि उन लोगोंके सुन्दर कुण्डलोंसे शोभित युवा पुत्र मार दिए गए हैं ॥१६॥

अभुक्त्वा पार्थिवान्भोगानृणान्यनवदाय च ।
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १७ ॥

वे राज्यादि विना भोगेही पितृऋण और देवऋण न दिये हुए युद्धभूमिमें मरकर यमलोकको चले गये ! ॥ १७ ॥

यदैषामङ्ग पितरौ जातौ काममयाविव ।
संजातबलरूपेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १८ ॥

इन सम्पूर्ण राजाओंके माता-पितरोंने जिस समय उनके बल-वीर्य प्रभावके फल देखनेकी आशा की थी, उसही समय वे मारे गये ॥ १८ ॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमञ्जसाः ।
न ते जन्मफलं किंचिद्भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥ १९ ॥

परन्तु वे सब सदा सर्वदा अनेक भांतिकी वासना तथा अमर्पसे युक्त और बहुत क्रोध तथा हर्षके वशमें रहनेके कारण अपनी शांति खो देते हैं; वे किसी समयमें भी कदाचित् मनुष्य जन्मके शुभ फलोंको भोग नहीं सकते ॥ १९ ॥

पाञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि येऽहताः ।
ते वयं त्वधमाँल्लोकान्प्रपद्येम स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

इससे मेरे विचारमें जो लोग युद्धमें मारे गये हैं, पर जो मारे नहीं गए हैं, ऐसे वे हम अपने कर्मोंके कारण अधम लेकोंको प्राप्त करेंगे ॥ २० ॥

वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण निकृत्या प्रत्यपत्स्महि ॥ २१ ॥

हम ही इस सम्पूर्ण जगत्के नाशमें कारण माने गये हैं; अथवा धृतराष्ट्र पुत्रके नीचताको ही यह समस्त दोप आरोपित किया जा सकता है ॥ २१ ॥

सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः ।
मिथ्यावृत्तः स सततमस्मास्वनपकारिषु ॥ २२ ॥

दुर्योधन सदासे कपट-बुद्धि, द्वेषी और मायाजीवी था; हमारे निरपराध रहनेपर भी वह सदा हमसे असत् व्यवहार करता था ॥ २२ ॥

×

अंशकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् ।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥ २३ ॥

हम केवल अंशभागकी ही इच्छा करते थे; परन्तु दुर्योधन और हम कोई भी अपने पूर्ण मनोरथको सिद्ध नहीं कर सके; हमारी भी जीत नहीं हुई, नहीं उनकी। वे न इस पृथ्वीका भोग कर सके और न स्त्रियोंका गाना बजाना ही सुन सके ॥ २३ ॥

नामात्यसमितौ कथ्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् ।
न रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥ २४ ॥

उसने मंत्रिसभामें लोगोंके कथनको नहीं माना और नाही विद्वानोंकी बात सुनी; अनगिनत रत्न, सम्पत्ति और अनेक भांतिके वस्तुओंसे सञ्चित कोष इन सम्पूर्ण भोग्य वस्तुओंमेंसे कुछ भी उपभोग करनेमें समर्थ नहीं हुआ ॥ २४ ॥

ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः ।
धृतराष्ट्रस्य नृपतेः सौबलेन निवेदितः ॥ २५ ॥

इसी भांति राजा धृतराष्ट्र भी सुबलपुत्र शकुनीके मुखसे हम लोगोंकी समृद्धिका समस्त वृत्तान्त सुनकर दुःखसे पीले तथा दुबले होगये ॥ २५ ॥

तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितम् ।
अनवेक्ष्यैष पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा ।
असंशयं धृतराष्ट्रो यथैवाहं तथा गतः ॥ २६ ॥

वह पुत्र–स्नेहके कारण पितामह गंगानंदन भीष्म और विदुरके वचनका अनादर करके अन्यायके मार्गमें स्थित होनेपर भी " दुर्योधन न्याय युक्त कार्य ही कर रहा है,— " ऐसाही समझते थे; इसीलिए वे भी उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुए जिस प्रकार मैं ॥ २६ ॥

अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम् ।
पतितो यशसो दीप्ताद्धातयित्वा सहोदरान् ॥ २७ ॥

और उस अपवित्र, लोभी और कामके वशवर्ती अपने पुत्रको नियंत्रणमें स्थित न करनेके कारण ही उसे और उसके भाईयोंको मरवाकर स्वयं भी उज्ज्वल यशसे गिर गये ॥ २७ ॥

इमौ वृद्धौ च शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः ।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव हि ॥ २८ ॥

और इसप्रकार हमसे सदा द्वेष रखनेवाले पापबुद्धिवाले दुर्योधनने अपने इन बूढे माता पिताको शोकाग्निमें डाल दिया है ॥ २८ ॥

को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात्सुहृज्जने ।
यथासावुक्तवान्क्षुद्रो युयुत्सुर्वृष्णिसंनिधौ ॥ २९ ॥

क्षुद्र दुर्योधनने युद्धकी इच्छा कर श्रीकृष्णके समीप हम लोगोंके विषयमें जैसे वचनोंका प्रयोग किया था, उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा स्वजन होकर कौन पुरुष अपने कुटुम्ब तथा बन्धुबान्धवोंके विषयमें वैसे नीच वचनोंको कहेगा ? ॥ २९ ॥

आत्मनो हि वयं दोषाद्विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
प्रदहन्तो दिशः सर्वास्तेजसा भास्करा इव ॥ ३० ॥

सूर्य जैसे अपने प्रभावसे समस्त दिशाओंको जला देते हैं, वैसे ही हम भी युद्धमें स्वजन और बन्धुओंको नष्ट करके अपने दोषके कारणसे ही सदाके लिये सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हुए ॥ ३० ॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मन्त्रिप्रग्रहं गतः ।
दुर्योधनकृते ह्येतत्कुलं नो विनिपातितम् ।
अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ॥ ३१ ॥

हमारे प्रति शत्रुत्व रखनेवाला वह नीचबुद्धि दुर्योधन हम लोगोंके निमित्त पूरा ग्रहरूप बना था, उसहीके लिये हमारे इस समस्त कुलका नाश हुआ ! और हम लोग अवध्य पुरुषोंका वध करके इस समय जगत्में निन्दनीय हुए हैं ॥ ३१ ॥

कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापकारिणम् ।
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्रने उस नीचबुद्धि, पापी, कुलनाशी दुर्योधनको राज्यका स्वामी बनाया था, इस ही कारण इस समय उनको शोक करना पडता है ॥ ३२ ॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः ।
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ३३ ॥

इस युद्धमें हमने सम्पूर्ण शूरवीरोंको मारा, पाप किया और सर्वस्वका विनाश किया; शत्रुओंको मारके हम लोगोंका क्रोध शान्त हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु यह शोक मुझे मोहित कर रहा है ॥ ३३ ॥

धनंजय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ।
त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तुमिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! मनुष्यके दुष्कर्म कल्याणमय कर्म करनेसे घटते हैं । सम्पूर्ण त्यागी पुरुष फिर पापमें लिप्त नहीं होता, यह श्रुति–सम्मत वचन है ॥ ३४ ॥

त्यागवाञ्जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ।
प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३५ ॥

वेदमें ऐसा वर्णित है कि, त्यागी मनुष्य पुनः जन्म–मरणके चक्करमें नहीं आता और ज्ञानके द्वारा उत्तम पथ जानकर वह ब्रह्मसे मिल जाता है ॥ ३५ ॥

स धनंजय निर्द्वंद्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ।
वनमामन्त्र्य वः सर्वान्गमिष्यामि परंतप ॥ ३६ ॥

इससे हे शत्रुको तपानेवाले अर्जुन ! मैं तुम सब लोगोंकी सम्मति लेकर सुखदुःखको त्याग और मौनावलम्बन करके ज्ञानपथको आश्रय करके वनवासी बनूंगा ॥ ३६ ॥

न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ।
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ॥ ३७ ॥

हे शत्रुनाशन ! यह स्पष्टरूपसे वेदमें कहा है कि दान लेनेवाला पुरुष कदाचित् सार धर्मको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होसकता, और मैंने भी उसे खूब निश्चय करके प्रत्यक्ष देख लिया है ॥३७॥

मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ।
जन्मक्षयनिमित्तं च शक्यं प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥ ३८ ॥

इसीसे आसक्ति पुरुष वेदमें युक्त कहे हुए जन्म मरणके कारणरूपी जिस प्रकार पापाचार करते हैं; मैंने भी राज्य भोगकी अभिलाषासे युक्त होकर वैसा ही पापाचरण किया है ॥३८॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं तथैव च ।
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको विज्वरस्तथा ॥ ३९ ॥

इससे इस समय मैं समस्त परिग्रह और राज्य–भोग भी परित्याग करके बन्धन मुक्त, शोक-रहित और संगादिसे छूटा होकर किसी वनके बीच गमन करूंगा ॥ ३९ ॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ।
न ममार्थोऽस्ति राज्येन न भोगैर्वा कुरूत्तम ॥ ४० ॥

हे कुरुसत्तम अर्जुन ! इस समय तुम ही इस निष्कण्टक और कल्याणयुक्त समस्त भूमण्डल तथा पृथ्वीका राज्य करो; मुझे अब धन, राज्य तथा भोग आदि किसी भी वस्तुका प्रयोजन नहीं है ॥ ४० ॥

एतावदुक्त्वा वचनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
व्युपारमत्ततः पार्थः कनीयान्प्रत्यभाषत ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ १९५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके इतना वचन कहके चुप होनेपर छोटे भाई अर्जुनने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ४१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ १९५ ॥

: ८ :

वैशंपायन उवाच—

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! जैसे कोई पुरुष किसीसे आक्षेपित—अपमानित होकर उसे सहनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही महापराक्रमी बोलनेवालोंमें मुख्य अर्जुन युधिष्ठिरका वचन सुनके न सह सके ॥ १ ॥

दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी संलिहन्मुहुः ॥ २ ॥

और भयंकर पराक्रमी, महातेजस्वी इन्द्रपुत्र अपना उग्रभाग दिखाके बार बार ओठ काटते हुए मुस्कराकर गर्वपूर्वक इस प्रकारसे नीतियुक्त वचन कहने लगे ॥ २ ॥

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत्कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

ओहो कैसा दुःख, कैसा कष्ट और क्या ही अद्भुत कातरता है, कि आप अलौकिक कार्य पूर्ण करके प्राप्त किये अतुल ऐश्वर्यका भी परित्याग करनेमें प्रवृत्त होरहे हैं ३ ॥

शत्रून्हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।
हतामित्रः कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥ ४ ॥

आपने सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करके मित्रोंको मरवाकर क्षत्रिय धर्मके अनुसार पृथ्वीका राज्य पाया है; तो भी इस समय क्यों अल्प बुद्धिके कारण यह सब त्यागनेकी इच्छा करते हैं ?॥४॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥

इस संसारके बीच क्लीव वा दीर्घसूत्री किसी समयमें भी राज्यका भोग नहीं कर सकता; परन्तु यदि आपको इसी भांति त्याग धर्मकी इच्छा थी, तो क्यों क्रुद्ध होकर सम्पूर्ण राजाओंको मारा ? ॥ ५ ॥

यो ह्याजिजीविषेद्भैक्ष्यं कर्मणा नैव केनचित् ।
समारम्भान्बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः ।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥

जो पुरुष भिक्षावृत्तिसे जीविका निर्वाह करनेकी इच्छा करता है, वह कदापि पुत्र, कलत्र और पशु आदि सामग्रीको पाने तथा लोकसमाजमें विख्यात होनेमें समर्थ नहीं होता; क्योंकि अकल्याणके पात्र दरिद्र मनुष्य किसी कर्मसे भी ऐश्वर्यभोग करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमास्थाय जीवतः ।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥ ७ ॥

हे राजन् ! आप यदि इस समृद्ध राज्यको त्यागके पापयुक्त कापालिकवृत्तिको अवलम्बन करके जीवन धारण करेंगे, तो लोकसमाज आपको क्या कहेगा ? ॥ ७ ॥

सर्वारम्भान्समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः ।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं चर्तुं प्राकृतवत्प्रभो ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी होकर यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य त्यागके कल्याणरहित दरिद्र और साधारण पुरुषकी भांति क्यों भिक्षावृत्ति अवलम्बन करनेकी इच्छा करते हैं ? ॥ ८ ॥

अस्मिन्राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुंधराम् ।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात्प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥

आप राजकुलमें जन्म लेकर बाहुबलसे समस्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके भी केवल मोहके कारण धर्म और अर्थ त्यागकर वनमें गमन करनेके लिये तैय्यार हुए हैं ॥ ९ ॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः ।
भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥

और आप यथार्थ अधिकारी होकर भी राज्य त्यागके वनमें चले जावेंगे, तब दुष्ट लोग राजारहित पृथ्वीको सूनी पाकर हव्य कव्य आदि सुकृतकर्मोंको लोप करेंगे, उससे आपको ही पापभागी होना पडेगा ॥ १० ॥

आकिंचन्यमनाशास्यमिति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्या नृशंसा ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥

राजा नहुषने निर्द्धनावस्थामें स्वयं क्रूरतापूर्ण कर्म करके इस जगतमें निर्धनताको धिकारा है, ऐसा कहा था; ॥ ११ ॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद्भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥ १२ ॥

और सर्वस्व त्यागकर आकिंचन होना राजाओंका धर्म नहीं है; अगाडीके लिये कुछ भी वस्तु सञ्चय करके न रखना, यह ऋषियोंका धर्म है, वह आपको भी विदित है । इससे पण्डितोंने जिसे राजधर्म वर्णन किया है, और वह धनसे ही सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन्वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥

हे महाराज ! इस संसारमें जो मनुष्य किसीके धनको हरण करता है, वह उसके धर्मका भी संहार कर देता है; इससे जो धन इस प्रकार धर्मको सिद्ध करनेवाला है, उसे यदि कोई हरण करे, तो क्या हम लोग क्षमा कर सकते हैं ? ॥ १३ ॥

अभिशस्तवत्प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्र्यं पातकं लोके कस्तच्छंसितुमर्हति ॥ १४ ॥

दरिद्र पुरुषके समीप रहनेपर मनुष्य उसे वह कोई पापी है, इस तरह देखते हैं; इसलिये इस लोकके बीच दरिद्रता अत्यन्त ही पापजनक है, इससे आपको इस प्रकार दरिद्रताकी प्रशंसा करनी उचित नहीं है ॥ १४ ॥

पतितः शोच्यते राजन्निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥

हे राजन् ! इस पृथ्वीपर पतित और निर्धन दोनोंको ही शोक करना पडता है; इससे नीच और निर्धन पुरुषोंमें कुछ भी विशेषता नहीं होती ॥ १५ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १६ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदियां पहाडोंसे निकल कर धीरे धीरे विस्तृत होती हैं, वैसे ही बहुतसे संचित धनसे सब कर्म क्रमसे सिद्ध होते हैं ॥ १६ ॥

अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्रा हि लोकस्य विनार्थं न प्रसिध्यति ॥ १७ ॥

महाराज ! धनके विना इस पृथ्वीपर मनुष्योंको धर्म, अर्थ, काम वा स्वर्गगमन और प्राण-यात्राका भी निर्वाह नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
व्युच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १८ ॥

जैसे ग्रीष्मकालमें छोटी छोटी नदियां सूख जाती हैं, वैसे ही इस लोकमें धनसे हीन अल्प बुद्धि मनुष्योंके सम्पूर्ण कार्य नष्ट होजाते हैं ॥ १८ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ १९ ॥

इस जगत्के बीच जिसके पास धन है, उसीके मित्र और बान्धव हैं; जिसके पास धन है, वही पण्डित है; जिसके पास धन है, वही पुरुष है ॥ १९ ॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विवित्सता ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥ २० ॥

निर्धन मनुष्य यदि किसी विषयकी अभिलाषा करके उसके सिद्ध करनेका उपाय करे, तो कदापि वह सिद्ध नहीं होते । इसके विपरीत जैसे महा बलवान् हाथीसे अन्य हाथियोंको पकड लेते हैं, वैसे ही धनसे समस्त प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं ॥ २० ॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥

हे जनेश्वर ! धर्म, कामना, स्वर्ग, हर्ष, क्रोध, शास्त्रोंका अध्ययन–श्रवण और दमन– ये सब ही धनसे सिद्ध हो सकते हैं ॥ २१ ॥

धनात्कुलं प्रभवति धनाद्धर्मः प्रवर्तते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

धनसे ही लोगोंके कुल गौरव और धर्मकी वृद्धि होती है । हे पुरुषश्रेष्ठ ! निर्धन पुरुषको यह लोक और परलोक कोई भी सुखदायक नहीं होता ॥ २२ ॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलाद्गिरिनदी यथा ॥ २३ ॥

जैसे पहाडसे नदी प्रकट होती है, वैसे ही धनसे धर्मका स्रोत उत्पन्न होता है । इसलिये निर्धन व्यक्ति धर्म क्रियाओंको यथाविधि नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

यः कृशाश्वः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन्कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! मनुष्यका शरीर ही केवल कृश होनेसे उसे दुर्वल नहीं कहा जा सकता; अपितु जिससे घोडे, गऊ, पशु तथा सेवकोंकी अल्पता होती है, और जिसके गृहमें अतिथि नहीं उपस्थित होते, उसे ही कृश कहा जा सकता है ॥ २४ ॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन्किमन्यज्ज्ञातीनां वधादृध्यन्ति देवताः ॥ २५ ॥

महाराज ! आप न्यायपूर्वक देव और असुर संग्रामका विषय विचार करके देखिये; देवता लोग ज्ञातिवधके अतिरिक्त सम्पत्ति प्राप्त करनेको कौनसी अभिलाषा करते हैं ? ॥ २५ ॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥ २६ ॥

यदि दूसरेका धन लेना, यह धर्म आपके विचारमें उत्तम नहीं है; तो भला कहिये तो सही, राजा किस प्रकारसे धर्मका अनुष्ठान कर सकता है ? वेदोंमें भी विद्वानोंने राजाके लिये यही निर्णय दिया है ॥ २६ ॥

अध्येतव्या त्रयी विद्या भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥ २७ ॥

वेदमें भी पण्डितोंने "प्रति दिन साम आदि तीनों वेदोंका अध्ययन करे, विद्वान् होवे, उपार्जन और यत्न पूर्वक धन प्राप्त करके यज्ञ करना उचित है," ऐसीही विधि निश्चय की है॥२७॥

द्रोहाद्देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ॥ २८ ॥

देवताओंने जातिभाईयोंके साथ विद्रोहिता करके ही स्वर्गलोकके सब स्थान प्राप्त किये हैं; इससे देवता लोग भी इसी भांति व्यवहार करते हैं और यही वेदोंका सनातन निर्णय है ॥२८॥

अधीयन्ते तपस्यन्ति यजन्ते याजयन्ति च ।
कृत्स्नं तदेव च श्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः ॥ २९ ॥

राजा लोग अन्य पुरुषोंके निकटसे जो धन प्राप्त करते हैं, उस ही धनसे उनका कल्याण होता है; क्योंकि पढना पढाना, तपस्या करना, यज्ञ करना और कराना– ये सम्पूर्ण कर्म धनसे ही सिद्ध हो सकते हैं ॥ २९ ॥

न पश्यामोऽनपहृतं धनं किंचित्क्वचिद्वयम् ।
एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ३० ॥

इसमें यदि दोष समझा जावे, तो कहीं भी ऐसा कोई धन हम नहीं देखते हैं, जो दूसरे पुरुषोंसे हरके विना ही संग्रह किया जा सकता होवे ! इसीप्रकार राजा इस पृथ्वीको जीतते हैं ॥३०॥

जित्वा ममत्वं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धने ।
राजर्षयो जितस्वर्गा धर्मो ह्येषां निगद्यते ॥ ३१ ॥

जैसे पुत्र पिताके धनको अपना समझते हैं, वैसे ही वे लोग भी युद्ध जीतके जो धन पाते हैं, उसे अपना ही समझते हैं और स्वर्गको जीतनेवाले राजर्षियोंने राजधर्मके विषयमें ऐसा ही वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ।
एवं राजकुलाद्वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति ॥ ३२ ॥

जैसे भरे हुए समुद्रसे बहुतसा जल सूर्यतेजसे आकाशमें जाकर दसों दिशाओंमें बरसता है, वैसे ही सम्पूर्ण धन राजकुलसे निकलकर पृथ्वीका पालन कार्य सिद्ध करता है ॥ ३२ ॥

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ।
अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता ॥ ३३ ॥

यह पृथ्वी पहिले दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष और मान्धाता आदि राजाओंके अधिकारमें थी, इस समय वही आपके हस्तगत हुई है ॥ ३३ ॥

स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः संप्राप्तः सर्वदक्षिणः ।
तं चेन्न यजसे राजन्प्राप्तस्त्वं देवकिल्बिषम् ॥ ३४ ॥

इससे आपको अनेक सामग्री और सर्वदक्षिणासे पूरित यज्ञोंका अनुष्ठान करनेका समय प्राप्त हुआ है। यदि अब आप यह समस्त सामग्री पाके यज्ञ आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करेंगे, तो अवश्य ही आपको देवताओंके पापका भार उठाना पडेगा ॥ ३४ ॥

येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ।
उपेत्य तस्यावभृथं पूताः सर्वे भवन्ति ते ॥ ३५ ॥

जिनके राजा दक्षिणासे युक्त अश्वमेध यज्ञसे देवताओंका यजन करते हैं, उनके यज्ञ सम्पन्न होनेसे उनकी सम्पूर्ण प्रजा अवभृथ स्नानसे पवित्र होती है ॥ ३५ ॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ।
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥ ३६ ॥

दूसरेकी बात दूर रही, विश्वमूर्त्ति महादेवने भी स्वयं सर्वमेध यज्ञमें समस्त प्राणियोंको और सबके अन्तमें अपने शरीरको भी आहुतिमें प्रदान किया था ॥ ३६ ॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान्दाशरथः पन्था मा राजन्कापथं गमः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ २३२ ॥

हे राजन् ! जिस यज्ञमें यजमान पत्नीके सहित स्वयं दीक्षित हो और एक पशु, तीन वेद, चार ऋत्विक–ये दस स्थित रहे, वह दशरथ नाम महत् यज्ञका पथ ही नित्य है; उसका फल अविनाशी है ऐसा ही सुना गया है; इससे आप ऐसे मार्गको त्यागके कुपथमें न जाइये ॥३७॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ ३२२ ॥

: ९ :

युधिष्ठिर उवाच—

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनःश्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयित्वापि ते श्रुत्वा रोचतां वचनं मम ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– हे अर्जुन ! तुम क्षणभर मन और आत्माको स्थिर कर एकाग्र भावको धारण करो, ऐसा होनेसे मेरे वचनको सुननेके अनन्तर उसमें तुम्हारी रुचि होगी ॥ १ ॥

सार्थगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद्गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥ २ ॥

इस समय मैं ग्राम्यसुख त्यागके साधुओंके गमन करने योग्य मार्गसे गमन करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं, इससे अब तुम्हारे अनुरोधसे विषय मार्गमें नहीं गमन करूंगा ॥ २ ॥

क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पंथाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् ।
अथ वा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥

परन्तु एक बारगी गमन करनेमें प्रवृत्त होनेसे इस समय मुझे कौनसा मार्ग कल्याणदायक है ? यदि तुम मुझसे ऐसा प्रश्न करो, अथवा तुम्हारी पूछनेकी इच्छा न रहनेसे भी मैं स्वयं कहता हूं, सुनो ॥ ३ ॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत्तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥ ४ ॥

मैं ग्राम्य–व्यवहारके सम्पूर्ण सुखको परित्याग करके अरण्यवासी और फल मूलाहारी होकर महत् तपस्याका अनुष्ठान करते हुए मृगोंके वनमें भ्रमण करूंगा ॥ ४ ॥

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥

मैं वहां निवास करके प्रातः और सन्ध्याके समय स्नान, और यथा समय अग्निमें आहुति दूंगा; मृगछालाका वस्त्र, जटाधारण और परिमित भोजन करके शरीरको कृशित करूंगा ॥५॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥

सर्दी, गर्मी, क्षुधा, प्यास और परिश्रम आदि क्लेशोंको सहनेका अभ्यास करते हुए विधि-पूर्वक तपस्यासे धीरे धीरे अपने शरीरको सुखा दूंगा ॥ ६ ॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

मैं वनमें आनन्दपूर्वक रहवेनाले वनवासी मृग और पक्षियोंके मन और कानोंको सुख देनेवाले शब्दको नित्य सुनूंगा ॥ ७ ॥

आजिघ्रन्पेशलान्गन्धान्फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान्वने पश्यन्रमणीयान्वनौकसः ॥ ८ ॥

वनमें खिले हुए वृक्ष तथा लताओंके सुगन्धित फूलोंका सुवास लूंगा और नाना वेषधारी सुन्दर मूर्तिवाले वनवासियोंका दर्शन करूंगा ॥ ८ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनः ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ९ ॥

वनमें वानप्रस्थ महानुभावों तथा ऋषि-मुनियोंका भी दर्शन होगा। मैं अब किसीके अनिष्टा-चरणमें नहीं प्रवृत्त होऊंगा; इससे ग्रामवासी मनुष्योंके सङ्ग मेरा अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस विषयमें कहनाही क्या है ? ॥ ९ ॥

एकान्तशीली विमृशन्पक्कापक्केन वर्तयन् ।
पितृन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ १० ॥

मैं वहां एकान्त स्थलमें शिली वृत्ति अवलम्बन करके वनके वृक्षोंके पके तथा बेपके फल खाकर जीवन-निर्वाह करूंगा; वनके फल, झरनोंके पानी और स्तोत्र आदिसे देवता तथा पितरोंको तृप्त करते हुए समय व्यतीत करूंगा ॥ १० ॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम् ॥ ११ ॥

इसी भांति वनवासियोंके लिये शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार आरण्यक कठोरके कठोर व्रतका अनुष्ठान करके शरीर छूटनेके समयकी प्रतीक्षा करूंगा ॥ ११ ॥

अथ वैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन्वनस्पतौ ।
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ॥ १२ ॥

अथवा सिर मुंडाके संन्यासी होकर प्रतिदिन एक एक वृक्षके नीचे फल मांगके शरीरयात्रा निर्वाह करूंगा ॥ १२ ॥

पांसुभिः समवच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ १३ ॥

और निराश्रय होकर धूलपूरित शरीरसे चारों ओर पर्यटन करूंगा, अथवा सम्पूर्ण प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको परित्याग करके किसी वृक्षके नीचे वनके वीच निवास करूंगा ॥ १३ ॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहः ॥ १४ ॥

और सम्पूर्ण परिग्रह शून्य और सुखदुःखसे रहित होकर ममता तथा विषय वासनाको त्याग दूंगा; मैं कदापि शोक और हर्षके वशमें न होऊंगा, स्तुति और निन्दाको समान समझूंगा ॥१४॥

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः कांचित्संविदं जातु केनचित् ॥ १५ ॥

मैं अब कदापि किसीके सङ्ग वार्त्तालाप न करके, सदा प्रसन्न रहकर बाहरी भावसे अन्धे जड वा बधिर पुरुषोंकी भांति स्थित होके आत्म-उपासनामें रत रहूंगा ॥ १५ ॥

जङ्गमाजङ्गमान्सर्वान्नविहिंसंश्चतुर्विधान् ।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति ॥ १६ ॥

मैं अब चार प्रकारके सब चराचर प्राणियोंके बीच किसीकी भी हिंसा न करके धार्मिक और इन्द्रियपरायण प्रजाओं तथा प्राणियोंको समदृष्टिसे अवलोकन करूंगा ॥ १६ ॥

न चाप्यवहसन्कांचिन्न कुर्वन्भ्रुकुटीं क्वचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः ॥ १७ ॥

किसीकी अवज्ञा वा हंसी नहीं उडाऊंगा; किसीकी ओर टेढी दृष्टिसे नहीं देखूंगा; सदा सर्वदा प्रसन्न चित्तसे स्थित होके सब इन्द्रियोंको संयम करनेमें यत्नवान होऊंगा ॥ १७॥

अपृच्छन्कस्यचिन्मार्गं व्रजन्येनैव केनचित् ।
न देशं न दिशं कांचिद्गन्तुमिच्छन्विशेषतः ॥ १८ ॥

मैं किसीसे मार्ग नहीं पूछूंगा, किसी भी मार्गसे चल पड़ूंगा, मैं किसी भी विशेष देश या दिशामें नहीं जाऊंगा ॥ १८ ॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन् ।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः ॥ १९ ॥

पीछेकी ओर दृष्टि न करके स्थूल और सूक्ष्म शरीरका अभिमान त्यागकर निरपेक्ष होके स्थिर और सरलचित्तसे स्थावर–जङ्गम जीवोंको बचाता हुआ इच्छापूर्वक गमन करूंगा ॥ १९ ॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि ।
द्वंद्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन् ॥ २० ॥

स्वभाव सम्पूर्ण जीवोंके आगे आगे गमन करता है, इससे आहार आदि स्वाभाविक कार्य संस्कार वश ही निर्वाहित होंगे; परन्तु मैं ज्ञानके विरोधी उन सुखदुःखोंकी कुछ भी चिन्ता न करूंगा ॥ २० ॥

अल्पं वास्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित् ।
अन्येष्वपि चरल्लँलाभमलाभे सप्त पूरयन् ॥ २१ ॥

भोजन–भिक्षा थोडी मिली वा स्वादहीन मिली, उसे पा लूंगा; यदि प्रथम गृहमें कुछ भी न मिलेगा, तो दूसरे घर जाऊंगा; वहां भी यदि न मिलेगा, तो क्रमसे सात घर घुमकर उदर–पूर्ति करूंगा ॥ २१ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके ॥ २२ ॥

जिस समय ग्रामवासी समस्त पुरुषोंके उखली मूसल आदि सबका कार्य समाप्त और अग्नि बुझाके रसोईका घर धूंएंसे रहित होगा और सब गृहस्थ पुरुष भोजन करके निवृत्त होंगे, अधिक क्या कहूं, जिस समय अतिथि और भिक्षुओंका भी गमनागमन नहीं रहेगा ॥ २२ ॥

एककालं चरन्भैक्ष्यं गृहे द्वे चैव पञ्च च ।
स्पृहापाशान्विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम् ॥ २३ ॥

मैं उसही समय में जाकर दो, तीन वा पांच घरमें भिक्षा मांगूंगा, और सम्पूर्ण आशापाशसे मुक्त होकर इस पृथ्वीपर भ्रमण करूंगा ॥ २३ ॥

न जिजीविषुवत्किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ॥ २४ ॥

जीवितार्थी वा मुमूर्षु इन दोनोंमेंसे किसीकी भांति व्यवहार नहीं करूंगा । मैं जीने और मरनेको समान समझूंगा, किसी विषयमें हर्ष वा विषाद नहीं करूंगा ॥ २४ ॥

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ २५ ॥

यदि कोई पुरुष कुठार ग्रहण करके मेरी एक भुजा काट डाले और दूसरा पुरुष दुसरी भुजामें चन्दन लगावे, तो मैं उन दोनोंके बीच किसीके भी कल्याण अथवा अमङ्गलकी इच्छा नहीं करूंगा ॥ २५ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥

जीवित मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये जिन सम्पूर्ण कार्योंका अनुष्ठान करते हैं, मैं उन समस्त कार्योंको त्यागके केवल एक शरीर निर्वाहके योग्य पलकोंके खोलने–मींचने या खाने–पीने आदि कर्म करके समय व्यतीत करूंगा ॥ २६ ॥

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सुपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ २७ ॥

सर्वदा सम्पूर्ण कर्मोंमें आसक्ति रहित होकर इन्द्रियोंको वशमें करनेके वास्ते यत्नवान होऊंगा, और सब भांति सङ्कल्प रहित होकर अपने मनकी मलीनताको दूर करूंगा ॥ २७ ॥

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २८ ॥

संसारके सब बन्धनोंको तोडके आशा ममतासे हीन होके किसीके अधीन न रहकर वायुकी भांति स्वतन्त्र रूपसे पृथ्वीपर भ्रमण करूंगा ॥ २८ ॥

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥

मैंने अज्ञानसे विषय वासनामें फंस कर बहुत ही बडे पाप किये हैं, इससे ऐसी विषय वासनासे आसक्ति रहित होकर ही असीम शाश्वत आनन्द प्राप्त करनेमें समर्थ होऊंगा ॥२९॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥

कोई कोई मनुष्य अनेक भांतिके शुभाशुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके कई कार्य–कारणोंसे सम्बन्धीय स्त्री–पुत्र आदिका पालन करते हैं ॥ ३० ॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥

अन्तमें इस प्राणहीन शरीरको परित्याग करनेके अनन्तर परलोकमें उस पापके फलका भागी होना पडता है, क्योंकि कर्ताको ही सम्पूर्ण कर्मोंका फल भोगना होता है ॥ ३१ ॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन्व्याविद्धे रथचक्रवत् ।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥

इसी भांति समस्त प्राणी कर्मरूपी सूत्रमें बन्धके घूमते हुए रथचक्रकी भांति सदा इस संसारके बीच आवागमन करते रहते हैं ॥ ३२ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम् ।
असारमिममस्वन्तं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥

जन्म, मृत्यु, बुढापा और व्याधि आदि अनेक भांतिकी आपदाओंके आक्रमणसे युक्त इस असार संसारको जो पुरुष त्याग सकते हैं, उनको ही नित्य सुख प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु ।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत्कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

जब कि देवता लोग स्वर्गसे और महर्षि लोग अपने अपने स्थानोंसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं, तब इन सम्पूर्ण कारणोंको जानकर भी कौन पुरुष इस अनित्य जगत्के ऐश्वर्यकी इच्छा करेगा ? ॥ ३४ ॥

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद्विविधलक्षणम् ।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते ॥ ३५ ॥

समयके अनुसार अनेकविध कर्म करके ख्यात हुआ राजा भी कपटता आदि विविध उपाय अवलम्बन करके किसी कारणोंसे दूसरोंके द्वारा मारा जा सकता है ॥ ३५ ॥

तस्मात्प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

जो हो, बहुत समयके अनन्तर मेरे लिये यह ज्ञानरूपी अमृत प्राप्त हुआ है; इसका ही अवलम्बन करके मैं इस समय उस अक्षय, अव्यय और नित्य स्थानको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं ॥३६॥

एतया सततं वृत्त्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ २६९ ॥

ऐसी ही बुद्धि सदा हृदयमें धारण करके निर्भय मार्गमें आरूढ होके तथा क्लेशोंसे युक्त इस शरीरको त्याग करूंगा ॥ ३७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें नौवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ २६९ ॥

: १० :

भीम उवाच—

श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥

भीम बोले– हे महाराज ! जैसे मन्दबुद्धि अर्थ ज्ञानरहित वेदपाठी ब्राह्मणकी बुद्धि वेदपाठ करते करते स्तम्भित होजाती है, वैसे ही आपकी भी बुद्धि कलुषित होनेसे तत्त्वदर्शिनी नहीं होती है ॥ १ ॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशो धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजधर्ममें दोषारोपण करके यदि वृथा शान्ति तथा आलस–भावको अवलम्बन करना ही अभिप्राय था, तब धृतराष्ट्र पुत्रोंके नाश करके तुम्हें कौनसा फल मिला ? ॥ २ ॥

क्षमानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते ।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे ॥ ३ ॥

क्षत्रियोंको उचित मार्गपर चलनेवालेके हृदयमें अपने स्वजनोंपर भी क्षमा, दया, करुणा और कोमलता आदि सम्पूर्ण गुणोंका भाव नहीं रहता; तो अब यह सब क्यों है ? ॥ ३ ॥

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन ॥ ४ ॥

यदि हम आपके ऐसे अभिप्रायको पहिले ही जान सकते, तो कदापि हम शस्त्र ग्रहण नहीं करते और किसीका वध न करते ॥ ४ ॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्या विमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥

शरीरके अन्तपर्यन्त अवश्य ही भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके दिन विताते; ऐसा होनेसे राजाओंके वीच कदापि इस प्रकार भयङ्कर युद्ध उपस्थित न होता ॥ ५ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि यह सब प्राणका अन्न है; स्थावरजङ्गमसे युक्त यह सम्पूर्ण पृथ्वी प्राणका भोजन है ॥ ६ ॥

आददानस्य चेद्राज्यं ये केचित्परिपन्थिनः ।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

क्षत्रिय धर्मके जाननेवाले पण्डितोंका ऐसा ही मत है कि बलवान् पुरुषको राज्य ग्रहण करनेके समय यदि कोई शत्रुताचरण करें, तो उस ही समय उन्हींका वध करना उचित है ॥ ७ ॥

ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः ।
तान्हत्वा भुङ्क्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम् ॥ ८ ॥

हे युधिष्ठिर ! हमारे शत्रु कौरव लोग भी उस ही दोषसे दुःखित होकर हम लोगोंके हाथसे मारे गये हैं; इससे आप इस समय शत्रुरहित होके धर्मपूर्वक यह पृथ्वीभोग कीजिये ॥ ८ ॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई पुरुष कुआं खोदके उसमें जल न पाकर केवल कीचड लिपटे हुए शरीरसे निवृत्त होता है; उसी प्रकार आपका यह कर्म है ॥ ९ ॥

यथारुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥

अथवा जैसे कोई वडे वृक्षपर चढके मधु ग्रहण करके भी उसका स्वाद न पाकर ही मृत्युको प्राप्त होता है, उसी प्रकार आपका यह कर्म है ॥ १० ॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् ।
स निराशो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥

अथवा जैसे कोई आश पाशसे वन्धकर महा घोर पथसे गमन करते हुए फिर निराश होके निवृत्त होता है; उसी प्रकार आपका यह काम है ॥ ११ ॥

यथा शत्रून्घातयित्वा पुरुषः कुरुसत्तम ।
आत्मानं घातयेत्पश्चात्कर्मेदं नस्तथाविधम् ॥ १२ ॥

अथवा हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जैसे कोई शूरवीर पुरुप समस्त शत्रुओंका नाश करके पीछे आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार यह आपका कर्म है ॥ १२ ॥

यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीत यदृच्छया ।
कामी च कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथाविधम् ॥ १३ ॥

अथवा जैसे भूखे मनुष्यका अन्न पाकर भी भोजन न करना और कामी पुरुपके इच्छानुरूप स्त्री पाके भी दैववश उसे भोग न करनेकी भांति आपके वन गमनमें उद्यत होनेसे हम लोगोंके शत्रु नाश आदि सम्पूर्ण कार्य निरर्थक होरहे हैं ॥ १३ ॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि ये वयं मन्दचेतसः ।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥

हे राजन् ! भारत ! आप निर्वुद्धि होरहे हैं, तौभी हम लोग आपको ज्येष्ठ समझके मान्य करते हुए आपके अनुगामी होते हैं, तव हम लोगही इस विपयमें निन्दनीय हैं ॥ १४ ॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥ १५ ॥

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, हम लोग सव कोई वाहुवलसे युक्त, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और सव विषयोंके निश्चय करनेवाले हैं, परन्तु असमर्थकी भांति आप एक कायर भाईकी आज्ञामें रहते हैं ॥ १५ ॥

×

अगतीन्कागतीनस्मान्नष्टार्थानर्थसिद्धये।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यन्ति यादृशम् ॥ १६॥

हम लोग अनाथोंके रक्षक होकर भी यदि अर्थसे भ्रष्ट होंगे, तो प्रयोजन सिद्धिके विषयमें हमारा आश्रय लेनेवाले सब कोई हम लोगोंको क्या अकर्मण्य न समझेंगे? मेरा वचन युक्ति सङ्गत है वा नहीं, इसे विचारके देखिये ॥ १६॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन च ॥ १७॥

वृद्धावस्थासे जर्जर होनेपर और शत्रुसे पराजित होनेपर अर्थात् आपदकालमें ही सन्यास धर्म ग्रहण कर सकते हैं, ऐसे शास्त्रका कहना है ॥ १७॥

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते।
धर्मव्यतिक्रमं चेदं मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८॥

अतएव सूक्ष्म तत्वदर्शी पण्डितोंने ऐसे समयमें क्षत्रियोंको त्याग या सन्यासधर्मकी विधि नहीं दी है; वरन उससे धर्मका उल्लंघन होता है, ऐसा ही सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंने वर्णन किया है ॥ १८॥

कथं तस्मात्समुत्पन्नस्तन्निष्ठस्तदुपाश्रयः।
तदेव निन्दन्नासीत श्रद्धा वान्यत्र गृह्यते ॥ १९॥

जो पुरुष क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होके उसहीसे निष्ठावान तथा क्षात्रधर्मसे ही जीविका निर्वाह करते हैं, वे किस प्रकारसे दैव निर्दिष्ट धर्मकी निन्दा कर सकते हैं? ऐसा करनेमें उस विषयमें उसकी वहां श्रद्धा नहीं होती वा दूसरी जगह रहती है ॥ १९॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २०॥

क्षत्रियोंको भी जो वेदमें संन्यास ग्रहण करनेके अधिकार कहा गया है; वह यथार्थमें न होने पर भी ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदों तथा विधि विषयमें अनभिज्ञ, निर्द्धन और नास्तिक पुरुषोंने ही वेदोक्त संन्यास धर्मके प्रशंसा–रहित वचनको सत्यका भांति समझके अपना मत प्रकाशित किया है ॥ २०॥

शक्यं तु मौण्ड्यमास्थाय बिभ्रतात्मानमात्मना।
धर्मच्छद्म समास्थाय आसितुं न तु जीवितुम् ॥ २१॥

क्षत्रियोंको सिर मुंडाकर कपट संन्यास धर्म अवलम्बन करके शरीरको चेष्टारहितकी भांति रक्षित करनेसे वह नाशके लिये ही समझा जाता है, जीवन रक्षाके निमित्त नहीं ॥ २१॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम्।
अविभ्रता पुत्रपौत्रान्देवर्षीनतिथीन्पितॄन् ॥ २२ ॥

तब केवल देवता, ऋषि, अतिथि, पितर, पुत्र और पौत्र आदिके पालन पोषणमें असमर्थ पुरुष ही जङ्गलके बीच अकेले ही निवास करके सुखी हो सकता है ॥ २२ ॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः।
अथैतेन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न ताञ्जनाः ॥ २३ ॥

जैसे मृग, सूवर और पक्षी वनवासी होके भी स्वर्गके अधिकारी नहीं होते हैं, वैसेही सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे विमुख होनेवाले शक्तिमान् क्षत्रिय पुरुष भी आरण्यक धर्मसे किसी प्रकार स्वर्गके अधिकारी नहीं हो सकते ॥ २३ ॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजन्कश्चिदवाप्नुयात्।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥

हे राजेन्द्र ! यदि कोई संन्यास धर्मसे ही सिद्धि प्राप्त कर ले तो ऐसा होनेसे पहाड और वृक्षोंके समूह शीघ्र ही सिद्धिलाभ कर सकते हैं ॥ २४ ॥

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं चात्मचारिणः ॥ २५ ॥

जगत्‌के बीच ये ही नित्य प्रकृत संन्यासी और आत्म स्वरूपकी भांति दीख पडते हैं, क्योंकि इन्हें परिग्रह या किसी उपद्रवकी कुछ भी बाधा नहीं है ॥ २५ ॥

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥

पुरुष अपनी प्रारब्धके अतिरिक्त पराये भाग्यसे कदापि फल भागी नहीं हो सकता; इससे अवश्य ही कर्म करना उचित है। कर्म हीन मनुष्य कभी सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ २६ ॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः।
येषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥

और अपना उदर भरनेसे ही यदि सिद्धि प्राप्त हो सकती, तो जिसे उदर भरनेके अतिरिक्त और कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, वे मछली आदि जलजन्तु और स्थावर प्राणी भी संन्यास रूपी मुक्ति फल प्राप्त करनेमें समर्थ होते ॥ २७ ॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ २९७ ॥

अधिक और क्या कहूं, आप विशेष रीतिसे विचार करके देखिये, इस जगत्के संपूर्ण प्राणी अपने अपने कर्ममें प्रवृत्त होरहे हैं, इससे अवश्य ही कर्म करना चाहिये; कर्महीन पुरुषको दूसरे किसी विषयसे भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती ॥ २८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ २९७ ॥

: ११ :

अर्जुन उवाच—

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें तपस्वियोंके सङ्ग देवराज इन्द्रके वार्त्तालापका एक पुराना इतिहास वर्णित है, उसे ज्ञानी लोग कहते हैं ॥ १ ॥

केचिद्गृहान्परित्यज्य वनमभ्यगमन्द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥ २ ॥

किसी समयमें उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए बहुतसे ब्राह्मणोंके मूंछ—दाढी भी नहीं आये निर्बोध बालकोंने परिव्राजक धर्म ग्रहण करके घर त्यागके बनमें गमन किया ॥ २ ॥

धर्मोऽयमिति मन्वाना ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिताः ।
त्यक्त्वा गृहान्पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ३ ॥

वे सब महाधनवान् होकर भी संन्यासको ही यथार्थ धर्म समझकर पिता भ्राता आदि बन्धु-बान्धवोंको परित्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत अवलम्बन करके चारों ओर पर्यटन करने लगे, देवराज इन्द्रने उन बालकोंके ऊपर कृपा की ॥ ३ ॥

तानाबभाषे भगवान्पक्षी भूत्वा हिरण्मयः ।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत्कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥

भगवान् इन्द्रने सुवर्णमय पक्षीका रूप धरकर उन बालकोंसे कहा,— इस संसारके बीच जो लोग यज्ञसे बच हुए अन्नको भोजन करते हैं, वे साधारण मनुष्योंसे न होने योग्य अत्यन्त कठिन कर्म करते हैं ॥ ४ ॥

पुण्यं च बत कर्मैषां प्रशस्तं चैव जीवितम् ।
संसिद्धास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥ ५ ॥

और वही पवित्र कर्म है; इससे ऐसे ही कर्म करनेवाले पुरुषोंका जीवन धन्य है और वेही धर्मपरायण पुरुष सिद्ध मनोरथ होकर परम गति लाभ करते हैं ॥ ५ ॥

ऋषय ऊचुः—

अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान्प्रशंसति ।
अस्मान्नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः ॥ ६ ॥

ऋषि बोले— ओहो! यह पक्षी यज्ञसे बचे हुए अन्न भोजन करनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा करता है! हमलोग भी यज्ञसे बचे हुए अन्नको भोजन किया करते हैं; इससे अवश्य ही यह पक्षी हम लोगोंको यह विषय विज्ञापित करता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच—

नाहं युष्मान्प्रशंसामि पङ्कदिग्धान्नजस्वलान् ।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥ ७ ॥

पक्षी बोला— हे तपस्वी पुरुषों! मैं तुम लोगोंकी प्रशंसा नहीं करता हूं; तुम लोग शरीरमें कीचड लपेटे और धूलमिश्रित जूठे अन्नको भोजन करनेवाले मन्दबुद्धि हो, विघसाशी तो दूसरे ही हैं ॥ ७ ॥

ऋषय ऊचुः—

इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे ।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं वै श्रद्दधाम ते ॥ ८ ॥

ऋषि बोले— हे विहङ्गम! हम लोग इसे ही परम श्रेष्ठ कल्याणदायक मार्ग समझकर इसही की उपासना करते हैं; इस समय जो हम लोगोंके निमित्त उत्तम धर्म हो, तुम उसहीका उपदेश करो; तुम्हारे वचनोंमें हमलोगोंकी अत्यन्त ही श्रद्धा उत्पन्न होरही है ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच—

यदि मां नाभिशङ्कध्वं विभज्यात्मानमात्मना ।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥

पक्षी बोला— वक्ता और श्रोताका अन्तःकरण भिन्न भिन्न अंशोंमें बंटा रहता है, इससे यदि मेरे वचनोंमें तुम लोग कोई शङ्का न करो, तो मैं तुम लोगोंके निमित्त यथार्थ हितकर वचनोंका उपदेश करूंगा ॥ ९ ॥

ऋषय ऊचुः—

शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव ।
नियोगे चैव धर्मात्मन्स्थातुमिच्छाम शाधि नः ॥ १० ॥

ऋषि बोले— हे धर्मात्मन्! तात! हमलोग तुम्हारे वचनको सुनेंगे; इस जगत्के सम्पूर्ण मार्ग तुम्हें विदित हैं; इससे हम लोग तुम्हारी आज्ञाके अनुसार इस स्थानमें स्थित हैं; अब तुम हमलोगोंको यथार्थ पथका उपदेश प्रदान करो ॥ १० ॥

शकुनिरुवाच —

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम्।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥

पक्षी बोला– सम्पूर्ण चौपाये पशुओंमें गऊ श्रेष्ठ है, धातुओंमें सुवर्ण, शब्दोंमें मन्त्र और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादि ब्राह्मणस्य विधीयते।
जीवतो यो यथाकालं श्मशाननिधनादिति ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंके लिये मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कारका विधान है। उसके जीवन कालके समय पर्यन्त सम्पूर्ण आवश्यक संस्कारोंका विधिपूर्वक विधान करना है। मरनेपर भी श्मशानमें और घरपर सब संस्कार वैदिक विधिके अनुसार होने चाहिये ॥ १२ ॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः।
अथ सर्वाणि कर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्षते ॥ १३ ॥

और यह वैदिककर्म ही ब्राह्मणके लिये उत्तम यज्ञ और स्वर्ग प्राप्त होनेके श्रेष्ठ पथ स्वरूप है! और सैकडों कर्म-निष्ट स्वर्गार्थी पूर्व पुरुषोंके मनोरथ तथा कार्य मन्त्रोंद्वारा ही सिद्ध हुए हैं ॥ १३ ॥

आम्नायदृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें मैंने बहुत कुछ प्रत्यक्ष मालूम किया है। इससे लोकके बीच जो पुरुष दृढ विश्वासके सहित इस आत्माको जिस देव रूपसे भजता है, वह उसही भावसे सिद्धि प्राप्त करता है। इस जगत्के बीच जीवोंको तीन प्रकारसे सिद्धि प्राप्त होती है; प्रथम माघ महीनेसे लेकर आषाढ पर्यन्त छः महीने उत्तरायण कालमें मृत्यु होनेसे शुक्ल अर्थात् प्रकाशमय मार्गसे आदित्य लोक प्राप्त होता है; इस लोकमें इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं। दूसरा श्रावण महीनेसे लेकर पौष-मास छः महीने तक दक्षिणायन समयमें कृष्ण अर्थात् अन्धकारमय मार्गसे चन्द्रलोक प्राप्त होता है, इसी भांति मुक्त जीवोंकी पुनरावृत्ति होती है। तीसरे अविमुक्त उपासकोंको अन्तिम समयमें भगवान रुद्रदेव स्वयं आगमन करके तारकब्रह्म मन्त्र उपदेश करते हैं, उससे वे लोग ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं; इसको अनावृत्ति मुक्ति कहते हैं ॥ १४ ॥

ईहन्ते सर्वभूतानि तद्दतं कर्मसङ्गिनाम्।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥ १५ ॥

परन्तु इन तीनों प्रकारकी सिद्धियोंको सब प्राणी सत्य-पूज्य कर्मसे ही प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। यज्ञोंका सम्पादन ही कर्म है; यह गृहस्थाश्रम ही अत्यन्त पवित्र सिद्ध क्षेत्र और सबसे बडा है ॥ १५ ॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः ।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते　　　　　　　　　॥ १६ ॥

जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करके कुमार्गमें गमन अर्थात् संन्यास-धर्म ग्रहण करते हैं, वे सम्पूर्ण मूढ पुरुष अर्थ-भ्रष्ट होकर पापमें लिप्त होते हैं ॥ १६ ॥

देववंशान्पितृवंशान्ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम्　　　　　　　　॥ १७ ॥

देवताओं और पितरोंका यज्ञ और ब्रह्मवंशकी प्राप्ति— येही सिद्धिके नित्य सनातन मार्ग हैं; जो मूढ इनका परित्याग करके किसी दूसरे मार्गसे चलते हैं, वे वेदविरुद्ध मार्गका स्वीकार करते हैं ॥ १७ ॥

एतद्वोऽस्तु तपो युक्तं ददानीत्यृषिचोदितम् ।
तस्मात्तदध्यवसतस्तपस्वि तप उच्यते　　　　　　　　॥ १८ ॥

देखिये, ऋषिने मन्त्रमें कहा है कि "हे यजमान् ! द्रव्यदान आदि यज्ञ तपस्यासे युक्त होकर करो, मैं तुम्हारा अभिलषित सुख प्रदान करूंगा," इससे जिस प्रकारकी विधि है, उसही विधिके अनुसार चलनेसे तपस्विकी परम तपस्या कही गई है ॥ १८ ॥

देववंशान्पितृवंशान्ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
संविभज्य गुरोश्चर्या तद्वै दुष्करमुच्यते　　　　　　　　॥ १९ ॥

इससे इसही भांतिका यज्ञ और दानरूपी तपस्या तुम लोगोंको अवश्य कर्त्तव्य है । यथा नियमसे देवताओंकी पूजासे, ऋषियोंको वेदाध्ययनसे और पितरोंको तर्पण करके उनका भाग समर्पण करके, गुरुकी सेवाको ही पण्डितोंने कठिन तपस्या कहके वर्णन किया है ॥ १९ ॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः ।
तस्माद्गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः　　　　　　　　॥ २० ॥

देवता लोग इसी भांति कठोर तपस्या करके परम ऐश्वर्यको प्राप्त भये हैं । इसही निमित्त मैं तुम लोगोंको अत्यन्त कठीन गृहस्थ धर्मके भारको ग्रहण करनेका उपदेश करता हूं ॥ २० ॥

तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः ।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्　　　　　　　　॥ २१ ॥

यह वेदोक्त कर्म ही जो तपस्या और प्रजाकी उत्पत्तिका मूल मुख्य है, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, क्योंकि वेदमें गार्हस्थ्याश्रम विधिके स्थानमें गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंका मूल कहके वर्णित हुआ है ॥ २१ ॥

एतद्विदुस्तपो विप्रा द्वंद्वातीता विमत्सराः ।
तस्माद्वनं मध्यमं च लोकेषु तप उच्यते ॥ २२ ॥

काम–क्रोध आदि द्वन्द्वोंसे और ईर्ष्यासे रहित ब्राह्मणोंने इसी भांति धर्मानुष्ठानको परम तपस्या कहके स्वीकार किया है, और वनमें रहना मध्यम तपस्या कहके लोकमें वर्णित हुआ है ॥२२॥

दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः ।
सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ॥ २३ ॥

जो लोग दिन और रात्रिमें कुटुम्बको विधि पूर्वक अन्नप्रदान करके भोजन करते हैं, शेप बचे हुए भोजनको करनेवाले वे पुरुष दूसरेके द्वारा न प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ लोकोंमें गमन करते हैं ॥ २३ ॥

दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनस्य च ।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ २४ ॥

जो अतिथि, देवता, पितर, कुटुम्ब और अपने आश्रित लोगोंको यथारीतिसे अन्नप्रदान करके भोजन कराते हैं, और उनसे बचे हुए अन्नको खाते हैं, उन्हें विघशासी कहते हैं ॥ २४ ॥

तस्मात्स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः ।
लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः ॥ २५ ॥

इसलिये अपने धर्मके आसरेसे रहकर सत्यवादी और उत्तम व्रताचरणमें रत होके वे जगत्के गुरु होते हैं और स्वयं संशय रहित होते हैं ॥ २५ ॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः ।
वसन्ति शाश्वतीर्वर्षा जना दुष्करकारिणः ॥ २६ ॥

वे निर्मत्सरी कठिन व्रतका कर्म करनेवाले पुरुष शरीर त्यागनेके अनन्तर इन्द्रके स्वयं लोकको प्राप्त करके बहुत वर्षोंतक वहां वास करते हैं ॥ २६ ॥

ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा तस्य धर्मार्थसंहितम् ।
उत्सृज्य नास्तिकागतिं गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रिताः ॥ २७ ॥

हे महाराज ! उसके अनन्तर उन तपस्वी लोगोंने पक्षी रूपी देवराज इन्द्रके धर्मार्थ युक्त हितकर वचन सुनकर पाखण्ड वृत्ति धर्मको निष्फल समझ उसे त्यागके गृहस्थ धर्म अवलम्बन किया ॥ २७ ॥

तस्मात्त्वमपि दुर्धर्ष धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वाणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ३२५ ॥

हे दुर्धर्ष नरश्रेष्ठ ! आप भी इस समय उस चिरभ्यस्त धीरज धारण करके शत्रुहीन–निष्कण्टक इस संपूर्ण पृथ्वीपर शासन कीजिये ॥ २८ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ ३२५ ॥

: १२ :

वैशंपायन उवाच—

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत् ।
राजानमभिसंप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! तब अर्जुनकी बात सुनकर नकुल सभी धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ राजाको देखकर यह वाक्य बोले ॥ १ ॥

अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिंदमः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २ ॥

हे शत्रुनाशक ! वे बहुत बुद्धिमान् चौडी छातीवाले महाबाहु, तेजस्वी और कम बोलनेवाले नकुल अपने भाईके चित्तको परिवर्तित करनेकी अभिलाषासे यह वचन बोले ॥ २ ॥

विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः ।
तस्माद्विद्धि महाराज देवान्कर्मपथि स्थितान् ॥ ३ ॥

हे महाराज ! विशाख यूप नामक क्षेत्र विशेषमें अग्नि स्थापित करनेके लिये देवताओंने अग्नि कुण्ड बनाये थे, वे अबतक भी प्रसिद्ध हैं; इससे देवता भी कर्मोंपर विश्वास करते हैं, यह समझिये ॥ ३ ॥

अनास्तिकानास्तिकानां प्राणदाः पितरश्च ये ।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं पश्यस्व पार्थिव ।
वेदवादापविद्धांस्तु तान्विद्धि भृशनास्तिकान् ॥ ४ ॥

हे राजन् ! जो लोग जलवृष्टि आदिसे नास्तिकोंको भी प्राणदान करते रहते हैं, वे पितर लोग भी विधिपूर्वक कर्म किया करते हैं; जो लोग वेदोक्त धर्मका परित्याग करनेवाले हैं, उन्हें अवश्य ही नास्तिक समझिये ॥ ४ ॥

न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ।
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! सब कर्मोंमें वेदोक्त विधिको परित्याग करके कोई ब्राह्मण देवयान मार्गसे स्वर्गकी पृष्ठभूमिमें पैर नहीं रख सकता ॥ ५ ॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ।
ब्राह्मणाः श्रुतिसंपन्नास्तान्निबोध जनाधिप ॥ ६ ॥

वेद जाननेवाले श्रुतिसम्पन्न पण्डितोंने ऐसा कहा है, कि यह गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है; हे जनाधिप ! आप उनसे यह समझिये ॥ ६ ॥

×

वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन्।
कृतात्मस्तु महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! निश्चय कीजिये कि जो पुरुष श्रेष्ठ यज्ञोंको करते हुए वेदज्ञ ब्राह्मणोंको धर्मसे उपार्जित धन प्रदान करता, और अहङ्कार तथा ममता आदि त्यागके इन्द्रियसंयममें रत रहता है, उसे ही पण्डित लोग सात्विक त्यागी कहते हैं ॥ ७ ॥

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसः प्रभो ॥ ८ ॥

हे महाराज ! जो पुरुष सुखभोग्य गृहस्थाश्रमको त्यागके जंगलमें गमन करता है अथवा अनशन आदिसे शरीर त्याग करता है, उसे तामस त्यागी समझिये ॥ ८ ॥

अनिकेतः परिपतन्वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! जो गृहत्यागके विचरता हुआ मौनावलम्बन पूर्वक वृक्ष आदिके नीचे सर्वदा स्थित होके योगाभ्यासमें रत रहता है और कोई अभिलाषा न करके स्वयं अपने लिये रसोई नहीं बनाता, वह भिक्षुक सन्यासी होता है ॥ ९ ॥

क्रोधहर्षावनाहत्य पैशुन्यं च विशां पते।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी गुरुपूजकः ॥ १० ॥

हे पृथ्वीपते ! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और चुगलीको त्यागके सदा वेदाध्ययनमें रत रहता है, उसे गुरुपूजक त्यागी कहा जाता है ॥ १० ॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान्धृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतस्ते त्रयो राजन्गृहस्थाश्रम एकतः ॥ ११ ॥

कहते हैं, कि मनीषी विद्वानोंने चारों आश्रमोंको तराजूपर तौला था; सब आश्रमोंकी बराबरी करनेमें एक ओर तीनों आश्रम और दूसरी ओर गृहस्थाश्रम था ॥ ११ ॥

समीक्षते तु योऽर्थं वै कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥ १२ ॥

भारत ! लोकोंके तत्वको जाननेवाले महर्षियोंने सब आश्रमोंके तारतम्यकी समालोचना करके जब समझा कि, गृहस्थाश्रममें अर्थ, काम और स्वर्ग प्राप्त होते हैं, तब यही उन लोगोंकी गति और अवलम्बस्वरूप हुआ ॥ १२ ॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ।
न यः परित्यज्य गृहान्वनमेति विमूढवत् ॥ १३ ॥

हे भरत-श्रेष्ठ ! जो मूढवत् गृहत्यागके वनवासी बनता है, वह त्यागी नहीं है; परंतु वैसा न करके फलासक्तिसे रहित होकर गृहस्थाश्रममें ही कर्त्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष उस वनवासीसे श्रेष्ठ और प्रकृत सन्यासी है ॥ १३ ॥

यदा कामान्समीक्षेत धर्मवैतंसिकोऽनृजुः।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥ १४ ॥

और जो पुरुष संन्यास वेष धारण करके मनमें सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त वस्तुओंका ध्यान करता है, उसकी गर्दनमें यमराज अपना फांस डालके उसे बांध लेता है ॥ १४ ॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १५ ॥

हे राजन्! जो कर्म अहङ्कार वश किया जाता है, वह फलदायक अर्थात् मुक्ति देनेवाला नहीं होता; और जो कर्म आसक्ति रहित होकर किया जाता है, वह सब महा फलदायक होता है, क्योंकि वह मुक्तिका कारण समझा जाता है ॥ १५ ॥

शमो दमस्तपो दानं सत्यं शौचमथार्जवम्।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १६ ॥

शम, दम, तप, दान, सत्य, पवित्रता, सरलता, यज्ञ, धृति और धर्म—ये सब नियमित आचार ऋषियोंके लिये विधि कहके वर्णित हैं ॥ १६ ॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १७ ॥

गृहस्थाश्रममें देवता, पितर और अतिथिके उद्देश्यसे यज्ञ आदि कर्म करना योग्य और प्रशंसनीय है, ऐसा करनेसे ही त्रिवर्ग योग साधन धर्म, अर्थ और काम—सिद्ध होते हैं ॥१७॥

एतस्मिन्वर्तमानस्य विधौ विप्रनिषेविते।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित्। ॥ १८ ॥

इससे आसक्तिरहित होकर वेदविहित विधिसे गृहस्थाश्रममें स्थित त्यागी नष्ट नहीं होता; उत्तम परलोक प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता ॥ १८ ॥

असृजद्धि प्रजा राजन्प्रजापतिरकल्मषः।
मां यक्ष्यन्तीति शान्तात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ १९ ॥

हे महाराज! पापरहित धर्मात्मा शान्तात्मा प्रजापतिने "नाना भांतिकी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ करके ये लोग मेरी पूजा अर्चा करेंगे," इसी अभिप्रायसे प्रजाओंको उत्पन्न किया है ॥१९॥

विरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं च तथौषधीः।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान्यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २० ॥

लता, वृक्ष, औषधि, मेध्य पशु आदि सम्पूर्ण सामग्री यज्ञके निमित्त ही उत्पन्न हुई हैं; और पवित्र घृत भी यज्ञमें प्रयोजनीय है ॥ २० ॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् ।
तस्माद्गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २१ ॥

वह यज्ञकर्म गृहस्थाश्रममें निवास करनेवाले पुरुषको मर्यादाके भीतर रखता है; इससे इस जगत्में गृहस्थाश्रम धर्म ही अत्यन्त कठिन और दुर्लभ है ॥ २१ ॥

तत्संप्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यसमन्विताः ।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥ २२ ॥

महाराज ! उस अति दुर्लभ गृहस्थाश्रममें निवास करके तथा पशु और धान्य आदि सामग्रियोंसे युक्त होकर भी जो गृहस्थ पुरुष यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, वे बहुत दिनोंतक पापभोग करते हैं ॥ २२ ॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ।
अथापरे महायज्ञान्मनसैव वितन्वते ॥ २३ ॥

ऋषियोंके बीच कोई वेदाध्ययन, कोई ज्ञानकी समालोचना और कोई मनही मन शास्त्र आलोचना- ध्यानरूपी महायज्ञोंका अनुष्ठान करते रहते हैं ॥ २३ ॥

एवं दानसमाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप ।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २४ ॥

इसी भांति स्थिर चित्तवाले ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मणोंके संसर्गमें रहनेके लिये देवता लोग भी अभिलाष करते हैं ॥ २४ ॥

स रत्नानि विचित्राणि संभृतानि ततस्ततः ।
मखेष्वनभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ।
कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ॥ २५ ॥

हे राजन् ! शत्रुओंको जीतकर इधर–उधरसे आपने जो बहुतसे विचित्र रत्नसंग्रह किये हैं, उन्हें यज्ञमें विना वितरण किये ही, जो अब इस समय आरण्यक धर्मग्रहण करनेका प्रसङ्ग करते हैं, उससे केवल आपकी नास्तिकता प्रकाशित होती है। गृहस्थाश्रममें स्थित मनुष्यके लिये त्यागका विधान नहीं देखा है ॥ २५ ॥

राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ।
ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः ।
तैर्यजस्व महाराज शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २६ ॥

राजसूय, अश्वमेध और सर्वमेध आदि यज्ञोंमें उसे रत होना चाहिये। हे राजेन्द्र ! इनके अतिरिक्त जो दूसरे यज्ञ जिनकी ब्राह्मण लोग प्रशंसा करते हैं, उन्हींका अनुष्ठान देवराज इन्द्रके भांति आप भी कीजिये ॥ २६ ॥

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते　　॥ २७ ॥

राजाकी असावधानीसे यदि डाकू लोग प्रजाके धनको हर लेवें, और राजा यदि उस समय प्रजाकी रक्षा न करे, तो वह राजा साक्षात् कलियुगका स्वरूप कहा जाता है ॥ २७ ॥

अश्वान्गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः ।
ग्रामाञ्जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च　　॥ २८ ॥

हमलोग राजपुत्र होकर भी यदि घोडे, गऊ, दासी और सब भांतिसे अलंकृत हाथी, गांव, सेवक, भूमि और गृह आदि सामग्री का ॥ २८ ॥

अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः ।
वयं ते राजकलयो भविष्यामो विशां पते　　॥ २९ ॥

दान न कर सके, हे पृथ्वीनाथ ! तो अपने दोपसे ही हम लोग मत्सरी होकर कलिस्वरूप कहे जावेंगे ॥ २९ ॥

अदातारोऽशरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः ।
दुःखानामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन　　॥ ३० ॥

जो लोग दान आदि नहीं देते, शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते, वे राजाओंके पापके भागी होते हैं; वे सदा दुःखका ही भोग करते हैं; वे कदापि सुख नहीं पा सकते ॥ ३० ॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् ।
तीर्थेष्वनभिसंत्यज्य प्रव्रजिष्यसि चेदथ　　॥ ३१ ॥

जो पवित्र तीर्थोंमें स्नान, पितर लोकके लिये श्राद्धादि और देवताओंके लिये यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान न करके वनके बीच गमन करके संन्यास ले लेंगे ॥ ३१ ॥

छिन्नाभ्रमिव गन्ताऽसि विलयं मारुतेरितम् ।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः　　॥ ३२ ॥

प्रचण्ड वायुके वेगसे छिन्नभिन्न हुए बादलोंके समान नष्ट हो जाएंगे; लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर अन्तरालमें लटके रहेंगे ॥ ३२ ॥

अन्तर्बहिश्च यत्किञ्चिन्मनोव्यासङ्गकारकम् ।
परित्यज्य भवेत्त्यागी न यो हित्वा प्रतिष्ठते　　॥ ३३ ॥

जो भीतरसे अभिमान और बाहरी मनको लुभानेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमेंसे आसक्ति त्याग सकता है, वही प्रकृत संन्यासी—त्यागी है; नहीं तो गृहस्थाश्रम त्यागके वनमें चले जानेसे कोई संन्यासी नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

एतस्मिन्वर्तमानस्य विधौ विप्रतिषेधिते ।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३४ ॥

महाराज ! इस गृहस्थाश्रममें रहकर वेद-शास्त्र विहित कर्ममें स्थित ब्राह्मणका कभी विनाश नहीं होता ॥ ३४ ॥

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धाञ्शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये ।
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे पूर्वैः स्मृते पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥ ३५ ॥

पहिले समयमें जैसे देवराज इन्द्रने दैत्योंकी सेनाओंका वध किया था, वैसे ही युद्धभूमिमें पराक्रमी शत्रु कौरवोंका वेगपूर्वक वध करके आपने विजय पायी है; तथा पहलेके राजाओं-द्वारा आचरित अपने धर्ममें रत रहते हो, ऐसा कौन राजा शोक करेगा ? ॥ ३५ ॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय ।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ३६१ ॥

हे राजेन्द्र ! अब शोक न कीजिये; आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार पराक्रमके प्रभावसे पृथ्वी जय की है; इससे अब यज्ञ करके मन्त्रपाठ करनेवाले ब्राह्मणोंको बहुत सा धनादि दान कीजिये; ऐसा करनेसे आप अनायासही शीघ्र स्वर्ग लाभ प्राप्त कर सकेंगे ॥ ३६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ ३६१ ॥

: १३ :

सहदेव उवाच—
न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

सहदेव बोले– हे भारत ! केवल बाह्य द्रव्यका परित्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती; वरन् आन्तरिक आसक्ति त्यागनेसे भी सिद्धि प्राप्त होती है या नहीं, इसमें संदेह है ॥ १ ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृध्यतः ।
यो धर्मो यत्सुखं वा स्याद्द्विषतां तत्तथास्तु नः ॥ २ ॥

अन्तरमें विषयासक्त और बाहरी वस्तुओंके त्याग करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार धर्म और सुखलाभकी सम्भावना रहती है, वह हम लोगोंके शत्रुओंको प्राप्त होवे ॥ २ ॥

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत्सुखं वा स्यात्सुहृदां तत्तथास्तु नः ॥ ३ ॥

और आन्तरिक अभिमान आदि त्यागके यथानियमसे पृथ्वीका शासन करनेवाले राजाको जैसा धर्म और सुख प्राप्त होना सम्भव है, वह हम लोगोंके इष्ट मित्रोंको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥

'मम' ये दो अक्षर ही मृत्यु है; और 'न मम' ये तीन अक्षर अर्थात् निर्मम होके नित्य ब्रह्म जानना अमृत– सनातन ब्रह्म है ॥ ४ ॥

ब्रह्ममृत्यू च तौ राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! ज्ञान और अज्ञान, मृत्यु और अमृत ब्रह्म ये दोनों अवश्य ही अपने शरीरमें ही अलक्षित रूपसे स्थित होकर प्राणियोंको आपसमें लडाते हैं, यह निःसंशय है ॥ ५ ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
भित्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥

हे भारत ! यदि यह निश्चित है कि जीव अमर है, तो प्राणियोंके शरीरको नष्ट करनेसे उनकी हिंसा नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा ।
नष्टे शरीरे नष्टं स्याद्वृथा च स्यात्क्रियापथः ॥ ७ ॥

और यदि शरीरका जन्मना मरना देखकर उस जीवकी उत्पत्ति और मृत्यु माने, तो वेदमें कही हुई समस्त क्रिया मिथ्या हो जावेंगी ॥ ७ ॥

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥

इससे एकान्तमें रहनेका विचार छोडकर पूर्व तथा अत्यंत पूर्व समयके साधु पुरुषोंके आचरित मार्गको अवलम्बन करना बुद्धिमान् पुरुषको उचित है ॥ ८ ॥

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ्निष्फलं तस्य जीवितम् ॥ ९ ॥

इस स्थावर जङ्गमसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त करके भी जो राजा राज्यसुखका उत्तम रीतिसे भोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है ॥ ९ ॥

अथ वा वसतो राजन्वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥

अथवा हे राजन् ! जो वनवासी होकर वनके फल–मूलोंसे जीवन धारण करता है, परन्तु और द्रव्य, विषय वासनाकी ममता उसके चित्तसे नहीं छूटती; वह शीघ्र ही मृत्युके कराल ग्रासमें पतित होता है ॥ १० ॥

बाह्याभ्यन्तरभूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद्भावं मुच्यन्ते महतो भयात् ॥ ११ ॥

हे भारत ! आप इस आत्माको प्राणियोंके भीतर बाहर प्रत्यगात्म रूपसे स्थित समझिये; जो लोग सबके भीतर विराजमान पर आत्माको देख सकते हैं, वे महाभयसे मुक्त होते हैं ॥ ११ ॥

भवान्पिता भवान्माता भवान्भ्राता भवान्गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तस्मान्मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हम लोगोंके आपही पिता, आपही माता, आपही भाई और आपही गुरु हैं, इससे मैंने दुःखसे आर्त्त होकर जो कुछ प्रलापयुक्त वचन कहे हैं, उस अपराधको क्षमा कीजिये ॥ १२ ॥

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत्प्रभाषितम् ।
तद्विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ३७४ ॥

क्योंकि हे भरतश्रेष्ठ पृथ्वीपते ! मैंने जो कुछ कहा है, चाहे वह न्याययुक्त हो अथवा अन्याय पूरित ही होवे, केवल आपमें भक्ति रहनेके कारणसे ही मैंने कहा है, यह आप समझिये ॥ १३ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ ३७४ ॥

: १४ :

वैशंपायन उवाच

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान्विविधान्वेदनिश्चयान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! भीमसेन आदि भाइयोंने अनेक प्रकारके वेदविहित वचनोंको कहके इस प्रकार कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको प्रबोधित किया; तौभी जब उन्होंने कुछ उत्तर न दिया ॥ १ ॥

महाभिजनसंपन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्रं द्रौपदी योषितां वरा ॥ २ ॥

तब महत् अभिजन–सम्पन्न, यशस्वि, बडी बडी आंखोंवाली, स्त्रियोंमें अग्रगण्य द्रौपदी नृपश्रेष्ठ धर्मराजको कहने लगी ॥ २ ॥

आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥

वह शेर और सिंहोंके समान शूरवीर भाइयोंके द्वारा हाथियोंसे यूथपति गजराजके समान घिरे हुए बैठे हुए बलवान् युधिष्ठिरसे बोली ॥ ३ ॥

अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥ ४ ॥

वह धर्म जाननेवाली, धर्मदर्शनी पाञ्चाली स्वाभाविक ही पतियों, विशेषतः युधिष्ठिरके प्रति अभिमान रखनेवाली थी। उसपर भी राजा युधिष्ठिर उसका सदा सम्मान किया करते थे ॥४॥

आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस ही कारण स्थूल नितम्ब और सुन्दर जांघोंवाली वह उनके समीप बहुत कुछ अभिमान युक्त वचनोंको प्रकाशित करती हुई राज शिरोमणी निज स्वामी युधिष्ठिरकी ओर कटाक्ष करके मनोहर शान्त वचनसे उन्हें सम्बोधन करके बोली ॥ ५ ॥

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्त स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥

हे महाराज ! तुम्हारे भ्राता सूखे कण्ठसे युक्त चातककी भांति चिल्ला रहे हैं, तोभी तुम उन लोगोंको अभिनन्दन नहीं करते हो ! ॥ ६ ॥

नन्दयैतान्महाराज मत्तानिव महाद्विपान् ।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥ ७ ॥

महाराज ! बहुत दिनोंसे दुःख भोग करनेवाले महामतवाले हाथीके समान पराक्रमी इन भाइयोंको आप यथा उचित वचनोंसे आनन्दित कीजिये ॥ ७ ॥

कथं द्वैतवने राजन्पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
भ्रातॄनेतान्स्म सहिताञ्शीतवातातपार्दितान् ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! पहिले द्वैतवनमें जब तुम्हारे ये सब भाई आपके साथ सर्दी, वायु और गर्मीसे अत्यन्त क्लेशित हुए थे; तब उस समय आपने कहा था– ॥ ८ ॥

वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ।
संपूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥ ९ ॥

हे शत्रुओंका नाश करनेवाले वीर भ्राता लोगों ! विजयकी इच्छावाले हम सब कोई मिलके युद्धभूमिमें दुर्योधनको मारकर सब अभिलाष सिद्ध करनेवाली पृथ्वीको भोग करेंगे ॥ ९ ॥

×

विरथांश्च रथान्कृत्वा निहत्य च महागजान् ।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिंदमाः ॥ १० ॥

और जब तुम लोग शत्रुसेनाके रथियोंको रथ रहित और हाथियोंको मारकर उन सब घुडसवारसहित रथों और चतुरङ्गिनी सेनाके मृत शरीरोंसे पृथ्वीको परिपूरित करेंगे ॥१०॥

यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय नः ॥ ११ ॥

फिर अनेक दक्षिणासे युक्त अनेक भांतिके समृद्ध यज्ञोंका अनुष्ठान करोगे, उस समय तुम लोगोंका यह वनवासजनित सब दुःख सुखमें परिणत होगा ॥ ११ ॥

इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांस्युत ॥ १२ ॥

हे धर्मात्माओंमें मुख्य वीर महाराज ! आप स्वयं उस समय इन्हें इस प्रकार धीरजयुक्त वचन कहके आज किस कारणसे हम लोगोंका मन उत्साहरहित कर रहे हैं ? ॥ १२ ॥

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते ।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते ॥ १३ ॥

कायर और नपुंसक पुरुष कदापि पृथ्वी वा ऐश्वर्य भोगनेका अधिकारी नहीं हो सकता ! धनका उपार्जन नहीं कर सकता; और जैसे कीचडमें मछली नहीं रह सकती, वैसे ही नपुंसकके घरमें पुत्र कलत्र नहीं रहते ॥ १३ ॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूतिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखमेधन्ति भारत ॥ १४ ॥

क्षत्रिय राजा दण्ड रहित होनेसे प्रभासे प्रकाशित नहीं होता; दण्ड न देनेवाला राजा इस पृथ्वीका भोग करनेमें समर्थ नहीं हो सकता और भारतमें दण्डहीन राजाकी प्रजा भी कदापि सुख नहीं पासकती ॥ १४ ॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैष धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ १५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! सब प्राणियोंके ऊपर मित्रभाव, दान, अध्ययन और तपस्या- यह ब्राह्मणका धर्म है क्षत्रिय राजाका नहीं ॥ १५ ॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥ १६ ॥

दुष्टोंका निवारण, साधु पुरुषोंका पालन और युद्धमें पीछे न हटना—यही राजाओंका परम धर्म है ॥ १६ ॥

यस्मिन्क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ १७॥

जिसमें क्षमा, क्रोध, दान देना—कर लेना, शत्रुओंको भय और शरणागतोंको अभय, निग्रह और अनुग्रह वर्त्तमान हैं, उसे ही धर्मज्ञ कहा जा सकता है॥ १७॥

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा नोत्कोचेन तथाप्युत ॥ १८॥

आपने न अध्ययनसे, न दानसे, न शांत वाक्यसे, न यज्ञसे, किंवा न याचना कर पृथ्वी प्राप्त की है॥ १८॥

यत्तद्बलममित्राणां तथा वीरसमुद्यतम्।
हस्त्यश्वरथसंपन्नं त्रिभिरङ्गैर्महत्तरम् ॥ १९॥

युद्धमें उद्यत शत्रुके हाथी, घोडे, रथ और पदाति वीरोंसे युक्त चतुरङ्गिनी सेनाका॥ १९॥

रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च।
तत्त्वया निहतं वीर तस्माद्भुङ्क्ष्व वसुंधराम् ॥ २०॥

जो द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्यसे सुरक्षित थी; उसका नाश करके इस पृथ्वीको प्राप्त किया है, इससे अब इसे भोग कीजिये॥ २०॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदायुतः।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥ २१॥

हे प्रभो! पुरुषश्रेष्ठ! पहिले राजसूय यज्ञके समयमें आपने अनेक भांतिके प्राणियोंसे युक्त इस जम्बुद्वीपको शक्तिसे अधिकारमें किया था॥ २१॥

जम्बूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप।
अपरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २२॥

महामेरु पर्वतके पश्चिम जम्बूद्वीपके समान क्रौञ्चद्वीपको भी तुमने शक्तिसे कुचल दिया था॥२२॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २३॥

और महागिरि मेरुके पूर्व क्रौञ्च द्वीप सदृश शाकद्वीपको भी तुमने शक्तिसे कुचल दिया था॥२३॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन संमितः।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २४॥

और इस महापर्वतके उत्तर दिशामें स्थित शाकद्वीपके समान ही भद्राश्व द्वीपको अपनी शक्तिसे कुचल दिया था॥ २४॥

द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदालयाः ।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥

हे वीर ! इसके अतिरिक्त नाना प्राणियोंसे युक्त सम्पूर्ण द्वीप और अन्तर्द्वीपोंपर भी आपने समुद्र लांघकर अपनी शक्तिसे अधिकार कर दिया था ॥ २५ ॥

एतान्यप्रतिमानि त्वं कृत्वा कर्माणि भारत ।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥

हे भारत ! महाराज ! आप इस भांति असीम कार्योंको करके ब्राह्मणोंसे सम्मानित होकर भी क्यों नहीं प्रसन्न चित्त होते हैं ? ॥ २६ ॥

स त्वं भ्रातृनिमान्दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत ।
ऋषभानिव संमत्तान्गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥

भारत ! क्या ही आश्चर्य है ! आप मतवाले हाथी और बलवान् वृषभोंके समान पराक्रमी अपने इन भाइयोंकी ओर देखकर इन्हें आनन्दित करिये ॥ २७ ॥

अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परंतपाः ।
एकोऽपि हि सुखायैषां क्षमः स्यादिति मे मतिः ॥ २८ ॥

आप सब कोई देवताओंके समान शत्रुओंका नाश करने और उनके पराक्रमको सहनेमें समर्थ हैं; अधिक क्या कहूं; मेरे विचारमें हम लोगोंके बीच एकही पुरुषके स्वामी होनेसे परम सुखके निमित्त समर्थ हो सकता है ॥ २८ ॥

किं पुनः पुरुषव्याघ्राः पतयो मे नरर्षभाः ।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥

जब शरीरको धारण करनेवाली पांचों इन्द्रियोंके भांति आप पुरुषसिंह नरश्रेष्ठ पांचों भाई मेरे स्वामी हैं ; तब जो मेरा कितना सौभाग्य है; उसे कहां तक वर्णन करूं ? ॥ २९ ॥

अनृतं माब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥

महाराज ! मेरी सास सर्वज्ञानसे युक्त दीर्घदर्शिनी कुन्तीदेवीने कुछ भी मिथ्या वचन नहीं कहा था। उन्होंने मुझसे कहा था, "हे द्रौपदी ! महापराक्रमी युधिष्ठिर तुझे अनुत्तम सुख प्रदान करेंगे ॥ ३० ॥

हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः ।
तद्व्यर्थं संप्रपश्यामि मोहात्तव जनाधिप ॥ ३१ ॥

शीघ्रतापूर्वक पराकम दिखानेवाले वे युद्धभूमिमें सहस्रों राजाओंको मारेंगे।" परन्तु हे जनाधिप ! आपको सहसा इस प्रकारसे मोहयुक्त देखकर अब बोध होता है, उनके वे सब वचन मिथ्या हुए ॥ ३१ ॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तस्योपचारिणः ।
तवोन्मादेन राजेन्द्र सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥ ३२ ॥

जिनका जेठा भाई उन्मत्त होता है, छोटे भाई सब उसके ही अनुगामी होते हैं । राजेन्द्र ! आपका चित्त उन्मत्तता युक्त हो रहा है, तो आपके भाई आपके अनुगामी होरहे हैं ॥ ३२ ॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते जनाधिप ।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुंधराम् ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! यदि ये आपके भाई उन्मत्त नहीं हुए होते, तो नास्तिकोंके सहित आपको बांधके स्वयं ही पृथ्वीका शासन करते ॥ ३३ ॥

कुरुते मूढमेवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति ।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ।
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद्य उन्मार्गेण गच्छति ॥ ३४ ॥

जो पुरुष मूढ होकर आपकी भांति आचरण करता है, उसका कदापि कल्याण नहीं हो सकता । जो पुरुष इस भांति उन्मादमार्गी होता है, धूप, अञ्जन, नस्य और औषधी प्रयोगसे उसकी चिकित्सा करनी उचित है ॥ ३४ ॥

साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ।
तथा विनिकृतामित्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम् ॥ ३५ ॥

परन्तु हे भरतसत्तम महाराज ! स्त्रियोंके बीच मैं ही अत्यन्त अधम हूं, क्योंकि मैं वैसे शत्रुओंसे रहित होकर भी अभी जीवित रहनेकी अभिलाषा करती हूं ॥ ३५ ॥

एतेषां यतमानानामुत्पद्यन्ते तु संपदः ।
त्वं तु सर्वां महीं लब्ध्वा कुरुषे स्वयमापदम् ॥ ३६ ॥

आपके ये सब भाई लोग और मैं, हम सब कोई उत्कर्षके लिये यत्न कर रहे हैं, इससे हमारे वचनोंको निष्फल करना आपको उचित नहीं है । आप सम्पूर्ण पृथ्वीके राज्यको त्यागके वनमें गमन करनेके लिये उद्यत होकर स्वयं ही विपदको आवाहन कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

यथास्तां संमतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तमौ ।
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन्विराजसे ॥ ३७ ॥

हे महाराज ! पहिले जैसे मान्धाता और अम्बरीष पृथ्वीके समस्त राजाओंमें माननीय थे, इस समय आप भी उस ही भांति विराजमान हो रहें हैं ॥ ३७ ॥

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन्विमना भव ॥ ३८ ॥

इससे धर्मके सहित प्रजाको पालन करते हुए पर्वत, वन और अनेक द्वीपोंसे युक्त इस पृथ्वीका शासन कीजिए और हे राजन् ! निराश मत होइए ॥ ३८ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्जुह्वन्नग्नीन्प्रयच्छ च ।
पुराणि भोगान्वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ४१३ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! विविध यज्ञोंका अनुष्ठान, और शत्रुओंके सङ्ग युद्ध करते हुए ब्राह्मणोंको ग्राम, वस्त्र आदि अनेक भांतिकी भोगप्रद वस्तु प्रदान कीजिये ॥ ३९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ ४१३ ॥

: १५ :

वैशंपायन उवाच—

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज जनमेजय ! अर्जुन द्रौपदीके वचनको सुनकर बडे भाई, प्रभु महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए फिर कहने लगे ॥ १ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥

हे महाराज ! दण्ड ही समस्त प्रजाओंका शासन और रक्षा पालन करता रहता है; और सम्पूर्ण प्राणियोंकी निद्रावस्थामें भी दण्ड जागता रहता है; इस ही कारण पण्डित लोग दण्डको ही धर्म कहकर वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

धर्मं संरक्षते दण्डस्तथैवार्थं नराधिप ।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥ ३ ॥

हे राजन् ! दण्डही धर्मकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अर्थकी रक्षा करता है; दण्ड ही काम की रक्षा करता है, इसहीसे दण्ड त्रिवर्गनामसे वर्णित हुआ है ॥ ३ ॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व स्वभावं पश्य लौकिकम् ॥ ४ ॥

अधिक क्या कहूं, प्रजाओंकी धनधान्य आदि जो कुछ वस्तु हैं, वह सब दण्डसे ही रक्षित होती हैं । हे राजेन्द्र ! इससे आप भी ऐसाही निश्चय करके लोक-रक्षा स्वरूप दण्डको ग्रहण करके लौकिक भावोंपर दृष्टि कीजिये ॥ ४ ॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥ ५ ॥

इस पृथ्वीपर कितने ही पापी पुरुष केवल राज दण्डके भयसे ही पाप कर्मोंमे प्रवृत्त नहीं होते; कोई कोई यमदण्ड और परलोकके भयसे पाप नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

और कोई कोई जातीय भयसे आपसमें एक दूसरेके पापाचरण करनेमें प्रवृत्त नहीं होते । हे राजन् ! इसी भांति लौकिक व्यवहारोंकी सिद्धि होती है; परन्तु सब प्राणी केवल दण्ड-भयसे ही अपने अपने कार्योंमें यथा रीति तत्पर हैं ॥ ६ ॥

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम् ।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर बहुतेरे प्राणी ऐसे भी हैं, जो केवल दण्डभयसे इस प्रकारके आपसमें एक दूसरेको भक्षण नहीं करते । अधिक मैं अत्र क्या कहूं, यदि दण्ड प्रजाकी रक्षा न करता; तो समस्त प्राणी महाघोर अन्धकाररूपी नरकमें पतित होते ॥ ७ ॥

यस्माददान्तान्दमयत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥

दुष्टोंका दमन और उद्दण्ड पुरुषोंको शासित करता है, इस प्रकार दमन और दण्डित करनेसे पण्डितोंने उसका नाम दण्ड रक्खा है ॥ ८ ॥

वाचि दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम् ।
दानदण्डः स्मृतो वैश्यो निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मणजाति कुछ अपराध करे, तो केवल वचनसे उसे दण्डित करना कर्तव्य कर्म है । अपराधी क्षत्रियको केवल भोजन मात्र प्रदान करना चाहिये, उसे अधिक देना उचित नहीं है; वैश्यको धनरूपी दण्ड करे और शूद्र जातिको दूसरा कुछ दण्ड न करके उससे केवल सेवा कर्म करनेकी ही विधि है ॥ ९ ॥

असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च ।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशां पते ॥ १० ॥

हे पृथ्वीपते ! प्रजाके धन प्राणकी रक्षा और उनको प्रमादसे बचनेके लिये जगत्में मर्यादा-रूपी दण्डका नियम स्थापित हुआ है ॥ १० ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूनृतः ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ११ ॥

जहां दण्ड चलानेवाला राजा पूर्ण रीतिसे विचारवान सत्य प्रिय होता है, और श्याममूर्ति तथा लाल नेत्रवाला दण्ड यथार्थ रीतिसे उद्यत रहता है; वहांपर प्रजा कदापि मोहित नहीं होती ॥ ११ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक-संन्यासी सब आश्रमवाले केवल दण्ड भयसे नियमित पथमें स्थित रहते हैं ॥ १२ ॥

नाभीतो यजते राजन्नाभीतो दातुमिच्छति ।
नाभीतः पुरुषः कश्चित्समये स्थातुमिच्छति ॥ १३ ॥

महाराज ! यदि दण्ड भय न रहता तो कोई पुरुष यज्ञानुष्ठान और दान कर्म करनेकी इच्छा नहीं करता है । अधिक क्या कहूं, दण्डका भय न होनेसे कोई पुरुष भी नियममें रहनेकी इच्छा नहीं करता है ॥ १३ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ १४ ॥

जैसे मछुए बिना मछलियोंकी हिंसा किये जीविका निर्वाह नहीं कर सकते, वैसेही राजा भी शत्रुओंके मर्म स्थानोंका उच्छेद और दुष्कर कर्म किये विना कदापि राजश्रीको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १४ ॥

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः ।
इंद्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥ १५ ॥

राजा यदि अपने शत्रुओंका नाश न करे, तो उसका धन, कीर्ति और प्रजा कुछ भी स्थायी नहीं रह सकती । इन्द्रने वृत्रासुरका वध करके महेन्द्र नाम प्राप्त किया ॥ १५ ॥

य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम् ।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥ १६ ॥

देवताओंके बीच जो शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं, उनकी सब कोई भक्तिपूर्वक पूजा अर्चा किया करते हैं । रुद्र, स्वामि कार्तिक, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम ॥ १६ ॥

हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः ।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥ १७ ॥

काल, वायु, मृत्यु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुत्गण, साध्य और विश्वेदेव आदिक देवता– ये सब कोई शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं ॥ १७ ॥

एतान्देवान्नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः ।
न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथंचन ॥ १८ ॥

परन्तु मनुष्य लोग उन देवताओंके प्रतापको जानके विनीत भावसे नत मस्तक होकर उन्हें प्रणाम किया करते हैं; ब्रह्मा, धाता या पूषाकी कोई पूजा–अर्चा या प्रणाम नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

मध्यस्थान्सर्वभूतेषु दान्ताञ्शमपरायणान् ।
यजन्ते मानवाः केचित्प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ॥ १९ ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंको सम दृष्टिसे देखते हैं, इसलिये मध्यस्थ, जितेन्द्रिय और शान्त स्वभाव-वाले हैं; और साधु तथा परिश्रमी मनुष्यही सब कर्मोंमें इनकी पूजा अर्चा किया करते हैं ॥१९॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कंचिदहिंसया ।
सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥ २० ॥

इस संसारके बीच मैं ऐसे किसी भी प्राणीको नहीं देखता, जो विना हिंसा किये ही जीविका निर्वाह कर सके, क्योंकि निर्बल प्राणियोंसे बलवान जीवोंका जीविका निर्वाह होता है; सर्वत्र ऐसाही नियम दीख पडता है ॥ २० ॥

नकुलो मूषकानत्ति बिडालो नकुलं तथा ।
बिडालमत्ति श्वा राजञ्श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥ २१ ॥

राजन् ! नेवला चूहेको, नेवलेको बिल्ली, कुत्ता बिल्लीको और चीता कुत्तेको भक्षण करता है ॥२१॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान्पश्य धर्मो यथागतः ।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत् ॥ २२ ॥

इसके अतिरिक्त इन सबकोही मनुष्य भक्षण करता है । देखिये, धर्म कैसा आगया है ! अधिक क्या कहूं, इस स्थावर और जङ्गममय जगत्के बीच जो कुछ पदार्थ हैं, उन्हें प्राणके भक्ष्य करके विधाताने उत्पन्न किया है ॥ २२ ॥

विधानं देवविहितं तत्र विद्वान्न मुह्यति ।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

यह सब देवोंका विधान है; इसही कारण विद्वान् पुरुष उस विषयमें मोहित नहीं होते । हे राजेन्द्र ! आपने जिस कुलमें जन्म ग्रहण किया है, उस कुलमें आचरित कर्मोंमें तुम्हें प्रवृत्त होना ही उचित है ॥ २३ ॥

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः ।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥ २४ ॥

मूढबुद्धि क्षत्रिय ही क्रोध–हर्षको त्यागके वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करते हैं; परन्तु हिंसाके विना उन तपस्वी लोगोंके शरीरका भी निर्वाह नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च ।
न च कश्चिन्न तान्हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥ २५ ॥

पृथ्वीपर, जलमें और फलोंमें बहुतेरे कीडे होते हैं; इन तपस्वियोंमें कोई भी ऐसा नहीं है जो प्राण धारण करनेके निमित्त फल और जल आदिके सङ्ग उन प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता हैं, यह जीवन निर्वाहके लियेही है ॥ २५ ॥

×

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कन्धपर्ययः ॥ २६ ॥

इस पृथ्वीपर बहुतसे ऐसे छोटे जीव हैं, कि अनुमानसे ही उनका अस्तित्व जाना जाता है; वे जीव इतने सूक्ष्म हैं, कि नेत्रकी पलकके आघातसे भी शीघ्र उनके कंधे दूर जाते हैं ॥२६॥

ग्रामान्निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः ।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥ २७ ॥

कोई कोई मनुष्य क्रोध और मत्सरता त्यागके मुनि धर्म अवलम्बन करके गांवसे निकलकर वनमें गमन करते हैं; परन्तु वहांपर भी वे मोहित होकर गृहस्थाश्रमी होते देखा जाता है ॥ २७ ॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान्पशून् ।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च ॥ २८ ॥

और बहुतेरे पुरुष गृहस्थाश्रममें ही निवास करके भूमि खनन, औषधि छेदन और उद्भिज अण्डज आदि चारों भांतिके प्राणियोंकी हिंसा करके यज्ञकार्योंका अनुष्ठान करके अनायास ही स्वर्गलोकमें गमन करते हैं ॥ २८ ॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः ।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ २९ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! इससे मुझे इसमें संशय नहीं है, कि यथारीति दण्ड नीतिका प्रयोग करनेसे ही समस्त प्राणी मात्रके कार्य सिद्ध हो सकते हैं ॥ २९ ॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके व्यनशिष्यन्निमाः प्रजाः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ ३० ॥

इस जगत्के बीच दण्ड न रहता, तो समस्त प्रजा नष्ट होजाती; अधिक बलवान प्राणी अपनेसे निर्बलको कांटेमें लगी हुई मछलीके समान पका डालते हैं ॥ ३० ॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः ।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्यन्त्यभीताः संतर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति ॥ ३१ ॥

पहिले ब्रह्माने भी यह सत्य वचन वर्णन किया था कि अच्छी भांतिसे विचार पूर्वक दण्ड प्रयोग होनेसे ही प्रजाकी रक्षा होती है । देखिये, शान्त अग्नि भी दण्डके भयसे फफकार देने मात्रसेही फिर प्रज्वलित होजाती है ॥ ३१ ॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन ।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥ ३२ ॥

साधु और दुष्ट पुरुषोंको विभाग करनेवाला दण्ड यदि इस संसारके बीच न रहता, तो सब प्राणी अन्धकार रूपी नरकमें पडे रहते, कुछ भी विदित न हो सकता ॥ ३२ ॥

येऽपि संभिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनोपनिपीडिताः ॥ ३३ ॥

अधिक क्या कहा जावे, जो लोग धर्मनियम उल्लङ्घन करनेवाले, वेदनिन्दक और नास्तिक हैं, वे भी दण्डसे पीडित होकर शीघ्रही नियमके वशीभूत होजाते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायेह प्रकल्पते ॥ ३४ ॥

महाराज ! समस्त जगत् दण्डके भयसे नियमका उलङ्घन नहीं करता, क्योंकि इस जगत्के बीच पापरहित मनुष्य बहुत ही दुर्लभ है, इससे प्रायः मनुष्य दण्ड भयसे भीत होकर नियमित मार्गमें गमन करता है ॥ ३४ ॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थावभिरक्षितुम् ॥ ३५ ॥

चारों वर्णकी प्रजाके सुख, धर्म, अर्थ, रक्षा और उन लोगोंको नीतिमार्ग अवलम्बन करानेके ही लिये विधाताने दण्डको उत्पन्न किया है ॥ ३५ ॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च ।
अद्युः पशून्मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥

यदि पक्षी और हिंसक प्राणियोंको दण्डका भय न रहता, तो वे यज्ञकी हवि, पशु और मनुष्योंको भक्षण करते ॥ ३६ ॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते ।
न कन्योद्वहनं गच्छेद्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥

यदि दण्ड प्रजाकी मर्यादाकी रक्षा न करे, तो ब्रह्मचारीका वेदाध्ययन, दूध देनेवाली कल्याणी गऊका दुहना, और कन्याओंके विवाह आदि सब कार्य कभी न हों ॥ ३७ ॥

विश्वलोपः प्रवर्तेत भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥

यदि लोक–रक्षा करनेवाला दण्ड न रहता, तो समस्त धर्म क्रियाएं और नियम शिथिल होकर नष्ट होजाते, तथा प्रजा किसी वस्तुको भी अपनी न समझ सकती, अर्थात् बलवान निर्बलोंके धनको अनायासही बलपूर्वक हर लेते ॥ ३८ ॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥

यदि दण्ड लोकधर्म रक्षा न करता, तो कोई पुरुष भी निर्भयचित्त होकर विधिपूर्वक दक्षिणा-युक्त साम्वत्सरिक यज्ञोंके अनुष्ठान न कर सकते ॥ ३९ ॥

चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः ।
न विद्यां प्राप्नुयात्कश्चिद्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४० ॥

यदि दण्ड धर्म मर्यादाका पालन न करावे, तो ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ आदि आश्रमवाले कोई पुरुष भी विधिपूर्वक अपने अपने आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान न करते और कोई पुरुष विद्या प्राप्त करनेमें भी समर्थ न होते ॥ ४० ॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥

यदि और कर्तव्यका पालन न करावे दण्डका भय न रहता; तो ऊंट, बलवान बैल, घोडे, खच्चर और गर्दभ आदि पशु सवारियोंमें जुतकर कदापि उसे वहन न करते ॥ ४१ ॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बालो जातु कर्हिचित् ।
तिष्ठेत्पितृमते धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४२ ॥

यदि दण्डका भय न होता तो सेवक स्वामीकी आज्ञाका पालन न करते, बालक कभी अपनेसे बडोंकी आज्ञा न मानते और कन्या अपने पिताके शासनमें न रहती ॥ ४२ ॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं च प्रतिष्ठितः ॥ ४३ ॥

समस्त प्रजा दण्ड परही स्थित है; दण्डसे भय होता है; इसी ही कारणसे पण्डित लोग दण्डको सब धर्मोंका मूल समझते हैं; दण्ड ही मनुष्योंको स्वर्गलोकमें ले जानेका मूल कारण है; अधिक क्या कहूं, यह सम्पूर्ण जगत् केवल दण्डप्रभावसे ही प्रतिष्ठित है ॥ ४३ ॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि दृश्यते ।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥ ४४ ॥

जिस स्थानपर शत्रुओंका नाश करनेवाला दण्डका विधिपूर्वक प्रयोग किया जाता है, उस स्थलमें किसी प्रकारके कपटता, अनिष्ट और ठगहारी नहीं देखी जाती ॥ ४४ ॥

हविः श्वा प्रपिबेद्धृष्टो दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् ।
हरेत्काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४५ ॥

यदि दण्ड उद्यत होकर प्रजाकी रक्षा न करता, तो कौवे पुरोडाश भोजन और कुत्ते यज्ञके घृतको चाटनेमें प्रवृत्त होते ॥ ४५ ॥

यदिदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः ।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुङ्क्ष्व भोगान्यजस्व च ॥ ४६ ॥

धर्म हो, वा अधर्म ही होवे; इस समय यह राज्य हम लोगोंको प्राप्त हुआ है; आप शोक त्यागके उसे भोग करिये और यज्ञ आदिक कर्मोंका अनुष्ठान करिये ॥ ४६ ॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः ।
संवसन्तः प्रियैर्दारैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

श्रीमान पुरुष अपने प्रियपुत्र कलत्रके सङ्ग वास कर शुद्ध वस्त्र पहरते और उत्तम भोजन करते हुए सुखपूर्वक धर्माचरण करते रहते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः ।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥ ४८ ॥

इस संसारके बीच जो कुछ कार्य हैं, वे सब धनके वशमें हैं, और वह धन दण्डके अधिकारमें हैं । इस समय विचार करके देखिये, कि दण्डका कितना बडा गौरव है ॥ ४८ ॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ।
अहिंसा साधुहिंसेति श्रेयान्धर्मपरिग्रहः ॥ ४९ ॥

आप समझ रखिये लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही धर्म स्थित हुआ है । कोई निर्बल पुरुष बलवान पुरुषके पीडित होनेपर उस निर्बल पुरुषके परित्राणके लिये बलवानका नाश करनेसे उस सदात्मक हिंसाके द्वारा अहिंसासे भी बढके धर्मोपार्जन होता है ॥ ४९ ॥

नात्यन्तगुणवान्कश्चिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणः ।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ५० ॥

हे राजन् ! इस संसारके बीच कोई भी वस्तु एक बारगी दोष पूर्ण और दोष रहित सब गुणोंसे युक्त नहीं है, सम्पूर्ण कार्योंमें कुछ दोष और कुछ गुण दोनों ही दीख पडते हैं ॥५०॥

पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति नस्तकान् ।
कृषन्ति बहवो भारान्बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥

कितने ही पुरुष पशुओंका अण्डकोश काटकर फिर उसके नाकोंको विदीर्ण करते हैं, फिर उनसे भार आदिका कार्य करा लेते हैं, उन्हें बांधे रखते हैं और उनका दमन करते हैं ॥५१॥

एवं पर्याकुले लोके विपथे जर्जरीकृते ।
तैस्तैर्न्याय्यैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥

महाराज ! यह सारा जगत् मिथ्या व्यवहारोंसे इसी भांति पर्याकुलित अर्थात् दण्डके प्रभावसे जर्जर हो गया है; इससे आप भी ऐसे ही न्यायी व्यवहारोंसे प्राचीन धर्मका आचरण कीजिये ॥ ५२ ॥

यज देहि प्रजा रक्ष धर्मं समनुपालय ।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ ५३ ॥

हे कुन्तीकुमार ! यज्ञका अनुष्ठान, दान, प्रजापालन, शत्रुओंका नाश और मित्रोंको पालन करते हुए पूर्णरीतिसे धर्मोपार्जन करिये ॥ ५३ ॥

मा च ते निघ्नतः शत्रून्मन्युर्भवतु भारत ।
न तत्र किल्बिषं किंचित्कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! शत्रुओंका नाश करते समय आपके चित्तमें कुछ भी दीनता उपस्थित न होवे; क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेसे वध करनेवालेको पापमें लिप्त नहीं होना पडता ॥ ५४ ॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम् ।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ५५ ॥

अधिक क्या कहें, कोई भी पुरुष हाथमें शस्त्र लेकर मारनेकी इच्छासे उपस्थित होवे, तो शस्त्र ग्रहण करके उसका वध करनेसे भ्रूणहत्याके पापमें भी नहीं लिप्त होना पडता; क्योंकि उस सन्मुख उपस्थित होनेवाले आततायी पुरुषका क्रोध ही मारनेवालेके मनमें क्रोध उत्पन्न करानेका मूल है ॥ ५५ ॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः ।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति केनचित् ॥ ५६ ॥

विशेष करके जो सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा हैं, उनका कोई नाश नहीं कर सकता, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । यदि आत्मा अवध्य है, तो कौन किसका वध करनेवाला हो सकता है ? ॥ ५६ ॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम् ।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥

जैसे मनुष्य बार बार एक घरमेंसे दूसरे घरके भीतर प्रवेश करता है; वैसेही जीव भी बार बार एक शरीर त्यागके दूसरे शरीरोंमें प्रवेश करता है ॥ ५७ ॥

देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते ।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ४७१ ॥

देहधारीके प्राचीन शरीरोंका त्याग और नवीन शरीरोंको धारण करनेका कार्य ही तत्वदर्शी पण्डित लोग मृत्यु कहकर वर्णन करते हैं ॥ ५८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ४७१ ॥

: १६ :

वैशंपायन उवाच—

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— अर्जुनका वचन समाप्त होनेपर महा तेजस्वी क्रोधी भीमसेन धीरज धर बडे भाई राजा युधिष्ठिरसे बोले ॥ १ ॥

राजन्विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं भुवि।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥ २ ॥

महाराज! आप किसी विषयोंमें अज्ञान नहीं हैं, सम्पूर्ण धर्म आपको विदित है; हम लोग सदा आपके चरित्रके अनुसरण करनेकी इच्छा करते हैं। परन्तु किसी प्रकार भी आपको शिक्षा देनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ २ ॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।
अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥

आपको कुछ भी न कहूं, ऐसे ही मनमें इच्छा रहती है; परन्तु दुःखके वेगको न सहनेके कारण इस समय मैं कुछ कहता हूं, आप सुनिये ॥ ३ ॥

भवतस्तु प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम्।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥

आपके मोहयुक्त होनेसे सब निष्फल होरहा है, और हम भी कातर तथा निर्बल हो रहे हैं! ॥ ४ ॥

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः।
मोहमापद्यते दैन्याद्यथा कुपुरुषस्तथा ॥ ५ ॥

आप सब शास्त्रोंके जाननेवाले इस जगत्के राजा होकर भी किस कारण दीन भावसे युक्त सामान्य कायर पुरुषकी भांति मोहित होरहे हैं? ॥ ५ ॥

आगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥

हे राजन्! जगत्की सुगति और अगति आपको विदित हैं; और हे प्रभो! भविष्य तथा वर्त्तमान कालकी गति भी आपसे छिपी नहीं है ॥ ६ ॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥

हे महाराज! जनाधिप! इस स्थितिमें इस राज्यके विषयमें मैं आपसे कुछ कारण दिखाकर वचन कहता हूं, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ ७ ॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा ।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वंद्वं नोपलभ्यते ॥ ८ ॥

इस जीव-लोकमें शारीरिक और मानसिक ये ही दो भांतिकी पीडा मनुष्यको उत्पन्न होती हैं; परन्तु उनमेंसे एकके उत्पन्न होनेसे ही दूसरेकी उत्पत्ति होती है । शारीरिकके विना मानसिक और मानसिकके विना शारीरिक पीडा नहीं उत्पन्न हो सकती ॥ ८ ॥

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः ।
मानसाज्जायते व्याधिः शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥

शरीरके अस्वास्थ्यसे मानसिक पीडा प्रगट होती है, इसमें संशय नहीं है और मानसिक पीडा उत्पन्न होनेसे ही शरीर शिथिल होता है; यह निश्चित ही है ॥ ९ ॥

शारीरमानसे दुःखे योऽतीते अनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ १० ॥

जो पुरुष बीते हुए शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको स्मरण करके शोकित होता है, वह एक सङ्ग दूसरे क्लेशको आकर्षित करके दो अनर्थोंमें फंसता है ॥ १० ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं च तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥

सर्दी–गर्मी और कफ– पित्त, वायु शरीरके येही तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंकी जो साम्यावस्था है, उसे ही स्वस्थ शरीरके लक्षण कहते हैं ॥ ११ ॥

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥

और उनकी घटती बढती होनेके कारण उत्पन्न हुई विकृतियोंके प्रतिकार करनेके लिये उपाय बताये गए हैं; उष्ण वस्तुसे सर्दी और ठण्डी वस्तुओंसे गर्मी निवारित की जाती है ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः ।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १३ ॥

शरीरकी भांति मनके भी सत्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं; हर्षसे शोक और शोकसे हर्ष निवृत्त होता है ॥ १३ ॥

कश्चित्सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ।
कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १४ ॥

कोई सुखमें स्थित होकर दुःखको और कोई दुःखमें पडके सुखको स्मरण करनेकी इच्छा करता है ॥ १४ ॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य च।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥ १५ ॥

परन्तु आप तो कभी सुख और दुःखमें आसक्त नहीं होते, इससे दुःखके समयमें सुख और सुख उपस्थित होनेके समय दुःखको स्मरण करना नहीं चाहते हैं ॥ १५ ॥

स्मर्तुमर्हसि कौरव्य दिष्टं तु बलवत्तरम्।
अथ वा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव कृष्यसे ॥ १६ ॥

देखिये, प्रारब्ध ही बलवान है। अथवा हे राजन्! जिससे आप क्लेशित होरहे हैं, आपका स्वभाव यदि ऐसा ही होवे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

तो पहिले जो सभामें पाण्डुपुत्रोंके देखते ही एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको लाया गया था, उस विषयको आप क्यों नहीं स्मरण करते हैं?॥ १७ ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च निवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

हमने जो नगरसे बाहर निकलकर मृगछाला पहनके महावनमें वास किया उसे क्यों नहीं याद करते? ॥ १८ ॥

जटासुरात्परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम्।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि।
पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् ॥ १९ ॥

और वहांपर जटासुरसे जो कष्ट हुआ तथा चित्रसेन गन्धर्वके सङ्ग युद्ध हुआ, सिन्धु राज जयद्रथने जो अपमानकारक दुःख दिया, अज्ञातवासमें द्रौपदीके ऊपर कीचकके चरणप्रहार आदि बहुतसे उपद्रवोंसे अनेक भांतिके दुःख प्राप्त हुए थे; आप किस कारणसे उन सब दुःखोंको भूले जाते हैं? ॥ १९ ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन ते युद्धमिदं घोरमुपस्थितम् ॥ २० ॥

हे शत्रुदमन राजन्! पहिले जैसे द्रोण भीष्मके सङ्ग आपका युद्ध हुआ था, वैसेही इस समय केवल एक मनके सङ्ग आपके युद्ध करनेका समय उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

इस युद्धमें बाणों—शस्त्रों और बन्धु—बान्धवोंका प्रयोजन नहीं है। इसमें एकमात्र आपको ही बुद्धिकी सहायतासे युद्ध करना होगा, ऐसा युद्ध उपस्थित हुआ है ॥ २१ ॥

×

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान्यदि हि मोक्ष्यसे ।
अन्यं देहं समास्थाय पुन स्तेनैव योत्स्यसे ॥ २२ ॥

यदि आप इस युद्धमें मनको विना पराजित किये ही प्राण परित्याग करेंगे, तो आपको दूसरा शरीर ग्रहण करनेपर भी शत्रुओंके सङ्ग युद्ध करना होगा, अर्थात् दूसरे जन्ममें भी आप युद्ध कार्यको अनिवार्य समझिये ॥ २२ ॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्धस्य भरतर्षभ ।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २३ ॥

हे भरतकुलमें श्रेष्ठ ! अतः आज ही युद्ध कीजिए । महाराज ! मनको जीतनेसे आप कृतार्थ हो सकेंगे ॥ २३ ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ २४ ॥

आप प्राणियोंकी आवागमनकी गतिको इसी भांति विचारकर पितृ-पितामह आदिके व्यवहारोंके अनुसार यथारीति राज्य शासन करनेमें प्रवृत्त होइये ॥ २४ ॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि ।
द्रौपद्याः केशपक्षस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥ २५ ॥

महाराज ! प्रारब्धसे ही पापी दुर्योधन अपने अनुयायी और सेवकोंके सहित युद्धमें मारा गया; द्रौपदीके केशके भाग्यसे ही आप फिर राज्यपद पर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ २५ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ४९७ ॥

हे राजेन्द्र ! पराक्रमी श्रीकृष्ण और हम सब कोई आपकी आज्ञाके वशवर्त्ती हैं । आप इस समय विधिपूर्वक दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कीजिये ॥ २६ ॥

महाभारतके शांतपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ४९७ ॥

: १७ :

युधिष्ठिर उवाच—

असंतोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता ।
बलं मोहोऽभिमानश्च उद्वेगश्चापि सर्वशः ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले— हे भीमसेन ! असन्तोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान और उद्वेग ॥ १ ॥

एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसि ।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥
आदि पापोंमें रत होकर ही तुम राज्यकी अभिलाषा करते हो । इससे विषय वासना त्याग कर सुख–दुःखसे मुक्त और शान्त होकर सुखी हो जाओ ॥ २ ॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः ।
तस्याप्युदरमेवैकं किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥
जो एकछत्र राजा होकर अकेला ही इस समस्त पृथ्वीपर शासन करता है, उसको भी एक ही पेट होता है, तब तुम किस कारणसे इस राज्यकी प्रशंसा कर रहे हो ? ॥ ३ ॥

नाह्ना पूरयितुं शक्या न मासेन नरर्षभ ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥
नरश्रेष्ठ ! यह आशा एक दिन वा कई महीनोंमें पूरी होनेकी बात तो दूर है, जीवनके अन्त समयतक भी यत्न करके कोई इस पूर्ण न होनेवाली इच्छाको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥ ५ ॥
जैसे अग्नि काष्ठ प्राप्त होनेसे ही प्रज्वलित और काष्ठके अभावसे ही शान्त होती है, वैसे ही तुम भी थोडे भोजनसे उद्दीप्त जठराग्निको शान्त करो; इससे तुम पहिले इस उदरको ही वशमें करो। ऐसा करनेसे ही मानो तुम सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लोगे, अनन्तर यथार्थ कल्याण प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे ॥ ५ ॥

मानुषान्कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ६ ॥
तुम मनुष्योंके इच्छानुयायी ऐश्वर्य और भोगोंकी प्रशंसा करते हो, परन्तु भोगवासना त्यागके जो लोग तपस्यासे अपने शरीरको कृशित करते हैं, वे ही श्रेष्ठ लोकोंमें गमन कर सकते हैं ॥ ६ ॥

योगक्षेमौ च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ ।
मुच्यस्व महतो भारात्त्यागमेवाभिसंश्रय ॥ ७ ॥
धर्म और अधर्म, राज्यका लाभ और राज्यकी रक्षा, ये ही तुम्हारे हृदयमें परिपूरित हैं, तुम इस महाभारसे मुक्त होकर त्याग अर्थात् सन्यास धर्मका आश्रय करो ॥ ७ ॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु ।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दवेगंचरा मृगाः ॥ ८ ॥

जैसे व्याघ्र एक ही उदरके लिये बहुतसे प्राणियोंकी हिंसा करता है, और दूसरे बहुतेरे मन्द वेगवाले पशु उसके संग्रह किये हुए भोजनसे अपने शरीरका पोषण करते हैं, वैसे ही राजा लोग भी अपने एक मात्र उदरके ही वास्ते बहुत साधन संचय करते हैं, और धूर्त्त लोग उसके ही अवलम्बनसे अपनी अपनी जीविका निर्वाह करते हैं ॥ ८ ॥

विषयान्प्रतिसंहृत्य संन्यासं कुरुते यतिः ।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ ९ ॥

मुनि विषयोंका त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है और संतुष्ट होता है; परंतु विषयभोगोंसे सम्पन्न राजा लोग कदापि सन्तोष प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते; तुम विषयदूषित बुद्धि त्यागके स्वयं ही इस विषयमें कितना अन्तर है यह विचार करके देखो ॥ ९ ॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥ १० ॥

जो लोग पत्ते खानेवाले हैं और जो पत्थर, दांत तथा ओखलीसे अन्नकी भूसी पृथक् करके जीविका निर्वाह करते हैं, और जो लोग जल तथा वायुसे शरीरकी रक्षा करते हैं, उन सम्पूर्ण तपस्वी लोगोंने ही यथार्थ रूपसे नरकपर विजय पायी है ॥ १० ॥

यश्चेमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः ।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥ ११ ॥

इस पृथ्वीपर सुवर्ण और पत्थरके टुकडोंमें जिसकी समबुद्धि है, वैसे निर्लोभी पुरुष और सम्पूर्ण पृथ्वीको शासन करनेवाले राजा, इन दोनोंमेंसे विषयानुरागसे रहित पुरुषको ही मुक्त–कृतार्थ समझना चाहिये; राजाको नहीं ॥ ११ ॥

सङ्कल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव ।
विशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १२ ॥

इससे जो इस लोक और परलोकमें अव्यय तथा अशोककी निवास भूमि स्वरूप हैं; तुम उनका ही आसरा करके सम्पूर्ण कार्योंके सङ्कल्प, आशा और ममतासे रहित होजाओ ॥१२॥

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम् ।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात्प्रमोक्ष्यसे ॥ १३ ॥

जो सब विषयोंके त्याग करनेवाले हैं, वे किसी वस्तुके लिये कभी भी शोक नहीं करते हैं ! तुम किस कारण विषयभोगोंकी चिन्ता करते हो ? समस्त विषय वासनाको परित्याग करो; ऐसा होनेसे मिथ्यापवाद अर्थात् बाहरी विषयभोग और भितरी जो विषय त्यागरूपी सन्यासका अभिमान है, उससे मुक्त हो सकोगे ॥ १३ ॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥ १४ ॥

इस जगत्में जीवोंको परलोक गमन करनेके विषयमें "देवयान और पितृयान" नामके दो मार्ग हैं; इसमें सकाम यज्ञ करनेवाले पितृयान और मोक्षार्थी लोग देवयान मार्गसे गमन करते हैं ॥ १४ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन च पाविताः ।
विमुच्य देहान्वै भान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १५ ॥

तपस्या, स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य आदिसे पवित्र हुए लोग शीघ्र ही शरीर त्यागकर मृत्युके अधिकारसे पार होकर प्रकाशित होते हैं ॥ १५ ॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पाशाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥ १६ ॥

इस संसारमें भोग्य विषय ही बन्धन स्वरूप हैं, और ये भोग्य–विषय ही कर्मके रूपमें वर्णित हुए हैं; जो इस पापात्मक भोग्य विषय रूप कर्मसे मुक्त हो सकता है, वही उस परमपदको प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

अपि गाथामिमां गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १७ ॥

पहिले शोक–मोह आदि द्वंद्वोंसे रहित तत्वदर्शी जीवनमुक्त जनकने– जिन्होंने मोक्षका साक्षात्कार किया था– जैसा कहा था, और आज पर्यन्त भी जो गाथा, लोकसमाजमें वर्णन की जाती है, मैं उसे कहता हूं, सुनो । उन्होंने कहा था– ॥ १७ ॥

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ १८ ॥

मैं अनन्त ऐश्वर्यका स्वामी हूं, तो भी उसमेंसे मेरा कुछ नहीं है; इस मिथिला नगरीके भस्म होनेपर भी मेरा कुछ भी नहीं जलेगा ॥ १८ ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य नशोच्याञ्शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥ १९ ॥

जैसे पर्वतपर चढनेवाला मनुष्य नीचे रहनेवालोंको भली भांति देखनेमें समर्थ होता है, वैसे ही जो मनुष्य ज्ञानरूपी प्रासाद पर चढा है, वह मूढ लोगोंको अविषयीभूत विषयोंके लिये महा शोक करते हुए देखता है; परन्तु स्वयं दुःखी नहीं होता ॥ १९ ॥

हृदयं पश्यति यः पश्यन्स चक्षुष्मान्स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात्संबोधाद्बुद्धिरुच्यते ॥ २० ॥

बोध रूपी नेत्रसे जो अज्ञात विषयोंको जानता और देखकर ही उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय कर सकता है; उसे ही बुद्धिमान् और नेत्रवान् कहा जाता है; जिससे अज्ञात विषयोंका ज्ञान, बोध अर्थात् निश्चय होता है, उसेही बुद्धि कहते हैं ॥ २० ॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात्स वै ।
ब्रह्मभावप्रसूतानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २१ ॥

जो स्थिर चित्तवाले ब्रह्मज्ञानसे युक्त विद्वान पुरुषोंके वचनको हृदयमें धारण कर सकता है, वह सर्वत्र अधिक सम्मान लाभके अधिकारको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है और उसे बडा अभिमान होता है ॥ २१ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २२ ॥

जिस समय पृथक् रूपसे बोध होनेवाले आकाश आदि भूत एक आत्मामें ही स्थित हुए दीख पडते हैं; तब ही समझना चाहिये, कि सम्पूर्ण रूपसे ब्रह्मसे साक्षात्कार हुआ है ॥२२॥

ते जनानां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ५२० ॥

तत्वज्ञ पुरुष ही वैसी परम गतिको प्राप्त कर सकते हैं; अल्पज्ञ, तपस्या और ज्ञान हीन पुरुष कदापि परमगति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि ज्ञानको ही सबका मूल जानना चाहिये ॥ २३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ५२० ॥

: १८ :

वैशम्पायन उवाच—

तूष्णींभूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
संतप्तः शोकदुःखाभ्यां राज्ञो वाक्शल्यपीडितः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन बोले— धर्मराज युधिष्ठिर ऐसा ही वचन कहके चुप हुए । अर्जुन उनके वचन रूपी शलाकासे पीडित और शोक दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर फिर बोले ॥ १ ॥

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ २ ॥

महाराज ! विदेहराज जनकका अपनी भार्याके सङ्ग जो कुछ वादानुवाद हुआ था, आजतक लोग उस प्राचीन इतिहास–विषयको वर्णन किया करते हैं ॥ २ ॥

उत्सृज्य राज्यं भैक्षार्थं कृतबुद्धिं जनेश्वरम् ।
विदेहराजं महिषी दुःखिता प्रत्यभाषत ॥ ३ ॥

मैं उस सम्वादको अर्थात् राजा जनकने जब राज्य छोडकर सन्यास ग्रहण करनेमें संकल्प किया, तब उनकी राज पत्नीने दुःखी होकर उनसे जो कुछ वचन कहे थे, उसे वर्णन करता हूं, सुनिये ॥ ३ ॥

धनान्यपत्यं मित्राणि रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौण्ड्यमास्थितः ॥ ४ ॥

विदेहराज जनक धन, संतान, मित्र, अनेक भांतिके रत्न, स्वर्गपथस्वरूप सनातन मार्ग और यज्ञकर्म्मोंके अनुष्ठानको त्यागके अकिंचन होगये ॥ ४ ॥

तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिंचनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागम्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद्वचः ॥ ६ ॥

सर्वत्र निर्भय, निर्मत्सर, निरीह और निराकांक्षी होके एक मुट्ठी जौसे ही जीविका निर्वाहके निमित्त शिर मुडाकर सन्यास धर्म ग्रहण करते देखकर, उनकी मनस्विनी प्यारी भार्या क्रुद्ध होकर एकान्त स्थानमें उनके समीप गमन करके इस प्रकार हेतुयुक्त वचन कहने लगी ॥५–६॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमाचितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्वनेऽचरः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! आप धनधान्यसे युक्त निज राज्य परित्याग करके किस कारणसे कापालिक वृत्ति–भीख मांगना–अवलम्बन करते हैं ? जौकी मुट्ठीसे जीविका निर्वाह करना आपके लिये कदापि यह उत्तम नहीं है ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन्विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद्राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥ ८ ॥

हे पार्थिव ! आपकी प्रतिज्ञा तो दूसरीही थी और आपका वर्ताव इसके विपरीत हो रहा है । हे राजन् ! आप इस बृहत् राज्यको परित्याग करके थोडीसी वस्तुमें आनंद मानने लगे हैं ॥ ८ ॥

नैतेनातिथयो राजन्देवर्षिपितरस्तथा ।
शक्यमद्य त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥ ९ ॥

और राजन् ! देखिये, एक मुट्ठी मात्र भृष्ट यवसे आप कदापि देवता, ऋषि, पितर और अतिथियोंको तृप्त करनेमें समर्थ न हो सकेंगे; इससे आपका यह सम्पूर्ण परिश्रम निष्फल होगा ॥९॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव ।
सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजासि निष्क्रियः ॥ १० ॥

हे महाराज ! देवता, अतिथी, पितर और सबसे परित्यक्त तथा क्रियारहित होकर इस सन्यास धर्मको ग्रहण करते हैं ! यह कैसा आश्चर्य है ? ॥ १० ॥

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः ।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्यान्यैर्भृतिमिच्छसि ॥ ११ ॥

पहिले आप तीनों वेदोंके जाननेवाले विद्वान् सहस्रों ब्राह्मणों और जगत्के सब लोगोंके पालन करनेवाले होकर आज उन ही लोगोंके आसरेसे अपना उदर भरनेकी इच्छा करते हैं ॥११॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रति वीक्ष्यसे ।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥

आप प्रदीप्त राजश्री परित्याग करके इस समय कुत्तेकी भांति पराये अन्नकी आशा करके इधर उधर देख रहे हैं । कैसा आश्चर्य है ? आपके इस प्रकार नष्ट होनेसे आपकी माता पुत्रहीन और आपकी भार्या कोशल राजपुत्री आज विधवाकी भांति बोध हो रही हैं ॥ १२ ॥

अशीतिर्धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते ।
त्वदाशामभिकाङ्क्षन्त्यः कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १३ ॥

और ये धर्मकी इच्छावाले अस्सी क्षत्रिय लोग जो सदा आपकी उपासना करते रहे हैं, आपसे बहुत आशाएं करते हैं, इन अनाथोंको फलकी अपेक्षा है ॥ १३ ॥

तांश्च त्वं विफलाः कुर्वन्कालँल्लोकान्नु गमिष्यसि ।
राजन्संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥

जब कि मोक्ष पद अत्यन्त ही संशयसे युक्त है, और देहधारी पुरुष सब भांतिसे कर्म करनेमें परतन्त्र हैं, तब आप इन अनुयायी पुरुषोंकी आशा निष्फल करके कौनसे लोकमें गमन करनेमें समर्थ हो सकेंगे ? ॥ १४ ॥

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः ।
धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥ १५ ॥

जब आप धर्मपत्नीका परित्याग करके जीवन धारणकी इच्छा करते हैं, तब आप भी अत्यन्त ही पापी हैं, उसमें सन्देह नहीं है । आपका न इस लोक न परलोकमें कहीं भी मङ्गल न हो सकेगा ॥ १५ ॥

स्रजो गन्धानलंकारान्वासांसि विविधानि च ।
किमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १६ ॥

आप किस कारणसे दिव्यसुगन्धयुक्त वस्तु, मालाएं, अनेक भांतिके वस्त्र और अलङ्कारोंको त्यागके क्रियारहित होकर परिव्राजक धर्म ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १६ ॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत् ।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यान्पर्युपाससे ॥ १७ ॥

आप सम्पूर्ण प्राणियोंको पवित्र तथा विशाल प्याऊ और फलोंसे परिपूर्ण वृक्षकी भांति आश्रय-स्वरूप होकर, आज आप दूसरेकी उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए हैं; क्या ही आश्चर्य है ! ॥ १७ ॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासे क्रव्यादा बहवोऽप्युत ।
बहवः कृमयश्चैव किंपुनस्त्वामनर्थकम् ॥ १८ ॥

महाराज ! निश्चेष्ट–भावसे एक जगह स्थित होनेसे हाथीको भी कीडे और मांसभक्षी जन्तु भक्षण करनेमें समर्थ हो सकते हैं, तो पुरुषार्थ रहित आप जैसे की बात ही क्या है ! ॥ १८ ॥

य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात्त्रिविष्टब्धं च ते हरेत् ।
वासश्चापहरेत्तस्मिन्कथं ते मानसं भवेत् ॥ १९ ॥

यदि आपका यह कमण्डलु कोई फोड दे, त्रिदण्ड ले जाय और वस्त्र भी चुरा कर ले जाय, तो उस समय आपके मनकी क्या स्थिति होगी ! ॥ १९ ॥

यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टिपरिग्रहः ।
यदानेन समं सर्वं किमिदं मम दीयते ।
धानामुष्टिरिहार्थश्चेत्प्रतिज्ञा ते विनश्यति ॥ २० ॥

जिसमें प्रविष्ट होनेसे सब त्यागके केवल भृष्ट–यवयी एक मुट्ठीमें ही आसक्त होना पडता है, उसमें आपकी किस कारणसे प्रवृत्ति हुई है ! यदि कहिये कि एक मुट्ठी अन्न और राज्य आदिमें मेरी सम दृष्टि है, तब आप किस कारणसे राज्य आदि त्याग करके केवल एक मुट्ठी भृष्ट यवमें आसक्त हो रहे हैं ! और यदि आपको ऐसा ही प्रयोजन है, तो "सर्वत्यागी हुआ हूं" कहके आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह व्यर्थ ही रही है ॥ २० ॥

×

का वाहं तव को मे त्वं कोऽद्य ते मय्यनुग्रहः।
प्रशाधि पृथिवीं राजन्यत्र तेऽनुग्रहो भवेत्।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ॥ २१ ॥

यदि आप केवल एक मात्र चिदानन्दमें अपने मनको स्थिर समझते हैं; तो ऐसा होनेसे "मैं तुम्हारा कौन हूं ? और तुम्ही मेरे कौन हो" अर्थात् शुद्ध चिदाभाससे परस्परका सम्बन्ध किस प्रकार रह सकता है ? इससे कोई वस्तु तथा व्यक्ति विशेषमें आसक्त वा विरक्त होना आपको किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यदि अनुग्रह करना ही आपका कर्त्तव्य कर्म होवे, तो आप कृपा करक इस पृथ्वीकोही शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणोंको उपभोगमें लाइये ॥ २१ ॥

श्रिया निराशैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः।
सौखिकैः संभृतानर्थान्यः संत्यजसि किं नु तत् ॥ २२ ॥

श्रीसे निराश, अत्यन्त दरिद्र, समस्त मित्र–बन्धु–बान्धवोंसे परित्यक्त सुखार्थी पर निर्द्धन, लोगोंकी भांति जो उत्तम सम्पन्न राजलक्ष्मीका परित्याग करता है, उससे उसे क्या लाभ ? उसका वह त्याग केवल विडम्बना मात्र है॥ २२॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद्यश्च दद्यात्सदैव हि।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते ॥ २३ ॥

जो अव्याहत दान ग्रहण करता और जो सदा दान देता है, उन दोनोंके बीच कौन श्रेष्ठ है ? उन दोनोंका आपसमें कितनी दूरका अन्तर है; उसे विचार करके देखिये तो सही, ऐसा होनेसे अवश्य जान सकेंगे ॥ २३ ॥

सदैव याचमानेषु सत्सु दम्भविवर्जिषु।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २४ ॥

परन्तु दम्भी और सदा मांगनेवालेको धन दान करनेसे जलती हुई दावाग्निमें आहुति डालनेकी भांति वह दान निष्फल होता है ॥ २४ ॥

जातवेदा यथा राजन्नादग्ध्वैवोपशाम्यति।
सदैव याचमानो वै तथा शाम्यति न द्विजः ॥ २५ ॥

राजन् ! जैसे अग्नि विना किसी वस्तुको जलाये शान्त नहीं होती, वैसे ही भीख मांगनेवाला ब्राह्मण विना कुछ प्राप्त हुए निवृत्त नहीं होता ॥ २५ ॥

सतां च वेदा अन्नं च लोकेऽस्मिन्प्रकृतिर्ध्रुवा।
न चेद्दाता भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

इस जगत्‌में दाताका अन्न ही साधु-संन्यासियोंका जीवनस्वरूप निश्चित है, क्योंकि उन लोगोंका स्वयं बनाके भोजन करनेकी विधि नहीं है। इससे यदि राजा दाता न होवे, तो कैसे मोक्षार्थी पुरुषोंका जीवन धारण हो सकेगा ? ॥ २६ ॥

अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ २७॥

इस पृथ्वीपर जिसके घरमें अन्न है, वेही गृहस्थ कहे जाते हैं; भिक्षुक लोग उन्हीं सम्पूर्ण गृहस्थोंके आसरे शरीरयात्रा निर्वाह करते हैं; समस्त प्राणी अन्नसे ही जीवन धारण करनेमें समर्थ होते हैं, इससे अन्नदाता प्राणदाता कहलाता है ॥ २७॥

गृहस्थेभ्योऽभिनिर्वृत्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता निन्दन्त आसते ॥ २८॥

गृहस्थाश्रमसे निकलकर जितेन्द्रिय संन्यासी लोग गृहस्थ पुरुषोंके अवलम्बसे ही शरीरयात्राका निर्वाह करते हुए, प्रतिष्ठा और योग प्रभावको प्राप्त कर सकते हैं ॥ २८॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौण्ड्यान्न च याचनात्।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति तं सुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥ २९॥

समस्त वस्तुओंके परित्याग करने, सिर मुडाने और भीख मांगनेसे कोई भिक्षु संन्यासी नहीं हो सकता। जो सरलभावसे सम्पूर्ण विषय युक्त सुखोंको परित्याग करनेमें हो सकता है, उसही संन्यासी कहना चाहिये ॥ २९॥

असक्तः सक्तवद्गच्छन्निःसङ्गो मुक्तबन्धनः।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥ ३०॥

हे पृथ्वीपते! जो भीतरसे समस्त वस्तुओंमें आसक्तिरहित होकर बाहरसे आसक्तिकी भांति व्यवहार करता तथा मित्र और शत्रुको समान जानता है, वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो सकता है, और वैसे सङ्गरहित पुरुषको ही मुक्त कहा जा सकता है ॥ ३०॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम् ॥ ३१॥

मूर्ख लोग बहुतसे आशापाशोंमें बंधकर शिष्य और मठ आदि विषय प्राप्त होनेकी अभिलाषासे घरसे निकलकर दान लेनेके लिये काषाय वस्त्र धारण और सिर मुडाकर संन्यासधर्म ग्रहण करत हैं ॥ ३१॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रांस्त्यजन्ति ये।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥ ३२॥

परन्तु जो लोग त्रिविद्या, वार्त्ता शास्त्र और पुत्रकलत्रको त्यागकर त्रिदण्ड भस्म तथा काषाय आदि वस्त्रोंको धारण करते हैं; वे अत्यन्त ही मूर्ख हैं ॥ ३२॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तत्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥ ३३ ॥

संन्यासधर्म पवित्र होनेपर भी यदि हृदयका द्वंद्व दूर न हुआ तो गेरुये वस्त्रोंको धारण करना, केवल जीविका निर्वाहके ही लिये जानना चाहिये; मेरे विचारमें जीविका निर्वाह मात्र ही उन धर्मका ढोंग करनेवाले सिर मुडनेवाले लोगोंका पुरुपार्थ है ॥ ३३ ॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान्मुण्डाञ्जटाधरान्।
बिभ्रत्साधून्महाराज जय लोकाञ्जितेन्द्रियः ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! इससे आप इन्द्रियोंको अपने वशमें करके गेरुए वस्त्र, मृगछाला और कोपीन धारण करनेवाले, तथा नङ्गे सिर मुडे और जटाधारी आदि साधु संन्यासियोंका प्रतिपालन करते हुए लोकोंपर जय करनेमें प्रवृत्त होइये ॥ ३४ ॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थान्क्रतून्सपशुदक्षिणान्।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मतरस्ततः ॥ ३५ ॥

जो पहले गुरुके लिये प्रतिदिन अग्निहोत्रके लिये समिधा लाकर फिर पशु और दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान तथा दान करता है, उससे बढकर अधिक धर्मात्मा कौन है ? ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते।
सोऽप्यासीन्मोहसंपन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥ ३६ ॥

हे धर्मराज ! देखिये, विदेहराज जनक इस पृथ्वीपर तत्वज्ञके रूपसे विख्यात हुए थे, परन्तु वह भी कर्त्तव्य कर्मके निर्णयमें मोहको प्राप्त हुए थे; इससे आप मोह परित्याग कीजिये ॥ ३६ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्तं सदा दानपरैर्नरैः।
आनृशंस्यगुणोपेतैः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ३७ ॥

यदि हम इसी प्रकार धर्मका अनुसरण करेंगे, दानसे युक्त होकर दया आदि गुणोंसे समृद्ध रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोपोंको त्याग देंगे ॥ ३७ ॥

पालयन्तः प्रजाश्चैव दानमुत्तममास्थिताः।
इष्टाल्ँलोकानवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ५५८ ॥

उत्तम दान धर्ममें स्थित होकर प्रजाओंका पालन करेंगे, तो हम ब्रह्मनिष्ठ और सत्यवादी होनेसे अवश्य ही अभिलापित लोकोंमें गमन कर सकेंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥३८॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ५५८ ॥

: १९ :

युधिष्ठिर उवाच—

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च।
अभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे तात अर्जुन ! लौकिक धर्मशास्त्र और ब्रह्म प्रतिपादक ज्ञानशास्त्र— अपर तथा पर— दोनों ही मुझे विदित हैं। वेदमें कर्मका अनुष्ठान और कर्म त्याग दोनों विषयोंकी विधि है ॥ १ ॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चित्रितानि च।
निश्चयश्चैव यन्मात्रो वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥

इससे सब शास्त्र अत्यन्त ही जटिल और चित्रित हैं, परन्तु युक्तिसे आलोचित होनेसे उसका जो कुछ सार निश्चित हुआ है, मैं उसे विधिपूर्वक जानता हूं ॥ २ ॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतमनुष्ठितः।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥

तुम केवल वीर व्रताचारी और अस्त्र शस्त्रोंकी विद्यामें निपुण हो; शास्त्रोंके अर्थको यथार्थ रूपसे जाननेमें तुम्हारा कुछ भी सामर्थ्य नहीं है ॥ ३ ॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

जो धर्मकी विशेष आलोचना करनेवाले हैं और शास्त्रार्थमें सूक्ष्मदर्शी तथा तत्वनिश्चयमें निपुण हैं, वे कदापि मेरे विषयमें ऐसे वचनोंको प्रयोग नहीं कर सकते; यदि तुम धर्मको यथारीतिसे देखते तो सब सत्य अनुभव कर सकोगे ॥ ४ ॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! अर्जुन ! परन्तु भ्रातृ भावसे युक्त होके तुमने मुझे जो कुछ वचन कहे हैं, वे न्याय-पूर्ण और उचित हैं; उनसे मैं भी तुम्हारे ऊपर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूं ॥ ५ ॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च।
न त्वया सदृशः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥

सब युद्धधर्म तथा कार्योंकी निपुणतामें तीनों लोकके बीच कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं हैं ॥ ६ ॥

धर्मसूक्ष्मं तु यद्वाक्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया।
धनंजय न मे बुद्धिमभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ७ ॥

हे धनंजय ! धर्म अत्यंत सूक्ष्म और दुर्बोध है, उसमें तुम्हारा प्रवेश होना अत्यंत कठिन है; परन्तु मोक्ष—धर्म विषयमें मेरी बुद्धिपर शङ्का करना तुम्हें योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ ८ ॥

तुमने कभी ज्ञान–वृद्ध पुरुषोंकी सेवा नहीं की है; तुमने केवल युद्ध विद्याका ही अभ्यास किया है; जिन्होंने संक्षेप और विस्तार रूपसे तत्त्व निर्णय किये हैं, उनके निश्चित किये हुए मीमांसाको भी तुम नहीं जानते हो ॥ ८ ॥

तपस्त्यागो विधिरिति निश्चयस्तात धीमताम् ।
परं परं ज्याय एषां सैषा नैःश्रेयसी गतिः ॥ ९ ॥

हे तात ! तत्वज्ञ बुद्धिमान् पण्डितोंने ऐसा ही निर्णय किया है, कि तपस्या, संन्यास और ब्रह्मज्ञान ये तीनों ही एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं। अर्थात् तपस्यासे सन्यास और सन्याससे ब्रह्मज्ञान श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

न त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत्प्रधानतः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! तुम जो " धनसे बढके और कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है, " ऐसा समझते हो, वह तुम्हारी भ्रान्ति मात्र है । जो हो; इस समय जिसमें धन फिर तुमको सबसे श्रेष्ठ न बोध होवे; मैं तुम्हारी वैसी भ्रान्तिको दूर कर दूंगा ॥ १० ॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः ।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥

तप और स्वाध्यायमें रत लोग इस लोकमें धर्मात्मा रूपसे दीख पडते हैं, और ऋषि तो तपस्वी होते ही हैं; वे लोग उस तपके प्रभावसे सनातन लोकमें गमन करते हैं ॥ ११ ॥

अजातश्मश्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः ।
अनन्ता अधना एव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ १२ ॥

और भी धीर स्वभावसे युक्त तथा जिनकी दाढी मूंछे भी पैदा नहीं हुई हैं, ऐसे कितने ही वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करनेवाले बहुतसे अधन पुरुष तपस्या और स्वाध्यायके प्रभावसे स्वर्ग लोकमें गये हैं ॥ १२ ॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात् ।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥

आर्य साधुपुरुष विषय–वासनासे विरक्त होकर अज्ञानरूपी अन्धकारको त्यागके उत्तर पथ अर्थात् प्रकाशमय मार्गसे संन्यासी पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं ॥ १३ ॥

दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रपश्यसि ।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥

जो लोग बार बार जन्म मरणरूपी क्लेशोंको भोगते रहते हैं, वे सकाम कर्ममें रत रहनेवाले पुरुष दक्षिण अर्थात् अन्धकारमय मार्गसे चन्द्रलोक कहके विख्यात पितृ-लोकमें गमन करते हैं ॥१४॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्मात्त्यागः प्रधानेष्टः स तु दुःखः प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥

मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले पुरुष जिस गतिको प्राप्त करते हैं, उसका निर्देश करना असाध्य है । इससे उसे प्राप्त करनेके वास्ते त्याग ही एक मात्र मुख्य उपाय है; परन्तु अधिकार न रहनेके कारण उसे बोध करना तुम्हारे विषयमें सहज कार्य नहीं है ॥ १५ ॥

अनुसृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीह स्यादपीह स्यात्सारासारदिदृक्षया ॥ १६ ॥

बहुतेरे पण्डितोंने सार असार विषयोंके निर्णय करनेके वास्ते इकट्ठे होकर समस्त शास्त्रोंमें रत होके ' इसमें सार विषय है ? वा इसमें असार है ? " इसी भांति तर्क करते हुए विचार करना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्कन्धं सारं ददृशिरे न ते ॥ १७ ॥

परन्तु जैसे केलेके वृक्षको काटनेसे उसमें कुछ भी सार वस्तु नहीं दीख पडती, वैसे ही वे लोग वेद और अरण्यक प्रभृति अनेक शास्त्रोंको मथके भी किञ्चित मात्र सार विषय देखनेमें समर्थ नहीं हो सके ॥ १७ ॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमायुक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥

एकान्त भावका त्याग करके इस पाञ्चभौतिक शरीरमें रहनेवाले द्वैतभाव वर्जित सच्चिदानन्द-स्वरूप उस आत्माको मूढ पुरुष इच्छा द्वेषसे युक्त समझते हैं ॥ १८ ॥

अग्राह्यश्चक्षुषा सोऽपि अनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥ १९ ॥

आत्माका स्वरूप तो अत्यन्त सूक्ष्म है, जो नेत्रसे अगोचर, वचनसे अनिर्देश्य, अति सूक्ष्म और सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, वह कर्मको आगे करके सभी प्राणियोंमें रहता है ॥ १९ ॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसंततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥

जो लोग अविद्यापूरित सम्पूर्ण कर्मजाल त्यागके धन-जन आदि विषयतृष्णासे निवृत्त होते हैं, वेही अपने मनको उस कल्याणके मार्गमें- अविनाशी परमात्मामें लगाकर सुखी हो सकते हैं ॥२०॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार साधुओंसे सेवित सूक्ष्म बुद्धिसे ज्ञान प्राप्त होनेवाले उत्तम मोक्षपथके विद्यमान रहते हुए तुम क्यों अनर्थोंसे युक्त अर्थकी प्रशंसा करते हो ? ॥ २१ ॥

पूर्वशास्त्रविदो ह्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे भारत ! ज्ञानियोंकी बात तो दूर है; दान और यज्ञ आदि कर्मोंमें रत, कर्मकाण्डके जाननेवाले पण्डित लोग भी अर्थकी प्रशंसा नहीं करते ॥ २२ ॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।
दृढपूर्वश्रुता मूढा नैतदस्तीति वादिनः ॥ २३ ॥

परन्तु कितने ही मूढ पुरुष हेतु अर्थात् तर्क आदि शास्त्रोंके पण्डित होके भी पूर्वजन्मके दृढ संस्कारोंके वशमें होकर " आत्मा नहीं है " कहके साधु पुरुषोंसे विवाद करते हैं ॥ २३ ॥

अमृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥

इससे मोक्ष विषयक सार सिद्धान्तको उन्हें हृदयङ्गम करना असाध्य कर्म जानना चाहिये । दुष्ट मनुष्य बहुतसे शास्त्रोंको पढके भी वाचालताके कारण जनसमाजमें मोक्षधर्मकी निन्दा करते हुए पृथ्वीपर भ्रमण करते हैं ॥ २४ ॥

यान्वयं नाभिजानीमः कस्ताञ्ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञान्सतश्चापि महतः शास्त्रवित्तमान् ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! जिसका अर्थ मेरे समान पुरुष नहीं जान सकते; उसे दूसरे साधारण लोग किस भांति समझेंगे ? परन्तु ये मूर्ख लोग जैसे शास्त्रोंके सूक्ष्म तत्वको जाननेमें समर्थ नहीं होते, वैसे ही शास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले महात्मा बुद्धिमान साधुओंको भी नहीं जान सकते ॥२५॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय धर्मवित् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ५८४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जो हो, तुम यह निश्चय जान रखो, कि तत्त्ववित् पण्डित लोग तपस्या और महाज्ञानसे महत्व, और संन्याससे नित्य सुख प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ५८४ ॥

२०

वैशंपायन उवाच

तस्मिन्वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके वचन समाप्त होनेपर बोलनेवालोंमें मुख्य महातपस्वी देवस्थान ऋषि धर्मराजसे इस प्रकार युक्तियुक्त वचन बोले ॥ १ ॥

यदृचः फल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ॥ २ ॥

हे राजन् ! धर्मराज ! अर्जुनने जो " धनसे बढके कुछ भी उत्तम वस्तु नहीं है, " ऐसा वचन कहा है, मैं उसकी विवृति करके कुछ कहता हूं, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥२॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा न वृथा राजंस्त्वं परित्यक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे शत्रुरहित युधिष्ठिर ! आपने धर्मपूर्वक समस्त पृथ्वीको जय किया है; इससे इस समय जीते हुए इस राज्यको व्यर्थ ही त्यागना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी कर्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ४ ॥

हे महाबाहु राजन् ! वेदमें चार आश्रम वर्णित हुए हैं; क्रमसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास– ये चारों आश्रम धर्मकर्म करनेकी चार सीढियां हैं; इन आश्रमोंमेंसे एकको त्यागके दूसरे आश्रमको यथावत् पार करो ॥ ४ ॥

तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ॥ ५ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! इससे आप अनेक दक्षिणासे युक्त महान् यज्ञ कर्मोंका अनुष्ठान कीजिये । ऋषियोंके बीच भी कोई स्वाध्यायरूपी यज्ञ और कोई ज्ञानरूपी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥५॥

कर्मनिष्ठांस्तु बुध्येथास्तपोनिष्ठांश्च भारत ।
वैखानसानां राजेन्द्र वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥

हे भारत ! राजेन्द्र ! इससे ऋषियोंको भी आप कर्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ ही समझिये; तब वैखानस ऋषि लोग कहते हैं ॥ ६ ॥

ईहते धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान्दोषः प्रवर्धेत यस्तं धनमपाश्रयेत् ॥ ७ ॥

" धनसे साध्य यज्ञ कर्मके वास्ते धनके निमित्त कोशिश करनेकी अपेक्षा यज्ञका न करना ही उत्तम है, " क्योंकि वह धन ग्रहण करनेसे भूयिष्ट दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

×

कृच्छ्राच्च द्रव्यसंहारं कुर्वन्ति धनकारणात्।
धनेन तृषितोऽबुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ ८ ॥

क्योंकि विधि रहनेसे ही अर्थ आदि वस्तुएं अत्यंत कष्टसे सञ्चय करनी पडती हैं। बुद्धिभ्रष्ट होनेसे ही लोग ऐसे आत्म–प्रिय अर्थको उपयुक्त कार्योंमें खर्च न कर अयोग्य कर्मोंमें व्यय करके अपनेको आत्महत्यारूपी पापसे दूषित करते हैं ॥ ८ ॥

अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते।
अनर्हार्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ९ ॥

मनुष्य अयोग्य पुरुषको धन देता है और योग्य पुरुषको नहीं देता; योग्य और अयोग्य पात्रकी परीक्षा न होनेसे दान धर्म भी दुष्कर ही है ॥ ९ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यष्टादिष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ १० ॥

विधाताने यज्ञ करने ही के वास्ते धनको उत्पन्न किया, और पुरुषको भी उस धनकी रक्षा तथा यज्ञ आदिक कर्मोंके अनुष्ठानके वास्ते ही उत्पन्न किया है; इससे सम्पूर्ण धन यज्ञ आदिक शुभ कर्मोंमें समर्पण करनेसे ही समस्त कामना सिद्ध हो सकती हैं; इसमें सन्देह नहीं है ॥१०॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधैरन्नवद्भिर्देवान्सर्वानभ्ययान्महौजाः।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी भगवान् इन्द्र अन्नोंसे युक्त अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे सम्पूर्ण देवताओंको अतिक्रम कर इन्द्रत्व प्राप्त करके स्वर्गलोकके राज्यपदपर प्रतिष्ठित होकर प्रकाशित हो रहे हैं, इससे सम्पूर्ण धन यज्ञमें समर्पण करना ही उचित है ॥ ११ ॥

महादेवः सर्वमेधे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो विभूतः।
विश्वाँल्लोकान्व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विरोचते द्युतिमान्कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥

महातेजस्वी कृत्तिवासा महात्मा महादेव सर्वमेध यज्ञमें अपने शरीरको ही अग्निमें आहुति देकर समस्त देवताओंके भी देवता हो गये और सबसे अधिक प्रभाव प्राप्त करके सम्पूर्ण जगत्के बीच विराजमान हैं ॥ १२ ॥

आविक्षितः पार्थिवो वै मरुत्तः स्वृद्ध्या मर्त्यो योऽजयद्देवराजम्।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं संनिविष्टा यस्मिन्भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥

अविक्षित–पुत्र विख्यात मरुत्तराजने समृद्धियुक्त यज्ञके प्रभावसे देवराज इन्द्रको भी जीत लिया था; उस यज्ञमें सब पात्र सुवर्णमय थे; अधिक क्या कहा जावे, उनके यज्ञमें लक्ष्मी स्वयं मूर्तिमयी होकर स्थित हुई थीं ॥ १३ ॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यकृद्वीतशोकः।
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषः संस्तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥ ५९८ ॥

आपने सुना होगा, राजेन्द्र हरिश्चन्द्र यज्ञानुष्ठान करके ही पुण्यभागी और शोकरहित हुए; वह मनुष्य होकर भी ऐश्वर्यमें देवराज इन्द्रसे भी अधिक हुए थे; इससे समस्त धन यज्ञानुष्ठानमें व्यय करनेसे ही सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकते हैं ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ५९८ ॥

: २१ :

देवस्थान उवाच—

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥ १ ॥

देवस्थान मुनि बोले— हे धर्मराज ! इस विषयमें इन्द्र-बृहस्पति संवाद नामक एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण वर्णित है, उसे सुनिये। किसी समय इन्द्रसे पूछे जानेपर बृहस्पतिने कहा था ॥ १ ॥

संतोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किंचित्परतः सुसम्यक्परितिष्ठति ॥ २ ॥

सन्तोष ही उत्तम स्वर्गलोकसे बढकर है और सन्तोष ही परम सुख है; यदि मनमें संतोष पूरी रातिसे प्रतिष्ठित हो जाय तो, उससे बढके कोई वस्तु भी श्रेष्ठ नहीं है ॥ २ ॥

यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मैव स्वात्मनैव प्रसीदति ॥ ३ ॥

जैसे कछुवा अपने अंग समेटके शरीरके भीतर कर लेता है, वैसेही जिसकी संपूर्ण वासना भीतर ही लीन हो जाती हैं; तब ही जानना चाहिये कि, शीघ्र ही आत्मज्योति स्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरणमें प्रकाशित होगा ॥ ३ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं प्रपश्यति ॥ ४ ॥

जिस समय साधक पुरुष वासना और द्वेष आदिको पराजित करता है, किसीसे भी भयभीत नहीं होता और न उससे ही कोई प्राणी भय करते हैं, तब ही आत्मदर्शन होता है ॥ ४ ॥

यदासौ सर्वभूतानां न क्रुध्यति न दुष्यति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ५ ॥

जब मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे किसी प्राणीसे क्रोधित नहीं होता वा किसीके निकट निंद्य बर्ताव नहीं करता, तब ही जानना चाहिये, कि उसे ब्रह्म-प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा।
तदा तदा प्रपश्यन्ति तस्माद्बुध्यस्व भारत ॥ ६ ॥

महाराज ! इस भांति सब प्राणी जब जिस जिस धर्मका उसी प्रकारसे ठीक आचरण करते हैं, तब परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं। इससे आप इन सम्पूर्ण विषयोंको विचारके कर्त्तव्य कार्योंके करनेमें प्रवृत्त होईये ॥ ६ ॥

अन्ये शमं प्रशंसन्ति व्यायाममपरे तथा।
नैकं न चापरं केचिदुभयं च तथापरे ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर अपनी अपनी रुचिके अनुसार ही कोई शमकी प्रशंसा करते हैं, कोई व्यायाम- यत्नकी; कोई इन दोनोंमेंसे एक शक्तिकी प्रशंसा नहीं करते हैं, तो कोई दूसरेकी; कुछ तो दोनोंको ही प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

यज्ञमेके प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिदेव प्रतिग्रहम्।
केचित्सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥ ८ ॥

कोई यज्ञ, कोई संन्यास, कोई दान, कोई प्रतिग्रहकी प्रशंसा करते रहते हैं। कितने ही पुरुष समस्त वस्तुओंको त्यागके मौन होकर ध्यानावलम्बन करके स्थित होते हैं ॥ ८ ॥

राज्यमेके प्रशंसन्ति सर्वेषां परिपालनम्।
हत्वा भित्त्वा च छित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः ॥ ९ ॥

कोई शत्रुओंको छिन्नभिन्न करके राज्य ग्रहण और प्रजापालनकी ही प्रशंसा करते हैं, कोई निर्जनस्थानमें निवास करनेहीको श्रेष्ठ समझते हैं ॥ ९ ॥

एतत्सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः।
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ॥ १० ॥

परन्तु इन सब विषयोंकी समालोचना करके पण्डितोंने यह निश्चय किया है, कि प्राणीमात्रसे द्रोह न करके जिस धर्मका पालन होता है, वही धर्म साधु-सम्मत है ॥ १० ॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो धृतिः क्षमा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ ११ ॥

अद्रोह, सत्य वचन, सब प्राणियोंको यथायोग्य भाग देना, धैर्य, क्षमा, निज स्त्रीसे संतान उत्पन्न करना, कोमलता, लज्जा और धीरजको ही ॥ ११ ॥

धनं धर्मप्रधानेष्टं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
तस्मादेवं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय ॥ १२ ॥

स्वायंभुव मनु उत्तम धर्मसे युक्त धन कहके वर्णन करते हैं। हे धर्मराज ! इससे आप भी यत्नपूर्वक इसी भांति धर्मके कार्योंको पालन कीजिये ॥ १२ ॥

यो हि राज्ये स्थितः शश्वद्वशी तुल्यप्रियाप्रियः ।
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ १३ ॥

जो राजनीतिज्ञ जितेन्द्रिय क्षत्रिय राजा धर्मशास्त्रके तात्पर्यको विशेष रूपसे ग्रहण करके राज्य करता हुआ, प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको समान समझता, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन करता है, ॥ १३ ॥

असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ।
धर्मे वर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मवित् ॥ १४ ॥

दुष्ट पुरुषोंको दण्ड और साधुओंके ऊपर कृपा करता है तथा प्रजाको धर्ममार्गमें स्थापित करता हुआ स्वयं धर्मज्ञ होकर निज धर्ममें तत्पर रहता है, ॥ १४ ॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु वने वन्येन वर्तयन् ।
विधिना श्रामणेनैव कुर्यात्कालमतन्द्रितः ॥ १५ ॥

और अन्तमें पुत्रको राज्यभार समर्पण करके वनवासी होकर जंगली फल-मूलोंका आहार करके वेदमें कही हुई विधिके अनुसार परिश्रमयुक्त होकर आसक्ति त्यागके आलस्य छोडकर कर्मोंके अनुष्ठानमें रत रहता है ॥ १५ ॥

य एवं वर्तते राजा राजधर्मविनिश्चितः ।
तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात्सफलो नृप ।
निर्वाणं तु सुदुष्पारं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! ऐसा बर्ताव करनेवाला राजा राजधर्मको जाननेवाला है । उसे इस लोक और परलोक दोनोंमें शुभ फल प्राप्त होता है । आप जो निर्वाणमुक्तिके विषयको वर्णन करते थे, मेरे विचारमें वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य और अनेक विघ्नोंसे परिपूरित है ॥ १६ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ १७ ॥

हे धर्मराज ! मैंने राजधर्मके विषयको वर्णन किया है; सत्य, दानपरायण और तपस्यामें रत अनेक राजा लोगोंने ऊपर कहे हुए धर्मके आसरे दया आदि गुणोंसे युक्त होकर काम, क्रोध त्यागके ॥ १७ ॥

प्रजानां पालने युक्ता दममुत्तममास्थिताः ।
गोब्राह्मणार्थं युद्धेन संप्राप्ता गतिमुत्तमाम् ॥ १८ ॥

गोब्राह्मणोंकी रक्षाके वास्ते शस्त्र-अस्त्र धारण कर युद्ध करके प्रजा पालन करते, तथा उत्तम रीतिसे मनको संयमित करते हुए शीघ्र ही परम गतिको प्राप्त किया है ॥ १८ ॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथादित्याः परंतप ।
साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः ।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ६१७ ॥

इसी भांति रुद्र, वसु, आदित्य, साध्यगण और राजर्षि लोग सावधान होकर राजधर्मके सहारे अपने पुण्यकर्मोंसे स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ १९ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ६१७ ॥

: २२ :

वैशंपायन उवाच—

तस्मिन्वाक्यान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
विषण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमीश्वरम् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— देवस्थान ऋषिके वचन समाप्त होनेपर बीचमें अर्जुन फिर शोकित चित्तसे युक्त अपने जेठे भाई राजा युधिष्ठिरसे बोले— ॥ ११ ॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यमनुत्तमम् ।
जित्वा चारीन्नरश्रेष्ठ तप्यते किं भवान्भृशम् ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञ ! नरश्रेष्ठ ! आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार शत्रुओंको पराजित करके इस उत्तम राज्यको प्राप्त किया है; तो अब किस कारणसे इतना दुःखित हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं स्मृतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥

महाराज ! अनेक यज्ञोंके अनुष्ठानसे भी बढके युद्धभूमिमें क्षत्रिय पुरुषोंकी मृत्यु श्रेष्ठ है, यह क्षत्रियोंका धर्म कहके वर्णित है ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्यधर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च विहितं संग्रामे निधनं विभो ॥ ४ ॥

हे प्रभु ! ब्राह्मणोंके तपस्या तथा संन्यास धर्म हैं, जो मृत्युके पश्चात् परलोकमें फल देनेवाले हैं, और क्षत्रियोंकी युद्धमें मृत्यु होनी यही पारलौकिक धर्म है ॥ ४ ॥

क्षत्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥ ५ ॥

काल प्राप्त होनेपर क्षत्रियोंका युद्धभूमिमें गमन करके शस्त्रसे मरना ही धर्म है; क्योंकि क्षत्रियधर्म शस्त्रमूलक और अत्यंत ही कठिन है ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्यापि चेद्राजन्क्षत्रधर्मेण तिष्ठतः
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसंस्थितम् ॥ ६ ॥

क्षत्रियकुल ब्रह्ममें स्थित हुआ है, इससे यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियधर्मका अवलम्बन करे, तो लोकमें उसका जीवन धन्य ही है ॥ ६ ॥

न त्यागो न पुनर्याच्ञा न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥

महाराज ! क्षत्रियोंके लिये त्याग, याचना, तपस्या और दूसरेके समीप भीख मांगके जीविका निर्वाह करनेकी विधि नहीं है ॥ ७ ॥

स भवान्सर्वधर्मज्ञः सर्वात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! आप भी सब धर्मोंको जाननेवाले, सर्वात्मा, राजा, मनीषी और कुशल हैं, आपको पर और अपर दोनों ही विषय विदित हैं ॥ ८ ॥

त्यक्त्वा संतापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंहतम् ॥ ९ ॥

इससे आप दुःखजनित शोक त्यागके कर्मोंके अनुष्ठानमें कटिबद्ध होइये; विशेष करके क्षत्रियोंका हृदय वज्रके समान कठोर होता है ॥ ९ ॥

जित्वारीन्क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥ १० ॥

नरेन्द्र ! आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार शत्रुओंको जीतकर यह निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है, इस समय इन्द्रियोंको वशमें करके दान और यज्ञ आदिक कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होइये ॥१०॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः कर्मणा क्षत्रियोऽभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥

देवराज इन्द्र ब्राह्मणके पुत्र होकर भी केवल कार्यके वशमें होकर क्षत्रिय धर्मावलम्बी हुए हैं; उन्होंने अपने ही पापी ज्ञाती बन्धुओंमेंसे आठ सौ दस व्यक्तियोंको मार डाला ॥ ११ ॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं हि प्रशस्यं च विशां पते ।
तेन चेन्द्रत्वमापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

हे पृथ्वीपते ! उनका वह कर्म जगत्में पूजनीय और प्रशंसनीय कहके गिना गया है, और उस क्षत्रिय धर्मके प्रभावसे ही उन्होंने देवताओंके बीच इन्द्रत्व पद पाया है, ऐसा हमने सुना है ॥ १२ ॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! नरेन्द्र ! आप भी देवराज इन्द्रके समान चिन्ता-शोकसे रहित होकर दीर्घ कालतक इस निष्कण्टक राज्यको शासन करते हुए अनेक दक्षिणासे युक्त यज्ञ कार्यमें प्रवृत्त होइये ॥ १३ ॥

मा त्वमेवंगते किंचित्क्षत्रियर्षभ शोचिथाः ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥

हे क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ ! आप बीते हुए विषयोंके निमित्त तनिक भी शोक न कीजिये; मारे गये सब वीर क्षत्रिय धर्मके अनुसार शरीर त्यागके तथा शस्त्रसे पवित्र होकर परम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥ १४ ॥

भवितव्यं तथा तच्च यद्वृत्तं भरतर्षभ ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ ६३२ ॥

हे राजन् ! जो होनहार होना है, वह अवश्य होता है। प्रारब्धको अतिक्रम करनेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ ६३२ ॥

: २३ :

वैशंपायन उवाच—

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन भारत ।
नोवाच किंचित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— महाराज ! निद्राविजयी अर्जुनसे इस प्रकार प्रबोधित होनेपर भी कुरु-नन्दन युधिष्ठिरने कुछ भी उत्तर न दिया, तब महर्षि वेदव्यास मुनि बोले— ॥ १ ॥

बीभत्सोर्वचनं सम्यक्सत्यमेतद्युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्मृतो गार्हस्थ्य आश्रमः ॥ २ ॥

हे युधिष्ठिर ! अर्जुनने यथार्थ—सत्य वचन कहे हैं; शास्त्रमें श्रेष्ठ धर्म गृहस्थाश्रमका धर्म ही उत्तम कहके वर्णित है ॥ २ ॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥

हे धर्म जाननेवाले युधिष्ठिर ! इससे गृहस्थाश्रम त्यागके तुम्हें वनमें गमन करना उचित नहीं है; शास्त्रकी विधिके अनुसार अपने धर्म अर्थात् गृहस्थाश्रममें प्रवृत्त हो जाओ ॥ ३ ॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितर ऋषयस्तथा ।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान्भजस्व महीपते ॥ ४ ॥

हे पृथ्वीपति ! देवता, पितर, अतिथि और सेवक लोग सब कोई गृहस्थके ही आसरे जीविका निर्वाह करते हैं, इससे तुम्हें उन लोगोंका पालन करना उचित है ॥ ४ ॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च महीपते ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ५ ॥

राजन् ! पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी गृहस्थोंके अवलम्बसे प्राण धारण करते हैं, इससे गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः ।
तं चराविमनाः पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! चारों आश्रमोंमें यह गृहस्थाश्रम धर्मका अनुष्ठान अत्यन्तही कठिन है; जिनकी इन्द्रियां दुर्बल हैं, उनसे इसका आचरण दुष्कर है । अब तुम निःशंक होकर गृहस्थाश्रमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होजाओ ॥ ६ ॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्च चरितं महत् ।
पितृपैतामहे राज्ये धुरमुद्वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंमें तुम्हारी विलक्षण अभिज्ञता है, और तुमने बहुत कुछ तपका भी अनुष्ठान किया है; इस समय पिता पितामहोंके इस राज्यका भार ग्रहण करना ही तुम्हें उचित है ॥ ७ ॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्षमिन्द्रियनिग्रहः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्दानं च शक्तितः ॥ ८ ॥

तपस्या, यज्ञ, विद्या, भिक्षावृत्ति, इन्द्रियसंयम, ध्यान, एकान्त वास, संतोष और शक्तिके अनुसार ब्रह्मज्ञान ॥ ८ ॥

ब्राह्मणानां महाराज चेष्टाः संसिद्धिकारिकाः ।
क्षत्रियाणां च वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥

ये सब साधन आदि कार्य ब्राह्मणोंको ही सिद्धिकारक हैं । क्षत्रियोंके जो कुछ कर्त्तव्य कर्म हैं, उसे अब फिर वर्णन करता हूं, उस विषयमें तुम भी अज्ञान नहीं हो ॥ ९ ॥

यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणत्मयुग्रं प्रजानां परिपालनम् ॥ १० ॥

यज्ञानुष्ठान, विद्या प्राप्त करना, उत्साह प्रकाश, जो सम्पत्ति प्राप्त होवे उसमें असन्तोष, राजदण्डको धारण करना, कठोरता, प्रजापालन, ॥ १० ॥

×

वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रेषु प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥

वेदज्ञान, तपस्याका अनुष्ठान, सच्चरित्रता, धन उपार्जन और उसे योग्यपात्रको दान करना ॥ ११ ॥

एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशां पते ।
इमं लोकममुं लोकं साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

हे पृथ्वीपते ! ये सब क्षत्रिय राज पुरुषोंके कर्त्तव्य--कर्म शास्त्रमें कहे गये हैं, जो लोग इन सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे इस लोक और परलोकमें सिद्धि लाभ करते हैं ॥१२॥

तेषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ १३ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! परन्तु इन सब कर्मोंके बीच क्षत्रियोंको दण्ड धारण करना ही मुख्य कर्म कहके वर्णित हुआ है; दण्ड भी बलके आसरेसे धारण किया जाता है। इससे क्षत्रियोंमें बल होना परम आवश्यक है ॥ १३ ॥

एताश्चेष्टाः क्षत्रियाणां राजन्संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरभाषत ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! हे सम्पूर्ण कर्म क्षत्रियोंकी सिद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। इस विषयमें बृहस्पतिने भी इस प्रकार कहा है ॥ १४ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १५ ॥

सांप जैसे बिलमें रहनेवाले चूहे आदिको भक्षण करता है, वैसे ही विरोध न करनेवाले शम-परायण राजा और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मणको पृथ्वी शीघ्रही ग्रास करती है ॥ १५ ॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ६४८ ॥

इस प्रकार जनश्रुति है, कि राजऋषि सुद्युम्नने प्रचेता-पुत्र दक्षकी भांति एकमात्र दण्ड धारण करनेके प्रभावसे ही परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तेवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ ६४८ ॥

: २४ :

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन्कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले— हे भगवन् ! पृथ्वीपति सुद्युम्न किस कर्म फलसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे ? मैं उन राजाका चरित्र सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

व्यास उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संयतव्रतौ ॥ २ ॥

वेदव्यास बोले— हे धर्मराज युधिष्ठिर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण प्रसिद्ध है, उसे मैं वर्णन करता हूं, तुम चित्त लगाके सुनो । शङ्ख और लिखित नामक अत्यन्त कठोर व्रत करनेवाले दो भाई थे ॥ २ ॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक्पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ ३ ॥

बाहुदा नदीके किनारे फल पुष्प लता और सुन्दर वृक्षोंसे शोभित अत्यन्त रमणीय अलग अलग उनके दो आश्रम थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागमत् ।
यदृच्छयापि शङ्खोऽथ निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥ ४ ॥

किसी समय लिखित ऋषि इच्छानुसार अपने जेठे भाई शङ्ख ऋषिके आश्रमपर उपस्थित हुए; उस समय दैवेच्छासे महर्षि शङ्ख अपने आश्रमसे किसी दूसरे स्थानपर गये थे ॥ ४ ॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
फलानि शातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥ ५ ॥

अनन्तर ऋषि लिखित भाई शङ्खके आश्रममें पहुंचके, उत्तम पके हुए फलोंको तोडने लगे ॥ ५ ॥

तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।
तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागमत् ॥ ६ ॥

और उन फलोंको ग्रहण करके निश्चिन्ततायुक्त प्रसन्न चित्तसे भोजन करनेमें प्रवृत्त हुए । इतने ही समयमें शङ्ख ऋषि अपने आश्रममें आके उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत् ।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ ७ ॥

और भाई लिखित ऋषिको फल खाते देखकर शङ्खने उनसे पूछा— इन फलोंको तुमने कहां पाया ? तुम किस कारणसे इन फलोंको खा रहे हो ? ॥ ७ ॥

सोऽब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमुपस्पृश्याभिवाद्य च ।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ ८ ॥

तब छोटे भाई लिखित अपने बडे भाई शङ्खके समीप जाकर उन्हें प्रणाम करके हंसते हुए यह वचन बोले, हे महात्मन् ! मैंने आपके इस आश्रमसे ही फल ग्रहण किया है ॥ ८ ॥

तमब्रवीत्तदा शङ्खस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ।
गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म प्रथयस्व वै ॥ ९ ॥

उनसे ऐसे वचनको सुनके महर्षि शङ्ख अत्यन्त कुपित होके बोले, हे भाई ! मेरे न रहनेपर तथा विना मेरी आज्ञाके स्वयं इन फलोंको ग्रहण करनेसे तुम्हें चोरीका पाप लगा है; इससे दण्डित होनेके वास्ते अब तुम राजाके समीप गमन करो; और वहां जाकर अदत्त ग्रहण रूपी अपने पाप कर्मको सुना कर कहना ॥ ९ ॥

अदत्तादानमेवेदं कृतं पार्थिवसत्तम ।
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय ।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ १० ॥

हे महाराज ! मैंने इस प्रकार विना दिये हुए फल लिये हैं, इसलिये आप मुझे चोर करके निश्चित कीजिये । हे नराधिप ! राजधर्मको पालन करते हुए शीघ्रही मुझे चोरोंके योग्य दण्ड दीजिये ॥ १० ॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात्सुद्युम्नं वसुधाधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ ११ ॥

हे महाबाहु ! अनन्तर व्रत करनेवाले महात्मा लिखितने अपने जेठे भाईकी ऐसी आज्ञा सुनकर राजा सुद्युम्नके समीप गमन किया ॥ ११ ॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् ।
अभ्यगच्छत्सहामात्यः पद्भ्यामेव नरेश्वरः ॥ १२ ॥

राजा सुद्युम्न द्वारपालके मुखसे धर्मज्ञ पुरुषोंमें अग्रणी लिखित ऋषिके आगमनका वृत्तान्त सुनकर अपने अनुयायी पुरुषोंके सहित पैदल ही उनके समीप गये ॥ १२ ॥

तमब्रवीत्समागत्य स राजा ब्रह्मवित्तमम् ।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन्कृतमेव तत् ॥ १३ ॥

राजाने उन ब्रह्मज्ञानी मुनिसे मिलकर कहा— हे भगवन् ! किस अभिप्रायसे यहां आपका आगमन हुआ है ? आपकी क्या आज्ञा है, यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही मानिये ॥ १३ ॥

एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
प्रतिश्रौषि करिष्येति श्रुत्वा तत्कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

राजाके वचनको सुनके महर्षि लिखित सुद्युम्नसे बोले— महाराज ! पहिले " जो कार्यकी आज्ञा होगी, उसे मैं करूंगा " आप ऐसी प्रतिज्ञा कीजिये, तब पीछे मेरे मुखसे सुनकर उसे पालन करिये ॥ १४ ॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि पुरुषर्षभ ।
भक्षितानि मया राजंस्तत्र मां शाधि माचिरम् ॥ १५ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! मैंने अपने बडे भाईकी अनुमतिके विना उसके आश्रममें जाके फल ग्रहण करके भक्षण किया है, शीघ्र ही मेरे ऊपर दण्ड प्रयोग कीजिये ॥ १५ ॥

सुद्युम्न उवाच--

प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे ।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद्ब्राह्मणर्षभ ॥ १६ ॥

महाराज सुद्युम्न बोले— हे भगवन् ! ब्राह्मणश्रेष्ठ ! " राजाके दण्डप्रयोग करनेसे ही पापकी शान्ति होती है " यदि आपको ऐसा स्थिर ज्ञान होवे, तो राजाके क्षमा करने पर भी उस पापकी शान्ति होती है, ऐसा ही समझिये ॥ १६ ॥

स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः ।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥ १७ ॥

आप पवित्र कर्म करनेवाले और महान् व्रतधारी ब्राह्मण हैं; मैंने आपके अपराधको क्षमा किया, और आपको जानेकी आज्ञा दे दी। इस समय आपकी दूसरी और कौनसी अभिलाषा है, उसे वर्णन कीजिये । मैं आपकी समस्त कामना पूर्ण करूंगा ॥ १७ ॥

व्यास उवाच --

छन्द्यमानोऽपि ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना ।
नान्यं वै वरयामास तस्माद्दण्डादृते वरम् ॥ १८ ॥

वेदव्यास मुनि बोले— हे धर्मराज ! महात्मा पृथ्वीनाथ सुद्युम्नने इस भांति अपराध क्षमा करके लिखित ऋषिको सम्मानित किया; तौ भी महर्षि लिखितने उनके निकट दण्डके अतिरिक्त और किसी विषयकी भी अभिलाषा नहीं की ॥ १८ ॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः ।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ १९ ॥

तब राजा सुद्युम्नने महात्मा लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये; दण्ड पाकर लिखित वहांसे चले गये ॥ १९ ॥

स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम् ।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भगवन्क्षन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अनन्तर लिखित ऋषि अपने जेठे भाई महर्षि शङ्खके समीप गमन करके आर्त होकर यह वचन बोले । हे भगवन् ! मैंने राजाके निकट जाके उचित दण्ड पाया है, अब आप मुझ दुर्बुद्धिके अपराधको क्षमा कीजिये ॥ २० ॥

शङ्ख उवाच—

न कुप्ये तव धर्मज्ञ न च दूषयसे मम ।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥ २१ ॥

छोटे भाईके वचनको सुनकर महर्षि शङ्ख बोले—हे धर्मज्ञ भ्राता । तुमने मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं किया था, और मैं भी तुम्हारे ऊपर कुपित नहीं हुआ था; तुमने धर्मका उल्लंघन किया था, इस ही कारण मैंने तुम्हें प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त किया है ॥ २१ ॥

स गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवान्पितॄनृषींश्चैव मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ २२ ॥

इस समय शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाके देवता, ऋषि और पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण करो; अब कदापि अधर्मकी ओर ऐसी बुद्धि न करना ॥ २२ ॥

व्यास उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ २३ ॥

व्यास बोले— अनन्तर महर्षि लिखितने अपने बडे भाई शंखके वचनको सुनके पवित्र बाहुदा नदीमें जाकर स्नान करके ज्यों ही पितरोंका तर्पण करनेके लिये इच्छा की ॥ २३ ॥

प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसंनिभौ ।
ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ २४ ॥

त्योंही सहसा कमलके समान अंगुलियोंसे युक्त उनके दोनों हाथ प्रकट हो गये; उससे लिखितने अत्यंत विस्मित होकर अपने बडे भाई शङ्खके समीप आके नवीन उत्पन्न हुए अपने दोनों हाथोंको दिखाया ॥ २४ ॥

ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया।
मा च तेऽत्र विशङ्का भूद्दैवमेव विधीयते ॥ २५ ॥

तब महर्षि शंख उनके दोनों हाथोंको देखकर बोले, हे भ्राता ! मैंने तपके प्रभावसे तुम्हारे दोनों हाथ फिर उत्पन्न किये हैं; इसमें तुम्हें शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दैव ही इस विषयके विधानोंको सफल करनेवाला है ॥ २५ ॥

लिखित उवाच—

किं नु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ २६ ॥

अनन्तर लिखित ऋषि बोले– हे महातेजस्विन् ! द्विजश्रेष्ठ ! जब कि आपका ऐसा तपका प्रभाव है, तब आपने पहिले ही क्यों नहीं मुझे पवित्र किया ? ऐसा होनेसे राजाके समीप मुझे न जाना पडता ॥ २६ ॥

शङ्ख उवाच—

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥ २७ ॥

शंख बोले– हे भ्राता ! उस विषयमें यदि मुझे अधिकार होता, तो मैं अवश्य ही तुम्हें यहां ही उस पापसे मुक्त कर देता; परन्तु मैं तो तुम्हारा राजा नहीं हूं, जो दण्ड प्रयोग करके तुम्हें चोरीके पापसे मुक्त कर देता; इस कारणसे मैंने तुम्हें राजाके समीप भेजा था। तुम्हारे ऊपर विधिपूर्वक दण्ड प्रयोग करके राजा सुद्युम्न और उस दण्डको स्वीकार करके तुम, अर्थात् तुम दोनों ही पितरोंके सहित पवित्र होगये ॥ २७ ॥

व्यास उवाच—

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेष्ठो वै तेन कर्मणा ।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ २८ ॥

वेदव्यास बोले– हे पाण्डवश्रेष्ठ ! मैंने जो कुछ तुम्हारे समीप वर्णन किया; उस भांति दण्ड कर्मके प्रभावसे राजा सुद्युम्नने दक्ष प्रजापतिकी भांति इस लोकमें प्रतिष्ठा और परलोकमें परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् ।
उत्पथेऽस्मिन्महाराज मा च शोके मनः कृथाः ॥ २९ ॥

महाराज ! प्रजाका पालन करना ही क्षत्रियोंका प्रधान धर्म है, इसके अतिरिक्त तुम दूसरेको कुपथ समझो, इसलिए शोकमें अपने मनको मत लगाओ ॥ २९ ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञसत्तम ।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ६७८ ॥

हे धर्मके ज्ञाता श्रेष्ठ ! तुम अपने भाई अर्जुनके हितकर वचनको सुनो । राजेन्द्र ! अब शोक मत करो, प्रजाको पालन करनेके निमित्त राजदण्ड धारण करना ही क्षत्रिय धर्म है; शिर मुडाना राज धर्म नहीं है ॥ ३० ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ ६७८ ॥

: २५ :

वैशंपायन उवाच—

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमर्थवत् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— अनन्तर श्रीकृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास अजातशत्रु कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरको अर्थपूर्ण उपदेश करनेमें फिर प्रवृत्त होकर यह वचन बोले ॥ १ ॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते तपस्विनाम् ।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन्युधिष्ठिर ॥ २ ॥

हे पुत्र ! हे महाराज युधिष्ठिर ! वनमें वास करनेके समयसे तुम्हारे तपस्वि भाइयोंकी जो कुछ अभिलाषाएं थीं ॥ २ ॥

तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ।
प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें । हे पार्थ ! इससे तुम नहुष–पुत्र राजा ययातिकी भांति पृथ्वीका पालन करनेमें प्रवृत्त हो जाओ ॥ ३ ॥

अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्राः सुखं त्वनुभवन्त्विमे ॥ ४ ॥

पहिले तुम्हारे इन तपस्वी भाइयोंने जङ्गलमें वास करते हुए केवल महादुःख भोग किये थे; इस समय वह महादुःख बीत गया; अब ये नरव्याघ्र सुखका अनुभव करें ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात्प्रस्थातासि विशां पते ॥ ५ ॥

हे भारत ! पृथ्वीपते ! तुम अपने भाइयोंके सङ्ग मिलकर कुछ दिनोंतक धर्म, अर्थ और कामका सेवन करो; अनन्तर फिर वनको प्रस्थान करना ॥ ५ ॥

अतिथीनां च पितॄणां देवतानां च भारत ।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय ततः स्वर्गं गमिष्यसि ॥ ६ ॥

हे कौन्तेय ! पहले देवता, पितर और अतिथि लोगोंके ऋणको चुकाओ; इससे तुम स्वर्ग प्राप्त कर सकोगे ॥ ६ ॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन ।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तुम अश्वमेध और सर्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो, ऐसा होनेसे पीछे परम गतिको प्राप्त होगे ॥ ७ ॥

आलभ्य सर्वान्क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः ।
संप्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! तुम अपने भाइयोंको अनेक दक्षिणासे युक्त यज्ञोंमें दीक्षित करो, ऐसा होनेसे इस लोकमें भी असीम कीर्ति प्राप्त कर सकोगे ॥ ८ ॥

विद्म ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुनन्दन ।
शृणु मद्य यथा कुर्वन्धर्मान्न च्यवते नृपः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! पुरुषसिंह कुरुनन्दन ! मैं तुम्हारा कहना समझता हूं; जिस कार्यको करनेसे तुम किसी प्रकार फिर धर्मसे भ्रष्ट न हो सकोगे; उस विषयमें मैं विशेष उपदेश वचन कहता हूं, चित्त स्थिर करके सुनो ॥ ९ ॥

आददानस्य च धनं निग्रहं च युधिष्ठिर ।
समानं धर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥ १० ॥

जो परधन हरनेवाले डाकू समान निग्रही धर्मकुशल मनुष्य हैं, वेही राजाओंको युद्ध आदि कार्योंमें नियुक्त होनेकी व्यवस्था देते हैं ॥ १० ॥

देशकालप्रतीक्षे यो दस्योर्दर्शयते नृपः ।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय नैनसा स हि युज्यते ॥ ११ ॥

जो राजा शास्त्रीय बुद्धिका अवलंबन करके देशकालकी प्रतीक्षा करके डाकुओंके अपराधको सहन करता है, उसे कदापि पापमें लिप्त नहीं होना पडता ॥ ११ ॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन पार्थिवः ॥ १२ ॥

जो राजा राज्यका छठवां भाग करके रूपमें ग्रहण करके भी यथा रीतिसे राज्यकी रक्षा नहीं करता है, वह प्रजाके पापका चौथा भाग ग्रहण करता है ॥ १२ ॥

निबोध च यथातिष्ठन्धर्मान्न च्यवते नृपः ।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामनुरुध्यन्नपेतभीः ।
कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! मुझे सुनो, जिसके अनुसार वर्तन करनेवाला राजा धर्मसे नीचे नहीं गिरता । राजा धर्म शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसेही पतित होता है; और धर्म शास्त्रके अनुकूल कार्य करनेसे निर्भय होकर समय व्यतीत कर सकता है । जो काम, क्रोध त्यागके निरपेक्ष होकर पिताकी भांति प्रजा पालनमें तत्पर होता है ॥ १३ ॥

×

दैवेनोपहते राजा कर्मकाले महाद्युते ।
प्रमादयति तत्कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥ १४ ॥

हे महातेजस्वी राजन् ! यदि राजा उपस्थित कार्यमें दैवी--संयोगसे किसी कर्मको करनेमें असमर्थ हो जावे, या भूल करे, तो ऐसा होनेसे उसे कार्य--अतिक्रमकारी नहीं कहा जा सकता ॥ १४ ॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः ।
पापैः सह न संदध्याद्राष्ट्रं पुण्यं च कारयेत् ॥ १५ ॥

बल, बुद्धि वा कौशलसे शत्रुओंको पराजित करना उचित है; पापियोंके साथ कभी संधि नहीं करनी चाहिये; राष्ट्रको बाजारका सौदा नहीं बनावे ॥ १५ ॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर ।
गोमतो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! वीर पुरुष, पुण्यकर्म करनेवाले साधु और विद्वानोंका सत्कार करे; गौएं रखनेवाले धनी वैश्योंको विशेष यत्नके सहित पालन करना उचित है ॥ १६ ॥

व्यवहारेषु धर्म्येषु नियोज्याश्च बहुश्रुताः ।
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन्विश्वस्याच्च विचक्षणः ॥ १७ ॥

व्यवहार और धर्मकार्योंमें बहुदर्शी पुरुषोंको नियुक्त करना उचित है, परन्तु अनेक गुणोंसे युक्त होनेपर भी एकही पुरुषका संपूर्ण रूपसे विश्वास करके कार्य करना उचित नहीं है॥१७॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः ।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १८ ॥

जो राजा प्रजाका पालन नहीं करता, आशाके वशमें गर्वित, अभिमानी, अकडवाला और दूसरोंके दोष देखनेवाला है, वह महाघोर पापमें फसके लोकसमाजमें अधर्मी कहके विख्यात होता है ॥ १८ ॥

येऽरक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनोपहते नृपे ।
तस्करैश्चापि हन्यन्ते सर्वं तद्राजकिल्बिषम् ॥ १९ ॥

जहां प्रजा यथारीतिसे राजाकी ओरसे रक्षित नहीं होती, दैवकी प्रतिकूलता अर्थात् राज्यमें अनावृष्टि आदि अनेक उपद्रवोंसे दुःखित तथा चोर डाकूओंसे पीडित होकर नष्ट होती है; उस स्थलमें संपूर्ण अनिष्टजनित पाप राजाको ही लगता है ॥ १९ ॥

सुमन्त्रिते सुनीते च विधिवच्चोपपादिते ।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! उत्तम मन्त्रणा और श्रेष्ठनीति अवलम्बन करके भली भांति विचारकर पुरुषार्थके सहित कार्य करनेसे कदापि राजाको अधर्मका पाप नहीं लगता ॥ २० ॥

विपद्यन्ते समारम्भाः सिध्यन्त्यपि च दैवतः ।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २१ ॥
पुरुषार्थ करनेसे सभी समारंभ पूर्ण होते हैं, भाग्य भी अनुकूल हो जाते हैं, और उस पुरुषार्थी राजाको पाप कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता ॥ २१ ॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम् ।
यद्वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पार्थिव ॥ २२ ॥
हे राजसिंह ! जैसे पहिले राजर्षि हयग्रीव संग्रामकी जो कथा है, उसे मैं तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं, सुनो ॥ २२ ॥

शत्रून्हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः ।
असहायस्य धीरस्य निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
वह हयग्रीव शूरवीर सहजही कठिन कर्मोंको करनेवाले, धीर, शत्रुओंको मारकर और उन्हें जीतकर स्वयं भी असहाय होकर मर गया ॥ २३ ॥

यत्कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् ।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं सुयुद्धे वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २४ ॥
उन्होंने शत्रुओंको पराजित करनेमें पराक्रम दिखाया था, तथा मनुष्य-प्रजाका पालन करनेमें वे प्रयत्नशील और एकाग्रचित्त थे । राजा हयग्रीव बहुतसे पुरुषार्थ युक्त सत्कार्योंको करके अन्तमें युद्धभूमिमें शौर्य बताकर उत्तम कीर्त्ति प्राप्त कर देवलोकमें सदा सुखभोग कर रहे हैं ॥ २४ ॥

संत्यक्तात्मा समरेष्वाततायी शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिरर्द्यमानः ।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा संसिद्धात्मा मोदते देवलोके ॥ २५ ॥
पुण्य कर्मोंके प्रभावसे सिद्ध मनोरथ महात्मा हयग्रीव कालक्रमसे डाकुओंके चढ आनेसे शस्त्र ग्रहण कर महाघोर युद्ध करके उनके शस्त्रोंकी चोटसे क्षतविक्षत होकर शरीर त्यागके देववासके सुखको भोग रहे हैं ॥ २५ ॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम् ।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २६ ॥
यज्ञमें धनुषही यूप, रोदा यूपवेष्टन-प्रत्यञ्चा, बाण स्रुक, तलवार स्रुवा, देहसे झरता हुआ रुधिर ही घृत स्वरूप, इच्छानुसार विचरनेवाला रथही वेदी, युद्ध ही अग्नि और रथके चारों घोडेही चातुर्होत्रस्वरूप थे ॥ २६ ॥

हुत्वा तस्मिन्यज्ञवह्वावथारीन्पापान्मुक्त्वा राजसिंहस्तरस्वी ।
प्राणान्हुत्वा चावभृथे रणे स वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २७ ॥

राजसिंह तपस्वी हयग्रीव उस पुरुषरूपी यज्ञकी अग्निमें अनगिनत शत्रुओंकी आहुति देके, पापरहित होकर, अन्तमें अपना प्राण होमकर यज्ञ समाप्तिरूपी अवभृथ स्नान करके देवलोकमें सुख भोग रहे हैं ॥ २७ ॥

राष्ट्रं रक्षन्बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वाँल्लोकान्व्याप्य कीर्त्या मनस्वी वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २८ ॥

उस यज्ञ करनेवाले महात्मा राजाने उत्तम नीति और बुद्धिकौशलमें राज्यको पालन कर संपूर्ण लोकोंमें कीर्त्ति स्थापित करके अन्तमें प्राणत्याग किया था। वे अब स्वर्गलोकमें आनंदित हो रहे हैं ॥ २८ ॥

दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं योगन्यायैः पालयित्वा महीं च ।
तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा हयग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २९ ॥

उस धर्मशील महात्मा हयग्रीवने दैवी सिद्धि और मानवी दण्डनीतिसे तथा अन्य योगोंसे पृथ्वीका पालन किया, अतः अब वे महात्मा स्वर्गमें आनन्द कर रहे हैं ॥ २९ ॥

विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञस्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा ।
मेधाविनां विदुषां संमतानां तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा ॥ ३० ॥

और यथारीतिसे सब वेद शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु और कृतज्ञ राजा हयग्रीव कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करके मनुष्य लोकको त्यागकर ज्ञानके प्रभावसे मेधावी, सर्वसम्मानित, ज्ञानी और पुण्य तीर्थोंमें शरीर त्यागनेवाले पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठलोकमें गमन करके सुख भोग कर रहे हैं ॥ ३० ॥

सम्यग्वेदान्प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राष्ट्रं पालयित्वा महात्मा ।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३१ ॥

वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर, शास्त्रोंका अध्ययन करके, उत्तम रीतिसे राज्यका पालन करके, महात्मा राजा हयग्रीव चारों वर्णोंके लोगोंको यथायोग्य अपने धर्मके कार्योंमें स्थापित करके अब देवलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ ३१ ॥

जित्वा संग्रामान्पालयित्वा प्रजाश्च सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान् ।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३२ ॥

राज्य करनेके समयमें उन्होंने अनेक बार संग्राममें जय प्राप्त किया था, प्रजाका पालन करके यज्ञमें सोमरस पान, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रचुर दक्षिणासे तृप्ति और युक्तिबलसे दण्ड धारण करके प्रजाओंकी रक्षा करते हुए युद्धमें मारे गये; इसी कारण आज स्वर्ग सुखका आनन्द उठा रहे हैं ॥ ३२ ॥

वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः सन्तो विद्वांसश्चार्हयन्त्यर्हणीयाः ।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकांश्च गत्वा सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ७११ ॥

विद्वान् पुरुष आजतक जिनके प्रशंसनीय चरित्रोंकी अत्यन्त प्रशंसा किया करते हैं, वह महात्मा राजा निज कीर्त्ति तथा पुण्यके प्रभावसे सिद्धि प्राप्त और स्वर्गलोकमें गमन करके वहां पर वीर पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य सुख भोग कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पचीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ७११ ॥

: २६ :

वैशंपायन उवाच—

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनंजये ।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर महर्षि द्वैपायन मुनिके वचनको सुनकर, तथा अर्जुनको कुपित देखके व्यासदेवमुनिसे बोले ॥ १ ॥

न पार्थिवमिदं राज्यं न च भोगाः पृथग्विधाः ।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां नर्दयत्ययम् ॥ २ ॥

इस संपूर्ण पृथ्वीके राज्य और अनेक भांतिके भोग्य वस्तुओंको प्राप्त करनेसे भी मुझे किसी भांति प्रसन्नता नहीं होती है, मेरा चित्त इस समय शोकसे अत्यन्तही दुःखित हो रहा है ॥२॥

श्रुत्वा च वीरहीनानामपुत्राणां च योषिताम् ।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ॥ ३ ॥

हे महर्षि ! वीर पति और पुत्रोंसे रहित स्त्रियोंके विलापको सुनकर मेरे चित्तमें किसी प्रकारसे भी शान्ति प्राप्त नहीं होती है ॥ ३ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं धर्मज्ञो वेदपारगः ॥ ४ ॥

राजा युधिष्ठिरके ऐसे वचनको सुनकर योगियोंमें अग्रगण्य, धर्मज्ञानसे युक्त, संपूर्ण वेदोंके जाननेवाले महा बुद्धिमान् वेदव्यास मुनि उनसे बोले ॥ ४ ॥

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा नाप्यस्य दाता पुरुषस्य कश्चित् ।
पर्याययोगाद्विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥

महाराज ! कोई पुरुष कर्म वा यज्ञकार्यों वा चिन्तासे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता और न कोई पुरुष किसीको दान कर सकता है; विधाता ही समयके अनुसार सब पुरुषोंके प्राप्तिका विधान करता है; और उस विधाताके नियत किये हुए समयपरही मनुष्य समस्त वस्तुओंको पा सकता है ॥ ५ ॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेषैर्मनुजैरकाले ।
मूर्खोऽपि प्राप्नोति कदाचिदर्थान्कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ॥ ६ ॥

समय उपस्थित न होनेसे विद्या, शास्त्राध्ययन वा बुद्धिके प्रभावसे कोई वस्तु लाभ करनेमें समर्थ नहीं होसकता और समयके अनुसार मूर्ख पुरुष भी इच्छित वस्तुको प्राप्त कर सकता है; इससे संपूर्ण कार्योंके विषयमें कालको ही निरपेक्ष समझिये, अर्थात् कालसमयानुसार मूर्ख और पण्डितको समान रूपसे फल प्रदान करता है ॥ ६ ॥

नाभूतिकाले च फलं ददाति शिल्पं न मन्त्राश्च तथौषधानि ।
तान्येव कालेन समाहितानि सिध्यन्ति चेध्यन्ति च भूतिकाले ॥ ७ ॥

जब पुरुषोंके दुःखका समय रहता है, तब तक विज्ञान, मन्त्र और औषधि आदि कोई वस्तु भी फल प्रदान करनेमें समर्थ नहीं होती; और जब अभ्युदयका समय आता है, तब ये ही सब कालकी प्रेरणासे गुणकारी होके सिद्धिप्रद होते हैं ॥ ७ ॥

कालेन शीघ्राः प्रविवान्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति ।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च कालेन पुष्यन्ति नगा वनेषु ॥ ८ ॥

कालके प्रभावसे वायु प्रचण्ड वेगसे बहता है, बादल जलकी वर्षा करते हैं, तालाब कमलों तथा नीलपद्म आदि पुष्पोंसे परिपूर्ण होते हैं और वनमें पर्वत वृक्षादिक फल फूलोंसे युक्त होते हैं ॥ ८ ॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः ।
नाकालतः पुष्पफलं नगानां नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥

इसी भांति कालके प्रभावसे कभी रात्रि महाघोर अन्धकारसे युक्त और कभी निर्मल ज्योतिसे विभूषित होती हैं, कभी चन्द्रबिंब सोलह कलासे पूर्ण होता, महाराज ! बिना समय पहुंचे पर्वतोंपर वृक्षादिक फूलने फलनेमें असमर्थ होते हैं, नदियां प्रबल वेगसे बहनेमें समर्थ नहीं होतीं ॥ ९ ॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगद्विपाः शैलमहाग्रहाश्च ।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः ॥ १० ॥

जगतमें पशु तथा पक्षी, सर्प, हाथी, मृग और पहाडी मगर आदि बिना समय पहुंचे संयोगकी अभिलाषा नहीं करते । इसी भांति स्त्रियोंके गर्भ, शरद्-वसन्त आदि ऋतुओंका समागम तथा वर्षा भी बिना समयके नहीं होती है ॥ १० ॥

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः ।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥

जीवोंके जन्म और मृत्यु, बालकोंके मुंहसे पहिले पहल वचन निकलना, युवा अवस्थाका आगमन और बोए हुए बीजके अंकुरे, ये सब बिना समय नहीं होते ॥ ११ ॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तं गिरिमभ्युपैति ।
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रश्च महोर्मिमाली ॥ १२ ॥

मरीचि माली सूर्यका उदयाचलपर उदय और अस्ताचलपर अस्त होना, शीत किरणधारी चन्द्रमाकी कला और तरङ्गमालासे युक्त समुद्रके तरङ्गोंकी घटती बढती विना समय पहुंचे कदापि नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! राजा सेनजित्‌ने दुःखित होकर जो वचन कहा था, आजतक सब कोई उस प्राचीन गाथाको उदाहरणके रूपमें वर्णन किया करते हैं, मैं उस ही पुराने इतिहासको तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १३ ॥

सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान्स्पृशति दुस्तरः ।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वमानवाः ॥ १४ ॥

यह दुस्तर काल समयानुसार समस्त जीवोंको ग्रहण करता है, पृथ्वी परके संपूर्ण मानव कालके प्रभावसे अपने समय पर मृत्युके अधीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

घ्नन्ति चान्यान्नरा राजंस्तानप्यन्ये नरास्तथा ।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥

राजन् ! किसी मनुष्य दुसरोंका वध करते हैं, और कालक्रमसे वे भी दूसरोंके हाथोंसे मारे जाते हैं; यह केवल लौकिक संज्ञामात्र है; महाराज ! यथार्थमें कोई किसीको नहीं मारता और न कोई किसीके मारनेसे मरता है ॥ १५ ॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरे ।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥

तब कोई समझते हैं, कि " अमुक पुरुषने अमुकका वध किया, " और कितनेही बुद्धिमान पुरुष ऐसा समझते हैं, कि इस जगत्‌में कोई किसीका वध करनेवाला नहीं है; क्योंकि स्वभाव ही प्राणियोंके जन्म और मृत्युके विषयमें कारण है ॥ १६ ॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो कष्टमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ॥ १७ ॥

धन क्षय होने तथा स्त्री, पुत्र वा पिता माता आदिकी मृत्यु होनेपर मनुष्य " अहो ! कैसा कष्ट है ! हाय क्या हुआ ! " ऐसा ही समझके बीते हुए शोककी चिन्ता करके उसके निवारणके लिये प्रयत्न करता है ॥ १७ ॥

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यः किमनुशोचसि ।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥ १८ ॥

इससे तुम मूढ होकर क्यों मरण–धर्मशील शोचनीय पुरुषोंके निमित्त शोक कर रहे हो ? देखो, वह तू शोकसे दुःखोंमें दुःख और भयोंमें भयकी वृद्धि करेगा ॥ १८ ॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥ १९ ॥

" इस शरीर वा पृथ्वीमें जो कुछ वस्तु है, उसमें कुछ भी मेरा नहीं है; अथवा इसमें जैसा मुझे अधिकार है, वैसाही दूसरोंको भी है " ज्ञानी इसी भांति विचार करके किसी वस्तुमें मोहित नहीं होता ॥ १९ ॥

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २० ॥

इस पृथ्वीपर सैकडों हर्ष और सहस्रों भांतिके शोक आदि विषयोंमें स्थान होते हैं; वे प्रतिदिन मूढ मनुष्यको मोहित करते हैं, परन्तु विद्वानको ये कदापि मोहित नहीं कर सकते ॥२०॥

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २१ ॥

ये सब हर्ष आदिके विषय समयके अनुसार कभी प्रिय, कभी अप्रिय रूपसे मालूम होते हैं; इसी भांति वेही कभी सुख, कभी दुःखरूपको धारण करके संपूर्ण जीवलोकोंमें भ्रमण किया करते हैं ॥ २१ ॥

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥ २२ ॥

यथार्थमें यह संसार केवल दुःखहीका स्थान है, इसमें सुख कुछ भी नहीं है; इस कारण प्रायः दुःखकी ही अधिकता दीख पडती है। तृष्णाकी पीडासे दुःख और दुःखकी पीडासे सुख होता है, अर्थात् आशाभङ्गसे दुःख और अभिलषित वस्तु मिलनेपर सुख प्राप्त होता है ॥२२॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २३ ॥

संसारमें आसक्त रहनेवाले जीवोंको सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके अनन्तर सुख प्राप्त होता है, वह कदापि सदाके लिये सुख वा दुःखके भोगी नहीं होते ॥ २३ ॥

सुखमन्ते हि दुःखानां दुःखमन्ते सुखस्य च ।
तस्मादेतद्द्वयं जह्याद्य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥ २४ ॥

दुःखके अन्तमें सुख और सुखके अन्तमें दुःख मिलता है, इससे जो पुरुष नित्य सुखकी इच्छा करता है उसे इस अनित्य सुख तथा दुःख दोनोंको ही त्यागना उचित है ॥ २४ ॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमूर्छितः।
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत् ॥ २५ ॥

जिसके कारणसे दुःख जनित शोक और सन्ताप आदि अनेक क्लेश उपस्थित होते हैं; अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, उसके एक अंगको भी अन्तःकरणमें रहने देना योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६ ॥

सुख, दुःख, प्रिय वा अप्रिय, जिस समयमें जो उपस्थित होवे, धीरज युक्त चित्तसे उसे भोगना ही उचित है; अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकारे ॥ २६ ॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम्।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव वा ॥ २७ ॥

हे सौम्य ! स्त्री वा पुत्र आदि स्वजनोंके प्रियकार्य साधनमें तनिक भी अप्रिय करनेसे मालूम हो सकता है, कि इस संसारके बीच कौन किस कारणसे किस भांति किसीका आत्मीय बान्धव हुआ है ? ॥ २७ ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यः क्लेशेन युज्यते ॥ २८ ॥

इस पृथ्वीपर जो लोग अत्यन्त ही मूढ हैं, और जिन्होंने परमात्मज्ञान प्राप्त किया है, वे दोनों संप्रदायके पुरुष ही सुखपूर्वक समयको व्यतीत करते हैं; मध्यवर्ती अर्थात् अर्द्धज्ञानी पुरुष ही नाना भांतिके क्लेशोंसे क्लेशित होते हैं ॥ २८ ॥

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित्।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित्सुखदुःखवित् ॥ २९ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! लोकके भूत-भविष्य, सुख और दुःखके कारणोंको जाननेवाले, पर और अपर विषयोंके ज्ञाता धर्मज्ञ, महाबुद्धिमान राजा सेनजित्‌ने ऐसा ही वचन कहा था ॥२९॥

सुखी परस्य यो दुःखे न जातु स सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात्परम् ॥ ३० ॥

जो पुरुष सदा पराये दुःखमें सुखी होता है, वह कभी भी सुख प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। दुःखका कभी नाश नहीं होता, एक दुःखसे दूसरा दुःख होता ही है ॥ ३० ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमिव स्पृशन्ति तस्माद्धीरो नैव हृष्येन्न कुप्येत् ॥ ३१ ॥

पर्याय क्रमसे सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि, जन्म और मरण संपूर्ण जीवोंको ही प्राप्त होते हैं; इससे धीर पुरुष उसमें क्रोधित वा आनन्दित नहीं होवे ॥ ३१ ॥

×

दीक्षां यज्ञे पालनं युद्धमाहुर्योगं राष्ट्रे दण्डनीत्या च सम्यक् ।
वित्तत्यागं दक्षिणानां च यज्ञे सम्यग्ज्ञानं पावनानीति विद्यात् ॥ ३२ ॥

युद्धमें जूझना ही यज्ञकी दीक्षाका पालन, राष्ट्रमें दण्डनीतिके प्रयोगको ही योग, यज्ञ आदि कर्मोंमें दक्षिणारूपसे धनका त्याग और यथार्थ ज्ञान ये कर्म पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझे ॥ ३२ ॥

रक्षन्राष्ट्रं बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वाल्लँलोकान्धर्ममूर्त्या चरंश्चाप्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

जो यज्ञ करनेवाले, महात्मा राजा अभिमानको त्यागकर बुद्धिके अनुसार नीतियुक्त होकर राज्यकी रक्षा, समस्त प्राणियोंके ऊपर धर्मयुक्त समदृष्टि रखकर सब लोकोंमें विचरता है, वह देहत्यागके पश्चात् स्वर्गलोकमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

जित्वा संग्रामान्पालयित्वा च राष्ट्रं सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च ।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३४ ॥

संग्रामोंको जीतकर, राष्ट्रका पालन कर, सोम पीकर और प्रजाओंको बढाकर दण्डनीति द्वारा प्रजाओंका उत्तम रीतिसे पालन करके युद्धमें मरकर स्वर्गलोकमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

सम्यग्वेदान्प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राष्ट्रं पालयित्वा च राजा ।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके ॥ ३५ ॥

यथा रीतिसे वेदोंका ज्ञान और शास्त्रोंको पढना, राष्ट्रका उत्तम पालन, चारों वर्णकी प्रजाको यथा रीतिसे स्वधर्ममें स्थापित करना इत्यादि कर्मोंको करके प्रजाके सुख समृद्धिकी उन्नति करते हुए जो राजा अपने मनको पवित्र करता है, वह अवश्य ही देवताओंके सङ्ग मिलके स्वर्गलोकमें परम सुख भोग करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः ।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ७४७ ॥

जिस राजाके परलोक गमन करनेके अनन्तर पुर तथा जनपदवासी समस्त प्रजा और राज्यके मंत्री सेवक लोग उसके चरित्रकी प्रशंसा करके नतमस्तक होते हैं; उसे राजाओंमें श्रेष्ठ समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छब्वीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ७४७ ॥

: २७ :

युधिष्ठिर उवाच—

अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च ।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले— बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पांचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, राजा द्रुपद, विराट् ॥ १ ॥

वसुषेण च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ च पार्थिवे ।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥

धर्मात्मा वसुषेण (कर्ण), राजा धृष्टकेतु और अनेक देशीय राजा भी इस युद्धमें मारे गये हैं ॥ २ ॥

न विमुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारकम् ॥ ३ ॥

मैंने राज्यलोभसे अत्यंत क्रूरतासे स्वजनोंका नाश करके इकबारगी अपने वंशका नाश किया है । यह सोचकर मैं शोक दुःखसे अत्यंत पीडित हुआ हूं ॥ ३ ॥

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम् ।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो विनिपातितः ॥ ४ ॥

जिन्होंने गोदीमें लेकर हम लोगोंको लाडप्यारसे पालन करके बडा किया था, मैंने राज्य-लोभसे उन गंगापुत्र भीष्म पितामहका भी वध किया है ॥ ४ ॥

यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः ।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्षमाणं शिखण्डिनम् ॥ ५ ॥

जब भीष्मको अर्जुनके वज्रके समान तीक्ष्ण बाणोंसे आहत हो कम्पित होकर मूर्च्छित होते हुए और शिखण्डी उन्हें देख रहा है यह देखा ॥ ५ ॥

जीर्णं सिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम् ।
कीर्यमाणं शरैस्तीक्ष्णैर्दृष्ट्वा मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥

उस समय सिंहके समान ऊंचे शरीरवाले पुरुषसिंह भीष्म पितामह प्रकाशमान तीक्ष्ण बाणोंसे परिपूर्ण होगये थे; उनकी वैसी दशा देखकर मेरे अन्तःकरणमें जैसा दुःख उत्पन्न हुआ था, उसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथादपच्युतं शरैः ।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥

विपक्षीय रथियोंको पीडित करनेवाले भीष्म पितामह रथके बीच पीडित होकर घूर्णायमान पर्वतकी भांति जब रथसे पूर्वकी ओर मुंह करके पृथ्वीपर गिरे थे; उस समय मैं मूर्च्छितसा हुआ था ॥ ७ ॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् ।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥

जिन कुरुकुलश्रेष्ठने धनुष बाण ग्रहण करके महायुद्धमें भृगुनन्दन परशुरामके सङ्ग कुरुक्षेत्रमें कई दिनोंतक युद्ध किया था ॥ ८ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः ।
कन्यार्थमाह्वयद्वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥

वाराणसीमें काशिराजकी कन्याओंके लिये जिन वीरने अकेले ही एकही रथसे वहांपर इकट्ठे हुए संपूर्ण क्षत्रियोंको युद्धके वास्ते आह्वान किया था ॥ ९ ॥

येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः ।
दग्धः शस्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥

जिनके अस्त्र-शस्त्रके प्रतापरूपी अग्निमें चक्रवर्त्ती राजा पराक्रमी उग्रायुध क्षण भरके बीच भस्म होगया; मैंने उन भीष्म पितामहका युद्धभूमिके बीच वध किया है ॥ १० ॥

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् ।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११ ॥

साक्षात् मृत्युरूपी जानके भी जिन्होंने पाञ्चालपुत्र शिखण्डीकी स्वयं ही रक्षा की, और उसे बाणोंसे नहीं गिराया, अर्जुनने वैसे महात्मा भीष्म पितामहका वध किया है ॥ ११ ॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् ।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मे मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

हाय ! क्या ही दुःखका विषय है ! हे मुनिसत्तम ! जबसे मैंने उनको रुधिरपूरित शरीरसे पृथ्वीपर गिरते देखा, उस समयसे मैं अत्यन्त शोकित होरहा हूं ॥ १२ ॥

येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः ।
स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ।
अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः ॥ १३ ॥

जिन्होंने बालक अवस्थामें पालन पोषण करके हम लोगोंको बडा किया और सब प्रकारसे हमारा रक्षा की; मैंने अस्थिर राज्य-लोभसे उनका वध किया है, इससे मैं तो अत्यन्त ही मूढ, गुरुघाती और पापी हूं, इससे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ।
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ॥ १४ ॥

इसके अतिरिक्त संपूर्ण राजाओंमें पूजनीय, युद्धभूमिमें स्थित महाधनुर्धारी आचार्य द्रोणाचार्यके समीप गमन करके मुझ पापीने उनके पुत्रके विषयमें "आपका पुत्र मारा गया" कहके मिथ्या वचन कहा था ॥ १४ ॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत ।
सत्यवाक्यो हि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः ।
सत्यं मा मर्शयन्विप्रो मयि तत्परिपृष्टवान् ॥ १५ ॥

उस मिथ्या वचन कहनेके पापसे मेरा संपूर्ण शरीर भस्म हुआ जाता है । गुरुने जब मुझसे ऐसा पूछा था, कि "हे राजन् ! मेरा पुत्र जीवित है, या नहीं, तुम सत्य कहो !" आचार्यने समझा था, कि युधिष्ठिर सत्य कहेगा, इसलिये उन्होंने मुझसे यह बात पूछी थी ॥ १५ ॥

कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ।
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १६ ॥

परन्तु मैं ऐसा पापी गुरुहत्यारा हूं, कि राज्य लोभके कारण उस समय सत्यको छिपाते हुए हाथीकी आड लेकर उनसे झूट कहा और धोखा किया ॥ १६ ॥

सत्यकञ्चुकमास्थाय मयोक्तो गुरुराहवे ।
अश्वत्थामा हत इति कुञ्जरे विनिपातिते ।
कान्नु लोकान्गमिष्यामि कृत्वा तत्कर्म दारुणम् ॥ १७ ॥

मैंने सत्यका वेश धारण करके, युद्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर स्पष्ट स्वरसे "अश्वत्थामा मारा गया" ऐसा वचन कह दिया । वह अत्यंत भयंकर कर्म करके मैं किन लोकोंमें जाऊंगा ? ॥ १७ ॥

अघातयं च यत्कर्णं समरेष्वपलायिनम् ।
ज्येष्ठं भ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः ॥ १८ ॥

युद्धमें पीछे न हटनेवाले महा पराक्रमी जेठे भाई कर्णका भी मैंने वध किया है; इससे मुझसे बढके अधिक पापी और कौन हो सकता है ? ॥ १८ ॥

अभिमन्युं च यद्बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ।
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ॥ १९ ॥

मैं ऐसा लोभी हूं, कि विजयकी लालसासे पर्वतोंपर उत्पन्न हुए सिंहके समान पराक्रमी सुभद्रा पुत्र अभिमन्युको द्रोणाचार्यसे रक्षित कौरव सेनाके चक्रव्यूहमें प्रवेश करनेकी अनुमति दी ॥ १९ ॥

तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ।
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ॥ २० ॥

अधिक क्या कहूं, भ्रूणहत्या करनेवाले पापी की भांति उस समयसे मैं पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्ण और अर्जुनके मुखकी ओर अच्छी प्रकार देखनेमें भी समर्थ नहीं होता हूं ॥ २० ॥

द्रौपदीं चाप्यदुःखार्हां पञ्चपुत्रविनाकृताम् ।
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव ॥ २१ ॥

उसी भांति पञ्चपर्वतोंसे रहित पृथ्वीकी भांति पांच पुत्रोंसे हीन अत्यन्त दुःखित द्रौपदी देवीकी ओर देखनेसे भी मैं शोकसे अत्यन्तही कातर होजाता हूं ॥ २१ ॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ।
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ २२ ॥

मैं पृथ्वीके संपूर्ण क्षत्रियों और गुरुजनोंका नाश करके अत्यन्त ही पापी तथा अपराधी हुआ हूं, इससे मैं इस स्थानमें बैठा हुआ प्रायोपवेशन अवलम्बन करके अपने शरीरको सुखा दूंगा ॥ २२ ॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमद्य मां गुरुघातिनम् ।
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ॥ २३ ॥

उपवास पर उतरे हुए मुझे गुरुकी हत्या करनेवाला समझें। ऐसा होनेसे दूसरे जन्मोंमें मैं फिर कुलका विनाश करनेवाला नहीं होऊंगा ॥ २३ ॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपयोक्ष्ये कथंचन ।
शोषयिष्ये प्रियान्प्राणानिहस्थोऽहं तपोधन ॥ २४ ॥

हे तपोधन ! आजसे मैं खाने-पीनेकी संपूर्ण वस्तुओंका त्याग करके यहां पर ही स्थित होके अपने प्रिय प्राणोंको सुखा दूंगा ॥ २४ ॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ।
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ॥ २५ ॥

मैं आपको प्रसन्न करके विनय पूर्वक कहता हूं, कि आप मुझे यह शरीर त्यागनेकी आज्ञा देकर अपने अभिलषित स्थान पर गमन कीजिये ॥ २५ ॥

वैशंपायन उवाच—

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ।
मैवमित्यब्रवीद्व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥ २६ ॥

वैशंपायन बोले— राजा युधिष्ठिर अपने बन्धु-बान्धवोंके वियोगसे अत्यन्त शोकित व विह्वल होके विलाप करने लगे; तब ऋषिसत्तम व्यासदेव उन्हें रोककर बोले; नहीं, ऐसा नहीं होगा ॥ २६ ॥

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ।
पुनरुक्तं प्रवक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ॥ २७ ॥

महाराज ! योग अवलम्बन करके प्राण त्याग मत करो, तुम्हें इस प्रकारसे शोकित होना उचित नहीं है; हे प्रभो ! मैं फिर तुम्हें कहता हूं, यह सब प्रारब्धका ही कार्य है ॥ २७ ॥

संयोगा विप्रयोगाश्च जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥ २८ ॥

जैसे पानीके बुलबुले पानीमेंही उत्पन्न होके कुछ समयके अनन्तर फिर उसहीमें लवलीन हो जाते हैं, वैसे ही जगत्में उत्पन्न हुए प्राणी मात्रका पहिले संयोग और पीछे वियोग निश्चयही हुआ करता है ॥ २८ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २९ ॥

सञ्चित वस्तुएं अन्तमें नाशमान् होती हैं, उन्नतिके अनन्तर अवनति होती रहती है; जन्मके अनन्तर मृत्यु होती है, सुख–संयोगके बाद दुःख–वियोग होता है; अधिक क्या कहूं, इस जगत्के बीच जितनी वस्तु उत्पन्न हुई हैं, वे सबही प्रगट होके पीछे नाशमान हो जाती हैं ॥२९॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः सिद्धिर्नादक्षे निवसन्त्युत ॥ ३० ॥

आलस सुखद लगता है, परन्तु उसका अन्त दुःख है और कार्यमें रत रहना दुःखद प्रतीत होता है, परंतु उससे सुखका उदय होता है। ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और सिद्धि आदि गुण आलसी मनुष्यमें कदापि नहीं रह सकते ॥ ३० ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय दुर्हृदः ।
न च प्रज्ञालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥ ३१ ॥

सुहृदपुरुष सुख देनेमें और दुष्ट दुःख देनेमें समर्थ नहीं हो सकता; बुद्धिसे धन और धनसे सुख भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३१ ॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु ।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशास्त्वमात्मना नृप ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ७७९ ॥

हे कुन्तीपुत्र राजन् ! विधाताने तुम्हें धर्म करनेके ही निमित्त उत्पन्न किया है, कर्म त्याग करनेमें तुम्हें अधिकार नहीं है; इससे धर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेसे ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी तुम स्वयंका नियंता नहीं हो ॥ ३२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २७॥ ७७९ ॥

: २८ :

वैशंपायन उवाच—

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः ।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— पाण्डवोंमें ज्येष्ठ राजा युधिष्ठिर स्वजनवियोग रूपी दुःखसे सन्तापित होकर प्राण त्याग करनेके अभिलाषी हुए; तब मुनिसत्तम व्यासदेव उनके शोकको दूर करनेमें प्रवृत्त होकर बोले ॥ १ ॥

व्यास उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

व्यास बोले— हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! अश्म गीत नामक एक प्राचीन इतिहासका विद्वान् लोग उदाहरण देते हैं, उसे सुनिये ॥ २ ॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः ।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकपरिप्लुतः ॥ ३ ॥

किसी समय विदेहराज जनकने शोक–दुःखसे अत्यन्त ही सन्तापित होके अश्मा नामक महाबुद्धिमान एक ब्राह्मणसे संशय निवारण करनेके निमित्त यह प्रश्न किया ॥ ३ ॥

जनक उवाच—

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च ।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥

जनक बोले— हे ब्रह्मन् ! स्वजन और धनकी बढती तथा नाश होनेके समय कल्याणकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको कैसा कार्य करना उचित है ? ॥ ४ ॥

अश्मोवाच—

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः ।
तानि तान्यभिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ५ ॥

अश्म बोले— मनुष्यके उत्पन्न होते ही सुख और दुःख आके उसके अनुगामी होते हैं । सुख–दुःख दोनोंका प्राप्त होना सम्भव रहता है ॥ ५ ॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद्यदेवोपसेवते ।
तत्तद्धि चेतनामस्य हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥

परन्तु उन दोनोंमेंसे जिस समय एककी अधिकता होती है, तब जैसे वायु बादलोंको छिन्न भिन्न कर देता है, वैसे ही वह मनुष्यकी चैतन्य शक्ति–ज्ञानको हर लेता है ॥ ६ ॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः।
इत्येवं हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यति ॥७॥

अभ्युदयके समय मनुष्य समझता है, कि मैं साधारण मनुष्य नहीं हूं, मैं श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, जो इच्छा करूं उसही कार्यको कर सकता हूं, इन तीन प्रकारके अभिमानमें मतवाला होके इक बारगी हिताहित विवेकसे रहित होता है ॥७॥

स प्रसिक्तमना भोगान्विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥८॥

इससे विषयभोगोंमें अत्यन्त ही आसक्त होके अपव्ययसे सम्पूर्ण पैतृक धनको नष्ट करके शीघ्र ही निर्द्धन होजाता है; उस समय पराया धन हरण करनेको भी वह उत्तम कार्य समझता है ॥८॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसांप्रतम्।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥९॥

अनन्तर जैसे व्याध मृग आदि पशुओंको अपने बाणोंसे रोकता है, वैसे ही राजा भी उस नियम उल्लंघन करनेवाले तथा पर धन हरनेवाले दुष्ट मनुष्यको दण्ड देते हैं ॥९॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥१०॥

हे राजन्! परन्तु जो वीस तथा तीस वर्षकी अवस्थाके मनुष्य इन दुष्कर्मोंमें रत हो जाते हैं, वे लोग प्रायः एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवित नहीं रह सकते ॥१०॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भेषजमादिशेत्।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥११॥

इससे राजाको सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतरी वृतान्त जानके दरिद्रता आदि दुःखोंसे पीडित प्रजाके क्लेशोंको बुद्धिकौशलसे दूर करनेका उपाय करना चाहिये ॥११॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥१२॥

"चित्तका विभ्रम और अनिष्ट-विषयकी प्राप्ति" इन दोनोंके सिवा वारवार मानसिक दुःख उत्पन्न होनेका तीसरा कोई कारण भी नहीं है ॥१२॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा सांस्पर्शकानि च ॥१३॥

भोगादिकोंसे अथवा अन्य विषयोंसे चाहे किसी भांतिसे अनेक प्रकारके दुःख क्यों न होवें सब इन्हीं दो कारणोंके अन्तर्गत हैं ॥१३॥

×

जरामृत्यू हि भूतानि खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥

इस जगत्के बीच बडे, छोटे, निर्बल, बलवान् आदि सब प्राणियोंको जरा और मृत्यु ये दोनों दो जम्बुकोंके समान आके भक्षण करते हैं ॥ १४ ॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू ह मानवः ।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुंधराम् ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने पराक्रमके प्रभावसे समुद्रके सहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जय कर सकता है, वह भी जरा-मृत्युको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् ।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥

सुख-दुःख उपस्थित होनेसे अभिमान रहित-विवश होकर उसे भोग करना ही उचित है, क्योंकि प्रारब्धके अनुसार जो कुछ उपस्थित होता है, वह अपरिहार्य अर्थात् अटल है ॥१६॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तमे वा नराधिप ।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै काङ्क्षिताश्च ततोऽन्यथा ॥ १७ ॥

हे महाराज ! देखिये, प्राणीमात्र ही अजर-अमर होनेकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु उसके विपरीत जरा, मृत्यु, उपस्थित होके किसीको बाल्य, किसीको युवा और किसीको वृद्धावस्थामें ग्रहण करती है; मृत्युके हाथसे कोई भी मुक्त नहीं होसकता ॥ १७ ॥

सुप्रियैर्विप्रयोगश्च संप्रयोगस्तथाऽप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥ १८ ॥

प्राणियोंको जन्म, मृत्यु, हानि, लाभ, प्रियवस्तुओंका संयोग वियोग, सुख, दुःख आदिक प्रारब्धके अनुसार ही होते हैं ॥ १८ ॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहन्यासस्तथैव च ।
प्राप्तिव्यायामयोगश्च सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

भूतोंकी उत्पत्ति एवं देहत्याग लाभ प्राप्ति तथा हानि आदि सब पहलेसे प्रारब्ध पर ही निश्चित है ॥ १९ ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः ।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥

इससे जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि स्वभावसे ही प्रकट होके अन्तमें निवृत्त हो जाते हैं; उस भांति मनुष्यका सुखदुःख भी प्रारब्धसे ही मिलते हैं ॥ २० ॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवन्त्युत ॥ २१ ॥

तथा जाना, उठना, खाना, पीना, बैठना, सोना, सुखदुःख इत्यादि समयानुसार प्राणियोंको प्रारब्धसे ही उत्पन्न होते हैं; और समय पूरा होनेसे नहीं रहते ॥ २१ ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तः सुदुर्बलाः ।
स्त्रीमन्तश्च तथा षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥

इस संसारमें वैद्य भी रोगी होते हैं, बलवान पुरुष निर्बल और स्त्रियोंसे युक्त मनुष्य नपुंसक हो जाते हैं, इससे कालकी गतिको अत्यन्त विचित्र जानना चाहिये ॥ २२ ॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं धैर्यमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥

बडे कुलमें जन्म, वीर्य-पराक्रम, निरोगता, धैर्य, सौभाग्य और उपभोग—ये सब भाग्यके अनुसार ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
बहूनामिच्छतां नास्ति समृद्धानां विचेष्टताम् ॥ २४ ॥

इस पृथ्वीपर इच्छा न रहनेसे भी दरिद्रोंको अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं; परन्तु समृद्धि युक्त पुरुषोंको प्रार्थना करनेपर भी एक पुत्र उत्पन्न नहीं होता ॥ २४ ॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षा श्वापदं विषम् ।
रज्ज्वा च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा ॥ २५ ॥

व्याधि, अग्नि, जल, भूख, प्यास, हिंस्र पशु, विष, रज्जु और उंचे स्थानसे गिरना— ये सब जीवको मृत्युके लिये ही हैं ॥ २५ ॥

निर्याणं यस्य यद्दिष्टं तेन गच्छति हेतुना ।
दृश्यते नाभ्यतिक्रामन्नतिक्रान्तो न वा पुनः ॥ २६ ॥

प्राणीके गमनके लिये प्रारब्ध तथा सुकृत दुष्कृत आदि कर्मोंके जो निमित्त नियत किया गया है उसीके द्वारा वह जाता है। कोई इसका उल्लंघन करता वा पहले भी किसीने इसका उल्लंघन किया है, ऐसा दिखाई नहीं देता ॥ २६ ॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन्वसुमान्नरः ।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जनाधिप ॥ २७ ॥

इस पृथ्वीपर धनवान् पुरुषको युवावस्थामें ही मृत्युके मुखमें पतित होते, और दरिद्र पुरुषको अत्यन्त क्लेशके सहित जरायुक्त होकर भी एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहते देखा जाता है ॥२७॥

अकिंचनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतंगवत् ॥ २८ ॥

धनहीन-दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषको भी पतङ्गकी भांति नष्ट होते देखा जाता है ॥ २८ ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां नराधिप ॥ २९ ॥

हे राजन् ! इस संसारके बीच श्रीमान् पुरुषोंको प्रायः ऐश्वर्य भोग करनेकी शक्ति नहीं होती है, परन्तु दरिद्रोंके पेटमें काष्ठ भी पच जाते हैं ॥ २९ ॥

अहमेतत्करोमीति मन्यते कालचोदितः ।
यद्यदिष्टमसंतोषाद्दुरात्मा पापमाचरन् ॥ ३० ॥

दुष्टात्मा पुरुष असंतोष भी निज सुखके लिये पापकार्योंका भी अनुष्ठान करता है तथा काल-प्रेरित होकर मैं यह करूंगा यह अभिमान करता है ॥ ३० ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं प्रसङ्गान्निन्दिता बुधैः ।
दृश्यन्ते चापि बहवः संप्रसक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥

मृगया, स्त्रियोंमें आसक्ति, जुआ, मद्यपान, व्यर्थप्रलाप, इन कई एक विषयोंको पण्डितोंने अत्यन्त निन्दित कहके वर्णन किया है; परन्तु बहुतसे शास्त्र जाननेवाले पुरुषोंको भी यहां इन संपूर्ण पापपुण्य विषयोंमें आसक्त होते देखा जाता है ॥ ३१ ॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानि च ।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥

ईप्सित वा अनीप्सित संपूर्ण विषय कालके प्रभावसे सब प्राणी प्राप्त करते ही हैं; इसमें अदृष्टके सिवा दूसरा कोई भी कारण नहीं बोध होता ॥ ३२ ॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षपे ।
ज्योतींषि सरितः शैलान्कः करोति बिभर्ति वा ॥ ३३ ॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, ज्योतिवाले पदार्थ नक्षत्र, नदी और पहाडोंको किसने उत्पन्न किया है; और कौन सबको धारण करता है ? अतएव काल ही सबको धारण करता, और कालके प्रभावसे ही समस्त वस्तु उत्पन्न होती है ॥ ३३ ॥

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस भांति सर्दी, गर्मी, वर्षा और मनुष्योंके सुख-दुःख कालके प्रभावसे ही प्राप्त होते हैं, और समयानुसार फिर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

नौषधानि न शास्त्राणि न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ ३५ ॥

जब मनुष्य जरा और मृत्युसे ग्रस्त होता है, उस समय औषधि, शास्त्र, होम, जप आदि कोई भी उसके परित्राण करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यतीयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ३६ ॥

जैसे महासागरमें दो काष्ठके टुकडे दो ओरसे आके एक स्थानमें मिल जाते हैं; और समयके अनुसार फिर अलग अलग होजाते हैं; वैसे ही प्राणियोंका भी समयके अनुसार संयोग–वियोग होता रहता है ॥ ३६ ॥

ये चापि पुरुषैः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥

जो पुरुष उत्तम स्त्रियोंके बीचमें रहके गीतवाद्य आदिक सुखोंको भोगते रहते हैं, और जो पराये अन्नके आसरे जीवन धारण करनेवाले अनाथ पुरुष हैं; काल दोनोंके सङ्ग समान व्यवहार करता है, अर्थात् वे कोई भी मृत्युके मुखसे छुटकारा नहीं पा सकते ॥ ३७ ॥

मातृपितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥

इस संसारमें माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदिक सैकडों तथा सहस्रों भांतिके संबन्ध दीख पडते हैं; परन्तु विचारपूर्वक देखनेसे वे लोग किसके माता, पिता हैं; और हम लोग ही किसके आत्मीय बान्धव हैं ॥ ३८ ॥

नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि संगतमेवेदं दारबन्धुसुहृद्गणैः ॥ ३९ ॥

कोई भी इस आत्माका आत्मीय नहीं है और न यह आत्मा किसीका आत्मीय बन्धु होसकता है । जैसे पथिक मार्गमें गमन करते हुए थोडे समयके वास्ते एक स्थानपर इकट्ठे विश्राम करके फिर यथायोग्य स्थानपर गमन करते हैं, इस संसारमें स्त्री, पुत्र और स्वजनोंकी सङ्गति भी उसी भांति समझनी चाहिये ॥ ३९ ॥

क्वासं क्वास्मि गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात्कमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ।
अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ॥ ४० ॥

मैं कौन हूं, कहां हूं, और कहां जाऊंगा । किस कारण इस संसारमें स्थित हूं, और क्यों शोक वा दुःख करता हूं ? ” ज्ञानी पुरुषको मनमें ऐसा विचार करना चाहिये, कि चक्रकी भांति घूमनेवाले संसारके बीच प्रियजनोंका एकत्र वास अनित्य है ॥ ४० ॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४१ ॥

ज्ञान और कल्याणकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको शास्त्र-विधिके अनुसार परमार्थ विषयमें श्रद्धा करनी उचित है उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ! देखिये, पण्डित लोग विना देखे ही परलोकके संपूर्ण विषयोंको जानते हैं ॥ ४१ ॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत् ।
यजेच्च विद्वान्विधिवत्त्रिवर्गं चाप्युनुव्रजेत् ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको भी देवताओंकी पूजा पितरोंका और श्राद्ध करे; धर्मकार्योंका अनुष्ठान तथा यज्ञ करे और शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार त्रिवर्गसेवन अर्थात् धर्म, अर्थ, काम आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित ॥ ४२ ॥

संनिमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४३ ॥

जरा और मृत्यु रूपी बडे ग्राहसे युक्त कालरूपी समुद्रमें जो यह जगत् डूब रहा है, उसे कोई भी नहीं मालूम करता ॥ ४३ ॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहम् ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥ ४४ ॥

कितने ही वैद्य केवल आयुर्वेदको पढके भी परिवारके सहित व्याधिसे ग्रस्त होते हुए देखे जाते हैं ॥ ४४ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४५ ॥

जैसे समुद्रका वेग तटको उल्लङ्घन नहीं कर सकता, वैसे ही वे लोग कडवे काढे और नाना भांतिके घृत आदिक औषधि सेवन करके भी किसी प्रकार मृत्युको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ४५ ॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४६ ॥

जैसे हाथी पर्वतोंपर निवास करके भी कभी कभी मतवाले होकर अपने दांतोंसे पर्वत तोडनेकी इच्छा करते हैं, वैसे ही रसायनिक तथा वैद्यक विद्याके जाननेवाले पण्डित लोग शरीररक्षाके निमित्त भली भांति रसायन प्रयोग करके भी प्रायः जरा-मृत्युसे ग्रस्त होते दीख पडते हैं ॥ ४६ ॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४७ ॥

इसी भांति शास्त्रोंके अध्ययनमें रत, दाता, यज्ञशील, और तपस्वी विद्वान् पुरुष भी जरा-मृत्युको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ४७ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४८ ॥

उत्पन्न हुए सभी प्राणियोंके विषयमें दिन–रात्रि, वर्ष, महीना, पक्ष, आदि जो व्यतीत हो जाते हैं, वे फिर लौटके नहीं आते ॥ ४८ ॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ४९ ॥

इससे अनित्य शरीरवाले मनुष्योंको कालसे विवश होकर समय पूर्ण होनेकी इच्छा न रहनेपर भी अवश्य ही संपूर्ण प्राणियोंके गमन करनेवाले चिरनिश्चित उस महापथसे ही गमन करना पडता है ॥ ४९ ॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः ।
पथि संगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५० ॥

शीघ्र ही जीवसे देहकी उत्पत्ति होती है, वा देहसे जीवकी हो जाती है। जो हो, जगत्के बीच स्त्री–पुत्र वा अन्य बन्धुवर्गोंकी जो संगति है, वह मार्गमें निवास करनेवाले पथिकोंकी भांति है ॥ ५० ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५१ ॥

इस जगत्में कोई कदापि एक एक संग सदा सर्वदा निवास नहीं कर सकता, जब कि निज शरीरहीके साथ जीवके चिर सहवासलाभकी संभावना नहीं है; तब दूसरेके साथ सदा एक संग सहवास कैसे स्थिर रह सकता है ? ॥ ५१ ॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन्क्व नु तेऽद्य पितामहः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च ॥ ५२ ॥

हे राजन् ! इस समय तुम्हारे पिता वा पितामह आदि पितर कहां हैं ? इस समय वे लोग तुम्हें नहीं देखते हैं, और तुम भी उन लोगोंको नहीं देख सकते ॥ ५२ ॥

न ह्येव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य वा ।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५३ ॥

हे राजेन्द्र ! स्वर्ग और नरकको कोई भी पुरुष नहीं देख सकता; परन्तु शास्त्र ही पण्डितोंके नेत्र स्वरूप हैं; इससे तुम उसके अनुसार इस संसार यात्राका निर्वाह करो ॥ ५३ ॥

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च ।
पितृदेवमहर्षीणामानृण्यायानसूयकः ॥ ५४ ॥

इस संसारमें जन्म लेनेके अनन्तर देवता, पितर और ऋषियोंके ऋणको चुकानेके निमित्त असूयारहित होके पहिले ब्रह्मचर्यका पालन करके फिर गृहस्थाश्रमका स्वीकार कर, सन्तान उत्पन्न करे तथा यज्ञ करे ॥ ५४ ॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः प्राग्ब्रह्मचारी प्रविभक्तपक्षः ।
आराधयन्स्वर्गमिमं च लोकं परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥ ५५ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर, संतानोंत्पादनके लिये दारपरिग्रह करे; नेत्रोंको वियुक्त रखे और इह लोक तथा परलोकके भोगोंकी आशा छोडकर, हृदयके दुःखको दूर करके यज्ञादिकोंका अनुष्ठान करके परमेश्वरकी आराधना करे ॥ ५५ ॥

सम्यग्धि धर्मं चरतो नृपस्य द्रव्याणि चाप्याहरतो यथावत् ।
प्रवृत्तचक्रस्य यशोऽभिवर्धते सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५६ ॥

धर्मकार्योंको समान रूपसे साधन करके जो राजा शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार कर ग्रहण करता है; उस धर्म स्थापित करनेवाले धार्मिक राजाका यश समस्त लोकोंमें विख्यात होता है ॥ ५६ ॥

व्यास उवाच—

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः ।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धिर्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ॥ ५७ ॥

व्यास बोले— शुद्ध बुद्धिवाले विदेह राज जनक इसी भांति हेतु पूरित संपूर्ण उपदेश वचनोंको सुन कर शोक रहित हुए और अश्म ऋषिको आमन्त्रण करके अपने घर लौट आये ॥५७॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोकमुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि ।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मा विषादीः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ ८३७ ॥

हे अच्युत युधिष्ठिर ! तुम इन्द्रके समान पराक्रमी हो, इससे शोक त्याग कर तुम्हें हर्षित होना उचित है । तुमने क्षत्रिय–धर्मके अनुसार इस पृथ्वीका जय किया है, इस समय अब संपूर्ण पृथ्वीके राज्यको भोग करो ! हे कुन्तीपुत्र ! तुम थोडा भी विषाद मत करो ॥५८॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ ८३७ ॥

: २९ :

वैशंपायन उवाच—

अव्याहरति कौन्तेये धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले— जब कुन्तीपुत्र धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने वेदव्यासके उपदेश वचनोंको सुनके भी कुछ उत्तर नहीं दिया, तब पाण्डुपुत्र गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश श्रीकृष्णसे यह वचन बोले ॥ १ ॥

ज्ञातिशोकाभिसंतप्तो धर्मराजः परंतपः ।
एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥

हे माधव ! शत्रुनाशन धर्मराज महाराज युधिष्ठिर ज्ञाति वधके शोकसे अत्यन्त ही दुःखित हुए हैं; इससे आप शोक रूपी समुद्रमें डूबते हुए राजा युधिष्ठिरको प्रबोधित कीजिये ॥ २ ॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे जनार्दन ! हम सब लोग फिर संशयमें पडे हैं; अतः हे महाबाहो ! इनके शोकको आप नष्ट कीजिए ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥

जब महात्मा अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा, तब पुण्डरीकाक्ष अच्युत श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिरको धीरज धारण करानेमें प्रवृत्त हुए ॥ ४ ॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात्प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण बालक अवस्थासे ही धर्मराज युधिष्ठिरके अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे, इससे उनके वचनको राजा युधिष्ठिर अवश्य ही अनुल्लंघनीय मानते थे ॥ ५ ॥

संप्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरके चन्दनचर्चित शैलस्तम्भके समान भुजाको ग्रहण करके उत्तम वचनसे उनके चित्तको प्रसन्न करने लगे ॥ ६ ॥

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्यविबोधितम् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य उदय होने पर कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही वचन बोलनेके समयमें श्रीकृष्णके सुन्दर दर्शन, उत्तम दन्तपंक्तिसे युक्त मुख, नेत्र और शरीरको शोभा हुई ॥ ७ ॥

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन्रणाजिरे ॥ ८ ॥

हे पुरुष शार्दूल महाराज ! जो लोग कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये हैं, उन लोगोंके फिर प्राप्त होनेकी किसी प्रकारसे भी अब सम्भावना नहीं है, इससे आप शरीरको सुखानेवाले शोकका परित्याग कीजिये ॥ ८ ॥

×

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन्ये व्यतीता महारणे ॥ ९ ॥

राजन् ! जैसे सपनेमें प्राप्त हुई वस्तु जागनेके अनन्तर नहीं दीख पडती, उसी तरह इस महायुद्धमें जो क्षत्रिय मारे गये हैं, उनका भी अब दर्शन अशक्य है ॥ ९ ॥

सर्वे ह्यभिमुखाः शूरा विगता रणशोभिनः ।
नैषां कश्चित्पृष्ठतो वा पलायन्वापि पातितः ॥ १० ॥

वे समरमें शोभायमान शूरवीर पुरुष सब ही युद्धभूमिमें सम्मुख संग्राम करके एक दूसरेके हाथसे मारे गये; उनके बीच कोई भी पुरुष पीठ दिखाके अथवा भागते हुए नहीं मारा गया ॥ १० ॥

सर्वे त्यक्त्वात्मनः प्राणान्युद्ध्वा वीरा महाहवे ।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥

वे सब ही वीर महायुद्धमें शत्रुओंके सङ्गके युद्ध करके अस्त्रशस्त्रोंसे पवित्र होकर स्वर्ग लोकमें गये हैं, इससे उन लोगोंके निमित्त आप शोक न कीजिये ॥ ११ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सृञ्जयं पुत्रशोकार्तं यथायं प्राह नारदः ॥ १२ ॥

इस विषयमें देवऋषि नारदने एक प्राचीन इतिहास कहा था, उसे सुनिये। पुत्र शोकसे आर्त्त हुए सृञ्जय राजाको नारद मुनिने यह उपदेश किया था ॥ १२ ॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय ।
अविमुक्तं चरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ॥ १३ ॥

हे सृञ्जय ! तुम, मैं और ये सब प्रजा कोई भी सुख-दुःखसे छुटकारा नहीं पा सकते और हम सब लोगोंको ही एक दिन मरना होगा; तब विलाप करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥१३॥

महाभाग्यं परं राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ।
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ॥ १४ ॥

मैं तुम्हारे समीप पहिले समयके राजाओंका परम महाभाग्यका वर्णन करता हूं; उसे चित्त लगाके पूर्णरीतिसे सुननेसे ही तुम्हारा शोक नष्ट होजावेगा ॥ १४ ॥

मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव तु महीपतीन् ।
श्रुत्वापनय सन्तापं शृणु विस्तरशश्च मे ॥ १५ ॥

मरे हुए उन महातेजस्वी राजाओंके वृत्तान्तको मुझसे सुनकर तुम अपने शोक सन्तापका परित्याग करो, और मुझसे विस्तारपूर्वक उनका परिचय सुनो ॥ १५ ॥

आविक्षितं मरुत्तं मे मृतं सृञ्जय शुश्रुहि ।
यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः ।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १६ ॥

हे सृञ्जय ! तुमने सुना होगा कि अविक्षितके पुत्र मरुत् नामक एक विख्यात राजा हुए थे; परन्तु वह भी परलोक गये हैं। जिस महात्मा मरुत्त राजाके विश्वसृक् अर्थात् सर्वस्वदान नामक यज्ञमें देवताओंके गुरु बृहस्पति प्रमुख इन्द्र और वरुण आदि देवता उपस्थित हुए थे॥१६॥

यः स्पर्धामनयच्छक्रं देवराजं शतक्रतुम् ।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान्प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ।
संवर्तो याजयामास यं पीडार्थं बृहस्पतेः ॥ १७ ॥

और जिन्होंने अहङ्कार—स्पर्धापूर्वक देवराज इन्द्रको युद्धभूमिमें पराजित किया था; जिनके यज्ञानुष्ठानके समय विद्वान् बृहस्पतिने इन्द्रकी प्रियकामनासे जिसे मरुत्त राजाको यह कहकर कि मैं तुम्हारे यज्ञमें न जा सकूंगा, लौटा देने पर बृहस्पतिके ही कनिष्ट भ्राता सम्वर्तने जिनके यज्ञको पूर्ण कराया था ॥ १७ ॥

यस्मिन्प्रशासति सतां नृपतौ राजसत्तम ।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ १८ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! जिनके शासन समयमें पृथ्वी राजविभवसे शोभित होकर विना हलसे जोते ही शस्य उत्पन्न करती थी। सब पृथ्वी देवमंदिरोंकी मालासे परिपूर्ण दीखती थी ॥ १८ ॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वे देवाः सभासदः ।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन्महात्मनः ॥ १९ ॥

महात्मा मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेव सभासद, साध्यलोग तथा मरुत् परिवेष्टा परोसनेवाले हुए थे ॥ १९ ॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत्सोममपिबन्त ते ।
देवान्मनुष्यान्गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २० ॥

और उन मरुद्गणोंने आकर यज्ञमें बहुत सोमरसका पान किया था। दक्षिणा देनेमें जो राजा देवता, गन्धर्व और मनुष्योंसे भी बढ गये थे ॥ २० ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २१ ॥

जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे; हे सृञ्जय ! जब ऐसे गुणोंसे युक्त महात्मा मरुत्तराजाने भी परलोकमें गमन किया है; तब तुम्हें पुत्रके निमित्त शोक करना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

सुहोत्रं चेद्वैतिथिनं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्मै हिरण्यं ववृषे मघवान्परिवत्सरम् ॥ २२ ॥

हे सृञ्जय ! वैतिथि सुहोत्र नामक एक विख्यात राजा थे, उन्हें भी परलोकमें गमन करना पडा, ऐसा हमने सुना है । उन सुहोत्र राजाके राज्यमें इन्द्रने एक वर्षपर्यन्त लगातार सुवर्ण-की वर्षा की थी ॥ २२ ॥

सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिप ।
हिरण्यमवहन्नद्यस्तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ २३ ॥

हे नरपति ! सुहोत्रको पाकर पृथ्वी "वसुमती" नामसे विख्यात हुई थी । उनके राज्य-शासनके समयमें संपूर्ण नदियां जलके साथ सुवर्ण बहाती थीं ॥ २३ ॥

कूर्मान्कर्कटकान्नक्रान्मकराञ्छिशुकानपि ।
नदीष्वपातयद्राजन्मघवा लोकपूजितः ॥ २४ ॥

राजन् ! उसका कारण यह है कि उन दिनों लोकपूजित इन्द्रने पृथ्वीकी सब नदियोंमें सोनेके बने हुए कूर्म, कर्कट, नक्र, घडियाल और शिशुमारकी वर्षा की थी ॥ २४ ॥

हैरण्यान्पतितान्दृष्ट्वा मत्स्यान्मकरकच्छपान् ।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयत वैतिथिः ॥ २५ ॥

अधिक क्या कहा जावे, उन सैंकडों तथा सहस्रों मत्स्य, मकर और कच्छप आदि स्वर्णमय जलजन्तुओंको गिराया देखकर राजा सुहोत्र स्वयं विस्मित हुए थे ॥ २५ ॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृत्तं कुरुजाङ्गले ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! वह अनन्त सुवर्णराशि कुरुजांगलमें बिछायी गयी थी; अनन्तर तत्पर राजा सुहोत्रने कुरुजाङ्गलमें यज्ञ आरंभ करके उस असीम सुवर्णके ढेरको ब्राह्मणोंको दान किया था ॥ २६ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अदक्षिणमयज्वानं श्वैत्य संशाम्य मा शुचः ॥ २७ ॥

वह महात्मा सुहोत्र राजा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु वह भी मृत्युके ग्रासमें पतित हुए हैं । इससे तुम दान और यज्ञसे रहित अपने पुत्रके लिये शोक मत करो, शान्त हो जाओ ॥ २७ ॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ॥ २८ ॥

हे सृञ्जय ! अंगराज बृहद्रथकी भी मृत्यु हुई थी ऐसा हमने सुना है । जिसने दस लाख श्वेत घोडे छोडे थे ॥ २८ ॥

सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः ।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥ २९ ॥

जिन्होंने विष्णुपदगिरि पर यज्ञमें दीक्षित होकर रत्नादिसे भूषित दस लाख कन्यायें दक्षिणा रूपमें प्रदान की थीं ॥ २९ ॥

शतं शतसहस्राणां वृषाणां हेममालिनाम् ।
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ३० ॥

जिसने एक करोड सुवर्णमालासे भूषित गाय, वृषभ और उनके हजारों सेवक दक्षिणामें दिये थे ॥ ३० ॥

अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ३१ ॥

विष्णुपद पर्वतपर यजमान अङ्गके यज्ञोंमें सोमरस पान करके देवराज इन्द्र और ददिणा पाये हुए धनके मदसे एकबारही ब्राह्मण लोग मतवाले हुए थे ॥ ३१ ॥

यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुनः ।
देवान्मनुष्यान्गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! जिसके सैंकडों यज्ञोंमें वारबार दक्षिणा देनेमें जो देवता, गन्धर्व और मनुष्योंसे बढ गये थे ॥ ३२ ॥

न जातो जनिता चान्यः पुमान्यस्तत्प्रदास्यति ।
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ॥ ३३ ॥

जिन यज्ञोंमें सोमपानकी विधि है, उन अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम इन सात सोमसंस्थान नामक यज्ञोंमें अङ्गराजने जिस प्रकार धनदान किया था, उस प्रकार धन दान करनेवाला कोई पुरुष इस पृथ्वीपर न हुआ, न होगा ॥३३॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३४ ॥

हे सृञ्जय ! वह अङ्गराज धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी कालके ग्रासमें पतित हुए हैं; इससे तुम पुत्रके वास्ते क्यों शोक करते हो ? ॥ ३४ ॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां चर्मवत्समवेष्टयत् ॥ ३५ ॥

हे सृञ्जय ! उशीनरपुत्र महाराज शिविकी भी मृत्यु हुई है । जिन्होंने इस पृथ्वीको शरीर तोपनेवाले चमडेकी भांति हस्तगत किया था ऐसा हमने सुना है ॥ ३५ ॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ।
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ॥ ३६ ॥

जिन्होंने एकही जयशील रथपर चढके रथके वडे शब्दसे चारों ओर गुंजाकर संपूर्ण राजाओंको पराजित करके पृथ्वीको एकछत्रके अधीन किया था ॥ ३६ ॥

यावदद्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ।
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ॥ ३७ ॥

और आज जगत्में जितने जङ्गली और पालत गौ, घोडे आदि पशु हैं, उतनी संख्यामें उशीनर पुत्र शिविने अपने यज्ञमें गौओंका दान किया था ॥ ३७ ॥

नद्यन्तारं धुरं तस्य कंचिन्मेने प्रजापतिः ।
न भूतं न भविष्यन्तं सर्वराजसु भारत ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद्राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ३८ ॥

हे भारत ! अधिक क्या कहा जावे; प्रजापति ब्रह्माने उस समय समस्त भूत और भविष्य-कालके राजाओंके बीच इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उशीनरपुत्र राजऋषि शिविके अतिरिक्त और किसीको भी राज्यभार ग्रहण करनेके योग्य नहीं समझा था ॥ ३८ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अदक्षिणमयज्वानं तं वै संशाम्य मा शुचः ॥ ३९ ॥

देखिये, वह महात्मा शिवि राजा धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु ऐसे गुणोंसे युक्त महात्मा शिवि राजाकी मृत्यु हुई है, तब तुम दान और यज्ञसे रहित अपने पुत्रके निमित्त शोक मत करो ! शांत हो जाओ ॥ ३९ ॥

भरतं चैव दौःषन्तिं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
शाकुन्तलिं महेष्वासं भूरिद्रविणतेजसम् ॥ ४० ॥

हे सृञ्जय ! महा ऐश्वर्य और तेजसे युक्त शकुन्तलाके गर्भसे उत्पन्न हुए दुष्यन्त पुत्र महाधनु-र्धारी महात्मा भरत भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमने सुना था ॥ ४० ॥

यो बद्ध्वा त्रिंशतो ह्यश्वान्देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश ॥ ४१ ॥

देवताओंकी प्रीतिकी अभिलाषासे यमुनाके तीरपर तीन सौ, सरस्वती नदीके किनारे बीस, गङ्गाके तीरपर चौदह ॥ ४१ ॥

अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान्स महातेजा दौःषन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४२ ॥

इत्यादि इसी भांति जिस महातेजस्वी राजा भरतने पहले क्रमसे एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ४२ ॥

भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥ ४३ ॥

जैसे मनुष्य बाहुबलके सहारे आकाशमें गमन करनेमें समर्थ नहीं होते, उसी भांति पृथ्वीके कोई राजा भी महाराज भरतके कर्मोंके अनुगामी होनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ४३ ॥

परं सहस्राद्यो बद्ध्वा हयान्वेदीं विचित्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४४ ॥

अधिक क्या कहा जावे, उस महात्मा राजा भरतने अनगिनत यज्ञवेदी आरम्भ करके उनमें एक सहस्रसे अधिक अर्बुद घोडे बांधे और एक सहस्र सुवर्णके बने हुए कमल कण्व मुनिको दान किये थे ॥ ४४ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४५ ॥

हे सृंजय ! वह धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु उन्होंने भी शरीर त्याग किया है; इससे तुम अपने पुत्रके वास्ते व्यर्थ शोक मत करो ॥ ४५ ॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥ ४६ ॥

हे सृञ्जय ! राजा दशरथके पुत्र महात्मा रामचन्द्रने भी शरीर त्याग किया है, ऐसा सुननेमें आया है । जिन्होंने सदा प्रजाको अपने औरस पुत्रोंके समान पालन किया था; ॥ ४६ ॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन् ।
सर्वस्यासीत्पितृसमो रामो राज्यं यदान्वशात् ॥ ४७ ॥

अपने राज्यशासनके समयमें वे अपनी प्रजाके लिये सदा पिता दशरथके समान कृपालु थे । और अधिक क्या कहा जावे, रामचन्द्रके राज्यशासनके समयमें कोई स्त्री विधवा नहीं थीं, न कोई अनाथ ही दीख पडते थे ॥ ४७ ॥

कालवर्षाश्च पर्जन्याः सस्यानि रसवन्ति च ।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ४८ ॥

यथा समयपर मेघ जलकी वर्षा करते थे; स्वादु अन्न भी यथा समय पर उत्पन्न होते थे; इससे उनके राज्य शासनके समयमें सदा सुकाल ही रहता था; किसी भांति दुर्भिक्ष नहीं उपस्थित हुआ था ॥ ४८ ॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथें पावकोऽदहत् ।
न व्यालजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ४९ ॥

रामके शासनमें किसीकी जलमें डूबके वा अग्निमें अनुचित रूपसे भस्म होके मृत्यु नहीं हुई थी, और साप आदि प्राणियोंका भी भय नहीं था ॥ ४९ ॥

आसन्वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिकाः ।
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः प्रजा रामे प्रशासति ॥ ५० ॥

रामचन्द्रके राज्यशासनके समय सब प्राणी सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवित रहते, और सहस्र पुत्रवाले होते थे, और सबके अभिलषित मनोरथ सिद्ध होते थे, रोग रहित होके समय व्यतीत करते थे ॥ ५० ॥

नान्योन्येन विवादोऽभूत्स्त्रीणामपि कुतो नृणाम् ।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५१ ॥

उनके राज्यमें पुरुषोंकी बात तो दूर है, स्त्रियां भी आपसमें विवाद करनेमें प्रवृत्त नहीं होती थीं । इस प्रकार रामके शासनमें सब कोई धर्ममें रत रहता था ॥ ५१ ॥

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः ।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५२ ॥

श्रीरामके राज्य शासनकालमें वृक्ष बिना किसी विघ्नके सदा फूलफलोंसे युक्त रहते थे और सब गौएं घडे परिमाण दूध देती थीं ॥ ५२ ॥

स चतुर्दश वर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः ।
दशाश्वमेधाञ्जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥ ५३ ॥

उस महातपस्वी श्रीरामचन्द्रने पिताके सत्यको पालन करनेके वास्ते चौदह वर्ष पर्यन्त वनमें निवास करके फिर राज्य शासनके समयमें दक्षिणासे युक्त दस स्तुतिके योग्य अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किये थे और याचकोंके लिये मुक्त द्वार था ॥ ५३ ॥

श्यामो युवा लोहिताक्षो मत्तवारणविक्रमः ।
दश वर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत् ॥ ५४ ॥

लाल नेत्रवाले श्याम सुन्दर युवा रामचन्द्र हाथीके समान बलवान तथा पराक्रमी थे। महात्मा रामचन्द्रने दस हजार वर्ष पर्यन्त निर्विघ्नताके सहित अयोध्यामें राज्य किया था ॥ ५४ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५५ ॥

सृञ्जय ! वह धर्म, अर्थ, वैराग्य और ज्ञान इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; उन्हें भी मनुष्य लीला समाप्त कर इस लोकको त्यागके परलोकमें गमन करना पडा, तब तुम्हें पुत्रके निमित्त शोक करना उचित नहीं है ॥ ५५ ॥

भगीरथं च राजानं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ५६ ॥

हे सृञ्जय ! पहिले भगीरथ नामक एक बडे राजा हुए थे, उन्हें भी मृत्यु मुखमें पतित होना पडा, ऐसा हमने सुना है । जिसके विस्तृत यज्ञमें सोमरस पान करके सुरसत्तम भगवान् पाकशासन इन्द्रने मतवाले हाथीकी भांति मत्त होके ॥ ५६ ॥

असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः ।
अजयद्बाहुवीर्येण भगवान्पाकशासनः ॥ ५७ ॥

अपने बाहुबलके सहारे हजारों असुरोंको पराजित किया था ॥ ५७ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ५८ ॥

उन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें सोनेके आभूषणोंसे भूषित करके दस लाख कन्याओंका दक्षिणारूपमें दान किया था ॥ ५८ ॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः ।
रथे रथे शतं नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ५९ ॥

वे सब कन्याएं चार घोडोंसे युक्त एक एक स्वतंत्र रथपर बैठी हुई थीं; हर एक रथके साथ सुवर्ण मालाओंसे सुशोभित कमलके चिन्होंसे युक्त सौ हाथी थे ॥ ५९ ॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६० ॥

हर एक हाथीके पीछे एक हजार घोडे नियुक्त थे, हर एक घोडेके सङ्ग एक हजार गऊ, और एक एक गायके साथ सहस्र बकरे और सहस्र मेढे थे ॥ ६० ॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह ।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी ह्यभवत्पुरा ॥ ६१ ॥

अधिक क्या कहा जावे, पहाड की गुफामें रहनेवाले जिसकी गोदमें गंगा आकर बैठी थी और उसी कारण जो भागीरथी और उर्वशीके नामसे पहले प्रसिद्ध हुई ॥ ६१ ॥

×

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम्।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥ ६२ ॥

बहुत दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशीय यजमान भगीरथकी तीनों लोकोंमें जानेवाली वह गंगा पुत्री बनी ॥ ६२ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६३ ॥

हे सृञ्जय ! वह धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे तथा तुम्हारे पुत्रसे श्रेष्ठ तथा अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी कालके ग्राससे मुक्त होनेमें समर्थ न हुए, इससे तुम यज्ञ और दक्षिणासे हीन अपने पुत्रके निमित्त वृथा शोक मत करो ॥ ६३ ॥

दिलीपं चैवैलविलं मृतं शुश्रुम सृञ्जय।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥ ६४ ॥

हे सृंजय ! महात्मा ऐलविल दिलीप राजा भी मरे थे, ऐसा हमने सुना है; उनके अनेक उत्तम कर्म और कीर्तिकी कथाको ब्राह्मण लोग आज तक गाया करते हैं ॥ ६४ ॥

इमां वै वसुसंपन्नां वसुधां वसुधाधिपः।
ददौ तस्मिन्महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ६५ ॥

शान्त चित्तवाले उन नरेशने महायज्ञका अनुष्ठान करके रत्न और धनसे पूरित इस पृथ्वीको ब्राह्मणोंको दान किया था ॥ ६५ ॥

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः।
सहस्रं वारणान्हैमान्दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ६६ ॥

जिस यजमानके हर एक यज्ञमें पुरोहित ब्राह्मणको एक सहस्र सुवर्णमय हाथी दक्षिणामें प्राप्त हुए थे ॥ ६६ ॥

यस्य यज्ञे महानासीद्यूपः श्रीमान्हिरण्मयः।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ६७ ॥

जिसके यज्ञमें तेजोमय विशाल यूप स्तम्भ भी सुवर्णमय था; अधिक क्या कहा जावे, उस समय इन्द्र आदि देवताओंने भी आदिष्ट कार्योंको पूर्ण करके उसी यूपका आश्रय लिया था ॥ ६७ ॥

चषालो यस्य सौवर्णस्तस्मिन्यूपे हिरण्मये।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट्सहस्राणि सप्तधा ॥ ६८ ॥

और उनके यज्ञ मण्डपके हिरण्यमय यूप–स्तम्भके चषाल–घेरा–पर छः हजार देवता गन्धर्व इकट्ठे होकर नाचते थे ॥ ६८ ॥

अवादयत्तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ६९ ॥

और स्वयं विश्वावसु बीचमें बैठके बीन बजाते थे । जिस बीनके बाजेको सुनकर समस्त श्रोताओंने समझा था, कि ये मुझे ही लक्ष्य करके बीन बजा रहे हैं ॥ ६९ ॥

एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यत्स्त्रियो हेमसंपन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ ७० ॥

पृथ्वीके कोई भी राजा महाराज दिलीपके इस कार्यके अनुकरण करनेमें समर्थ न हुए । राजा दिलीपके ऐश्वर्यकी बात क्या कहूं, सुवर्ण भूषणोंसे भूषित मतवाली स्त्रियां मदमत्त होकर मार्ग ही में शयन करती थीं ॥ ७० ॥

राजानमुग्रधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ।
येऽपश्यन्सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥ ७१ ॥

अधिक क्या कहूं, उस अग्रधन्वा सत्यवादी महात्मा महाराज दिलीपका जिन मनुष्योंने दर्शन किया था, वे भी स्वर्गभागी हुए ॥ ७१ ॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने ।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति चैव हि ॥ ७२ ॥

जिस राजा दिलीपके राजभवनमें सदा सर्वदा धनुष टङ्कार युक्त वीरोंके सिंहनाद, वेदध्वनि और " देहि देहि " ये तीन भांतिके शब्द क्षण भरके वास्ते भी नहीं बन्द होते थे ॥७२॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७३ ॥

सृञ्जय ! राजा दिलीप धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु उन्हें भी इस लोकको त्यागना पडा; इससे अब तुम पुत्रके वास्ते शोक मत करो ॥ ७३ ॥

मांधातारं यौवनाश्वं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ७४ ॥

हे सृञ्जय ! युवनाश्वपुत्र महाराज मान्धाता भी मृत हो गये, यह हमने सुना है; उसको मरुत् देवताओंने गर्भावस्थामें पिताके पार्श्वभागको फाडकर निकाला था ॥ ७४ ॥

संवृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः ।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ७५ ॥

[राजा युवनाश्वने पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ दही युक्त अभिषिक्त घृत अपनी स्त्रीको न देकर भ्रमपूर्वक स्वयं पान किया था, उससे उनके ही गर्भ रह गया और मन्त्रित आज्यके प्रभावसे (रुधिर–संयोगके विना ही) वह बालक पितृगर्भमें दिनोंदिन बढने लगा; फिर मरुत आदि देवताओंने पितृगर्भको भेदकर उस बालकको निकाला था,] वह त्रिलोक-विजयी श्रीमान् राजा मान्धाता पृषदाज्यसे उत्पन्न हुए थे; वे अपने पिता महात्मा युवनाश्वके पेटमें ही बढे थे ॥७५॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम् ।
अन्योन्यमब्रुवन्देवाः कमयं धास्यतीति वै ॥ ७६ ॥

उत्पन्न होते ही उस देवताओंके बालकोंके समान रूपवाले बालकके पिताकी गोदमें शयन करते देखकर, देवता लोग आपसमें यह वचन कहने लगे, कि यह बालक किसका दूध पीयेगा ? ॥ ७६ ॥

मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रो अभ्यवपद्यत ।
मांधातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः ॥ ७७ ॥

अनन्तर देवराज इन्द्रने कहा, " अयं मामेव धास्यति " अर्थात् यह मेरा आसरा ग्रहण करेगा, मेरा दूध पीयेगा, ऐसा कहके उसे पिलाना स्वीकार कर लिया और उन्होंने उस बालकका "मान्धाता" नाम रखा ॥ ७७ ॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः ।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत् ॥ ७८ ॥

और उस महात्मा बालककी शरीरपुष्टिके निमित्त अपने हाथकी उङ्गली उसके मुंहमें डाल दी; उसके अनन्तर उस उङ्गलीसे ही दूधकी धार बहने लगी ॥ ७८ ॥

तं पिबन्पाणिमिन्द्रस्य समामह्ना व्यवर्धत ।
स आसीद्द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिव ॥ ७९ ॥

हे राजन् ! इन्द्रके हाथकी उङ्गलीके दूधको पीकर वह बालक एक ही दिनमें सौ दिनके समान बढ गया; बारह दिनोंमें ही बारह वर्षकी अवस्थाके समान वह मालूम हुआ ॥ ७९ ॥

तमियं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत ।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि ॥ ८० ॥

अनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी शूर, धर्मात्मा, महात्मा मान्धाताको सारी पृथ्वी एक ही दिनमें प्राप्त हो गई ॥ ८० ॥

य आङ्गारं हि नृपतिं मरुत्तमसितं गयम् ।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मांधाता समरेऽजयत् ॥ ८१ ॥

उसने युद्धभूमिमें आङ्गार, मरुत्त, असित, गय और अङ्गराज बृहद्रथ आदि मुख्य मुख्य सम्पूर्ण राजाओंको पराजित किया ॥ ८१ ॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे समयोधयत् ।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे ॥ ८२ ॥

जिस समय आङ्गार बृहद्रथके सङ्ग युवनाश्वपुत्र महाराज मान्धाताका रणभूमिमें युद्ध हुआ था, उस समय देवताओंने उनके धनुषटङ्कारके शब्दको सुनकर समझा कि आकाश विदीर्ण हुआ चाहता है ॥ ८२ ॥

यतः सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ८३ ॥

उनके प्रबल प्रतापको कहांतक वर्णन करूं, जहांसे सूर्य उदय होते और जहांपर जाके अस्त होते हैं अर्थात् अन्तिम सीमा पर्यन्त आजतक पृथ्वी "मान्धाता क्षेत्र" कहके विख्यात है ॥८३॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च ।
अददाद्रोहितान्मत्स्यान्ब्राह्मणेभ्यो महीपतिः ॥ ८४ ॥

पृथ्वीपति मान्धाताने एक सौ अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंको पूर्ण करके ब्राह्मणोंको दक्षिणामें अनगिनत सुवर्णमय रोहित नामक मछली प्रदान की थी ॥ ८४ ॥

हैरण्यान्योजनोत्सेधानायतान्दशयोजनम् ।
अतिरिक्तान्द्विजातिभ्यो व्यभजन्नितरे जनाः ॥ ८५ ॥

दूसरी वस्तुओंके दानकी कथा क्या कहूं ! जब कि मान्धाता राजाके यज्ञके अन्तमें ब्राह्मणोंके अतिरिक्त दूसरी जातिके मनुष्योंने भी एक योजन ऊंचे और दस योजन चौडे सुवर्णके ढेरको बांट लिये थे; तब ब्राह्मणोंने कितना धन पाया था, उसका कहना बाहुल्यता मात्र है ॥८५॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ८६ ॥

हे सृञ्जय ! राजा मान्धाता धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य, इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी जब शरीर त्यागके इस लोकसे विदा होगये हैं, तब पुत्रके निमित्त शोक करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ८६ ॥

ययातिं नाहुषं चैव मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
य इमां पृथिवीं सर्वां विजित्य सहसागराम् ॥ ८७ ॥

हे सृञ्जय ! नहुषपुत्र राजा ययातिकी भी मृत्यु हुई है, यह हमने सुना है; जिसने अपने बाहुबलसे समुद्रोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको जय किया था ॥ ८७ ॥

शम्यापातेनाभ्यतीयाद्वेदीभिश्चित्रयन्नृप ।
ईजानः क्रतुभिः पुण्यैः पर्यगच्छद्वसुन्धराम् ॥ ८८ ॥

जिसने शम्यापात अर्थात् एक बलवान पुरुषके हाथसे फेंके जानेपर जितनी दूरमें एक मोटी तथा भारी लकडीका टुकडा गिर पडता है, उतनी दूरके घेरेमें पुण्यमय यज्ञोंकी वेदिओंसे पृथ्वीको चित्रित करते हुए क्रमसे पृथ्वीकी सीमा, अर्थात् समुद्रके किनारे पहूंचे थे ॥८८॥

इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च ।
तर्पयामास देवेन्द्रं त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ ८९ ॥

इसी भांति एक सौ वाजपेय और इसके अतिरिक्त एक हजार दूसरी भांतिके यज्ञोंका अनुष्ठान करके सुवर्णके बने हुए तीन पर्वत देवेन्द्रको दान दिये थे ॥ ८९ ॥

व्यूढे देवासुरे युद्धे हत्वा दैतेयदानवान्।
व्यभजत्पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ९० ॥

नहुषपुत्र महाराज ययातिने देव-दानवोंके युद्धमें अनगिनत दैत्य और दानवोंकी व्यूहबद्ध सेनाका नाश करके समस्त पृथ्वी विभाग कर अपने पुत्रोंको बांट दी थी ॥ ९० ॥

अन्तेषु पुत्रान्निक्षिप्य यद्रुद्रुह्युपुरोगमान्।
पूरुं राज्येऽभिषिच्य स्वे सदारः प्रास्थितो वनम् ॥ ९१ ॥

अन्तमें यदु, द्रुह्यु और अनुको स्थापित करके, सबसे छोटे पुरुको अपने शेष समस्त राज्यपर अभिषिक्त करके स्त्रीके सहित वनको चले गये ॥ ९१ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९२ ॥

हे सृञ्जय ! राजा ययाति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी जब कालके कराल ग्राससे मुक्त न होसके, तब तुम किस कारण अपने पुत्रके वास्ते शोक करते हो ? ॥९२॥

अम्बरीषं च नाभागं मृतं शुश्रुम सृञ्जय।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तम ॥ ९३ ॥

हे सृञ्जय ! नाभागपुत्र राजा अम्बरीष भी मृत्युके अधीन हो गये, ऐसा हमने सुना है; हे नृपश्रेष्ठ ! पृथ्वी पालक राजसत्तम अम्बरीषकी सब प्रजा उनको अपना पुण्यमय रक्षक समझती थी ॥ ९३ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुत याजिनाम्।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ९४ ॥

जिन तत्पर राजाने ब्राह्मणोंके प्रति प्रीति रखकर अपने विशाल यज्ञमें दस लाख राजाओंको —जो स्वयं दस हजार कर चुके थे— उपस्थित ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया था ॥ ९४ ॥

नैतत्पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
इत्यम्बरीषं नाभागमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥ ९५ ॥

बहुतेरे दीर्घदर्शी पुरुषोंने नाभाग पुत्र राजा अम्बरीषके ऐसे अद्भुत कार्यको देखकर कहा था, कि– "पहिले कोई भी राजा ऐसा कार्य न कर सके और न भविष्य ही में कर सकेंगे" इसी भांति बार–बार उनकी प्रशंसा की थी ॥ ९५ ॥

शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽभ्ययुर्दक्षिणायनम् ॥ ९६ ॥

हे सृञ्जय ! उनके यज्ञमें एक लाख दस हजार जो सब राजा ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त थे, उन लोगोंने महाराज अम्बरीषके महात्म्य प्रभावसे अश्वमेध यज्ञोंके फलके भागी होकर उत्तरायण मार्गसे हिरण्यगर्भ लोकमें गमन किया ॥ ९६ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९७ ॥

हे सृञ्जय ! राजा अम्बरीष धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य–इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी मृत्युके कराल ग्रासमें पतित हुए; इससे पुत्रके वास्ते तुम व्यर्थ शोक मत करो ॥ ९७ ॥

शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यस्य भार्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ॥ ९८ ॥

हे सृंजय ! चित्ररथ–पुत्र शशबिन्दु भी मर गये, ऐसा हमने सुना है; जिस महात्मा शशबिंदु राजाके एक लाख स्त्रियां थीं ॥ ९८ ॥

सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासञ्छाशबिन्दवः ।
हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ॥ ९९ ॥

और उन सम्पूर्ण स्त्रियोंसे दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे; वे सब राजपुत्र सुवर्णमय कवचोंसे युक्त और महा–धनुर्धर थे ॥ ९९ ॥

शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः ॥ १०० ॥

उन हर एक राजपुत्रोंने एक एक सौ कन्याओंके सङ्ग विवाह किया था। हर एक कन्याके सङ्ग एक सौ हाथी, प्रति हाथीके साथ एक सौ रथ मिले थे ॥ १०० ॥

रथं रथं शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः ।
अश्वमश्वं शतं गावो गां गां तद्वदजाविकम् ॥ १०१ ॥

हर एक रथके सङ्ग सुवर्ण माला भूषित एक सौ देशीय उत्तम घोडे थे; हर एक घोडेके साथ एक सौ गऊ, प्रति गऊके सङ्ग एक एक सौ बकरे और मेढे नियुक्त थे ॥ १०१ ॥

एतद्धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे ।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समादिशत् ॥ १०२ ॥

हे महाराज ! इस समस्त अपार धनको महाराज शशबिन्दुने अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंको दान किया था ॥ १०२ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १०३ ॥

हे सृंजय ! राजा शशबिन्दु तुमसे धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी मृत्युके मुखसे मुक्त होनेमें समर्थ न होसके, इससे तुम पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो ॥ १०३ ॥

गयमामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥ १०४ ॥

हे सृञ्जय ! राजा अमूर्त्तरयसके पुत्र गयकी भी मृत्यु हुई थी, ऐसा सुननेमें आया है; जिन्होंने एक सौ वर्षपर्यन्त यज्ञसे शेष अन्नको भोजन करके अपने जीवनको धारण किया था ॥१०४॥

यस्मै वह्निर्वरान्प्रादात्ततो वव्रे वरान्गयः ।
ददतो मेऽक्षया चास्तु धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥ १०५ ॥

अग्निने जब उन्हें वर मांगनेको कहा, तब उन्होंने ये वर मांगे, " हे अग्नि ! तुम्हारी कृपासे दान करते हुए मेरा धन अक्षय होवे, धर्ममें मेरी श्रद्धा बढती रहे ॥ १०५ ॥

मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन ।
लेभे च कामांस्तान्सर्वान्पावकादिति नः श्रुतम् ॥ १०६ ॥

सत्यमें मेरी अटल रूपमें सदा बुद्धि रत रहे। ऐसी जनश्रुति है, कि अग्निदेवसे उन्हें वे सभी अभिलषित फल मिले थे ॥ १०६ ॥

दर्शेन पौर्णमासेन चातुर्मास्यैः पुनः पुनः ।
अयजत्स महातेजाः सहस्रं परिवत्सरान् ॥ १०७ ॥

महातेजस्वी राजा गयने एक हजार वर्ष पर्यन्त दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास और अश्वमेध यज्ञोंका बारबार अनुष्ठान किया था ॥ १०७ ॥

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वशतानि च ।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ १०८ ॥

एक हजार वर्षोंतक राजा गयने प्रतिदिन सबेरे उठकर एक लाख गौओं और दस हजार घोडोंका दान किया था ॥ १०८ ॥

तर्पयामास सोमेन देवान्वित्तैर्द्विजानपि ।
पितॄन्स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स्वाः पुरुषर्षभ ॥ १०९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस ही भांति उन्होंने सोमरससे देवताओं, धनसे ब्राह्मणों, स्वधासे पितरों और अभिलषित वस्तुओंके दानसे स्त्रियोंको तृप्त किया था ॥ १०९ ॥

सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा दशव्यामां द्विरायताम् ।
दक्षिणामददद्राजा वाजिमेधमहामखे ॥ ११० ॥

उन्होंने अश्वमेध महायज्ञके पूर्ण होनेपर दस व्याम चौडी और एक सौ हाथ लम्बी सुवर्णकी कृत्रिम पृथ्वी बनाके ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपसे दान की थी ॥ ११० ॥

यावत्यः सिकता राजन्गङ्गायाः पुरुषर्षभ ।
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः ॥ १११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ राजन् ! गंगामें जितने वालूके कण हैं, अमूर्तरयस पुत्र महात्मा गयने उतनी ही गौओंका दान किया था ॥ १११ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ११२ ॥

हे सृञ्जय ! महात्मा गय धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, उन्हें भी जब शरीर त्यागना पडा, तब तुम यज्ञ और दक्षिणामें हीन अपने पुत्रके निमित्त क्यों शोक करते हो ? ॥ ११२ ॥

रन्तिदेवं च साङ्कृत्यं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
सम्यगाराध्य यः शक्रं वरं लेभे महायशाः ॥ ११३ ॥

हे सृञ्जय ! संकृतिके पुत्र महाराज रन्तिदेव भी सदाके वास्ते इस पृथ्वीपर रहनेमें समर्थ नहीं हुए, यह हमने सुना है; जिस महायशस्वी रन्तिदेवने इन्द्रकी यथावत् आराधना करके उनसे यह वर मांगा था ॥ ११३ ॥

अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमही ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कंचन ॥ ११४ ॥

कि "मेरे अपरम्पार अन्नके ढेर सदा-सर्वदा तैयार रहें, मेरे द्वारपर प्रति दिन अनगिनत अतिथि उपस्थित रहें, किसी समयमें भी मेरी श्रद्धा कम न होवे, और मुझे किसीके समीप याञ्चा करनी न पडे" इन्द्रने उन्हें इच्छानुसार वरदान किया ॥ ११४ ॥

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् ।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥ ११५ ॥

कठोर व्रत करनेवाले यशस्वी महात्मा रन्तिदेवके यज्ञके समयमें गांव और वनके पशु स्वयं आके उपस्थित होते थे ॥ ११५ ॥

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात्सुस्रुवे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥ ११६ ॥

उनके यज्ञमें मरे हुए पशुओंके रुधिर और चर्मोंसे जो जल बहता था उससे एक महानदी प्रकट हुई थी, वह आज तक पृथ्वीपर चर्मण्यवती नामसे विख्यात है ॥ ११६ ॥

×

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान्सदसि प्रतते नृपः ।
तुभ्यं तुभ्यं निष्कमिति यत्राक्रोशन्ति वै द्विजाः ।
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान्स्म प्रपद्यते ॥ ११७ ॥

राजा रन्तिदेव अपने भव्य यज्ञमें ब्राह्मणोंको सोनेके निष्क दान करते थे । वहां द्विज पुकार कर कहते थे कि, 'हे ब्राह्मणों ! यह तुम्हारे लिये ही निष्क है,' परंतु कोई लेनेके लिये आगे नहीं आता था । फिर वे 'तुम्हारे लिये एक सहस्र निष्क है' कहते थे, और लेनेवाले ब्राह्मणोंको पाते थे ॥ ११७ ॥

अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ।
घटाः स्थाल्यः कटाहाश्च पात्र्यश्च पिठरा अपि ।
न तत्किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥ ११८ ॥

उस बुद्धिमान् राजा रन्तिदेवके यज्ञमें आन्वाहार्य अग्निमें आहुति देनेके लिये जो उपकरण थे तथा द्रव्य संग्रहके लिये जो उपकरण थाली, कडाही, कलसी, लोटे आदि पात्र थे, वे सुवर्णके अतिरिक्त दूसरी धातुके नहीं थे ॥ ११८ ॥

साङ्कृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसद्गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ॥ ११९ ॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरमें जिस रातको अतिथि निवास करते थे, उस समय उन्हें बीस हजार एक सौ गौएं दी जाती थीं ॥ ११९ ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपभूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा ॥ १२० ॥

उस रात्रिमें सुन्दर मणि जटित कुण्डलोंसे शोभित रसोई बनानेवाले पुरुष " आज पहिलेकी भांति - भोजन नहीं है, इससे तुम लोग आज इच्छानुसार दालके सङ्ग भोजन करो; " -ऐसे ही वचन कहते हुए अतिथियोंके समीप प्रार्थना करते थे ॥ १२० ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १२१ ॥

हे सृञ्जय ! महाराज रन्तिदेव धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु उन्हें भी कालके कराल ग्रासमें पतित होना पडा; इससे तुम यज्ञ और दक्षिणारहित अपने पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो ॥ १२१ ॥

सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥ १२२ ॥

हे सृञ्जय ! अत्यन्त पराक्रमी इक्ष्वाकु कुलभूषण पुरुष शार्दूल महात्मा सगरको भी परलोकमें गमन करना पडा, ऐसा सुननेमें आया है ॥ १२२ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥ १२३ ॥

महाराज सगरके गमन करनेके समय उनके साठ हजार पुत्र इस प्रकार उनके अनुगामी होते थे, जैसे वर्षाके अन्तमें शरदऋतुमें बादलोंसे रहित आकाशमें चन्द्रमाके आस पास नक्षत्र-मण्डली दीख पडती है ॥ १२३ ॥

एकच्छत्रा मही यस्य प्रणता ह्यभवत्पुरा ।
योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥ १२४ ॥

पहले उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वीपर एकछत्र राज्य करके, एक हजार अश्वमेध यज्ञोंके अनुष्ठानसे देवताओंको तृप्त किया था ॥ १२४ ॥

यः प्रादात्काञ्चनस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम् ।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२५ ॥

और हर एक यज्ञोंके पूर्ण होनेपर राजा सगरने सुवर्णस्तम्भोंसे युक्त कमलके समान सुन्दर नेत्र और उत्तम शरीरवाली स्त्रियोंके सहित उत्तम शय्यासे पूरित श्रेष्ठ मन्दिर ॥ १२५ ॥

द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामानुच्चावचांस्तथा ।
यस्यादेशेन तद्वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥ १२६ ॥

तैयार करवाकर योग्य ब्राह्मणोंको प्रदान किये थे; साथ विविध प्रकारके भोगसाधन भी दिये थे; उनकी आज्ञानुसार ब्राह्मणोंने उस समस्त धनको आपसमें बांट लिया था ॥१२६॥

खानयामास यः कोपात्पृथिवीं सागराङ्किताम् ।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥ १२७ ॥

राजा सगरने क्रुद्ध होकर समुद्रसे चिह्नित सारी पृथ्वीको खुदवाया था; उसही समयसे उन्हींके नामपर समुद्र सागर नामसे विख्यात हुआ है ॥ १२७ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १२८ ॥

वह धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; तौ भी करालकाल उन्हें हस्तगत करनेमें न चुका; इससे तुम पुत्रके निमित्त शोक वृथा मत करो ॥ १२८ ॥

राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यमभ्यषिञ्चन्संभूय महारण्ये महर्षयः ॥ १२९ ॥

हे सृञ्जय ! वेनके पुत्र राजा पृथुको भी इस लोकसे परलोकमें गमन करना पडा, ऐसा सुननेमें आया है । जिस राजा पृथुको महर्षियोंने महान् जङ्गलके बीच राज्यपद पर अभिषिक्त किया था ॥ १२९ ॥

प्रथयिष्यति वै लोकान्पृथुरित्येव शब्दितः ।
क्षताच नस्त्रायतीति स तस्मात्क्षत्रियः स्मृतः ॥ १३० ॥

" ये पृथ्वीके सम्पूर्ण भागको उन्नत करेंगे; इससे इसका नाम पृथु हुआ " ऐसा वचन कहके उनका नाम पृथु रक्खा था; उन्होंने दुखःसे प्रजाओंका उद्धार किया था; इससे वह राजा क्षत्रिय शब्दसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३० ॥

पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन् ।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥ १३१ ॥

और वेनपुत्र पृथुको देखकर सब प्रजाओंने " हम सब तुम्हारे ऊपर अनुरक्त हैं " ऐसा अनुराग भाव प्रकाशित किया; प्रजाका रञ्जन करनेके कारण वह राजा कहके विख्यात हुए ॥ १३१ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु ।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन्प्रशासतः ॥ १३२ ॥

राजा पृथुके राज्यशासनके समय विना हलसे जोते ही पृथ्वीमें अन्न उत्पन्न होते थे; वृक्षोंके हर एक पत्तोंमें मधु प्रकट होती और गौएं कलश परिमाण दूध देती थीं ॥ १३२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः ।
यथाभिकाममवसन्क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥ १३३ ॥

उस समय सम्पूर्ण मनुष्योंकी अभिलाषाएं पूरी होती थीं और सब कोई रोगरहित तथा किसीसे भी भयरहित थे; घर तथा क्षेत्रमें अपनी इच्छानुसार निवास करते थे ॥ १३३ ॥

आपः संस्तम्भिरे यस्य समुद्रस्य यियासतः ।
सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजसङ्गश्च नाभवत् ॥ १३४ ॥

जब महाराज पृथु समुद्र यात्रा करते थे, तब समुद्रका जल स्थिर हो जाता था और नदियोंकी बाढ स्तम्भित हो जाती थी; मार्गमें गमन करनेके समय उनके रथके ध्वजा कभी भग्न नहीं होती थी ॥ १३४ ॥

हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान्पर्वतानेकविंशतिम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥ १३५ ॥

राजाने वृहत् अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानमें चार सौ हाथ ऊंचे इक्कीस सुवर्णके पर्वत तैयार कर ब्राह्मणोंको दान किये थे ॥ १३५ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १३६ ॥

हे सृञ्जय ! महाराज पृथु धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब उन्हें भी मृत्युके मुखमें पतित होना पडा तब तुम यज्ञ दक्षिणाहीन अपने पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो ॥ १३६ ॥

किं वै तूष्णीं ध्यायसि सृञ्जय त्वं न मे राजन्वाचमिमां शृणोषि ।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं मयेदं पथ्यं मुमूर्षोरिव सम्यगुक्तम् ॥ १३७ ॥

हे सृञ्जय ! तुम मौनावलम्बन करके किसकी चिन्ता कर रहे हो ? राजन् ! तुम क्या मेरे इन सब वचनोंको नहीं सुनते हो ? यदि तुम नहीं सुनते हो, तो काल ग्रस्त रोगी पुरुषको औषध देनेकी भांति मेरे ये सब उपदेश युक्त वचन तुम्हारे समीपमें निष्फल तथा व्यर्थ तो नहीं हुए ? ॥ १३७ ॥

सृञ्जय उवाच—
शृणोमि ते नारद वाचमेतां विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम् ।
राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां कीर्त्या युक्तां शोकनिर्णाशनार्थम् ॥ १३८ ॥

सृञ्जय बोले— देवर्षि नारद ! कीर्तिमान पवित्र चरित्रवाले महात्मा राजर्षियोंकी कथा, जो कि आपने मेरे समीप वर्णन की है, वह शोक मोहका नाश करनेवाली और सुगन्धि युक्त मालाकी भांति मनोहर है, मैंने विचित्र अर्थसे युक्त आपके संपूर्ण उपदेशोंको चित्त लगाके सुना है ॥ १३८ ॥

न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे दृष्ट्वैव त्वां नारदाहं विशोकः ।
शुश्रूषे ते वचनं ब्रह्मवादिन्न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥ १३९ ॥

हे ब्रह्मवादी–श्रेष्ठ महर्षि नारद ! आपके कहे हुए हितोपदेश वचन निष्फल नहीं हुए हैं; अधिक क्या कहूं, आपके दर्शन मात्रसे ही मैं शोक रहित हुआ हूं । जैसे कोई अमृत पीके तृप्त नहीं होता, वैसे ही आपके उपदेश युक्त वचनोंको वार वार सुनकर भी मेरा चित्त तृप्त नहीं होता है ॥ १३९ ॥

अमोघदर्शिन्मम चेत्प्रसादं सुताघदग्धस्य विभो प्रकुर्याः ।
मृतस्य संजीवनमद्य मे स्यात्तव प्रसादात्सुतसंगमश्च ॥ १४० ॥

हे देवर्षि ! आपके समान महात्मा पुरुषोंके दर्शन कदापि निष्फल नहीं होते; इससे यदि आप पुत्र शोकसे शोकित मुझ दीनके ऊपर प्रसन्न हुए हो, तो आपकी कृपासे मेरा मृत पुत्र फिर जीवित होके मेरे सङ्ग वार्त्तालाप करे ॥ १४० ॥

नारद उवाच—
यस्ते पुत्रो दयितोऽयं वियातः स्वर्णष्ठीवी यमदात्पर्वतस्ते ।
पुनस्ते तं पुत्रमहं ददामि हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥ १४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ ९७८ ॥

नारद मुनि बोले— हे सृञ्जय ! पर्वत ऋषिके वरप्रभावसे तुम्हें जो पुत्र प्राप्त हुआ था, तथा सुवर्णष्ठीवी नामक तुम्हारा जो गुणवान् पुत्र इस समय प्राण रहित होकर पृथ्वी पर शयन कर रहा है; अब मैं फिर हिरण्यनाभ नामक एक पुत्र देता हूं, वह इस वार एक हजार वर्ष पर्यन्त जीवित रहेगा ॥ १४१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उनतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ ९७८ ॥

: ३० :

युधिष्ठिर उवाच—

स कथं काञ्चनष्ठीवी सृञ्जयस्य सुतोऽभवत् ।
पर्वतेन किमर्थं च दत्तः केन ममार च ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– हे श्रीकृष्ण ! सृञ्जयराजको पर्वत ऋषिने सुवर्णष्ठीवी पुत्र किस लिये दिया और वह किस कारण आकालमें ही मृत्यु ग्रस्त हुआ ? ॥ १ ॥

यदा वर्षसहस्त्रायुस्तदा भवति मानवः ।
कथमप्राप्तकौमारः सृञ्जयस्य सुतो मृतः ॥ २ ॥

उस समयमें जब कि सब मनुष्योंकी आयु एक हजार वर्ष पर्यन्त थी, तब सृञ्जयपुत्रने कुमार अवस्थाके न बीतते ही क्यों यमलोकमें गमन किया ? ॥ २ ॥

उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत् ।
तथ्यं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

जो हो, उसका नाम मात्र सुवर्णष्ठीवी था, वा निष्ठीवनमें सुवर्ण उत्पन्न होता था, इस कारण उसका नाम सुवर्णष्ठीवी हुआ ? यदि स्वाभाविक सुवर्ण उत्पन्न होता था, तो किस भांति वह सुवर्णष्ठीवी हुआ, मैं इस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच—

अत्र ते कथयिष्यामि यथा वृत्तं जनेश्वर ।
नारदः पर्वतश्चैव प्रागृषी लोकपूजितौ ॥ ४ ॥

वासुदेव बोले– महाराज ! इस विषयमें कुछ घटना हुई थी, मैं वह सम्पूर्ण वृत्तान्त वर्णन करता हूं, आप सुनिये । नारद और पर्वत ये दोनों ऋषि सम्पूर्ण लोकमें पूजित हैं ॥ ४ ॥

मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ ।
विहर्तुकामौ संप्रीत्या मानुष्येषु पुरा प्रभू ॥ ५ ॥

मामा (नारद) और भांजे (पर्वत) दोनों पहले मर्त्यलोकमें घूमनेकी इच्छासे प्रीतिपूर्वक देवलोकसे पृथ्वीपर आए ॥ ५ ॥

हविः पवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव ह ।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ॥ ६ ॥

हविसे पवित्र तथा देवताओंके योग्य अन्न एवं घृतादिको खानेकी इच्छासे, मामा नारद और भांजा पर्वत दोनों पृथ्वीपर उतर आए ॥ ६ ॥

तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ ।
भुञ्जानौ मानुषान्भोगान्यथावत्पर्यधावताम् ॥ ७ ॥

अनन्तर वे दोनों तपस्वी ऋषि पृथ्वीपर विचरते तथा मनुष्योंके योग्य सम्पूर्ण वस्तुओंको भोगते हुए चारों ओर भ्रमण करने लगे ॥ ७ ॥

प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं तत्र चक्रतुः।
यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाशुभः।
अन्योन्यस्य स आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत् ॥ ८॥

उन दोनोंने प्रसन्नतासे प्रीतिपूर्वक आपसमें यह नियम स्थापित किया कि " चाहे शुभ हो चाहे अशुभ होवे, जिस समय हम लोगोंके बीच जैसे भावका उदय हो, तो उस भावको एक दूसरेसे अवश्य कह दे; यदि कोई इसमें अन्यथाचरण करेगा, तो वह शापको भागी होगा " ॥ ८॥

तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ।
सृञ्जयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ॥ ९॥

उन दोनों लोकपूजित ऋषियोंने " ऐसाही होगा " यह वचन कहके ऊपर कहे हुए नियमको पालन करनेके वास्ते प्रतिज्ञा की थी। अनन्तर सब लोगोंमें पूजित वे दोनों महर्षि श्वेतपुत्र राजा सृञ्जयके समीप जाके यह वचन बोले ॥ ९॥

आवां भवति वत्स्यावः कंचित्कालं हिताय ते।
यथावत्पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव।
तथेति कृत्वा तौ राजा सत्कृत्योपचचार ह ॥ १०॥

हे महाराज! तुम्हारे हितके निमित्त हम दोनों इस स्थानपर कुछ दिनोंतक वास करेंगे; तुम हम लोगोंके उपर अनुकूल होकर यहांपर रहनेके वास्ते आज्ञा दो। राजा सृञ्जयने उन दोनों ऋषियोंके वचनको सुनते ही " जो आज्ञा " कहके उनका सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥१०॥

ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तथागतौ।
अब्रवीत्परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥ ११॥

इस ही भांति कुछ दिन व्यतीत हुए, तब एक दिन राजा सृञ्जय प्रीतिपूर्वक उन दोनों उसी रूपमें आये हुए महात्माओंसे बोले, हे दोनों महात्मन्! मेरा एक निवेदन सुनिये, यह वरवर्णिनी मेरी लडकी ॥ ११॥

एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति।
दर्शनीयानवद्याङ्गी शीलवृत्तसमन्विता।
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिञ्जल्कसंनिभा ॥ १२॥

जो पद्मपुष्पके समान सुन्दर रूपवाली, कामिनीकुलकी भूषण, शीलता आदि गुणोंसे युक्त सुकुमारी अनिन्दिता कन्या है, वह अकेली ही आप दोनों महात्माओंकी सेवा करेगी ॥१२॥

परमं सौम्य इत्युक्तस्ताभ्यां राजा शशास ताम् ।
कन्ये विप्रावुपचर देववत्पितृवच्च ह ॥ १३ ॥

राजाके वचनको सुनकर उन दोनों ऋषियोंने "उत्तम है"— ऐसा कहके उस विषयमें अपनी सम्मति प्रकाशित की। तब राजा सृञ्जय अपनी कन्यासे यह वचन बोले— हे पुत्री! तुम पिता और देवताकी भांति इन दोनों ऋषियोंकी सेवा करो ॥ १३ ॥

सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ।
यथानिदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥ १४ ॥

धर्मचारिणी उस कन्याने पितासे ऐसा ही होगा कहकर पिताकी आज्ञाके अनुसार वह उन दोनों महात्माओंकी सेवा करने लगी ॥ १४ ॥

तस्यास्तथोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ।
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवान्वपद्यत ॥ १५ ॥

उसकी अकपट सेवा और सुन्दर रूपको देखकर थोडे ही समयके बीच महात्मा नारद ऋषिके अन्तःकरणमें सहसा कामदेव प्रकट हो गए ॥ १५ ॥

ववृधे च ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ।
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तावुडुराट्छनैः ॥ १६ ॥

और उस महात्माके हृदयमें वह कामदेव शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भांति क्रमसे बढने लगा ॥१६॥

न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ।
शशंस मन्मथं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् ॥ १७ ॥

परन्तु धर्मात्मा नारद ऋषिने लज्जापूर्वक अपने भानजे महात्मा पर्वत ऋषिके समीप बढे हुए तीव्र निज मानसिक काम भावको प्रकाश नहीं किया ॥ १७ ॥

तपसा चेङ्गितेनाथ पर्वतोऽथ बुबोध तत् ।
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् ॥ १८ ॥

महर्षि पर्वतने अपने तपके प्रभावसे और नारदकी चेष्टाओंसे नारदको कामार्त्त समझा और अत्यन्त क्रुद्ध होके उन्हें शाप देते हुए बोले ॥ १८ ॥

कृत्वा समयमव्यग्रो भवान्वै सहितो मया ।
यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ॥ १९ ॥

आपने स्वयं अव्यग्रचित्त होकर मेरे सङ्ग यह नियम किया था, कि हम दोनोंके बीच जिसके मनमें शुभ वा अशुभ जैसे भावका उदय होगा ॥ १९ ॥

अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद्वै मृषा कृतम् ।
भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेतद्वदाम्यहम् ॥ ३० ॥

उसी समय कपट रहित होकर आपसमें प्रकाश करेंगे; परन्तु तुमने वह प्रतिज्ञा झूठी की। इसलिये हे ब्रह्मन् ! मैं आपसे यह बात कह रहा हूं ॥ २० ॥

न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ।
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम् ॥ २१ ॥

क्यों कि सुकुमारी राजपुत्रीके विषयमें जो आपकी काम-प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है, उसे इतने दिनोंतक आपने मेरे समीप प्रकाशित नहीं किया; इससे मैं आपको शाप दूंगा ॥ २१ ॥

ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात्तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ।
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः ॥ २२ ॥

आप ब्रह्मचर्य व्रतमें निष्ठावान, मेरे गुरु, तपस्वी और ब्राह्मण हैं, परन्तु हम लोगोंके आपसमें किये हुए नियमको आपने उल्लंघन किया है ॥ २२ ॥

शप्स्ये तस्मात्सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ।
सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः ॥ २३ ॥

उस ही कारण मैं अत्यंत क्रोधित होकर तुम्हें जैसा शाप दूंगा, उसे सुनो। यह सुकुमारी राजकन्या तुम्हारी भार्या होगी, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २३ ॥

वानरं चैव कन्या त्वां विवाहात्प्रभृति प्रभो ।
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाकृतम् ॥ २४ ॥

परन्तु प्रभो ! विवाहके समयसें आप स्वरूप भ्रष्ट होकर अपनी विवाहित स्त्री और अन्य मनुष्योंको वानर रूपसे दीख पडेंगे ॥ २४ ॥

स तद्वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतात्तदा ।
अशपत्तमपि क्रोधाद्भागिनेयं स मातुलः ॥ २५ ॥

देवर्षि मातुल नारदने अपने भानजेके अशुभ शापयुक्त वचन सुनके क्रुद्ध होकर उन्हें भी शाप दिया ॥ २५ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ।
युक्तोऽपि धर्मनित्यश्च न स्वर्गवासमाप्स्यसि ॥ २६ ॥

कि "यद्यपि तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और दम आदि गुणोंसे युक्त तथा अटल रूपसे नित्य धर्ममें स्थित हो" तौभी मेरे शापसे अब पहिलेकी भांति स्वर्ग लोकमें गमन करनेमें समर्थ न होसकोगे ॥ २६ ॥

×

तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ।
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ॥ २७ ॥

इसी भांति उन दोनों ऋषियोंने क्रोधपूर्वक एक दूसरेको शाप देकर क्रुद्ध हाथियोंकी भांति अमर्षपूर्वक अपने अपने अभिलषित स्थानपर गमन किया ॥ २७ ॥

पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामुनिः ।
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ॥ २८ ॥

हे भारत ! महाबुद्धिमान् पर्वत ऋषि निज तेज प्रभावसे समस्त मनुष्योंमें यथोचित सम्मानित होकर पृथ्वीपर भ्रमण करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ २८ ॥

अथ तामलभत्कन्यां नारदः सृञ्जयात्मजाम् ।
धर्मेण धर्मप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ॥ २९ ॥

और धर्मप्रवर नारद ऋषिने शास्त्र विधिके अनुसार अनिन्द्य सुंदरी सृञ्जयराजकी कन्या सुकुमारीको ग्रहण किया ॥ २९ ॥

सा तु कन्या यथाशापं नारदं तं ददर्श ह ।
पाणिग्रहणमन्त्राणां प्रयोगादेव वानरम् ॥ ३० ॥

परन्तु वह राजकन्या प्राणीग्रहणके मंत्रोंके प्रयोग समयसे ही नारद ऋषिको पर्वत ऋषिके शाप प्रभावसे वानर रूपसे देखने लगी ॥ ३० ॥

सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ।
नैवावमन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ॥ ३१ ॥

आश्चर्यका यह विषय है, कि उस धर्मज्ञ राजपुत्रीने नारद ऋषिके बन्दरके समान मुख और रूपको देखकर भी उनकी अवमानना नहीं की, बल्कि प्रीतिपूर्वक अपने स्वामीके प्रति अपना प्रेम बढाती गयी ॥ ३१ ॥

उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाप्यगात् ।
देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला ॥ ३२ ॥

और उनकी सेवा करनेमें सदा प्रवृत्त हुई। उसने अपने पतिमें अनुरक्त होकर देवता, यक्ष, मुनि तथा अन्य किसी पुरुषको कभी मनसे भी पतिभावसे नहीं देखा ॥ ३२ ॥

ततः कदाचिद्भगवान्पर्वतोऽनुससार ह ।
वनं विरहितं किंचित्तत्रापश्यत्स नारदम् ॥ ३३ ॥

उसके अनन्तर किसी समय घूमते हुए भगवान् पर्वत ऋषिने अपने मामा नारद ऋषिको वनके बीच एकान्त स्थानमें देखा ॥ ३३ ॥

ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ।
भवान्प्रसादं कुरुतां स्वर्गादेशाय मे प्रभो ॥ ३४ ॥

उस समय पर्वत नारद ऋषिको प्रणाम करके यह वचन बोले, हे भगवन् ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न होके फिर स्वर्ग लोकमें गमन करनेकी अनुमति दीजिये ॥ ३४ ॥

तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तदा ।
कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् ॥ ३५ ॥

अनन्तर शापसे अत्यन्त दुःखित महात्मा नारद ऋषि अपने भानजे पर्वत ऋषिको शापसे कातर और हाथ जोडके उपासककी भांति अपने सम्मुख स्थित देखके उनसे बोले ॥ ३५ ॥

त्वयाहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ।
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात् ।
अद्यप्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३६ ॥

हे तात ! पहिले मुझे "तुम बन्दर होगे," यह कहके तुमने शाप दिया । तब मैंने भी मत्सरतावश क्रोधपूर्वक तुम्हें शाप दिया, जिससे आजतक तुम स्वर्ग लोकमें गमन नहीं कर सके ॥ ३६ ॥

तव नैतद्धि सदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् ।
निवर्तयेतां तौ शापमन्योऽन्येन तदा मुनी ॥ ३७ ॥

देखो, तुम मेरे पुत्रके समान हो, इससे मेरे सङ्ग ऐसा व्यवहार करना तुम्हें उचित नहीं था। इसी भांति वाद विवाद करके उन दोनों ऋषियोंने शान्त होके आपसमें एक दूसरेको अपने शापसे मुक्त किया ॥ ३७ ॥

श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् ।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ३८ ॥

तब देवर्षि नारद पहिलेकी भांति फिर अपने दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए; इधर राजपुत्री अति सुकुमारी श्रेष्ठ नारद ऋषिका देवताओंके समान तेजपुञ्जसे युक्त शरीर देखके अन्य पतिकी आशङ्कासे उनके समीपसे भागने लगी ॥ ३८ ॥

तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् ।
अब्रवीत्तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ३९ ॥

तब पर्वत ऋषि अनिन्दिता सुकुमारी राजपुत्रीको भागती देखके बोले, हे कामिनी ! ये तुम्हारे पति ही हैं । अतः तुम किसी भी तरह की शंका मत करो ॥ ३९ ॥

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान्प्रभुः ।
तवैवाभेद्यहृदयो मा ते भूदत्र संशयः ॥ ४० ॥

हे पतिव्रता ! ये तुम्हारे वेही पति निग्रहानिग्रहमें समर्थ महात्मा भगवान् नारद ऋषि ही हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इससे तुम शङ्का रहित होकर इनकी अनुगामिनी बनो ॥४०॥

सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
शापदोषं च तं भर्तुः श्रुत्वा स्वां प्रकृतिं गता ।
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽथ ययौ गृहान् ॥ ४१ ॥

महात्मा पर्वत ऋषिने उस राजकन्याके समीप ऐसे विनय युक्त वचन कहके फिर आपसके शापका वृतान्त वर्णन किया, तब सुकुमारी राजकन्या पर्वत ऋषिके मुख समस्त वृत्तान्त सुनके शान्त हुई । अनन्तर महर्षि पर्वत स्वर्ग लोक और नारद ऋषिने अपने गृहकी ओर गमन किया ॥ ४१ ॥

प्रत्यक्षकर्मा सर्वस्य नारदोऽयं महानृषिः ।
एष वक्ष्यति वै पृष्टो यथा वृत्तं नरोत्तम ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ १०२० ॥

नरश्रेष्ठ महाराज ! मैंने आपके समीप जिस वृतान्तको वर्णन किया, वह सब जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा था, वह भगवान् नारद ऋषि यहीं पर बैठे हुए हैं; इससे आपके पूछनेपर ये स्वयं ही शेष वृत्तान्त वर्णन करेंगे ॥ ४२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ १०२० ॥

: ३१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत ।
भगवञ्श्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसंभवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उसके अनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर नारद मुनिसे यह वचन बोले, हे भगवन् ! मैं उस सुवर्णष्ठीवीकी उत्पत्तिका वृत्तान्त आपके मुखसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

एवमुक्तः तु स च मुनिर्धर्मराजेन नारदः ।
आचचक्षे यथा वृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति ॥ २ ॥

नारद मुनि धर्मराजके पूछने पर सुवर्णष्ठीवीकी उत्पत्ति आदि सम्पूर्ण वृत्तान्तको वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर बोले ॥ २ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथायं केशवोऽब्रवीत् ।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत्ते वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हारे समीप जो कुछ वर्णन किया है, वह सब सत्य हैं; इस विषयमें जो शेष वृत्तान्त है, वह तुम्हारे पूछनेपर मैं कहता हूं, तुम सुनो ॥ ३ ॥

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः ।
वस्तुकामावभिगतौ सृञ्जयं जयतां वरम् ॥ ४ ॥

किसी समय मैं और मेरे भानजे महामुनि पर्वत ऋषि अर्थात् हम दोनोंने थोडे समयतक निवास करनेके वास्ते विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृञ्जयके समीप गमन किया ॥ ४ ॥

तत्र संपूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥ ५ ॥

वहां राजाने यथारीतिके सत्कार्योंसे हम दोनोंका पूजन किया । हम लोग उनके राजमन्दिरमें वास करके खाने पीनेकी समस्त वस्तुओंसे सम्मानित होकर वहां पर निवास करने लगे ॥ ५ ॥

व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च ।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥ ६ ॥

इसी भांति वर्षाकाल बीतने पर जब हम लोगोंके गमन करनेका समय उपस्थित हुआ, तब पर्वत ऋषि मुझे सम्बोधन करके उस समयके अनुसार मुझसे यह वचन बोले ॥ ६ ॥

आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ ।
उषितौ समये ब्रह्मंश्चिन्त्यतामत्र सांप्रतम् ॥ ७ ॥

"हे ब्रह्मन् ! हम लोगोंने इतने दिनोंतक इस राजाके घरमें परम सुखसे निवास किया है, इस समय कैसे प्रत्युपकारसे इसका कल्याण हो सकता है, इस विषयका विचार करो ॥७॥

ततोऽहमब्रुवं राजन्पर्वतं शुभदर्शनम् ।
सर्वमेतत्त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥ ८ ॥

राजन् ! शुभ दर्शन पर्वत ऋषिके मुखसे ऐसा वचन सुनके मैंने कहा, "हे भागिनेय ! तुम सब विषयोंके पूर्ण करनेमें समर्थ हो, इससे ऐसा कहना तुम्हें योग्य ही है ॥ ८ ॥

वरेण छन्द्यतां राजा लभतां यद्यदिच्छति ।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

तुम राजाको उनकी इच्छानुसार वर देकर कृतार्थ करो । अथवा यदि तुम्हारी इच्छा होवे तो राजा सृञ्जय हम दोनोंके तप प्रभावसे सिद्धि प्राप्त करें ॥ ९ ॥

तत आहूय राजानं सृञ्जयं शुभदर्शनम् ।
पर्वतोऽनुमतं वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवः ॥ १० ॥

उसके अनन्तर ऋषियोंमें श्रेष्ठ पर्वत उत्तम दीखनेवाले श्रेष्ठ राजा सृञ्जयको बुलाकर यह वचन बोले ॥ १० ॥

प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैस्तव ह्यार्जवसंभृतैः ।
आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥ ११ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी निष्कपट सेवासे हम लोग बहुत प्रसन्न हुए हैं; इससे हम तुम्हें आज्ञा देते हैं, कि तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो उसे इसही समय विशेष समालोचना करके देखो ॥ ११ ॥

देवानामविहिंसायां यद्भवेन्मानुषक्षमम् ।
तद्गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह कहनेका यही अभिप्राय है, कि देवताओंकी हिंसामें प्रवृत्त न होनेसे मनुष्योंका कदापि नाश नहीं होता, इससे तुम इस विषयमें सावधान होकर इच्छानुसार वर मांगो; क्योंकि तुम हमारे समीप वर ग्रहण करनेके योग्य पात्र हो ॥ १२ ॥

सृञ्जय उवाच—
प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम ।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः ॥ १३ ॥

सृञ्जय बोले— यदि आप दोनों मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हैं, तब मुझे समस्त वस्तु प्राप्त हुई हैं; यही मेरे वास्ते परम लाभ तथा महत् फल समझिये ॥ १३ ॥

नारद उवाच—
तमेवंवादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत ।
वृणीष्व राजन्सङ्कल्पो यस्ते हृदि चिरं स्थितः ॥ १४ ॥

नारद बोले— राजा सृञ्जयका ऐसा वचन सुनके पर्वत ऋषि फिर बोले, हे राजन् ! जो सङ्कल्प बहुत दिनोंसे तुम्हारे अन्तःकरणमें विराजमान है, उस ही चिर-संकल्पित वरको तुम इस समय हम लोगोंके समीप मांगो ॥ १४ ॥

सृञ्जय उवाच—
अभीप्सामि सुतं वीरं वीर्यवन्तं दृढव्रतम् ।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम् ॥ १५ ॥

राजा सृञ्जय बोले— हे महर्षि ! हमारी यह इच्छा है, कि महासौभाग्य युक्त, आयुष्मान्, वीर्यवान्, दृढव्रती, वीर और देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न होवे ॥ १५ ॥

पर्वत उवाच—
भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान्भविष्यति ।
देवराजाभिभूत्यर्थं सङ्कल्पो ह्येष ते हृदि ॥ १६ ॥

पर्वत ऋषि बोले— महाराज ! तुमने जो वर मांगा, वह तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा पूरी होगी, परन्तु तुमने मन ही मन देवराज इन्द्रके पराभवकी इच्छा की है, अतः तुम्हारा वह पुत्र आयुष्मान् नहीं होगा ॥ १६ ॥

सुवर्णष्ठीवनाच्चैव स्वर्णष्ठीवी भविष्यति ।
रक्ष्यश्च देवराजात्स देवराजसमद्युतिः　　　　॥ १७ ॥

उसकी थूकमेंसे सोना निकलेगा, अतः उसका नाम स्वर्णष्ठीवी होगा तथा इन्द्रके समान तेजवाले उसकी इन्द्रसे हमेशा रक्षा करना ॥ १७ ॥

नारद उवाच—

तच्छ्रुत्वा सृञ्जयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति　　　　॥ १८ ॥

नारद बोले—राजा सृञ्जय महात्मा पर्वतऋषिके मुखसे ऐसा वचन सुनतेही अत्यन्त भयभीत होकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए उनसे बोले—ऐसा अनिष्ट न होवे ॥१८॥

आयुष्मान्मे भवेत्पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया　　　　॥ १९ ॥

"हे भगवन् ! आपके तपप्रभावसे मेरा पुत्र दीर्घायु हो;" इसी भांति विनययुक्त वचनोंसे उन्हें प्रसन्न करनेके निमित्त यत्न करने लगे; परन्तु पर्वतऋषिने इन्द्रके कल्याणकी इच्छा करके राजा सृञ्जयके वचनका कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ १९ ॥

तमहं नृपतिं दीनमब्रुवं पुनरेव तु ।
स्मर्तव्योऽहं महाराज दर्शयिष्यामि ते स्मृतः　　　　॥ २० ॥

तब मैंने राजा सृञ्जयको अत्यन्त ही दीनभावसे युक्त देखकर कहा—महाराज ! तुम आपद-ग्रस्त होनेपर मुझे स्मरण करना; तो उसही समय तुम मेरा दर्शन पाओगे ॥ २० ॥

अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते　　　　॥ २१ ॥

हे पृथ्वीपति ! तुम्हारा वह प्रियपुत्र यदि यमलोकमें भी गया होगा, तौभी मैं उसे ज्योंका त्यों तुम्हारे समीप लाके उपस्थित करूंगा; इससे अब इस विषयके वास्ते चिंता मत करो॥२१॥

एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृञ्जयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम्　　　　॥ २२ ॥

राजा सृञ्जयसे ऐसा वचन कहके भानजे पर्वतऋषि और मैं, दोनोंने ही अपने अभिलषित स्थानपर गमन किया; सृञ्जय भी अपने इच्छानुसार राजभवनमें गये ॥ २२ ॥

सृञ्जयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव　　　　॥ २३ ॥

कुछ दिनके अनन्तर राजर्षि सृञ्जयके अग्निके समान तेजस्वी महापराक्रमी एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥ २४ ॥

और वह बालक तालावमें स्थित बडे कमलकी भांति क्रमसे बढने लगा । पर्वतऋषिके वर-प्रभावसे उस बालकके निष्ठीवनसे प्रकृत रूपसे सुवर्ण उत्पन्न होने लगा; इसही कारण उसका नाम भी सुवर्णष्ठीवी हुआ वह उसका नाम सार्थक था ॥ २४ ॥

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महात्मनोः ॥ २५ ॥

हे कुरुसत्तम युधिष्ठिर ! उसके अनन्तर यह लोक विस्मयकर समाचार चारों और फैल गया और देवराज इन्द्रने भी सुना, कि पर्वतऋषिके वर प्रभावसे राजा सृञ्जयके एक अद्भुत पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ २५ ॥

ततस्त्वभिभवाद्भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥

उससे बलि तथा वृत्रासुरके नाश करनेवाले इन्द्र अपनी पराजयके भयसे डरकर बृहस्पतिके निकट सब वृत्तान्त प्रकाश किया; फिर देवताओंके गुरु बृहस्पतिकी सम्मतिके अनुसार उस राजपुत्रका छिद्र खोजने लगे ॥ २६ ॥

चोदयामास वज्रं स दिव्यास्त्रं मूर्तिसंस्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥ २७ ॥

और हे प्रभो ! मूर्तिमान् दिव्य अस्त्र वज्रको सम्बोधन करके बोले– हे वज्र ! पर्वतऋषिके वर प्रभावसे राजा सृञ्जयको एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, उस राजपुत्रको तू बाघ होकर मार डाल ॥२७॥

विवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृञ्जयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतो ददौ ॥ २८ ॥

नहीं तो जैसा कि इस विषयमें पर्वतने बताया है, वह युवा अवस्था प्राप्त होनेसे अवश्य ही अपने पराक्रमसे मुझे पराजित करेगा ऐसा कहके उन्होंने उस बालकके मारनेकी इच्छासे वज्र चलाया ॥ २८ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरंजयः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥

तब शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला वज्र इन्द्रकी ऐसी आज्ञा सुनकर गुप्तरीतिसे उस राजपुत्रका छिद्र खोजता हुआ उसके पीछे घूमने लगा ॥ २९ ॥

सृञ्जयोऽपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्योऽभवत्तदा ॥ ३० ॥

इधर राजा सृञ्जय भी देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी पुत्रको पाके प्रसन्न चित्तसे अन्तःपुरवासी जनोंके सहित उस राजकुमारकी रक्षाके वास्ते सर्वदा वनमें निवास करने लगे ॥ ३० ॥

ततो भागीरथीतीरे कदाचिद्वननिर्झरे।
धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥ ३१ ॥

उस ही समय एक दिन उस राजपुत्रने खेलनेके वास्ते केवल दासीके साथ गङ्गातीरके निकट वनके झरनेके पास गमन किया और इधर उधर दौडने लगा ॥ ३१ ॥

पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलः ॥ ३२ ॥

हाथीके समान पराक्रमी पांच वर्षकी आयुवाले उस बालकके वहां पहुंचते ही सहसा महाबली पराक्रमी एक शेरको उछलके सम्मुख आते देखकर वह बालक उसके सन्मुख हुआ ॥ ३२ ॥

तेन चैव विनिष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥

परन्तु उसी समय उस व्याघ्रने वहां कांपते हुए राजकुमारको गिराकर पीस डाला, वह प्राणरहित होके पृथ्वीमें गिर पडा; उसे देखकर दासी चिल्लाके रोने लगी ॥ ३३ ॥

हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥

इधर देवराज इन्द्रकी माया प्रभावसे व्याघ्ररूपी वज्र राजपुत्रको मारकर उस ही स्थानमें अन्तर्द्धान होगया ॥ ३४ ॥

धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्याः परमार्तवत्।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥

अनन्तर रोती हुई दासीका अत्यन्त आर्त शब्द सुनके राजा सृञ्जय स्वयं उस ही ओर दौडे ॥ ३५ ॥

स ददर्श गतासुं तं शयानं पीतशोणितम्।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥ ३६ ॥

और वहां पहुंचके देखा, कि आनन्द रहित, गिरे हुए चन्द्रमाके समान, राजपुत्र प्राणरहित होके पृथ्वीमें गिरा हुआ है, और किसी हिंसक पशुने उसके रुधिर पीया है ॥ ३६ ॥

स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितवक्षसम्।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥

उस समय राजा सृञ्जय अत्यन्त दुःखित चित्त होकर उस रुधिर लिपटे हृदयसे युक्त मरे हुए पुत्रको गोदमें उठाके आर्त स्वरसे विलाप करने लगे ॥ ३७ ॥

×

ततस्ता मातरस्तस्य रुदन्त्यः शोककर्शिताः ।
अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृञ्जयः ॥ ३८ ॥

उसके अनन्तर उस राजकुमारीकी मातायें भी पुत्रकी विपद् वार्त्ता सुनकर अत्यन्त ही शोकके सहित रोदन करती हुई जिस स्थानमें राजा सृञ्जय विलाप कर रहे थे, वहांपर उपस्थित हुईं ॥ ३८ ॥

ततः स राजा सस्मार मामन्तर्गतमानसः ।
तच्चाहं चिन्तितं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥

राजा सृञ्जयने बहुत देरतक रोदन करनेके अनन्तर एकाग्रचित्त होकर मुझे स्मरण किया, मैं उसे जानके उस ही समय शोकसे व्याकुल राजाके पास उपस्थित हुआ और दर्शन दिया ॥३९॥

स मयैतानि वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः ।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥

हे पृथ्वीपति ! अनन्तर क्षणभर पहिले यदुवीर श्रीकृष्णने जो तुम्हारे समीप वर्णन किया, वही सब प्राचीन राजर्षियोंका इतिहास उन शोकाकुल राजाके समीप वर्णन किया ॥ ४० ॥

संजीवितश्चापि मया वासवानुमते तदा ।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥

उसके अनन्तर इन्द्रकी सम्मतिसे उनके पुत्रको फिर जीवित भी कर दिया । हे राजन् ! इससे यह निश्चय जान रखो, कि जो होनहार है, वह अवश्य होता है, किसी प्रकार उसमें अन्यथा नहीं होसकता ॥ ४१ ॥

अत ऊर्ध्वं कुमारः स स्वर्णष्ठीवी महायशाः ।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

अनन्तर पराक्रमी और महायशस्वी राजपुत्र सुवर्णष्ठीवीने फिर जीवित होकर पिता माताके चित्तको प्रसन्न किया ॥ ४२ ॥

कारयामास राज्यं स पितरि स्वर्गते विभुः ।
वर्षाणामेकशतवत्सहस्रं भीमविक्रमः ॥ ४३ ॥

और कुछ समयके अनन्तर राजा सृञ्जयके परलोक गमन करनेपर महाबली. अत्यन्त तेजस्वी राजपुत्रने पिताकी राजगद्दी पर बैठके ग्यारह सौ वर्ष पर्यन्त निर्विघ्नताके सहित राज्य शासन किया ॥ ४३ ॥

तत इष्ट्वा महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
तर्पयामास देवांश्च पितॄंश्चैव महाद्युतिः ॥ ४४ ॥

इतने दिनोंमें उस महातेजस्वी राजकुमारने बहुतसी दक्षिणासे युक्त अनेक महायज्ञोंके अनुष्ठानसे देवता और पितरोंको तृप्त किया ॥ ४४ ॥

उत्पाद्य च बहून्पुत्रान्कुलसंतानकारिणः ।
कालेन महता राजन्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥

और बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न करके कुलको बढाया था । इसी भांति बहुत दीनतक अतुल ऐश्वर्य भोगके वह भी अन्त समयमें परलोकको गये ॥ ४५ ॥

स त्वं राजेन्द्र संजातं शोकमेतन्निवर्तय ।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥

इस कारण हे राजेन्द्र ! तुम भी उत्पन्न हुए हुए इस शोक को दूर करो और महातपस्वी व्यासदेव और श्रीकृष्णने तुम्हें जैसा उपदेश किया है ॥ ४६ ॥

पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह ।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टाल्लँलोकनवाप्स्यसि ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ १०६७ ॥

उस ही भांति पिता पितामहसे प्राप्त हुए राज्यभारको ग्रहण करो और लोकोंको पवित्र करनेवाले महा यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंको तृप्त करनेके वास्ते यत्न करो; ऐसा होनेसे तुम शरीर त्यागनेके अनन्तर अपने अभिलषित लोकमें गमन कर सकोगे ॥ ४७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ १०६७ ॥

: ३२ :

वैशम्पायन उवाच—

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— सम्पूर्ण धर्मतत्वके जाननेवाले महा तपस्वी श्रीकृष्ण द्वैपायनऋषि राजा युधिष्ठिरको शोकसे आर्त और मौनभावसे स्थित देखकर बोले ॥ १ ॥

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तनम् ॥ २ ॥

हे राजीवलोचन धर्मराज ! राजाओंको प्रजा पालन करना ही एक मात्र धर्म है; और सदा धर्म करनेवाले मनुष्योंका धर्म ही प्रमाण स्वरूप है ॥ २ ॥

अनुतिष्ठस्व वै राजन्पितृपैतामहं पदम् ।
ब्राह्मणेषु च यो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥ ३ ॥

अतः हे राजन् ! इससे तुम पिता पितामहसे रक्षित उस ही राजधर्मको पालन करो हे भरतकुल तिलक ! तपस्या केवल ब्राह्मणोंका ही धर्म है, ऐसी विधि वेदमें दृढ रूपसे निश्चित है ॥ ३ ॥

तत्प्रमाणं प्रमाणानां शाश्वतं भरतर्षभ ।
तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ वह नित्य धर्म प्रामाण्योंका मूल स्वरूप है; परन्तु समस्त धर्मोंका रक्षक क्षत्रियही है क्योंकि तपस्यामें निष्ठावान ब्राह्मण लोग विघ्नोंसे विना रक्षित हुए किसी भांति भी धर्मका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

तथा यः प्रतिहन्त्यस्य शासनं विषये नरः ।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः ॥ ५ ॥

यदि कोई पुरुष विषय लोभके वशमें होकर राजशासनका उलङ्घन करे, तो उस लोकयात्रामें विघ्न डालनेवाले पुरुषका अपनी दोनों भुजाओंके बलसे दमन करना राजाका कर्त्तव्य है ॥५॥

प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः ।
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वापि कश्चन ।
पापान्सर्वैरुपायैस्तान्नियच्छेद्घातयेत वा ॥ ६ ॥

सेवक, पुत्र या तपस्वी आदि कोई पुरुष क्यों न हों, यदि मोहके वशमें होकर प्रमाण भूत धर्म और शास्त्रको अप्रमाण करनेमें प्रवृत्त होंवें, तो जिन उपायोंसे होसके उन पापी पुरुषोंका शासन अथवा उनका वध करना उचित है ॥ ६ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम् ।
धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत्स धर्महा ॥ ७ ॥

इसमें अन्यथा-आचरण करनेसे राजाको पापमें लिप्त होना पडता है । किसी दुष्ट पुरुषको धर्म लुप्त करते देखके यदि राजा उस दुष्टको दण्ड देके धर्मकी रक्षा न करे, तो धर्म लुप्त होनेका सब पाप राजाको ही लगता है वह राजा धर्मका घात करनेवाला है ॥ ७ ॥

ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः ।
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद्दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥ ८ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुमने धर्मलोपक दुर्योधन आदि दुष्ट राजाओंको उनके सेवकोंसहित मारके यथार्थ रूपसे क्षत्रिय धर्मकी रक्षा की है; तब धर्ममें स्थित रहते हुए भी किस कारण तुम व्यर्थ शोक करते हो ? धर्मपूर्वक प्रजापालन, दान और दुष्टोंका दमन करना, ये ही राजाके प्रकृत धर्म हैं ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

न तेऽभिशङ्के वचनं यद्ब्रवीषि तपोधन ।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले- हे धर्मज्ञ पुरुषोंमें अग्रणी तपोधन ! धर्मके सम्पूर्ण तत्व आपको प्रत्यक्ष विदित हैं, इससे आपके उपदेश युक्त बचनोंका मैं कुछ भी संशय नहीं करता हूं ॥ ९ ॥

मया ह्यवध्या बहवो घातिता राज्यकारणात्।
तान्यकार्याणि मे ब्रह्मन्दहन्ति च तपन्ति च ॥ १० ॥

परन्तु ब्रह्मन्! मैंने जो राज्यके वास्ते भीष्म- द्रोणाचार्य आदि कई एक अवध्य पुरुषोंका वध किया है, वही दुष्कर्म मुझे तपाता और भस्म किये डालता है ॥ १० ॥

व्यास उवाच—

ईश्वरो वा भवेत्कर्ता पुरुषो वापि भारत।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम् ॥ ११ ॥

वेदव्यास बोले– हे भारत! युद्धभूमिमें जो सब वीर मारे गये, उनका वध करनेवाला ईश्वर, पुरुष, पुरुषका हठ- दुराग्रह अथवा उनके किये हुए कर्मोंके प्रारब्ध फल हैं? ॥ ११ ॥

ईश्वरेण नियुक्ता हि साध्वसाधु च पार्थिव।
कुर्वन्ति पुरुषाः कर्म फलमीश्वरगामि तत् ॥ १२ ॥

हे राजेन्द्र! यदि कहो कि जीव ईश्वरकी प्रेरणासे शुभ या अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, तो तुम्हें शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि उस शुभाशुभ कर्मोंके फलको देनेवाला कर्त्ता ईश्वर ही है, वही फल भोगेगा ॥ १२ ॥

यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद्वृक्षं परशुना वने।
छेत्तुरेव भवेत्पापं परशोर्न कथंचन ॥ १३ ॥

उसका दृष्टान्त देखो, कि यदि कोई पुरुष वनमें कुल्हाडीसे एक वृक्ष काटता है, तो वृक्ष काटनेका पाप उस काटनेवालेको ही लगेगा; कुल्हाडीको किसी प्रकार पाप नहीं लग सकता ॥ १३ ॥

अथ वा तदुपादानात्प्राप्नुयुः कर्मणः फलम्।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १४ ॥

यदि कहो, कि कुल्हाडा अचेतन अर्थात् जड वस्तु है, इसही कारण पापभागी नहीं हो सकता; परन्तु जीव चैतन्य है, इसही कारण नियोज्य कर्त्ता होनेसे वह शुभाशुभ कर्मोंका अवश्य फल-भागी होगा। तो वृक्ष काटनेवालेको पाप न लगकर कुल्हाडा बनानेवालेको भी तो पाप लग सकता है?॥ १४ ॥

न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन फलं कृतम्।
प्राप्नुयादिति तस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥ १५ ॥

हे कुन्तीनन्दन! कभी ऐसा विचार मत करो, कि उस नियोज्यकर्ता कुल्हाडा बनानेवालेको भी वृक्ष काटनेवालेके पाप-फलमें लिप्त होना पडेगा!- क्योंकि एक पुरुषने वृक्ष काटा और दूसरेको उस पापका भागी होना पडेगा, यह सिद्धान्त कदापि युक्ति-पूरित नहीं हो सकता। इससे तुम भी सब शुभाशुभ कर्मोंके फलको प्रयोजन-कर्ता ईश्वर ही को समर्पण करो ॥१५॥

अथ वा पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः ।
न परं विद्यते तस्मादेवमन्यच्छुभं कुरु ॥ १६ ॥

यदि कहो, जीवही शुभाशुभ कर्मोंका कर्त्ता है, उसे प्रेरणा करनेवाला कोई भी नहीं है; ऐसा माननेसे जगन्नियन्ता कोई भी नहीं स्वीकार किया जा सकता; ऐसा होनेसे तुम्हें किसका भय है ? तुमने शुभ अथवा अशुभ जो कुछ कर्म किये हैं, वेही उत्तम हैं ! ॥ १६ ॥

न हि कश्चित्कचिद्राजन्दिष्टात्प्रतिनिवर्तते ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १७ ॥

हे राजन् ! इस समय मैं जो कहता हूं, उसे विशेष रूपसे निश्चय करो । वृक्ष काटनेवालेका पाप कदापि नियोज्यकर्त्ता कुल्हाडा बनानेवालेको नहीं लग सकता; यह तुम निश्चय समझ रक्खो, कि कोई भी दैवको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, अर्थात् सब कोई दैवके वशमें होके शुभाशुभ कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये दण्ड अथवा शस्त्रसे किया हुआ पाप किसी पुरुषको नहीं लग सकता ॥ १७ ॥

यदि वा मन्यसे राजन्हठे लोकं प्रतिष्ठितम् ।
एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि तुम स्वभावकोही हठके कारण कर्त्ता समझते हो, तो भूत और भविष्यत् किसी कालमें भी तुम्हारे साथ पापका सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या शुभपापयोः ।
अभिपन्नतमं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! यदि तुम्हें सब लोगोंके धर्माधर्म-पुण्य और पापकी मीमांसा करनेकी इच्छा हो, तो शास्त्रसे ही इसका निर्णय हो सकता; क्योंकि प्रारब्ध धर्माधर्म शास्त्रमूलक हैं । इससे उस शास्त्रमें ही जब राजाका उद्दण्ड मनुष्योंके लिये दण्ड धारण कर्त्तव्यका विधि वर्णित है; तब तुम्हें इतने शोकका कौनसा विषय है ? ॥ १९ ॥

अथापि लोके कर्माणि समावर्तन्त भारत ।
शुभाशुभफलं चेमे प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥ २० ॥

हे राजशार्दूल ! यदि तुम यह समझते हो, कि शास्त्रका मत ऐसा ही है और सब लोग शास्त्र विधि अनुसार कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, इसे मैं स्वीकार करता हूं; परन्तु शुभ और अशुभ कर्मोंके फल स्वयं ही जीवके सम्बन्धमें आप ही आके उपस्थित होते हैं ॥ २० ॥

एवं सत्यं शुभादेशं कर्मणस्तत्फलं ध्रुवम् ।
त्यज तद्राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २१ ॥

और उन कर्मोंके फल भी जीवको प्राप्त होते हैं; तो मैं जो कुछ कहता हूं, उसे निश्चय करो । पापसे अशुभ कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है इससे तुम असत् फलदायक सम्पूर्ण कर्मोंको सब भांतिसे त्याग कर अब शोक चिन्तासे रहित हो जाओ ॥ २१ ॥

स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन्न शोभनः ॥ २२ ॥

हे राजन् भारत ! तुमने अपना धर्म दोषयुक्त हो तो भी यथार्थ रीतिसे पालन किया है, इससे अब तुम्हें लोकनिन्दित आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

विहितानीह कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मिणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २३ ॥

और देखिये, इस लोकमें पापकर्मोंके प्रायश्चित्तकी विधि है; परन्तु प्रायश्चित्त जीवित अवस्थामें ही सहजमें किया जा सकता है; शरीर नष्ट होनेपर किस प्रकार प्रायश्चित्त हो सकेगा ? और प्रायश्चित्त न करनेके कारण उन पापकर्मोंका दुःख ही प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

तद्राजञ्जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ १०९१ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! शरीरकी रक्षा करनेसे तुम अनायास ही प्रायश्चित्तके अनुष्ठान करनेमें समर्थ हो सकोगे, और यदि तुम विना प्रायश्चित्त किये ही शरीर त्याग करोगे, तो परलोकमें तुम्हें अत्यन्त ही संतप्त होना पडेगा ॥ २४ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ १०९१ ॥

: ३३ :

युधिष्ठिर उवाच—

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा ।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाः सपितामहाः ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! हे तपोधन ! मैंने राज्यलोभसे पुत्र, पौत्र, भ्राता, चाचा –पितर, स्वशुर, गुरु, मामा, पितामह, ॥ १ ॥

क्षत्रियाश्च महात्मानः संबन्धिसुहृदस्तथा ।
वयस्या ज्ञातयश्चैव भ्रातरश्च पितामह ॥ २ ॥

भानजे, स्वजन, सुहृद, मित्र, सम्बन्धी आदि तथा दूसरे बहुतेरे क्षत्रियोंका नाश किया है ॥२॥

बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः ।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ॥ ३ ॥

जो सब राजा दोनों ओरकी सहायता करनेके वास्ते कुरुक्षेत्रमें आके उपस्थित हुए थे, उनके बीच एक भी पुरुष जीते जी घर न जासके, सब कोई रणभूमिमें मरकर यमलोकवासी हुए ! हे महर्षि ! आप केवल मुझे ही इन सब लोगोंके नाशकी जड समझिये ॥ ३ ॥

तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान्महीक्षितः।
असकृत्सोमपान्वीरान्किं प्राप्स्यामि तपोधन ॥ ४ ॥

जो लोग सदासर्वदा धर्म और यज्ञके अनुष्ठानमें रत रहते थे, वैसे धर्मात्मा वीर राजा और स्वजन–बान्धवोंको नाश करके इस पुरुष हीन पृथ्वीके राज्यको ग्रहण करनेमें मुझे कौनसा सुख मिलेगा? ॥ ४ ॥

दह्याम्यनिशमद्याहं चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥

उन सम्पूर्ण श्रीमान् राजसिंहोंसे रहित पृथ्वीकी दुर्दशाको वारम्वार विचारके मेरा हृदय अब भी रातदिन भस्म हुआ जाता है ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान्।
कोटिशश्च नरानन्यान्परितप्ये पितामह ॥ ६ ॥

हे पितामह! विशेष करके भयङ्कर स्वजनहत्या और सैकडों अन्य अन्य लोगोंके तथा करोडों अन्य पुरुषोंके विनाशको देखकर मेरा चित्त सर्वथा संतप्त होता है ॥ ६ ॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति।
विहीनानां स्वतनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ७ ॥

इस कुरुक्षेत्रके युद्धमें जिनके पति, पुत्र और भाई मारे गये हैं; उन स्वजनहीन दीन सुंदरी स्त्रियोंकी इस समय कैसी दशा होगी? ॥ ७ ॥

अस्मानन्तकरान्घोरान्पाण्डवान्वृष्णिसंहितान्।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीना निपतन्त्यश्च भूतले ॥ ८ ॥

वे सब स्त्रियां तनुक्षीण और दीनभावसे युक्त होकर, क्रूर पाण्डवोंने वृष्णिवंशियोंके सङ्ग मिलके हमारे पति, पुत्र आदि आत्मीय पुरुषोंका वध किया है, ऐसे वचनोंको कहके हम लोगोंकी निन्दा करती हुई पृथ्वीमें गिरेंगी ॥ ८ ॥

अपश्यन्त्यः पितॄन्भ्रातॄन्पतीन्पुत्रांश्च योषितः।
त्यक्त्वा प्राणान्प्रियान्सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम् ॥ ९ ॥

वे सब स्त्रियां अपने पिता, भ्राता, पति और पुत्रोंको न देखकर स्नेह–बन्धनसे युक्त होके शोकित तथा अत्यन्त दुःखित होकर प्राण त्यागके यमलोकमें गमन करेंगी ॥ ९ ॥

वत्सलत्वाद्द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम् ॥ १० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! स्वजनोंके प्रति वात्सल्यके कारण, वे अवश्य ऐसाही करेंगी धर्मकी गति सूक्ष्म है, इससे हम लोगोंको ही स्त्री वधरूपी पापमें लिप्त होना होगा; इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १० ॥

ते वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम् ।
नरके निपतिष्यामो ह्यधःशिरस एव च ॥ ११ ॥

हमने राज्यलोभसे आत्मीय पुरुषोंका नाश करके बहुतसा पाप किया है, तब हमको शिर नीचा करके महाघोर नरकमें गमन करना पडेगा; इसमें कौन सन्देह कर सकता है ? ॥ ११ ॥

शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम ।
आश्रमांश्च विशेषांस्त्वं ममाचक्ष्व पितामह ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ ११०३ ॥

इससे हे ऋषिसत्तम पितामह ! आप सब आश्रमोंके विशेष लक्षण मेरे समीप वर्णन कीजिये । आपके उपदेशके अनुसार मैं कठिन तपस्या करके शरीर त्याग करूंगा ॥ १२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ ११०३ ॥

: ३४ :

वैशंपायन उवाच –

युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा ।
समीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम् ॥ १ ॥

वैशंपायन बोले– श्रीवेदव्यास मुनि धर्मपुत्र युधिष्ठिरके ऐसे वचनको सुनकर निजबुद्धि अनुसार समालोचना करके उन पाण्डुपुत्रसे बोले– ॥ १ ॥

मा विषादं कृथा राजन्क्षत्रधर्ममनुस्मर ।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ २ ॥

हे राजन् ! क्षत्रियश्रेष्ठ ! तुम क्षत्रिय धर्मका स्मरण करके विषाद न करो; क्योंकि सम्पूर्ण क्षत्रिय पुरुष निजधर्मके अनुसार युद्धभूमिमें मारे गये हैं ॥ २ ॥

काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद्यशः ।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः ॥ ३ ॥

वे सब कोई इस पृथ्वीपर महत् यश और परम सौभाग्यकी अभिलाषासे युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए थे; परन्तु समय पूर्ण होनेसे ही वे लोग कालके वशमें होके प्राणरहित होगये ॥ ३ ॥

न त्वं हन्ता न भीमोऽपि नार्जुनो न यमावपि ।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम् ॥ ४ ॥

तुम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव– तुम लोग कोई भी उन लोगोंके मारनेवाले नहीं हो । पर्याय क्रमसे धर्मपूर्वक कालने ही उन लोगोंका प्राणहरण किया है ॥ ४ ॥

न यस्य मातापितरौ नानुग्राह्योऽस्ति कश्चन ।
कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥ ५ ॥

उस कालका कोई माता, पिता, भ्राता तथा अनुग्रहका पात्र नहीं है। जो सम्पूर्ण प्रजाके किये हुए कर्मोंका साक्षी है, उस ही कालके प्रभावसे युद्धमें प्रवृत्त हुए क्षत्रिय पुरुष मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ ५ ॥

हेतुमात्रमिदं तस्य कालस्य पुरुषर्षभ ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस युद्धको कालने निमित्त मात्र किया है; जो काल एक प्राणीको अन्य प्राणीके द्वारा नष्ट करता है, और ऐसाही उसका नियत कार्य है, वही उसका ईश्वरीय रूप है ॥ ६ ॥

कर्ममूर्त्यात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः ।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! पुण्य–पापके साक्षी स्वरूप कालको कर्म सूत्रात्मक समझनेसे अर्थात् जीवके किये हुए कर्म ही भविष्यमें सुख तथा दुःख रूपसे परिणत होते हैं; इससे ईश्वर जीवके किये हुए कर्मोंके फलको प्रदान करके शुभाशुभ कर्मोंमें लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय ।
विनाशहेतुकारित्वे यैस्ते कालवशं गताः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! वे सब क्षत्रिय पुरुष जिन कर्मोंसे युद्धमें मारे गये हैं, उन लोगोंके नाशके मूल कारण उनके सम्पूर्ण कर्मों और अपने किये हुए तपस्या तथा व्रत आदि विषयोंको विचारके देखो ॥ ८ ॥

आत्मनश्च विजानीहि नियमव्रतशीलताम् ।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाक्रम्य कारितः ॥ ९ ॥

क्योंकि तुम अत्यन्त ही क्षमाशील, अजातशत्रु और नियमपूर्वक व्रतके पालनमें रत हो, तौभी पूर्व कर्मके प्रभावसे दैवने स्वयं तुम्हें इस हिंसात्मक युद्ध कर्ममें प्रवृत्त कराके अनेक पुरुषोंका नाश कराया है ॥ ९ ॥

त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा स्थापयितुर्वशे ।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं भ्राम्यते जगत् ॥ १० ॥

इससे जैसे लोहारका बनाया यन्त्र उसके आधीन रहता है, उसी प्रकार यह जगत् ईश्वरके वशमें होकर कालप्रेरित कर्मसे ही प्रवर्त्तित होता है ॥ १० ॥

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥ ११ ॥

इस पृथ्वीपर प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाश विना ही कारण दैवेच्छासे होती है; यह देखनेसे हर्ष वा शोक करना निरर्थक होता है ॥ ११ ॥

व्यलीकं चापि यत्त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव ।
तदर्थमिष्यते राजन्प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ १२ ॥

महाराज ! तुम्हारे चित्तमें जो उनके मरवानेके कारण चिन्ता तथा पीडा हो रही है, इसकी निवृत्तीके लिये प्रायश्चित्तकी जैसी उचित विधि है, उसका अनुष्ठान अवश्य करो ॥ १२ ॥

इदं च श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा ।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥ १३ ॥

हे पृथापुत्र ! पहिले देवासुर युद्धके विषयमें ऐसा सुना गया है, कि असुर जेठे भाई और देवता लोग उनसे छोटे भाई थे ॥ १३ ॥

तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत्समुच्छ्रयः ।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत्किल ॥ १४ ॥

राजलक्ष्मीके वास्ते देवता और असुरोंमें महाघोर भ्रातृ-विरोध उपस्थित हुआ; बत्तीस सहस्र वर्ष पर्यन्त उन लोगोंमें महाभयङ्कर युद्ध होता रहा ॥ १४ ॥

एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम् ।
जघ्नुर्दैत्यांस्तदा देवास्त्रिदिवं चैव लेभिरे ॥ १५ ॥

देवताओंने दैत्योंका संहार करके समुद्रकी भांति उस समय इस पृथ्वीको रुधिरसे परिपूरित कर दिया, और देवता लोगोंने दैत्योंको पराजित करके स्वर्ग लोकके राज्यको प्राप्त किया ॥ १५ ॥

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थे दर्पमोहिताः ॥ १६ ॥

उसी समय कितने ही वेद जाननेवाले ब्राह्मण जो अभिमानसे मोहित होकर दैत्योंकी सहायतामें तत्पर होगये थे; देवताओंने इसी प्रकार पृथ्वीको पाकर ॥ १६ ॥

शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत ।
अष्टाशीतिसहस्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥ १७ ॥

हे भारत ! उन अट्ठासी हजार शालावृक नामसे तीनों लोकोंमें विख्यात ब्राह्मणोंका भी वध कर डाला ॥ १७ ॥

धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ १८ ॥

पृथ्वी-मण्डलमें जो लोग धर्मको नष्ट करनेकी इच्छा करके अधर्मकी वृद्धि करते हैं; उन दुष्टोंका नाश करना ही उचित है; जैसे देवताओंने प्रबल दैत्योंका नाश किया था ॥ १८ ॥

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वाथ राष्ट्रं वा न तद्वृत्तोपघातकम् ॥ १९ ॥

यदि एकके नाश करनेसे कुलभरकी आपद् दूर होवे, तो अवश्य ही एकका नाश करना उचित है; यदि एक कुलके नष्ट करनेसे राज्य भरके सम्पूर्ण प्राणियोंकी रक्षा होती हो, तो उस कुल भरको नष्ट करनेसे भी धर्म नष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ २० ॥

हे राजन् ! इसी भांति कोई कोई अधर्मके कार्य हैं, जो धर्म रूपसे परिणत होते हैं, और कोई कोई धर्मके कार्य भी अधर्मरूपसे गिने जाते हैं; इस कारण विद्वान् मनुष्यको धर्म और अधर्मका रहस्य जान लेना चाहिये ॥ २० ॥

तस्मात्संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव ।
देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ २१ ॥

हे पाण्डुपुत्र भारत ! तुम सब शास्त्रोंके विषयोंको भली भांति जानते हो और देवता तथा पूर्व राजऋषियोंके आचरित प्राचीन मार्गके ही अनुगामी हुए हो; इससे अब शोक मत करो, हृदयको स्थिर करो ॥ २१ ॥

न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ ।
भ्रातॄनाश्वासयैतांस्त्वं सुहृदश्च परंतप ॥ २२ ॥

हे पाण्डवश्रेष्ठ ! शत्रुतापन ! तुम यह निश्चय जान रखो, कि तुम्हारे समान धर्मात्मा और सदाचारी पुरुष नरकमें कदापि गमन नहीं करते। इससे अब तुम इस समय अपने इन भाइयों और सुहृद पुरुषोंको धीरज धारण कराओ ॥ २२ ॥

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात्कृत्वा च निरपत्रपः ॥ २३ ॥

जो पुरुष मनमें पापकी इच्छा करके पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, और पाप कर्म करके कुछ भी पश्चात्ताप नहीं करता, उससे लज्जित नहीं होता, ॥ २३ ॥

तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥ २४ ॥

वही पुरुष संपूर्ण पापोंका भागी होता है, ऐसा शास्त्रका कथन है; ऐसे पापाचारी पुरुषके पापके प्रायश्चित्तकी विधि नहीं है, इससे उस पापीका पाप नहीं घट सकता ॥ २४ ॥

त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ २५ ॥

परन्तु तुम तो जन्मसे ही शुद्ध स्वभावके हो और पाप कर्म करनेके वास्ते मनमें भी इच्छा नहीं करते; केवल शत्रुओंके दोषसे ही तुम्हें युद्ध करनेमें प्रवृत्त होना पडा था; और कार्य समाप्त करके पश्चात्ताप भी कर रहे हो, इससे तुम्हें प्रायश्चित्त करनेमें अधिकार है ॥ २५ ॥

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥ २६ ॥

हे महाराज ! अश्वमेध नामक महायज्ञके अनुष्ठान करनेसे ही इसका प्रायश्चित्त कहा गया है, इससे तुम अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो। इस प्रकार तुम पापरहित हो जाओगे ॥ २६ ॥

मरुद्भिः सह जित्वारीन्मघवान्पाकशासनः।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥ २७ ॥

भगवान् पाकशासन इन्द्रने मरुद्गणोंके सङ्ग मिलके दैत्योंको जीतकर एक एक करके क्रमसे सौ अश्वमेध यज्ञोंको पूर्ण किया था, इसहीसे वह शतक्रतु नामसे विख्यात हुए ॥ २७ ॥

पूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान्प्राप्य सुखोदयान्।
मरुद्गणवृतः शक्रः शुशुभे भासयन्दिशः ॥ २८ ॥

और पाप रहित होकर स्वर्गलोक पर जय करके और परम सुखदायक लोकोंको प्राप्त कर, सब दिशाओंको प्रकाशित करते हुए मरुद्गणोंके सहित स्वर्ग लोकके राज्यपर शोभित हो रहे हैं ॥ २८ ॥

स्वर्गलोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम्।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ २९ ॥

देखो, देवताओंके राजा शचीपति इन्द्र अप्सराओंके सहित महामहिमासे युक्त होकर किस प्रकार सुख पूर्वक स्वर्ग लोकमें विराजमान हैं और किस प्रकार देवता तथा ऋषियों द्वारा पूजित हो रहे हैं ॥ २९ ॥

सोऽयं त्वमिह संक्रान्तो विक्रमेण वसुंधराम्।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयानघ ॥ ३० ॥

हे निष्पाप राजन् ! इस समय तुमने भी अपने पराक्रमसे सब राजाओंको पराजित किया है, और समस्त पृथ्वीपर भी तुम्हारा अधिकार हुआ है ॥ ३० ॥

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन्सुहृद्वृतः।
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ ३१ ॥

राजन् ! इससे अब तुम सुहृद् पुरुषोंके सङ्ग मिलके राजा और युद्धमें मरे हुए राजाओंके नगरमें गमन करके, उन लोगोंके पुत्र, पौत्र वा भ्राता जो कोई वर्त्तमान हों, उन्हें उनके पैतृक राज्य पर अभिषिक्त करो ॥ ३१ ॥

बालानपि च गर्भस्थान्सान्त्वानि समुदाचरन् ।
रञ्जयन्प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुंधराम् ॥ ३२ ॥

यदि उन लोगोंके बीच कोई गर्भस्थ बालक भी हो, तौ भी सदाचार और सान्त वचनसे उन्हें राज्यपद पर प्रतिष्ठित करके सब प्रजाके मनको रञ्जन करते हुए पृथ्वीका पालन करो ॥ ३२ ॥

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय ।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यति ॥ ३३ ॥

जो राजा राजपुत्रोंसे रहित होगये हैं, वहां पर यदि मृत राजाओंकी कन्या हों, तो उन्हें राज्यपर अभिषिक्त कीजिये; क्योंकि स्त्रियोंके पूर्ण मनोरथ होनेसे ही फिर वंशकी बढती हो सकेगी; इसी भांति कार्य करनेसे तुम्हारा शोक दूर होगा ॥ ३३ ॥

एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत ।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ३४ ॥

भारत ! तुम इसी भांतिसे राज्यके सब प्रजाको सुखी करते हुए, असुरोंके नाश करनेवाले विजयी इन्द्रकी भांति अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ ३४ ॥

अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ३५ ॥

हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें जो सब महात्मा क्षत्रियोंकी मृत्यु हुई है, उनके वास्ते शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि वे सब वीर योद्धा कालके वशमें होकर क्षत्रिय धर्मके अनुसार युद्धभूमिमें मारे गये हैं ॥ ३५ ॥

अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकल्मषम् ।
चरस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान्यः प्रेत्य भाविकः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ ११३९ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! इस समय तुमने क्षत्रियोंके यथार्थ धर्म और निष्कण्टक राज्य दोनों ही प्राप्त किया है, इससे निज धर्मके अनुसार राज्य शासन करो; ऐसा होनेसे ही परलोकमें तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ३६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ ११३९ ॥

: ३५ :

युधिष्ठिर उवाच—

कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः ।
किं कृत्वा चैव मुच्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– हे महर्षि पितामह ! मनुष्यको किन कर्मोंको करनेसे प्रायश्चित्त करना पडता है; और किन कार्योंके करनेसे वे लोग उन पापोंसे छूट सकते हैं ? आप यह वृत्तान्त मेरे समीप कहिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच—

अकुर्वन्विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन् ।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्या च वर्तयन् ॥ २ ॥

वेदव्यास मुनि बोले– प्रतिषिद्ध कर्म करनेवाला और विहित कर्म न करनेवाला तथा जो मिथ्या कार्योंमें प्रवृत्त होता है, वह ही प्रायश्चित्त करनेके योग्य है ॥ २ ॥

सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत ।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥

ब्रह्मचारी पुरुष यदि सूर्यके उदय और अस्त होनेके समयतक शयन करता रहे तो उसे भी पापग्रस्त होना पडता है। कुनखी अर्थात् पूर्व जन्ममें जो पुरुष सुवर्ण चोरी किया रहता है, दूसरे जन्ममें उसके हाथ पांवके नख दूषित हो जाते हैं, इस लोकमें वही पुरुष कुनखी कहके प्रसिद्ध है। पहिले जन्ममें शराब पनिवाले पुरुषके दूसरे जन्ममें दांत काले हो जाते हैं; वह पुरुष श्यावदन्ती नामसे विख्यात होता है; उन सबको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मोज्झो यश्च कुत्सकः ।
दिधिषूपतिस्तथा यः स्यादग्रेदिधिषुरेव च ॥ ४ ॥

जिस पुरुषका छोटा भाई अपना आगे विवाह करता है, वह जेष्ठ परवित्ति नामसे प्रसिद्ध होता है। परिवेत्ता अर्थात् जो पुरुष जेठे भाईके रहते हुए पहिले अपना विवाह करता है; ब्रह्मघाती, परनिन्दक, जेठी बहिनके रहते छोटी बहिनका ब्याह होनेसे उस छोटीके पतिका नाम दिधिषूपति कहके प्रसिद्ध होता है। छोटीका पहिले ब्याह होनेसे उसकी जेठी बहिनको जो ब्याहता है, वह पुरुष दिधिषुका उपपति कहके विख्यात होता है ॥ ४ ॥

अवकीर्णी भवेद्यश्च द्विजातिवधकस्तथा ।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥ ५ ॥

अवकीर्णी अर्थात् व्रतभ्रष्ट, द्विजकी हत्या करनेवाला, सत्पात्रको वेद विद्या न देनेवाला और कुपात्रको वेद विद्या दान करनेवाला ॥ ५ ॥

ग्रामयाजी च कौन्तेय राज्ञश्च परिविक्रयी ।
शूद्रस्त्रीवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः ॥ ६ ॥

ग्रामयाजी, मांस बेचनेवाला, शूद्र स्त्री घातक, वंश परम्परासे निन्दित पुरुष— इनमें पीछे-वालोंसे पहलेवाले अधिक पापी हैं ॥ ६ ॥

वृथापशुसमालम्भी वनदाहस्य कारकः ।
अनृतेनोपचर्ता च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ॥ ७ ॥

अधर्मसे वृथा पशुओंकी हिंसा करनेवाला, वन जलानेवाला, झूठ बोलकर जीविका निर्वाह करनेवाला, गुरुजनोंसे विरुद्धता करनेवाला, ॥ ७ ॥

यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ।
एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः ॥ ८ ॥

और नियमका उल्लङ्घन करनेवाला, अग्निका त्याग करनेवाला तथा ज्ञानको बेचनेवाला— ये सब पापग्रस्त पुरुष ही प्रायश्चित्त करनेके अधिकारी हैं ॥ ८ ॥

अकार्याण्यपि वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे ।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥

इस समय अकार्य अर्थात् लौकिक और वेद विरुद्ध कार्योंको तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं, चित्त लगाके सुनो ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया ।
अयाज्ययाजनं चैव तथाभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ १० ॥

भारत ! निज धर्म त्यागके पराये धर्म कार्योंका अनुष्ठान करना, जिन पदार्थोंका हवन करना योग्य न हो, उनका हवन करना, अभक्ष वस्तुओंका भक्षण करना ॥ १० ॥

शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा ।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥

शरणागतका परित्याग करना, सेवकोंका भरण-पोषण न करना, रस अर्थात् लवण तथा गुड आदि बेचना, पशु पक्षी आदिका नाश करना ॥ ११ ॥

आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः ।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यं देयानि भारत ॥ १२ ॥

सामर्थ्य रहते भी अग्न्याधान आदि कर्मोंको न करना, और प्रतिदिन देने योग्य गोग्रास आदि न देना ॥ १२ ॥

दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम् ।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ १३ ॥

ब्राह्मणोंको दक्षिणा न देना तथा उनका सर्वस्व छीन लेना,— इन ऊपर कहे हुए कार्योंको धर्म जाननेवाले पुरुषोंने अकार्य कहके वर्णन किया है ॥ १३ ॥

पित्रा विभजते पुत्रो यश्च स्याद्गुरुतल्पगः ।
अप्रजायन्नधर्मेण भवत्याधर्मिको जनः ॥ १४ ॥

जो पुत्र पितासे अलग हो जाता है, जो गुरुकी स्त्रीके साथ सोता है, और जो उचित समय पर निज स्त्रीसे सन्तान उत्पन्न नहीं करता, वह मनुष्य अधार्मिक होता है ॥ १४ ॥

उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च ।
यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते जनः ॥ १५ ॥

महाराज ! जिन कर्मोंके करने और जिनके न करनेसे मनुष्योंको प्रायश्चित्त करना पडता है, उसे मैंने संक्षेप और विस्तारके सहित तुम्हारे समीप वर्णन किया है ॥ १५ ॥

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवान् ।
येषु येषु निमित्तेषु न लिम्पन्त्यथ तच्छृणु ॥ १६ ॥

अब इन कर्मोंके करनेपर भी जिन कारणोंसे मनुष्योंको पापी नहीं होना पडता, उसे वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १६ ॥

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
जिघांसन्तं निहत्याजौ न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १७ ॥

वेद जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण भी यदि शस्त्र ग्रहण करके युद्ध भूमिमें मारनेके लिये आवे, तो युद्ध करनेवाले ब्राह्मणका वध करनेपर भी ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता ॥ १७ ॥

अपि चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते ।
वेदप्रमाणविहितं तं धर्मं प्रब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! मैंने जैसी व्यवस्था कही है, वेदमें भी इस विषयका प्रमाण है। जो वेद प्रमाणसे युक्त और विहित धर्म कहके वर्णित है, वह मैं तुम्हारे समीप कहता हूं॥ १८॥

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद्यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ १९ ॥

निज वृत्तिसे भ्रष्ट आततायी ब्राह्मणका वध करनेसे मारनेवालेको ब्रह्महत्याके पापमें नहीं लिप्त होना पडता; उसका कारण यही है कि उस आततायीका क्रोधही उसके वध करनेवाले पुरुषके क्रोध उत्पन्न होनेका मूल है ॥ १९ ॥

प्राणात्यये तथाज्ञानादाचरन्मदिरामपि ।
अचोदितो धर्मपरः पुनः संस्कारमर्हति ॥ २० ॥

यदि अज्ञानता और असाध्य व्याधिसे जीवन नष्ट होता होवे, तो ऐसे समयमें धर्मात्मा ज्ञानी वैद्यके उपदेशके अनुसार सुरापान करनेपर, फिर संस्कार मात्र करनेसे ही सुरापानके पापसे मुक्त हो सकेगा ॥ २० ॥

×

एतत्ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम् ।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुध्यति ॥ २१ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! यही अभ्यक्ष्य वस्तुओंके भक्षणोंके विषयमें कहा गया है; विहित प्रायश्चित्त करनेसे मनुष्य उन सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम् ।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ॥ २२ ॥

गुरुकी आज्ञानुसार उन्हींके लिये गुरुपत्नीके सङ्ग गमन करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता; उसका प्रमाण यह है, कि उद्दालक मुनिने शिष्यके द्वारा अपनी स्त्रीसे श्वेतकेतु नाम पुत्र उत्पन्न कराया था ॥ २२ ॥

स्तेयं कुर्वंस्तु गुर्वर्थमापत्सु न निषध्यते ।
बहुशः कामकारेण न चेद्यः संप्रवर्तते ॥ २३ ॥

आपद्‌काल उपस्थित होनेपर गुरुके निमित्त चोरी कर्म करनेसे भी पाप नहीं लगता; परन्तु वह शिष्य गुरुके हित साधनके सिवा अपनी अभिलाषासे यदि चोरी कर्ममें प्रवृत्त न होवे ॥ २३ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति ।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते ॥ २४ ॥

वह चोरी किया हुआ धन यदि ब्रह्मस्व न हो और चोरी करनेवाला यदि उसे स्वयं भोग करनेकी इच्छा न करे, उसे पापमें नहीं लिप्त होना पडेगा ॥ २४ ॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य वा ।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च ॥ २५ ॥

अपने वा दूसरेके प्राण रक्षाके निमित्त, गुरुके वास्ते, विवाह और स्त्रीसे रति करनेके समयमें मिथ्या वचन कहनेसे मनुष्य पापी नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथंचन ।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ २६ ॥

ब्रह्मचारी पुरुषका वीर्य यदि स्वप्नमें स्खलीत होजावे, तो फिरसे उपनयनकी विधि नहीं है; उसके प्रायश्चित्तके वास्ते जलती हुई अग्निमें घृत होम करनेकी विधि है ॥ २६ ॥

पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा ।
भिक्षिते पारदार्यं च न तद्धर्मस्य दूषकम् ॥ २७ ॥

बडा भाई यदि विवाहके पहिले ही पतित वा परिव्राजक हो जावे, तो छोटा भाई विवाह कर सकता है; ऐसा करनेसे पारिविति दोषमें नहीं फंसना पडता । पराई स्त्री यदि कामसे आर्त होके स्वयं आकर रति करनेकी इच्छा करे, तो उसके सङ्ग भोग करनेसे धर्म भ्रष्ट नहीं होता ॥ २७ ॥

वृथापशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत् ।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिचोदितः ॥ २८ ॥

पशुओंका वध करना वा दूसरेको पशुओंके वध करनेमें प्रवृत्त कराना उचित नहीं है, परन्तु यज्ञमें जो मन्त्र पढकर पशुओंका संस्कार होता है, वह पशुओंके ऊपर कृपा प्रकाशित हुई है, कहके वेदमें वर्णित है ॥ २८ ॥

अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात्तन्न दूषकम् ।
सत्कारणं तथा तीर्थेऽतीर्थे वा प्रतिपादनम् ॥ २९ ॥

तीर्थ स्थानमें यदि कोई पुरुष अज्ञानताके कारण योग्यपात्रको दान न देकर अयोग्य ब्राह्मणको दान देवे, तो उससे धर्म लोप नहीं होता ॥ २९ ॥

स्त्रियस्तथापचारिण्यो निष्कृतिः स्याददूषिका ।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्ता प्रदुष्यते ॥ ३० ॥

स्त्रीके दुराचारिणी होनेसे उसके सङ्ग रति और भोजन आदि कर्म न करके उसे धिक्कार देकर पृथक् स्थानमें रखनेसे स्त्री पुरुष दोनों ही निर्दोष होते हैं, अर्थात् स्त्री धिक्कार प्रदानसे तिरस्कृत होनेसे ही शुद्ध होती है और पुरुष स्त्रीका सङ्ग त्यागनेसे निर्दोष होता है ॥३०॥

तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददूषकः ।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान् ।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः ॥ ३१ ॥

जो पुरुष "इससे देवता लोग तृप्त होकर मनुष्योंके इच्छानुयाई अर्थात् अन्न उत्पन्नके योग्य जलवृष्टि करते हैं," इससे सोमरस दोनों लोकोंका उपकारक है,– इस प्रकार सोमरसके तत्वको जानता है, और उसका विक्रय करता है तो वह सोमरस बेचनेका पापी नहीं होता; कार्य करनेमें असमर्थ सेवकका परित्याग करनेसे स्वामीको दोषभागी नहीं होना पडता; सब गौओंकी रक्षा करनेके वास्ते सम्पूर्ण वनको भस्म किया जाय, तो उससे पाप नहीं होता है ॥ ३१ ॥

उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति ।
प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ ११७१ ॥

महाराज ! मैंने जिन कर्मोंकी कथा कही है, यदि ऊपर कहे हुए कारणसे वे सब कार्य किये जावें; तो उन कर्मोंके करनेवाले पुरुषको पापी नहीं होना पडता । अब प्रायश्चित्तके विषयको विस्तारपूर्वक वर्णन करूंगा, ध्यान देके सुनो ॥ ३२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ ११७१ ॥

: ३६ :

व्यास उवाच—

तपसा कर्मभिश्चैव प्रदानेन च भारत ।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥ १ ॥

वेदव्यास मुनि बोले— महाराज ! प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर यदि मनुष्य फिर पूर्वकृत पापाचरणमें प्रवृत्त न होवे, तो तपस्या, यज्ञके अनुष्ठान और गौ तथा सुवर्ण दानसे पापसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

एककालं तु भुञ्जानश्चरन्भैक्षं स्वकर्मकृत् ।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥ २ ॥

सेवक न रखके निज कार्योंको स्वयं करते हुए भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके एक वार भोजन करे, ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित हो, कपालपाणि होकर पृथ्वीपर भ्रमण करते हुए उद्यमशील बना रहे ॥२॥

अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन् ।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

असूया-रहित होके निज दोष प्रकाशित करे और रात्रिके समय भूमिपर शयन करे, इसी भांति नियम पूर्वक बारह वर्ष व्यतीत करनेसे ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष ब्रह्मत्याके पापसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः ।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

यदि कृच्छ्रभोजी होसके, अर्थात् पहिले तीन दिन सवेरे, फिर तीन दिन सन्ध्याके समय और फिर तीन दिन तक बिना मांगी वस्तुओंका भोजन करना होगा और शेषके तीन दिनमें कुछ भी भोजन न करने पावेगा, इसीको कृच्छ्र भोजन कहते हैं; इसी भांति नियमपूर्वक छः वर्ष बितानेसे पुरुष पापसे रहित हो सकते हैं । यदि प्रत्येक महीनेसे प्रथम सप्ताहमें सवेरे, दूसरे सप्ताहमें अयाचित भोजन करके, चौथे सप्ताहमें अनशन व्रत करे, तो तीन वर्षमें ही ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाता है ॥ ४ ॥

संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः ।
तथैवोपरमन्राजन्स्वल्पेनापि प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

यदि पहिले महीनेमें प्रातःकाल, दूसरेमें सन्ध्याके समय, तीसरेमें विना मांगा हुआ भोजन करके चौथे महीनेमें उपवास व्रत करे,— तो क्रमसे एक वर्षतक इसी भांति नियमपूर्वक रहनेसे ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष अपने पापसे छूटेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । राजन् ! और यदि महीने भरसे अधिक समय तक कुछ भी भोजन न करके केवल जल पीके प्राण धारण करके रह सके तो इस प्रकार अनशन व्रत करनेवाला पुरुष थोडे ही समयमें पापरहित होता है ॥ ५ ॥

क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः ।
ये चास्याचभृथे स्नान्ति केचिदेवंविधा नराः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करनेसे ब्रह्महत्याका पाप शुद्ध होता है, इसमें संशय नहीं है । जो इस प्रकारके लोग यज्ञमें अवभृथ स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

ते सर्वे पूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः ।
ब्राह्मणार्थे हतो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ ७ ॥

वे सब पापमुक्त हो जाते हैं— ऐसा श्रुतिका कहना है । इसी भांति जो पुरुष ब्राह्मणके प्राण रक्षामें प्रवृत्त होकर युद्धमें मारा जाता है, वह भी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो सकता है ॥७॥

गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयन् ।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ८ ॥

अथवा जो ब्रह्महत्यारा उत्तम सुपात्र ब्राह्मणोंको एक लाख गौएं दान करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ८ ॥

कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात्पञ्चविंशतिम् ।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥ ९ ॥

जो दूध देनेवाली पचीस हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ९ ॥

गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये ।
साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ १० ॥

मृत्युकाल निकट आनेपर, सदाचारी दरिद्र ब्राह्मणोंको एक हजार बछडोंसे युक्त दुग्धवती गौओंको दान करनेसे भी मनुष्य पापोंसे मुक्त हो सकेगा ॥ १० ॥

शतं वै यस्तु काम्बोजान्ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात्प्रमुच्यते ॥ ११ ॥

पृथ्वीपते ! जितेन्द्रिय ब्राह्मणोंको सौ कम्बोजदेशीय घोडोंका जो दान करता है, वह भी पापरहित होगा ॥ ११ ॥

मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत ।
न कीर्तयेत दत्त्वा यः स च पापात्प्रमुच्यते ॥ १२ ॥

यदि याचक ब्राह्मणको उसकी अभिलाषाके अनुसार वस्तु दान कर सके और दान करके किसीके समीप उसकी चर्चा न करे; तो एकको ही दान देकर पापसे मुक्त होसकेगा ॥१२॥

सुरापानं सकृत्पीत्वा योऽग्निवर्णां पिबेद्द्विजः ।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥ १३ ॥

जो एक बार सुरापान करके फिर अग्निवर्ण सुरापान करता है, वह इस लोक तथा परलोकमें स्वयंको पवित्र कर लेता है ॥ १३ ॥

मेरुप्रपातं प्रपतञ्ज्वलनं वा समाविशन् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १४ ॥

जलरहित स्थानमें ऊंचे पहाडके ऊपरसे गिरने, वा जलती हुई अग्निमें प्रवेश करने अथवा महाप्रस्थान यात्रा अर्थात् केदाराचलपर गमन करके हिमालयमें चढके प्राणत्याग करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समितिं ब्राह्मणैर्गच्छेदिति वै ब्राह्मणी श्रुतिः ॥ १५ ॥

सुरापान करनेवाला ब्राह्मण बृहस्पतिसव नामक यज्ञके अनुष्ठानसे सुरापानके पापसे छूटके शुद्ध होकर फिर ब्राह्मण समाजमें मिल सकता है; ऐसा वेदमें वर्णित है ॥ १५ ॥

भूमिप्रदानं कुर्याद्यः सुरां पीत्वा विमत्सरः ।
पुनर्न च पिबेद्राजन्संस्कृतः शुध्यते नरः ॥ १६ ॥

राजन् ! मदिरा पीनेपर ईर्षा–द्वेषसे रहित हो जो भूमिदान करे और फिर कभी सुरापानमें प्रवृत्त न होवे, तो वह संस्कार करनेपर शुद्ध होता है ॥ १६ ॥

गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमधिसंविशेत् ।
पाणावाधाय वा शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥ १७ ॥

गुरुस्त्री गमन करनेवाला पुरुष तपायी हुई लोहयुक्त शिलापर सो जाय; अथवा दोनों हाथ उसपर रखे अथवा अपना लिङ्ग काटके उर्ध्वदृष्टि होकर आगे बढता चला जाय ॥ १७ ॥

शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।
कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥ १८ ॥

इस प्रकार शरीर त्याग करनेसे वह उस पापकर्मसे छूट जाता है; परन्तु जिन सब पापोंका वर्णन किया है, यदि स्त्रियां उन पापोंमें लिप्त हों, तो वे एक वर्ष पर्यन्त आहारविहार आदि भोगोंको त्यागके इन्द्रिय संयम करनेसे ही पापरहित हो सकती हैं ॥ १८ ॥

महाव्रतं चरेद्यस्तु दद्यात्सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत्कर्मणोऽशुभात् ॥ १९ ॥

जो पुरुष महाव्रतके अनुष्ठान अर्थात् एक महीने पर्यन्त सब भोजन करनेकी-वस्तुओंको और जल पीना भी परित्याग करता है, ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान करता है, अथवा गुरुके लिये युद्धमें मारा जाता है, वह पुरुष सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १९ ॥

अनृतेनोपचर्ता च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा।
उपहृत्य प्रियं तस्मै तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ २० ॥

मिथ्या बोलकर जीविका चलानेवाला वा गुरुका अप्रिय कार्य करनेवाला फिर उनकी इच्छा-नुसार प्रिय कार्य करनेसे उस पापसे मुक्त होगा ॥ २० ॥

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्।
खरचर्मवासाः षण्मासं तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥

यदि कोई पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत करनेवालोंका व्रत भङ्ग करे, तो उसे छः महीनेतक गधेका चर्म ओढके ब्रह्महत्याके समान व्रतका अनुष्ठान करना होगा, तब वह उस पापसे मुक्त हो सकेगा ॥ २१ ॥

परदारापहारी तु परस्यापहरन्वसु।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २२ ॥

पराये धन और परायी स्त्री हरनेवाले पुरुषको एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतका कठोर अनुष्ठान करना होगा, ऐसा करनेसे उसका पाप छूट सकता है ॥ २२ ॥

स्तेयं तु यस्यापहरेत्तस्मै दद्यात्समं वसु।
विविधेनाभ्युपायेन तेन मुच्येत किल्बिषात् ॥ २३ ॥

अथवा जिनकी जैसी वस्तु हरण करे, उसे अनेक भांतिके उपायसे वैसी ही वस्तु प्रदान करनेसे भी पापरहित हो सकता है ॥ २३ ॥

कृच्छ्राद्द्वादशरात्रेण स्वभ्यस्तेन दशावरम्।
परिवेत्ता भवेत्पूतः परिवित्तिश्च भारत ॥ २४ ॥

भारत! बडे भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई परिवेत्ता और उसका बडा भाई परिवित्ति– ये दोनों ही इन्द्रियसंयम करके बारह राततक प्राजापत्य– कृच्छ्र व्रतका अनुष्ठान करनेसे पवित्र हो सकेंगे। परन्तु परिवित्त अर्थात् जेष्ठ भ्राता छोटे भाईके विवाहके अनन्तर स्त्रीका पाणिग्रहण करके यज्ञानुष्ठान करे, तो उसे भी छोटे भाईकी भांति बारह दिन तक प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करके प्रायश्चित्त करना होगा; इससे अन्यथा प्रायश्चित्त नहीं करना पडेगा; और परिवेत्ता अर्थात् छोटे भाईका जेष्ठ भ्राताके प्रायश्चित्त करनेसे अनन्तर फिर दो परिग्रह करना होगा, इनके विना उसकी शुद्धि नहीं हो सकेगी ॥ २४ ॥

निवेश्यं तु भवेत्तेन सदा तारयिता पितॄन्।
न तु स्त्रिया भवेद्दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥ २५ ॥

इससे वह श्राद्ध आदि कर्मोंसे पितरोंका उद्धार भी न कर सकेगा, इसलिये वह पुनः विवाह संस्कार करे; परन्तु इन परिवेत्ता आदिकोंकी प्रथम विवाहिता स्त्रियोंको पाप नहीं लगेगा, क्योंकि स्त्रियोंको पुरुष कृत पापोंमें लिप्त नहीं होना पडता ॥ २५ ॥

भजने त्वृतुना शुद्धं चातुर्मास्यं विधीयते ।
स्त्रियस्तेन विशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥ २६ ॥

यदि स्त्रियोंसे कोई महापाप भी होजावे, तो अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले वस्तुओंके भोजनसे– ऋतुकालके कारण– चातुर्मास व्रतका अनुष्ठान करनेसे ही वह पापरहित हो सकती हैं, धर्म जाननेवाले पुरुषोंने ऐसी ही विधि वर्णन की है ॥ २६ ॥

स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापैर्नोपगम्या हि जानता ।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ २७ ॥

अपनी स्त्रीके विषयमें पापाचारकी शंका हो तो विद्वान् पुरुषको रजस्वला होनेतक उनके साथ समागम नहीं करना चाहिये; ऋतुकाल उपस्थित होनेपर वे राखसे मले हुए पात्रकी भांति शुद्ध हो जाती हैं ॥ २७ ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मो ब्राह्मणानां विधीयते ।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥ २८ ॥

ब्राह्मणोंको चतुष्पाद युक्त धर्मके अनुष्ठान करनेकी विधि है अर्थात् वे आत्मशुद्धिके लिये प्रायश्चित्तका पूरा पालन करे; क्षत्रियोंको एकपाद कम अर्थात् त्रिपाद धर्म करनेका विधान है ॥ २८ ॥

तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते ।
विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ २९ ॥

वैश्यको द्विपाद और शूद्रको केवल एक पाद मात्र धर्मके अनुष्ठानकी विधि कही गई है । प्रायश्चित्तके विषयको भी धर्मानुष्ठानके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि वर्णोंके लाघव और गौरवके सहित विचार करना उचित है ॥ २९ ॥

तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान्बहून् ।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात्कर्म च प्रथयेन्नरः ॥ ३० ॥

पशु पक्षियोंका वध करने तथा नाना भांतिके अनेक वृक्ष आदिकोंके काटनेपर, जन-समाजमें अपने किये हुए कर्मको प्रकाशित करते हुए, तीन दिन, तीन रात केवल वायु पान करके रहनेसे ही पुरुष पाप रहित होगा ॥ ३० ॥

अगम्यागमने राजन्प्रायश्चित्तं विधीयते ।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासं विहार्यं भस्मशायिना ॥ ३१ ॥

राजन् ! समागम करने अयोग्य स्त्रीके साथ समागम करनेपर प्रायश्चित्तका विधान है । उसे शरीरमें भस्म लगाके भीगा वस्त्र पहनकर छः महीनेतक घूमना और धूनीकी भस्मरूपी शय्या पर शयन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत् ।
ब्रह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥ ३२ ॥

इसप्रकार सभी अकार्योंके प्रायश्चित्तकी विधि बताई है और दृष्टान्तोंसे युक्त शास्त्रमें कहे हुए वचनोंके साथ वैदिक वाक्योंके अनुसार पापकर्मोंके प्रायश्चित्तकी विधि है ॥ ३२ ॥

सावित्रीमप्यधीयानः शुचौ देशे मिताशनः ।
अहिंस्रोऽमन्दकोऽजल्पन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ३३ ॥

हिंसा रहित होकर, ईर्ष्या रहित होकर, मौन रहकर तथा कम खाता हुआ पवित्र स्थानमें गायत्रीका जाप करे तो सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३३ ॥

अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशि स्वपेत् ।
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायाश्च सवासा जलमाविशेत् ॥ ३४ ॥

पाप विशेषमें जितने दिनोंतक व्रताचरण करना होगा, उतने दिनोंतक प्रतिदिन अनावृत्त स्थलमें खडा रहे, रात्रिके समय कुशा पर शयन करे और दिनमें तीन बार तथा रात्रिके समयमें भी तीन बार तालावमें गमन करके वस्त्र सहित स्नान करे ॥ ३४ ॥

स्त्रीशूद्रपतितांश्चापि नाभिभाषेद्व्रतान्वितः ।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवंव्रतो द्विजः ॥ ३५ ॥

स्त्री, शूद्र और पतित पुरुषोंके सङ्ग वार्तालाप न करे, इसी भांति व्रताचरण करनेवाला द्विज अज्ञानसे किए गए समस्त पापोंसे मुक्त होगा ॥ ३५ ॥

शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकः ।
अतिरिच्येत्तयोर्यत्तु तत्कर्ता लभते फलम् ॥ ३६ ॥

मनुष्य पाप वा पुण्य जो कुछ करता है, परलोकमें गमन करनेपर अग्नि, जल और वायु आदि महाभूतोंके अधिष्ठाता देवता लोग उनके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंके साक्षी रहती हैं; इससे पर लोकमें मनुष्योंको अवश्यही शुभाशुभ कर्मोंके फलको भोगना पडता है। परन्तु पुरुषोंके किये हुए सत् अथवा असत् कर्मोंमेंसे जब जिसकी अधिकता होती हैं, तब वह कर्म एक दूसरेको दबाके कर्त्ताको इस ही लोकमें फल देता है ॥ ३६ ॥

तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च शुभं फलम् ।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ३७ ॥

इसलिये यदि मनुष्यसे अशुभ कर्म बन जाय तो वह दान, तपस्या और यज्ञादि शुभ कर्मोंसे शुभ फलकी वृद्धि करे, जिससे उसके अशुभ कर्मोंको दबाकर शुभका ही संग्रह अधिक होगा ॥ ३७ ॥

×

कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवृत्तो पापकर्मणाम् ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ ३८ ॥

इससे सदा पाप कर्मोंसे निवृत्त होके प्रतिदिन धनका दान और शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित है; ऐसा करनेसे उस पुरुषको पापकर्मोंमें लिप्त नहीं होना पडता ॥ ३८ ॥

अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! जिन जिन पापोंकी कथा वर्णित हुई है उनके अनुरूप ही प्रायश्चित्तकी विधि कही गई; महापातकोंके अतिरिक्त पापोंके लिये ही ऐसा प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ ३९ ॥

भक्ष्याभक्ष्येषु सर्वेषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन्विहितान्यनुजानते ॥ ४० ॥

राजन् ! भक्ष्य, अभक्ष्य, पात्र और अपात्र, वाच्य-अवाच्य तथा जानकर और अजानकर किये पापोंके लिये ये प्रायश्चित्त कहे हैं; बुद्धिमान् पुरुषको समझकर इनका अवलंबन करना चाहिये ॥ ४० ॥

जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्खलिते दोषे प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४१ ॥

इसी भांति जानते हुए किया सब पाप भारी होता है; अज्ञानतासे किया पाप कम दोषी होता है; पापके अनुसार उसका प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ४१ ॥

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने तु विधिरेष विधीयते ॥ ४२ ॥

जैसा पापाचरण होगा, उसके अनुरूप ही शास्त्रविधियुक्त प्रायश्चित्त करनेसे वह पाप नष्ट होता है, परन्तु शास्त्रमें कही हुई ये सम्पूर्ण विधि श्रद्धावान् और आस्तिकोंके विषयमें ही जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भदोषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥ ४३ ॥

क्योंकि शास्त्रमें नास्तिक और अश्रद्धावान्, दम्भ और द्वेषयुक्त पुरुषोंके विषयमें कोई भी प्रायश्चित्तकी विधि नहीं दीख पडती ॥ ४३ ॥

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्य चेह सुखार्थिना ॥ ४४ ॥

हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरश्रेष्ठ ! कारण शास्त्रमें शिष्टाचार ही धर्म कहके वर्णित हुआ है; इससे इस लोक और परलोकमें कल्याण-सुख प्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषोंको इन्हीं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार चलना उचित है ॥ ४४ ॥

स राजन्मोक्ष्यसे पापात्तेन पूर्वेण हेतुना ।
प्राणार्थं वा वधेनैषामथ वा नृपकर्मणा ॥ ४५ ॥

महाराज ! मैंने तुमसे पहिले ही कहा है, कि क्षत्रियधर्म अथवा निज प्राण रक्षाके निमित्त महादुष्ट पुरुषोंका वध करनेसे मारनेवालेको कदापि पापमें लिप्त नहीं होना पडता, इस ही कारण तुम भी दुष्टात्मा कौरवोंका वध करनेसे पापी नहीं हुए ॥ ४५ ॥

अथ वा ते घृणा काचित्प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन कर्मणा निधनं गमः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ १२१७ ॥

यह सब जानके भी यदि तुम्हारे चित्तकी ग्लानि नहीं दूर होती है, तो शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त करो, परन्तु जैसे अनार्य लोग मनके दुःखको न सहके आत्मघाती होते हैं, वैसे आचरण करनेमें तुम्हें कदापि प्रवृत्त होना उचित नहीं है ॥ ४६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ १२१७ ॥

: ३७ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु प्रत्युवाच तपोधनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् वेदव्यास मुनिके मुखसे इस सम्पूर्ण उपदेशयुक्त वचनोंको सुनके क्षणभर विचार करके तपोधन व्याससे कहने लगे ॥ १ ॥

किं भक्ष्यं किमभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

हे महर्षि पितामह ! द्विजातियोंके निमित्त कौनसे अभक्ष्य और कौनसे भक्ष्य हैं ? कौनसा दान प्रशंसनीय है ? और उसके पात्र तथा अपात्र कैसे हैं ? उसे मेरे समीप प्रकाशित करके कहिये ! ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥ ३ ॥

श्रीवेदव्यास बोले— महाराज ! इस विषयमें प्रजापति मनु और सिद्ध ऋषियोंके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण कहते हैं, उसे सुनो ॥ ३ ॥

सिद्धास्तपोव्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥ ४ ॥

आदिकालमें किसी समय व्रत करनेवाले सिद्ध और तपस्वियोंने इकट्ठे होकर प्रजापति विभु भगवान् मनुके समीप गमन करके उन बैठे हुए राजासे धर्म विषयमें कई एक प्रश्न किये ॥४॥

कथमन्नं कथं दानं कथमध्ययनं तपः ।
कार्याकार्यं च नः सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ५ ॥

हे प्रजापति ! अन्न क्या है ? पात्र कैसा होना चाहिये ? दान, अध्ययन, तपस्याका क्या स्वरूप है ? कार्य और अकार्य क्या है ? इन विषयोंको आप हम लोगोंके समीप वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

तैरेवमुक्तो भगवान्मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥ ६ ॥

उनके ऐसे वचन सुनके भगवान् स्वयम्भुव मनु बोले, हे ऋषि लोगों ! तुम लोग संक्षेप और विस्तारके सहित यथारीतिसे धर्मकी कथा सुनो ॥ ६ ॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोधः क्षमेज्या धर्मलक्षणम् ॥ ७ ॥

विना दी हुई वस्तुको ग्रहण न करना, दान, अध्ययन, तपस्या, अहिंसा, सत्य व्यवहार, क्रोध न करना, क्षमा और देवताओंकी पूजा—यज्ञ इत्यादि कई एकको धर्मका लक्षण जानना चाहिये ॥ ७ ॥

य एव धर्मः सोऽधर्मोऽदेशेऽकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो व्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ८ ॥

परन्तु इस प्रकारका धर्म भी देशकालके अनुसार कभी कभी अधर्मरूपसे गिना जाता है और प्रतिग्रह, मिथ्या व्यवहार और हिंसा आदि अधर्मके कार्य भी अवस्थाविशेष अर्थात् संशय आदि स्थलोंमें धर्मरूपसे माने गये हैं ॥ ८ ॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥ ९ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! बुद्धिमान् पुरुषोंकी दृष्टिमें धर्म और अधर्म यही दो प्रकारसे कहे गये हैं । वह धर्माधर्म फिर लौकिक और वैदिक मतके अनुसार शुभाशुभ और प्रवृत्ति—निवृत्ति भेदसे दो दो अंशोंमें विभक्त है ॥ ९ ॥

अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् ।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ॥ १० ॥

उसमें प्रवृत्ति वैदिक और शुभाशुभ लौकिक है । प्रवृत्ति अर्थात् वेदविहित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके अनुष्ठान, इनके फल वारवार संसारमें जन्म और मृत्यु हैं और निवृत्ति मार्गका फल तत्वज्ञान तथा ब्रह्म प्राप्ति है । इसी भांतिसे लौकिकमें भी अप्रवृत्ति और निवृति अशुभ हों तो उनका फल भी अशुभ समझना चाहिये और परोपकार आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जनसमाजके बीच प्रशंसा और अर्थलाभ आदि शुभ फल मिलता है ॥ १० ॥

एतयोश्चाश्रयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ।
दैवं च दैवयुक्तं च प्राणश्च प्रलयश्च ह ॥ ११ ॥

और असत् कार्य अर्थात् जनसमाजके बीच अत्याचार करनेसे जगत्में निन्दा होती है और राजदण्ड आदि अशुभ फल मिलते हैं; इससे वैदिक मार्गकी भांति लोकमें भी शुभाशुभ कर्मोंके फलके अनुसार धर्माधर्म जानना चाहिये । दैव इच्छा, शास्त्रमें कहे हुए कर्म, निज प्राणरक्षा और प्रलय, ॥ ११ ॥

अप्रेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ।
ऊर्ध्वं भवति संदेहादिह दृष्टार्थमेव वा ।
अप्रेक्षापूर्वकरणात्प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥

माता पिता, स्वामी आदि तथा पालन करनेवाला, इनके अनुरोधसे अन्यान्य कार्य करनेसे भी शुभ फल मिलता है । परन्तु इस पृथ्वीके बीच जो श्येन यज्ञ आदि कर्मोंके फलकी भांति शीघ्र ही फलित होते हैं; अथवा जो उत्तर कालमें फलित होसकेगा, कहके सन्देहास्पद होगा, उसे केवल लोकानुरोधसे किसी मनुष्यको लक्ष्य करके वैसा अनिष्ट कार्य करनेसे कर्त्ताको प्रायश्चित्त करना पडेगा ॥ १२ ॥

क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये ।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥ १३ ॥

यदि कोई पुरुष क्रोध वा मोहके वशमें होके निज मनकी सन्तुष्टि वा असन्तुष्टि करनेवाले कार्यको करे, तो वह शास्त्रमें कहे हुए प्रमाण और युक्तिके अनुसार शरीरको सुखानेवाले उपवास आदि प्रायश्चित्त करके शुद्ध होगा; अथवा हविष्यान्न भोजन, आत्माको पवित्र करनेवाले मन्त्रोंके जप और तीर्थाटन करनेसे भी उस पापसे मुक्त होसकेगा ॥ १३ ॥

जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः।
वर्जयेन्न हि तं धर्मं येषां धर्मो न विद्यते ॥ १४ ॥

जो लोग सब भांतिसे ब्राह्मणत्वादि जातिधर्म, ग्रहस्थी आदि आश्रमोंके धर्म, देशाचार और कुलाचारको त्यागते हैं, तथा धर्म मात्रकोहि छोडते हैं, उन लोगोंके लिये कोई धर्म नहीं है; अर्थात् उनको प्रायश्चित्त करनेका अधिकार नहीं है ॥ १४ ॥

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥ १५ ॥

हे ऋषिलोगो ! मैंने जो सब व्यवस्था कही है, उसे वैसे ही समझो; परन्तु धर्म निर्णयके विषयमें कोई संशय उत्पन्न होनेपर वेद तथा शास्त्रोंके जाननेवाले अथवा धर्मशास्त्र जाननेवाले तीन पण्डित जैसी व्यवस्था दें, उसे ही धर्म कहके ग्रहण करना होगा ॥ १५ ॥

अरुणा मृत्तिका चैव तथा चैव पिपीलकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥ १६ ॥

अरुणा, मिट्टी, छोटी चीटियां श्लेष्मोतक और विष आदि द्विजातियोंके निमित्त अभक्ष्य है ॥१६॥

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शकलैर्ये विवर्जिताः।
चतुष्पात्कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंके लिये कांटोंसे रहित मछली और कछुए और उनके अतिरिक्त मेढक आदि चार पांववाले जलजन्तुओंका भक्षण भी निषेध है ॥ १७ ॥

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाका बकाः प्लवाः।
कङ्को मद्गुश्च गृध्राश्च काकोलूकं तथैव च ॥ १८ ॥

जलमें तैरनेमें समर्थ भाष, हंस, गरुड, चकवे, वगुले, बाज, कङ्क, मद्गु, गिद्ध, कौवे, उल्लू आदि पक्षी भक्षणीय नहीं हैं ॥ १८ ॥

क्रव्यादाः पक्षिणः सर्वे चतुष्पादाश्च दंष्ट्रिणः।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

इनके अतिरिक्त मांसभक्षी, चार पांववाले सभी जीव और पक्षी तथा दाढोंसे युक्त हिंसक पशु भी द्विजातियोंके अभक्ष्य जानो। जिनके दोनों ओर दांत हैं और चार दांतवाले पक्षियोंका मांस भी नहीं खाना चाहिये ॥ १९ ॥

एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद्ब्राह्मणः पयः ॥ २० ॥

भेडी, घोडी, गदही, हरिनी, उंटनी, और मानवी स्त्री आदिकोंका दूध ब्राह्मणोंको नहीं पीना चाहिये। नवप्रसूता गौका दूध भी दसदिनके विना बीते पीना उचित नहीं है ॥ २० ॥

प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किंचिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेन्वा दुग्धमनिर्दशम् ॥ २१ ॥

मृताशौचके मनुष्य द्वारा बनाया हुआ, नवप्रसूता स्त्रीका बनाया हुआ और दस दिनके बिना बीते नवप्रसूता गौके दूधमेका बना हुआ पायस आदि भोजन करना उचित नहीं है ॥२१॥

तक्ष्णश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ।
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ॥ २२ ॥

बढई, चमार, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, चिकित्सा करनेवाला वैद्य तथा नगर रक्षकका अन्न भी भक्षणीय नहीं है ॥ २२ ॥

गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनश्च ये ।
परिवित्तिनपुंसां च बन्दिद्यूतविदां तथा ॥ २३ ॥

जिन्हें समाज या गांवने दूषित ठहराया हो, जो नर्तकीके द्वारा जीविका चलाते हों, परिवित्ति अर्थात् छोटे भाईका विवाह होनेपर कुंवारे हों, स्तुति करनेवाले भाट और जुआरी पुरुषोंका अन्न भी नहीं ग्रहण करना चाहिये ॥ २३ ॥

वामेनाहृतं चान्नं शुक्तं पर्युषितं च यत् ।
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ॥ २४ ॥

पर्यूषित और बायें हाथसे ग्रहण किये हुए भोजनको खाना नहीं चाहिये । जो निज आत्मीय पुरुषोंको न देकर अपने ही वास्ते खाने योग्य वस्तुओंको संग्रह करता है, उसका तथा सुरासे स्पर्श हुआ अन्न और जूठा भोजन नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

पिष्टमांसेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ।
सक्तुधानाकरम्भाश्च नोपभोज्याश्चिरस्थिताः ॥ २५ ॥

पिष्टक, इखके रस, शाक या दूधको बिगाडकर बनाये पदार्थ भी त्याज्य हैं; सत्तू, भ्रष्टयव और दहीसे युक्त सत्तू भी बहुत समय बीतनेपर खाना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथा कृताः ।
अभोज्याश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः ॥ २६ ॥

दूध युक्त पायस, कृशरान्न अर्थात् तिलयुक्त अन्न, पिष्टक और मांस देवताओंके निमित्त तैयार नहीं हुए हों, तो गृहस्थ ब्राह्मणोंके लिये ग्रहण करने उचित नहीं हैं । हे महाराज ! गृहमेधी ब्राह्मण आदिको जो कुछ अपेय और अभक्ष्य वस्तु हैं, उसे मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया ॥२६॥

देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च मुनीन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थो भोक्तुमर्हति ॥ २७ ॥

देवता, पितर, अतिथि, ऋषि और प्रात्यहिक गृह देवताकी पूजा अर्चना करके पीछे अपने भोजन करना उचित है ॥ २७ ॥

यथा प्रव्रजितो भिक्षुर्गृहस्थः स्वगृहे वसेत् ।
एवंवृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन्धर्ममाप्नुयात् ॥ २८ ॥

जैसे प्रव्राजित संन्यासी अनासक्त रहता है, वैसे ही गृहस्थ मनुष्य गृहमें ही पापरहित और आसक्ति छोडकर रहे; अर्थात् इस प्रकार सदाचारसे युक्त होकर अपनी प्रिय स्त्रीके सहित गृहस्थ पुरुष गृहस्थाश्रममें ही धर्मका लाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ २८ ॥

न दद्याद्यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ।
न नृत्तगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा पुरुषको यशकी अभिलाषासे, भयके कारण वा उपकार करनेवालेका दान करना नहीं चाहिये; और नाचने गानेके व्यवसायी, हंसी-मजाक करनेवाले– भांड, ॥ २९ ॥

न मत्ते नैव चोन्मत्ते न स्तेने न चिकित्सके ।
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने ॥ ३० ॥

मतवाले, उन्मत्त, चोर, चिकित्सक, गूंगे, कांतिहीन, अङ्गहीन–बदसूरत, बौने, ॥ ३० ॥

न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्वा यो न संस्कृतः ।
अश्रोत्रिये मृतं दानं ब्राह्मणेऽब्रह्मवादिनि ॥ ३१ ॥

दुर्जन, नीचकुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुष, जो लोग ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंसे हीन हैं, उन्हें दान देना उचित नहीं है; क्योंकि अज्ञानी और वेदज्ञान हीन ब्राह्मणको दिया गया दान मर जाता है ॥ ३१ ॥

असम्यक्चैव यद्दत्तमसम्यक्च प्रतिग्रहः ।
उभयोः स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३२ ॥

उत्तम विधिसे न दिया गया और उत्तम विधिके साथ न ग्रहण किया गया वैसा दान और प्रतिग्रह ग्रहण करना अन्याय कार्य कहा गया है; इससे वैसे दान देने और लेनेवाले दोनों ही अनर्थमें फंसते हैं ॥ ३२ ॥

यथा खदिरमालम्ब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन् ।
मज्जते मज्जते तद्वद्दाता यश्च प्रतीच्छकः ॥ ३३ ॥

जैसे खदिर वा शिला ग्रहण करके समुद्र तैरनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके सब उद्यम निष्फल होते और उन्हें अवश्य ही जलमें डूबना पडता है, वैसे ही दाता और ग्रहीता दोनों ही पापरूपी समुद्रमें डूबते हैं ॥ ३३ ॥

काष्ठैरार्द्रैर्यथा वह्निरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपःस्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥ ३४ ॥

गीली लकडियोंसे जिस प्रकार अग्नि जलती नहीं है, उसीतरह तपस्या, स्वाध्याय और सच्चरित्रतासे हीन ब्राह्मणको तेजरहित जानना चाहिये; इससे ऐसे ब्राह्मणको दान देना निष्फल है ॥३४॥

कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ वा यथा पयः।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥ ३५ ॥

जैसे कपाल पात्रमें स्थित जल और कुत्तेके चमडेमें रखनेसे दूध आधार दोषसे अपवित्र होता है, वैसेही सदाचार रहित ब्राह्मणोंके निकट वेदकी भी प्रतिभा नहीं प्राप्त होती ॥ ३५ ॥

निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः।
अनुक्रोशात्प्रदातव्यं दीनेष्वेवं नरेष्वपि ॥ ३६ ॥

मन्त्रहीन, व्रत रहित, शास्त्र न जाननेवाले और दूसरोंमें दोष न देखनेवाले ब्राह्मणको तथा व्रतरहित हीन-दीनको केवल दयाके वशमें होकर दान दिया जा सकता है ॥ ३६ ॥

न वै देयमनुक्रोशाद्दीनायाप्यपकारिणे।
आप्ताचरितमित्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ३७ ॥

जो दूसरोंका बूरा करनेवाला दुष्ट हो, वह दीन हो तो भी केवल दया युक्त होके दान नहीं दिया जा सकता है; वेदज्ञानसे रहित ब्राह्मणको दान देनेसे वह निष्फल हो जाता है, ऐसा ही शास्त्रमें कहा गया है। यही शिष्टाचार और यही धर्म है ॥ ३७ ॥

निष्कारणं स्म तद्दत्तं ब्राह्मणे धर्मवर्जिते।
अवेदपात्रदोषेण न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ३८ ॥

विशेष करके धर्मविहीन अपात्र ब्राह्मणको दान देनेसे वह दान अपात्र दोषसे निरर्थक हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३८ ॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ ३९ ॥

काठका बना हुआ हाथी, चमडेसे बना हुआ मृग और वेदज्ञानसे हीन ब्राह्मण- ये तीनों नाम मात्रके ही हैं, इनसे कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४० ॥

जैसे नपुंसक पुरुष स्त्रियोंके पास जाकर निष्फल होता है, गाय गायसे कोई फल दे नहीं सकती और पंखरहित पक्षी उड नहीं सकता, उसी भांति वेदज्ञानसे हीन ब्राह्मणसे भी मनुष्यके कार्य पूर्ण नहीं होते ॥ ४० ॥

ग्रामधान्यं यथा शून्यं यथा कूपश्च निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥ ४१ ॥

और जैसे धान्यके विना ग्राम, जलरहित कूआ और भस्ममें दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसीप्रकार मूर्ख ब्राह्मणको दान देना सब भांति निष्फल होता है ॥ ४१ ॥

देवतानां पितॄणां च हव्यकव्यविनाशनः ।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान्प्राप्तुमर्हति ॥ ४२ ॥

मूर्ख ब्राह्मण देवता-पितरोंके उद्देश्यसे दिये हुए हव्य-कव्यका नाशक है, वह अर्थापहारी शत्रुस्वरूप है, इससे वह मूर्ख दान देनेवालोंको इस लोक और परलोकमें कहीं भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं करा सकता ॥ ४२ ॥

एतत्ते कथितं सर्वं यथा वृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ १२६० ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने जो कुछ प्रश्न किये, मैंने संक्षेपसे उन सब प्रश्नोंका उत्तर यथा रीतिसे वर्णन किया है, यह अब विस्तारसे अवश्य सुनना चाहिये ॥ ४३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ १२६० ॥

: ३८ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्रोतुमिच्छामि भगवन्विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान्द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे ऋषिसत्तम भगवन् द्विजश्रेष्ठ ! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके सब धर्म विशेष करके राजधर्म भी विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

आपत्सु च यथा नीतिर्विधातव्या महीक्षिता ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥ २ ॥

साथ ही आपत्काल उपस्थित होनेपर मनुष्यको किस प्रकारकी नीति अवलम्बन करना उचित है और धर्मके गमन करते हुए मैं किस प्रकार पृथ्वी जय कर सकूंगा ? ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्धिता ।
कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे ॥ ३ ॥

भक्ष्याभक्ष्यसे रहित और उपवास आदि महत् कौतूहलसे युक्त आपके कही हुई प्रायश्चित्तकी कथा मेरे चित्तको अत्यन्त ही आनन्दित कर रही है ॥ ३ ॥

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
येन मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

परन्तु राज्य पालन और धर्म आचरण इन दोनोंका आपसमें सदा विरुद्ध भाव है; इससे एक ही पुरुषके द्वारा ये दोनों आपसमें विरुद्ध भावोंसे युक्त कार्य कैसे अनुष्ठित हो सकते हैं ? इसहीकी चिन्ता करके मेरा चित्त वार वार मोहित होता है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच--

तमुवाच महातेजा व्यासो वेदविदां वरः।

नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वं जानन्पुरातनम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले--वेद वादियोंमें अग्रणी महातेजस्वी श्रीवेदव्यास मुनि धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसे वचनोंको सुनके सम्पूर्ण ज्ञानतत्वके जाननेवाले प्राचीन ऋषि नारद मुनिकी ओर देखकर युधिष्ठिरसे बोले ॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मानखिलेन युधिष्ठिर।

प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ६ ॥

हे महाबाहु! युधिष्ठिर! यदि तुम्हें भली भांति सम्पूर्ण धर्म तत्व जाननेकी इच्छा हुई हो, तो तुम वृद्ध कुरुपितामह भीष्मके निकट गमन करो ॥ ६ ॥

स ते सर्वरहस्येषु संशयान्मनसि स्थितान्।

छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ ७ ॥

धर्म-रहस्यके विषयमें तुम्हारे चित्तमें जो कुछ सम्पूर्ण सन्देह हैं, सब धर्मोंके जाननेवाले गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हारी शङ्का दूर करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७ ॥

जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी।

साक्षाद्ददर्श यो देवान्सर्वाञ्शक्रपुरोगमान् ॥ ८ ॥

स्वर्ग लोकमें जो त्रिपथ गामिनी होके बह रही है, उसही गङ्गादेवीसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, उस गङ्गानन्दन महात्मा भीष्मने इन्द्र आदि देवताओंको साक्षात् देखा है ॥ ८ ॥

बृहस्पतिपुरोगांश्च देवर्षीनसकृत्प्रभुः।

तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥ ९ ॥

और बृहस्पति आदि देवर्षियोंका बारबार प्रत्यक्ष दर्शन कर अनेक भांतिसे उनकी पूजा अर्चा करके उन्हें अपनी सेवामें संतुष्ट करके सब राजनीतिकी विद्या सीखी है ॥ ९ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं देवासुरगुरुर्द्विजः।

तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान्कुरुसत्तमः ॥ १० ॥

दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य और देवताओंके गुरु विप्रश्रेष्ठ बृहस्पति जिन सब शास्त्र और धर्म-तत्वोंको जानते हैं, कौरवोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उन दोनों महात्माओंसे वह सब विद्या व्याख्या-सहित प्राप्त की है ॥ १० ॥

भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान्।

प्रतिपेदे महाबुद्धिर्वसिष्ठाच्च यतव्रतात् ॥ ११ ॥

विशेष करके उस महाबाहु भीष्मने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके भृगुकुलनन्दन परशुराम, च्यवन और महात्मा वसिष्ठके निकट साङ्गोपाङ्ग सब वेदोंको पढा है ॥ ११ ॥

पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥ १२ ॥

पहिले उन्होंने अध्यात्म विद्याके सारतत्त्वको जाननेवाले ब्रह्माके जेठे पुत्र महातेजस्वी सनत्कुमारके समीप सब अध्यात्मविद्या सीखी थी ॥ १२ ॥

मार्कण्डेयमुखात्कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान्भरतर्षभ ॥ १३ ॥

और मार्कण्डेय मुनिके मुखसे समस्त यतिधर्मका भी ज्ञान प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त उस पुरुषश्रेष्ठने इन्द्र और परशुरामजीसे सब अस्त्रशस्त्रोंकी विद्या सीखी थी ॥ १३ ॥

मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथानपत्यस्य सतः पुण्यलोका दिवि श्रुताः ॥ १४ ॥

जिन्होंने मनुष्य लोकमें जन्म लेकर भी इच्छामरण प्राप्त किया है, और अपत्यहीन होनेपर भी उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य लोक देवलोकमें विख्यात हैं ॥ १४ ॥

यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन्सभासदः ।
यस्य नाविदितं किंचिज्ज्ञानज्ञेयेषु विद्यते ॥ १५ ॥

पवित्रात्मा ऋषि लोग जिनके निकट सभासद होकर विराजमान रहते थे, और ज्ञान तथा जानने योग्य वस्तुओंमें उन्हें कुछ भी अविदित नहीं है, ॥ १५ ॥

स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित् ।
तमभ्येहि पुरा प्राणान्स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ १६ ॥

वही सूक्ष्म धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मज्ञान विशारद भीष्म तुम्हें धर्मका उपदेश करेंगे; परन्तु उन महात्माके प्राणत्याग होनेके पहिले ही तुम उनके समीप जाओ ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महाद्युतिः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥

इतनी कथा सुनके महातेजस्वी दीर्घदर्शी कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ज्ञानियोंमें अग्रणी सत्यवती पुत्र भगवान् वेदव्यास मुनिसे बोले ॥ १७ ॥

वैशसं सुमहत्कृत्वा ज्ञातीनां लोमहर्षणम् ।
आगस्कृत्सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥ १८ ॥

हे महर्षि! मैंने रोएंको खडे करनेवाला अत्यन्त महान् स्वजनहत्या करके सब लोगोंके समीप पृथ्वीनाशक तथा अपराधी कहके गिना गया हूं ॥ १८ ॥

घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसंप्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

विशेष करके भीष्म पितामह रणभूमिमें सरल भावसे युद्ध कर रहे थे; तौ भी मैंने कपट व्यवहारके सहित उनका वध कराया है; इससे अब मैं क्या कहके उनके समीप जाके धर्म-विषयमें प्रश्न करनेमें समर्थ हूंगा ? ॥ १९ ॥

ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महाद्युतिः ॥ २० ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनके यदुकुल श्रेष्ठ महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णचन्द्र चारों वर्णकी प्रजाके हितकी अभिलाषा करके बोले ॥ २० ॥

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके कर्तुमिहार्हसि ।
यदाह भगवान्व्यासस्तत्कुरुष्व नृपोत्तम ॥ २१ ॥

हे राजेन्द्र ! बीते हुए शोकके विषयमें आपको अब बारबार अत्यन्त शोक प्रकाश करना उचित नहीं है । भगवान् वेदव्यास मुनिने जो कुछ वचन कहे, उसके अनुष्ठानमें यत्नवान् होइये ॥ २१ ॥

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मार्ता आशंसाना उपासते ॥ २२ ॥

हे महाबाहो ! जैसे वर्षाकालमें जल चाहनेवाले प्राणी जलके निमित्त बादलोंकी उपासना करते हैं, वैसे ही आपके ये महातेजस्वी भाई और ब्राह्मणलोग आपकी उपासना कर रहे हैं ॥ २२ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥ २३ ॥

महाराज ! युद्धमें मरनेसे बचे हुए राजा और कुरुजाङ्गलवासी राष्ट्रकी चारों वर्णोंकी सभामें एकत्रित हुए हैं ॥ २३ ॥

प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥

इससे आप इन लोगों, महात्मा ब्राह्मणोंके प्रियके लिए और महातेजस्वी गुरुदेव वेदव्यास मुनिकी आज्ञानुसार इस प्रियकार्यका अनुष्ठान कीजिये ॥ २४ ॥

सुहृदां चास्मदादीनां द्रौपद्याश्च परन्तप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ २५ ॥

हे शत्रुनाशन ! आप भीष्म पितामहके निकट उपदेश ग्रहण कीजिए और हम बन्धुबांधवों एवं द्रौपदीका प्रिय कीजिए और जगत्का कल्याण कीजिए ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन राजा राजीवलोचनः।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महातपाः ॥ २६ ॥
पुरुषसिंह महातपस्वी राजीवलोचन युधिष्ठिर श्रीकृष्णके वचनको सुनके सबके हितकी इच्छा करके उठे ॥ २६ ॥

सोऽनुनीतो नरव्याघ्रो विष्टरश्रवसा स्वयम्।
द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥
साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि वेदव्यास, देवस्थान, अर्जुन और ॥ २७ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः।
व्यजहान्मानसं दुःखं सन्तापं च महामनाः ॥ २८ ॥
अन्य बहुतसे लोगोंके विनीत वचनोंसे प्रबोधित होकर महामनस्वी धर्मराजने धीरज धरके अपना मानसिक दुःख—सन्ताप परित्याग किया ॥ २८ ॥

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत्पाण्डुनन्दनः ॥ २९ ॥
पाण्डुपुत्र महायशस्वी राजा युधिष्ठिर वेदवाक्य तथा वेदोंके अर्थ विचारवाले ग्रन्थ तथा मीमांसा और नीतिशास्त्रके जाननेवाले थे; इससे उन्होंने वेद शास्त्रके सब वचनोंको निश्चय करके अपने चित्तको शान्त किया ॥ २९ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ३० ॥
और नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भांति ऋषियों और भाइयोंसे घिरके धृतराष्ट्रको आगे करके राजधानी हस्तिनापुरको गमन करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ३० ॥

प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥
धर्म जाननेवाले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने राजनगरीमें प्रवेश करनेकी इच्छा करके पहिले देवता और सहस्रों ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ३१ ॥

ततो रथं नवं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम्।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ ३२ ॥
उस समय आज्ञा पाते ही स्थलमें शुभ लक्षणोंसे युक्त पाण्डुर वर्ण सोलह बैल जुते हुए, उत्तम उत्तम कम्बल और अजिनयुक्त एक नूतन सफेद रथ वहां लाया गया ॥ ३२ ॥

मन्त्रैरभ्यर्चितः पुण्यैः स्तूयमानो महर्षिभिः ।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥ ३३ ॥

अनन्तर पवित्र वेदमन्त्रोंसे वह रथ पूजित हुआ । तब राजा युधिष्ठिर इस प्रकार उस रथपर चढे, जैसे भगवान् चन्द्रमा अपने अमृतमय रथपर चढते हैं। रथपर चढनेके समय महर्षिजन चारों ओरसे राजा युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

जग्राह रश्मीन्कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः ।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥ ३४ ॥

महापराक्रमी भीमसेनने उस रथके सारथी होके उन बैलोंकी बागडोर ग्रहण की और अर्जुन मणि रत्नोंसे भूषित श्वेतछत्र ग्रहण करके राजा युधिष्ठिरके पीछे खडे हुए ॥ ३४ ॥

ध्रियमाणं तु तच्छत्रं पाण्डुरं तस्य मूर्धनि ।
शुशुभे तारकाराजसितमभ्रमिवाम्बरे ॥ ३५ ॥

उस रथके ऊपर मोतियोंकी माला शोभित जब उस श्वेतछत्रको ग्रहण करके महात्मा अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरके सिरपर धारण किया, तब उस समय बोध हुआ, मानो आकाश मण्डलमें तारापुञ्जसे युक्त एक श्वेत मेघ उदित हुआ है ॥ ३५ ॥

चामरव्यजने चास्य वीरौ जगृहतुस्तदा ।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ ३६ ॥

अनन्तर माद्रीपुत्र महावीर नकुल–सहदेव चन्द्रकिरणके समान प्रकाशमान अनेक भांतिकी मणि-रत्नोंसे भूषित सफेद चवर और व्यजन ग्रहण करके दोनों ओर खडे होकर डुलाने लगे ॥३६॥

ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः ।
भूतानीव समस्तानि राजन्ददृशिरे तदा ॥ ३७ ॥

राजन् ! जिस समय उन पांचों भाइयोंने अनेक भांतिके आभूषणोंसे भूषित होकर रथपर चढके हस्तिनापुरकी ओर गमन किया, उस समय वह रथ सब प्राणियोंको पञ्चभूतमय देहकी भांति बोध होने लगा ॥ ३७ ॥

आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्महाजवैः ।
अन्वयात्पृष्ठतो राजन्युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! अनन्तर युयुत्सु मनके समान वेगगामी घोडोंके शुभ्र रथपर चढकर ज्येष्ठ पाण्डव महाराज युधिष्ठिरके अनुगामी हुए ॥ ३८ ॥

रथं हेममयं शुभ्रं सैन्यसुग्रीवयोजितम् ।
सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात्कुरून् ॥ ३९ ॥

और श्रीकृष्ण सात्यकिके सहित सैन्य और सुग्रीव आदि घोडोंसे युक्त सुवर्णमय सफेद रथपर चढके कौरवोंके पीछे पीछे गमन करने लगे ॥ ३९ ॥

नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत ।
अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥ ४० ॥

भारत ! कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरके ज्येष्ठ पिता धृतराष्ट्र गान्धारीके सहित पालकीमें चढके उनके आगे आगे गमन करने लगे ॥ ४० ॥

कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा च द्रौपदी ।
यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः । ॥ ४१ ॥

उसके पीछे कुन्ती, द्रौपदी और अन्य कौरवोंकी स्त्रियां नाना भांतिकी योग्य सवारियोंमें बैठके विदुरके सङ्ग चलीं ॥ ४१ ॥

ततो रथाश्च बहुला नागाश्च समलंकृताः ।
पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ ४२ ॥

अनन्तर भली भांति वस्त्र और भूषणोंसे भूषित रथी, गजपति, घुडसवार आदि पैदल सेना उनके पीछे गमन करने लगी ॥ ४२ ॥

ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः ।
स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४३ ॥

उस समय वैतालिक, सूत और मागधोंसे सुललित भाषामें अपनी स्तुति सुनते हुए राजाने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

तत्प्रयाणं महाबाहोर्बभूवाप्रतिमं भुवि ।
आकुलाकुलमुत्सृष्टं हृष्टपुष्टजनान्वितम् ॥ ४४ ॥

राजा युधिष्ठिर इस ही भांति जब चतुरंगिनीसेना और स्वजनोंमें घिरकर गमन करने लगे, वह इस पृथ्वीपर अनुपम यात्रा थी; उस समय सब मार्गमें बहुत भीड इकट्ठी होगई और वे सब हृष्ट–पुष्ट लोग आनन्दित और हर्षित होके आपसमें वार्त्तालाप करते थे, उससे उस समयमें महाकोलाहल सुनाई देता था ॥ ४४ ॥

अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः ।
नगरं राजमार्गश्च यथावत्समलंकृतम् ॥ ४५ ॥

पृथापुत्र राजा युधिष्ठिर नगरमें आवेंगे, इस समाचारको सुनके नगरवासियोंने पहिलेसे ही नगर तथा वहांकी सडकोंको विधिपूर्वक सज्जित कर रखा था ॥ ४५ ॥

पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च वेदिभिः ।
संवृतो राजमार्गश्च धूपनैश्च सुधूपितः ॥ ४६ ॥

उस समय नगरके बीच मार्गोंमें फूलोंसे सब भूमि इस प्रकार सजाई गई थी, कि सब मार्ग पुष्पमय बोध होते थे; उस समय सब राजमार्ग धूपदीपसे सुगंध युक्त और ध्वजा–पताकाओंसे परिपूरित थे ॥ ४६ ॥

अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पैः प्रियङ्गुभिः ।
माल्यदामभिरासक्तैः राजवेश्माभिसंवृतम् ॥ ४७ ॥

राजनगरीमें रहनेवाले कर्मचारियोंने फूल, माला तथा प्रियंगु आदि सुगन्धित वस्तुओंसे राजगृहोंको सज्जित कर रखा था ॥ ४७ ॥

कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा दृढा नवाः ।
कन्याः सुमनसश्छागाः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥ ४८ ॥

नगरके दरवाजे तथा समस्त पुरवासियोंके द्वारपर जलयुक्त धातुके नवीन कलश दीख पडते थे; और जगह जगह सुन्दर अङ्गोंसे युक्त महासुन्दरी मनको हरनेवाली कन्याएं खडी की गई थीं ॥ ४८ ॥

तथा स्वलंकृतद्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः ।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ १३०९ ॥

पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने सुहृद् मित्रोंके सहित पुरवासियोंके मङ्गलजनक वचन सुनते हुए शोभासे शोभित और मङ्गल लक्षणोंसे युक्त नगरके भीतर प्रवेश किया ॥ ४९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ १३०९ ॥

: ३९ :

वैशम्पायन उवाच—

प्रवेशने तु पार्थानां जनस्य पुरवासिनः ।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुर्बहून्यथ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— पृथापुत्रोंको नगरमें प्रवेश करते सुनकर अनगिनत पुरवासी उनके दर्शनकी लालसासे इकट्ठे हुए ॥ १ ॥

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः ।
यथा चन्द्रोदये राजन्वर्धमानो महोदधिः ॥ २ ॥

राजन् ! उस समय राजमार्ग और सजाये गये चौतरे मनुष्योंकी भीडसे इस प्रकार शोभित हुए थे, जैसे चन्द्रमाको देखके समुद्र उमडता है ॥ २ ॥

गृहाणि राजमार्गे तु रत्नवन्ति बृहन्ति च ।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥

राज मार्गके दोनों ओर नाना भांतिके अलङ्कारोंसे शोभित बडी बडी अटारियां स्त्रियोंके समूहसे परिपूर्ण होकर इस प्रकार बोध होती थीं, मानो उनके भारसे हिल रही हैं ॥ ३ ॥

×

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४॥

वे सब स्त्रियां लज्जासे युक्त तथा मृदुस्वरसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और माद्रीपुत्र सहदेव एवं नकुलकी प्रशंसा करती थीं ॥ ४॥

धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान्।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५॥

और वे द्रौपदीसे कहती थीं,— हे पाञ्चाली ! हे कल्याणि ! महर्षियोंकी उपासना करनेवाली गौतमीकी भांति तुम सदा सर्वदा पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंकी उपासना करती हो, अतः तुम धन्य हो ॥ ५॥

तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भामिनि।
इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥ ६॥

हे भामिनि ! तुम्हारे व्रताचरण आदि सब कर्म अमोघ हैं; इससे तुम धन्य हो। महाराज ! ऐसा वचन कहके उस समय सारी स्त्रियां द्रुपदकुमारी कृष्णाकी प्रशंसा करने लगीं ॥ ६ ॥

प्रशंसावचनैस्तासां मिथःशब्दैश्च भारत।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत्समाकुलम् ॥ ७॥

भारत ! उन लोगोंके उस प्रीति और प्रेमसे पूर्ण प्रशंसासूचक आपसकी वार्त्तालापसे सारा नगर परिपूरित हो रहा था ॥ ७॥

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद्राजवेश्म ह ॥ ८॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने सजाये शोभायमान राजमार्गको यथोचितरूपसे अतिक्रम करके अनेक अलङ्कारोंसे भूपित राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ८॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरजानपदास्तथा।
ऊचुः कथाः कर्णसुखाः समुपेत्य ततस्ततः ॥ ९॥

उस समय सब मंत्री आदि प्रकृतीवर्गके लोग, नगरवासी मनुष्य तथा पुरवासी लोग उनके सम्मुख उपस्थित होकर कानोंको अच्छे लगनेवाले ये वचन कहने लगे ॥ ९ ॥

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्शत्रुनिसूदन।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १०॥

हे शत्रुनाशन ! हे राजेन्द्र ! भाग्यसे ही आपने विजय लाभ करके फिर राज्य प्राप्त किया है; यह सब आपके धर्मप्रभावसे तथा बलसे ही हुआ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १०॥

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम् ।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं नृप ॥ ११ ॥
हे महाराज ! इस समय आप हम लोगोंके राजा होकर देवराज इन्द्रकी भांति धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए सैकडों वर्षोंतक राज्य भोग कीजिये ॥ ११ ॥

एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः ।
आशीर्वादान्द्विजैरुक्तान्प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥
इस प्रकार श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर राजकुलके द्वारपर मङ्गलमय द्रव्योंसे पूजित होके, और ब्राह्मणोंके दिये आशीर्वाद सब ओरसे लेते हुए ॥ १२ ॥

प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम् ।
श्रुत्वा विजयसंयुक्तं रथात्पश्चादवातरत् ॥ १३ ॥
और राजसेवकोंके जय शब्दसे सत्कृत होते हुए इन्द्रके महलके समान राजभवनकी बाहिरी कक्षामें प्रवेश करनेके अनन्तर रथसे उतरे ॥ १३ ॥

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान्दैवतान्यभिगम्य च ।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धैर्माल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥
और भीतर प्रवेश करके श्रीमान् नरेशने मन्दिरमें प्रतिष्ठित कुलके देवमूर्त्तियोंके दर्शन करके मणि रत्न, सुगन्धित पुष्पमाला, धूप दीप, नैवेद्य आदिसे उनकी पूजा की ॥ १४ ॥

निश्चक्राम ततः श्रीमान्पुनरेव महायशाः ।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानुपस्थितान् ॥ १५ ॥
उसके अनन्तर महायशस्वी श्रीमान् राजा महलसे बाहर निकले और मांगलिक वस्तुओंको हाथमें ग्रहण किये हुए कितने ही महात्मा ब्राह्मणोंका दर्शन किया ॥ १५ ॥

स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः ।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥
उस समय राजा युधिष्ठिर आशीर्वाद देनेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंके बीचमें घिरके इस प्रकार शोभित हुए, जैसे तारापुञ्जके बीचमें चन्द्रमा शोभित होता है ॥ १६ ॥

तान्स संपूजयामास कौन्तेयो विधिवद्द्विजान् ।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥
अनन्तर उन्होंने गुरु धौम्य और जैठे पिता धृतराष्ट्रको आगे करके ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ १७ ॥

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा ।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥
राजेन्द्र ! प्रत्येक ब्राह्मणकी इच्छा पूछकर फूल, मिठाई, बहुतसा सुवर्ण, रत्न, वस्त्र और गऊ दान कर हर एक ब्राह्मणको सन्तुष्ट करके उनकी पूजा की ॥ १८ ॥

ततः पुण्याहघोषोऽभूद्दिवं स्तब्ध्वेव भारत ।
सुहृदां हर्षजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥ १९ ॥

महाराज ! सुहृद्मित्रोंके आनन्दको बढानेवाले उन पुण्यात्मा ब्राह्मणोंका पवित्र आशीर्वाद शब्द कानोंको सुख देनेवाला था, उस शब्दसे आकाशमण्डल गूंज उठा ॥ १९ ॥

हंसवन्नेदुषां राजन्द्विजानां तत्र भारती ।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षरा ॥ २० ॥

भारत ! उस समय सम्पूर्ण दर्शक तथा पुरवासी लोग उन वेदज्ञ ब्राह्मणोंके पदपदाक्षरोंसे युक्त मनोहर आशीर्वाद वचनोंको एकबारगी हंसनिनादकी भांति सुनने लगे ॥ २० ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः ।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥ २१ ॥

हे नृप ! उस समय शङ्ख और नगाडोंके मनोरम शब्द, तथा जयजयकार करनेवाले लोगोंका गम्भीर घोष सुनाई देने लगा ॥ २१ ॥

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः ।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

कुछ समयके अनन्तर जब पुरवासी और ब्राह्मणोंका शब्द बन्द होकर सन्नाटा छा गया, तब उस समय ब्राह्मणका कपट वेश बनाकर आया हुआ चार्वाक राक्षस राजा युधिष्ठिरसे बोला ॥ २२ ॥

तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः ।
सांख्यः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥ २३ ॥

वह दुर्योधनका मित्र चार्वाक राक्षस मायाप्रभावसे रुद्राक्षकी माला, शिखा और त्रिदण्ड धारण कर भिक्षुक ब्राह्मणका वेष बनाके उस स्थानमें धृष्ट और निर्भय होकर आके उपस्थित हुआ था ॥ २३ ॥

वृतः सर्वैस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः ।
परंसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंस्थितैः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! आशिर्वादको कहनेकी इच्छावाले तपस्वी और नियमशील उन सब हजारों ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ ॥ २४ ॥

स दुष्टः पापमाशंसन्पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अनामन्त्र्यैव तान्विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥ २५ ॥

वह दुष्ट चार्वाक महात्मा पाण्डवोंके अनिष्टकी इच्छा करता हुआ ब्राह्मणोंके बीचमें गमन करके किसीसे भी कुछ वार्तालाप न करके एकबारगी राजा युधिष्ठिरके समीप आके उनसे बोला ॥ २५ ॥

इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि ।
धिग्भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥

महाराज ! ये सब ब्राह्मण लोग जो मेरे ऊपर धिक्कार शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह केवल आरोपित वचन मात्र है; प्रत्युत वे आपको कह रहे हैं, कि " तुम ज्ञातिहत्या करनेवाले दुष्ट राजा हो, इससे तुम्हें धिक्कार है ॥ २६ ॥

किं ते राज्येन कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम् ।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥ २७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! स्वजनोंका वध करके तुम्हें जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, विशेष करके गुरुहत्या करनेपर जीनेसे मरना ही उत्तम है " ॥ २७ ॥

इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य घोरस्य रक्षसः ।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥

वे ब्राह्मण लोग उस दुष्ट राक्षसके बातको सुनके उसके वचनोंसे तिरस्कृत हो अत्यन्त दुःखित होके मनमें उसकी निन्दा करने लगे ॥ २८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः ।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन्विशां पते ॥ २९ ॥

हे पृथ्वीपति ! उन ब्राह्मणोंने और स्वयं राजा युधिष्ठिरने भी उद्विग्न तथा लज्जासे व्याकुल होकर कुछ समय तक शिर नीचा करके मौनावलम्बन किया ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः ।
प्रत्यापन्नं व्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर बोले— हे ब्राह्मण लोगों ! मैं विनयपूर्वक नतमस्तक होकर आप लोगोंसे प्रार्थना करता हूं, कि आप लोग मेरे ऊपर प्रसन्न होइये; मैं स्वयं सुखभोगनेके वास्ते राज्यग्रहणकी अभिलाषा नहीं करता हूं; परंतु चिरकालसे दुःखित अपने इन भाइयोंके वास्ते राज्यग्रहण करता हूं; इससे आप लोग अब मेरे विषयमें धिक्कार प्रदान न कीजिये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो राजन्ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशां पते ।
ऊचुर्नैतद्वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! पृथ्वीपति ! ब्राह्मण लोग राजा युधिष्ठिरका कातरता युक्त वचन सुनके बोले, महाराज ! हम लोगोंने ये सब वचन नहीं कहे हैं, वरन हम तो यह आशीर्वाद देते हैं कि आपकी श्री बढे ॥ ३१ ॥

जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा ।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥

उन वेद जाननेवाले तपस्वी निर्मल अन्तकरणवाले महात्मा ब्राह्मणोंने धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा वचन कहके उस कपट वेषवाले ब्राह्मणके विषयमें जाननेकी कोशिश की, और ज्ञान-नेत्रसे क्षणमात्रमें सब जान लिया; अर्थात् उसे चार्वाक राक्षस समझा ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः—

एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः ।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण बोले—महाराज इस दुष्टात्माको हमने ज्ञानदृष्टिसे पहचान लिया है, यह दुर्योधनका मित्र चार्वाक नामका राक्षस है; दुर्योधनके हितकी अभिलाषासे परिव्राजक वेषसे आपके निकट आके तुम्हारे अनिष्टकी इच्छासे ऐसा वचन कह रहा है ॥ ३३ ॥

न वयं ब्रूम धर्मात्मन्व्येतु ते भयमीदृशम् ।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥ ३४ ॥

हे धर्मात्मन् ! हम आपके बारेमें कुछ भी बुरा नहीं कह रहे हैं, आपका यह डर दूर हो और भाइयोंके साथ आपको कल्याण प्राप्त हो ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्छिताः ।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन बोले— महाराज ! उन सब पवित्रात्मा ब्राह्मणोंने राजा युधिष्ठिरसे ऐसा वचन कहते हुए अत्यन्त क्रोधित होकर उस पापाचारी राक्षसकी अनेक भांतिसे निन्दा करके हुङ्कारसे ही उसे भस्म कर दिया ॥ ३५ ॥

स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम् ।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥

तब चार्वाक राक्षस उस समय ब्रह्मवादी महात्मा ब्राह्मणोंके तेज प्रभावसे इस प्रकार भस्म होगया, जैसे इन्द्रके वज्रप्रभावसे नवीन अंकुरोंसे युक्त वृक्ष भस्म होजाता है ॥ ३६ ॥

पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम् ।
राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥

जब ब्राह्मणोंने इस प्रकार राक्षसका नाश किया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने सुहृद मित्रोंके सहित अत्यन्त आनन्दित होके उन महात्मा ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा की और ब्राह्मणोंने भी राजा युधिष्ठिरको प्रसन्न करके अपने अपने स्थानोंपर गमन किया ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच—

ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम ।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ ३८ ॥

वासुदेव बोले– महाराज ! इस पृथ्वीमण्डलके बीच ब्राह्मण ही मेरे लिये सब भांतिसे सदा पूजा करने योग्य हैं; क्योंकि ब्राह्मणोंके समीप सदा सर्वदा विनीत भावसे रहनेसे वे लोग प्रसन्न होके विनयी भक्तोंकी मङ्गलकामना सिद्ध करते हैं । जो दुष्टात्मा अभिमानसे मतवाले होके ब्राह्मणोंकी अवज्ञा करते हैं, वे उस ही समय वज्र सदृश उनके अव्यर्थ शापरूपी अग्निमें भस्म हो जाते हैं; इस ही कारण ब्राह्मण लोग इस जगत्के बीच वाकवज्र और भूदेव कहके प्रसिद्ध हैं ॥ ३८ ॥

पुरा कृतयुगे तात चार्वाको नाम राक्षसः ।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवत्सरम् ॥ ३९ ॥

महाराज ! महाबाहो ! मैं एक प्राचीन इतिहास कहता हूं, सुनिये । सत्युगमें चार्वाक नामक राक्षसने बदरिकाश्रममें स्थित होके अनेक वर्षों तक महाघोर तपस्या करके ब्रह्माको प्रसन्न किया था ॥ ३९ ॥

छन्द्यमानो वरेणाथ ब्रह्मणा स पुनः पुनः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४० ॥

भारत ! जब पितामह ब्रह्माने उससे बारंबार वर मांगनेको कहा, उस समय उसने यह वर मांगा था, कि " किसी भी प्राणीसे मुझे भय उत्पन्न न होवे " ॥ ४० ॥

द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वरमनुत्तमम् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यस्ततस्तस्मै जगत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

जगत्पति ब्रह्माने उसकी प्रार्थना सुनके उसे श्रेष्ठ वरदान किया कि " किसी प्राणीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा, परन्तु ब्राह्मणोंकी अवमानना करनेसे उस ही समय तुम्हारी मृत्यु होगी । इस प्रकार ब्रह्माने सब प्राणियोंसे उसे अभय दिया ॥ ४१ ॥

स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः ।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ४२ ॥

वह अत्यन्त पराक्रमी तीव्र कर्म करनेवाला और महाबलवान पापी राक्षस ब्रह्माके समीप वर पाके देवताओंको त्रस्त करने लगा ॥ ४२ ॥

ततो देवाः समेत्याथ ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ।
बधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ४३ ॥

देवताओंने क्रमसे चार्वाक राक्षसके बल–उपद्रवसे व्याकुल तथा दुःखित हो ब्रह्माके निकट गमन कर उसके बधके निमित्त अनुरोध किया ॥ ४३ ॥

तानुवाचाव्ययो देवो विहितं तत्र वै मया ।
यथास्य भविता मृत्युरचिरेणैव भारत ॥ ४४ ॥

भारत ! उस समय अव्यय देव ब्रह्माने उन देवताओंसे कहा, हे देवताओ ! शीघ्र ही उस दुराचारी राक्षसकी जिस भांति मृत्यु होगी, मैंने वह उपाय स्थिर कर रखा है, सुनो ॥४४॥

राजा दुर्योधनो नाम सखास्य भविता नृप ।
तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ४५ ॥

हे नृप ! मनुष्य लोकमें राजा दुर्योधन चार्वाक राक्षसका मित्र होगा, उस ही मित्रता स्नेहसे बद्ध होकर वह ब्राह्मणोंका अपमान करेगा; ॥ ४५ ॥

तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः ।
धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥ ४६ ॥

उसके विरुद्धाचरणसे तिरस्कृत हुए वाक्य बल सम्पत्तिसे युक्त ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होके उस पापी चार्वाकको वहीं भस्म कर देंगे और उसका नाश होगा ॥ ४६ ॥

स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

हे राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! इस ही कारणसे वह दुष्टात्मा चार्वाक राक्षस आज ब्राह्मणोंके तेज-प्रभावसे भस्म हो गया, इससे आप उसके वास्ते कुछ भी शोक न कीजिये ॥ ४७ ॥

हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव ।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुंगवाः ॥ ४८ ॥

और हे नृप ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार ज्ञातिबन्धुओंका वध किया है; वे वीरोंमें मुख्य महात्मा क्षत्रिय पुरुष युद्धमें मरके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ ४८ ॥

स त्वमातिष्ठ कल्याणं मा ते भूद्ग्लानिरच्युत ।
शत्रूञ्जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च प्रतिपालय ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १३५८ ॥

इससे आप इस समय अपने कर्त्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होजाइये । आपके मनमें खिन्नता नहीं होनी चाहिये; शत्रुओंको मारिये, प्रजापालन और ब्राह्मणोंकी पूजा अर्चा सत्कार आदि कीजिये ॥ ४९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उन्तालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १३५८ ॥

: ४० :

वैशम्पायन उवाच—

तत: कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वर: ।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत्परमासने ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके वचनको सुनके मानसिक चिन्ता तथा दुःखको दूर किया और वे पूर्वकी ओर मुंह करके प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णके उत्तम आसनपर बैठे ॥ १ ॥

तमेवाभिमुखौ पीठे सेव्यास्तरणसंवृते ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिंदमौ ॥ २ ॥

शत्रुनाशन श्रीकृष्ण और सात्यकि राजा युधिष्ठिरके सम्मुखमें ही प्रकाशमान स्वर्णासन पर बैठ गये ॥ २ ॥

मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयो: ॥ ३ ॥

महात्मा भीमसेन और अर्जुन राजा युधिष्ठिरको बीचमें करके उनके बगलमें ही मणिरत्नोंसे जटित सुन्दर पीठासनोंपर बैठे ॥ ३ ॥

दान्ते शय्यासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते ।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥

पाण्डवोंकी माता कुन्तीदेवी नकुल और सहदेवको सङ्ग लेकर सुवर्णभूषित हाथीदांतके सफेद आसनपर बैठ गयीं ॥ ४ ॥

सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरव: ।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥

राजा दुर्योधनके पुरोहित सुधर्मा, पाण्डवपुरोहित धौम्य मुनि, कुरुराज धृतराष्ट्र और विदुर आदि सब कोई अग्निके समान प्रकाशमान आसनोंपर पृथक् पृथक् बैठ गये ॥ ५ ॥

युयुत्सु: संजयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी ।
धृतराष्ट्रो यतो राजा तत: सर्वे उपाविशन् ॥ ६ ॥

यशस्विनी गान्धारी सञ्जय और युयुत्सु राजा धृतराष्ट्रके समीपमें ही बैठे ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेता: सुमनसोऽस्पृशत् ।
स्वस्तिकानक्षतान्भूमिं सुवर्णं रजतं मणीन् ॥ ७ ॥

उसके अनन्तर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने श्वेत पुष्प, स्वस्तिक, भूमि, सोना, चांदी, मणि, अक्षत और सब भांतिकी उत्तम वस्तुओंसे अङ्कित देवता, पीठ आदिका स्पर्श किया ॥ ७ ॥

×

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहु मङ्गलम् ॥ ८ ॥

उसी समय मन्त्री, सेनापति आदि सभी प्रजायें पुरोहितको आगे करके बहुतसे मांगलिक पदार्थोंको लेकर धर्मराजके दर्शनके लिए आईं ॥ ८ ॥

पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च ।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसंभारसंभृतम् ॥ ९ ॥

प्रजाओंने हाथोंमें मिट्टी, सोना, भांति भांतिके रत्न, अभिषेकके वर्तन और अन्य आवश्यक सामग्री ॥ ९ ॥

काञ्चनौदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः ।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसाः ॥ १० ॥

उसके अनन्तर सोना, चांदी, तांबे और काष्ठमय पृथ्वीकी मूर्त्ति, जलपूर्ण घडे, फूल, माला, खील, कुश, दूध, दही आदि वस्तु ॥ १० ॥

शमीपलाशपुंनागाः समिधो मधुसर्पिषी ।
स्रुव औदुम्बरः शङ्खास्तथा हेमविभूषिताः ॥ ११ ॥

और पीपल, पुंनाग, पलाश, सेमल, आम तथा उडुम्बर आदि काष्ठोंके बने हुए श्रुवे, सुवर्ण भूपित शङ्ख, आदि सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तु उस स्थलमें लाके रखी गईं ॥ ११ ॥

दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः ।
प्रागुदक्प्रवणां वेदीं लक्षणेनोपलिप्य ह ॥ १२ ॥

अनन्तर पाण्डवोंके पुरोहित बुद्धिमान् धौम्य मुनिने श्रीकृष्णकी सम्मतिसे पूर्व और उत्तर भागमें क्रमसे नीची करके सब शुभ लक्षणोंसे युक्त सुन्दर वेदी तैयार की, उसे गोबरसे लीप कर उसपर कुशसे रेखा की ॥ १२ ॥

व्याघ्रचर्मोत्तरे श्लक्ष्णे सर्वतोभद्र आसने ।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि ॥ १३ ॥

उसके निकटमें ही जलती हुई अग्निके समान दृढ चरण अर्थात् पायासे युक्त ऊपरके हिस्सेमें व्याघ्र चर्मसे भूपित मृदु सर्वतोभद्र नामक आसनपर ॥ १३ ॥

उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिर और द्रुपदपुत्री कृष्णको बैठाकर विहित मन्त्रोंको उच्चारण करते हुए अग्निमें आहुति देनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १४ ॥

अभ्यषिञ्चत्पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ १५ ॥

होमकार्य समाप्त होनेपर श्रीकृष्णने उठके कुन्तीनन्दन पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरको अभिषिक्त किया। अनन्तर श्रीकृष्णकी आज्ञासे राजा धृतराष्ट्र और सब प्रजाओंने अभिषेकका कार्य किया ॥ १५ ॥

ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीः ।
धर्मराजोऽपि तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः ॥ १६ ॥

उस ही समय बाजा बजानेवाले लोग ढोल नगाडे आदि बाजे बजाने लगे। उसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने प्रजाके दिये हुए उपहार आदि धर्मानुसार ग्रहण किया ॥ ॥ १६ ॥

पूजयामास तांश्चापि विधिवद्भूरिदक्षिणः ।
ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयत् ।
वेदाध्ययनसंपन्नाञ्शीलवृत्तसमन्वितान् ॥ १७ ॥

और बहुतसा धन देकर उन लोगोंको सत्कृत किया, और वेद पढनेवाले धृति तथा शील-वृत्तिसे युक्त स्वस्तिवाचक ब्राह्मणोंका विधिवत् पूजन करके उन्हें एक एक हजार स्वर्णमुद्रा दान किया ॥ १७ ॥

ते प्रीता ब्राह्मणा राजन्स्वस्त्यूचुर्जयमेव च ।
हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥

राजन् ! ब्राह्मण लोग अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रीतिपूर्वक हंसोंकी भांति मधुर शब्दसे 'जय हो; जय हो; स्वस्ति स्वस्ति;' ऐसा कहते हुए युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव ।
दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते ॥ १९ ॥

और कहने लगे कि- हे महाबाहो ! भाग्यसे ही तुम्हारी विजय हुई है। हे महातेजस्विन् ! तुमने प्रारब्धहीसे पराक्रम द्वारा क्षत्रिय धर्म लाभ किया है ॥ १९ ॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
त्वं चापि कुशली राजन्माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २० ॥

राजन् ! प्रारब्धसे ही गाण्डीव धनुर्द्धारी अर्जुन, पाण्डुपुत्र भीम, माद्रीपुत्र नकुल सहदेव और तुम कुशल हो ॥ २० ॥

मुक्ता वीरक्षयादस्मात्संग्रामान्निहतद्विषः ।
क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि पाण्डव ॥ २१ ॥

शत्रुओंको पराजित-नष्ट करके वैसे वीर विनाशक भयङ्कर संग्रामसे मुक्त हुए हो; हे पाण्डुपुत्र ! इस समय अब जो कुछ कर्तव्य कर्म करना बाकी है, उसके अनुष्ठानमें शीघ्र प्रवृत्त हो जाओ ॥ २१ ॥

ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्रतिपेदे महद्राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १३८० ॥

हे भारत ! फिर धर्मराज युधिष्ठिरका उन साधुओंने सत्कार किया; अनन्तर सुहृदोंके सहित बहुत बडे भारी राज्य भारको उन्होंने ग्रहण किया ॥ २२ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १३८० ॥

: ४१ :

वैशम्पायन उवाच—
प्रकृतीनां तु तद्वाक्यं देशकालोपसंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजाथोत्तरं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— राजा युधिष्ठिर प्रजा और ब्राह्मणोंके देशकालके अनुसार सब वचन सुनके उत्तरमें बोले, ॥ १ ॥

धन्याः पाण्डुसुता लोके येषां ब्राह्मणपुंगवाः ।
तथ्यान्वाप्यथ वातथ्यान्गुणानाहुः समागताः ॥ २ ॥

हे ब्राह्मण लोगों ! इस जगत्में पाण्डुपुत्र धन्य हैं, क्योंकि चाहे सत्य हो, चाहे मिथ्या ही हो, आप लोग उपस्थित होके उनके गुणोंको वर्णन कर रहे हैं ॥ २ ॥

अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यत्रैवं गुणसंपन्नानस्मान्ब्रूथ विमत्सराः ॥ ३ ॥

विशेष करके आप लोग जब मत्सरताहीन होके हम लोगोंको गुण—सम्पन्न कहते हैं; तब यह बोध होता है कि हम निश्चय ही आप लोगोंके कृपापात्र हैं ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजः पिता नो दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

ये जो हमारे जेठे पिता महाराज धृतराष्ट्र हैं, वह हम लोगोंके पास देवता स्वरूप हैं, इससे आप लोग यदि मेरे प्रियकार्य तथा कल्याणके अभिलाषी हैं, तो इनके प्रियकार्योंके करनेमें नियुक्त रहियेगा ॥ ४ ॥

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥ ५ ॥

अधिक क्या कहें, मैं जो इस प्रकार स्वजनोंका वडा संहार करके भी अबतक जीवन धारण कर रहा हूं; वह नित्य आलस रहित होके इनकी सेवा टहलके निमित्त ही समझियेगा ॥५॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां ततः ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥

मैं यदि आप लोगों और सुहृद पुरुषोंका कृपा पात्र होऊं, तो आप लोग महाराज धृतराष्ट्रके सङ्ग पहिलेकी ही भांति व्यवहार कीजिये ॥ ६ ॥

एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ।
एतन्मनसि कर्त्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ॥ ७ ॥

ये हमारे, आपके और जगत्के स्वामी हैं; यह सब पृथ्वी और समस्त पाण्डव लोग इनके अधीन हैं । मैंने जो कुछ कहा, आप लोग मेरे उस वचनको स्मरण रखियेगा ॥ ७ ॥

अनुगम्य च राजानं यथेष्टं गम्यतामिति ।
पौरजानपदान्सर्वान्विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौरव्यो भीमसेनमयोजयत् ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिरने इसी भांति ब्राह्मणोंके समीप धृतराष्ट्रको "राजा" कहके सबको विदित करके ब्राह्मणोंको निज निज स्थानोंपर जानेके वास्ते विदा किया । उसके अनन्तर उन्होंने पुरवासी तथा जनपदवासी सब प्रजाको विदा कर राजकार्यमें प्रवृत्त होके प्रीतिपूर्वक भीमसेनको युवराजके पदपर अधिष्ठित किया ॥ ८ ॥

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसंपन्नं प्रीतिमान्वै समादिशत् ॥ ९ ॥

मन्त्रणा, कर्तव्य निश्चय और शत्रुओंके सङ्ग सन्धि स्थापन, युद्धके निमित्त यात्रा, शत्रुता करके निवास, दोनों ओर सन्धि करना और किला आदिक वा किसीका आश्रय ग्रहण करना इत्यादि राज्य–रक्षाके विषयमें ऊपर कहे हुए छः उपायोंके विचारके निमित्त बुद्धिमान विदुरको नियुक्त किया ॥ ९ ॥

कृताकृतपरिज्ञाने तथायव्ययचिन्तने ।
संजयं योजयामास ऋद्धमृद्धैर्गुणैर्युतम् ॥ १० ॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयों और आय व्ययके विचारके निमित्त सब गुणोंसे समृद्ध संजयको नियत किया ॥ १० ॥

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद्राजा कर्मिणामन्ववेक्षणे ॥ ११ ॥

सेनाका परिमाण, उन्हें अन्न और वेतन देने, तथा सेनाके सब कार्योंको देखनेके निमित्त राजा युधिष्ठिरने नकुलको नियुक्त किया ॥ ११ ॥

परचक्रोपरोधे च दृप्तानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराजः फल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १२ ॥

और दुष्टोंके दमन तथा शत्रुओंके राज्यपर आक्रमणका भार महाराज युधिष्ठिरने अर्जुनको सौंपा ॥ १२ ॥

द्विजानां वेदकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव हि ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं व्यादिदेश परंतपः ॥ १३ ॥

प्रात्यहिक ब्राह्मणों और वैदिक कार्योंका तथा अन्य ब्राह्मणोचित कर्तव्योंका भार पुरोहितोंमें श्रेष्ठ धौम्य मुनिको शत्रुतापन युधिष्ठिरने सौंपा ॥ १३ ॥

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशां पते ॥ १४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! केवल सहदेवको सर्वदा अपने समीपमें रहनेके निमित्त आज्ञा दी; हर समय सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षाका काम उन्हें सौंपा दिया ॥ १४ ॥

यान्यानमन्यद्योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥ १५ ॥

पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने इसके अतिरिक्त जो कार्य जिस पुरुषके योग्य समझा, अत्यन्त प्रीतिके सहित उसे उस ही कार्य पर नियुक्त कर दिया ॥ १५ ॥

विदुरं संजयं चैव युयुत्सुं च महामतिम् ।
अब्रवीत्परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १६ ॥

उसके अनन्तर धर्मवत्सल धर्मात्मा शत्रुवीरनाशन राजा युधिष्ठिर विदुर, संजय और महाबुद्धिमान् युयुत्सुसे बोले—॥ १६ ॥

उत्थायोत्थाय यत्कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम ।
सर्वं भवद्भिः कर्तव्यमप्रमत्तैर्यथातथम् ॥ १७ ॥

हमारे जेठे पिता राजा धृतराष्ट्रको जब जिस कार्यकी आवश्यकता होगी, उस ही समय आप लोग स्वयं उठके आलस रहित होकर उन कार्योंको पूरा कीजियेगा ॥ १७ ॥

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि नित्यशः ।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि धर्मतः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १३९८ ॥

और नगर तथा जनपदवासी प्रजाके सम्बन्धमें जो कुछ कार्य नित्य उपस्थित हो उसे महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर अपने अपने कार्यभारके अनुसार पूर्ण कीजियेगा ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १३९८ ॥

: ४२ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता मृधे ।
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उदार बुद्धिसे युक्त राजा युधिष्ठिरने कुरुक्षेत्रके युद्धमें मरे हुए स्वजनोंका फिर पृथक् रूपसे श्राद्ध कराया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ।
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ॥ २ ॥

और अन्धे राजा महायशस्वी धृतराष्ट्रने भी अपने पुत्रोंके श्राद्धमें सब गुणोंसे युक्त अन्न, अत्यंत मूल्यवान् विचित्र रत्न, धन और गौ आदिक सब वस्तु इच्छानुसार ब्राह्मणोंको दान किया ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्तु कर्णस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः ॥ ३ ॥

विशेष करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके सहित एकत्रित होके महात्मा द्रोणाचार्य, कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, हिडिम्बापुत्र राक्षस घटोत्कच ॥ ३ ॥

विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ।
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ ॥ ४ ॥

द्रौपदीके पांचो पुत्र और परम हितैषी राजा विराट आदि मृत सुहृद मित्रोंके श्राद्धमें द्रौपदी सहित बहुत दान दिया ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ।
धनैश्च वस्त्रै रत्नैश्च गोभिश्च समतर्पयत् ॥ ५ ॥

हर एकके नामसे हजारों ब्राह्मणोंको भोजन कराके उन्हें धन, रत्न, वस्त्र और गऊ आदि दान किया ॥ ५ ॥

ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ।
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदैहिकम् ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त जिन अन्य राजाओंके पुत्रादि तथा इष्टमित्रोंमें किसीको जीवित नहीं देखा, उन सबकी भी और्ध्वदेहिक क्रिया की ॥ ६ ॥

सभाः प्रपाश्च विविधास्तडागानि च पाण्डवः ।
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदैहिकम् ॥ ७ ॥

अनन्तर हर एकके नामसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने धर्मशालाएं, प्याऊ घर, तालाब, कूआं आदि बनवाये; इस प्रकार सभी सुहृदोंके— वंशधर पुत्र—पौत्रोंके श्राद्ध कार्यको पूर्ण किया ॥ ७ ॥

स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम्
कृतकृत्योऽभवद्राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ८ ॥

वह इसी भांति आत्मीय और मृत सुहृद पुरुषोंके श्राद्ध आदि कार्य समाप्त करके उनके ऋण तथा लोकनिन्दासे रहित होके कृतार्थ हुए, और धर्मपूर्वक प्रजा पालन करने लगे ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रं यथापूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ।
सर्वांश्च कौरवामात्यान्भृत्यांश्च समपूजयत् ॥ ९ ॥

पहिलेकी भांति राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर आदि पूजनीय कौरवों और मुख्य मुख्य पदोंपर प्रतिष्ठित सेवकोंको अत्यन्त सम्मानके सहित प्रतिपालन करने लगे ॥ ९ ॥

याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ।
सर्वास्ताः कौरवो राजा संपूज्यापालयद्घृणी ॥ १० ॥

जो सब स्त्रियां स्वामी और पुत्ररहित होकर वहां पर निवास करती थीं, कुरुराज युधिष्ठिर कृपापूर्वक अत्यन्त सम्मानके सहित उनका भरण-पोषण करने लगे ॥ १० ॥

दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ।
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ॥ ११ ॥

अनन्तर उन्होंने कृपाके वशमें होकर अन्धे, लूले, लङ्गडे और दीन दुःखियोंको घर, वस्त्र और भोजनकी सामग्री प्रदान करके कृपा प्रकाशित की ॥ ११ ॥

स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ १४१० ॥

इसी भांति राजा युधिष्ठिर सारी पृथ्वी पर विजय करके शत्रुओंके निकट अऋणी हुए, और निष्कण्टक तथा सुखी होकर राज्य-भोगनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ १४१० ॥

: ४३ :

वैशम्पायन उवाच—

अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः ।
दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— अत्यंत बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर फिर राज्य पाकर तथा राज्यपद पर अभिषिक्त होके हाथ जोडके शुद्ध भावसे पुण्डरीकाक्ष दाशार्ह श्रीकृष्णसे बोले ॥ १ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च ।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥ २ ॥

हे यदुकुलसिंह श्रीकृष्ण ! हमने तुम्हारी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रमके प्रभाव तथा प्रसन्नतासे ॥ २ ॥

पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया ।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम ॥ ३ ॥

अपने पिता-पितामहसे प्राप्त हुए राज्यको फिर पाया है । हे पुण्डरीकाक्ष ! हे शत्रुनाशक ! तुम्हें बारम्बार प्रणाम है ॥ ३ ॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम् ।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति परमर्षयः ॥ ४ ॥

सब शास्त्र तुम्हें अद्वितीय पुरुष सात्वत पुरुषोंकी गति स्वरूप कहके वर्णन करते हैं । श्रेष्ठ ऋषि लोग यत्नपूर्वक तुम्हारे विविध नामोंको उच्चारण करते हुए तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं ॥ ४ ॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

तुम ही विष्णु, जिष्णु, हरि, कृष्ण, वैकुण्ठ, पुरुषोत्तम, विश्वात्मा और जगत्के उत्पन्न करनेवाले हो; इससे हे विश्वकर्मन् ! तुम्हें नमस्कार है ॥ ५ ॥

अदित्याः सप्तरात्रं तु पुराणे गर्भतां गतः ।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥ ६ ॥

तुम्हींने सप्तराततक अदितिके गर्भसे जन्म ग्रहण किया है और पुराणोंमें तुम ही पृश्निगर्भ कहके विख्यात हो, पण्डित लोग तुम्हें त्रियुग कहके वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यसे ।
त्रिचक्षुः शंभुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥ ७ ॥

तुमही शुचिश्रवा अर्थात् पुण्यकीर्त्ति, हृषीकेश, घृतार्चिः (यज्ञेश्वर), हंस, त्रिनेत्र, शम्भू, विभू और दामोदर नामसे वर्णित होते हो ॥ ७ ॥

वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषणस्ताक्ष्र्यलक्षणः ।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥ ८ ॥

तुम वराह, अग्नि, सूर्य, वृषण, गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रु सेना विमर्दी), पुरुष (जीव), शिपिविष्ट (सर्वान्तरव्यापी), उरुक्रम (वामन), ॥ ८ ॥

×

वाचिष्ठ उग्रः सेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः ।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संकृतिर्विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥

वचिष्ठ (वक्ताओंमें श्रेष्ठ), उग्र, सेनानी—देवसेनानी, सत्य, वाजसनि (अन्नप्रद) और स्वामि कार्तिकेय हो । तुम स्वयं अच्युत और शत्रुओंके नाश करनेवाले हो ! तुम संस्कृति (ब्राह्मण रूप) और विकृति (अनुलोम प्रतिलोम जाति रूप) हो; तुम वृष (धर्म) हो ॥ ९ ॥

कृतवर्मा त्वमेवाद्रिर्वृषगर्भो वृषाकपिः ।
सिन्धुक्षिदूर्मिस्त्रिककुत्त्रिधामा त्रिवृदच्युतः ॥ १० ॥

तुम श्रेष्ठ, कृतवर्मा, अद्रि, वृषदर्भ (इन्द्रका अहंकार नष्ट करनेवाले) और वृषाकपि (हरिहर) हो । तुम ही सिन्धु, क्षिदुर्मि (प्रलय), त्रिककुत (तीन दिशाएं), त्रिधामा, त्रिवृत और अच्युत (अवतीर्ण मूर्त्ति) हो ॥ १० ॥

सम्राड्विराट् स्वराट्चैव सुरराड्धर्मदो भवः ।
विभुर्भूरभिभूः कृष्णः कृष्णवर्मा त्वमेव च ॥ ११ ॥

तुम ही सम्राट्, विराट्, स्वराट्, सुरराज, धर्मद, भव, विभु, भू (सत्वरूप), अभिभू (अशरीर), कृष्ण और कृष्णवर्मा हैं ॥ ११ ॥

स्विष्टकृद्भिषगावर्तः कपिलस्त्वं च वामनः ।
यज्ञो ध्रुवः पतंगश्च जयत्सेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥

तुम ही स्विष्टकृत् (अभिलाषा पूर्ण करनेवाले), भिषगावर्त्त (दोनों अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य) हो; तुम ही कपिल, वामन, यज्ञ, ध्रुव, गरुड और जयत्सेन नामसे विख्यात हो ॥ १२ ॥

शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवस्पृक्त्वं पुनर्वसुः ।
सुबभ्रुरुक्षो रुक्मस्त्वं सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥

तुम ही शिखण्डी, नहुष, बभ्रु (महेश्वर), दिवस्पृक् (आकाशको नापनेवाले,) पुनर्वसु नाम नक्षत्र, सुबभ्रु (अत्यन्त पीतवर्ण), उक्ष, रुक्म, सुषेण, दुन्दुभि, ॥ १३ ॥

गभस्तिनेमिः श्रीपद्मं पुष्करं पुष्पधारणः ।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मस्त्वं सावित्रं च पठ्यसे ॥ १४ ॥

गभस्तिनेमि, श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारण, ऋभु, विभु और सर्वसूक्ष्म हो, वेदमें तुम्हारे ही चरित्रोंके विषय गाये जाते हैं ॥ १४ ॥

अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धन्व च ।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥ १५ ॥

तुम अम्भोनिधि, ब्रह्मा, पवित्र धाम, तथा धन्व हो; हे केशव ! श्रुति तुम्हारे ही नामको हिरण्यगर्भ कहके तुम्हारे महात्म्यका वर्णन करती है । तुम ही स्वधा और स्वाहा हो ॥ १५ ॥

योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे ।
विश्वं चेदं त्वद्वशो विश्वयोने नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे ॥ १६ ॥

हे श्रीकृष्ण ! तुम ही इस जगत्के आदि कारण और प्रलयस्वरूप हो; पहिले ही तुम इस विश्वकी सृष्टि करते हो । हे विश्वयोनि ! हे शार्ङ्गपाणि ! हे खड्गपाणि ! चक्रपाणि ! यह संसार तुम्हारे वशमें स्थित है, इससे तुम्हें नमस्कार है ॥ १६ ॥

एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः सभामध्ये प्रीतिमान्पुष्कराक्षः ।
तमभ्यनन्दद्भारतं पुष्कलाभिर्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ १४२७ ॥

यदुकुलशिरोमणि कमल नेत्र भगवान् श्रीकृष्णने इसी भांति सभाके बीच पाण्डवोंमें जेठे भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरके स्तुतियुक्त वचनोंसे सत्कृत तथा पूजित होके, अत्यन्त प्रीतिके सहित उचित वचनोंसे उन्हें भी आनन्दित किया ॥ १७ ॥

महाभारतके शांतिपर्वमें तैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ १४२७ ॥

: ४४ :

वैशम्पायन उवाच—

तततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः ।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथास्वानि गृहाणि च ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें स्थित सब पुरुषोंको विदा किया, तब उन लोगोंने राजाकी आज्ञा पाकर अपने गृहोंकी ओर गमन किया ॥ १ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम् ।
सान्त्वयन्नब्रवीद्धीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥ २ ॥

पश्चात् बुद्धिमान राजा युधिष्ठिर महापराक्रमी भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको धीरज देके आदर पूर्वक यह वचन बोले ॥ २ ॥

शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः कृत्तदेहा महारणे ।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ॥ ३ ॥

तुम लोग महासंग्राममें शत्रुओंके विविध प्रकारके शस्त्रोंसे क्षत विक्षित शरीरसे युक्त होकर अत्यंत थक गये हो, और शोक तथा क्रोधसे संतप्त हुए हो ॥ ३ ॥

अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते पुरुषोत्तमाः ।
भवद्भिरनुभूताश्च यथा कुपुरुषैस्तथा ॥ ४ ॥

हे पुरुषोत्तम वीरो ! विशेष करके तुम लोगोंने राजपुत्र होकर भी मेरे वास्ते बहुत दिनोंतक वनवास कर भाग्यहीन साधारण पुरुषोंकी भांति अनेक क्लेश सहे ॥ ४ ॥

यथासुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम् ।
विश्रान्ताल्लँब्धविज्ञानाञ्श्वः समेतास्मि वः पुनः ॥ ५॥

इससे आज तुम अपनी इच्छानुसार विजय जनित सुखका अनुभव करो । जब तुम लोगोंकी बुद्धि प्रकृतिस्थ और विश्रामके बाद तुम्हारी थकावट दूर हो, तब फिर कल तुम लोगोंसे मिलूंगा ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंको ऐसी आज्ञा देकर अनेक अट्टालिकाओंसे सुशोभित, अनेक मणि-रत्नोंसे परिपूर्ण, दास दासियोंसे युक्त दुर्योधनका घर ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दरं मघवानिव ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रकी अनुमतिसे भीमसेनको समर्पित किया, महाबाहु भीमसेनने इन्द्रके अपने मन्दिरमें प्रवेश करनेकी भांति उस गृहके भीतर प्रवेश किया ॥ ७ ॥

यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य च ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥

अनन्तर प्रासादमालाओंसे शोभित तथा सुवर्णके तोरणोंसे युक्त दुर्योधनके भवन समान ही दुःशासनका भवन सजाया था ॥ ८ ॥

दासीदाससुसंपूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥ ९ ॥

अनेक धनधान्य और दासदासियोंसे पूरा गृह राजाकी आज्ञासे महाबाहु अर्जुनको समर्पित किया ॥ ९ ॥

दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद्वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥ १० ॥

उसके अनन्तर सुवर्ण और मणिरत्नोंसे युक्त कुबेरके गृहके समान दुःशासनके गृहसे भी श्रेष्ठ दुर्मर्षणके गृहको ॥ १० ॥

नकुलाय वरार्हाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

हे महाराज ! धर्मराज युधिष्ठिरने महावनमें अत्यन्त क्लेशको सहे हुए अत्यन्त श्रेष्ठ नकुलको अत्यन्त प्रीतिके सहित प्रदान किया ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत्कनकभूषितम् ।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥

सुवर्णभूषित पद्मपत्रनयना स्त्री और उत्तम शय्या तथा सम्पूर्ण सम्पत्तियोंसे भूपित दुर्मुखका उत्तम गृह ॥ १२ ॥

प्रददौ सहदेवाय सततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वा स कैलासं धनदो यथा ॥ १३ ॥

हमेशा प्रिय करनेवाला सहदेवको दिया । वह भी उत्तम गृह पाके कैलासधाममें वासस्थान पाये हुए कुबेरकी भांति आनन्दित हुए ॥ १३ ॥

युयुत्सुर्विदुरश्चैव संजयश्च महाद्युतिः ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथास्वं जग्मुरालयान् ॥ १४ ॥

युयुत्सु, विदुर, महातेजस्वी सञ्जय, राजपुरोहित धौम्य और सुधर्मा आदिने अपने अपने पहलेके गृहोंमें गमन किया ॥ १४ ॥

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव ॥ १५ ॥

जैसे शार्दूल पर्वतकी कन्दरामें प्रवेश करता है, वैसे ही पुरुषसिंह श्रीकृष्णने सात्यकिके सहित अर्जुनके गृहमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

तत्र भक्षान्नपानैस्ते समुपेताः सुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ १४४३ ॥

उन सबोंने उन गृहोंमें अन्न आदिक खाने पीनेकी वस्तुओंसे तृप्त होकर परम सुखसे रात्रि बिताई और भोरके समय फिर सब कोई स्नान आदिसे निवृत्त होके राजाके समीप सभामें उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ १४४३ ॥

४५

जनमेजय उवाच—

प्राप्य राज्यं महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद्विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥

राजा जनमेजय बोले— हे विप्रर्षि ! महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राज्य पानेके अनन्तर जो कुछ कार्य किये वह आप मुझसे कहें ॥ १ ॥

भगवान्वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

तथा हे महर्षि ! त्रिलोकके परम गुरु वीर भगवान् श्रीकृष्णने उस समय जो कुछ कार्य किया हो; उसे भी आप मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शृणु राजेन्द्र तत्त्वेन कीर्त्यमानं मयानघ ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे अनघ ! महाराज ! श्रीकृष्णको आगे करके पाण्डवोंने जो कुछ कार्य किये, मैं वह सब वृत्तान्त वर्णन करता हूं, सुनिये ॥ ३ ॥

प्राप्य राज्यं महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चातुर्वर्ण्यं यथायोगं स्वे स्वे धर्मे न्यवेशयत् ॥ ४ ॥

तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राज्य पानेके अनन्तर चारों वर्णकी प्रजाको योग्यतानुसार निज निज धर्ममें स्थापित किया ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम् ।
सहस्रनिष्कमेकैकं वाचयामास पाण्डवः ॥ ५ ॥

एक हजार महात्मा स्नातक ब्राह्मणोंको पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने एक एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दान किया ॥ ५ ॥

तथानुजीविनो भृत्यान्संश्रितानातिथीनपि ।
कामैः संतर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि ॥ ६ ॥

फिर अनुजीवी सेवकों शरणागतों और उस समय वहांपर इकट्ठे हुए अतिथियोंको इच्छा–नुसार तृप्त किया; अधिक क्या कहा जावे, उन्होंने कृपण और विरुद्ध मतावलम्बी पुरुषोंकी भी अभिलाषा पूरी करनेमें त्रुटि नहीं की ॥ ६ ॥

पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः ।
धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधानि च ॥ ७ ॥

महायशस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने निज पुरोहित धौम्य मुनिको दस हजार गऊ और सोना, चांदीसे युक्त अनेक भांतिके मणिरत्न तथा वस्त्र आदि प्रदान किए ॥ ७ ॥

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुराय च धर्मात्मा पूजां चक्रे यतव्रतः ॥ ८ ॥

महाराज ! कृपाचार्यको पहिलेकी भांति अपना गुरु नियत किया; परन्तु धर्मात्मा और व्रतशील युधिष्ठिरने विदुरको विशेष रूपसे सम्मानित किया ॥ ८ ॥

भक्षान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनासनैः ।
सर्वान्संतोषयामास संश्रितान्ददतां वरः　　　॥ ९ ॥

दान देनेवालोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने आश्रित सब पुरुषोंको ही भोजन, पान, शयन, आसन और वस्त्र आदिसे सन्तोषित किया ॥ ९ ॥

लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तम ।
युयुत्सोर्धार्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः　　　॥ १० ॥

हे राजश्रेष्ठ ! उन्होंने नगरनिवासियोंको प्रसन्न करके प्राप्त हुए राज्यमें शान्ति स्थापित किया तथा युयुत्सु और धृतराष्ट्रकी उस महायशस्वी युधिष्ठिरने पूजा की ॥ १० ॥

धृतराष्ट्राय तद्राज्यं गान्धार्यै विदुराय च ।
निवेद्य स्वस्थवद्राजन्नास्ते राजा युधिष्ठिरः　　　॥ ११ ॥

और धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा विदुरको सब राज्यभार सौंपके निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक निवास करने लगे ॥ ११ ॥

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य जनमेजय ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत्कृताञ्जलिः　　　॥ १२ ॥

हे जनमेजय ! इस प्रकार सब नगरको प्रसन्न करके राजा युधिष्ठिरने हाथ जोडके महात्मा श्रीकृष्णके समीप गमन किया ॥ १२ ॥

ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलं मेराविवाम्बुदम्　　　॥ १३ ॥

उन्होंने वहां जाकर मणि और सोनेसे सजाये गए बहुत बडे पलंगपर नीले मेघके समान कान्तिवाले श्रीकृष्णको बैठे देखा ॥ १३ ॥

जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
पीतकौशेयसंवीतं हेम्नीवोपहितं मणिम्　　　॥ १४ ॥

वे शरीरसे अत्यन्त तेजस्वी दिव्य आभूषणोंसे भूषित, पीताम्बरधारी, इसी पीताम्बरके कारण सोनेके सूत्रसे मढे हुए नील मणिके समान लगते थे ॥ १४ ॥

कौस्तुभेन उरःस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाप्तकिरीटिनम् ।
नौपम्यं विद्यते यस्य त्रिषु लोकेषु किंचन　　　॥ १५ ॥

उनके वक्षस्थल पर स्थित कौस्तुभ मणि स्वयं प्रकाशित होकर उनकी शोभा बढा रहा था, जैसे उदय हुए सूर्यके सहित उदयाचल पर्वत शोभित होता है। तीनों लोकोंके बीच ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दीख पडती, जिससे श्रीकृष्णचन्द्रके उस समयके शोभाकी उपमा होसके ॥ १५ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ।
उवाच मधुराभाषः स्मितपूर्वमिदं तदा ॥ १६ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर पुरुषविग्रहधारी महात्मा विष्णुके समीप पहुंचके हंसकर मधुर वचनसे कहने लगे ॥ १६ ॥

सुखेन ते निशा कच्चिद्व्युष्टा बुद्धिमतां वर ।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ॥ १७ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अच्युत ! सुखपूर्वक रात्रि बीती है न ? इस समय तुम्हारी सारी ज्ञानेन्द्रियां प्रसन्न तो हैं ? ॥ १७ ॥

तव ह्याश्रित्य तां देवीं बुद्धिं बुद्धिमतां वर ।
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ॥ १८ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवन् ! तुम्हारी ही उस कल्याणमयी बुद्धिके सहारे ही हम लोगोंने फिर राज्य पाया तथा सब पृथ्वी भी हमारे वशमें हुई है ॥ १८ ॥

भवत्प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ।
जयः प्राप्तो यशश्चाग्र्यं न च धर्माच्च्युता वयम् ॥ १९ ॥

हे तीनों लोकोंमें गति करनेवाले भगवन् ! तुम्हारे प्रसादसे ही हम लोग क्षत्रिय धर्मसे भ्रष्ट नहीं हुए, तुम्हारी कृपासे ही हमारी युद्धमें विजय हुई और उत्तम यश प्राप्त हुआ है ॥१९॥

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
नोवाच भगवान्किंचिद्ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ १४६३ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर इसी भांति स्तुति कर रहे थे, तोभी श्रीकृष्ण भगवानने कुछ भी उत्तर नहीं दिया; क्योंकि उस समय वह ध्यानमें मग्न थे ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पैंतलीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ १४६३ ॥

: ४६ :

युधिष्ठिर उवाच—

किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यमितविक्रम ।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे अमित पराक्रमी ! आज मैं यह कैसा आश्चर्य देख रहा हूं; तुम ध्यानमें प्रवृत्त हुए हो ? हे लोकोंका हित करनेवाले ! इन तीनों लोकोंका कल्याण तो है ? ॥ १ ॥

चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषोत्तम ।
अपक्रान्तो यतो देव तेन मे विस्मितं मनः ॥ २ ॥

हे पुरुषोत्तम ! देव ! तुम तुरीय ध्यानपथ (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिसे अतीत स्वरूप अवस्था) अवलम्बन करके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंसे अपक्रान्ति होकर स्थित होरहे हो, उसे देखकर मेरा मन विस्मित होता है ॥ २ ॥

निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥

देख रहा हूं कि तुमने प्राण आदि पञ्च कर्म निर्वाहक शरीरस्थ प्राणवायुको निरोध किया (रोका) है; तुमने सब इन्द्रियोंको मनके बीच स्थापित किया है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव बुद्धौ संवेशितानि ते ।
सर्वश्चैव गणो देव क्षेत्रज्ञे ते निवेशितः ॥ ४ ॥

सब इन्द्रियां तथा मनको तुमने बुद्धिमें लीन किया है । हे देव ! सभी गुणोंको तुमने अपनी आत्मामें लीन कर दिया है ॥ ४ ॥

नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः ।
स्थाणुकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥

हे माधव ! तुम्हारे शरीरके सब रोएं और मन, बुद्धि स्थिर भावसे स्थित हैं, इससे तुम खम्भा, दीवार वा शिलाकी भांति चेष्टारहित होरहे हो ॥ ५ ॥

यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलतेऽच्युत ।
तथासि भगवन्देव निश्चलो दृढनिश्चयः ॥ ६ ॥

हे अचुत ! भगवन् ! देव ! जैसे दीपशिखा वायु रहित स्थानमें स्थिरताके सहित जलती रहती है, वैसे ही तुम भी आज चेष्टा रहित तथा दृढनिश्चयी दीख पडते हो ॥ ६ ॥

यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि ।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥ ७ ॥

हे देव ! यदि यह गोपनीय न होवे और मैं सुननेका पात्र होऊं, तो यह प्रार्थना है, कि आप मुझ शरणागतके इस संशयको दूर कीजिये ॥ ७ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च त्वं क्षरं चाक्षरं च हि ।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम क्षर, अक्षर, कर्ता और अकर्ता हो । तुम अनादि और मृत्युसे रहित हो, और तुम ही आदि पुरुष हो ॥ ८ ॥

×

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च ।
ध्यानस्यास्य यथातत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! मैं तुम्हारा शरणागत भक्त शिर झुकाके तुम्हें प्रणाम करता हूं, कि आप इस ध्यानके यथार्थ कारणको मेरे समीप प्रकाशित कीजिये ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः स्वगोचरे न्यस्य मनो बुद्धीन्द्रियाणि च ।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान्वासवानुजः ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले— उस समय इन्द्रके भ्राता श्रीकृष्ण भगवान् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको पहिलेकी भांति निज निज स्थलोंमें स्थापित करके इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले ॥१०॥

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ ११ ॥

महाराज ! शान्त होनेवाली अग्निकी भांति तेजस्वी शरशय्यापर स्थित पुरुषसिंह भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं, उसी कारण मैं भी उनके ध्यानमें प्रवृत्त था ॥ ११ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न सहेद्देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥

जिनके वज्र समान धनुषटङ्कार और तलत्राणके शब्दको इन्द्र भी नहीं सह सकते थे; उन्हींमें मेरा मन लगा हुआ था ॥ १२ ॥

येनाभिद्रुत्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रः पुरा कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥ १३ ॥

जिन्होंने स्वयंवरके बीच अपने तेजके प्रभावसे सब राजाओंके समुदायको पराजित करके तीनों कन्याओंको हरण किया उन्हींके पास मेरा मन चला गया था ॥ १३ ॥

त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥

जिन्होंने तेईस दिनोंतक भृगुकुल शिरोमणि परशुरामके सङ्ग युद्ध किया था; परशुराम जिसे किसी प्रकार पराजित करनेमें समर्थ नहीं हुए; उसी भीष्ममें मेरा मन लगा हुआ था ॥१४॥

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिवम् ।
वसिष्ठशिष्यं तं तात मनसास्मि गतो नृप ॥ १५ ॥

राजन् ! जिसे गङ्गादेवीने विधिपूर्वक निजगर्भमें धारण किया और वसिष्ठ मुनिने अपना शिष्य बनाया था, उन्हींमें मेरा मन लगा हुआ था ॥ १५ ॥

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥

जिस महातेजस्वीने बुद्धिप्रभावसे सब दिव्य अस्त्रोंकी विद्या और सांगोपांग चारों वेदोंको पढा था, उन्हींके पास मनसे चला गया था ॥ १६ ॥

रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! वही परशुरामके प्रिय शिष्य सब विद्याके आधार स्वरूप भीष्ममें ही मेरा मन लगा हुआ था ॥ १७ ॥

एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।
शरणं मामुपागच्छत्ततो मे तद्गतं मनः ॥ १८ ॥

वे मन और सब इन्द्रियोंको संयम करके एकाग्रचित्तसे मेरे शरणागत हुए थे; उसी कारण मैं भी उनके ध्यानमें प्रवृत्त हुआ था ॥ १८ ॥

स हि भूतं च भव्यं च भवच्च पुरुषर्षभ ।
वेत्ति धर्मभृतां श्रेष्ठस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ १९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! वे धर्मात्मा भीष्म भूत–भविष्य और वर्त्तमान कालके सब विषयोंको जानते हैं, इसलिए हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! मेरा मन उनके पास चला गया था ॥ १९ ॥

तस्मिन्हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥

महाराज ! पुरुषशार्दूल भीष्म जब अपने कर्मोंके प्रभावसे शरीरको त्याग कर स्वर्ग लोकमें गमन करेंगे, तब यही पृथ्वी चन्द्रमासे हीन होकर रात्रिके समान श्रीहीन होगी ॥ २० ॥

तद्युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत्ते मनोगतम् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! इससे आप महापराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके समीप उपस्थित होकर जो आपके मनमें हो उसे पूछिए ॥ २१ ॥

चातुर्वेद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं च पृच्छैनं पृथिवीपते ॥ २२ ॥

हे पृथ्वीपति ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों विद्याओंको, होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु सम्बन्धी यज्ञादिक कर्मोंको और चारों आश्रमोंके धर्म तथा चारों वर्णोंके धर्म और इससे अतिरिक्त जो कुछ पूछनेकी इच्छा हो, वह सब पूछिये ॥ २२ ॥

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
ज्ञानान्यल्पीभविष्यन्ति तस्मात्त्वां चोदयाम्यहम् ॥ २३ ॥

कौरवकुल धुरन्धर भीष्मके परलोक गमन करनेके अनन्तर पृथ्वीसे सब ज्ञान शास्त्र बहुत कम हो जायेंगे, इसी कारण मैं आपको उन महात्माके समीप जानेके वास्ते कहता हूं ॥२३॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥ २४ ॥

धर्म जाननेवाले युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रके सारगर्भ उत्तम वचन सुनके आंसुसे रुंधे हुए गलेसे बोले ॥ २४ ॥

यद्भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम मानद ॥ २५ ॥

हे मानद माधव ! आपने भीष्मके प्रभाव विषयक जो कुछ वचन कहे, उसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥

महाभाग्यं हि भीष्मस्य प्रभावश्च महात्मनः ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

मैंने महात्मा भीष्मके सौभाग्य और प्रभावकी कथा पहिले महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे अनेक बार सुनी है ॥ २६ ॥

भवांश्च कर्ता लोकानां यद्ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥ २७ ॥

हे शत्रुसूदन ! यादवनन्दन ! विशेष करके सब लोगोंके कर्त्ता होकर जब तुम भी उनकी प्रशंसा कर रहे हो; तब उसमें सन्देह ही क्या है ! ॥ २७ ॥

यतस्त्वनुग्रहकृता बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं पश्यामहे वयम् ॥ २८ ॥

हे माधव ! यदि मेरे ऊपर आपकी अत्यन्त कृपा प्रकाशित करनेकी इच्छा हुई हो, तो तुमको ही आगे करके हम सब भीष्मको देखेंगे ॥ २८ ॥

आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान्गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥

हे महाबाहो ! कुरुकुल शिरोमणि भीष्म सूर्यके उत्तरायण होने पर शरीर त्याग करेंगे, इसलिये उन्हें दर्शन देना आपका कर्त्तव्य है ॥ २९ ॥

तव ह्याद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।
दर्शनं तस्य लाभः स्यात्त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥ ३० ॥

हे भगवन् ! तुम आदि देव, क्षर, अक्षर, ब्रह्ममय और परमनिधि हो, इस आसन्नमृत्युके समय पितामह एकवार तुम्हारा लाभकारी दर्शन करें, यही मेरी इच्छा है ॥ ३० ॥

श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरके वचनको सुनके समीपमें ही स्थित सात्यकिसे कहा— तुम शीघ्र ही मेरे रथको सज्जित करो ॥ ३१ ॥

सात्यकिस्तूपनिष्क्रम्य केशवस्य समीपतः ।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥ ३२ ॥

इतना वचन सुनते ही सात्यकि उसी समय वहांसे उठके दारुक सारथीके निकट जाके यह वचन बोले, तुम शीघ्र ही श्रीकृष्णके रथको सज्जित करो ॥ ३२ ॥

स सात्यकेराशु वचो निशम्य रथोत्तमं काञ्चनभूषिताङ्गम् ।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गैर्विभूषितं हेमपिनद्धचक्रम् ॥ ३३ ॥

अनन्तर दारुकने सात्यकिके वचनको सुनते ही सुवर्णभूषित बहुतसे मरकत, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणिमय ज्योति—तरङ्गोंसे विभूषित उत्तम रथको, जिसका प्रत्येक अंग सुवर्णसे सजाया था और जो सुवर्ण भूषित चक्र—सहित था ॥ ३३ ॥

दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं विचित्रनानामणिरत्नभूषितम् ।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं विचित्रताक्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥ ३४ ॥

सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान, शीघ्रगामी, मध्यभागमें अनेक भांतिके मणि रत्न सुवर्णके आभूषणोंसे भूषित, शत्रुओंको दुःखित करनेवाले, अनेक भांतिकी पताका और गरुड ध्वजासे शोभित ॥ ३४ ॥

सुग्रीवसैन्यप्रमुखैर्वराश्वैर्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः ।
सुयुक्तमावेदयदच्युताय कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १४९८ ॥

मनके समान वेगवान् सुग्रीव और सैन्यके समान उत्तम घोडोंसे युक्त, सोनेसे सज्जित अवयवोंवाले उत्तम रथको सज्जित करके हाथ जोडके श्रीकृष्णचन्द्रसे निवेदन किया ॥३५॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छियालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १४९८ ॥

: ४७ :

जनमेजय उवाच—

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः ।
कथमुत्सृष्टवान्देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

राजा जनमेजय बोले— हे ऋषिवर ! भरतवंशियोंके पितामह भीष्मदेवने शरशय्यापर स्थित होके किस प्रकार योग अवलम्बन करके शरीर त्याग किया था, आप उसे मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— महाराज! कुरुश्रेष्ठ! तुम सावधान, पवित्र और एकाग्र चित्त होकर महात्मा भीष्मके शरीर त्यागनेके विषयको श्रवण करो ॥ २ ॥

निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे ।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥

जब सूर्य दक्षिणायन मार्गसे उत्तरायण गमन करनेमें प्रवृत्त हुए, तभी भीष्म पितामहने स्थिर होके अपना चित्त आत्मामें लगाया ॥ ३ ॥

विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः ।
शिश्ये परमया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥

उस समय भीष्मदेव महात्मा ब्राह्मणोंके बीचमें स्थित और सैकडों बाणोंसे परिपूरित शरीरसे इस प्रकार शोभित हुए, जैसे किरणधारी भगवान् सूर्य शोभित होते हैं ॥ ४ ॥

व्यासेन वेदश्रवसा नारदेन सुरर्षिणा ।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाऽश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥

उस समय वेद जाननेवाले व्यासदेव, देवऋषि नारद, महात्मा देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु ॥ ५ ॥

एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ।
श्रद्धादमपुरस्कारैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥ ६ ॥

इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे श्रद्धा, दम और शमसे युक्त महा तपस्वी महात्मा मुनियोंसे घिरकर पुरुषसिंह भीष्म इस प्रकार शोभित हुए, जैसे नक्षत्रोंके बीच भगवान चन्द्रमाकी शोभा दीख पडती है ॥ ६ ॥

भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ।
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः स्थितः ॥ ७ ॥

अनन्तर पुरुषसिंह भीष्म शरशय्यापर ही पवित्र भावसे हाथ जोडके कर्म, मन और वचनसे एकाग्रचित्त होकर श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करने लगे ॥ ७ ॥

स्वरेण पुष्टनादेन तुष्टाव मधुसूदनम् ।
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ॥ ८ ॥

और पुष्ट स्वरसे मधुसूदन योगेश्वर, पद्मनाभ, विष्णु, जिष्णु और संसारके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे ॥ ८ ॥

कृताञ्जलिः शुचिर्भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुम् ।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ॥ ९ ॥

बोलनेवालोंमें मुख्य परम धर्मात्मा भीष्मने हाथ जोडके भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की ॥ ९ ॥

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगमिषामि याम् ।
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥ १० ॥

हे पुरुषोत्तम ! श्रीकृष्णकी आराधना करनेकी इच्छावाला मैं जिस वाणीसे श्रीकृष्णके पास जाना चाहता हूं, उस संक्षिप्त स्तुतिसे पुरुषोंमें उत्तम भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हों ॥ १० ॥

शुचिः शुचिषदं हंसं तत्परः परमेष्ठिनम् ।
युक्त्वा सर्वात्मनात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ११ ॥

तुम पवित्र और शुचिपद हो, तुम हंसस्वरूप, पारमेष्टपद, प्रजापति और आत्मास्वरूप हो, अतः मैं पूर्णस्वरूपसे तुम्हारी शरणमें आता हूँ ॥ ११ ॥

यस्मिन्विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥ १२ ॥

जिस अविनाशी भूतेश्वर ब्रह्ममें जगत्के सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और प्रलय कालके समय इस प्रकार लीन होजाते हैं, जैसे धागेमें मालाकी मणियें गुथी रहती हैं ॥ १२ ॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥ १३ ॥

जिस विश्वांग और जगत् कर्ता नित्य तत्त्वमें यह सारा सत् और असत् रूप जगत् दृढ सूत्रमें पिरोई गई मालाके समान पिरोया हुआ है ॥ १३ ॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ।
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ १४ ॥

ऋषि लोग जिसे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्र चरण, जगदाधार नारायण देव कहते हैं ॥ १४ ॥

अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १५ ॥

सब सूक्ष्म वस्तुओंसे सूक्ष्म, स्थूलसे भी स्थूल, गुरु पदार्थोंसे भी गुरुतर और उत्तम वस्तुओंसे भी श्रेष्ठ कहके वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ १६ ॥

जो वाक्, अनुवाक्, निषत्, उपनिषत् और सत्य स्वरूप है; जिसकी सामवेदके बीच सत्य और सत्यकर्मा आदि नामोंसे स्तुति होती है ॥ १६ ॥

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्वस्थं सात्वतां पतिम् ।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ १७ ॥

साधक लोग ब्रह्म, जीव, मन और अहंकार इन चारों अध्यात्मतत्वोंके वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार परमगुह्य दिव्य नामोंको उच्चारण करके सदा बुद्धिसे अभिव्यक्त और भक्तोंके ईश्वर जानके जिनकी पूजा अर्चा किया करते हैं ॥ १७ ॥

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ १८ ॥

दो अरणिकी अग्निकी भांति, जो भगवान् पृथ्वी, ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रक्षाके निमित्त वसुदेव–देवकीसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १८ ॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
इष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मन्यवस्थितम् । ॥ १९ ॥

और योगी लोग एकाग्रचित्त होकर सब वासना त्यागके एक मात्र मोक्षपथके निमित्त जिसकी उपासना करते हुए निज आत्मामें ही जिस स्वरूपका दर्शन करते हैं, मैं उसही निर्मल ज्योति-स्वरूप सर्वेश्वर गोविन्द श्रीकृष्णकी शरण हूं ॥ १९ ॥

पुराणे पुरुषः प्रोक्तो ब्रह्मा प्रोक्तो युगादिषु ।
क्षये संकर्षणः प्रोक्तस्तमुपास्यमुपास्महे ॥ २० ॥

जो पुराणमें पुरुष, युगादिकोंमें ब्रह्मा और प्रलय समयमें सङ्कर्षण नामसे वर्णित है, मैं उसी उपास्य देवकी उपासनामें प्रवृत्त हुआ हूं ॥ २० ॥

अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्याग्नितेजसम् ।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ २१ ॥

जो निज तेज प्रभावसे सूर्य, कर्मसे वायु और इन्द्रको अतिक्रम करके विद्यमान है; मैं उसही बुद्धि तथा मन आदि इन्द्रियोंसे अतीत परमात्माकी शरण हूं ॥ २१ ॥

यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ २२ ॥

वेद जिसको जगत्कर्त्ता, स्थावर जङ्गमात्मक जगत्के पालक, सर्वाध्यक्ष, अक्षर और परमाधार करके वर्णन करते हैं ॥ २२ ॥

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितिर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक होकर भी दैत्योंको नाश करनेके वास्ते अदिति गर्भसे बारह अंशोंमें विभक्त होकर अवतार लिया था, उस हिरण्यवर्ण सूर्यमूर्ति परमात्माको, नमस्कार करता हूं ॥२३॥

शुक्ले देवान्पितॄन्कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ २४ ॥

जो अमृतमयी कलाओंसे शुक्लपक्षमें देवताओं और कृष्णपक्षमें पितरोंको तृप्त करता है और जगत्‌में द्विजराज नामसे प्रसिद्ध है; उस सोममूर्ति परमात्माको नमस्कार है ॥ २४ ॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ज्वलनद्युतिम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ २५ ॥

जो महान् अन्धकारसे अतीत स्वयं ज्योतिस्वरूप तथा सब स्थानोंमें पूर्ण हैं, जिसे जाननेसे ही साधक लोग जन्म-मृत्युसे छूटकर परम पद पाते हैं, उस ज्ञेयरूप परमात्माको नमस्कार है॥२५॥

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ २६ ॥

ऋषिलोग जिसे उक्थके बीच बह्वृच और अग्निहोत्र आदिक महायज्ञोंमें अध्वर्यू नामसे वर्णन करके सामगान करते हैं; उस वेदात्मक पुरुषको नमस्कार है ॥ २६ ॥

ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविराकृतिम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ २७ ॥

ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद ही जिसके धाम हैं, जो जव, दधियुक्त सत्तू, परिवाप, पुरोडाश और दूध यही पञ्च हविरात्मक है, जो वेदके बीच गायत्री आदि सात छन्दोंसे विस्तृत हुआ है, उस यज्ञात्मक पुरुषको नमस्कार है ॥ २७ ॥

यः सुपर्णो यजुर्नाम छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथंतरबृहत्यक्षस्तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥ २८ ॥

जो वेद पुरुष और यजु नामसे विख्यात है; गायत्री आदिक छन्द ही जिसके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदोंसे युक्त यज्ञ ही जिसका मस्तक है और बृहत् रथन्तर ही जिसकी प्रीतिस्वरूप है; उस स्तोत्रात्मक पुरुषको नमस्कार है ॥ २८ ॥

यः सहस्रसवे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यवर्णः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥ २९ ॥

जो सर्वज्ञ पुरुष प्रजापति आदिकोंके सहस्र वर्ष यज्ञ करनेके अनन्तर यज्ञसे हिरण्यवर्ण युक्त हंसरूपसे उत्पन्न हुए थे; उस हंसरूपी परमात्माको नमस्कार है ॥ २९ ॥

पदाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनलक्षणम् ।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ३० ॥

वैदिक पद ही जिसके अङ्ग, सन्धि आदिक अंगुली, स्वर और व्यजन ही जिसके लक्षण हैं, तथा वेदके बीच जो दिव्य अक्षर कहके वर्णित हुआ है; उस वागाधिष्ठात्री परम देवताको नमस्कार है ॥ ३० ॥

×

यश्चिनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना ।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ३१ ॥

जिसका व्यवहार धर्मके लिए ही है, जो वाक् आदि इन्द्रियोंको जीतकर मोक्षके कारण वेदमें कहे हुए उपायोंसे साधुओंको संसारके दुःखोंसे छुडाके मुक्त करता है; उस सत्यात्माको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ३२ ॥

हर एक पृथक् पृथक् धर्म अवलम्बन करनेवाले पुरुष इच्छानुसार विविध फलोंकी अभिलाषासे पृथक् धर्मोंसे जिसकी पूजा किया करते हैं, उस धर्मात्माको नमस्कार है ॥ ३२ ॥

यं तं व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः ।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ३३ ॥

महर्षि लोगोंने जिस अव्यक्त पुरुषको देहके बीच स्थित क्षेत्रज्ञ कहके निश्चय किया है; उस क्षेत्रात्माको नमस्कार है ॥ ३३ ॥

यं दृगात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥ ३४ ॥

चैतन्य और नित्य स्वरूपसे स्थित होनेपर भी सांख्यवादी जिसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्था, एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत आदि सोलह गुणोंसे युक्त, उदारतनु, सब सङ्ख्यात्मक कहके वर्णन करते हैं; उस संख्यात्मा पुरुषको नमस्कार है ॥ ३४ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ ३५ ॥

जितेन्द्रिय योगी पुरुष निद्रा और श्वासवायुको जीतके जिस ज्योतिरूपका हृदयमें दर्शन करते हैं; उस योगात्माको नमस्कार है ॥ ३५ ॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥ ३६ ॥

पाप–पुण्यसे परे, शान्तचित्त संन्यासी लोग आवागमनसे छूटकर जिसे पाते हैं, उस मोक्षात्माको नमस्कार है ॥ ३६ ॥

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः ।
संभक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ३७ ॥

जो दिव्य परिमाणसे सहस्र युगोंके अन्तमें जलती हुई शिखासे युक्त अग्नि रूपसे सब भूतोंको भक्षण करता है, उस घोरात्माको प्रणाम है ॥ ३७ ॥

संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥ ३८ ॥

जो सब वस्तुओंको भस्म और जगत्को एक समुद्रमय करके स्वयं एक मात्र बालक रूपसे अक्षय वटके पत्तेपर निद्रित होता है; उस मायात्मक पुरुषको प्रणाम है ॥ ३८ ॥

सहस्रशिरसे तस्मै पुरुषायामितात्मने।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः ॥ ३९ ॥

जो अनगिनत शिरवाला है, सबमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान है, जो अमित है, जो चारों समुद्रोंके मिलनेपर एक होकर योग निद्रामें शयन करता है, उस असंख्य योगात्मक पुरुषको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

अजस्य नाभावध्येकं यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करं पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ४० ॥

पुष्कर लोचन अजेय नाभीस्थलसे जो कमल उत्पन्न होता है, जिससे जगत् प्रतिष्ठित हुआ है, उस पद्मात्माको प्रणाम है ॥ ४० ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ४१ ॥

जिसके केशोंमें सम्पूर्ण बादलोंके समूह, अङ्गसन्धियोंमें नदियां और उदरमें चारों समुद्र स्थित हैं, उस जलमय पुरुषको प्रणाम है ॥ ४१ ॥

युगेष्वावर्तते योंऽशैर्दिनर्त्वयनहायनैः।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ४२ ॥

जो युग युगमें योगमायासे मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपोंको धारण करके अवतार लेता है और दिन, ऋतु, अयन तथा वर्ष आदि रूपसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कार्योंको पूर्ण करता है, उस कालरूपी पुरुषको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ४३ ॥

ब्राह्मण जिसके मुख, क्षत्रिय जिसकी दोनों भुजा, वैश्य जिसके उरुस्थल और शूद्र जिसके दोनों चरणोंके आसरेसे प्रकट होके स्थित हैं, उस चातुर्वर्णात्मा पुरुषको प्रणाम है ॥ ४३ ॥

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ ४४ ॥

अग्नि जिसका मुख है, स्वर्ग जिसका सिर, आकाश नाभि, पृथ्वी जिसका चरण, सूर्य नेत्र, और दिशाएं कान हैं, उस सम्पूर्ण लोकमय पुरुषको प्रणाम है ॥ ४४ ॥

विषये वर्तमानानां यं तं वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः ॥ ४५ ॥

राग द्वेषसे युक्त अज्ञानी लोग शब्द, स्पर्श आदि विषयोंमें वर्त्तमान श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका अनादर करके, जिसे विषय गोप्ता समझते हैं; उस गोप्तृरूपी परमात्माको नमस्कार है ॥४५॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ४६ ॥

जो अन्न, पान और इन्धनरूपसे शारीरक रस और बलको बढाता है, तथा जो सब प्राणियोंको धारण कर रहा है; उस प्राणमय पुरुषको नमस्कार है ॥ ४६ ॥

परः कालात्परो यज्ञात्परः सदसतोश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ४७ ॥

कालसे भिन्न सम्पूर्ण यज्ञोंके अधिष्ठात्री देवता हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ है; जो सत्-असत् है; जो स्वयं अनादि और जगत्‌का आदि पुरुष है; उस विश्वात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहरागानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ४८ ॥

जो सृष्टिरक्षाके वास्ते जगत्‌के सब प्राणियोंको स्नेह और रागके बंधनोंसे मोहित कर रहा है; उस मोहात्मा परम पुरुषको प्रणाम है ॥ ४८ ॥

आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानिनोऽधिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ४९ ॥

योगी लोग ज्ञान साधनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांचों विषयोंसे ज्ञानको पृथक् करके पवित्र ज्ञान मात्रसे आत्म स्वरूप जानके जिसे प्राप्त करते हैं, उस ज्ञानस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ४९ ॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतोऽनन्तचक्षुषे ।
अपारपरिमेयाय तस्मै चिन्त्यात्मने नमः ॥ ५० ॥

जिसके अनन्त नेत्र सर्व--वर्त्तमान है, जो अगोचर स्वरूप है; और जिसमें ये सम्पूर्ण विषय स्थित रहते हैं; उस चिन्त्यात्माको नमस्कार है ॥ ५० ॥

जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ५१ ॥

जो सदा जटा और दण्डधारी है, लम्बोदर शरीर युक्त है, कमण्डलु ही जिसका तूणीर है; उस ब्रह्मात्माको नमस्कार है ॥ ५१ ॥

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने ।
भस्मदिग्धोर्ध्वलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ५२ ॥

जो सदा शरीरमें विभूति लगाये हुए त्रिशूल धारण करके विराजमान रहता है; उस महात्मा त्रिदश नाथ, त्रिनेत्र ऊर्ध्वलिंग रुद्रात्माको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

पञ्चभूतात्मभूताय भूतादिनिधनात्मने ।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥ ५३ ॥

जो पंच प्राणियोंका आत्मस्वरूप है, जन्म—मृत्युके कारण जो अहंकारको नाश करनेवाला है; उस क्रोध, मोह और द्रोहसे रहित शान्तात्माको नमस्कार है ॥ ५३ ॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मैः सर्वात्मने नमः ॥ ५४ ॥

यह संसार जिसके प्रभावसे स्थित है, जिससे जगत्की उत्पत्ति होती है, जो सब स्थानोंमें विराजमान है, जो स्वयं विश्वरूप और सब प्राणियोंका आत्मा स्वरूप है; उस नित्यस्वरूप सर्वमय परम पुरुषको प्रणाम है ॥ ५४ ॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ५५ ॥

हे विश्वकर्मन् ! हे विश्वके आत्मा और जगत्के उत्पन्न करनेवाले ! तुम पञ्च भूतोंसे पृथक् और नित्य मुक्ति स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है ॥ ५५ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वपरायणम् ॥ ५६ ॥

तुम तीनों लोकों, सब दिशाओं और तीनों कालोंमें समभावसे विद्यमान् हो, तुम ही सर्वमय और सबका हित करनेवाले हो, इससे तुम्हें नमस्कार है ॥ ५६ ॥

नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ५७ ॥

हे भगवन् ! हे विष्णु ! तुम इस जगत्को उत्पन्न करनेवाले और अव्यय स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है । हे हृषीकेश ! तुम जगत्कर्त्ता, संहर्त्ता और अपराजेय हो; इससे तुम्हें प्रणाम है ॥ ५७ ॥

तेन पश्यामि ते दिव्यान्भावान्हि त्रिषु वर्त्मसु ।
तच्च पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम् ॥ ५८ ॥

हे भगवन् ! यद्यपि मैं तुम्हारे वर्त्तमान आदि त्रिकालस्थित दिव्यभावके दर्शनमें समर्थ नहीं हूं, तथापि तुम्हारा जो सनातन स्वरूप है, उसे तत्वज्ञानसे दर्शन कर रहा हूं ॥ ५८ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुंधरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५९ ॥

तुम्हारे मस्तकसे द्युलोक, चरणसे भूलोक और तुम्हारे पराक्रमसे तीनों लोक व्याप्त हैं; तुम्हीं साक्षात् सनातन पुरुष हो ॥ ५९ ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ६० ॥

अतसी पुष्पके समान रूपवाले, पीताम्बरधारी अच्युत गोविन्दको जो प्रणाम करते हैं, उन लोगोंको कुछ भी भय उपस्थित नहीं होता ॥ ६० ॥

यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं हविः ।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥ ६१ ॥

जब कि सत्य विष्णुमय, हवि विष्णुमय, और सब वस्तु विष्णुमय हैं, तब मेरा चित्त भी विष्णुमय होके पापरहित होवे ॥ ६१ ॥

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ६२ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! हे सुरसत्तम ! यह भक्त अभिलषित गति पानेकी इच्छासे सब भांतिसे एकमात्र ही शरणागत हुआ है, इस समय जिसमें मङ्गल हो; आप उसीका विचार कीजिये ॥ ६२ ॥

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः ।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥ ६३ ॥

जो विद्या और तपस्याके कारणस्वरूप है, जिसको दूसरा कोई जन्म देनेवाला नहीं है, उस भगवान् विष्णुका मैंने स्तुति वचनरूपी यज्ञसे पूजन किया है; इससे वह भगवान् जनार्दन मुझपर प्रसन्न हो ॥ ६३ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥ ६४ ॥

कुरुकुल शिरोमणि भीष्मने इतना वचन कहके उनमें चित्त लगाके 'नमः श्रीकृष्णाय' कहकर श्रीकृष्णको प्रणाम किया ॥ ६४ ॥

अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः ।
त्रैकाल्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दातुं ययौ हरिः ॥ ६५ ॥

तब उस समय श्रीकृष्ण भगवानने योगप्रभावसे भीष्मकी भक्तिको जानकर उनके शरीरके भीतर प्रवेश कर उन्हें भक्ति और त्रिकाल दर्शनका दिव्य ज्ञान प्रदान करके फिर निज शरीरमें आगमन किया ॥ ६५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः ।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥ ६६ ॥

महाबुद्धिमान् भीष्मका बोलना बंद होनेपर मुख्य मुख्य ब्रह्मवादी ब्राह्मण लोगोंने आंखोंमें आंसू भरकर गद्गद कण्ठसे उनकी प्रशंसा की ॥ ६६ ॥

ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् ।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ ६७ ॥

अनन्तर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी स्तुति करके मृदु स्वरसे बार बार भीष्मकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६७ ॥

विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः ।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥ ६८ ॥

इधर पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र योगबलसे भीष्मकी भक्तिके विषयको जानके अत्यन्त आनन्दके सहित सहसा उठके रथपर चढे ॥ ६८ ॥

केशवः सात्यकिश्चैव रथेनैकेन जग्मतुः ।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनंजयौ ॥ ६९ ॥

यदुवीर सात्यकि श्रीकृष्णके रथपर चढके उनके सङ्ग गमन करनेमें प्रवृत्त हुए। महात्मा युधिष्ठिर और अर्जुन दूसरे रथसे चले ॥ ६९ ॥

भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समास्थितौ ।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च संजयश्चापरं रथम् ॥ ७० ॥

और भीमसेन तथा माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव एक दूसरे रथपर चढके गमन करने लगे। पुरुषश्रेष्ठ शत्रुनाशन कृपाचार्य, युयुत्सु और सूतकुलमें उत्पन्न हुए सञ्जय दूसरे रथपर चढे ॥ ७० ॥

ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः ।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुंधराम् ॥ ७१ ॥

वे सब पुरुषश्रेष्ठ नगरोंके आकारवाले बडे रथोंपर चढके रथोंके पहियोंके शब्दसे पृथ्वीको कंपाते हुए गये ॥ ७१ ॥

ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे ।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ १५७० ॥

मधुसूदन पुरुषसिंह श्रीकृष्णने गमन करनेके समय मार्गमें कितने ही ब्राह्मणोंके अनेक भांतिके स्तुतियुक्त वचनको प्रसन्न मनसे सुनके तथा कितने ही पुरुषोंको विनीत भावसे स्थित देखकर केशिहन्ता श्रीकृष्ण मनमें आनन्दित हो उन लोगोंको प्रसन्न करते थे ॥ ७२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १५७० ॥

: ४८ :

वशम्पायन उवाच—

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज ! इसी भांति श्रीकृष्णचन्द्र, भाइयोंके सहित राजा युधिष्ठिर और कृपाचार्य आदि सब कोई ॥ १ ॥

रथैस्ते नगराकारैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ २ ॥

शीघ्रगामी घोडों और ध्वजा पताकाओंसे युक्त नगरके समान रथोंपर चढके कुरुक्षेत्रकी ओर गमन करने लगे ॥ २ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर आदि महारथी लोग जहांपर महात्मा क्षत्रियोंने युद्धमें प्राणत्याग किया था; उस प्रेत-राक्षसोंसे सेवित यमराजके स्थान तथा श्मशानभूमिके समान कुरुक्षेत्रमें पहुंचके किसी किसी स्थानमें ढेरके ढेर केश, मज्जा और हड्डी आदिक ॥ ३ ॥

गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम् ।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव समाचितम् ॥ ४ ॥

तथा कहीं कहीं मरे हुए हाथी घोडोंके शरीर और हड्डिओंको पर्वतके समान और कहीं कहीं शंखके समान मनुष्योंकी खोपडियोंको देखने लगे ॥ ४ ॥

चितासहस्रैर्निचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम् ।
आपानभूमिं कालस्य तदा भुक्तोज्झितामिव ॥ ५ ॥

और कहीं वर्म और टूटे शस्त्रोंके समूह तथा कहींपर सहस्रों जली हुई चिताएं दीख पडती थीं; वह स्थल ऐसा प्रतीत होता था कि मानों खाने पीनेके बाद छोड दिए गए कालके मद्यस्थान हो ॥ ५ ॥

भूतसंघानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम् ।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥ ६ ॥

ऐसे भूतगण और राक्षसगणोंसे सेवित कुरुक्षेत्रको देखते हुए वे सब महारथी शीघ्रताके सहित आगे गमन करने लगे ॥ ६ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुः सर्वयादवनन्दनः ।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥ ७ ॥

मार्गमें जाते हुए महाबाहु यदुनन्दन श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे जमदग्निपुत्र परशुरामके पराक्रमका विषय वर्णन करना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः ।
येषु संतर्पयामास पूर्वान्क्षत्रियशोणितैः ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! भृगुनन्दन परशुरामने जिस स्थानपर युद्धमें क्षत्रियोंके रुधिरसे पांच तालावोंको भरके पितरोंका तर्पण किया था, ये वेही पांचों रामन्हद दूरसे दीख पडते हैं ॥ ८ ॥

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥ ९ ॥

प्रभु परशुराम इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके अब इस क्रूर कर्मसे विरक्त हुए हैं ॥९॥

युधिष्ठिर उवाच—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया तदा ।
रामेणेति यदात्थ त्वमत्र मे संशयो महान् ॥ १० ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– तुमने जो परशुरामजीके इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेकी कथा कही, उससे मुझे अत्यन्त ही संशय उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

क्षत्रबीजं यदा दग्धं रामेण यदुपुंगव ।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥ ११ ॥

हे यदुकुल श्रेष्ठ ! अमितपराक्रमी ! यदि परशुरामने अपने शस्त्ररूपी अग्निमें सब क्षत्रिय बीज ही भस्म कर दिया; तो फिर किस प्रकार उनकी उत्पत्ति हुई ? ॥ ११ ॥

महात्मना भगवता रामेण यदुपुंगव ।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिं पुनर्गतम् ॥ १२ ॥

और हे यदुपुङ्गव ! महात्मा परशुराम भगवानने अकेले ही किस लिये क्षत्रियकुलका नाश किया; और फिर किस भांति उनकी वृद्धि हुई ? ॥ १२ ॥

महाभारतयुद्धे हि कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर ॥ १३ ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! महाभारत युद्धमें करोडों क्षत्रिय मारे गए और उन क्षत्रियोंसे यह पृथ्वी पट गई ॥ १३ ॥

×

एवं मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन ।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज ॥ १४ ॥

हे वार्ष्णेय ! हे गरुडध्वज ! हे इन्द्रके छोटेभाई ! तुम मेरे इन सब संशयोंको दूर करो; तुम्हारा वचन मैं वेदसे भी श्रेष्ठ समझता हूं ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो व्रजन्नेव गदाग्रजः प्रभुः शशांस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः ।
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा यथाभवत्क्षत्रियसंकुला मही ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ १५८५ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर सर्वशक्तिमान् गदा पद्मधारी भगवान श्रीकृष्ण जिस प्रकार पृथ्वी क्षत्रियोंके मृत शरीरोंसे परिपूर्ण हुई थी, उस वृत्तान्तको महाबलवान् तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरके समीप यथार्थ रूपसे वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अडतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ १५८५ ॥

: ४९ :

वासुदेव उवाच—

शृणु कौन्तेय रामस्य मया यावत्परिश्रुतम् ।
महर्षीणां कथयतां कारणं तस्य जन्म च ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे कुन्तीपुत्र ! मैंने महर्षियोंके मुखसे भृगुनन्दन परशुरामके जन्म और उनके पराक्रम विषयक कथाको जिस भांति सुनी है; वह सब वृत्तान्त वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १ ॥

यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥ २ ॥

उन महात्मा परशुरामजीने जिस प्रकार करोडों क्षत्रियोंका वध किया था और ये सब क्षत्रिय जिस भांति फिर राजवंशमें उत्पन्न हुए अर्थात् जो लोग उस समय भारतयुद्धमें मरे थे, उनकी पुनरुत्पत्तिका वृत्तान्त भी कहूंगा ॥ २ ॥

जह्नोरजह्नुस्तनयो बल्लवस्तस्य चात्मजः ।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपतिः ॥ ३ ॥

पहिले समयमें जन्हु नामक एक राजा थे; अजन्हु नाम उनके एक पुत्र हुआ; अजन्हुके पुत्र बल्लव और बल्लवके राजा कुशिक नाम एक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

उग्रं तपः समातिष्ठत्सहस्राक्षसमो भुवि ।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥ ४ ॥

कुछ कालके अनन्तर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी कुशिकने विचारा कि मेरे सब प्राणियोंसे अजेय त्रिलोकेश्वरके समान एक पुत्र उत्पन्न हो; ऐसी इच्छा करके महाराज कुशिक उग्र तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ४ ॥

तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरंदरः ।
समर्थः पुत्रजनने स्वयमेवैत्य भारत ॥ ५ ॥

हे भारत! सहस्र नेत्रवाले भगवान् इन्द्रने कुशिककी कठोर तपस्या देखकर तथा उन्हें अभिलषित पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ समझके स्वयं ही उनका पुत्र होना स्वीकार किया ॥५॥

पुत्रत्वमगमद्राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः ।
गाधिर्नामाभवत्पुत्रः कौशिकः पाकशासनः ॥ ६ ॥

महाराज! देवोंके राजा पाकशासन भगवान् इन्द्र कुशिकके पुत्ररूपसे जन्म लेकर गाधि नामसे विख्यात हुए ॥ ६ ॥

तस्य कन्याभवद्राजन्नाम्ना सत्यवती प्रभो ।
तां गाधिः कविपुत्राय र्ऋचीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥

राजन्! कुछ समयके अनन्तर गाधिके सत्यवती नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। उस कन्याको राजा गाधिने कविनन्दन महात्मा ऋचीकको प्रदान किया ॥ ७ ॥

ततः प्रीतस्तु कौन्तेय भार्गवः कुरुनन्दन ।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन! ऋचीकमुनिने निज भार्याके शुद्ध व्यवहारसे अत्यन्त प्रसन्न होकर, उसके और गाधिराजके पुत्र उत्पन्न होनेके वास्ते यज्ञसे दो चरु उत्पन्न किये ॥ ८ ॥

आहूय चाह तां भार्यामृचीको भार्गवस्तदा ।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राप्ययं तव ॥ ९ ॥

अनन्तर भृगुवंशी ऋचीकने अपनी भार्याको समीप बुलाके उससे बोले— इन दोनों चरुओंको ग्रहण करो। इसमेंसे यह चरु अपनी माताको देना और इस चरुको तुम भक्षण करना ॥९॥

तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान्क्षत्रियर्षभः ।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ १० ॥

ऐसा होनेसे तुम्हारी माताके सब शस्त्रधारी क्षत्रियोंसे अजेय, क्षत्रियोंमें अग्रगण्य अत्यन्त तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न होगा; वह पुत्र पृथ्वीके सब क्षत्रियोंका संहार करनेवाला होगा ॥ १० ॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं तपोन्वितम् ।
शमात्मकं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ ११ ॥

और हे कल्याणि ! इस दूसरे चरुके प्रभावसे तुम्हारे भी धृतिमान्, तपस्वी और महाशमवान् श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ११ ॥

इत्येवमुक्त्वा तां भार्यामृचीको भृगुनन्दनः ।
तपस्यभिरतो धीमाञ्जगामारण्यमेव ह ॥ १२ ॥

श्रीमान् भृगुनन्दन ऋचीकने अपनी भार्यासे इतनी कथा कहके तपस्या करनेके वास्ते वनके बीच गमन किया ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः ।
गाधिः सदारः संप्राप्त ऋचीकस्याश्रमं प्रति ॥ १३ ॥

उसी समय गाधिराज तीर्थयात्रा करते हुए अपनी पत्नीके सहित महात्मा ऋचीकके आश्रममें उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

चरुद्वयं गृहीत्वा तु राजन्सत्यवती तदा ।
भर्तुर्वाक्यादथाव्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

राजन् ! उन दोनोंको निज आश्रममें आया हुआ देखके ऋचीक पत्नी सत्यवतीने दोनों चरुओंको लेकर अव्यग्र चित्तसे हर्षपूर्वक माताके समीप गमन करके दोनों ही भाग उसके हाथमें देकर स्वामीके कहे हुए सब वृत्तान्तको वर्णन किया ॥ १४ ॥

माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ ।
तस्याश्चरुमथाज्ञातमात्मसंस्थं चकार ह ॥ १५ ॥

हे कौन्तेय ! सत्यवतीकी माता भ्रमसे अपना चरु कन्याको देकर, उसके चरुको आप भक्षण किया ॥ १५ ॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा ।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥

अनन्तर सत्यवतीने अपने तेजस्वी शरीरसे क्षत्रियोंका नाश करनेवाला और देखनेमें भयंकर अग्निके समान प्रकाशमान् एक गर्भ धारण किया ॥ १६ ॥

तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा ध्यानयोगेन वै ततः ।
अब्रवीद्राजशार्दूल स्वां भार्यां वरवर्णिनीम् ॥ १७ ॥

राजश्रेष्ठ ! उस समय भगवान ऋचीक वहांपर आके उपस्थित हुए और योग प्रभावसे निज-भार्या उत्तमरूपिणी सत्यवतीके गर्भस्थ पुत्रको देखके उससे कहने लगे ॥ १७ ॥

मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना ।
जनिष्यते हि ते पुत्रः क्रूरकर्मा महाबलः ॥ १८ ॥

हे भद्रे ! चरु अदलबदल होनेके कारण तुम अपनी मातासे ठगी गई; इस कारण तुम्हारा पुत्र क्रूरकर्मोंका करनेवाला और महाबलवान् होगा ॥ १८ ॥

जनिष्यते हि ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोधनः ।
विश्वं हि ब्रह्म तपसा मया तत्र समर्पितम् ॥ १९ ॥

और तुम्हारी माताके गर्भसे तुम्हारा भाई अत्यन्त तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा। इसका कारण यह है कि तुम्हारे चरुमें मैंने महान् ब्रह्मतेजकी प्रतिस्थापना की थी ॥ १९ ॥

सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ।
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् ॥ २० ॥

तब महाभागा सत्यवती स्वामीके मुखसे ऐसा वचन सुनके उनके चरणोंमें सिरसे गिर पडी और कांपती हुई विनय पूर्वक उनसे यह वचन बोली ॥ २० ॥

नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः ।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति महामुने ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! महामुने ! "तुम्हारे ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न होगा," आप मेरे विषयमें ऐसा वचन न प्रयोग करिये; क्योंकि आप तपके प्रभावसे सब विषयोंको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

ऋचीक उवाच—

नैष संकल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि ।
उग्रकर्मा भवेत्पुत्रश्चरुर्माता च कारणम् ॥ २२ ॥

ऋचीक मुनि बोले– हे भद्रे ! तुम यह मत समझो, कि मैंने पहिलेसे ही ऐसा सङ्कल्प किया था कि तुम्हारे गर्भसे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो। केवल माताका चरु बदलनेके कारण ही तुम्हारे गर्भसे कठोर कर्म करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २२ ॥

सत्यवत्युवाच—

इच्छँल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनर्मम ।
शमात्मकमृजुं पुत्रं लभेयं जपतां वर ॥ २३ ॥

सत्यवती बोली– हे तपस्वियोंमें श्रेष्ठ मुने ! उत्तम पुत्र उत्पन्न होनेकी बात ही क्या है ! आप इच्छा करनेसे तीनों लोकोंको फिरसे उत्पन्न कर सकते हैं; इससे कृपा करके मेरे गर्भसे एक शम परायण शान्त तथा सरल स्वभाव युक्त पुत्र उत्पन्न करिये ॥ २३ ॥

ऋचीक उवाच—

नोक्तपूर्वं मया भद्रे स्वैरेष्वप्यनृतं वचः ।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २४ ॥

ऋचीक मुनि बोले– हे भद्रे ! मैंने कभी परिहासके मिषसे भी मिथ्या वचन नहीं कहा है। फिर यज्ञकी अग्निसे मन्त्रयुक्त चरु करते समय मैंने जो संकल्प किया था, वह मिथ्या कैसे होगा ? ॥ २४ ॥

सत्यवत्युवाच—

काममेवं भवेत्पौत्रो ममेह तव चैव ह ।
शमात्मकमृजुं पुत्रं लभेयं जयतां वर ॥ २५ ॥

सत्यवती बोली– हे जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवन् ! आपने जो कभी भी मिथ्या वचन नहीं कहे, इसे मैं स्वीकार करती हूं; परन्तु आपका और मेरा पौत्र क्षत्रियधर्म युक्त क्रूरकर्मोंका करनेवाला हो जाय और मेरा पुत्र तो शमपरायण सरल स्वभाववाला ब्रह्मनिष्ठ होवे ॥२५॥

ऋचीक उवाच—

पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे वा वरवर्णिनि ।
यथा त्वयोक्तं तु वचस्तथा भद्रे भविष्यति ॥ २६ ॥

ऋचीक मुनि बोले– हे वरवर्णिनि ! पुत्र और पौत्रमें जो विशेष अनन्तर नहीं है, मैं इस वचनको स्वीकार करता हूं; इससे हे भद्रे ! तुमने जैसी अभिलाषा की है, वैसा ही होगा ॥ २६ ॥

वासुदेव उवाच—

ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् ।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्निं शमात्मकम् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण बोले– महाराज ! समय पूरा होने पर ऋचीकपत्नी सत्यवतीके जमदग्नि नाम एक पुत्र उत्पन्न हुआ, वह पुत्र तपस्यामें रत, इन्द्रिय जीतनेवाला और शान्त प्रकृतिवाला हुआ था ॥ २७ ॥

विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ।
प्राप ब्रह्मर्षिसमितं विश्वेन ब्रह्मणा युतम् ॥ २८ ॥

इधर कुशिकपुत्र गाधिराजके भी ब्राह्मण लक्षण युक्त विश्वामित्र नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कुछ दिनोंके अनन्तर क्रमसे ब्रह्मत्व प्राप्त करके सम्पूर्ण पृथ्वीके बीच ब्रह्मर्षि कहके विख्यात हुए थे ॥ २८ ॥

आर्चीको जनयामास जमदग्निः सुदारुणम् ।
सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदे च पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥

उसके अनन्तर ऋचीक-पुत्र तपस्वी जमदग्निके एक महातेजस्वी उग्र स्वभाववाला पुत्र उत्पन्न हुआ। युवा अवस्था प्राप्त होनेपर वह अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी होकर, सब विद्याओंके श्रेष्ठ विद्वान् तथा धनुर्वेदके पारङ्गत होकर, क्षत्रिय नाशक राम नामसे सम्पूर्ण पृथ्वीके बीच विख्यात हुए ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली ।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयान्वयः ॥ ३० ॥

इसी समय हैहय वंशमें उत्पन्न कृतवीर्यपुत्र सहस्रबाहु अर्जुन नामक एक महाबली तेजस्वी क्षत्रिय राजा थे ॥ ३० ॥

ददाह पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपत्तनाम् ।
स्वबाह्वस्त्रबलेनाजौ धर्मेण परमेण च ॥ ३१ ॥

बडी बडी नगरियोंसहित सात द्वीपवाली पृथ्वीको उस धर्मवेत्ता राजाने अपनी भुजा और अस्त्रके बलसे जीतकर उसे जला दिया ॥ ३१ ॥

तृषितेन स कौरव्य भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद्भिक्षामथाग्नये ॥ ३२ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! किसी समयमें अग्नि देवने भूखे होकर तृण काष्ठ आदि वस्तुओंको भस्म करनेकी अभिलाषासे राजा सहस्रबाहु अर्जुनके समीप आके प्रार्थना की; और उन्होंने सारी पृथ्वी अग्निको भिक्षामें दे दी ॥ ३२ ॥

ग्रामान्पुराणि घोषांश्च पत्तनानि च वीर्यवान् ।
जज्वाल तस्य बाणैस्तु चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३३ ॥

उन्होंने अग्निदेवको वन पर्वतोंके सहित ग्राम, नगर और राज्य समर्पण किया; उस अग्निने जलानेकी इच्छासे कार्तवीर्यके बाणोंसे सब जलाया ॥ ३३ ॥

स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेन महातपाः ।
ददाह कार्तवीर्यस्य शैलानथ वनानि च ॥ ३४ ॥

उससे अग्नि भगवानने अत्यन्त प्रसन्न होकर महातेजस्वी पुरुषेन्द्र कार्तवीर्य अर्जुनके प्रभावसे पर्वतोंके सहित सम्पूर्ण वनस्पतियोंको भस्म कर दिया ॥ ३४ ॥

स शून्यमाश्रमारण्यं वरुणस्यात्मजस्य तत् ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ३५ ॥

अग्निने हैहयराजकी सहायता पाके तथा वायुके प्रभावसे बढके निर्जन स्थानमें स्थित महातेजस्वी महात्मा महर्षि वशिष्ठ मुनिके मनोहर आश्रम पर्यन्तको भी भस्म कर दिया ॥३५॥

आपवस्तं ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाराज कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

महाराज ! अच्युत ! इस प्रकार कार्त्तवीर्य अर्जुनके प्रभावसे निज आश्रमको भस्म हुआ देखकर महातेजस्वी वशिष्ठ मुनिने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया ॥ ३६ ॥

त्वया न वर्जितं मोहाद्यस्माद्वनमिदं मम ।
दग्धं तस्माद्रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! तुमने जो मूर्खतासे मेरे इस वन और आश्रमको भस्म किया है; इस अपराधके कारण समरमें परशुराम तुम्हारे सब हाथोंको काटेंगे ॥ ३७ ॥

अर्जुनस्तु महाराज बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥ ३८ ॥

हे भारत ! राजन् ! अर्जुन महापराक्रमी, शमपरायण, ब्रह्मनिष्ठ, शरणागत पालक, दानी, महातेजस्वी और बलवान् था ॥ ३८ ॥

तस्य पुत्राः सुबलिनः शापेनासन्पितुर्वधे ।
निमित्तमवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव नित्यदा ॥ ३९ ॥

शापके कारण उनके बलवान, सदा निर्दयी और मदोन्मत्त पुत्र ही उन पिताके वधके कारण हो गये ॥ ३९ ॥

जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानिन्युर्भरतर्षभ ।
अज्ञातं कार्तवीर्यस्य हैहयेन्द्रस्य धीमतः ॥ ४० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे लोग शाप प्रभावसे अभिमानमें मत्त होकर दुष्टताके सहित परशुरामकी अनुपस्थितिमें महर्षि जमदग्निके होमकी गऊके बछडे हर ले गये । परन्तु यह कार्य बुद्धिमान् हैहयराजाकी अजानकारीमें हुआ था ॥ ४० ॥

ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तु छित्त्वा वै पौरुषान्वितः ।
तं रुवन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ।
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात्प्रभुः ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! उसी समय परशुराम युद्धमें प्रवृत्त होकर सहस्रबाहु अर्जुनकी सब भुजाओंको काटके, राजभवनके भीतर इधर--उधर घूमते हुए अपनी गौवोंके बछडोंको लेकर अपनी कुटीपर लौट आये ॥ ४१ ॥

अर्जुनस्य सुतास्ते तु संभूयाबुद्धयस्तदा ।
गत्वाश्रममसंबुद्धं जमदग्नेर्महात्मनः ॥ ४२ ॥

उसके अनन्तर सहस्रबाहु अर्जुनके मूर्ख पुत्रोंने उनकी अवज्ञा की; और सबने एकत्रित होके महात्मा जमदग्नि ऋषिके आश्रममें गमन करके ॥ ४२ ॥

अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ।
समित्कुशार्थं रामस्य निर्गतस्य महात्मनः ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! जब परशुराम समिधा और कुशा लेनेके लिए आश्रमसे बाहर गये थे, तब भालेसे धडसे उनका सिर काट डाला ॥ ४३ ॥

ततः पितृवधामर्षाद्रामः परममन्युमान् ।
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत ॥ ४४ ॥

भृगुकुलसिंह महातेजस्वी परशुराम पिताके वधसे अत्यन्त कुपित हुए और क्रोधसे व्याकुल होकर उन्होंने प्रतिज्ञा करके शस्त्र ग्रहण किया, कि "मैं इस सम्पूर्ण पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित करूंगा" ॥ ४४ ॥

ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ।
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान्पौत्रांश्च सर्वशः ॥ ४५ ॥

अनन्तर भृगुकुलसिंह परशुरामने अपना पराक्रम प्रकाशित करके युद्धमें कार्त्तवीर्य अर्जुनके सभी पुत्र और पौत्रोंको शीघ्र ही मार डाला ॥ ४५ ॥

स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ।
चकार भार्गवो राजन्महीं शोणितकर्दमाम् ॥ ४६ ॥

महाराज ! अनन्तर अत्यंत क्रोधी महात्मा भृगुनन्दन परशुरामने युद्धमें हैहयवंशीय सहस्रों क्षत्रियोंका वध करके उनके रुधिरसे पृथ्वीको कीचडमय कर दिया ॥ ४६ ॥

स तथा तु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ।
कृपया परयाविष्टो वनमेव जगाम ह ॥ ४७ ॥

उसके अनन्तर महातेजस्वी परशुराम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूना करके अत्यन्त कृपायुक्त होकर वनमें चले गये ॥ ४७ ॥

ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ।
क्षोभं संप्राप्तवांस्तीव्रं प्रकृत्या कोपनः प्रभुः ॥ ४८ ॥

वनमें तपस्या करते हुए परशुरामको कई हजार वर्ष बीत गये, तो स्वभावसे ही क्रोधी वे परशुराम पुनः क्रोधीत हो गए ॥ ४८ ॥

×

विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ।
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाह जनसंसदि ॥ ४९ ॥

महाराज ! विश्वामित्रके पौत्र तथा रैभ्यके पुत्र महातपस्वी परावसु जनसमाजके बीच परशु-रामकी निन्दा करके उनसे यह वचन बोले ॥ ४९ ॥

ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः ।
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते ॥ ५० ॥

हे राम ! स्वर्गसे पतित हुए ययाति राजाके निमित्त जो यज्ञ हुआ था, और उस यज्ञमें जो प्रतर्दन आदि राजा आके एकत्रित हुए थे, वे क्या क्षत्रिय नहीं थे ? ॥ ५० ॥

मिथ्याप्रतिज्ञो राम: त्वं कत्थसे जनसंसदि ।
भयात्क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ॥ ५१ ॥

तुमने जो जनसमाजके बीच पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित करनेकी प्रतिज्ञा करके अपनी बडाई की थी; तुम्हारी वह सब प्रतिज्ञा मिथ्या हुई । हम लोगोंने समझ लिया, कि तुम इन सब क्षत्रिय वीरोंके भयसे ही इस पर्वतपर आके निवास कर रहे हो ॥ ५१ ॥

स पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवीमनुसंततताम् ।
परावसोस्तदा श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः ॥ ५२ ॥

महाराज ! क्योंकि इस समय पृथ्वी फिर अनगिनत क्षत्रियोंसे परिपूर्ण है; भगवान् परशुरामने परावसुके ऐसे निन्दायुक्त वचनोंको सुनके अपना अपमान समझकर फिर शस्त्र ग्रहण किया ॥ ५२ ॥

ततो ये क्षत्रिया राजञ्शतशस्तेन जीविताः ।
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन् ॥ ५३ ॥

राजन् ! जो सैंकडों क्षत्रिय पहिली बारके युद्धमें किसी भांति जीवित बच गये थे, उन्हीं महाबलवान् क्षत्रियोंसे ही क्षत्रिय वंश बढा, और धीरे धीरे वेही सब क्षत्रिय सन्तान सारी पृथ्वीके राजा होगये थे ॥ ५३ ॥

स पुनस्ताञ्जघानाशु बालानपि नराधिप ।
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत्तदा ॥ ५४ ॥

जनेश्वर ! भृगुनन्दन परशुरामने फिर शीघ्र ही बालकों तथा पुत्र पौत्रोंके सहित सब क्षत्रियोंको मार डाला । इसके अलावा जो बालक गर्भमें थे, उन्हीं सब क्षत्रियपुत्रोंसे पृथ्वी फिर परि-पूरित हो गई ॥ ५४ ॥

जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह ।
अरक्षंश्च सुतान्कांश्चित्तदा क्षत्रिययोषितः ॥ ५५ ॥

परशुरामजीने इस वृत्तान्तको सुनते ही फिर आके उनका वध किया । महाराज ! इसी भांति जब जब क्षत्रियोंके पुत्र गर्भसे उत्पन्न होके बढते थे, तब तब परशुराम वनसे आके उनका संहार करते थे; परन्तु उस समय बहुतसे क्षत्रियोंकी स्त्रियोंने अति कौशलके सहित अपने गर्भकी रक्षा की थी ॥ ५५ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः ॥ ५६ ॥

इधर महातेजस्वी भगवान् परशुरामने क्रमसे इक्कीस वार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया और उसकी समाप्तिके पश्चात् दक्षिणाके रूपमें कश्यप मुनिको सारी पृथ्वी दान कर दी ॥ ५६ ॥

क्षत्रियाणां तु शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः ।
स्रुक्प्रग्रहवता राजञ्श्रीमान्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५७ ॥

राजन् ! महर्षि श्रीमान् कश्यपने कुछ क्षत्रिय बालकोंकी रक्षा करनेकी अभिलाषासे हाथमें श्रुवा लेकर पृथ्वीका दान ग्रहण करके परशुरामसे कहा ॥ ५७ ॥

गच्छ पारं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने ।
न ते मद्विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ॥ ५८ ॥

हे राम ! महामुने ! इस समय यह पृथ्वी मेरी हुई है; अब इस पृथ्वीपर वास करना तुम्हें उचित नहीं है; तुम शीघ्रही दक्षिण समुद्रके तीरपर गमन करो ॥ ५८ ॥

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे ।
संत्रासाज्जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तं महीतलम् ॥ ५९ ॥

इधर समुद्रने डरकर महात्मा परशुरामके निमित्त पृथ्वी सीमाको त्यागके अपने उदरमें शूर्पारक नाम स्थान बना रक्खा, उसे अपरान्त भूमि भी कहते हैं ॥ ५९ ॥

कश्यपस्तु महाराज प्रतिगृह्य महीमिमाम् ।
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविवेश महावनम् ॥ ६० ॥

महाराज ! महर्षि कश्यप परशुरामसे यह सब पृथ्वी दानमें लेकर उसे ब्राह्मणोंको समर्पण करके, स्वयं महावनमें चले गये ॥ ६० ॥

ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथास्वैरप्रचारिणः ।
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब पृथ्वी राजासे रहित हो गई, तब स्वेच्छाचारी शूद्र, वैश्य आदिक श्रेष्ठ द्विजोंकी स्त्रियोंसे अधर्म करने लगे ॥ ६१ ॥

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः ।
बाध्यन्ते न च वित्तेषु प्रभुत्वमिह कस्यचित् ॥ ६२ ॥

अधिक क्या कहा जावे, सारे जीवजगत्में अराजकता निर्माण हो गयी; बलवान् मनुष्य निर्बलोंको दुःख देने लगे; उस समय डाकुओंके उपद्रवसे किसीको भी अपने धनपर अधिकार तथा प्रभुता न रही ॥ ६२ ॥

ततः कालेन पृथिवी प्रविवेश रसातलम् ।
अरक्ष्यमाणा विधिवत्क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः ॥ ६३ ॥

इसी भांति समय की गति विपरीत होनेपर पृथ्वी धर्मपालक क्षत्रियोंसे यथारीति न रक्षित होनेके कारण दुष्टोंके भारसे अत्यन्त दुःखित होके पातालमें जानेके निमित्त उद्यत हुई ॥६३॥

ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः ।
निमज्जन्तीं तदा राजंस्तेनोर्वीति मही स्मृता ॥ ६४ ॥

महातपस्वी कश्यप मुनिने पृथ्वीको पातालमें गमन करनेके वास्ते उद्यत देखकर उसे उरुओंपर धारण किया; पृथ्वी कश्यप मुनिके उरु पर धारण होनेके कारण उर्वी नामसे विख्यात हुई ॥ ६४ ॥

रक्षिणश्च समुद्दिश्य प्रायाचत्पृथिवी तदा ।
प्रसाद्य कश्यपं देवी क्षत्रियान्बाहुशालिनः ॥ ६५ ॥

अनन्तर पृथ्वी देवीने अपनी रक्षाके वास्ते महात्मा कश्यपको प्रसन्न करके बाहुबल सम्पन्न क्षत्रियोंके निमित्त प्रार्थना की ॥ ६५ ॥

सन्ति ब्रह्मन्मया गुप्ता नृषु क्षत्रियपुंगवाः ।
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ॥ ६६ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैंने मनुष्योंमें कई क्षत्रिय श्रेष्ठोंको छिपा रक्खा है; मुने ! वे सब हैहयाकुलोत्पन्न मेरी रक्षा करेंगे ॥ ६६ ॥

अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ।
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्येव पर्वते ॥ ६७ ॥

प्रभो ! पुरुवंशीय विदूरथका पुत्र ऋक्षवान् पर्वत पर रीछोंसे रक्षित होकर वहां पर निवास कर रहा है ॥ ६७ ॥

तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा ।
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ॥ ६८ ॥

सौदास राजपुत्र जिसकी अमित तेजस्वी यज्ञपरायण महर्षि पराशर मुनिने कृपा करके रक्षा की है; वह भी जीवित है ॥ ६८ ॥

सर्वकर्माणि कुरुते तस्यर्षेः शूद्रवद्द्विजः।
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिव ॥ ६९ ॥

परन्तु हे राजन्! वह द्विज होकर भी उसके संस्कार आदि सब कर्म शूद्रजातिकी भांति किये गये हैं; इसीसे अब वह सर्व-कर्मा नामसे विख्यात है, वह मेरी रक्षा करे ॥ ६९ ॥

शिबेः पुत्रो महातेजा गोपतिर्नाम नामतः।
वने संरक्षितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ॥ ७० ॥

राजा शिबिका पुत्र महातेजस्वी गोपति वनके बीच गौवोंने प्रतिपालित– संरक्षित किया है; मुने! वही मेरी रक्षा करे ॥ ७० ॥

प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महायशाः।
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ॥ ७१ ॥

प्रतर्दनका पुत्र महायशस्वी वत्सनामका गौशालामें बछडोंके साथ मिलके गौवोंका दूध पीके प्राण धारण करता है, वह राजा होकर मेरी रक्षा करे ॥ ७१ ॥

दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य ह।
अङ्गः स गौतमेनापि गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ॥ ७२ ॥

गङ्गाके किनारे महर्षि गौतमने भी कृपा करके दधिवाहनका पौत्र और दिविरथका पुत्र अङ्गकी रक्षा की है ॥ ७२ ॥

बृहद्रथो महाबाहुर्भुवि भूतिपुरस्कृतः।
गोलाङ्गूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ॥ ७३ ॥

महाबाहु, महाभाग बृहद्रथ अत्यंत श्री सम्पन्न है; वह बालक गृध्रकूट पर्वत पर गोलांगुलोंसे रक्षित होकर प्राण धारण करता है ॥ ७३ ॥

मरुत्तस्यान्ववाये तु क्षत्रियास्तुर्वसोस्त्रयः।
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ॥ ७४ ॥

देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी मरुतवंशी तुर्वसके तीन क्षत्रिय पुत्र भी जीवित हैं; समुद्रने उनकी रक्षा की है ॥ ७४ ॥

एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः।
सम्यङ्मामभिरक्षन्तु ततः स्थास्यामि निश्चला ॥ ७५ ॥

ये सब श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए क्षत्रिय पुत्र जहां तहां विख्यात हैं; यदि ये सब आके मेरी रक्षा करें, तो मैं अवश्य ही स्थिरताके सहित स्थित होऊंगी ॥ ७५ ॥

एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः।
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७६ ॥

इन क्षत्रियोंके पिता, पितामह आदि सब पुरुष मेरे ही निमित्त युद्धमें कठिन कर्मोंके करनेवाले परशुरामके हाथसे मारे गये हैं ॥ ७६ ॥

तेषामपचितिश्चैव मया कार्या न संशयः ।
न ह्यहं कामये नित्यमविक्रान्तेन रक्षणम् ॥ ७७ ॥

इसमें संशय नहीं है कि मुझे इन राजाओंके ऋणसे उर्क्रण होना है । पर मैं मर्यादा रहित दुष्ट पुरुषोंसे अपना रक्षण नहीं चाहती ॥ ७७ ॥

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान्समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान्क्षत्रियान्वीर्यसंमतान् ॥ ७८ ॥

महाराज ! इसके अनन्तर महात्मा कश्यप मुनिने पृथ्वीके वचनको सुनके उन बलवीर्ययुक्त सब क्षत्रिय राजाओंको लाके भिन्न भिन्न राज्यपदोंपर उनको अभिषिक्त किया ॥ ७८ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥ ७९ ॥

जिन राजाओंके पुत्र पौत्र आदि जीवित थे, इसी भांति उन लोगोंका वंश फिर राज्यपदपर प्रतिष्ठित हुआ । हे राजेन्द्र ! तुमने मुझसे जो कुछ प्रश्न किये मैंने वह सब वृत्तान्त यथारीतिसे तुम्हारे समीप वर्णन किया ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच—
एवं ब्रुवन्नेव यदुप्रवीरो युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
रथेन तेनाशु ययौ यथार्को विशन्प्रभाभिर्भगवांस्त्रिलोकम् ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ १६६५ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! इसी भांति यदुकुल श्रेष्ठ महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र धार्मिक पुरुषोंमें अग्रणी राजा युधिष्ठिरसे प्राचीन कथा कहते हुए, सूर्य किरण समान प्रकाशमान रथसे सब दिशा प्रकाशित करने तथा वायुके समान वेगगामी रथपर चढे हुए गमन करने लगे ॥ ८० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ १६६५ ॥

: ५० :

वैशम्पायन उवाच—
ततो रामस्य तत्कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर भृगुकुल शिरोमणि परशुरामजीके अद्भुत कर्मोंको सुनके अत्यन्त ही विस्मित हुए और जनार्दन श्रीकृष्णसे बोले ॥ १ ॥

अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः ।
विक्रमो येन वसुधा क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता ॥ २ ॥

हे वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! मैं इन्द्रके समान अत्यन्त पराक्रमी महात्मा परशुरामके पराक्रमकी कथा सुनके अत्यन्त ही आश्चर्य युक्त हुआ हूं, क्योंकि उन्होंने क्रुद्ध होकर अकेले ही सब पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था ॥ २ ॥

गोभिः समुद्रेण तथा गोलाङ्गूलर्क्षवानरैः ।
गुप्ता रामभयोद्विग्नाः क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः ॥ ३ ॥

यह भी अत्यन्त ही आश्चर्यका विषय है, कि मरनेसे बचे हुए क्षत्रिय कुलश्रेष्ठ सन्तानोंने परशुरामके भयसे व्याकुल होकर गऊ, गोलाङ्गूल, ऋक्ष, बन्दर और समुद्रके आसरेसे अपनी प्राणरक्षा की थी ॥ ३ ॥

अहो धन्यो हि लोकेऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि ।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमच्युत ॥ ४ ॥

हे अच्युत ! अहो ! यह जीव लोक धन्य है और इस पृथ्वीके मनुष्य भी अत्यंत भाग्यवान् हैं; क्योंकि ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य महर्षि कश्यपने इस प्रकार धर्म कार्य किया है, अर्थात् कृपा करके राजपुत्रोंकी रक्षा करके पृथ्वीको धर्मपूर्वक रक्षित किया है ॥ ४ ॥

तथा यान्तौ तदा तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ ५ ॥

तात ! श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर इसी भांति वार्त्तालाप करते हुए चलते चलते सात्यकि आदि वीरोंके सहित उन स्थानपर जा पहुंचे, जहां गङ्गानन्दन भीष्म शरशय्यापर शयन कर रहे थे ॥ ५ ॥

ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् ।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यमिवानलम् ॥ ६ ॥

उन लोगोंने वहांपर पहुंचके शरशय्यापर स्थित अपने तेजसे सन्ध्या कालके सूर्य समान प्रकाशित होते हुए महात्मा भीष्मको देखा ॥ ६ ॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥ ७ ॥

उत्तम प्रवाहवाली नदीके किनारे बहुत धार्मिक देशमें भगवान् इन्द्रकी उपासना करनेवाले देवताओंकी भांति मुनियोंसे पूजित भीष्मको ॥ ७ ॥

दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मराट् ।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥ ८ ॥

दूरसे ही देखके श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, चारों पाण्डव एवं कृपाचार्य आदि ॥ ८ ॥

अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥

सब कोई अपने रथसे उतरे, और सब इन्द्रियों तथा चञ्चल चित्तको संयम करके महामुनियोंके पास गए ॥ ९ ॥

अभिवाद्य च गोविन्दः सात्यकिस्ते च कौरवाः ।
व्यासादींस्तानृषीन्पश्चाद्गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥ १० ॥

फिर वे श्रीकृष्ण, सात्यकि एवं कौरव पहिले मुख्य मुख्य मुनियों तथा व्यास आदिक ऋषियोंको प्रणाम करके फिर गङ्गानन्दन भीष्मकी उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १० ॥

तपोवृद्धिं ततः पृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥

इसके अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ यादव और कौरव लोग महातपस्वी गङ्गानन्दन भीष्मका दर्शन करके उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो निशम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किंचिद्दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥ १२ ॥

तब यदुनन्दन श्रीकृष्ण शान्त होती हुई अग्निकी भांति भीष्मको क्रमशः शान्त भावसे देखकर किञ्चित् दीन चित्तसे बोले ॥ १२ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि ते राजन्प्रसन्नानि यथा पुरा ।
कच्चिदव्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥ १३ ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! इस समय आपका चित्त पहिलेकी भांति प्रसन्न तो है ? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है ? ॥ १३ ॥

शराभिघातदुःखात्ते कच्चिद्गात्रं न दूयते ।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

बाणोंके चोटकी पीडासे आपका शरीर पीडित तो नहीं है ? क्योंकि मानसिक दुःखोंसे भी शारीरिक क्लेश प्रबल होते हैं ॥ १४ ॥

वरदानात्पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो ।
शंतनोर्धर्मशीलस्य न त्वेतच्छमकारणम् ॥ १५ ॥

प्रभो ! मैं जानता हूं, कि आप नित्य धर्ममें रत निज पिता महाराज शन्तनुके वर प्रभावसे इच्छानुयायी मृत्यु प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। अधिक क्या कहूं, आपने पिताको सन्तुष्ट करके इच्छामरणका वर प्राप्त किया है; यह पितृसन्तोषरूपी वरदानका कारण है, शम नहीं ॥ १५ ॥

सुसूक्ष्मोऽपीह देहे वै शल्यो जनयते रुजम् ।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव भारत ॥ १६ ॥

भारत ! तथापि जब कि मनुष्य शरीरमें एक बारीक कांटेके गड जानेसे भी शरीरको क्लेश होता है, तब अनगिनत बाणोंकी चोटसे जो आपके शरीरमें पीडा होगी इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ १६ ॥

कामं नैतत्तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ ।
भवान्ह्युपदिशेच्छ्रेयो देवानामपि भारत ॥ १७ ॥

परन्तु इसे मैं अवश्य ही स्वीकार करूंगा, कि ऊपर कहे हुए सुख दुःख साधारण पुरुषोंपर ही आक्रमण कर सकते हैं; आप ऐसे पुरुषोंको क्लेश आदिक कदापि मोहित तथा दुःखित नहीं कर सकते; क्योंकि आप प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय आदि सम्पूर्ण तत्वोंका देवताओंको भी उपदेश करनेमें समर्थ हैं ॥ १७ ॥

यद्धि भूतं भविष्यच्च भवच्च पुरुषर्षभ ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव पाणाविवाहितम् ॥ १८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप इस पृथ्वीके बीच सम्पूर्ण ज्ञानी पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं । अधिक क्या कहूं, भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालोंके जो कुछ जानने योग्य विषय हैं, वे सब आपके हाथ पर धरे हुए हैं ॥ १८ ॥

संसारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः ।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! धर्मके फलोंकी प्राप्ति और प्राणियोंका संसार यह सब आपको विदित है; क्योंकि आप धर्मात्मा और ज्ञानके आधार स्वरूप हैं १९ ॥

त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम् ।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीहोर्ध्वरेतसम् ॥ २० ॥

दार–परित्याग रूपी प्रतिज्ञाके पहिले भी जब कि आप वैसे समृद्धियुक्त राज्यके बीच सहस्रों स्त्रियोंके बीच घिरे रहते थे, उस समय भी मैं आपको रोगरहित शरीरसे युक्त ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी पुरुषके समान देखता था ॥ २० ॥

ऋते शांतनवाद्भीष्मात्त्रिषु लोकेषु पार्थिव ।
सत्यसंधान्महावीर्याच्छूराद्धर्मैकतत्परात् ॥ २१ ॥

राजन् ! सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण, महाबली, पराक्रमी शान्तनुपुत्र भीष्मके अतिरिक्त तीनों लोकोंके बीच ॥ २१ ॥

×

मृत्युमावार्य तरसा शरप्रस्तरशायिनः ।
निसर्गप्रभवं किंचिन्न च तातानुशुश्रुम ॥ २२ ॥

हे तात ! दूसरे ऐसे किसी प्राणीका प्रभाव नहीं सुना गया, जो शर और पत्थर पर शयन करके शरीरके लिये स्वाभाविक मृत्युको इच्छानुसार निवारण कर रखे ॥ २२ ॥

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यं चैवान्ववेक्षणे ॥ २३ ॥

सत्य, तपस्या, दान, यज्ञके अनुष्ठान, धनुर्वेद, वेद, नीतिशास्त्र और शरणागतको पालन करनेवाला आपके समान दूसरा कोई भी पुरुष नहीं है ॥ २३ ॥

अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् ।
महारथं त्वत्सदृशं न कंचिदनुशुश्रुम । ॥ २४ ॥

और अनृशंसता, पवित्र स्वभाव, इन्द्रिय संयम, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाला और युद्धमें अद्वितीय रथी ही आपके समान इस पृथ्वीपर दूसरा कौन है ? ॥ २४ ॥

त्वं हि देवान्सगन्धर्वान्ससुरासुरराक्षसान् ।
शक्तएकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥ २५ ॥

आप जो अकेले ही युद्धमें देवता, गन्धर्व, सुर, असुर और राक्षसोंको एक मात्र रथके द्वारा ही पराजित करनेमें समर्थ हैं, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥

त्वं हि भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः ।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥ २६ ॥

हे महाबाहो भीष्म ! वसु अंशसे जन्म ग्रहण करनेसे यद्यपि ब्राह्मण लोग आपकी गणना नवम वसुमें करते हैं, तौभी निज गुणोंके प्रभावसे आप सब वसुओंसे भी श्रेष्ठ होकर इन्द्रकी समानताको पहुंचे हैं ॥ २६ ॥

अहं हि त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम ।
त्रिदशेष्वपि विख्यातः स्वशक्त्या सुमहाबलः ॥ २७ ॥

हे पुरुष सत्तम ! आप निज पराक्रम तथा शक्तिके प्रभावसे देवलोकमें भी विख्यात हुए हैं; आपके ज्ञान और सामर्थ्यके विषय आदि मुझसे कुछ भी छिपे हुए नहीं हैं ॥ २७ ॥

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो यो गुणैस्तुल्यः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥

हे पुरुषेन्द्र ! इस पृथ्वीपर आपके समान गुणशाली कोई पुरुष मनुष्योंमें विद्यमान है, ऐसा न कहीं मैंने देखा और न कहींपर सुना ही है ॥ २८ ॥

त्वं हि सर्वैर्गुणै राजन्देवानप्यतिरिच्यसे ।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! आप सब गुणोंसे देवताओंसे भी श्रेष्ठ हुए हैं और निज तपस्याके प्रभावसे चराचर लोकोंकी नयी सृष्टि भी करनेमें समर्थ हैं ॥ २९ ॥

तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेण वै ।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ॥ ३० ॥

हे भीष्म ! इससे आप इस समय निज उपदेशसे स्वजननाश शोकसे व्याकुल पाण्डवोंमें जेठे महाराज युधिष्ठिरका शोक दूर करिये ॥ ३० ॥

ये हि धर्माः समाख्याताश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ।
चातुराश्रम्यसंसृष्टास्ते सर्वे विदितास्तव ॥ ३१ ॥

भारत ! क्योंकि शास्त्रोंमें चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लिये जो धर्म कहे हैं, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं ॥ ३१ ॥

चातुर्वैद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ।
सांख्ये योगे च नियता ये च धर्माः सनातनाः ॥ ३२ ॥

भारत ! चारों विद्या, चातुर्होत्र, सांख्य, योग और शिष्टाचार आदि जो कुछ सनातन धर्म नियत हैं, वे सब आपको विदित हैं ॥ ३२ ॥

चातुर्वर्ण्येन यश्चैको धर्मो न स्म विरुध्यते ।
सेव्यमानः स चैवाद्यो गाङ्गेय विदितस्तव ॥ ३३ ॥

हे गंगानन्दन ! अधिक क्या कहा जावे, जो चातुर्वर्ग्यके विरुद्ध नहीं हैं और जो सभी लोग सेवन करते हैं, उन सब धर्मके गूढ तात्पर्य अर्थोंको व्याख्याके सहित आप जानते हैं ॥ ३३ ॥

इतिहासपुराणं च कार्त्स्न्येन विदितं तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ सहित निखिल धर्मशास्त्र और पुराण आदिकोंके सब तात्पर्य आपके मनमें हमेशा रहते हैं ॥ ३४ ॥

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! विशेष करके इस संसारके बीच जिन विषयोंके अर्थोंमें संशय हैं; उसे छेदन करनेवाला आपके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा विमुह्यमानस्य जनस्य शान्तये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५० ॥ १७०१ ॥

नरेन्द्र ! इससे आप अपने ज्ञानप्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें उत्पन्न हुए शोकको दूर कीजिये, क्योंकि आपके समान ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका जन्म केवल शोकादिकोंसे मोहित मनुष्योंके चित्तमें शान्ति स्थापित करानेके वास्ते होता है ॥ ३६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ १७०१ ॥

: ५१ :

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः ।
किंचिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— महाराज ! कुरुकुल शिरोमणि भीष्म बुद्धिमान् श्रीकृष्णके वचनको सुनके अपना वदन कुछ ऊपर उठाके हाथ जोडके उनसे बोले ॥ १ ॥

नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां निधनोद्भव ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ २ ॥

हे भगवन् ! हे इस जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले विष्णु ! तुम्हें नमस्कार है । हे हृषीकेश ! तुम ही इस जगत्की सृष्टि और संहार करनेवाले अपराजित भगवान् हो ॥ २ ॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! हे विश्वकर्मन् ! तुम्हीं इस जगत्की आत्मा हो, तुमसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, आपको नमस्कार है। इन पांच भूतोंके परे रहनेवाले तुम प्राणियोंके लिए मोक्षरूप हो ॥ ३ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणम् ॥ ४ ॥

हे हृषीकेश ! तुम सम्पूर्ण लोगोंमें अजेय हो, तुम्ही सृष्टिकर्ता और संहर्ता हो । तुम ही अपवर्ग अर्थात् नित्य मुक्त स्वरूप हो, तुम पञ्च महाभूतों और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पांचों गुणोंसे पृथक् हो । तुम स्वर्ग, मर्त्य लोक और पाताल इन तीनों लोकों और तीनों कालोंमें विद्यमान हो; तथापि इनसे भिन्न समझे जाते हो ! इससे तुम्हें नमस्कार है । हे योगेश्वर ! तुम सबके आश्रय स्वरूप हो, इसे तुम्हें प्रणाम है ॥ ४ ॥

सत्संश्रितं यदात्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम।
तेन पश्यामि ते दिव्यान्भावान्हि त्रिषु वर्त्मसु ॥ ५॥

हे पुरुषोत्तम ! तुमने प्रसन्न होकर मेरे गुणोंका वर्णन किया है, उससे मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त आपके दिव्य भावोंका साक्षात्कार करता हूं ॥ ५॥

तच्च पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम्।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६॥

आपके सत्य सनातन रूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुआ हूं ! तुम अत्यन्त तेजस्वी वायुरूपसे सप्तछिद्रोंको निरोध करके सबके हृदयमें स्थित हो ॥ ६॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुंधरा।
दिशो भुजौ रवीश्चक्षुर्वीर्ये शक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७॥

तुम्हारे शिरसे आकाश और चरणोंसे पृथ्वी व्याप्त हैं, दिशाएं तुम्हारी भुजाएं, सूर्य नेत्र और शक्र तुम्हारे वीर्यमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ७॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥ ८॥

तुम्हारा शरीर अतसीपुष्पके समान है, वह पीतवस्त्रोंसे युक्त होकर शोभित हो रहा है, वह कभी च्युत नहीं होता ; उसे देखकर आकाशमण्डलमें बिजलीसे युक्त बादल शोभित हो रहा है, ऐसा लगता है ॥ ८॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९॥

हे देवोंमें श्रेष्ठ ! हे पुण्डरीकाक्ष ! मैं तुम्हारा शरणागत भक्त हूं, मैं उत्तम गति पानेकी अभिलाषासे तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं, इससे जिस प्रकार मेरा कल्याण होवे, आप उसीका विधान करिये ॥ ९॥

वासुदेव उवाच—

यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ।
ततो वपुर्मया दिव्यं तव राजन्प्रदर्शितम् ॥ १०॥

वासुदेव बोले– हे कुरुनाथ पुरुषश्रेष्ठ ! तुम जो कपटरहित होकर मेरी भक्तिमें तत्पर रहते हो, उसी कारण मैंने तुम्हें मेरी दिव्य मूर्तिका दर्शन कराया है ॥ १०॥

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न च।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चादान्ताय भारत ॥ ११॥

राजेन्द्र ! भारत ! भक्तिरहित, कपटी भक्त और दम रहित पुरुष मेरी दिव्य मूर्तिका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ ११॥

भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः ।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥

तुम मेरे अत्यन्तही भक्त और विनय सम्पन्न सरल स्वभाववाले हो। विशेष करके तुम दम, तपस्या, सत्य और दान आदि कर्मोंमें सदा सर्वदा रत रहते हो; तुम परम पवित्र अत्यन्त निर्मल हैं ॥ १२ ॥

अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव ।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम निज तपस्याके प्रभावसे मेरी दिव्य मूर्ति दर्शनके योग्य पात्र हो। जिस स्थानमें गमन करनेसे जीवोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, तुम्हें वे दिव्य स्थान प्रस्तुत हैं ॥ १३ ॥

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य ।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥ १४ ॥

हे कुरुवीर भीष्म ! इस समय अभी छप्पन दिवस तुम्हारे जीवनका समय बाकी है; आप छप्पन ही दिनोंमें उससे अधिक कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करके उसे पूर्ण करनेमें समर्थ होंगे। इसके अनन्तर शरीर त्यागके अपने अभिलषित स्थानमें गमन कीजियेगा ॥ १४ ॥

एते हि देवा वसवो विमानान्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः ।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतंगम् ॥ १५ ॥

यह देखिये, जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी वसु और देवता लोग विमानोंपर चढके आकाशमें अदृश्यरूपसे रहकर सूर्यके उत्तरायण कालकी और आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥१५॥

व्यावृत्तमात्रे भगवत्युदीचीं सूर्ये दिशं कालवशात्प्रपन्ने ।
गन्तासि लोकान्पुरुषप्रवीर नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥ १६ ॥

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर ! तत्वज्ञानी पुरुष जिस लोकमें जाके फिर मर्त्यलोकमें नहीं आते; भगवान् सूर्यके कालवश दक्षिणायनसे उत्तरायण होनेपर, तुम शरीर त्यागनेके उपरान्त उस-ही स्थानमें गमन करोगे ॥ १६ ॥

अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर ।
अतः स्म सर्वे त्वयि संनिकर्षं समागता धर्मविवेचनाय ॥ १७ ॥

हे वीर भीष्म ! जब तुम इस लोकसे परलोकमें गमन करोगे, तब उस समय सब ज्ञान लुप्त प्राय हो जायंगे, उसी कारणसे ये सब कोई धर्म-जिज्ञासु होकर तुम्हारे समीप आके उपस्थित हुए हैं ॥ १७ ॥

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय सत्याभिसंधाय युधिष्ठिराय ।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तमर्थ्यं वचोऽस्यापनुदास्य शोकम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ १७१९ ॥

उससे स्वजन नाशरूपी शोकसे दुःखित सत्यवादी युधिष्ठिरको आप धर्म, अर्थ और समाधि, तथा योगयुक्त सत्य वचनोंका उपदेश करके इनका शोक दूर करिये ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ १७१९ ॥

: ५२ :

वैशम्पायन उवाच—

तत: कृष्णस्य तद्वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
श्रुत्वा शांतनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके अनन्तर शान्तनुपुत्र भीष्मने श्रीकृष्ण चन्द्रके धर्म, अर्थ—युक्त लोक हितकर वचनको सुनके हाथ जोडके उन्हें उत्तर दिया ॥ १ ॥

लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत ।
तव वाक्यमभिश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः ॥ २ ॥

हे लोकनाथ ! महाबाहो ! शिव ! नारायण ! अच्युत ! तुम्हारे वचनोंको सुनके मेरा हृदय आनन्दसे पुलकित हो रहा है ॥ २ ॥

किं चाहमभिधास्यामि वाक्पते तव संनिधौ ।
यदा वाचोगतं सर्वं तव वाचि समाहितम् ॥ ३ ॥

जब कि हर एक विषयोंमें कहने योग्य जो कुछ वचन हैं, वे सब पहिलेसे ही तुम्हारे वचन-रूपी वेदोंमें विद्यमान हैं; तब मैं तुम्हारे सम्मुख किस कथाका उपदेश करनेमें समर्थ हो सकता हूं ॥ ३ ॥

यद्धि किंचित्कृतं लोके कर्तव्यं क्रियते च यत् ।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोका बुद्धिमया हि ते ॥ ४ ॥

हे देव ! इस लोक और परलोकमें कल्याणकी अभिलाषा करके बुद्धिमान् पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं और इस संसारमें जो कुछ करने योग्य कार्य है, वह सब तुम बुद्धिमान् ईश्वरसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ४ ॥

कथयेद्देवलोकं यो देवराजसमीपतः ।
धर्मकामार्थशास्त्राणां सोऽर्थान्ब्रूयात्तवाग्रतः ॥ ५ ॥

इससे जो पुरुष देवराज इन्द्रके समीप देवलोकका भी वृत्तान्त कहनेमें समर्थ है; वही पुरुष तुम्हारे सम्मुख धर्म, अर्थ, काम शास्त्रके यथार्थ वृत्तान्तको कह सकेगा ॥ ५ ॥

शराभिघाताद्व्यथितं मनो मे मधुसूदन ।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति ॥ ६ ॥

हे मधुसूदन ! मेरा शरीर बाणोंकी चोटसे अत्यन्त पीडित है, उससे मेरा चित्त-मन व्याकुल हो रहा है, मेरा सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो रहा है, मेरी बुद्धि चञ्चल हो रही है कुछ काम नहीं देती है ॥ ६ ॥

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित्प्रभाषितुम् ।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः ॥ ७ ॥

हे गोविन्द ! विष तथा अग्निके समान बाणोंकी चोटसे मेरे सब अङ्ग अत्यन्त ही पीडित हो रहे हैं, इसी कारण मेरी बुद्धि इस प्रकार प्रतिभा-रहित हो रही है, कि कुछ भी वचन कहनेमें प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

बलं मेधाः प्रजरति प्राणाः संत्वरयन्ति च ।
मर्माणि परितप्यन्ते भ्रान्तं चेतस्तथैव च ॥ ८ ॥

मेरा शरीर धीरे धीरे बलहीन हुआ जाता है, मेरी बुद्धि नष्ट हो रही है, प्राण शरीरसे बाहर हुआ चाहते हैं और मेरे मर्मस्थल इस प्रकार पीडित हो रहे हैं, कि उससे बारम्बार मेरा चित्त भ्रमित होता है ॥ ८ ॥

दौर्बल्यात्सज्जते वाङ्मे स कथं वक्तुमुत्सहे ।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलनन्दन ॥ ९ ॥

जब कि निर्बलताके कारण मेरे मुखसे वचनकी बार बार नहीं बाहर होते हैं; तब मैं धर्म उपदेश करनेका किस प्रकार उत्साह कर सकता हूं ? हे दाशार्ह कुलनन्दन श्रीकृष्ण तुम मुझ पर प्रसन्न होओ ॥ ९ ॥

तत्क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किंचिदच्युत ।
त्वत्संनिधौ च सीदेत वाचस्पतिरपि ब्रुवन् ॥ १० ॥

महाबाहो ! अच्युत ! मैं तुमसे क्षमा प्रार्थना करता हूं, तुम कृपा करके मेरे ऊपर प्रसन्न हो, मैं कुछ भी नहीं कह सकूंगा । विशेष करके तुम्हारे समीप उपदेश करनेमें बृहस्पति भी अवसन्न हो सकते हैं ॥ १० ॥

न दिशः संप्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम् ।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन ॥ ११ ॥

हे मधुसूदन ! मेरा चित्त इस प्रकार भ्रान्त हो रहा है, कि आकाश, पृथ्वी और दिशा भी मुझे विशेष रूपसे नहीं मालूम होती है; केवल तुम्हारे तेजके प्रभावसे जीवन धारण कर रहा हूं ॥ ११ ॥

स्वयमेव प्रभो तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम् ।
तद्ब्रवीह्याशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः ॥ १२ ॥

इसलिये धर्मराज युधिष्ठिरका जिसमें हित हो; तुम स्वयं ही उस विषयका शीघ्र उपदेश करो; क्योंकि तुम वेदशास्त्रोंके नियन्ता हो ॥ १२ ॥

कथं त्वयि स्थिते लोके शाश्वते लोककर्तरि ।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद्गुरौ शिष्य इव स्थिते ॥ १३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! सब लोकोंके कर्त्ता नित्यपुरुषस्वरूप तुम निकटमें ही उपस्थित हो, ऐसी अवस्थामें मेरे समान पुरुष किस प्रकार धर्मका उपदेश कर सकता है ? गुरुके उपस्थित रहते हुए कोई शिष्य उपदेष्टा हो सकता है क्या ? ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच—

उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरंधरे ।
महावीर्ये महासत्त्वे स्थिते सर्वार्थदर्शिनि ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण चन्द्र बोले— हे गङ्गानन्दन भीष्म ! तुमने जो कुछ वचन कहा, वह सब वचन सर्वार्थदर्शी, स्थिर—प्रतिज्ञ, महापराक्रमशाली कौरव—शिरोमणि महात्मा भीष्मके योग्य ही है ॥ १४ ॥

यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति ।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं विभो ॥ १५ ॥

हे गाङ्गेय भीष्म ! विभो ! तुमने जो बाणोंके आघातसे होनेवाली पीडाका वर्णन किया, उसके लिये मैं प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देता हूं ॥ १५ ॥

न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा ।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत ॥ १६ ॥

ग्रहण कीजिये अबसे गाङ्गेय शारीरिक पीडा, तथा मूर्च्छा, दाह, रोग आदि किसी प्रकारकी पीडा और भूख, प्यास आदिके क्लेश तुम्हारे चित्तको कदापि दुःखित न कर सकेंगे ॥१६॥

ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥

हे पापरहित ! इस समय तुम्हारे अंतःकरणमें ज्ञानकी प्रतिभा पूरी रीतिसे प्रकाशित होगी; तुम्हारी बुद्धि अबसे किसी विषयमें भी भ्रमित न होगी ॥ १७ ॥

सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति ।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥ १८ ॥

हे भीष्म ! आजसे तुम्हारा चित्त रज और तमोगुणसे रहित होकर केवल सतोगुणमें इस प्रकार स्थित होगा, जैसे चन्द्रमा मेघमण्डलसे मुक्त हो निर्मल प्रकाशयुक्त होकर आकाशमें स्थित होता है ॥ १८ ॥

यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि वा ।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ १९ ॥

तुम जिस जिस धर्म वा अर्थ युक्त विषयका विचार करोगे, उस विषयमें तुम्हारी बुद्धि पूर्ण रीतिसे प्रकाशित होती जायगी ॥ १९ ॥

इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥ २० ॥

हे महापराक्रमी राजश्रेष्ठ ! तुम दिव्य चक्षुके सहारे स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज-- इन चार प्रकारके प्राणियोंके सूक्ष्म तत्वोंको जान सकोगे ॥ २० ॥

चतुर्विधं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा ।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥ २१ ॥

और वे सब चतुर्विध निर्मल जलमें स्थित मछलियोंकी भांति जिस प्रकार इस संसारमें विचरण कर रहे हैं; उस सम्पूर्ण वृत्तान्तको भी तुम ज्ञान नेत्रके सहारे यथार्थ रूपसे देख सकोगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच--

ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः ।
ऋग्यजुःसामसंयुक्तैर्वचोभिः कृष्णमर्चयन् ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– श्रीकृष्ण भगवानने जब भीष्मको ऐसा वरदान किया, तब व्यासदेव सहित सब ऋषियोंने ऋक्, यजु तथा सामके मंत्रोंसे उनकी पूजा की ॥ २२ ॥

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात् ।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥ २३ ॥

उस समय आकाशसे श्रीकृष्ण गङ्गानन्दन भीष्म और पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरके ऊपर सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले दिव्य फूलोंके समूहोंकी वर्षा होने लगी ॥ २३ ॥

वादित्राणि च दिव्यानि जगुश्चाप्सरसां गणाः ।
न चाहितमनिष्टं च किंचित्तत्र व्यदृश्यत ॥ २४ ॥

नाना भांतिके दिव्य बाजे बजने लगे और अप्सराएं गीत गाती हुई नृत्य करने लगीं । उस समय वहांपर किसी प्रकारके अहितकर तथा अनिष्ट विषय नहीं दीख पडे ॥ २४ ॥

ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ।
शान्तायां दिशि शान्ताश्च प्रावदन्मृगपक्षिणः ॥ २५ ॥

सब प्रकारसे सुख जनक, शीतल, मन्द, पवित्र और सुगन्ध युक्त वायु बहने लगा; सम्पूर्ण दिशाएं निर्मल शान्त हो गईं; मृग आदि, पशु पक्षी आनन्दित होके शान्त भावसे चारों ओर मनोहर बोल बोलने लगे ॥ २५ ॥

ततो मुहूर्ताद्भगवान्सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
दहन्वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥

उसके अनन्तर जैसे अग्नि भगवान् बहुत बडे वनको भस्म करके जङ्गलके एक भागमें दीख पडते हैं, वैसे ही सहस्र किरणधारी भगवान सूर्य अपने प्रचण्ड तेजसे पश्चिम दिशाके एकान्त प्रदेशमें वनको दग्ध करते हुएसे दीख पडे ॥ २६ ॥

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम् ।
भीष्ममामन्त्रयांचक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥

सूर्यको पश्चिम दिशामें देखकर महर्षि लोगोंने सन्ध्योपासना करनेके निमित्त सहसा उठके जनार्द्दन श्रीकृष्ण, गङ्गानन्दन भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरके समीप बिदा होनेकी प्रार्थना की ॥ २७ ॥

ततः प्रणाममकरोत्केशवः पाण्डवस्तथा ।
सात्यकिः संजयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर, सात्यकि, सञ्जय और शरद्वानके पुत्र कृपाचार्य आदि पुरुषोंने उन ऋषि–मुनियोंको प्रणाम किया ॥ २८ ॥

ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक्तैरभिपूजिताः ।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा ऋषि लोग श्रीकृष्ण आदि महात्मा पुरुषोंसे पूर्ण रीतिसे पूजित और सत्कृत होकर, कल हम लोग फिर आवेंगे, ऐसा वचन कहके तुरंत ही निज निज अभिलषित स्थानोंपर चले गये ॥ २९ ॥

तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवस्ते च पाण्डवाः ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३० ॥

तब महात्मा श्रीकृष्ण और पाण्डव लोगोंने भी गंगापुत्र भीष्मको सम्बोधन करके उनसे जानेकी आज्ञा ले, उनकी प्रदक्षिणा की और फिर अपने उत्तम रथोंपर चढके प्रस्थान करनेके निमित्त तैयार हुए ॥ ३० ॥

ततो रथैः काञ्चनदन्तकूबरैर्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः ।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः ॥ ३१ ॥

उस समय सुवर्ण दन्तमय सुन्दर ध्वजा पताकाओंसे– कूबरोंसे शोभित रथ, पर्वतके समान बडे शरीरवाले मत्त हाथियोंके समूह गरुडके समान शीघ्र गमन करनेवाले घोडे और पैदल योद्धालोग हाथमें धनुष ग्रहण करके उनके सङ्ग चलनेको तैयार हुए ॥ ३१ ॥

ययौ रथानां पुरतो हि सा चमूस्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी ।
पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी पुरर्क्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ॥ ३२ ॥

अनन्तर वह चतुरङ्गिनी सेना सजित होकर दो भागोंमें विभक्त हुई और भगवान् श्रीकृष्ण तथा धर्मराज युधिष्ठिरके रथोंके आगे पीछे बहुत दूरतक फैलकर इस प्रकार गमन करने लगी, जैसे ऋक्षवान पर्वतके पास पहुंचकर पूर्व तथा पश्चिम दिशामें परिक्रमा करती हुई महानदी नर्मदा शोभित होकर गमन करती है ॥ ३२ ॥

ततः पुरस्ताद्भगवान्निशाकरः समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसास्तथौषधीः पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन् ॥ ३३ ॥

इधर भगवान् चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे उस व्यूहबद्ध सेनाके पुरुषोंके चित्तको आनन्दित करते और सूर्यने जिन औषधियोंका रस पिया था, उनको फिर अपनी सुधामय किरणोंसे गुण सम्पन्न कर रस प्रदान करते हुए पूर्वदिशामें उदय हुए ॥ ३३ ॥

ततः पुरं सुरपुरसंनिभद्युति प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा ।
यथोचितान्भवनवरान्समाविशञ्श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ १७५३ ॥

इसके अनन्तर यदुपति श्रीकृष्ण, सात्यकि आदि श्रेष्ठ वीर और पाण्डव लोग इन्द्रपुरीके समान लक्ष्मीसे युक्त हस्तिनापुरीमें प्रवेश करके यथा योग्य श्रेष्ठ महालोंके भीतर चले गये जैसे थके हुए सिंह विश्रामके लिये पर्वतकी कन्दरामें प्रविष्ट होते हैं ॥ ३४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ १७५३ ॥

: ५३ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रविश्य भवनं प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रावशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— इसके अनन्तर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने राजभवनमें गमन करके उत्तम पलङ्गके ऊपर जाके शयन किया, और आधीरात बाकी रहते ही वे जागकर उठ बैठे ॥ १ ॥

स ध्यानपथमाश्रित्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद्दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥

फिर ध्यानामार्गमें स्थित हो माधवने इन्द्रियों और बुद्धिगम्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन परब्रह्म परमेश्वर स्वरूपका ध्यान किया ॥ २ ॥

तत: श्रुतिपुराणज्ञा: शिक्षिता रक्तकण्ठिन: ।
अस्तुवन्विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

कुछ समयके अनन्तर शास्त्र और पुराणोंके जाननेवाले, मनोहर कण्ठ और स्वरोंसे युक्त सुशिक्षित वन्दीजन प्रजापति, विश्वकर्मा श्रीकृष्ण भगवानकी स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायना: ।
शङ्खानकमृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्त सहस्रश: ॥ ४ ॥

उस ही समय हाथसे बीन–वीणा बजानेवाले स्तुतिगान करने लगे; गीत गानेवाले कोमल स्वरोंसे मीठे गीत गाने लगे और सहस्रों मनुष्य ढोल, मृदङ्ग, शंख और बासुरी आदि बाजे बजने लगे ॥ ४ ॥

वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरम: ।
प्रहास इव विस्तीर्ण: शुश्रुवे तस्य वेश्मन: ॥ ५ ॥

उस समय वीणा, पणव और बाजोंके मनोहर शब्दसे पूरित होकर भगवान श्रीकृष्णका शयनागार इस प्रकार बोध होता था, मानो ऊंचे स्वरसे हंस रहा रहा है ॥ ५ ॥

तथा युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिता: ।
उच्चैरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रसंहिता: ॥ ६ ॥

इधर राजा युधिष्ठिरके भवनसे भी मधुर मङ्गल–जनक स्तुतिपाठ, बाजोंके शब्द और कोमल स्वरोंसे युक्त उत्तम गीत आदि सुनाई देने लगे ॥ ६ ॥

तत उत्थाय दाशार्ह: स्नात: प्राञ्जलिरच्युत: ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर अच्युत महाबाहु श्रीकृष्णचन्द्रने उठकर स्नान कर गुप्त मन्त्रोंका जप किया, और हाथ जोडकर अग्निके पास बैठे ॥ ७ ॥

तत: सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधव: ॥ ८ ॥

वहां होम कार्य समाप्त करके राजमन्दिरके बाहर आये, उस समय चारों वेदोंके जाननेवाले एक हजार ब्राह्मण उनके समीप आकर उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण भगवानने उन हर एक ब्राह्मणोंको एक एक हजार गौएं दान की; उन सम्पूर्ण ब्राह्मणोंने आनन्दित होकर दान ग्रहण करके उनका स्वस्तिवाचन किया ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्तत: सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

फिर श्रीकृष्णने सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुओंको स्पर्श करके, विमल दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन करके, वे सात्यकिसे बोले ॥ ९ ॥

गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

हे शिनिपुत्र ! जाओ, और राजभवनमें जाकर पता लगाओ कि महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर भीष्मके दर्शनकी इच्छासे उनके समीप जानेके वास्ते तैयार हुए हैं, वा नहीं? ॥ १० ॥

ततः कृष्णस्य वचनात्सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह ॥ ११ ॥

सात्यकिने श्रीकृष्णकी आज्ञा सुनके शीघ्रही वहांसे चलकर धर्मराज युधिष्ठिरके समीप जाके यह वचन कहा ॥ ११ ॥

युक्तो रथवरो राजन्वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥

महाराज ! बुद्धिमान् श्रीकृष्णका श्रेष्ठ रथ सज्जित हुआ है; भगवान जनार्दन गंगानन्दन भीष्मके समीप शीघ्र ही जायंगे ॥ १२ ॥

भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

हे महातेजस्वी धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारी ही प्रतिक्षा करके स्थित हैं; अब आप इस समय जो कुछ कर्तव्य कार्य करना हो, उसे कहिये ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

युज्यतां मे रथवरः फल्गुनाप्रतिमद्युते ।
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे अप्रतिम तेजस्वी अर्जुन ! तुम मेरे वास्ते उत्तम रथ सज्जित करनेकी आज्ञा दो। आज केवल हम लोग ही कई एक पुरुष महात्मा भीष्मके निकट जावेंगे, सेना ले चलनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
अतः पुरःसराश्चापि निवर्तन्तु धनंजय ॥ १५ ॥

क्योंकि धनंजय ! धर्मात्मा पुरुषोंमें अग्रणी महात्मा भीष्म पितामहको सेनाके कोलाहलसे क्लेश देना उचित नहीं है; इससे आज तुम आगे चलनेवाली सेनाको भी चलनेके लिये मना करो ॥ १५ ॥

अद्य प्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ।
ततो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम् ॥ १६ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! गंगापुत्र भीष्म पितामह आजसे अत्यन्त गुप्त धर्मकथाका उपदेश करेंगे; इससे मैं उस स्थानपर अन्य साधारण पुरुषोंके भीडकी इच्छा नहीं करता हूं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्वाक्यमाकर्ण्य तथा कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
युक्तं रथवरं तस्मा आचचक्षे नरर्षभ। ॥ १७॥

वैशम्पायन बोले— नरश्रेष्ठ ! कुन्तीपुत्र अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा सुनके शीघ्रही उनका श्रेष्ठ रथ सज्जित कराके उनके समीप आके, निवेदन किया ॥ १७॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि।
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम् ॥ १८॥

तब धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, और सहदेव पांचों भाई मिलके मानो सब महाभूत मूर्तिमान् होकर कृष्णके निवास गृहपर गये ॥ १८॥

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु।
शैनेयसहितो धीमान्रथमेवान्वपद्यत ॥ १९॥

महात्मा पाण्डवोंके आगमन करते ही बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकिके सहित अपने रथ पर चढे ॥ १९॥

रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम्।
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते महारथाः ॥ २०॥

वे सब पुरुष श्रेष्ठ वीर लोग रथपर बैठे ही आपसमें "तुम्हारी सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत हुई ?" इत्यादि कुशल प्रश्न करते हुए, बादलके शब्द समान अपने रथोंके शब्दसे पृथ्वीको परिपूरित करते हुए वहांसे गमन करने लगे ॥ २०॥

मेघपुष्पं बलाहं च सैन्यं सुग्रीवमेव च।
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः ॥ २१॥

अनन्तर वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णके मेघपुष्प, बलाह, सैन्य और सुग्रीव नामक चारों घोडोंको दारुक सारथीने हांका ॥ २१॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः।
गां खुराग्रैस्तथा राजँल्लिखन्तः प्रययुस्तदा ॥ २२॥

राजन् ! तब दारुकसे हांके गये श्रीकृष्णके वे घोडे अपनी टापोंके अग्र भागसे भूमिपर चिन्ह बनाते वेगपूर्वक गमन करने लगे ॥ २२॥

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः।
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन् ॥ २३॥

वे महाबलवान् और वेगवान् घोडे मानो आकाश मार्गसे उडे जाते हैं, इसी प्रकार वेगसे सारे धर्मके क्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें जा पहुंचे ॥ २३॥

ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ।
आस्ते ब्रह्मर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा ॥ २४ ॥

इसी भांति महात्मा पाण्डवोंके रथ भी शीघ्रताके सहित गमन करने लगे; क्षणभरमें वे सब रथ कुरुक्षेत्र आके उपस्थित हुए और क्रमसे जिस स्थानमें देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माकी भांति महर्षियोंसे घिरे हुए भीष्म शरशय्यापर शयन कर रहे थे, उनके समीप आके स्थित हुए ॥ २४ ॥

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात्स च युधिष्ठिरः ।
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २५ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव और सात्यकि आदि महातेजस्वी पुरुष रथसे उतरे और अपने दाहिने हाथोंको उठाकर ऋषियोंको सम्मानित किया ॥ २५ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥ २६ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने तारामण्डलसे युक्त चन्द्रमाकी भांति भाइयोंके बीच घिरकर उपदेश ग्रहणकी अभिलाषासे इस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मके समीप गमन किया, जैसे इन्द्र देवताओंके सहित ब्रह्माके निकट गमन करते हैं ॥ २६ ॥

शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा ।
ददर्श स महाबाहुर्भयादागतसाध्वसः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ १७८० ॥

महाबाहु युधिष्ठिरने उस स्थानमें स्थित होकर भय युक्त चित्तसे स्वर्गभ्रष्ट आदित्यके समान शरशय्यापर सोये हुए भीष्म पितामहका दर्शन किया ॥ २७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तिरपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ १७८० ॥

: ५४ :

जनमेजय उवाच—

धर्मात्मनि महासत्त्वे सत्यसंधे जितात्मनि ।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥ १ ॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शंतनुनन्दने ।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपस्थिते ॥ २ ॥

राजा जनमेजय बोले— हे महाऋषि ! धर्मात्मा, महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, महाभाग, अच्युत, वीर शय्यारूपी शरशय्यापर शयन करनेवाले शान्तनुपुत्र गङ्गानन्दन पुरुषसिंह देवव्रत भीष्मके पास जब पाण्डव उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ १–२ ॥

काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन्वीरसमागमे ।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥ ३ ॥

तत्र सम्पूर्ण सेनाओंके नष्ट होनेपर उन वीर पुरुषोंके उस समागममें कौनसी कथाएं हुई, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले— हे नृप ! कौरवकुलके धुरन्धर भीष्म जब शरशय्यापर सो रहे थे, तब वहां नारद आदि सिद्ध महर्षि लोग भी आये थे ॥ ४ ॥

हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥ ५ ॥

युद्धमें मरनेसे बचे हुए जो लोग थे वे युधिष्ठिर आदि राजा, और धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण, भीमसेन अर्जुन, नकुल और सहदेव ॥ ५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम् ।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥

ये सभी महात्मा पुरुष कुरु-पाण्डवोंके पितामह कुलधुरन्धर गंगानन्दन भीष्मके समीप गमन करके उन्हें आकाशभ्रष्ट सूर्यकी भांति शरशय्यापर शयन करते देखकर दुःख करने लगे ॥६॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः ।
उवाच पाण्डवान्सर्वान्हतशिष्टांश्च पार्थिवान् ॥ ७ ॥

अनन्तर देवऋषि नारद मुनि मुहूर्त भर तक चिन्तन करके युद्धमें मरनेसे बचे हुए राजाओं और समस्त पाण्डवोंसे बोले ॥ ७ ॥

प्राप्तकालं च आचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम् ।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥

भारत ! देखो, मैं आपको समयोचित कर्तव्य कहता हूं; सूर्यके अस्त होनेकी भांति गंगानन्दन भीष्मका मृत्युकाल निकटवर्त्ती हुआ है। इसलिये तुम लोगोंको जो कुछ धर्म और ब्रह्मके विषयमें पूछना हो, उसे इस ही समय पूछ लो; ॥ ८ ॥

अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्येत्य पृच्छत ।
कृत्स्नान्हि विविधान्धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम् ॥ ९ ॥

क्योंकि इस समय महात्मा भीष्मने प्राण त्यागनेका सङ्कल्प किया है; इससे तुम लोग इनसे अपनी बातें पूछ लें; ये चारों वर्णोंके सम्पूर्ण और विविध धर्मोंको विशेष रूपसे जानते हैं ॥९॥

एष वृद्धः पुरा लोकान्संप्राप्नोति तनुत्यजाम् ।
तं शीघ्रमनुयुञ्जध्वं संशयान्मनसि स्थितान् ॥ १० ॥

यह ज्ञान वृद्ध भीष्म शीघ्र ही शरीर त्यागके उत्तम लोकोंमें गमन करेंगे; तुम लोगोंके मनमें जिस विषयमें संशय हो, वह शीघ्रही इनसे पूंछके अपनी शंका निवारण करो ॥ १० ॥

एवमुक्ता नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः ।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥

राजा लोग नारद मुनिके वचनोंको सुनके सब कोइ भीष्मके निकट उपस्थित हुए । परन्तु किसी विषयमें कुछ प्रश्न करनेमें समर्थ न हुए, वे सब कोई आपसमें एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे ॥ ११ ॥

अथोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नान्यस्त्वद्देवकीपुत्र शक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥

उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हृषीकेश श्रीकृष्णसे बोले, हे देवकी नन्दन ! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष पितामहके निकट प्रश्न करनेमें समर्थ होगा ? ॥ १२ ॥

प्रव्याहरय दुर्धर्ष त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥

हे तात ! हम सब लोगोंके बीच तुम ही पूर्णरीतिसे धर्म विषयके जाननेवाले हो; हे दुर्धर्ष ! मधुसूदन ! पहिले तुम ही पितामहके समीप प्रश्न करो ॥ १३ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान्केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं प्रव्याहारयदच्युतः ॥ १४ ॥

अनन्तर उस समय अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके वचनको सुनके दुर्जय भीष्मके निकट गमन करके यह वचन बोले ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच—

कच्चित्सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥

हे राजसत्तम ! गत रात्रि तुमने सुखसे व्यतीत की है न ? तुम्हारी निर्मल बुद्धि भली भांति स्थिर तो है ? ॥ १५ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥

हे पाप रहित ! तुम्हारे अंतःकरणमें सब ज्ञान अच्छी प्रकार प्रकाशित तो होते हैं ? तुम्हारे हृदयमें ग्लानि तो नहीं है ? तुम्हारा मन पीडासे कातर होकर व्याकुल तो नहीं है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच—

दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा ।
तव प्रसादाद्गोविन्द सद्यो व्यपगतानघ ॥ १७ ॥

भीष्म बोले— हे अनघ श्रीकृष्ण ! कल जो तुमने प्रसन्न होकर मुझे वरदान दिया, तभीसे मेरे शरीरसे दाह, मोह, थकावट, खिन्नता, ग्लानि और सम्पूर्ण पीडा तत्काल दूर होगई है ॥१७॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते ।
तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवाहितम् ॥ १८ ॥

हे महातेजस्वी ! अब मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालोंके सम्पूर्ण विषयोंको हाथमें स्थित फलकी भांति स्पष्ट रूपसे देख रहा हूं ॥ १८ ॥

वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्तनिहिताश्च ये ।
तान्सर्वान्संप्रपश्यामि वरदानात्तवाच्युत ॥ १९ ॥

हे अच्युत ! तुम्हारे वरदानके प्रभावसे मैं वेदशास्त्रोंमें जो कुछ धर्म आदिक विषय वर्णित हुए हैं, और वेदान्तोंसे जो जाना जाता है, उन सबको प्रत्यक्षकी भांति अवलोकन कर रहा हूं ॥१९॥

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते ।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥ २० ॥

हे जनार्दन ! देश, जाति और कुल विषयक ज्ञान तथा महात्मा पुरुषोंके कहे हुए जो कुछ धर्म हैं, वह सब मेरे अन्तःकरणमें स्थित हैं ॥ २० ॥

चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः ।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥ २१ ॥

हे केशव ! सम्पूर्ण राजधर्म, ब्रह्मचर्य; गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आदि चारों आश्रम सम्बन्धीय धर्मोंके जो कुछ उद्देश्य हैं वे सब मेरे हृदयमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यत्र यत्र च वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि जनार्दन ।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥ २२ ॥

हे जनार्दन ! जिन जिन विषयोंमें जो कुछ कहना उचित है, मैं उसे कहूंगा । तुम्हारी कृपासे मेरा मन कल्याण करनेवाली निर्मल बुद्धिसे युक्त हुआ है ॥ २२ ॥

युवेव चास्मि संवृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः ।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ २३ ॥

हे जनार्दन ! अधिक क्या कहूं, सदा तुम्हारे ध्यानके प्रभावसे मेरे शरीरमें फिर युवा अवस्थाके समान बल प्राप्त हुआ है; आपके प्रसादसे अब मैं लोकहितकर धर्मकथाको कहनेमें समर्थ होऊंगा ॥ २३ ॥

स्वयं किमर्थं तु भवाञ्श्रेयो न प्राह पाण्डवम् ।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥ २४ ॥

माधव ! परन्तु तुम स्वयं किस कारणसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कल्याणकारी धर्मोपदेश नहीं करते हो ? इस विषयमें तुम्हारा क्या विचार है, उसे शीघ्र मेरे समीप प्रकाशित करो ॥२४॥

वासुदेव उवाच—

यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव ।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हे कौरव ! तुम कीर्ति और कल्याणका मूल कारण मुझे ही समझो; सत् और असत् सब भाव मुझसे ही प्रकट हुए हैं ॥ २५ ॥

शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते को लोके विस्मयिष्यति ।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥ २६ ॥

देखिये, यदि कोई चन्द्रमाको शीत-किरणवाला कहके प्रशंसा करे, तो किसको जगत्में आश्चर्य होगा ? कोई पुरुष इसमें आश्चर्य नहीं कर सकता । इसी भांति श्रीकृष्ण "कीर्त्तिपूर्ण है" कहके यदि कोई पुरुष मेरा गुण वर्णन करे, तो इसमें कोई भी आश्चर्ययुक्त नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समाहिता ॥ २७ ॥

हे महातेजस्वी भीष्म ! मैंने इस पृथ्वीपर तुम्हारे महान् यशका अधिक विस्तार करनेकी अभिलाषासे तुममें अपनी विशाल बुद्धिकी प्रतिष्ठापना की है ॥ २७ ॥

यावद्धि पृथिवीपाल पृथिवी स्थास्यते ध्रुवा ।
तावत्तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति ॥ २८ ॥

राजन् ! जबतक यह पृथ्वी स्थिर रहेगी, तबतक तुम्हारी यह अक्षय कीर्त्ति जगत्के बीच प्रकाशित रहेगी ॥ २८ ॥

यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
वेदप्रवादा इव ते स्थास्यन्ति वसुधातले ॥ २९ ॥

हे भीष्म ! तुम प्रश्नके अनुसार पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको जो कुछ धर्मका उपदेश करोगे, वे सब तुम्हारे उपदेश वचन वेदवाक्यके समान जगत्के बीच प्रमाणिक होंगे ॥ २९ ॥

यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना ।
स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥ ३० ॥

जो मनुष्य उस प्रमाणके अनुसार लोकयात्रा निर्वाह करेगा, वह परलोकमें सम्पूर्ण पुण्यफलोंको भोगनेमें समर्थ होगा ॥ ३० ॥

एतस्मात्कारणाद्भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
दत्ता यशो विप्रथेत कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥

हे भीष्म ! पृथ्वीमें किस प्रकार तुम्हारे महान् यशका विस्तार होगा इस विषयको विचार कर, मैंने तुम्हें दिव्य बुद्धि प्रदान की है ॥ ३१ ॥

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत्तस्याक्षयं स्थानं भवतीति विनिश्चितम् ॥ ३२ ॥

इस पृथ्वीपर जबतक किसी पुरुषके यशका विस्तार होता रहता है, तबतक वह यश गान ही उसकी अक्षय कीर्त्तिका मूल समझा जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३२ ॥

राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! भारत ! कुरुक्षेत्रके युद्धमें मरनेसे बचे हुए राजा लोग धर्म जिज्ञासु होकर तुम्हारे चारों ओर स्थित हैं; तुम इन लोगोंको राजधर्मोपदेश करो ॥ ३३ ॥

भवान्हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां पूर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥

तुम अवस्थामें सबसे वृद्ध, वैदिक और लौकिक आचारोंसे युक्त और राजधर्म आदि सम्पूर्ण धर्मोंके जाननेवाले हो ॥ ३४ ॥

जन्मप्रभृति ते कश्चिद्वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारमनुधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥ ३५ ॥

जन्मसे आजपर्यन्त कोई पुरुष तुम्हारा कुछ भी पापाचरण नहीं देख सका; विशेष करके पृथ्वीके सम्पूर्ण राजा लोग तुम्हें सब मनुष्य धर्मोंका जाननेवाला समझते हैं ॥ ३५ ॥

तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन्ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्च हि देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥

बाल्यावस्थासे ही तुमने देवता और ऋषियोंकी सदा उपासना की है; इससे जैसे पिता पुत्रोंको उत्तम नीतिका उपदेश करता है, वैसे ही तुम भी इन राजाओंका उत्तम नीति धर्मका उपदेश करो ॥ ३६ ॥

तस्माद्वक्तव्यमेवेह त्वया पश्चादशेषतः ।
धर्माञ्शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥

प्राचीन पण्डितोंने धर्मविषय ऐसा कहा है, कि श्रेष्ठ विद्वान् धर्म जिज्ञासु होकर जब प्रश्न करे, तो उसे अवश्य सम्पूर्ण तया धर्मोपदेश करना उचित है ॥ ३७ ॥

वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भवति प्रभो ॥ ३८ ॥

इससे धर्म विषय सुननेके अभिलाषी राजाओंको उपदेश करना तुम्हारा कर्त्तव्य कार्य है। प्रभो ! धर्मजिज्ञासु पुरुषको उपदेश न करनेसे दुःखदायक दोषकी प्राप्ति होती है; ऐसा ही शास्त्रोंमें वर्णित है ॥ ३८ ॥

तस्मात्पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान्पृष्टः सनातनान् ।
विद्वाञ्जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ १८१९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इससे तुम्हारे ये पुत्र तथा पौत्र लोग धर्मजिज्ञासु होकर जो कुछ प्रश्न करें, तुम प्रश्नके अनुसार ही उन लोगोंको सनातन धर्मोपदेश करो तुम धर्मशास्त्रोंके विद्वान् हैं ॥३९॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ १८१९ ॥

। ५५ ।

वैशम्पायन उवाच—

अथाब्रवीन्महातेजा वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान्प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ।
तव प्रसादाद्गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके अनन्तर कुरुकुलनन्दन महातेजस्वी भीष्म यह वचन बोले— हे गोविन्द ! तुम सब प्राणियोंके नित्य आत्मस्वरूप हो; तुम्हारी कृपासे मेरा वचन और मन दृढ हुआ है; इससे मैं प्रसन्नताके सहित धर्मकथा कहूंगा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरस्तु मां राजा धर्मान्समनुपृच्छतु ।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान्वक्ष्यामि चानघ ॥ २ ॥

हे अनघ ! राजा युधिष्ठिर धर्मविषयमें मुझसे प्रश्न करे, तो मैं प्रसन्न होकर सब धर्मविषयोंकी व्याख्या करूंगा ॥ २ ॥

यस्मिन्राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन्नृषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥

जिस राजर्षिश्रेष्ठ ! धर्मशील महात्मा पुरुषके जन्म लेनेपर सब ऋषि लोग आनन्द सागरमें मग्न हुए थे; वह पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करे ॥ ३ ॥

सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम् ।
यस्य नास्ति समः कश्चित्स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ४ ॥

समस्त यशस्वी, धर्मचारी कौरवोंके बीच कोई भी जिसके समान नहीं है; वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ४ ॥

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥

धृति, दम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, बल और तेज जिसमें सदा विद्यमान रहता है, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ५ ॥

सत्यं दानं तपः शौचं शान्तिर्दाक्ष्यमसंभ्रमः।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ६ ॥

सत्य, दान, तपस्या, वीरता, शान्ति, दक्षता और सावधानता आदि सम्पूर्ण गुण जिसमें सदासर्वदा विराजमान रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ६ ॥

यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात्।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥

जो धर्मात्मा काम, क्रोध, भय, लोभ और अर्थके वशमें होकर कदापि अधर्म कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होते; वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ७ ॥

संबन्धिनोऽतिथीन्भृत्यान्संश्रितोपाश्रितांश्च यः।
संमानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥

जो सम्बन्धी, अतिथि, सेवक, आश्रित तथा उपाश्रितोंको यथा योग्य आदरके सहित सम्मानित करते हैं; वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ८ ॥

सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ९ ॥

जो सत्य, क्षमा और ज्ञान विषयमें सदा दृढताके सहित स्थित रहते हैं; और जो नित्य अतिथीके प्रेमी और सत्पात्रको सदा दान देते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें॥९॥

इज्याध्ययननित्यश्च धर्मे च निरतः सदा।
शान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥

जो यज्ञ, अध्ययन, धर्म और शान्तिमार्गमें सर्वदा रत रहते हैं, जिन्होंने धर्म शास्त्रोंके सम्पूर्ण रहस्योंको सुना है; वही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे धर्म विषयमें प्रश्न करें ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच—

लज्जया परयोपेतो धर्मात्मा स युधिष्ठिरः।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले– हे कौरव शिरोमणि ! धर्मात्मा युधिष्ठिर अत्यन्त लज्जित हैं; वे शापके भयसे डरे हैं, इस कारण वे आपके समीप नहीं आते हैं ॥ ११ ॥

लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशां पते ।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ १२ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! लोकनाथ युधिष्ठिरने जगतका नाश कराया है, अतः शापके भयसे त्रस्त हुए हैं ; इसलिये आपके निकट नहीं आते हैं ॥ १२ ॥

पूज्यान्मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून्संबन्धिबान्धवान् ।
अर्घ्यार्हानिषुभिर्हत्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥ १३ ॥

उन्होंने गुरु आदि पूज्य पुरुषों और सेवक सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव ब्रह्मवादी भक्त और माननीय पुरुषोंका कुरुक्षेत्रके युद्धमें बाणोंसे वध किया है; इसी कारण शापके भयसे भयभीत हुए हैं; इसीसे वह तुम्हारे सम्मुख आनेमें समर्थ नहीं होते हैं; क्योंकि जिन लोगोंका नाना भांतिकी वस्तुओंसे सन्मान करना उचित था, उनके शरीरको अस्त्रोंसे छेदन किया है; इस ही निमित्त धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हारी दृष्टिके सम्मुख नहीं स्थित हो सकते हैं ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥

भीष्म बोले— हे श्रीकृष्ण ! जैसे ब्राह्मणोंके निमित्त दान, अध्ययन और तपस्या ही धर्म है, वैसे ही क्षत्रियोंके निमित्त युद्धमें शत्रुओंके शरीरको अस्त्रोंसे छेदन करना ही धर्म है ॥ १४ ॥

पितॄन्पितामहान्पुत्रान्गुरून्संबन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान्यः संख्ये निहन्याद्धर्म एव सः ॥ १५ ॥

पिता, पितामह, पुत्र, गुरु, सम्बन्धी— बान्धव आदिक कोई क्यों न हों, यदि वे लोग असत्यके मार्गपर चलते हैं, तो उस ही समय युद्धमें उनका वध करना उचित है, क्योंकि यही क्षत्रियोंका धर्म है; शास्त्रोंमें ऐसा ही वर्णित है ॥ १५ ॥

समयत्यागिनो लुब्धान्गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान्क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १६ ॥

हे केशव ! जो धर्म नियमोंका उल्लङ्घन करनेवाले, लोभी, पापी— अत्याचारी गुरुओंका युद्धभूमिमें वध करता है, वही धर्मको जाननेवाला क्षत्रिय है ॥ १६ ॥

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

युद्धमें आह्वान करनेपर अपना आत्मीय और पराया विचार न करके श्रेष्ठ क्षत्रिय पुरुषको उनके संग सदा युद्धमें प्रवृत्त होना उचित है; क्योंकि भगवान् मनुने युद्धको क्षत्रियके निमित्त धर्मका पोषक, स्वर्गकी प्राप्तिका सहाय्यक और जगत्में यशदायक कहके वर्णन किया है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच —

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले— धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मका वचन सुनके अत्यन्त विनीत भावसे उनके पास जाकर उनकी दृष्टिके सम्मुख उपस्थित हो गये ॥ १८ ॥

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चाभिननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत्तदा ॥ १९ ॥

फिर उनके दोनों चरणोंको छूके उन्हें प्रणाम किया । तब भीष्मने उनका मस्तक सूंघके उन्हें आश्वासित करके आनन्दित किया और बैठजाओ ऐसा कहा ॥ १९ ॥

तमुवाचाथ गाङ्गेय ऋषभः सर्वधन्विनाम् ।
पृच्छ मां तात विस्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ १८३९ ॥

अनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गंगापुत्र भीष्म–युधिष्ठिरको यह वचन बोले, हे कुरुकुल तिलक ! हे तात ! तुम निर्भयताके सहित शुद्ध चित्तसे मेरे समीप प्रश्न करो । तुम कुछ भी भय मत करो ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ १८३९ ॥

: ५६ :

वैशम्पायन उवाच —

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम् ।
अनुमान्य गुरून्सर्वान्पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने हृषीकेश श्रीकृष्ण और भीष्मको प्रणाम करके, उस स्थलमें स्थित सब गुरुजनोंकी अनुमतिसे प्रश्न करना आरम्भ किया ॥ १ ॥

राज्यं वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद्ब्रूहि पार्थिव ॥ २ ॥

हे पितामह ! धर्म जाननेवाले विद्वान् राजधर्मको ही परम धर्म समझते हैं और मैं उसके भारको ग्रहण करना अत्यन्त कठिन समझता हूं; हे राजन् ! इससे आप राजधर्मका ही उपदेश करिये ॥ २ ॥

राजधर्मान्विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्माः परायणम् ॥ ३ ॥

पितामह ! राज धर्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनका अवलम्बरूप है; इसलिये आप राजधर्मोंका ही विशेष रूपसे वर्णन करिये ॥ ३ ॥

×

त्रिवर्गोऽत्र समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥

क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग और मोक्षधर्म— ये सब पूर्णरीतिसे राजधर्ममें ही निहित हैं, यह स्पष्ट है ॥ ४ ॥

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

जैसे घोडेको लगाम और हाथीको अंकुश नियममें स्थित रखता है, वैसे ही राज्यधर्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य नियमोंमें स्थित रखनेमें समर्थ माना गया है ॥ ५ ॥

अत्र वै संप्रमूढे तु धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत्सर्वं च व्याकुलं भवेत् ॥ ६ ॥

यदि राज-ऋषियोंसे सेवित राजधर्ममें राजाको मोह उपस्थित होवे, तो जगत्के सम्पूर्ण नियम तितर बितर होजायं और उससे सम्पूर्ण प्रजा इकबारगी व्याकुल हो जायं ॥ ६ ॥

उदयन्हि यथा सूर्यो नाशयत्यासुरं तमः ।
राजधर्मास्तथालोक्यामाक्षिपन्त्यशुभां गतिम् । ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य उदय होकर महाघोर अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, वैसे ही राजधर्मसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी अशुभ गति निवारित होती है ॥ ७ ॥

तदग्रे राजधर्माणामर्थतत्त्वं पितामह ।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि बुद्धिमतां वरः ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ पितामह ! आप सम्पूर्ण बुद्धिमान् पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं; इससे पहिले मुझे राजधर्मोंके अर्थ-रहस्यका उपदेश कीजिये ॥ ८ ॥

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परंतप ।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥ ९ ॥

हे शत्रुनाशन ! जब कि श्रीकृष्ण भी आपको परमज्ञानी समझते हैं, तो आपके निकट धर्मशास्त्रोंके उमत्त सिद्धान्तका उपदेश सुनना ही हम लोगोंके निमित्त कल्याकारी है ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १० ॥

भीष्म बोले— मैं महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, ब्राह्मणों और उस महत् धर्मको नमस्कार करके नित्य-सनातन धर्मोंकी व्याख्या करूंगा ॥ १० ॥

शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान्युधिष्ठिर ।
निरुच्यमानान्नियतो यच्चान्यदभिवाञ्छसि ॥ ११ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! मैं सम्पूर्ण रूपसे राजधर्मोंका वर्णन निश्चय करके कहता हूं, तुम चित्त लगाके पूर्ण रीतिसे राज्यधर्म तथा अन्य धर्म भी जिसके सुननेकी तुम्हारी इच्छा हो, मुझसे सुनो ॥ ११ ॥

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया ।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाको प्रथम प्रजाके अनुरागपात्र होनेके निमित्त शास्त्रविधिके अनुसार देवता और ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा और भक्तिपूर्वक वर्ताव करना चाहिये ॥ १२ ॥

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह ।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च स मान्यते ॥ १३ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! राजा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे धर्मके ऋणसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्रजाओंमें श्रद्धाभाजन और सम्माननीय होता है ॥ १३ ॥

उत्थाने च सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थप्रसिद्धये ॥ १४ ॥

हे पुत्र युधिष्ठिर ! तुम सदासर्वदा पुरुषार्थके निमित्त यत्न करना । पुरुषके उद्योगके विना केवल दैवके आसरे राजाओंके कार्य नहीं सिद्ध हो सकते ॥ १४ ॥

साधारणं द्वयं ह्येतद्दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्यमुच्यते ॥ १५ ॥

भाग्य और पुरुषार्थमें दोनों कार्यकी सिद्धिके लिये साधारण कारण माने जानेपर भी मैं पुरुषार्थको श्रेष्ठ समझता हूं; प्रारब्ध–भाग्य पहलेसे ही निश्चित किया गया है ॥ १५ ॥

विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः ।
घटते विनयस्तात राज्ञामेष नयः परः ॥ १६ ॥

यदि दैवी संयोगसे आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल हो जावे, अथवा उसमें बाधा पड जाय, तौभी मनमें कदापि दुःखित होना नहीं चाहिये; फिर द्विगुणित यत्नके सहित उसे सिद्ध करनेके निमित्त पुरुषार्थ कार्यमें प्रवृत्त होना उचित है; क्योंकि यही राजाओंकी परम नीति है ॥ १६ ॥

न हि सत्यादृते किंचिद्राज्ञां वै सिद्धिकारणम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥

सत्य जिस प्रकार राजाओंके कार्यको सिद्ध करनेवाला है, वैसा दूसरे किसी यत्नसे भी राजाओंके कार्य सिद्ध नहीं हो सकते; सत्यमें ही तत्पर रहनेवाला राजा इस लोक और पर-लोकमें परम आनन्द प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञः परं सत्यान्नान्यद्विश्वासकारणम् ॥ १८ ॥

हे राजेन्द्र ! सत्य ऋषियोंका भी परम धन है और राजाओंका भी प्रजामें उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करानेका कारण सत्यके अतिरिक्त दुसरा कुछ भी साधन नहीं है ॥ १८ ॥

गुणवाञ्शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः ।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥

गुणवान्, शीलयुक्त, संयमी, दयावान, धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय प्रसन्नमुख और प्रजाके ऊपर प्रीति करनेवाले उदार चित्त राजा कदापि श्रीभ्रष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन ।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥

हे कुरुनन्दन ! अपने छिद्रोंको छिपाना और पराये छिद्रको अन्वेषण करते हुए अपने विचारोंको गुप्त रखना इन तीन बातोंमें और न्यायके अनुसार विचार पूर्वक समस्त कार्योंमें सरलताका अवलम्बन करना चाहिये ॥ २० ॥

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाचर ॥ २१ ॥

राजाके मृदुभाव अवलम्बन करनेसे सम्पूर्ण प्रजा उसके नियमोंको अतिक्रम करती है और कठोर भाव ग्रहण करनेसे सब कोई उसके भयसे व्याकुल होते हैं; इससे तुम्हें यथा योग्य कोमलता और कठोरता दोनोंका ही अवलम्बन करना उचित है ॥ २१ ॥

अदण्ड्याश्चैव ते नित्यं विप्राः स्युर्ददतां वर ।
भूतमेतत्परं लोके ब्राह्मणा नाम भारत । ॥ २२ ॥

हे उदारबुद्धि भारत युधिष्ठिर ! तुम कदापि ब्राह्मणोंको दण्ड विधान मत करना; क्योंकि इस लोकमें तपके प्रभावसे ब्राह्मण ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २२ ॥

मनुना चापि राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना ।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

हे राजेन्द्र ! महात्मा मनुभगवानने इस विषयमें दो श्लोक कहे हैं, तुम्हें निज धर्मविषयमें उन दोनों श्लोकोंको हृदयङ्गम करना उचित है ॥ २३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥

"जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है; इससे उनका तेज सम्पूर्ण स्थानोंमें पूर्ण होनेपर भी सयोनिमें शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अयो हन्ति यदाश्मानमग्निश्चापोऽभिपद्यते ।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥

जिस समय लोहा पत्थरको विदीर्ण करता है, अग्नि जलको सुखाती है, क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करता है; उस समय वे शीघ्र ही तेजभ्रष्ट होके नष्ट होते हैं।" ॥ २५ ॥

एतज्ज्ञात्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः ।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति शमान्विताः ॥ २६ ॥

हे राजेन्द्र ! यह जानकर तुम्हें ब्राह्मणोंको सदा प्रणाम करना योग्य है; श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग पूर्ण रीतिसे पूजित तथा शान्त होनेसे वेद और यज्ञोंको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

एवं चैव नरव्याघ्र लोकतन्त्रविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥

हे पुरुषर्षभ ! ऐसा होनेपर भी यदि ब्राह्मण लोकतंत्रका विनाश करनेका प्रयत्न करे तो उन्हें बाहुबलके सहारे पराजित करके नियंत्रणमें रखना उचित है ॥ २७ ॥

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाप्राज्ञ त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥

हे तात ! पहिले समयमें महर्षि शुक्राचार्यने जो दो श्लोकोंको गाया था, उन दोनोंको तुम चित्त लगाके सुनो ॥ २८ ॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात्स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नरेश्वरः ॥ २९ ॥

"वेदवेदान्त जाननेवाला ब्राह्मण यदि शस्त्र ग्रहण करके युद्धभूमिमें आगमन करे, तो धर्मपालनके अभिलाषी राजा अपने धर्मके अनुसार युद्ध करके उसे बांधके कैद करे ॥ २९ ॥

विनश्यमानं धर्मं हि यो रक्षति स धर्मवित् ।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३० ॥

जो आततायी पुरुषसे नष्ट होते हुए धर्मकी सब भांतिसे रक्षा करता है, वही धर्म जाननेवाला धर्मात्मा राजा कहाता है; आततायी पुरुषका वध करनेसे वह भ्रूण हत्यारा नहीं माना जाता आततायीका क्रोध ही दूसरेको उत्तेजित करके उनके क्रोधसे अपना नाश करता है, इससे आततायीके मारनेसे पाप नहीं होता ॥ ३० ॥

एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः ।
स्वपराद्धानपि हि तान्विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥

हे नरनाथ ! इतना होनेपर भी ब्राह्मणोंकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये; ब्राह्मण यदि अपराध करें, तो उन्हें राज्यसे बाहर करना चाहिये; परन्तु प्राण नाश करना उचित नहीं है ॥ ३१ ॥

अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशां पते ।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥

हे प्रजानाथ ! इनमें कोई दोषयुक्त हो तौभी उसके ऊपर कृपा प्रकाश करना कर्त्तव्य है । ब्रह्महत्या, गुरुपत्नी सहवास और भ्रूणहत्या आदि तीन प्रकारके पापग्रस्त ॥ ३२ ॥

राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ।
विधीयते न शारीरं भयमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥

तथा राजद्रोही होने पर ब्राह्मणको निजराज्यसे बाहर कर देनेका ही विधान है; परन्तु उसे शारीरिक दण्ड भय देना कभी भी उचित नहीं है ॥ ३३ ॥

दयिताश्च नरास्ते स्युर्नित्यं पुरुषसत्तम ।
न कोशः परमो ह्यन्यो राज्ञां पुरुषसंचयात् ॥ ३४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये लोग सदैव सबके प्रिय होते हैं; क्योंकि राजाओंके चाहे कितनाही धन रत्नसे युक्त खजाना क्यों न होवे, ब्राह्मण भक्त पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा कोई भी कोष उत्तम नहीं कहा जा सकता ॥ ३४ ॥

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः ।
सर्वेषु तेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥

महाराज ! मरु (बालुकामय स्थान), जल, भूमि, वन, पर्वत और मनुष्य इन छः प्रकारके दुर्गोंमें मानवदुर्ग मुख्य है; और शास्त्रोंको जाननेवाले पण्डित सभी दुर्गोंमें मनुष्य दुर्गको ही अति दुस्तर कहके वर्णन करते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक्चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ ३६ ॥

इससे बुद्धिमान् राजाको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी प्रजाके ऊपर दया प्रकाशित करनी उचित है । धर्मात्मा और सत्यवादी राजा ही सम्पूर्ण प्रजाओंको प्रसन्न रखा सकता है ॥ ३६ ॥

न च क्षान्तेन ते भाव्यं नित्यं पुरुषसत्तम ।
अधर्म्यो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥ ३७ ॥

हे पुरुषसत्तम तुम सदा क्षमायुक्त नहीं रहना; क्योंकि क्षमाशील हाथीके समान मृदुस्वभाव युक्त राजा होनेसे धर्म विरोधी कहा जाता है ॥ ३७ ॥

बार्हस्पत्ये च शास्त्रे वै श्लोका विनियताः पुरा ।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३८ ॥

महाराज ! इस विषयमें बृहस्पति प्रणीत शास्त्रमें जो प्राचीन श्लोक कथित है, उसे मैं वर्णन करता हूं, चित्त स्थिर करके सुनो ॥ ३८ ॥

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥

जैसे महावत क्षमाशील हाथीके मस्तकपर ही चढनेकी इच्छा करता है, वैसे ही राजाके क्षमाशील होनेपर नीच पुरुष उसकी आज्ञाकी उल्लङ्घन करके मनमाना कार्य करते हैं ॥ ३९ ॥

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो वापि भवेन्नृपः ।
वसन्तेऽर्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥

इससे जैसे वसन्त ऋतुके सूर्य अत्यन्त शीतल और प्रचण्ड किरणधारी तथा बहुत तेजस्वी नहीं होते, वैसे ही राजाको भी सदा अत्यन्त मृदु वा अत्यंत कठोर भाव अवलम्बन करना उचित नहीं है ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्योपदेशतः ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव सर्वदा ॥ ४१ ॥

महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि प्रमाणोंसे शत्रुमित्रोंकी सदा परीक्षा करनी उचित है ॥ ४१ ॥

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत संङ्ग तु परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम मृगया आदि सम्पूर्ण व्यसनोंको परित्याग करो; परन्तु इकबारगी परित्याग न करके केवल मात्र उसमें आसक्ति रहित होना ही उचित है ॥ ४२ ॥

नित्यं हि व्यसनी लोके परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं चाप्यतिद्वेषी महीपतिः ॥ ४३ ॥

व्यसनोंमें फंसा हुआ राजा सदा प्रजाओंके अनादरका पात्र होता है; राजा यदि सबका अत्यंत द्वेष करता है, तो वह लोगोंको उद्विग्न करता है ॥ ४३ ॥

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज श्रृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥

महाराज ! इससे गर्भ धारण करनेवाली माता जैसे गर्भस्थित बालकके निमित्त व्यवहार करती है; वैसे ही राजाको भी प्रजाको पालन करना योग्य है । जिस कारणसे ऐसी उपमा दीगई है, उसे सुनिये ॥ ४४ ॥

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥

जैसे गर्भधारिणी माता अपने इच्छानुसार निज इष्ट वस्तुओंको त्यागके भी गर्भस्थ बालकके कल्याणकी चेष्टा करती है; उसी भांति प्रजा समूहके मङ्गलकी इच्छासे राजाको भी निःसंदेह कार्य करना उचित है ॥ ४५ ॥

वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ नित्यं धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं समभित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥

हे कुरुनन्दन ! जिन कार्योंके करनेसे प्रजाका कल्याण हो, अपने मनकी अभिलाषा त्यागके भी सदा उस ही धर्मका अनुगामी धर्मात्मा राजाको होना चाहिये ॥ ४६ ॥

न संत्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न ह्याज्ञा प्रतिहन्यते ॥ ४७ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! तुम्हें कभी भी धीरज रहित नहीं होना चाहिये; क्योंकि राजाके धीर और दण्डधारी होनेसे उसकी आज्ञाका उल्लंघन होनेका भय उपस्थित नहीं होता ॥ ४७ ॥

परिहासश्च भृत्यैस्ते न नित्यं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे श्रृणु ॥ ४८ ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजशार्दूल ! सेवकोंके सङ्ग सदा परिहास करना उचित नहीं हैं; क्योंकि उससे जो दोष उत्पन्न होता है, मैं उसे वर्णन करता हूं, सुनो ॥ ४८ ॥

अवमन्यन्ति भर्तारं संहर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति हि तद्वचः ॥ ४९ ॥

उपजीवी सेवकोंके सङ्ग सदा सहवास करनेसे वे लोग स्वामीका पूर्णरीतिसे सम्मान नहीं करते; अपमान करते हैं; अपनी मर्यादाका अतिक्रम करके स्वामीकी आज्ञा उल्लंघन करते हैं ॥ ४९ ॥

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्तेऽभोज्यान्याहारयन्ति च ॥ ५० ॥

किसी कार्यके लिये भेजे जानेपर, उस समय सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिमें संशय उत्पन्न करते हैं, गोपन करने योग्य छिद्रोंको प्रकाशित कर देते हैं; जो वस्तु मांगने योग्य नहीं हैं, उन्हें भी मांगते हैं; राजाके सम्मुखमें ही उसके भोजनकी वस्तुओंको स्वयं खाते हैं ॥ ५० ॥

क्रुध्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिमध्यासतेऽस्य च ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥

और उसके ऊपर क्रोध कर राजाकी बुद्धिसे भी अपनी बुद्धिकी श्रेष्ठता प्रकाशित करने लगते हैं वे लोग राज शासन अतिक्रम करके लोगोंसे घूस लेकर और धोका देकर राजाके समीप उनके मिथ्या गुण दोषोंको वर्णन करके सम्पूर्ण कार्योंको नष्ट कर देते हैं ॥ ५१ ॥

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥५२॥

कृत्रिम आज्ञापत्र बनाके राजाके अधिकृत देशोंको निःसार करते हैं; राजा जैसा वस्त्र पहिनता है, वे लोग अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंके रक्षकोंसे मिल जाते हैं और उनके समान वेषभूषा धारण करके वहां घूमते हैं ॥५२॥

वातं च ष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य संनिधौ।
निर्लज्जा नरशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥५३॥

वैसे सेवक लोग ऐसे निर्लज्ज हो जाते हैं, कि राजाके सम्मुखमें ही बडे आवाजके साथ जमुआई करते हैं और जोर जोरसे थूंकते हैं और राजाके अत्यन्त गुप्त विषयोंको भी दूसरेके निकट प्रकाशित कर देते हैं ॥५३॥

हयं वा दन्तिनं वापि रथं नृपतिसंमतम्।
अधिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥५४॥

राजाके मृदु स्वभाव और परिहास युक्त होनेसे उपजीवी सेवक लोग राजाका अनादर करके उसके ही घोडे, हाथी और रथपर चढनेकी अभिलाषा करते हैं ॥५४॥

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुर्विचेष्टितम्।
इत्येवं सुहृदो नाम ब्रुवन्ति परिषद्गताः ॥५५॥

वे लोग सभाके बीचमें ही सुहृद पुरुषोंकी तरह बराबरीका वर्ताव करके राजाको कहा करते हैं, हे राजन्! आप इस कार्यको करनेमें समर्थ न होंगे और यह आपकी दुरभिसन्धि है ॥५५॥

क्रुद्धे चास्मिन्हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः।
संघर्षशीलाश्च सदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥५६॥

राजाके क्रोध करनेपर वे लोग हंसी करते हैं और यदि राजा सत्कार करे, तो उस समय वे लोग उसे गोपन करके हर्षित नहीं होते हैं वे सेवक परस्पर लोभ–स्वार्थके कारण राजाके साथ विवाद करते हैं ॥५६॥

विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम्।
लीलया चैव कुर्वन्ति ह्यावज्ञास्तस्य शासनम्।
अलंकरणभोज्यं च तथा स्नानानुलेपनम् ॥५७॥

वे लोग खेलवाडकी भांति राजाज्ञाकी अवज्ञा करके उसके दोषोंको प्रकाशित करते और मन्त्रणा तथा विचारको भेदकर दूसरेके निकट प्रकाशित कर देते हैं। अलंकार, भोजन, स्नान और चंदन लगाना इन कार्योंमें राजाकी अवहेलना करते हैं ॥५७॥

×

हेलमाना नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वते ।
निन्दन्ति स्वानधीकारान्संत्यजन्ति च भारत ॥ ५८ ॥

राजा पास ही खडा होकर सुनता है यह देखकर भी निर्भयताके साथ अपना मजाक उडानेका कार्य करते जाते हैं । भारत ! अपने अधिकारमें दिया कामकी निन्दा करते हैं, अधिकार छोड भी देते हैं ॥ ५८ ॥

न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ।
क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोके चैव वदन्त्युत ॥ ५९ ॥

वेतन मिलनेपर सन्तुष्ट नहीं होते और राजाको देने योग्य धन स्वयं हरण करते हैं । जिस प्रकार लोग डोरीसे बंधी हुई पक्षीके साथ खेल करते हैं, उस प्रकार वे राजाके साथ खेलना चाहते हैं; राजा हमारी आज्ञामें है ऐसा लोगोंको भी कहते हैं ॥ ५९ ॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ १८९९ ॥

हे युधिष्ठिर ! राजा विनोद करनेवाला और मृदु स्वभावका हुआ तो ये और इस प्रकारके दूसरे अनेक दोष प्रकट होते हैं ॥ ६० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ १८९९ ॥

: ५७ :

भीष्म उवाच—

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशास्यते च राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! राजाको सदा उद्यमशील होना उचित है; क्योंकि राजा स्त्रीकी भांति उद्यम रहित होनेसे प्रशंसा प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ १ ॥

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशां पते ।
तमिहैकमना राजन्गदतस्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥

हे पृथ्वीपति ! महाराज ! इस विषयमें भगवान् भृगुनन्दन शुक्राचार्यने जो एक श्लोक कहा है, उसे मैं कहता हूं । तुम चित्त लगाके मुझसे सुनो ॥ २ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ३ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको ग्रास करता है, वैसे ही शत्रुओंसे लडाई न करनेवाले राजा और जो वेदाध्ययनके निमित्त देशान्तरोंमें गमन नहीं करते, वैसे ब्राह्मण वा यतीको पृथ्वी ग्रास करती है अर्थात् वैसे राजा और ब्राह्मण शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं ॥३॥

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
संधेयानपि संधत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥ ४ ॥

हे पुरुषसिंह ! मेरा यह उपदेश तुम्हारे अन्तःकरणमें सदा विराजमान रहे, अर्थात् जिनके सङ्ग सन्धि करना उचित है, उनके सङ्ग सन्धि करो और जिनके साथ विरोध करना योग्य है, उनसे विरोध करो ॥ ४ ॥

सप्ताङ्गे यश्च ते राज्ये वैपरीत्यं समाचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥ ५ ॥

जो स्वामी, अनुयायी सेवक, सुहृद्मित्र, कोष, राष्ट्र, किला और बल–इन सप्ताङ्ग युक्त राज्य अथवा इसमें किसी एक अङ्गके सङ्ग विरुद्ध आचरण करे, तो मित्र अथवा गुरु होने पर भी उसका प्राणनाश करना उचित है ॥ ५ ॥

मरुत्तेन हि राज्ञायं वै गीतः श्लोकः पुरातनः ।
राज्याधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमतः पुरा ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! पहले इस विषयमें बृहस्पतिमतके अनुसार मरुत्तराजने राजाओंके कर्त्तव्य कर्ममें एक श्लोक कहा था, उसे सुनो ॥ ६ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ ७ ॥

अपना गुरु भी कार्याकार्य विवेकसे हीन, गर्वित और कुमार्गी हो, तो उसका त्याग करनेका विधान है ॥ ७ ॥

बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेणेह धीमता ।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥ ८ ॥

बाहुपुत्र बुद्धिमान् राजा सगरने पुरवासीयोंके हितकी अभिलाषासे अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जाका भी त्याग किया था ॥ ८ ॥

असमञ्जाः सरय्वां प्राक्पौराणां बालकान्नृप ।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः ॥ ९ ॥

राजन् ! पहिले समयमें सगर पुत्र असमञ्जा पुरवासीयोंके बालकोंको पकडकर बलपूर्वक सरयू नदीमें डुबा देता था, इसलिये उसके पिताने उसकी निन्दा करके राज्यसे बाहर निकाल दिया ॥ ९ ॥

ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्रानुपचरन्संत्यक्तो दयितः सुतः ॥ १० ॥

महातपस्वी श्वेतकेतु ब्राह्मणोंके साथ मिथ्या और कपटपूर्ण व्यवहार करता था, इस ही कारण पिताके प्रियपात्र होनेपर भी उसके पिता उद्दालक मुनिने उसे परित्याग किया था ॥ १० ॥

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥

इसलिये संसारमें सदा प्रजा रञ्जनमें प्रवृत्त रहना, सत्यकी रक्षा और व्यवहारकी सरलता ही राजाओंका सनातन धर्म है ॥ ११ ॥

न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक्क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥

पराये धनका नाश करना राजाको योग्य नहीं, जिसको जो कुछ देना हो वह उसे यथा समय पर प्रदान करना उचित है । राजा पराक्रम युक्त सत्यवादी और क्षमाशील होनेसे ही निर्दिष्ट-मार्गसे विचलित नहीं होता ॥ १२ ॥

गुप्तमन्त्रो जितक्रोधो शास्त्रार्थगतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥

जिसने मनके रहस्य और क्रोधको वशीभूत किया है, शास्त्रमें कहे हुए सिद्धान्तका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया है; जो सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्वर्गोंमें रत रहता है ॥ १३ ॥

त्रय्या संवृतरन्ध्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनस्य नरेन्द्राणां नान्यत्संवरणात्परम् ॥ १४ ॥

जिसे तीनों वेदोंका ज्ञान है, जो अपने छिद्रोंको—दोषोंको दूसरोंको ज्ञात नहीं होने देता, वही राजा होने योग्य है। राजन् ! साधारण पुरुषोंके निकट मन्त्रणा प्रकाशित होनेकी अपेक्षा राजाओंको इससे बढके और दूसरा कोई भी सङ्कट नहीं है ॥ १४ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा हि राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके धर्मोंकी रक्षा करना राजाका कर्त्तव्य कार्य है; क्योंकि धर्म सङ्कर होनेसे प्रजाको बचाना ही राजाओंका सनातन धर्म है ॥ १५ ॥

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं न विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥

राजा किसीपर विश्वास न करे; विश्वासनीय व्यक्तिका भी अत्यंत विश्वास न करे; सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय— ये राजनीतिके छः गुण हैं; इन सबके गुण-दोषोंका अपनी बुद्धिसे नित्य निरीक्षण करे ॥ १६ ॥

द्विड्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते ।
त्रिवर्गविदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥

जो राजा अपने छिद्रोंको गोपन करके शत्रुओंके छिद्रोंको देखता है, वह सदा प्रशंसनीय होता है। जो धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गोंके यथार्थ तत्वको जानता है और जो यथा योग्य स्थानोंमें जासूसोंको नियुक्त करके शत्रुपक्षीय मंत्री आदि सेवकोंके बीच धन देकर भी उन लोगोंके बीच भेद उत्पन्न कर सकता है; वह सबके निकट प्रशंसा प्राप्तके योग्य है ॥१७॥

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः ।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥

राजाको सदा अपने कोषागारको भरापूरा रखना चाहिये; तथा यमराजके समान प्रभावशाली न्यायदाता और सद्विचारक और कुवेरके तुल्य कोष सञ्चयमें रत रहे । स्थान वृद्धिनाश और जनक कार्यौंके दस अवस्था विशेपके गुण दोपोंको मालूम करना राजाका कर्त्तव्य कार्य है ॥ १८ ॥

अभृतानां भवेद्भर्ता भृतानां चान्ववेक्षकः ।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात्स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥ १९ ॥

जिनके भरण–पोषणका प्रवन्ध न हो, उनका पोपण राजा करे और जिनका भरण पोपण चल रहा हो, उनकी देखभाल करे; सदा प्रसन्न मुखवाला और हंसके बातचित करे ॥१९॥

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रीरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तो ह्याचारदर्शिनः ॥ २० ॥

राजा वृद्धोंकी उपासना–सेवा करे, आलसरहित और लोभहीन होवे । साधु–पुरुषोंके गमन करने योग्य मार्गसे विचरण करे और प्रजासमूहके संग प्रसन्नता सहित रहकर उन्हें आनन्दित करे, आचार–व्यवहारसे आदरणीय होवे ॥ २० ॥

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात्कदाचन ।
असद्भ्यस्तु समादद्यात्सद्भ्यः संप्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥

साधु पुरुषोंके हाथसे धन छीन लेना कभी भी उचित नहीं हैं, वरन असाधु पुरुषोंसे धन लेना चाहिये; साधुओंको तो दान करना उचित है ॥ २१ ॥

स्वयं प्रहर्तादाता च वश्यात्मा वश्यसाधनः ।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥ २२ ॥

स्वयं अदाता दुष्टोंपर प्रहार करे; जितेन्द्रिय तथा विनीत भावोंसे युक्त रहे; यथासमय दान करे और योग्य भागोंका उपभोग करे; शुद्धाचारी रहे ॥ २२ ॥

शूरान्भक्तानसंहार्यान्कुले जातानरोगिणः ।
शिष्टाञ्शिष्टाभिसंबन्धान्मानिनो नावमानिनः ॥ २३ ॥

जो सब मनुष्य शूरवीर, स्वामीभक्त, दृढ निश्चयी, रोगहीन, उत्तम शिष्टाचार और सुशील परिवारयुक्त, जो दूसरेसे प्रतारित नहीं होते मानो किसीकी अवमानना नहीं करते ॥ २३ ॥

विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ।
धर्मेषु निरतान्साधूनचलानचलानिव ॥ २४ ॥

विद्वान् , धार्मिक, साधु और पर्वतोंके समान स्थिरस्वभाववाले हैं; सब लोगोंके चरित्रोंको व्यवहारको जानते, और शत्रुओंपर दृष्टि रखनेवाले होते हैं ॥ २४ ॥

सहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपुरस्कृतः ।
तैस्तुल्यश्च भवेद्भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥

राजा वैसे ही पुरुषोंको सदा अपना सहायक बनावे और ऐश्वर्यका पुरस्कार दे; उनके संग समान भावसे विषयादिकोंको भोगे; केवल मात्र राज छत्रधारण और राजाज्ञाप्रचार करनेमें ही राजाकी उन लोगोंसे अधिकता रहती है ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत्सदा ।
एवं कृत्वा नरेन्द्रो हि न खेदमिह विन्दति ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारकी वृत्तिको समभावसे परीक्षा करके कार्यमें प्रवृत्त होनेसे राजाको दुःखभागी नहीं होना पडता ॥ २६ ॥

सर्वातिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् ।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बाध्यते ॥ २७ ॥

राजा यदि किसीका भी विश्वास न करे, अथवा लोभके वशमें होकर दूसरेकी वृत्तिमें व्यर्थ दोष लगाके उसके धनको हरण करे, तो उसके स्वजन पुरुष थोडे ही समयमें उसका नाश कर देते हैं ॥ २७ ॥

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः ।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ २८ ॥

जो शुद्धचरित्रवाला राजा सदा सर्वदा प्रजासमूहको आनन्दित करनेमें प्रवृत्त रहता है, वह कभी भी शत्रुओंसे पराजित होके स्थानभ्रष्ट नहीं होता; यदि शत्रुओंसे पराजित भी हुआ तौभी वह शीघ्र ही सहायकोंको पाकर निज पदपर फिर प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अक्रोधनोऽथाव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥

राजा यदि क्रोधहीन, निर्व्यसनी मृदु दण्ड देनेवाला, और जितेन्द्रिय होवे, तो वह हिमालयके समान स्थिर होकर सम्पूर्ण प्रजाओंका विश्वासपात्र होता है ॥ २९ ॥

प्राज्ञो न्यायगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः ।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तथा ॥ ३० ॥

जो राजा बुद्धिमान, न्यायशील, पराये छिद्रोंका अनुसन्धान करनेवाला, प्रसन्नमुख, चारों वर्णोंको यथा नियमोंमें स्थित करनेवाला, उनके न्याय–अन्यायको समझनेवाला ॥ ३० ॥

क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः ।
अरोगप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥ ३१ ॥

कार्य शीघ्र करनेवाला, क्रोध रहित, कृपा करनेवाला, मनस्वी, निरोगी, उद्योगी, आत्मश्लाघा-रहित होकर योगाभ्यासमें रत रहता है ॥ ३१ ॥

आरब्धान्येव कार्याणि न पर्यवसितानि च ।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥ ३२ ॥

तथा जिसके अनुष्ठित सभी कार्य निर्विघ्नताके सहित समाप्त होते दिखायी देते हैं; वह राज-सत्तम कहाता है ॥ ३२ ॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥

जैसे पुत्र पिताके गृहमें निर्भयचित्तसे निवास करते हैं, वैसे ही जिसके राज्यमें सम्पूर्ण मनुष्य निर्भयताके सहित सब स्थानोंमें भ्रमण करते हैं; वह राजसत्तम कहा जाता है ॥ ३३ ॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ३४ ॥

जिसके राज्यमें रहनेवाले लोग चोरोंसे अभय होकर अपने धनको छिपाकर नहीं रखते तथा न्याय–अन्यायको समझतें हैं, वह राजसत्तम राजा है ॥ ३४ ॥

स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः ।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥ ३५ ॥

जिसके राज्यमें रहनेवाले लोग यथाविधि संरक्षित होकर अपने धर्म–कर्मोंमें रत होकर, आसक्तिरहित और जितेन्द्रिय हैं ॥ ३५ ॥

वश्या नेया विनीताश्च न च संघर्षशीलिनः ।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥

और जिसके राज्यभरकी सब प्रजा राजाके वशमें स्थिर, शिक्षित और विनीत, नीतिनिपुण राजाज्ञाकी पालन करनेवाली, ऐश्वर्ययुक्त, और दान धर्ममें रत रहके यथा रीतिसे पालित और शाशित होकर आपसमें विरोध न करके निज निज कर्त्तव्य कर्मोंमें तत्पर रहती है; वही राजा श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ ३६ ॥

न यस्य कूटकपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥

जिस राजाके राज्यमें कूटनीति, कपट, चोरी, डकैती, माया, मत्सर और अधर्म आदि नहीं होते, वह सनातन धर्मका पालन करनेवाला राजा होता है ॥ ३७ ॥

यः सत्करोति ज्ञानानि नेयः पौरहिते रतः ।
सतां धर्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥

जो ज्ञानवान् पण्डितोंका आदर करता है शास्त्रोंको पढता है, नीतिमान् है और पुरवासी तथा सम्पूर्ण प्रजाके हितमें तत्पर रहता है, श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्म मार्गसे गमन करनेवाला दानशील त्यागी पुरुष ही राजा होनेके योग्य है ॥ ३८ ॥

यस्य चारश्च मन्त्रश्च नित्यं चैव कृताकृते ।
न ज्ञायते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चित किये हुए करने योग्य कर्म और किये हुए कर्म शत्रुओंसे कभी जाने नहीं जाते; वही राजा होनेके योग्य पुरुष है ॥ ३९ ॥

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥

हे राजेन्द्र ! महात्मा भृगुनन्दन शुक्राचार्यने पहिले समयमें राजाके प्रति रामचरित्रका वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा था ॥ ४० ॥

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥ ४१ ॥

“ प्रजाको चाहिये कि राजाको ही सबसे श्रेष्ठ समझके उसकी रक्षा करे, उसके अनन्तर भार्या और धनकी रक्षामें यत्नवान् होवे; क्योंकि राजाके न रहने पर उसकी भार्या कैसे सुखी रहेगी, और धनकी रक्षा भी किस प्रकार हो सकती है ? इससे सब लोगोंको सब भांतिसे राजाकी रक्षा करना ही कर्त्तव्य है ॥ ४१ ॥

तद्राजन्राजसिंहानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां सुविस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारणम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! इसी प्रकार राज्यकी अभिलाषा करनेवाले राजसिंहोंको भी प्रजाकी पूर्णरीतिसे रक्षाके अतिरिक्त सनातन धर्म दूसरा नहीं है; क्योंकि उनकी रक्षा ही प्रजाको प्रसन्न करनेका मूल कारण है ॥ ४२ ॥

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥

हे राजेन्द्र ! राजधर्मके विषयमें प्राचेतस मनुने जो दो श्लोक कहे हैं; मैं उन दोनों श्लोकोंको उदाहरण स्वरूपसे वर्णन करता हूं तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४३ ॥

षडेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ १९४४ ॥

मनुष्यको उचित है, कि उपदेश न करनेवाले गुरु–आचार्य, वेदपाठ तथा अध्ययन हीन पुरोहित–ऋत्विज, रक्षा न करनेवाले राजा अप्रिय वचन बोलनेवाली भार्या ग्राममें रहनेकी अभिलाषा करनेवाले गोपाल और वनवासकी इच्छावाले नाई इन छः व्यक्तियोंको इस प्रकार त्याग देवे, जैसे समुद्रमें नावपर चढनेवाले पुरुष टूटी हुई नौकाको त्याग देते हैं ॥ ४४–४५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ १९४४ ॥

---

५८ :

भीष्म उवाच—

एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
बृहस्पतिर्हि भगवान्नान्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! संपूर्ण राज्यकी प्रजाकी रक्षा करना ही राजधर्मका सार है मैंने जो यह तुमसे कहा है वह राजधर्मका नवनीत है; क्योंकि भगवान् बृहस्पतिने इसके अतिरिक्त दूसरे किसी धर्मकी प्रशंसा नहीं की है ॥ १ ॥

विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥ २ ॥

भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य, सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र, प्राचेतस मनु ॥ २ ॥

भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥

भगवान् भरद्वाज और गौरशिरा मुनि आदि धार्मिक ब्राह्मण राजशास्त्रके प्रणेता और ब्रह्मवादी लोग हैं ॥ ३ ॥

×

रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर ।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र वै शृणु ॥ ४ ॥

ये सब राजाके लिये लोकरक्षारूपी राजधर्म की ही प्रशंसा किया करते हैं । हे धार्मिक पुरुषोंमें अग्रणी कमलनयन युधिष्ठिर ! इस समय लोकरक्षा विषयक सम्पूर्ण साधनों युक्तियोंको सुनो ॥ ४ ॥

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरः ।
युक्त्वादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! यथा नियमपूर्वक जासूसोंको नियत करना, दूसरे राज्योंमें दूत भेजना, समयानुसार दान करना, मत्सर रहित रहना, उत्तम युक्ति कर ग्रहण करना, दुष्ट उपायके सहारे प्रजासे धन संग्रह न करना ॥ ५ ॥

सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥ ६ ॥

साधु पुरुषोंका संग्रह करना, समयके अनुसार वीरता, कार्यदक्षता और सत्यभाषण करना, प्रजाके हित साधनमें तत्पर रहना, सरल वा कुटिल उपायोंको अवलम्बन करके शत्रुपक्षके मनुष्योंके बीच मतभेद करना ॥ ६ ॥

साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥ ७ ॥

साधु पुरुषोंका परित्याग न करना, उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको यथा योग्य कार्योंपर नियुक्त करना, जिन्हें संग्रह करना योग्य है उन वस्तुओंका संग्रह करना, बुद्धिमानोंकी सेवा ॥ ७ ॥

बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥ ८ ॥

सेनाके पुरुषोंको पुरस्कार आदिसे उत्साहित तथा हर्षित करना, सदा प्रजाकी अवस्थाको देखते रहना, कार्यमें ढीलापन न करना, तथा दुःख अनुभव न करना, कोष बढाना ॥ ८ ॥

पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम् ।
केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ॥ ९ ॥

पुराने और टूटने योग्य मंदिर मकानोंका निरीक्षण करके उन्हें दृढ करनेका यत्न, दीनोंको सहारा देना, पहरियोंका विश्वास न करके स्वयं निज राज्यकी प्रजाओंका अनुसन्धान लेते रहना, अन्य पुरुषोंसे पुरवासी प्रजा और राजसेवकोंके बीच भेद उत्पन्न करा देना ॥ ९ ॥

द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥ १० ॥

शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकारके दण्डका यथासमय पर प्रयोग करना, शत्रु, मित्र तथा मध्यस्थोंपर यथोचित देखरेख रखना ॥ १० ॥

उपजापश्च भृत्यानामात्मनः परदर्शनात् ।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥

शत्रुओंके दर्शनसे अपने सेवकोंमें द्रोह उत्पन्न न होने देना; स्वयं किसीका इकबारगी विश्वास न करना, शत्रुओंको आश्वासन देना ॥ ११ ॥

नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ १२ ॥

नीतिमार्गका अनुगामी होना, सदा उद्योगी होना, शत्रुओंपर ध्यान रखना और दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग सदाके लिये त्यागना— ये सब राजाके कर्तव्य कार्य हैं ॥ १२ ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य यन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥

बृहस्पतिने राजाओंके निमित्त उद्योगको ही राजधर्मका मूल कहा है। इस विषयमें मैं प्राचीन श्लोकोंको कहता हूं, उन्हे सुनो ॥ १३ ॥

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥

देवताओंने उद्योगसे अमृत लाभ करके असुरोंको मारा था; और देवराज इन्द्र अपने उद्योगसे ही देवलोक और इहलोकके बीच विख्यात होके स्वर्गलोकके राजा हुए हैं ॥ १४ ॥

उत्थानधीरः पुरुषो वाग्धीरानधितिष्ठति ।
उत्थानधीरं वाग्धीरा रमयन्त उपासते ॥ १५ ॥

उद्योगी निर्भय पुरुष वाग्धीरोंके उपर भी आधिपत्य करता है और पण्डित लोग स्तुति आदि वचनोंसे उद्योगी धीर पुरुषको प्रसन्न करते हुए उनकी उपासना किया करते हैं ॥ १५ ॥

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः ।
धर्षणीयो रिपूणां स्याद्भुजंग इव निर्विषः ॥ १६ ॥

राजा बुद्धिमान् होनेपर भी उद्योगरहित होनेके कारण विषरहित सर्पकी भांति सदैव अपने शत्रुओंसे पराजित होता है ॥ १६ ॥

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७ ॥

निर्बल शत्रुकी भी अवज्ञा करनी बलवान पुरुषको कदापि उचित नहीं है, क्योंकि अग्नि तनिक भी होनेसे भस्म करती है और थोडासा विष भी प्राण नाश कर सकता है ॥ १७ ॥

एकाश्वेनापि संभूतः शत्रुर्दुर्गसमाश्रितः।
तं तं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥
शत्रु हाथी घोडे आदि सब चार अङ्गोंमेंसे एक अंग—अश्व मात्र लेकर ही दुर्गमें आश्रय ग्रहण करनेपर, समृद्धिमान श्रेष्ठ राजाके सम्पूर्ण देशको पीडित कर सकता है ॥ १८ ॥

राज्ञो रहस्यं यद्वाक्यं जयार्थं लोकसंग्रहः।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणार्थं च यद्भवेत् ॥ १९ ॥
राजाको उचित है, कि अपने गोपनीय रहस्यका वचन, शत्रुओंपर विजयके निमित्त सेना संग्रह, हृदयमें छिपाया हुआ कार्य तथा जो कुछ हीन कार्य करे ॥ १९ ॥

यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनैव धार्यते।
दम्भनार्थाय लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत्क्रियाम् ॥ २० ॥
सम्पूर्ण मनुष्योंके निकट सरलता प्रकाशित करके उन कर्मोंको यत्नपूर्वक गोपन करे। लोगोंमें अपनी प्रतिष्ठा रखनेके लिये सदा धर्माचरणमें प्रवृत्त रहे ॥ २० ॥

राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं दुर्धार्यमकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना वोढुमाघातस्थानमुत्तमम् ॥ २१ ॥
राज्य एक महान् तन्त्र है; दुष्टस्वभाववाले पुरुष कदापि विशाल राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते। इसी प्रकार अत्यन्त दयालु पुरुष भी राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता इसका भार वहन नहीं कर सकता। उनके लिये यह उत्तम आघात स्थान हो जाता है ॥ २१ ॥

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥ २२ ॥
हे युधिष्ठिर! राज्य सबके उपभोगके लिये है और सरल प्रकृति अवलम्बन करनेसे ही राज्यकी रक्षा हो सकती है। इससे सरलता और कठोरता युक्त दोनों ही वृत्तियोंको अवलम्बन करना चाहिये ॥ २२ ॥

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद्रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥
यदि इस नियमसे प्रजाकी रक्षा करनेमें राजाको विपत्ति भी उपस्थित होवे, तौभी इसही नीतिसे गमन करना उसका महान् सनातन धर्म मार्ग है, क्योंकि ऐसी वृत्ति अवलम्बन करना ही राजाओंका कर्त्तव्य कर्म है ॥ २३ ॥

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद्ब्रूहि वदतां वर ॥ २४ ॥
हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! यह सामान्य रूपसे राजधर्मोंका कुछ अंश वर्णित हुआ है; अब तुम्हें जिन विषयोंमें सन्देह होवे, उसे मेरे समीप प्रकाशित करो ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो व्यासश्च भगवान्देवस्थानोऽश्मना सह।
वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः संजयस्तथा ॥ २५ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— इसके अनन्तर भगवान् व्यासदेव, देवस्थान, अश्म, वासुदेव, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और सञ्जय ॥ २५ ॥

साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्यमाणैरिवाननैः।
अस्तुवंस्ते नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ २६ ॥

धर्मात्मा पुरुषोंमें अग्रणी पुरुषसिंह भीष्मको धन्य धन्य कहके उनकी स्तुति करने लगे। उस समय वे सब कोई इस प्रकार आनन्दित होकर प्रसन्न मुख हुए थे, जैसे सूर्यके उदय होनेसे कमलका पुष्प खिलता है ॥ २६ ॥

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥ २७ ॥

अनन्तर कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर दुःखित चित्तसे आखोंमें आंसू भरकर भीष्मके दोनों चरणोंको स्पर्श करके बोले ॥ २७ ॥

श्व इदानीं स्वसंदेहं प्रक्ष्यामि त्वा पितामह।
उपैति सवितात्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥ २८ ॥

हे पितामह ! मुझे जिन विषयोंमें सन्देह है उसे कल आपके निकट प्रकाशित करूंगा; क्योंकि अब सूर्यदेव अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीके रसका शोषण करके अस्त हुआ चाहते हैं ॥ २८ ॥

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदा युताः ॥ २९ ॥

अनन्तर शत्रुनाशन यशस्वी श्रीकृष्ण, कृपाचार्य और राजा युधिष्ठिर आदि सब पुरुषोंने ब्राह्मणोंको प्रमाण करके गङ्गानन्दन भीष्मकी प्रदक्षिणा की; और वे आनन्दित होकर अपने रथोंपर चढे ॥ २९ ॥

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः।
उपास्य संध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ १९७४ ॥

फिर दृषद्वती नदीमें स्नान करके वे सुव्रती परंतप वीर यथारीतिसे माङ्गलिक जप, सन्ध्योपासना और तर्पण आदि कर्मोंको समाप्त करके पश्चात् हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए ॥ ३० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ १९७४ ॥

: ५९ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः काल्यं समुत्थाय कृतपौर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर दूसरे दिन सबेरे उठकर पाण्डव और यादवोंने प्रातःकालके नित्यकर्मोंको समाप्त करके नगराकार विशाल रथोंमें चढकर फिर भीष्मके समीप जानेके वास्ते हस्तिनापुरसे प्रस्थान किया ॥ १ ॥

प्रपद्य च कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघम् ।
सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गाङ्गेयं रथिनां वरम् ॥ २ ॥

अनन्तर वे सब कोई कुरुक्षेत्रमें पहुंचकर पापरहित गङ्गानन्दन रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मके पास पहुंचकर उनसे इस प्रकार कुशल प्रश्न करने लगे, कि " आपने सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत की है न ? " ॥ २ ॥

व्यासादीनभिवाद्यर्षीन्सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ ३ ॥

फिर व्यास आदि महर्षियोंको नमस्कार करके उन सबके द्वारा अभिनन्दित हो वे सब कोई पुरुषश्रेष्ठ भीष्मके चारों ओर बैठ गये ॥ ३ ॥

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्याभिवाद्य च । ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर महातेजस्वी राजा धर्मराज युधिष्ठिर भीष्मकी यथारीतिसे पूजा करके तथा प्रणाम करके हाथ जोडके कहने लगे ॥ ४ ॥

य एष राजा–राजेति शब्दश्चरति भारत ।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले— हे भरतनन्दन पितामह ! इस पृथ्वीपर " राजा " शब्द प्रचलित है, इसकी किस प्रकार उत्पत्ति हुई है ? आप इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ५ ॥

तुल्यपाणिशिरोग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः ।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठभुजोदरः ॥ ६ ॥

इस पृथ्वीपर हाथ, शिर, गर्दन, बुद्धि, इन्द्रियां, दुःख, सुख, आत्मा, पीठ, बाहु, उदर ॥ ६ ॥

तुल्यशुक्रास्थिमज्जश्च तुल्यमांसासृगेव च ।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥ ७ ॥

वीर्य, हड्डी, मज्जा, मांस, रुधिर, उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, शरीर ॥ ७ ॥

समानजन्ममरणः समः सर्वगुणैर्नृणाम् ।
विशिष्टबुद्धीञ्शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥ ८ ॥

जन्म, मृत्यु और अन्य गुण राजामें दूसरे मनुष्योंके समान होनेपर भी, किस कारणसे एक ही पुरुष विशिष्ट बुद्धिमान् और शूरवीर पुरुषोंके ऊपर आधिपत्य स्थापित करता है ? ॥ ८ ॥

कथमेको महीं कृत्स्नां वीरशूरार्यसंकुलाम् ।
रक्षत्यपि च लोकोऽस्य प्रसादमभिवाञ्छति ॥ ९ ॥

एक पुरुष ही इस वीर, शूर और श्रेष्ठ पुरुषोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीकी रक्षा करता है, और कैसे सब जगत्को प्रसन्न करनेकी अभिलाषा करता है ॥ ९ ॥

एकस्य च प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
व्याकुलेनाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥ १० ॥

उस एक ही राजाके पुरुषके प्रसन्न होनेसे सब कोई प्रसन्न होते हैं और उस एकके व्याकुल होनेसे सम्पूर्ण लोग व्याकुल होते हैं; यह निश्चित रूपसे देखा जाता है ॥ १० ॥

एतदिच्छाम्यहं सर्वं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
श्रोतुं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! यह रीति जो सदासे प्रचलित है, मैं यथार्थ रूपसे यह सुननेकी इच्छा करता हूं; हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! इससे आप विस्तारपूर्वक इस वृत्तान्तको वर्णन कीजिये ॥ ११ ॥

नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति विशां पते ।
यदेकस्मिञ्जगत्सर्वं देववद्याति संनतिम् ॥ १२ ॥

हे नरनाथ ! यह सब जगत् जो एक ही व्यक्तिको देवताके समान मानकर उसके सामने नत-मस्तक होकर उसकी आज्ञामें चलता है; इसका कारण तो सामान्य नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

नियतस्त्वं नरश्रेष्ठ शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥ १३ ॥

भीष्म बोले— हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पहिले सतयुगमें जिस प्रकार प्रथम राजत्व स्थापित हुआ था, राजा और राज्यकी उत्पत्ति हुई थी, उसे मैं कहता हूं, तुम चित्त लगाके सुनो ॥ १३ ॥

नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ॥ १४ ॥

पहिले राज्य वा राजा तथा दण्ड और दण्डकर्त्ता कुछ भी नहीं था, प्रजा ही धर्मकी अनु-गामिनी होकर आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करती थी ॥ १४ ॥

पालयानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परममाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥ १५ ॥

हे भारत ! इसी भांति सब मनुष्य धर्मसे एक दूसरेकी रक्षा और पोषण करते थे; फिर वे सब कोई इस कार्यमें क्रमसे थक गये और महान् कष्टका अनुभव करने लगे और उनका चित्त भ्रमित होने लगा ॥ १५ ॥

ते मोहवशमापन्ना मानवा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ १६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसी भांति सब मानवोंमें चित्तका विभ्रम उपस्थित होनेपर उनका कर्तव्य–अकर्तव्यका ज्ञान लोप होनेसे उनके धर्म कार्य नष्ट होने लगे ॥ १६ ॥

नष्टायां प्रतिपत्तौ तु मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भारतसत्तम ॥ १७ ॥

हे भरतर्षभ ! कर्तव्य–अकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जानेपर वे मोहके वशीभूत हुए और सब लोभके अधीन हो गये ॥ १७ ॥

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामो नामापरस्तत्र समपद्यत वै प्रभो ॥ १८ ॥

फिर वे लोग अप्राप्त वस्तुओंकी भी इच्छा करने लगे; प्रभो ! इससे विषयवासना और इन्द्रिय सुख आदि कामनाओंने उनके चित्तको आक्रमण किया ॥ १८ ॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान्रागो नाम समस्पृशत् ।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! इसी भांति कामाभिलाष उपस्थित होनेपर उनपर रागने आक्रमण किया; वे लोग रागमें इस प्रकार अनुरक्त हुए, कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य, ज्ञान और अनेक सद्वचनोंसे रहित होगये ॥ १९ ॥

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥ २० ॥

हे राजेन्द्र ! इसी कारण उन लोगोंमें अगम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य और दोष अदोषका कुछ भी विचार न रहा ॥ २० ॥

विप्लुते नरलोकेऽस्मिंस्ततो ब्रह्म ननाश ह ।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! मनुष्य लोकमें इस प्रकार धर्मका विप्लव होनेपर वे ज्ञानहीन होके विषयोंमें आसक्त हुए, तो वेद आदिक नष्टभ्रष्ट होने लगे और वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञादिक कर्म धर्म भी लुप्त होगये ॥ २१ ॥

नेष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवास्त्रासमथागमन् ।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ २२ ॥

हे पुरुषसिंह ! इसी भांति जब वेद और धर्म लुप्त होने लगे, तब देवता लोग भयभीत होकर ब्रह्माकी शरणमें उपस्थित होकर उनकी शरणमें गये ॥ २२ ॥

प्रपद्य भगवन्तं ते देवा लोकपितामहम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखशोकभयार्दिताः ॥ २३ ॥

लोक पितामह भगवान् ब्रह्माके पास जाकर वे सब देवता उनकी स्तुति करने लगे; और दुःख शोक और भयसे पीडित चित्तसे हाथ जोडके यह वचन बोले ॥ २३ ॥

भगवन्नरलोकस्थं नष्टं ब्रह्म सनातनम् ।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥

हे भगवन् ! मनुष्योंमें लोभ और मोह आदिक भावोंके उदय होनेसे सनातन वेदधर्म लुप्त हुआ है, इस ही कारण हम लोगोंको भय उपस्थित हुआ है ॥ २४ ॥

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मोऽप्यनशदीश्वर ।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥ २५ ॥

हे त्रिलोकी नाथ ईश्वर ! वैदिक ज्ञान लुप्त होनेसे यज्ञ आदिक धर्म कर्म भी नष्ट हुए हैं; इससे हम लोग इस समय मर्त्यलोकवासी मनुष्योंकी समानताको प्राप्त हुए हैं ॥ २५ ॥

अधो हि वर्षमस्माकं मर्त्यास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः ।
क्रियाव्युपरमात्तेषां ततोऽगच्छाम संशयम् ॥ २६ ॥

मनुष्य लोग हम लोगोंके निमित्त ऊपरकी ओर यज्ञमें घीकी आहुति प्रदान करते थे, और यज्ञसे तृप्त होकर हम लोग नीचेकी ओर जलकी वर्षा करके मनुष्योंको आनन्दित करते थे; परन्तु इस समय उनके सम्पूर्ण यज्ञ कर्मोंके लुप्त होनेसे हम लोग भी नष्ट प्राय हो जाय यह संशय उत्पन्न हुआ है ॥ २६ ॥

अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद्ध्यायस्व पितामह ।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ प्रभावो नो विनश्यति ॥ २७ ॥

हे पितामह ! आपसे हम लोगोंको जो कुछ प्रभाव प्राप्त हुआ था, वह नष्ट हो रहा है; इससे इस समयमें जिस भांति हम लोगोंका कल्याण होवे, आप अनुग्रह कर उसीका विधान करिये ॥ २७ ॥

तानुवाच सुरान्सर्वान्स्वयंभूर्भगवांस्ततः ।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥ २८ ॥

उसके अनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा उन सब देवताओंसे बोले, हे श्रेष्ठ देवता लोगो ! तुम लोग भय मत करो; जिससे तुम लोगोंका मङ्गल होगा, मैं वही उपाय सोचूंगा ॥ २८ ॥

×

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवानुवर्णितः ॥ २९ ॥

अनन्तर पितामह ब्रह्माने निज बुद्धिके प्रभावसे एक लाख अध्यायोंसे युक्त एक शास्त्र बनाके उसमें धर्म, अर्थ और कामका विस्तार पूर्वक वर्णन किया ॥ २९ ॥

त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयंभुवा ।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गणः ॥ ३० ॥

ब्रह्माने धर्म, अर्थ और काम– इन वर्गोंके वर्णनको त्रिवर्ग कहके विख्यात किया, और त्रिवर्गसे भिन्न फलदायक पृथक् गुणविशिष्ट मोक्षनाम चतुर्थ पदका उस ही शास्त्रमें वर्णन किया ॥ ३० ॥

मोक्षस्यापि त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः ।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥

मोक्षका भी सकाम कर्म भेदसे सत्व, रज और तमरूपी दूसरा त्रिवर्ग है और निष्काम भेदसे उससे पृथक् अन्य एक वर्ग वर्णन किया स्थान, वृद्धि और क्षय ये उसके दण्डजनित भेद हैं वणिकोंके धनकी रक्षा, तपस्वियोंकी बढती और दुष्टोंका विनाश है ॥ ३१ ॥

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च ।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माके नीतिशास्त्रमें आत्मा, देश, काल, उपाय, प्रयोजन और सहाय–इन छः वर्गोंका वर्णन है; ये नीतिसे संचालित होनेपर उन्नतिके कारण होते हैं ॥ ३२ ॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३३ ॥

उसमें कर्म-काण्ड (वेदत्रयी), ज्ञान-काण्ड (आन्वीक्षिकी), कृषि, वाणिज्य, जीविकाकाण्ड (वार्ता) और विशाल दण्डनीति ये सब विषय जगत् पितामह ब्रह्माके बनाये हुए एक लक्ष अध्यायोंमें पूर्ण रीतिसे वर्णित हैं ॥ ३३ ॥

अमात्यरक्षाप्रणिधी राजपुत्रस्य रक्षणम् ।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधिश्च पृथग्विधः ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! मंत्रियोंकी रक्षा, राजदूत और राजपुत्रके लक्षण, जासूसोंको नियुक्त करनेके अनेक उपाय ब्रह्मचारी आदि वेषधारी गुप्त चरोंको पृथक् पृथक् रूपसे नियत करना ॥ ३४ ॥

साम चोपप्रदानं च भेदो दण्डश्च पाण्डव ।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥ ३५ ॥

और साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा– ये पांच विषय उस शास्त्रमें विस्तार पूर्वक वर्णित हुए हैं ॥ ३५ ॥

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च ।
विभ्रंशश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्ध्योश्च यत्फलम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रका, भेदनीतिके प्रयोग, मन्त्रणामें होनेवाले भ्रम या उसके फूटनेके भय और मन्त्रणाकी सिद्धि–असिद्धिके फल भी उसमें कहे गये हैं ॥ ३६ ॥

संधिश्च विविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः ।
भयसत्कारवित्ताख्यः कात्स्न्र्येन परिवर्णितः ॥ ३७ ॥

संधियां अनेक प्रकारकी हैं– हीन, मध्यम और उत्तम; वे क्रमशः भयसंधि, सत्कार संधि और वित्त संधि हैं । इन सबका उसमें विस्तार पूर्वक वर्णन है ॥ ३७ ॥

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः ।
विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥

शत्रुओंपर चढाई करनेके चतुर्विध अवसर, त्रिवर्गके विस्तार, धर्मयुक्त विजय तथा अर्थ विजय ॥ ३८ ॥

आसुरश्चैव विजयस्तथा कात्स्न्र्येन वर्णितः ।
लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥ ३९ ॥

और अन्याय पूर्वक कर्मोंसे आसुरविजय भी पूर्ण रीतिसे उस शास्त्रग्रन्थमें वर्णित हैं । उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे मन्त्री-सेवक, राष्ट्र, किला, बल और कोष इन पञ्चवर्गोंके सब लक्षण वर्णित हुए हैं ॥ ३९ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यस्तु बहुविस्तरः ॥ ४० ॥

प्रकट और गुप्त दोनों भांतिकी सेना उसमें कही गई हैं; और अष्टविध प्रकारकी प्रकट सेना और गुप्त सेना बहुत विस्तारसे वर्णित हुई है ॥ ४० ॥

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिकाः पथि चाष्टकम् ॥ ४१ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! रथ, हाथी, घोडे, पैदल, भार उठानेवाले बेगार लोग, नाविक, दूत और कर्तव्यमार्गके उपदेष्टा– ये आठ प्रकारके सेनाके प्रकट अङ्ग हैं ॥ ४१ ॥

अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु ।
जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ ४२ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सेनाके गुप्त अंग जंगम (सर्पादि जनित) और अजंगम (पेडोंसे उत्पन्न) विष आदि चूर्णयोग हैं ॥ ४२ ॥

स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः ।
अरिर्मित्रमुदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥ ४३ ॥

वस्त्रादिक, अन्न आदि भोजनकी वस्तु और अभिचारिक कार्योंमें जङ्गम अजङ्गम अर्थात् विषादिक चूर्ण योगरूप दण्ड वर्णित है । विविध मन्त्रोंके जपका प्रयोग भी बताया गया है । उस शास्त्रमें मित्र, शत्रु और उदासीन पुरुषोंके लक्षण भी वर्णित हुए हैं ॥ ४३ ॥

कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह ।
आत्मरक्षणमाश्वासः स्पशानां चान्ववेक्षणम् ॥ ४४ ॥

ग्रह नक्षत्र आदिके सब मार्गगुण, भूमिगुण, मन्त्र और यन्त्रोंसे आत्मरक्षा, धैर्य और दूत आदि कार्योंको अवलोकन करनेका भी वर्णन है ॥ ४४ ॥

कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम् ।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥ ४५ ॥

मनुष्य, हाथी, रथ और घोडोंके बलपुष्टिके अनेक भांतिके यत्न-योग, नाना भांतिके व्यूह, विचित्र युद्धकौशल ॥ ४५ ॥

उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायनम् ।
शस्त्राणां पायनज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

धूमकेतु प्रभृति उत्पात, उल्कापात, सावधानतासे युद्ध करना, उत्तम रीतिसे वहांसे भागना, —इन सब उपायोंका उसमें वर्णन है । हे भरतश्रेष्ठ ! शस्त्रोंको तीक्ष्ण करनेकी विधिका ज्ञान और उनके चलाने तथा निवारण करनेकी विधि पूर्ण रीतिसे उसमें वर्णित है ॥ ४६ ॥

बलव्यसनमुक्तं च तथैव बलहर्षणम् ।
पीडनास्कन्दकालश्च भयकालश्च पाण्डव ॥ ४७ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! विपत्तिमें सेनाका उद्धार करना, सैनिकोंका आनन्द और उत्साह बढाना, आपत्तिमें सेनाओंका आपात तथा आरोहण काल और भयका समय ये सब उस शास्त्रमें वर्णित है ॥ ४७ ॥

तथा खातविधानं च योगसंचार एव च ।
चौराटव्यबलैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥

किलेके चारों ओर खाई खुदवाना, युद्धके समय सेनाको सज्जित करके समरके लिये गमन करना, चोर डकैत और जंगली लुटेराओंसे शत्रु राष्ट्रको पीडा देना ॥ ४८ ॥

अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपकचारकैः ।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ ४९ ॥

अग्नि, विष और कृत्रिम वेश तथा पत्र बनानेवाले गुप्तचर पुरुषोंसे शत्रुको हानि पहुंचाना और बलवान् शत्रुओंके मुख्य लोगोंमें भेद कराना, खेती कटवाना ॥ ४९ ॥

दूषणेन च नागानामाशङ्काजननेन च ।
आरोधनेन भक्तस्य पथश्चोपार्जनेन च ॥ ५० ॥

मन्त्र और औषधीयोंके प्रयोगसे हाथी तथा घोडोंको दूपित करना, प्रजाओंमें शंकामय वातावरण उत्पन्न करना, शत्रुके अनुयायीयोंमें विरोध निर्माण करना और शत्रुराज्यके मार्गपर अधिकार पाकर उनको पीडित करनेकी विधि उस शास्त्रमें विशेप रूपसे वर्णन की गई है ॥ ५० ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्जसम् ।
दूतसामर्थ्ययोगश्च राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ॥ ५१ ॥

सप्तांगोसे युक्तके राज्य ह्रास, बढती, शांति स्थापन दूतके सामर्थ्यका उपयोग और अपने राज्यको बढाना, इत्यादि–ये सब विपय उसमें वर्णित हैं ॥ ५१ ॥

अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक्चोक्तं प्रपञ्चनम् ।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

शत्रु, मित्र और मध्यस्थ–इन सबका यथार्थ विवेचन, बलवान् शत्रुको यत्नपूर्वक पीडित करना तथा उनसे भीडना ॥ ५२ ॥

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
शमो व्यायामयोगश्च योगो द्रव्यस्य संचयः ॥ ५३ ॥

शासनसंबंधी सूक्ष्म विचार, खलोंका शोधन, परिश्रम, व्यायामयोग और धनका त्याग तथा संग्रहका उसमें विवरण है ॥ ५३ ॥

अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थकाले प्रदानं च व्यसनेष्वप्रसङ्गिता ॥ ५४ ॥

भूखोंके लिये जीवन पोपणका उपाय, सेवकोंके कार्योंका निश्चय तथा निरीक्षण, समयके अनुसार धनका दान, मृगया आदि व्यसनोंमें अनिच्छा ॥ ५४ ॥

तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ये ।
कारणस्य च कर्तुश्च गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥

सावधानता आदि राजगुण, शूरता, वीरता और धीरता आदि सेनापतिके गुण और कर्ताके गुणदोष तथा कारण उस शास्त्रमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुए हैं ॥ ५५ ॥

दुष्टेङ्गितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुजीविनाम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥ ५६ ॥

नाना भांतिके दुष्ट संकेत अनुयायी और सेवकोंकी यथा योग्य जीविकाका विचार, सबके प्रति शंकित रहना, सब भांतिके प्रमादोंका त्याग करना ॥ ५६ ॥

अलब्धलिप्सा लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्तथा ॥ ५७ ॥
अप्राप्त अर्थकी इच्छा, प्राप्त अर्थकी बढती, और बढाये हुए धनको विधिपूर्वक सत्पात्रोंको दान करना ॥ ५७ ॥

विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थमर्थार्थं कामहेतुना ।
चतुर्थो व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितः ॥ ५८ ॥
यज्ञादि धर्म कर्मोंमें धनका दान, कामभोगके हेतु उसका व्यय, और विपद उपस्थित होनेपर धन दान करनेकी विधि भी उस शास्त्रग्रन्थमें वर्णित है ॥ ५८ ॥

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥ ५९ ॥
हे कुरुश्रेष्ठ ! क्रोध और कामसे उत्पन्न हुए दस प्रकारके व्यसनोंका भी वर्णन इस ग्रन्थमें है ॥ ५९ ॥

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयंभुवा ॥ ६० ॥
हे भरतर्षभ ! इसके बीच पितामह ब्रह्माने मृगया, जूआ, सुरापान और स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति ये जो चार प्रकारके कामसे उत्पन्न होनेवाले व्यसन आचार्योंने बताये हैं,—वे सब इसमें वर्णित किये हैं ॥ ६० ॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।
आत्मनो निग्रहस्त्यागोऽथार्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥
कठोर वचन, उग्रस्वभाव, कठोर दण्ड, स्वयंका निग्रह, त्याग और अर्थ दूषण अर्थात् आर्थिक हानि पहुंचाना ये छःही व्यसन क्रोधसे प्रकट होते हैं ॥ ६१ ॥

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥ ६२ ॥
उस शास्त्रमें यन्त्र बनानेके निमित्त नाना भांतिके कौशल और उसकी क्रियाका वर्णन है । शत्रुओंको पीडित करना, उनपर आक्रमण करके हानि पहुंचाना ओर उनके घरोंको नष्ट करना इनका भी उसमें वर्णन है ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रुमाणामामर्दो रोधःकर्मान्तनाशनम् ।
अपस्करोऽथ गमनं तथोपास्या च वर्णिता ॥ ६३ ॥
शत्रुके मंदिर और मार्गोपरके वृक्षोंका नाश, उसके तटोंका विध्वंस, युद्ध मार्गोंपर चारों ओरसे घेरा डालना, कृषिकर्मकी रक्षा, आवश्यकीय वस्तुओंका संग्रह, वर्म और वर्मनिर्म्माणकी युक्तियोंका भी उस शास्त्रमें वर्णन हुआ है ॥ ६३ ॥

पणवानकशङ्खानां भेरीणां च युधां वर।
उपार्जनं च द्रव्याणां परमर्म च तानि षट् ॥ ६४ ॥

हे योद्धाओंमें श्रेष्ठ! ढोल, मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी आदि बाजोंके लक्षण और मणि, पशु, भूमि, वस्त्र, दास–दासी और सुवर्ण आदि छः प्रकारके द्रव्योंका अपने लिये उपार्जन करनेका इसमें वर्णन है ॥ ६४ ॥

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैव हि पूजनम्।
विद्वद्भिरेकीभावश्च प्रातर्होमविधिज्ञता ॥ ६५ ॥

अपने वशीभूत देशोंमें शान्ति स्थापित करना, साधुओंका सत्कार–पूजन, पण्डितोंके साथ एकता करना, प्रातःकालके होमकी विधियोंका ज्ञान, ॥ ६५ ॥

मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥ ६६ ॥

सुवर्ण आदि मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श करना, शरीरको वस्त्र तथा आभूषणोंसे अलंकृत करना, भोजनके नियम और आस्तिकता बुद्धि रखना– आदि सम्पूर्ण विषय कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥

मनुष्य अकेला ही किस प्रकार स्वयंकी उन्नति करे, वचनकी सत्यता, सभा और उत्सवोंके बीच वाणीकी मधुरता, ध्वजारोहणादिक गृह सम्बन्धी कार्य, ॥ ६७ ॥

प्रत्यक्षा च परोक्षा च सर्वाधिकरणेषु च।
वृत्तिर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥

हे भरतशार्दूल! साधारण पुरुष जिन स्थानोंमें बैठते हैं, उन स्थानोंमें प्रत्यक्ष और परोक्षमें जिन कार्योंके अनुष्ठान होते हैं, उन सबका सदा निरीक्षण करना चाहिये; इन सबका इसमें वर्णन किया गया है ॥ ६८ ॥

अदण्डयत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम्।
अनुजीविस्वजातिभ्यो गुणेषु परिरक्षणम् ॥ ६९ ॥

ब्राह्मणोंको अदण्डित करना, युक्तिपूर्वक अपराधियोंको दण्ड देना, अनुजीवी और स्वजातिके पुरुषोंके गुण अनुसार उनकी मर्यादा स्थापित करके उनका रक्षण करना ॥ ६९ ॥

रक्षणं चैव पौराणां स्वराष्ट्रस्य विवर्धनम्।
मण्डलस्था च या चिन्ता राजन्द्वादशराजिका ॥ ७० ॥

राजन्! पुरवासियोंकी रक्षा, और अपना राज्य बढानेकी विधि पूरी रीतिसे उस शास्त्रमें वर्णित है। हे राजेन्द्र! शत्रु, मित्र और उदासीन प्रत्येकमें चार चार भेदोंसे द्वादश राजमण्डल विषयक चिन्तन– इसका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ७० ॥

द्वासप्ततिमतिश्चैव प्रोक्ता या च स्वयंभुवा ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥

वेदशास्त्रोंमें कही हुई पवित्रता, बहत्तर प्रकारके शरीर संस्कार और देश, जाति तथा कुल भेदसे पृथक् पृथक् धर्म भी उसमें ब्रह्माने कहे हैं ॥ ७१ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णितः ।
उपायश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिणाः ॥ ७२ ॥

उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी प्राप्तिके अनेक भांतिके उपाय, अर्थलिप्सा और विविध प्रकारके बहुतसी दक्षिणावाले यज्ञ– ये विषय सम्पूर्ण रूपसे वर्णित हुए हैं ॥ ७२ ॥

मूलकर्मक्रिया चात्र माया योगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसामत्र वर्णितं च स्थिराम्भसाम् ॥ ७३ ॥

कोष बढानेकी विधि कृषि, वाणिज्य आदि मूल कार्य, माया, योग और बंधे हुए स्रोतके जलके समस्त दोष कहे गये हैं ॥ ७३ ॥

यैर्यैरुपायैर्लोकश्च न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽनुवर्णितम् ॥ ७४ ॥

हे राजशार्दूल ! जिन जिन उपायोंको अवलम्बन करनेसे मनुष्य लोग आर्य पुरुषोंके अवलम्बित मार्गसे विचलित नहीं होते; वे सब विषय पितामहके बनाये हुए नीतिशास्त्रमें वर्णित हैं ॥ ७४ ॥

एतत्कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान्प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्शक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥

भगवान् लोकनाथ पितामह ब्रह्मा इस मंगल जनक शास्त्र बनाके अनन्तर प्रसन्न चित्तसे इन्द्रादिक सब देवताओंसे बोले ॥ ७५ ॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥

मैंने सम्पूर्ण लोकोंके उपकार और धर्म, अर्थ तथा काम–इस त्रिवर्ग संस्थापनके वास्ते दूधके नवनीत समान समस्त वाक्योंके साररूपी यह युक्ति प्रकाश की है ॥ ७६ ॥

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननु चरिष्यति ॥ ७७ ॥

सब जगतकी रक्षा करनेवाली इस नीति–युक्तिको दण्डके सहित प्रयोग करनेसे यह सम्पूर्ण प्राणियोंके निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ होकर पृथ्वीपर प्रचारित होगी ॥ ७७ ॥

दण्डेन नीयते चेयं दण्डं नयति चाप्युत ।
दण्डनीतिरिति प्रोक्ता त्रींल्लोकाननुवर्तते ॥ ७८ ॥

इस नीतिशास्त्रके अनुसार यह जगत् दण्डसे सन्मार्गपर अधिष्ठित किया जाता है और प्रजाओंमें दण्डकी स्थापना होती है; इसीसे यह नीति तीनों लोकोंके बीच दण्डनीति कहके विख्यात है, इसीके अनुसार तीनों लोक वर्ताव करेंगे ॥ ७८ ॥

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
महत्त्वात्तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ॥ ७९ ॥

समस्त षाड्गुण्यगुणोंका सारभूत इस शास्त्रका स्थान सदा महात्माओंमें सबसे आगे स्थित रहेगा; इस दण्डकी महत्तासे ही यह स्पष्ट लक्षणोंवाली नीति मानी गयी है ॥ ७९ ॥

नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ।
आगमश्च पुराणनां महर्षीणां च संभवः ॥ ८० ॥

उसका महा दण्ड ही पृथ्वीमें धर्म संस्थापनका मूल, और न्याय्य रीतिका अधिक प्रचार दीख पडता है । हे युधिष्ठिर ! इसी भांति पितामहके बनाये हुए शास्त्रके बीच पुराणोंके आगम, महर्षियोंकी उत्पत्ति, ॥ ८० ॥

तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ।
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ॥ ८१ ॥

तीर्थ और नक्षत्रोंकी उत्पत्ति, गार्हस्थ्य आदि चारों आश्रमोंके नियम, चार ऋत्विजोंके यज्ञकर्म, ॥ ८१ ॥

चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्वेद्यं च वर्णितम् ।
इतिहासोपवेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ॥ ८२ ॥

चारों वर्ण और विद्या प्रभृति सब ही वर्णित हैं, इतिहास, वेद और न्याय– इन सबका उसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥ ८२ ॥

तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्ये नयः परः ।
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ॥ ८३ ॥

तपस्या, ज्ञान, अहिंसा, सत्य, मिथ्या और उत्तम नीति; वृद्धोंकी सेवा, दान, पवित्रता, उत्थान और ॥ ८३ ॥

सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ।
भुवि वाचोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ॥ ८४ ॥

सब प्राणियोंके उपर दया प्रकाश करना, ये सब उस शास्त्रमें वर्णित हैं । अधिक क्या कहूं, इस पृथ्वीपर जो कुछ कहे जानेवाले विषय हैं, वे सब उसमें समाविष्ट हैं ॥ ८४ ॥

×

तस्मिन्पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतदसंशयम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥ ८५ ॥

हे पाण्डव ! पितामह ब्रह्माके बनाये हुए उस शास्त्रमें निःसन्देह रूपसे सब वर्णित हुए हैं; क्यों कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– ये चारों पुरुषार्थ इसके बीच वर्णित हुए हैं॥ ८५ ॥

ततस्तां भगवान्नीतिं पूर्वं जग्राह शंकरः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८६ ॥

उसके अनन्तर बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु भगवान् उमापति शङ्करने सबसे पहिले ही उस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया ॥ ८६ ॥

युगानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ८७ ॥

भगवान् शिवने सब प्रजाके आयुका समय घटा हुआ जानके पितामह कृत उस महान् अर्थ पूर्ण शास्त्रको संक्षिप्त किया ॥ ८७ ॥

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।
दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८८ ॥

इसलिये इसे वैशालाक्ष नाम प्राप्त हुआ; इसे इन्द्रने ग्रहण किया । महातपस्वी सुब्रह्मण्य दक्ष इन्द्रने जब इसका ग्रहण किया, तब इसमें दस हजार अध्याय थे ॥ ८८ ॥

भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः ।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥ ८९ ॥

भगवान् पुरन्दरने भी इसका संक्षेप करके पांच हजार अध्यायोंका ग्रन्थ किया और हे तात ! वही शास्त्र ग्रन्थ बाहुदन्तक नामसे विख्यात हुआ ॥ ८९ ॥

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥ ९० ॥

अनन्तर समर्थ बृहस्पतिने अपनी बुद्धिसे इसका तीन हजार अध्यायोंमें संक्षेप किया; वही इस समय बार्हस्पत्य नामक नीति शास्त्र कहके पुकारा जाता है ॥ ९० ॥

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महातपाः ॥ ९१ ॥

अत्यंत बुद्धिमान् योगाचार्य महातपस्वी शुक्रने उसे संक्षेप करके एक हजार अध्याय किया ॥ ९१ ॥

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासि पाण्डव ॥ ९२ ॥

हे पाण्डव ! इसी भांति सम्पूर्ण प्राणियोंके आयुष्यकाल की अल्पताके अनुसार महर्षियोंने अपनी अपनी बुद्धिके प्रभावसे उस शास्त्रको संक्षेप किया ॥ ९२ ॥

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं तं वै समादिश ॥ ९३ ॥

अनन्तर देवताओंने प्रजापति विष्णुके निकट उपस्थित होके कहा,– "जो सम्पूर्ण मृत्यु-लोकवासी प्राणियोंके ऊपर प्रभुता कर सके, आप वैसे किसी एक पुरुषका नाम कहिये" ॥९३॥

ततः संचिन्त्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ९४ ॥

अनन्तर देवोंके प्रभु भगवान् नारायणने पूर्ण विचार करके अपने तेजसे विरजा नामक एक मानस पुत्र उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

विरजास्तु महाभाग विभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद्बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥ ९५ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! महाभाग विरजाने भूमण्डल पर प्रभुता करनेकी इच्छा नहीं की; क्यों कि उनकी बुद्धि संन्यासवृत्तिमें अनुरक्त हुई ॥ ९५ ॥

कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत्सोऽपि पञ्चातिगोऽभवत् ।
कर्दमस्तस्य च सुतः सोऽप्यतप्यन्महत्तपः ॥ ९६ ॥

उनके कीर्तिमान् नामक जो पुत्र उत्पन्न हुआ था; वह भी पांचों विषयोंसे ऊपर उठकर मोक्षमार्गका अवलम्बन करने लगा । कीर्तिमान्के पुत्र कर्दमने भी अत्यन्त महान् तपस्या की ॥ ९६ ॥

प्रजापतेः कर्दमस्य अनङ्गो नाम वै सुतः ।
प्रजानां रक्षिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९७ ॥

प्रजापति कर्दमके अनंग नाम पुत्र हुआ था, वही प्रजाकी रक्षा करनेवाला, साधु और दण्ड-नीतिमें विशारद हुआ ॥ ९७ ॥

अनङ्गपुत्रोऽतिबलो नीतिमानधिगम्य वै ।
अभिपेदे महीराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥ ९८ ॥

तिसके अनन्तर अनंगके पुत्र अतिबल नीतिशास्त्रका ज्ञाता था, उसने पृथ्वीका राज्य पाके वह इन्द्रिय परायण हुआ ॥ ९८ ॥

मृत्योस्तु दुहिता राजन्सुनीथा नाम मानसी ।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु या सा वेनमजीजनत् ॥ ९९ ॥

तीनों लोकोंमें विख्यात सुनीथा नाम्नी मृत्युकी जो मानसी कन्या थी, उसीसे वेनका जन्म हुआ ॥ ९९ ॥

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ १०० ॥

अतिबलके पुत्र वेन राग, द्वेषके वशमें होकर प्रजाके ऊपर अधर्म आचरण करने लगा; तब ब्रह्मवादी ऋषियोंने मन्त्र-पूरित कुशोंसे उसे मार डाला ॥ १०० ॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः ।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ॥ १०१ ॥

उसके अनन्तर उन ऋषियोंने मन्त्र पढके वेनकी दाहिनी जङ्घाको मथा, उससे पृथ्वीपर विरूप छोटे अङ्गवाला एक पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ १०१ ॥

दग्धस्थाणुप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ १०२ ॥

वह जले हुए खम्भेके समान, लाल आंखोंवाला और काले बालवाला था; उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने उसे " निषीद " अर्थात् पतित हो, ऐसा ही कहा ॥ १०२ ॥

तस्मान्निषादाः संभूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥ १०३ ॥

इससे उस पुरुषसे जो क्रूर मनुष्य उत्पन्न हुए, उन सबोंने " निषाद " नामसे विख्यात होके पहाड तथा वनोंका आसरा ग्रहण किया । इस समय जो सब विन्ध्याचल पर्वतपर वास करते हैं, और दूसरे जो अनगिनत- लाखों म्लेच्छ हैं; ये सब उन्हीं निषादोंसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १०३ ॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ १०४ ॥

अनन्तर महर्षियोंने फिर वेनका दाहिना हाथ मथा, उससे रूपमें देवराज इन्द्रके समान एक दूसरे पुरुषका निर्माण हुआ ॥ १०४ ॥

कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः ।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ १०५ ॥

वह कवचधारी, कमरमें तलवार बंधा हुआ, धनुष बाणसे युक्त, वेद-वेदांगोंका ज्ञाता और धनुर्वेद जाननेवाला था ॥ १०५ ॥

तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम् ।
ततः स प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥ १०६ ॥

महाराज ! नरश्रेष्ठ वेनकुमारको सब दण्डनीतिका स्वतः ज्ञान हुआ; अनन्तर वेनपुत्र हाथ जोडके उन महर्षियोंसे बोले ॥ १०६ ॥

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी ।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥ १०७ ॥

मुझे जो धर्म तथा अर्थका दर्शन करनेवाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, उससे मुझे किन कार्योंका अनुष्ठान करना है, वह आप लोग मुझसे सत्य ही कहिये ॥ १०७ ॥

यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम् ।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥ १०८ ॥

आप लोग मुझसे जो अर्थयुक्त कार्य करनेको कहेंगे, मैं शीघ्र ही उसे पूर्ण करूंगा, उसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १०८ ॥

तमूचुरथ देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥ १०९ ॥

अनन्तर देवताओं और परमर्षियोंने उससे कहा, " तुम नियमपूर्वक धर्मयुक्त कार्योंका निर्भय-चित्तसे आचरण करो ॥ १०९ ॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।
कामक्रोधौ च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥ ११० ॥

तुम काम, क्रोध, लोभ और अभिमानको त्यागके और प्रिय-अप्रियका विचार न करके सब प्राणियोंमें समभाव प्रकाशित करना ॥ ११० ॥

यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।
निग्राह्यस्ते स बाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षतः ॥ १११ ॥

पृथ्वीपर जो कोई भी मनुष्य धर्ममार्गसे विचलित होगा, तुम सनातन धर्मकी ओर दृष्टि रखके अपने बाहुबलसे उसे दण्ड देना ॥ १११ ॥

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥ ११२ ॥

और तुम ऐसी प्रतिज्ञा करो, कि मन, क्रिया और वचनसे अखिल भौम पार्थिव ब्रह्मस्वरूप वेदोंका निरंतर पालन करूंगा ॥ ११२ ॥

यश्चात्र धर्मनीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ ११३ ॥

वेदमें दण्डनीतिके नियम अनुसार जो सब नीति धर्म कहे गये हैं, निर्भयचित्तसे उन्हींका आचरण करूंगा; कभी स्वेच्छाचारी नहीं होऊंगा ॥ ११३ ॥

अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीष्व चाभिभो ।
लोकं च संकरात्कृत्स्नात्त्रातास्मीति परंतप ॥ ११४ ॥

हे परंतप प्रभु ! द्विजातिगण-ब्राह्मण मुझसे अदण्डनीय होंगे और मैं सम्पूर्ण जगत्‌को संकटसे बचाऊंगा, ऐसीही प्राप्ति करो " ॥ ११४ ॥

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान् ।
ब्राह्मणा मे सहायाश्चेदेवमस्तु सुरर्षभाः ॥ ११५ ॥

अनन्तर वेनपुत्र उन श्रेष्ठ ऋषियों तथा देवताओंसे बोले– सुरश्रेष्ठ महाभाग ब्राह्मण लोग मेरे सहाय्यक होवें ॥ ११५ ॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः ।
पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥ ११६ ॥

उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने "ऐसा ही होगा" कहके अंगीकार किया, तब ब्रह्ममय निधिस्वरूप भगवान् शुक्र उनके पुरोहित हुए ॥ ११६ ॥

मन्त्रिणो वालखिल्यास्तु सारस्वत्यो गणो ह्यभूत् ।
महर्षिर्भगवान्गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥ ११७ ॥

सारस्वत्य और वालिखिल्य गण उनके मन्त्री और महर्षि भगवान गर्ग ज्योतिर्विद हुए ॥ ११७ ॥

आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु ।
उत्पन्नौ बन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥ ११८ ॥

इसी भांति शरीर भेदमें विष्णुसे अष्टम पर्याय वेनपुत्र पृथुने पृथ्वीपर राज्य स्थापित किया ऐसे ही जनश्रुति है । इसके पहिले ही सूत और मागध नामक उनके दो वन्दी उत्पन्न हुए थे ॥ ११८ ॥

समतां वसुधायाश्च स सम्यगुपपादयत् ।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति ह नः श्रुतम् ॥ ११९ ॥

महाराज ! हमने सुना है, पहिले पृथुके समय यह भूमि अत्यन्त ऊंची-नीची थी; उस ही कारण वेन पुत्रने पृथ्वीको भलीभांति समतल बनाया था ॥ ११९ ॥

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ।
ऋषिभिश्च प्रजापाल्ये ब्रह्मणा चाभिषेचितः ॥ १२० ॥

इसी भांति पृथु भगवान् विष्णु, देवताओं सहित इन्द्र, ऋषियों और ब्राह्मणोंसे प्रजापालनके लिए राजपदपर अभिषिक्त हुए ॥ १२० ॥

तं साक्षात्पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ।
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः ॥ १२१ ॥

हे पाण्डव ! उस समय वसुन्धरा मानो मूर्त्तिमयी होकर रत्नोंकी भेट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुई । हे युधिष्ठिर ! सरिताओंके पति समुद्र, पर्वतोंमें उत्तम हिमवान ॥ १२१ ॥

शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात्तस्य युधिष्ठिर ।
रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः ॥ १२२ ॥

और देवराज इन्द्रने उन्हें अविनाशी धन प्रदान किया । सुवर्णमय पर्वत महामेरुने स्वयं आके उन्हें सुवर्ण प्रदान किया ॥ १२२ ॥

यक्षराक्षसभर्ता च भगवान्नरवाहनः ।
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ॥ १२३ ॥

यक्ष और राक्षसोंके स्वामी नरवाहन भगवान् कुबेरने धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्ग साधनमें समर्थ धन प्रदान किया ॥ १२३ ॥

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ।
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव ।
न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥ १२४ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! उस वेन पुत्र पृथुके चिन्तन करते ही अनानिगत घोडे, रथ, हाथी और करोडों पुरुष उत्पन्न हो गये । उनके राज्य शासनके समयमें जरा, दुर्भिक्ष, आधि अथवा व्याधि कुछ भी नहीं थी ॥ १२४ ॥

सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात्कदाचन ।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥ १२५ ॥

उनके शासनके समयमें राजाकी ओरसे सुरक्षा की योग्य व्यवस्था होनेसे वहां सर्प, चोर तथा आपसके लोगोंसे भी दूसरेको भय नहीं उपस्थित होता था ॥ १२५ ॥

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च ।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥ १२६ ॥

उन्होंने इस पृथ्वीसे सत्तरह प्रकारके धान्योंका दोहन किया था; उससे यक्ष, राक्षस और सर्पोंने अपनी समस्त अभिलषित वस्तुओंको पाया था ॥ १२६ ॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दयते ॥ १२७ ॥

इसी भांति उस महात्मा पृथुने भूलोकमें धर्मकी श्रेष्ठता स्थापित करके, प्रजापुञ्जके मनको रञ्जन किया, उसी समयसे पृथ्वीमें " राजा " शब्द प्रचलित हुआ ॥ १२७ ॥

ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते ।
प्रथिता धनतश्चेयं पृथिवी साधुभिः स्मृता ॥ १२८ ॥

ब्राह्मणोंको क्षतिसे परित्राण करनेसे वे क्षत्रिय कहलाये; पृथुने धनपूर्वक इस मेदिनीको प्रथित किया था, उसी कारण यह धरा साधुओंके द्वारा पृथिवी नामसे विख्यात हुई ॥ १२८ ॥

स्थापनं चाकरोद्विष्णुः स्वयमेव सनातनः।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद्राजंस्त्वामिति पार्थिव ॥ १२९ ॥

हे भारत ! सनातन भगवान् विष्णुने स्वयं उनकी यह मर्यादा स्थापित की, कि "हे राजन् ! तुम्हें कोई भी अतिक्रम न कर सकेगा" ॥ १२९ ॥

तपसा भगवान्विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यज्जगन्नृप ॥ १३० ॥

भगवान विष्णुने उनके तपके प्रभावसे भूपतिके शरीरमें प्रवेश किया था। अखिल जगत् देव–सदृश उस नरदेवके समीप नत होता रहता है ॥ १३० ॥

दण्डनीत्या च सततं रक्षितं तं नरेश्वर।
नाधर्षयत्ततः कश्चिच्चारनित्याच्च दर्शनात् ॥ १३१ ॥

हे नरनाथ ! जिसमें गुप्तचर नियुक्तिसे राज्यकी अवस्थापर निरीक्षण करते हुए सदा दण्ड–नीतिसे नियमानुसार राज्यकी रक्षा करनी उचित है, जिससे कोई आक्रमण करनेमें समर्थ न हो सके ॥ १३१ ॥

आत्मना करणैश्चैव समस्येह महीक्षितः।
को हेतुर्यद्वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात् ॥ १३२ ॥

सब जगत् जो एक ही पुरुषके वशीभूत होता है; यह दैवीगुण निर्बन्ध ही उसका कारण है; दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ १३२ ॥

विष्णोर्ललाटात्कमलं सौवर्णमभवत्तदा।
श्रीः संभूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः ॥ १३३ ॥

उसी समय भगवान् विष्णुके मस्तकसे एक सुनहला कमल प्रकट हुआ, उसीसे बुद्धिमान् धर्मकी पत्नी श्री देवी अर्थात् पालयित्री स्त्री उत्पन्न हुई ॥ १३३ ॥

श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव।
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता ॥ १३४ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! धर्मतः श्रीसे ही सब अर्थ उत्पन्न हुए। तभीसे राज्यमें धर्म, अर्थ और श्री ये तीनों ही प्रतिष्ठित हुए ॥ १३४ ॥

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम्।
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिवशानुगः ॥ १३५ ॥

तात ! मनुष्य पूर्व जन्मके किये हुए सुकृतके क्षय होनेपर स्वर्ग लोकसे पृथ्वीपर आगमन करके सतोगुणावलम्बी, बुद्धिमान्, दण्डनीति जाननेवाला भूपति होकर जन्म ग्रहण करता है ॥ १३५ ॥

महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ।
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति ॥ १३६ ॥

वह मनुष्य पृथ्वीपर विष्णुकी महत्तासे युक्त और बुद्धिमान् होकर असीम महात्म्यको प्राप्त करता है ॥ १३६ ॥

स्थापनामथ देवानां न कश्चिदतिवर्तते ।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदनुविधीयते ॥ १३७ ॥

उसे देवताओंके स्थानपर प्रस्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करता, अखिल जगत् उस एक ही पुरुषके वशीभूत होता है और उसके अनुशासनके अनुसार रहता है ॥ १३७ ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठति ॥ १३८ ॥

हे राजेन्द्र ! शुभ कर्मोंका फल शुभ रूपसे ही परिणत होता है। देखिये, सबके मनुष्योंके समान ही होनेपर भी यह सारा जगत् एक ही राजाकी आज्ञामें चलता है ॥ १३८ ॥

यो ह्यस्य मुखमद्राक्षीत्सोऽप्य सोऽस्य वशानुगः ।
सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥ १३९ ॥

जो उसके मनोहर मुखको देखता है, वही उसके वशमें हो जाता है; वह राजाको मङ्गलमय रूपवान् और धनवान् ही देखता है ॥ १३९ ॥

ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशां पते ॥ १४० ॥

हे राजेन्द्र ! पृथ्वीपते ! उस ही समयमें पण्डित लोग "देव और नरदेव समान हैं," ऐसा ही सदा कहा करते हैं ॥ १४० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रति राजसु ।
कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तताम् ॥ १४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ २११५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ महाराज ! राजाओंका जो महत्त्व है, वह सब मैंने पूर्ण तया तुम्हें कहा है; अब कहिये, इस विषयमें आप और क्या जानना चाहते हैं ? ॥ १४१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ २११५ ॥

×

॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन बोले— इसके अनन्तर युधिष्ठिरने नियमशील होकर गंगानन्दन भीष्म पितामहको प्रणाम करके हाथ जोडके फिर पूछा ॥ १ ॥

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चतुर्णामाश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ पितामह ! अनुलोम और विलोम जात वर्णोंके साधारण धर्म क्या हैं ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके चारों वर्णोंके पृथक् धर्म कौनसे हैं और चारों आश्रमोंके भी क्या हैं ? कौन धर्म राजधर्म कहके माना जाता है ? ॥ २ ॥

केन स्विद्वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते ।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥

किसी भांति राज्य बढता है और कौनसा उपाय अवलम्बन करनेसे राजाका अभ्युदय होता है ? पुरवासियों और भृत्योंकी उन्नत अवस्था कैसे हो सकती है ? ॥ ३ ॥

कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान्मन्त्रिणस्तथा ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्कीदृशान्वर्जयेन्नृपः ॥ ४ ॥

राजा कैसे कोष, दण्ड, किला, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक, पुरोहित और गुरुको परित्याग करे ? ॥ ४ ॥

केषु विश्वसितव्यं स्याद्राज्ञां कस्यांचिदापदि ।
कुतो वात्मा दृढो रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! किस भांतिकी आपद उपस्थित होनेपर किन मनुष्योंपर राजाको विश्वास करना उचित है ? और किस विषयसे आत्माकी सब भांतिसे रक्षा करनी उचित है ? आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्वा धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— महान् धर्मको नमस्कार है, पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण भगवानको नमस्कार है; तथा मैं ब्राह्मणोंको प्रणाम करके नित्य सनातन धर्मकी व्याख्या करूंगा ॥ ६ ॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥ ७ ॥

क्रोध न करना, सत्यवचन, धनको बांटकर उपभोगना, क्षमा, निज स्त्रीसे संतान उत्पन्न करना, पवित्रता, किसीसे वैर न करना ॥ ७ ॥

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ॥ ८ ॥

विनीतता और सेवकोंका पालन– ये नौ अनुलोम और विलोम जाति वर्णोंके साधारण धर्म हैं । और इसके अतिरिक्त जो सनातनधर्म केवल ब्राह्मणके ही लिये आचरित है, उसे कहता हूं, सुनो ॥ ८ ॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।
स्वाध्यायोऽध्यापनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ९ ॥

महाराज ! दम अर्थात् इन्द्रियोंका निग्रह, तपके क्लेशोंमें सहनशीलता और जिससे दूसरे सब सांसारिक कार्योंकी समाप्ति होती है, वैसे वेदका अध्ययन करना ही ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

तं चेद्वित्तमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि ।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥ १० ॥

इसी भांति शान्त प्रकृतिवाले बुद्धिमान् ब्राह्मण दुष्कर्मोंमें रत न होके निज कर्मोंमें तत्पर रहने पर यदि धन स्वयं ही उसके समीप उपस्थित होवे ॥ १० ॥

कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद्यजेत च ।
संविभज्य हि भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीष्यते ॥ ११ ॥

तो सन्तान उत्पन्न होनेकी अभिलाषासे दार परिग्रह करके, वह सदा उस धनसे दान और यज्ञ आदि सत्कर्म करे । और भी पण्डितोंने कहा है, कि उस अर्थको स्वजनोंके सहित समभावसे भोग करे ॥ ११ ॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १२ ॥

केवल वेदाध्यनसे ही ब्राह्मणके सब कार्य समाप्त होते हैं अर्थात् वह कृतकृत्य होता है; इसके अनन्तर और कोई कर्म करे, वा न करे, वह सब प्राणियोंके साथ मित्रता रखनेके कारण प्रियमित्र कहके विख्यात होता है ॥ १२ ॥

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दद्याद्राजा न याचेत यजेत न तु याजयेत् ॥ १३ ॥

हे भारत ! क्षत्रियका भी जो पृथक् धर्म है, वह तुमसे कहता हूं, सुनो । क्षत्रिय राजा दान करे परन्तु किसीसे मांगे नहीं; स्वयं यज्ञ आदि करे, परन्तु याजकता न करे ॥ १३ ॥

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम् ॥ १४ ॥

वह अध्ययन करे, पर किसीको पढावे नहीं; प्रजाजनोंका सब भांतिसे पालन करे, सदा डाकुओंके वधमें नियुक्त रहे और रणभूमिमें पराक्रम प्रकाशित करे ॥ १४ ॥

ये च क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः ।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥ १५ ॥

जो राजा अश्वमेध आदि यज्ञोंको करते और वेदोंके ज्ञाता हैं और जो युद्धक्षेत्रमें विजय प्राप्त करते हैं; वेही त्रिलोकोंपर विजय प्राप्त करनेवालोमें श्रेष्ठ हैं ॥ १५ ॥

अविक्षतेन देहेन समराद्यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १६ ॥

क्षत्रियको अक्षत शरीरसे युद्धभूमिसे पलायमान होने पर दीर्घदर्शी पण्डित लोग उसके वैसे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ १६ ॥

वधं हि क्षत्रबन्धूनां धर्ममाहुः प्रधानतः ।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद्दस्युनिबर्हणात् ॥ १७ ॥

इसलिये वध ही क्षत्रियोंके लिये प्रधान धर्म कहा गया है; परन्तु डाकुओंका दमन— वध करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्म उसका श्रेष्ठ कर्त्तव्य कार्य कहके नहीं बोध होता है ॥१७॥

दानमध्ययनं यज्ञो योगः क्षेमो विधीयते ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥ १८ ॥

दान, अध्ययन, यज्ञ और योग ही राजाओंके निमित्त मङ्गलकारी हैं । इसलिये धर्मकी अभिलाषा करनेवाला राजा विशेष यत्नके सहित युद्ध करे ॥ १८ ॥

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः ।
धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत् ॥ १९ ॥

राजा प्रजा समूहको उनके निज धर्मोंमें स्थित करके उनसे शांति पूर्ण धर्म पूर्वक समभावसे सब कार्योंको सिद्ध करे ॥ १९ ॥

परिनिष्ठितकार्यं स्यान्नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥ २० ॥

इसी भांति प्रजापालन करनेसे ही राजाका सब कार्य समाप्त होता है । इसके अनन्तर वह कोई कार्य करे, वा न करे; सब प्राणियोंके मुख्य राजा कहके प्रसिद्ध होता है, उसे ऐन्द्र कहते हैं ॥ २० ॥

वैश्यस्यापीह यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥ २१ ॥

हे भारत ! वैश्यका भी जो यहां नित्य धर्म है, वह तुमसे कहता हूं, सुनो । दान, अध्ययन, यज्ञ, उत्तम उपायके सहारे धन सञ्चय ॥ २१ ॥

पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वपशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत्कर्म यद्यत्समाचरेत् ।
रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

और अनुराग पूर्वक यथायोग्य रीतिसे पिताकी भांति पशुओंका पालन करे, दूसरा कुछ भी कार्य न करे; क्यों कि इसके अतिरिक्त दूसरे सब कार्य ही उसके अकर्त्तव्य कहके वर्णित हुए हैं; पशुओंके रक्षणसे वैश्यको महान् सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ २३ ॥

प्रजापतिने पशुओंकी सृष्टि करके उनके पालनका भार वैश्यको दिया था । ब्राह्मण और राजाको ब्रह्माने सारी प्रजाके पोषणका भार सौंपा था ॥ २३ ॥

तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ॥ २४ ॥

इसके अनन्तर वैश्य जिस वृत्तिको अवलम्बन करेगा तथा जिस उपायके सहारे जीविका निर्वाह करेगा, वह भी कहता हूं । जो वैश्य छः गौओंका पालन करे, वह निज वेतन रूपी एक गऊका दूध पीवे ! सौ गौओंकी रक्षा करनेवाला निज वार्षिक वेतनरूप एक गो–मिथुन पावेगा ॥ २४ ॥

लये च सप्तमो भागस्तथा शृङ्गे कला खुरे ।
सस्यस्य सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ॥ २५ ॥

उन पशुओंके दूध आदि तथा सींग बेचनेसे प्राप्त धनमेंसे सातवां भाग ही वह ले ले; खुर बेचनेके धनमेंसे सोलहवां भाग ही ग्रहण करे । सब भांतिके शस्य तथा बीजका सातवां भाग उसका अंश कहके वर्णित हुआ है; और यही उसका एक वर्षका वेतन है ॥ २५ ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ २६ ॥

वैश्य पशुओंके पालनेमें अनिच्छा कभी भी प्रकाशित न करे, और वैश्यके इच्छा करनेपर दूसरे किसीसे किसी तरह भी मालिकको वह कार्य नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ॥ २७ ॥

हे भारत ! शूद्रका भी जो पृथक् धर्म है, उसे कहता हूं, सुनो । प्रजापतिने शूद्रको अन्य सब वर्णोंका सेवक कहके वर्णन किया है ॥ २७ ॥

तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ।
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ॥ २८ ॥

इससे सब वर्णवालोंकी सेवा करना ही शूद्रका कर्त्तव्य है; उनकी सेवा करनेसे ही शूद्रको महत् सुख प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

शूद्र एतान्परिचरेत्त्रीन्वर्णाननसूयकः ।
संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन ॥ २९ ॥

शूद्र ईर्ष्या न करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवामें नियुक्त रहे, परन्तु वह कभी किसी प्रकार भी धन सञ्चय न करे ॥ २९ ॥

पापीयान्हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ।
राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ॥ ३० ॥

क्योंकि वह धनवान होनेसे अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंको वशीभूत और पाप कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होगा; परन्तु धार्मिक शूद्र राजाकी आज्ञा लेकर इच्छानुसार धर्म प्रधान कार्य कर सकता है ॥ ३० ॥

तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
अवश्यभरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ॥ ३१ ॥

शूद्र जिस वृत्तिका अवलम्बन करेगा और जिस उपायके सहारे जीविका निर्वाह करेगा; वह भी कहता हूं । ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंको शूद्रका भरण पोषण अवश्य करना चाहिये, वह भरण पोषणके योग्य कहा गया है ॥ ३१ ॥

छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च ।
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ॥ ३२ ॥

पुराना छत्र, पगडी, अनुलेपन, जूता और व्यजन आदि सेवामें रहनेवाले शूद्रको प्रदान करना योग्य है ॥ ३२ ॥

अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ।
शूद्रायैव विधेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ॥ ३३ ॥

न पहरने योग्य पुराने वस्त्र द्विजातियोंने शूद्रको ही देना उचित है, क्योंकि वह उसका ही धर्म-धन है ॥ ३३ ॥

यश्च कश्चिद्द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत्।
कल्प्यां तस्य तु तेनाहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः।
देयः पिण्डोऽनपेतायाथ भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥ ३४ ॥

धर्मात्मा मनुष्य कहा करते हैं, कि शूद्र सेवा करनेकी इच्छासे द्विजातियोंके बीच यदि किसीके पास जाय, तो वह उसके उपयुक्त वृत्तिको उसे प्रदान करे। प्रतिपालक द्विजातिके अपत्य हीन होने पर शूद्र उसे पिण्डदान करे और वृद्ध तथा दुर्बल होनेपर उसका पालन भी करे ॥ ३४ ॥

शूद्रेण च न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये।
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो ह्यसौ ॥ ३५ ॥

अधिक कहां तक कहें, चाहे कैसी ही विपत् क्यों न उपस्थित होवे, किसी भी अवस्थामें स्वामीको परित्याग करना शूद्रका कर्त्तव्य नहीं है। स्वामीकी दीन दशा उपस्थित होनेपर अपने परिवारसे भी अधिक उसका पालन करना शूद्रका कर्त्तव्य है; क्यों कि शूद्रका जो कुछ धन आदि रहता है, वह सब उसके स्वामीका है, उसमें उसे कुछ अधिकार नहीं है॥३५॥

उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्त्रय्यैव भारत।
स्वाहाकारनमस्कारौ मंत्रः शूद्रे विधीयते ॥ ३६ ॥

हे भरतनन्दन ! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके लिये धर्म और यज्ञ आदि त्रयी वर्णित हुई है, परन्तु शूद्रको स्वाहाकार, नमस्कार और वैदिक मन्त्रोंमें अधिकार कहा गया है ॥ ३६ ॥

ताभ्यां शूद्रः पाकयज्ञैर्यजेत व्रतवान्स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३७ ॥

इसमेंसे शूद्र स्वयं श्रौतव्रतसे रहित होकर पाकयज्ञों (ग्रहशान्ति, वैश्वदेवादि) से यजन करे; पाकयज्ञकी दक्षिणा पूर्णपात्रमयी कही गयी है ॥ ३७ ॥

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३८ ॥

हमने सुना है, कि पहिले पैजवन नामक शूद्रने ऐन्द्राग्नी–विधानसे यज्ञ करके दक्षिणा स्वरूप एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे ॥ ३८ ॥

अतो हि सर्ववर्णानां श्रद्धायज्ञो विधीयते।
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत् ॥ ३९ ॥

इसलिये ही सब वर्णोंके लिये श्रद्धारूप यज्ञका ही विधान है; श्रद्धा महान् देवता है, वही यज्ञ करनेवालोंको पवित्र करती है ॥ ३९ ॥

दैवतं परमं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ।
अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः सनातनैः ॥ ४० ॥

ब्राह्मण परम देवता माने गये हैं; सब लोग अपने अपने कर्मसे परस्पर सहायक होते हैं; सब वर्णके लोगोंने यहीं यज्ञोंका अनुष्ठान किया है और वे सनातन मनोकामनाओंसे सफल हुए हैं ॥ ४० ॥

संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ।
देवानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हि तत् ।
तस्माद्वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणोंसे ही इतर तीनों वर्णोंकी सृष्टि हुई है; जो देवताओंके भी देवता हैं, वे ब्राह्मण लोग जो कुछ कहें, वही मङ्गलजनक है । इसही कारण अन्य वर्णोंके लोग ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अनुसार ही यज्ञ कार्योंमें प्रवृत्त होवें, अपनी इच्छानुसार नहीं करें ॥ ४१ ॥

ऋग्यजुःसामवित्पूज्यो नित्यं स्याद्देववद्द्विजः ।
अनृग्यजुरसामा तु प्राजापत्य उपद्रवः ॥ ४२ ॥

ऋक्, यजु और सामवेद जाननेवाला ब्राह्मण सदा देवताके समान पूजनीय होता है, और दासरूपसे परिगणित शूद्र ऋक्, यजु और सामके ज्ञानसे रहित होकर भी प्राजापत्य प्रजापति कहके गिना जाता है ॥ ४२ ॥

यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ।
नास्य यज्ञहनो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः ।
तस्मात्सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४३ ॥

हे तात भारत ! सङ्कल्प करके देवताओंके निमित्त द्रव्यत्यागरूपी यज्ञमें सब वर्णवालोंको अधिकार है; अधम वर्ण शूद्र भी यदि वैसा यज्ञ करे, तो देवता लोग तथा उत्तम वर्णवाले भी उसके यज्ञभागको ग्रहण करते हैं । इस ही कारण सब वर्णोंके वास्ते श्रद्धायज्ञकी विधि वर्णित हुई है ॥ ४३ ॥

स्वं दैवतं ब्राह्मणाः स्वेन नित्यं परान्वर्णानयजन्नेवमासीत् ।
आरोचिता नः सुमहान्स धर्मः सृष्टो ब्रह्मणा त्रिषु वर्णेषु दृष्टः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण अपने कर्मोंसे सदा क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लिये अपने अपने देवताके समान है, इस कारण वह दूसरे वर्णोंका यज्ञ न करता है, ऐसी बात नहीं है; तीनों वर्णोंके लिये योग्य जो धर्म ब्रह्माने देखा वह ही महान् उज्वल धर्म हमारे लिये उन्होंने निर्माण करके नियत किया है ॥ ४४ ॥

तस्माद्वर्णा ऋजवो जातिधर्माः संसृज्यन्ते तस्य विपाक एषः ।
एकं साम यजुरेकमृगेका विप्रश्चैकोऽनिश्चयस्तेषु दृष्टः ॥ ४५ ॥

यह सब देखके निश्चय बोध होता है, ब्राह्मणोंसे ही क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके यज्ञोंकी उत्पत्ति हुई है । जब कि ब्राह्मण ही क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके यज्ञस्रष्टा हैं और उनके विकारसे ही क्षत्रिय आदिकी कन्याओंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई है, इससे क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण साधु और ब्राह्मणोंके ज्ञाति वर्ण हैं; क्योंकि एक मात्र ब्रह्मसे ही पहिले ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति हुई, और उस ब्राह्मणसे ही क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनों वर्ण उत्पन्न हुए हैं । जैसे एक मात्र अकारसे ही ऋक्, साम और यजु ये तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं, और वे वेद उससे भिन्न नहीं हैं; वैसे ही एक ब्रह्मसे ही ब्राह्मणादिक चारों वर्ण उत्पन्न होके भी परस्पर समान हैं, ब्राह्मणके साथ सबकी अभिन्नता है ॥ ४५ ॥

अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४६ ॥

हे राजेन्द्र ! पुराण जाननेवाले पण्डित लोग इस प्रस्तावके उदाहरण स्वरूप यज्ञकी इच्छा करनेवाले वैखानस मुनियोंकी कही हुई एक गाथाका वर्णन करते हैं; यज्ञ समय विष्णु–गीत यज्ञ–स्तुति विषयक है और– गायी गयी है ॥ ४६ ॥

उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥ ४७ ॥

सवेरे– सूर्यके उदय होनेपर अथवा पहले– समय श्रद्धावान जितेन्द्रिय पुरुष जो धर्मानुसार अग्निमें होम किया करता है, श्रद्धा ही उसमें मुख्य कारण है ॥ ४७ ॥

यत्स्कन्नमस्य तत्पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणोंमें जो षोडश प्रकारके अग्निहोत्र कहे गये हैं, उसमें जो अस्कन्न अर्थात् मरुत–दैवत है, वह निकृष्ट और अस्कन्न अर्थात् यथा विधिसे होम होता है, वही सबसे उत्तम है । इसी प्रकार अनेक प्रकारके यज्ञ हैं, और वे बहुविधि कर्मफल देनेवाले हैं ॥ ४८ ॥

तानि यः संविजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ४९ ॥

जो उन षोडश भांतिके अग्निहोत्र, अनेक भांतिके यज्ञोंके रूप तथा कई प्रकारके कर्म और उनके फलोंको जानता है, वही ज्ञानी श्रद्धावान द्विज ही यज्ञ करनेका पात्र है ॥ ४९ ॥

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः ।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५० ॥

जो यज्ञादिकोंसे यज्ञस्वरूप विष्णुके आराधनाकी इच्छा करता है, वह पुरुष यदि चोर, पापी वा महापापी हो, तौभी पण्डित लोग उसे साधु ही कहा करते हैं ॥ ५० ॥

ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् ।
सर्वथा सर्ववर्णैर्हि यष्टव्यमिति निश्चयः ।
न हि यज्ञसमं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ५१ ॥

महर्षि लोग इसीकी प्रशंसा किया करते हैं; यही यज्ञकर्म उत्तम है, इसमें कोई संशय नहीं है; तब सब वर्णोंको ही सर्वदा सब भांतिसे यज्ञ करना कर्तव्य है, यही निश्चय हुआ है । तीनों लोकोंमें यज्ञके समान दूसरा कोई भी कर्म नहीं है ॥ ५१ ॥

तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता ।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति प्रयच्छता ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ २१६७ ॥

इससे सबको ही असूया-रहित और श्रद्धावान होकर शास्त्रीय विधिके अनुसार अपनी शक्ति तथा इच्छानुसार यज्ञ करना उचित है ॥ ५२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें साठवां अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ २१६७ ॥

: ६१ :

भीष्म उवाच—

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम ।
चतुर्णामिह वर्णानां कर्माणि च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्म बोले- हे महाबाहो सत्यपराक्रमी युधिष्ठिर ! अब चारों आश्रमोंके नाम और कर्मोंको सुनो ॥ १ ॥

वानप्रस्थं भैक्षचर्यां गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ २ ॥

शास्त्रकारोंने वानप्रस्थ, भैक्षचर्य (संन्यास) महान् आश्रम गार्हस्थ और चौथा ब्रह्मचर्य,- यही चार प्रकारके आश्रमोंका वर्णन किया है। चौथे संन्यास आश्रमका स्वीकार ब्राह्मणोंने ही किया है ॥ २ ॥

जटाकरणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान्संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत्कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ ४ ॥

द्विजकुलमें जन्म लेकर जटाधारण संस्कार और अग्न्याधान आदि कार्योंको समाप्त करके, वेद पढते हुए आत्मवान और जितेन्द्रिय होकर सस्त्रीक हो, चाहे स्त्रीरहित होकर ही गृहस्थाश्रममें कृतकृत्य होकर फिर वानप्रस्थ आश्रममें गमन करे ॥ ३-४ ॥

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रजायित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥

इसी भांति वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करके वहीं पर वह धर्मका ज्ञाता पुरुष आरण्यक शास्त्रोंका अध्ययन करके वानप्रस्थ आश्रम धर्मका पालन करे; फिर ऊर्द्धरेता होकर प्रव्रज्या करते हुए अक्षय मोक्षपदको पाता है ॥ ५ ॥

एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥

हे राजन् ! ऊर्ध्वरेता मुनियोंसे आचरित इन्हीं साधनोंका विद्वान् ब्राह्मणको पहिले ही आश्रय लेना उचित है ॥ ६ ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशां पते ।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीपति ! इस ब्रह्मचर्य आश्रमके कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करनेके अनन्तर मोक्षकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणको उसे ब्रह्मचर्य आश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करनेका अधिकार प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण इस आश्रममें प्रवेश करके अस्तमितशायी अर्थात् दिनमें निद्रारहित, आत्मस्वार्थ इच्छासे हीन, गृहरक्षित, मननशील, धार्मिक और जितेन्द्रिय होकर जो कुछ भोजनकी वस्तु प्राप्त होवे, उससेही जीविका निर्वाह करे ॥ ८ ॥

निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान् ।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ९ ॥

आशारहित, सबमे समभावसे युक्त, निर्भोग और निर्विकार अर्थात् काम सङ्कल्प आदिसे रहित ब्राह्मण इस क्षेमाश्रम– मङ्गलमय आश्रममें निवास करके मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

अधीत्य वेदान्कृतसर्वकृत्यः संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा ।
समाहितः प्रचरेद्दुश्चरं तं गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मदृष्टम् ॥ १० ॥

जो वेदाध्ययनके अनन्तर सब कर्त्तव्य कार्योंको समाप्त कर, पुत्र उत्पन्न और अनेक भांतिके सुख भोग करते हुए, योगयुक्त होकर, मुनियोंसे सेवित दुष्कर गार्हस्थ धर्मका आचरण करता है, वह उत्तम गृहस्थ है ॥ १० ॥

स्वदारतुष्ट ऋतुकालगामी नियोगसेवी नशठो नजिह्मः ।
मिताशनो देवपरः कृतज्ञः सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥

गृहस्थाश्रमवासी पुरुषको सदा निज स्त्रीमें सन्तुष्ट, ऋतुकालमेंही गमन करना, शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करना, धूर्ततारहित, कुटिलताहीन, मिताहारी, देवताओंकी उपासनामें रत, कृतज्ञ, सत्यवादी, सरलतायुक्त, क्रूरता रहित, क्षमावान्, ॥ ११ ॥

दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो अन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः ।
अमत्सरी सर्वलिङ्गिप्रदाता वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥ १२ ॥

इन्द्रियसंयमी, आज्ञावश, हव्य-कव्यमें आलस रहित, द्विजोंको सदा-सर्वदा अन्नदान करनेवाला, मत्सरता हीन, धर्मचिन्ह युक्त, सब आश्रमोंके अन्नदाता और वेदविहित कर्मोंमें निष्ठावान् होना उचित है ॥ १२ ॥

अथात्र नारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः ।
महार्थमत्यर्थतपःप्रयुक्तं तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! इस प्रस्तावमें महात्मा महर्षि लोग जो महान् अर्थपूर्ण, अत्यन्त तपसे युक्त और सारभूत नारायणगीतका प्रमाण देते हैं, उसे कहता हूं, सुनो ॥ १३ ॥

सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथार्थश्च रतिश्च दारे ।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन्परे चैव मतं ममैतत् ॥ १४ ॥

"हमारे मतमें गृहस्थ इस लोकमें सत्य, कोमलता, अतिथिपूजा, धर्म, अर्थ, निज स्त्रीमें रति और दूसरे अनेक भांतिके सुखोंका सेवन करे, तो उसे परलोकमें भी सुख प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

भरणं पुत्रदाराणां वेदानां पारणं तथा ।
सतां तमाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥

महर्षि लोग गृहस्थाश्रमवासी पुरुषोंके वास्ते स्त्री-पुत्रोंका पालन और वेदोंको धारण अर्थात् पढना और पढाना रूप कार्यको ही श्रेष्ठ कहा करते हैं ॥ १५ ॥

एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत् ।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥ १६ ॥

इसी भांति जो यज्ञशील ब्राह्मण गृहस्थवृत्तिको सब भांतिसे परिशोधित करके न्यायसे प्राप्त हुए धनसे जीविका निर्वाह करता हुआ गार्हस्थ्य आश्रममें वास करता है, वह स्वर्ग लोकमें शुद्ध फल लाभ करता है ॥ १६ ॥

तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः ।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोक्षिशिरोमुखाः ॥ १७ ॥

देह त्यागनेके अनन्तर उसकी सब इष्ट कामनाएं अक्षय होकर अनन्त काल पर्यन्त वेतन भोगी सेवककी भांति उसकी अनुगामिनी होती हैं, मानो उनके नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर हों ॥ १७ ॥

खादन्नेको जपन्नेकः सर्पन्नेको युधिष्ठिर ।
एकस्मिन्नेव आचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥ १८ ॥

हे युधिष्ठिर ! ब्रह्मचारी सदा अकेला ही खाते तथा चलते समय भी अभीष्ट मन्त्रोंका जप करे; और अपना शरीर मल-कीचडसे भरा हुआ होव तो भी एकमात्र आचार्यकी ही सेवामें तत्पर रहे ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी ।
अविचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन्वसेत्सदा ॥ १९ ॥

ब्रह्मचारी नित्य व्रतावलम्बी, सदा दीक्षामें तत्पर और जितेन्द्रिय होकर वेदान्त विचारके अनुसार ध्यान-योग आदि सब कर्त्तव्य कर्मोंको समाप्त करके ब्रह्मचर्याश्रममें वास करें ॥१९॥

शुश्रूषां सततं कुर्वन्गुरोः संप्रणमेत च ।
षट्कर्मस्वनिवृत्तश्च नप्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥

सदा गुरुकी सेवा करे और उन्हें प्रणाम करें; यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन और दान-प्रतिग्रह- इन छः कर्मोंसे दूर रहे और दूसरे किसी कर्ममें वह कभी प्रवृत्त न होवे ॥ २० ॥

न चरत्यधिकारेण सेवितं द्विषतो न च ।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ २१८८ ॥

शत्रुओंकी सेवा वा किसीके ऊपर निग्रह प्रकाश करना उचित नहीं है । हे तात युधिष्ठिर ! ब्रह्मचारीके वास्ते यही आश्रम पद निश्चित हुआ है ॥ २१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ २१८८ ॥

: ६२ :

युधिष्ठिर उवाच—

शिवान्सुखान्महोदर्कानहिंस्राँल्लोकसंमतान् ।
ब्रूहि धर्मान्सुखोपायान्मद्विधानां सुखावहान् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले- उत्तर कालमें सुखदायक, मङ्गलमय, अहिंसासे युक्त, लोक सम्मत, सुखके उपायका कारण और मेरे समान मनुष्योंको सुख प्राप्त होनेके योग्य धर्मोंका वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणस्येह चत्वार आश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्ताननुवर्तन्ते त्रयो भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्म बोले- हे प्रभु भरत-सत्तम ! यहां ब्राह्मणोंके लिये ही चारों आश्रम विहित हैं, क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लोग उनका अनुसरण करते हैं ॥ २ ॥

उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन्स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि ।
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत् ॥ ३ ॥

राजन्! क्षत्रियोंको जो युद्धमें विजय लाभ प्रभृति स्वर्ग प्राप्त होने योग्य अनेक भांतिके हिंसा-युक्त कार्य वर्णित हुए हैं; वे ब्राह्मणके लिये योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे सब कर्म हिंसामें प्रवृत्त क्षत्रियोंके पक्षमें ही कहे गये हैं ॥ ३ ॥

क्षात्राणि वैश्यानि च सेवमानः शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन् ।
अस्मिल्लँोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥

ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर यदि कोई पुरुष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करे, तो वह मन्दबुद्धि इस लोकमें निन्दित और परलोकमें नरकगामी होता है ॥ ४ ॥

या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे तां संज्ञां कुरु पाण्डव ॥ ५ ॥

हे पाण्डुनन्दन! पृथ्वीपर दास, कुत्ते, भेडिये और अन्य पशुओंके विपयमें जो निन्दावाचक संज्ञा दी जाती है, ब्राह्मण यदि कुकर्मी हो तो उसके विपयमें भी वही संज्ञा देनी चाहिये ॥५॥

षट्कर्मसंप्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संभूतस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥

जो ब्राह्मण यजन–याजन, अध्ययन–अध्यापन और दान–परिग्रह– ये षट्कर्म और वानप्रस्थ आदि चारों आश्रमोंमें प्रवृत्त, संपूर्ण धर्मोंका यथायोग्य पालन, कृतात्मा, स्थिरचित्त ॥ ६ ॥

ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसंज्ञिताः ॥ ७ ॥

पवित्र स्वभाववाला, तपस्यामें रत, आत्म–स्वार्थ इच्छासे रहित और धार्मिक होता है, उसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

यो यस्मिन्कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च ।
तादृशं तादृशेनैव स गुणं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

जो पुरुष जैसी अवस्थामें जिस स्थानपर जैसा कार्य करता है, वह उस ही कर्मभावसे उसके अनुरूप फल पाता है ॥ ८ ॥

वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसंजीवनेन च ।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र! उक्त कारणसे ही वैश्यकी व्याज लेनेकी वृत्ति, कृषि कर्म और वाणिज्य तथा क्षत्रियके प्रजापालनका कर्म– इनके समान ही ब्राह्मणोंका वेदाभ्यास कर्म महान् है, ऐसा तुम्हें समझना चाहिये ॥ ९ ॥

कालसंचोदितः कालः कालपर्यायनिश्चितः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ॥ १० ॥

प्राग्भव वासना समूहही कालप्रेरित होकर उत्तम, मध्यम और अधम कार्योंको किया करती हैं; क्योंकि सब ही कालके वशमें हैं ॥ १० ॥

अन्तवन्ति प्रदानानि पुरा श्रेयस्कराणि च ।
स्वकर्मनिरतो लोको ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ २१९९ ॥

शरीरके किये हुए प्राचीन पाप और पुण्यके फल, सुख तथा दुःख आदि सब ही नाशमान हैं; परन्तु जगतमें सुख आदि प्राप्त होनेके निमित्त जीव निज इच्छानुसार शुभ वा अशुभ निज कार्योंमें प्रवृत्त हुआ करता है और अपने वर्णाश्रमके उचित कर्म करनेवाला मनुष्य सब अवस्थाओंमें अक्षर और सर्वव्यापी होता है ॥ ११ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ २१९९ ॥

: ६३ :

भीष्म उवाच—

ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणं च कृषिर्वणिज्या पशुपालनं च ।
शुश्रूषणं चापि तथार्थहेतोरकार्यमेतत्परमं द्विजस्य ॥ १ ॥

भीष्म बोले— धनुष चढाना, शत्रुओंको मारना, कृषि, वाणिज्य, पशुओंका पालन और धन पानेकी इच्छासे दूसरेकी सेवा करना, ये सब ब्राह्मणोंके लिये अकार्य कहके वर्णित हुए हैं ॥ १ ॥

सेव्यं तु ब्रह्मषट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा ।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥

बुद्धिमान् ब्राह्मण गृहस्थको ब्रह्मविषयक षट्कर्मोंका आचरण कराना ही योग्य है; गृहस्थाश्रममें कृत–कृत्य होकर उसे वनमें निवास करना ही उत्तम कहा गया है ॥ २ ॥

राजप्रैष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिज्यया ।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणको उचित है, कि राजाकी सेवकाई, कृषिसे प्राप्त हुए धन, वाणिज्यसे जीविका निर्वाह, कुटिलता, कौलटेय अर्थात् परायी स्त्रीसे व्यभिचार और कुसीद अर्थात् ऋण देना, वा उसकी वृद्धि तथा व्याज लेना, इन सब कार्योंको परित्याग करे ॥ ३ ॥

शूद्रो राजन्भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्र्यो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तकश्च ग्रामप्रैष्यो यश्च भवेद्विकर्मा ॥ ४ ॥

महाराज ! ब्रह्मबन्धु अर्थात् अधम ब्राह्मण और दुश्चरित्री, निज धर्मको त्यागनेवाला, शूद्र जातीय स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला, निन्दक, नाचनेवाला, राजसेवक और कुकर्मोंमें रत रहनेवाला ब्राह्मण शूद्रके समान है ॥ ४ ॥

जपन्वेदानजपंश्चापि राजन्समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान्वर्जयेद्देवकृत्ये ॥ ५ ॥

राजन् ! ऊपर कहे हुए दुर्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण चाहे देवताओंके कहे हुए मन्त्रोंको जपे वा न जपे, दासोंकी भांति शूद्रोंकी पंक्तिमें भोजन करनेके योग्य होजाता है । महाराज ! ये राजसेवक आदि सब नीच ब्राह्मण शूद्रोंके ही समान हैं; इससे उन्हें देवकर्मोंमें त्यागना उचित है ॥ ५ ॥

निर्मर्यादे चाशने क्रूरवृत्तौ हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते ।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्देयान्यदेयानि भवन्ति तस्मिन् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण भोजनमें मर्यादा रहित, अपवित्र, क्रूरवृत्तिवाला, हिंसक और निज धर्म तथा वृत्तिको त्याग करनेवाला हो, तो उसे हव्य कव्य आदि जो कुछ दिया जाता है, वह सब विना दिये हुएके समान हो जाता है ॥ ६ ॥

तस्माद्धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य दमः शौचं चार्जवं चापि राजन् ।
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव पुरा राजन्ब्रह्मणा वै निसृष्टाः ॥ ७ ॥

महाराज ! इस ही कारण पितामहने ब्राह्मणोंके निमित्त इंद्रियसंयम, पवित्रता, विनीतता और सब आश्रमोंके धर्माचरणका विधान किया है, क्योंकि सबसे पहले उनकी सृष्टि ब्रह्माने की है ॥ ७ ॥

यः स्याद्दान्तः सोमप आर्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥

जो इंद्रियसंयमी, सोमपान करनेवाला, सुशील, दयालु, सहनशील, आशारहित, सरल, कोमलता युक्त, क्रूरतारहित और क्षमावान् पुरुष है, वही ब्राह्मण है; इसके अतिरिक्त पाप कर्म करनेवाला ब्राह्मण नहीं कहा जाता ॥ ८ ॥

शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राजल्लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः ।
तस्माद्वर्णाञ्जातिधर्मेषु सक्तान्मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ॥ ९ ॥

हे महाराज पाण्डुपुत्र ! धर्मकी इच्छा करनेवाले सभी लोग शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रियोंका आसरा ग्रहण करते हैं; इस ही कारण भगवान् विष्णु सब वर्ण जो जातिधर्ममें आसक्त हैं, उन्हें शान्तिधर्ममें असमर्थ समझके उनको धर्मका उपदेश करनेकी इच्छा नहीं करते ॥ ९ ॥

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः। ॥ १० ॥

इससे लोकमें जो लोगोंको सुख आदि प्राप्त होते हैं, चारों वर्ण और वेदवाद नहीं रहेंगे; सब भांतिके यज्ञ और सब लोगोंकी समस्त क्रियाएं नष्ट होजांय; तथा आश्रमस्थ सब पुरुष भी निज धर्ममें स्थित नहीं रहेंगे ॥ १० ॥

यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम्।
कर्तुमाश्रमदृष्टांश्च धर्मांस्ताञ्शृणु पाण्डव ॥ ११ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! जिससे राजा निज राज्यमें ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंको यथा उचित आश्रमोंके धर्माचरण करानेकी इच्छा करेगा, उसके लिये जानने योग्य जो अवश्य आचरणीय चारों आश्रमोंके समस्त धर्म हैं, उनका वर्णन सुनो ॥ ११ ॥

शुश्रूषाकृतकृत्यस्य कृतसंतानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञाप्य राजानं शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥ १३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! जो शूद्र सेवा करके कृतकृत्य हुआ है, जिसने पुत्र उत्पन्न किया है, जिसमें त्रैवर्णिकोंकी अपेक्षा बहुत कम अन्तर हुआ है, मनुप्रणीत दस धर्मोंके पालनमें रत है, उसे राजाकी अनुमति प्राप्त करके संन्यासको छोडकर शेष आश्रम विहित हैं ॥ १२–१३ ॥

भैक्षचर्या न तु प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! इसी भांति स्वधर्माचारी शूद्रके लिये तथा वैश्य और क्षत्रियके लिये भी भैक्षचर्य रूप चौथा आश्रमका विधान नहीं कहा गया है ॥ १४ ॥

कृत्यकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रममण्डलम् ॥ १५ ॥

परिश्रमके सहित कृषि–पशुपालन रूप अपने वर्ण धर्मोंका आचरण करनेवाला वैश्य गृहस्थाश्रममें कृतकृत्य होकर अधिक अवस्था हो जानेपर राजाकी आज्ञानुसार क्षत्रियोंके योग्य वानप्रस्थ आश्रमका आसरा ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ।
संतानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥ १६ ॥

हे निष्पाप नरेश ! क्षत्रिय राजा धर्मपूर्वक राजशास्त्र और वेद पढके, पुत्र उत्पन्न आदि कर्म करके यज्ञमें सोमपान करे ॥ १६ ॥

×

पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर ।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥

हे बोलनेवालोंमें मुख्य युधिष्ठिर ! धर्मपूर्वक सब प्रजाओंका पालन और राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे यज्ञोंका अनुष्ठान करे ॥ १७ ॥

समानीय यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥

शास्त्रानुसार सब सामग्री लाकर ब्राह्मणोंको यथा उचित दक्षिणा प्रदान करे; युद्धमें अल्प या महान् विजय प्राप्त करे ॥ १८ ॥

स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥

हे क्षत्रियर्षभ पाण्डुपुत्र ! इसके अनन्तर प्रजापालनमें समर्थ पुत्रको अथवा पुत्र न हो तो शास्त्रमें कहे हुए लक्षणसे युक्त अन्य-गोत्री क्षत्रियको निजसिंहासन पर अभिषिक्त करे ॥१९॥

अर्चयित्वा पितॄन्सम्यक्पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान्यज्ञैर्ऋषीन्वेदैरर्चित्वा चैव यत्नतः ॥ २० ॥

पितृयज्ञोंसे विधिपूर्वक पितरों, यज्ञादिकोंसे देवताओं और वेदोंसे ऋषियोंको यत्नपूर्वक यथारीतिसे पूजन कर ॥ २० ॥

अन्तकाले च संप्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
आनुपूर्व्याश्रमाद्राजन्गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

अन्त समयमें आश्रमान्तरमें गमन करनेकी इच्छा करें । हे राजन् ! इसी भांति यथारीतिसे सब आश्रमोंके धर्माचरण करनेसे क्षत्रिय सिद्धिलाभ कर सकता है ॥ २१ ॥

राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्षचर्याध्वसेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥ २२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजेन्द्र । क्षत्रिय गृहस्थ धर्म त्यागकर अपनेको राजर्षि न समझके संन्यास धर्मका परिभ्रमणपूर्वक पालन करते हुए केवल मात्र जीवन रक्षाके निमित्त भिक्षावृत्ति अवलम्बन करे ॥ २२ ॥

न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भरतर्षभ ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजशार्दूल ! आर्य लोग कहा करते हैं, कि यह भैक्षचर्य्य धर्म क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके निमित्त नित्य नहीं है; वे लोग इच्छानुसार चारों आश्रमवासियोंका कर्म ग्रहण करते वा नहीं भी कर सकते हैं ॥ २३ ॥

बह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः ।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि ॥ २४ ॥

हे राजन् ! राजधर्म बाहुबलके अधीन और क्षत्रियके लिये जगत्का श्रेष्ठतम धर्म है; उसका आचरण करनेवाले क्षत्रिय मानवोंका रक्षण करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंके धर्म तथा उपधर्म सब राजधर्मसे ही सुरक्षित होते हैं, यह मैंने वेदोंसे सुना है ॥ २४ ॥

यथा राजन्हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थं सम्प्रलीनान्निबोध ॥ २५ ॥

हे महाराज ! जैसे सभी प्राणियोंके पांवके चिन्ह हाथीके पाव चिन्हमें लीन होजाते हैं, वैसे ही सब भांतिके धर्मोंको सभी अवस्थाओंमें राजधर्ममें लीन समझना चाहिये ॥ २५ ॥

अल्पाश्रयानल्पफलान्वदन्ति धर्मानन्यान्धर्मविदो मनुष्याः ।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥

धर्म जाननेवाले पुरुष अन्य सब कर्मोंको अल्प आश्रय और स्वल्प फलदायक कहा करते हैं; क्यों कि आर्य लोग महाआश्रय, अनेक भांतिसे कल्याणदायक क्षात्रधर्मको ही कहते हैं, और इतर धर्म इसके समान नहीं हैं ॥ २६ ॥

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे धर्माः पाल्यमाना भवन्ति ।
सर्वत्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागे चाहुर्धर्ममग्र्यं पुराणम् ॥ २७ ॥

हे राजन् ! सब धर्मोंमें राजधर्म ही मुख्य है, राजधर्मसे ही सब धर्मोंका पालन होता है और राजधर्मोंमें ही सब भांतिके त्याग कहे गये हैं, इससे राजधर्म ही मुख्य है; क्यों कि आर्य लोग त्यागको ही सबसे श्रेष्ठ और प्राचीन धर्म कहा करते हैं ॥ २७ ॥

मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा न भवेयुर्विरुद्धाः ।
सर्वे धर्मश्चाश्रमाणां गताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥ २८ ॥

राजाओंकी दण्डनीति नष्ट होनेपर तीनों वेद डूब जायेंगे और सब धर्म ही नष्ट हो जायेंगे। प्राचीन क्षत्रियधर्म– राजधर्मको त्यागने पर सब आश्रम–धर्म भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २८ ॥

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मान्प्रविष्टाः ॥ २९ ॥

राजधर्मोंमें ही सब भांतिके त्यागोंका दर्शन होता है; राजधर्ममें सब दीक्षाओंका प्रतिपादन होता है; सब योग राजधर्मोंमें कहे गये हैं, और सब लोक ही राजधर्मोंमें प्रविष्ट हैं ॥ २९ ॥

यथा जीवाः प्रकृतौ वध्यमाना धर्माश्रितानामुपपीडनाय ।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः सर्वावस्थं नाद्रियन्ते स्वधर्मम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिपष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ २२२९ ॥

हे महाराज ! अधिक क्या कहूं? जैसे मृगोंका समूह नीचोंसे पीडित होकर उन मारनेवालोंके सुने तथा देखे हुए धर्मनाशका कारण होता है, वैसे ही यज्ञादि समस्त धर्म, कर्म राजधर्मसे वियुक्त होनेपर चोर लोग उन यज्ञादिकोंका नाश करते हैं, इससे लोग यज्ञादिकोंका सब अवस्थाओंमें अनादर करते हुए आत्मरक्षाके वास्ते निज धर्मको परित्याग करते हैं ॥ ३० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तिरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ २२२९ ॥

: ६४ :

भीष्म उवाच—

चातुराश्रम्यधर्माश्च जातिधर्माश्च पाण्डव ।
लोकपालोत्तराश्चैव क्षात्रे धर्मे व्यवस्थिताः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे पाण्डुनन्दन ! लौकिक तथा वैदिक उत्तम धर्म, चारों आश्रमोंके धर्म और यतिधर्म क्षात्रधर्ममें ही स्थित हैं ॥ १ ॥

सर्वाण्येतानि धर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम ।
निराशिषो जीवलोके क्षात्रे धर्मे व्यवस्थिताः ॥ २ ॥

हे भरतसत्तम ! ये सब कर्म ही क्षात्रधर्मके अधीन हैं, इससे क्षात्रधर्ममें स्थित होनेसे इस प्राणियोंके जगतमें वे विषरहित सर्पकी भांति इच्छा रहित होते हैं ॥ २ ॥

अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम् ।
प्ररूपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम् ॥ ३ ॥

महाराज ! आश्रमवासियोंका सनातन धर्म अप्रत्यक्ष और बहुद्वारवाला है; विद्वान लोग शास्त्रोंसे ही उसके स्वरूपको प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम् ।
अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे रताः ॥ ४ ॥

धर्मतत्त्वको न जाननेवाले दूसरे लोग पुण्यमय वचनोंसे लोगोंके विश्वासको भ्रष्ट करते हैं, तब वे श्रोतालोग प्रत्यक्ष उदाहरण न मिलनेसे परलोकमें नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षसुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम् ।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

जो प्रत्यक्ष, अधिक सुखकारी, आत्माके साक्षित्त्वसे युक्त, छलरहित और सब लोगोंके कल्याणकर्ता धर्म है, वह क्षत्रियोंमें प्रतिष्ठित है ॥ ५ ॥

धर्माश्रमव्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा ।
राजधर्मेष्वनुपमा लोक्या सुचरितैरिह ॥ ६ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! जैसे पहिले क्षत्रिय धर्माश्रममें तीनों वर्णोंके धर्मका अन्तर्भाव प्रकट हुआ है, वैसे ही इस गार्हस्थ्य आश्रमके बीच नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यति इन तीनों आश्रमोंमें स्थित ब्राह्मणोंके धर्मोंका समावेश होता है तथा उत्तम चरित युक्त सब लोक राजधर्ममें अनुपम हुए हैं ॥ ६ ॥

उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम् ।
सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा ।
जग्मुः सुबहवः शूरा राजानो दण्डनीतये ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! यह सब मैंने तुमसे कहा ही है । पहले समयमें अनेक शूर वीर राजा राजदण्ड-नीतिको दृष्टान्तके सहित प्राप्त करनेके लिये सब प्राणियोंके स्वामी महातेजस्वी सर्वव्यापी भगवान् नारायण विष्णु देवके पास गये ॥ ७ ॥

एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाश्रमे पुरा ।
राजानः पर्युपातिष्ठन्दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ८ ॥

वे पहले आश्रमके विषयमें एक एक कर्मकी दण्डनीतिके साथ तुलना करके इसमें श्रेष्ठ कौन है, यह नहीं समझ सके; इसलिये सिद्धान्त जाननेकी इच्छासे वे राजा भगवान् विष्णुके पास आये थे ॥ ८ ॥

साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
सृष्टाः पुरा आदिदेवेन देवा क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः ॥ ९ ॥

साध्य, देवता, वसु, अश्विनीदेवता, रुद्र, विश्वेदेव और मरुत् गण और सिद्धगण पहले अश्विनीकुमार आदि देव नारायणसे उत्पन्न होके क्षात्रधर्ममें प्रवृत्त हुए थे ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम् ।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकायने कृते ।
बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान् ॥ १० ॥

यहां उस धर्म पूरित अर्थ युक्त इतिहासको तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं। सुनो ! हे राजेन्द्र ! पहिले यह जगत् दानव रूप होकर समुद्र निज मर्यादाका अतिक्रम करके चला था; उस समय पृथ्वी पर मान्धाता नामक एक पराक्रमी राजा हुए थे ॥ १० ॥

पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ।
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रति ॥ ११ ॥

तब पृथ्वीपति राजाने आदि, मध्य और अन्तहीन देवोंके देव परमेश्वर नारायणके दर्शनकी इच्छासे एक यज्ञ किया ॥ ११ ॥

स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेष्ठिनः ।
जग्राह शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः ॥ १२ ॥

हे राजशार्दूल ! राजा मान्धाताने उस यज्ञमें परमेष्ठि महात्मा भगवान् विष्णुके चरणोंपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १२ ॥

दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ।
स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम् ॥ १३ ॥

तब श्रीविष्णुने इन्द्रका रूप धारण करके उनके दृष्टि–गोचर हुए । अनन्तर राजा मान्धाताने सभामें स्थित श्रेष्ठ राजाओंके सहित घिरकर उस प्रभु इन्द्रके चरणोंपर गिरके उनकी यथारीतिसे पूजा की ॥ १३ ॥

पार्थिवसंघस्य तस्य चैव महात्मनः ।
संवादोऽयं महानासीद्विष्णुं प्रति महाद्युते ॥ १४ ॥

हे महातेजस्वी युधिष्ठिर ! तिसके अनन्तर महात्मा इन्द्रके सङ्ग राजसिंह मान्धाताका भगवान् विष्णुके विषयमें यह महत् सम्वाद हुआ था ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच—
किंमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ यद्द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम्
अनन्तमायामितसत्त्ववीर्यं नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥ १५ ॥

इन्द्र बोले– हे धार्मिकोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? तुम किस कारणसे उस अप्रमेय, अनन्त मायासे युक्त, अमित सत्त्ववीर्यसे युक्त आदिदेव पुराण पुरुष भगवान् नारायणको देखनेकी इच्छा करते हो ? ॥ १५ ॥

नासौ देवो विश्वरूपो मयापि शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात् ।
येऽन्ये कामास्तव राजन्हृदिस्था दास्यामि तांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥ १६ ॥

हे राजन् ! दूसरेकी बात तो दूर रहे, साक्षात् ब्रह्मा अथवा मैं भी उस विश्वरूप परम देव विष्णुका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता; इससे इसके अतिरिक्त तुम्हारे मनमें दूसरी जो अभिलाषाएं हों, उन्हें मैं पूर्ण करूंगा; क्यों कि तुम मर्त्यलोकवासी प्राणियोंके मुख्य महाराज हो ॥ १६ ॥

सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः शूरो दृढं प्रीतिरतः सुराणाम् ।
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमश्रद्धया च ततस्तेऽहं दद्मि वरं यथेष्टम् ॥ १७ ॥

तुम सत्यमें स्थित, धर्ममें तत्पर, जितेन्द्रिय और शूर हो, देवताओंके प्रति दृढ परम प्रीति रखते हो; तुम्हारी बुद्धि, भक्ति तथा महान् श्रद्धासे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें अभिलषित वरदान करूंगा ॥ १७ ॥

मान्धातोवाच—

असंशयं भगवन्नादिदेवं द्रक्ष्याम्यहं शिरसाहं प्रसाद्य ।
त्यक्त्वा भोगान्धर्मकामो ह्यरण्यमिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकजुष्टम् ॥ १८ ॥

मान्धाता बोले— भगवन् ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करके आदिदेव भगवान् विष्णुका दर्शन करूंगा, इसमें संशय नहीं है । मैं सब कामनाओंका त्याग करके धर्मप्राप्तिकी इच्छा करते हुए वनमें जानेकी इच्छा करता हूं, क्यों कि लोकमें साधु पुरुषोंने इसी सन्मार्गका अनुसरण किया है ॥ १८ ॥

क्षात्राद्धर्माद्विपुलादप्रमेयाल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च
धर्मो योऽसावादिदेवात्प्रवृत्तो लोकज्येष्ठस्तं न जानामि कर्तुम् ॥ १९ ॥

विशाल तथा अप्रमेय क्षात्रधर्मके आचरणसे मैंने श्रेष्ठ लोक प्राप्त किये और अपने यशको स्थापित किया; परंतु आदिदेव भगवान् विष्णुसे जिस धर्मकी प्रवृत्ति हुई, उस लोकश्रेष्ठ धर्मका आचरण करना मैं नहीं जानता हूं ॥ १९ ॥

इन्द्र उवाच—

असैनिकोऽधर्मपरश्चरेथाः परां गतिं लप्स्यसे चाप्रमत्तः ।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ २० ॥

इन्द्र बोले— असैनिक, अधर्मपर होकर चलते हुए दक्ष होकर श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करोगे; पहिले आदिदेव भगवान् नारायणसे क्षात्रधर्म ही प्रवृत्त हुआ था, और उसके अनन्तर उसहीसे उसके अङ्ग रूप इतर सब धर्म प्रवृत्त हुए हैं ॥ २० ॥

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः सुप्रस्थानाः क्षत्रधर्माविशिष्टाः ।
अस्मिन्धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥ २१ ॥

हे राजन् ! क्षात्रधर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, शेष धर्म असंख्य हैं और वे नाशवन्त ही हैं । सब धर्म ही इस क्षात्र धर्ममें प्रविष्ट हैं, इस ही कारण आर्य लोग इसे श्रेष्ठ कहा करते हैं ॥ २१ ॥

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः ।
त्राताः सर्वे प्रमथ्यारीन्क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २२ ॥

पहिले भगवान् विष्णुने देवताओं और अत्यन्त तेजस्वी ऋषियोंकी क्षात्र धर्मका अवलम्बन करके ही शत्रुओंका पराभव करके रक्षा की थी ॥ २२ ॥

यदि ह्यसौ भगवान्नाहनिष्यद्रिपून्सर्वान्वसुमानप्रमेयः ।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता न सद्धर्मा नादिधर्मा भवेयुः ॥ २३ ॥

यदि वह वसुमान् अप्रमेय भगवान् विष्णु देवताओंके शत्रुओंका नाश न करते, तो ब्राह्मणलोग, लोकोंके आदिकर्ता ब्रह्मा, सद्धर्म अथवा आदि धर्मकी भी रक्षा न होती और ये दिखायी न देते ॥ २३ ॥

इमामुर्वीं न जयेद्विक्रमेण देवश्रेष्ठोऽसौ पुरा चेदमेयः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे न स्युर्ब्रह्मणो वै विनाशात् ॥ २४ ॥
देवताओंमें श्रेष्ठ अप्रमेय भगवान् विष्णु पराक्रम प्रकाशित करके पहले इस पृथ्वीको नहीं जीत लेते, तो ब्राह्मणोंके नष्ट होनेसे चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके सब धर्म ही न रहते ॥२४॥

दृष्टा धर्माः शतधा शाश्वतेन क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृत्ताः ।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षत्रधर्मं वदन्ति ॥ २५ ॥
सैकडों प्रकारसे नष्ट हुए वैष्णव धर्मोंको देखकर शाश्वतने क्षात्र धर्मके जरिये फिर उनको प्रवृत्त किया; और प्रति युगोंमें प्रवृत्त ब्राह्मण धर्म भी क्षात्र धर्मसे रक्षित हुआ है, इस ही कारण आर्य लोग क्षात्रधर्मको ही लोकमें श्रेष्ठ कहा करते हैं ॥ २५ ॥

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं मोक्षणं पालनं च ।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥ २६ ॥
रणभूमिमें शरीर त्यागना, सब प्राणियोंके ऊपर कृपा प्रकाशित करनी, सब लोगोंकी यथार्थ अवस्थाको मालूम करना, प्रजाका पालन तथा रक्षा करनी, और दुःखित तथा पीडित मनुष्योंको क्लेशोंसे मुक्त करना,– ये सब विषय राजाओंके क्षात्रधर्ममें विद्यमान हैं ॥ २६ ॥

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम् ।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः साध्वाचाराः साधु धर्मं चरन्ति ॥ २७ ॥
जो लोग मर्यादा रहित और काम-क्रोधके वशीभूत हो गये हैं, वेभी राजाके भयसे पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते; इस ही से अन्य सब धर्मोंका पालन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सुरक्षित होकर सदाचार प्रवृत्त हो सद्धर्मका आचरण करते हैं ॥ २७ ॥

पुत्रवत्परिपाल्यानि लिङ्गधर्मेण पार्थिवैः ।
लोके भूतानि सर्वाणि विचरन्ति ना संशयः ॥ २८ ॥
जगत्के सब प्राणी पुत्रकी भांति राजाओंसे पालित होकर निर्भय चित्तसे पृथ्वीपर विचरते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २८ ॥

सर्वधर्मपरं क्षत्रं लोकज्येष्ठं सनातनम् ।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ २२५८ ॥

यह लोक ज्येष्ठ क्षात्रधर्म सब प्रकारसे समस्त धर्मोंका साररूप और सनातन, नित्य, अविनाशी मोक्ष-पद प्राप्त करानेवाला सर्वतोमुखी है ॥ २९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ २२५८ ॥

: ६५ :

इन्द्र उवाच—

एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः ।
पाल्यो युष्माभिर्लोकसिंहैरुदारैर्विपर्यये स्यादभावः प्रजानाम् ॥ १ ॥

इन्द्र बोले— हे राजन्! तुम्हारे समान प्रजा समूहके हितमें तत्पर पराक्रमी, उदार राजाओंको इसी भांति शक्तिशाली सब धर्मोंसे युक्त और समस्त धर्मोंसे श्रेष्ठ क्षात्र धर्मका सब भांतिसे पालन करना उचित है; क्योंकि उसमें अन्यथा होनेसे प्रजाका नाश होगा ॥ १ ॥

भुवः संस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्यां पालनं च प्रजानाम्
विद्याद्राजा सर्वभूतानुकम्पां देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम् ॥ २ ॥

राजाको उचित है कि वह पृथ्वीका संस्कार करावे, राजसूय आदि यज्ञों और जिस प्रकार प्रचुर परिमाणसे सब भांतिके शस्य उत्पन्न हों, उसीका अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान करे; भिक्षाचर्यका अवलंबन न करे; प्रजाका पालन करे, सब जीवोंपर दया करे और रणभूमिमें देह-त्यागरूपी श्रेष्ठ धर्माचरण करे ॥ २ ॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्वश्रेष्ठो यः शरीरं त्यजेत ।
नित्यं त्यक्तं राजधर्मेषु सर्वं प्रत्यक्षं ते भूमिपालाः सदैते ॥ ३ ॥

मुनि लोग त्यागको ही श्रेष्ठ कहा करते हैं, उसमें जो युद्धमें शरीरका त्याग करता है वह ही सबसे श्रेष्ठ है। हे राजन्! जिस भांति राजा लोग सदा राजधर्ममें अनुरक्त होकर बहुश्रुत गुरुकी सेवा और आपसमें युद्ध करके रणभूमिमें निज शरीरका त्याग करते हैं, उनको तुमने प्रत्यक्ष मालूम किया है ॥ ३ ॥

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया वा परस्य वा संहननाद्वदन्ति ।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः ॥ ४ ॥

इसके अतिरिक्त धर्मकी इच्छावाला क्षत्रिय ब्रह्मचारी शास्त्रोंका अध्ययन, गुरुशुश्रूषा वा दूसरेकी सेवा करते हुए सनातन धर्मरूप ब्रह्मचर्य आश्रममें विचरे, ऐसा कहते हैं ॥ ४ ॥

सामान्यार्थे व्यवहारे प्रवृत्ते प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात् ।
चातुर्वर्ण्यस्थापनात्पालनाच्च तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥ ५ ॥

राजा जन साधारणके विचार कार्योंमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न पूर्वक प्रिय अथवा अप्रियका त्याग करे; चारों वर्णोंका स्थापन, प्रजापालन और अनेक प्रकारके योग, नियम, पुरुषार्थ ॥५॥

+

सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः क्षात्रं ज्येष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम्।
स्वं स्वं धर्मं ये न चरन्ति वर्णास्तांस्तान्धर्मानयथावद्वदन्ति ॥ ६ ॥

तथा सब भांतिके उद्योग विद्यमान रहनेसे ही पण्डित लोग सब धर्मोंसे युक्त क्षात्रधर्मको ही श्रेष्ठ धर्म कहा करते हैं। जो पुरुष निज आचरणीय धर्मको असत्य कहके निज धर्माचरण नहीं करते, आर्य लोग उन मनुष्योंके वर्णों, धर्मोंको अयथावत् कहते हैं ॥ ६ ॥

निर्मर्यादे नित्यमर्थे विनष्टानाहुस्तान्वै पशुभूतान्मनुष्यान्।
यथा नीतिं गमयत्यर्थलोभाच्छ्रेयांस्तस्मादाश्रमन्नः क्षत्रधर्मः ॥ ७ ॥

जो लोग सदा अर्थ साधनामें रत होकर मर्यादा हीन होते हैं, उनको पशु कहा करते हैं। क्षत्रधर्म अर्थ लोभ प्राप्तिके साथ ही नीतिका ज्ञान करता है, इसलिये वह सब आश्रमधर्मोंसे भी श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां यश्चैवोक्तोऽथाश्रमो ब्राह्मणानाम्।
एतत्कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यमन्यत्कुर्वञ्शूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥ ८ ॥

तीनों वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंके लिये यज्ञादि कार्य और जो सब आश्रम धर्म कहे गये हैं, पण्डित लोग इन कर्मोंको ब्राह्मणका श्रेष्ठ धर्म कहते हैं, और इसके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म करनेवाला ब्राह्मण शूद्रकी भांति शस्त्रसे मारने योग्य होता है ॥ ८ ॥

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात्कथंचन ॥ ९ ॥

हे राजन्! ब्राह्मण चारों आश्रमों तथा वेदमें कहे हुए सब धर्मोंका आचरण करे, परन्तु शूद्रादि वर्ण कभी भी किसी तरह भी उस धर्मका आचरण न करे ॥ ९ ॥

अन्यथा वर्तमानस्य न सा वृत्तिः प्रकल्प्यते।
कर्मणा व्यज्यते धर्मो यथैव श्वा तथैव सः ॥ १० ॥

अन्य धर्ममें प्रवृत्त ब्राह्मणके विषयमें भी ब्राह्मणोचित वृत्ति नहीं कही गई है। कर्मसे ही धर्म चलित होता है; जिस प्रकार कुत्ता रहता है वैसा ही वह हो जाता है ॥ १० ॥

यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सन्मानमर्हति।
कर्मस्वनुपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण यदि कुकर्ममें रत होके निज कर्त्तव्य कर्मोंको न करे, तो वह सम्मान लाभके योग्य नहीं होता और सबका अविश्वासी माना जाता है ॥ ११ ॥

एते धर्माः सर्ववर्णाश्च वीरैरुत्क्रष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीर्यज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥ १२ ॥

हे राजन्! ये धर्म और सब वर्ण जो हैं, वीर क्षत्रियोंको उन्हें गौरवान्वित करना चाहिये; यही क्षत्रिय धर्म है; इसलिये राजधर्म ज्येष्ठ है; अन्य धर्म इस प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। इन सब कारणोंसे मेरे मतमें वीर क्षत्रियोंके धर्ममें बल तथा पराक्रमकी मुख्यता है ॥ १२ ॥

मान्धातोवाच—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शवरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कह्वाश्च पल्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥

मान्धाता बोले— हे भगवान् सुरनाथ ! यवन, किरात, गान्धार, चीन, शवर, बर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पल्हव, आन्ध्र, मद्रक, ॥ १३ ॥

ओड्राः पुलिन्दा रमठाः काचा म्लेच्छाश्च सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥

ओड्र, पुलिन्द, रमठ, काच और म्लेच्छ लोग ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सन्तानें हैं; वैश्य और शूद्र लोग भी हैं ॥ १४ ॥

कथं धर्मं चरेयुस्ते सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे ते दस्युजीविनः ॥ १५ ॥

ये सब मेरे राज्यके बीच स्थित होके किस प्रकार धर्माचरण करेंगे और मेरे समान मनुष्य किस प्रकार इन दस्युओंको धर्ममें स्थापित करेंगे ? ॥ १५ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद्ब्रवीहि मे ।
त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! सुरेश्वर ! मैं यह सब आपके निकटमें सुननेकी इच्छा करता हूं, क्योंकि आप ही मेरे समान क्षत्रियोंके परम बन्धु हैं ॥ १६ ॥

इन्द्र उवाच—

मातापित्रोर्हि कर्तव्या शुश्रूषा सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥ १७ ॥

इन्द्र बोले— सब दस्यु डाकुओंको अपने माता, पिता, आचार्य, गुरु और आश्रमवासी मुनिओंकी सेवा करनी उचित है ॥ १७ ॥

भूमिपालानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥ १८ ॥

भूमिपालोंकी सेवा करना भी सब सस्युओंका कर्तव्य है; वेदमें कहे हुए धर्म कर्म भी उनके लिये शास्त्रविहित धर्म कहके वर्णित हुआ है ॥ १८ ॥

पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेषु दद्युरेव ते ॥ १९ ॥

वे लोग पितरोंका श्राद्ध करना, कूप खुदवाना, प्रपा और धर्मशाला बनाएं; तथा समयके अनुसार ब्राह्मणोंको दान करें ॥ १९ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥ २० ॥

दस्युओंको सदा अहिंसा, सत्य बोलना, क्रोधरहित रहना, आजीविका तथा पैतृक विभागका पालन, स्त्री-पुत्रोंका भरण पोषण, पवित्रता और अद्रोहि-वृत्ति, इन सब धर्मोंका आचरण करना उचित है ॥ २० ॥

दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च कर्तव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवालेको सब भांतिके यज्ञ करके शास्त्रोंकी कही हुई दक्षिणा देनी चाहिये; और सब दस्युओंको योग्य पाकयज्ञ करना उचित कर्तव्य है ॥ २१ ॥

एतान्येवंप्रकाराणि विहितानि पुरानघ ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥

हे पापरहित महाराज ! पहिलेसे ही ब्रह्माने सब मनुष्योंके विषयमें यही सब धर्म कहे हैं, और उन सब दस्यु लोगोंको ऐसा ही आचरण करना उचित है ॥ २२ ॥

मान्धातोवाच—

दृश्यन्ते मानवा लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः ।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥

मान्धाता बोले— मनुष्य लोकमें चारों आश्रमों और सभी वर्णोंमें भी दस्यु लोग देखे जाते हैं; जो अनेक वेशभूषामें छिपे रहते हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच—

विनष्टायां दण्डनीतौ राजधर्मे निराकृते
संप्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतो नृप ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले— हे राजन् ! राजाकी दुष्टताके कारण दण्डनीतिके नष्ट और राजधर्मकी अस्थिरता होनेपर सब कोई मोहित हो जाते हैं ॥ २४ ॥

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा ।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन्कृते युगे ॥ २५ ॥

इस सत्ययुगके समाप्त होनेपर पृथ्वीपर अनगिनत जटा आदि चिन्हधारी भिक्षुक भ्रमण करेंगे और सब आश्रमोंमें विकल्प उपस्थित होगा ॥ २५ ॥

अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां प्रवरा गतीः ।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥

वे लोग काम-क्रोधसे वशमें होकर पुराणोक्त प्राचीन धर्मकी परम गतिमें अवज्ञा प्रकाशित करके असत् मार्गका अवलम्बन करेंगे ॥ २६ ॥

यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः ।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥

महात्मा राजा जब दण्डनीतिसे पापबुद्धिवालोंको पाप करनेसे रोकते हैं, तब वह मङ्गलमय परम नित्यधर्म कदापि विचलित नहीं होता ॥ २७ ॥

परलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते ।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलति क्वचित् ॥ २८ ॥

जो सब लोकोंके गुरु राजाकी अवमानना करता है, उसके दान, होम वा श्राद्ध आदि कुछ भी फलदायक नहीं होते ॥ २८ ॥

मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम् ।
देवाश्च बहु मन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥

अधिक क्या कहें, देवता लोग भी मनुष्योंके स्वामी, सनातन देवरूपी तथा धर्मकी इच्छा करनेवाले राजाका अत्यन्त सन्मान करते हैं ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्हि भगवान्यः सर्वमसृजज्जगत् ।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥ ३० ॥

भगवान् प्रजापति ब्रह्माने इस अखिल जगत्की सृष्टि की है, परन्तु वह भी इसके प्रवृत्ति और निवृत्तिके वास्ते सब धर्मोंके बीच क्षात्रधर्मकी ही इच्छा किया करते हैं ॥ ३० ॥

प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम् ।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष प्रवृत्ति धर्म गतिको अपनी बुद्धिसे स्मरण करके उसके अनुसार कार्य करता है, वह पुरुष ही मेरे लिये मान्य और पूज्य है; क्योंकि उसीमें ही क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा स भगवान्मरुद्गणवृतः प्रभुः ।
जगाम भवनं विष्णुरक्षरं परमं पदम् ॥ ३२ ॥

भीष्म बोले— इतनी कथा कहके इन्द्र रूपधारी विष्णु भगवान् मरुत् देवताओंसे घिरकर निज अक्षर परमपद स्थानको चले गये ॥ ३२ ॥

एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान्बहुश्रुतः ॥ ३३ ॥

हे पापरहित ! इस प्रकार पहिले ही इस राजधर्मको भगवान् विष्णुने प्रचलित किया और उत्तम चरितसे युक्तोंने यह आचरणमें लाया; तब कौन बहुश्रुत और सचेत मनुष्य उस क्षात्र-धर्मकी अवमानना करेगा ? ॥ ३३ ॥

अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च ।
अन्तरा विलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥

अन्यायपूर्ण रीतिसे क्षत्रियधर्मकी अवहेलना करनेसे प्रवृत्त और निवृत्त सब धर्म ही मार्गमें चलनेवाले अन्धे मनुष्यकी भांति नष्ट होते हैं ॥ ३४ ॥

आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे ।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ २२९३ ॥

हे पापरहित पुरुषसिंह ! तुम सदा ही उस आदि कालसे प्रवर्त्तित और प्राचीन लोगोंके शरण स्वरूप क्षात्रधर्मका आचरण करो; उससे ही तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा । मैं जानता हूं कि तुम पूर्णतः समर्थ हो ॥ ३५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ २२९३ ॥

६६

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुता मे कथिताः पूर्वैश्चत्वारो मानवाश्रमाः ।
व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छते मे पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! पूर्वजोंने मानवोंके लिये जो चार आश्रम बनाये हैं, उसका वर्णन आपसे मैंने संक्षेप रूपसे सुना; परन्तु उससे मेरा मन विशेष परितृप्त नहीं हुआ; इससे आप विस्तारपूर्वक फिर उन सब कर्मोंको मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर ।
यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसंमताः ॥ २ ॥

भीष्म बोले—हे महाबाहो युधिष्ठिर ! जो सब साधु—सम्मत धर्म मुझे विहित हैं, तुम्हें भी वह सब मालूम हुआ है ॥ २ ॥

यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर ।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥

परन्तु हे धार्मिक श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ! तुम जो मुझसे लिङ्गान्तर्गवर्ति धर्मोंका—विभिन्न लिङ्गोंसे रूपान्तरित हुए— विषय पूछते हो, उसे सुनो ॥ ३ ॥

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकर्मणाम् ॥ ४ ॥

हे मनुष्य श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र ! इन चारों आश्रमोंके कर्मोंका पालन करनेवाले सदाचार युक्त पुरुषोंको जिन फलोंकी प्राप्ति होती हैं, वेही महाश्रेष्ठ राजाओंके आचरित राजधर्ममें वर्तमान हैं ॥ ४ ॥

अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर ।
समेक्षिणश्च भूतेषु भैक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! काम–क्रोधसे रहित होकर दण्डनीतिके नियमानुसार प्रजापालन करनेवाला तथा सब प्राणियोंको समदृष्टि रखनेवाला राजा संन्यासियोंको प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

वेत्त्यादानविसर्गं यो निग्रहानुग्रहौ तथा ।
यथोक्तवृत्तेर्वीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥

जो ज्ञान ग्रहण, सर्वत्याग, निग्रह तथा अनुग्रह करना जानता है और शास्त्रमें कहे हुए सब कार्योंका आचरण किया करता है; वह वीर कल्याणमय गृहस्थाश्रमसे प्राप्त होने योग्य स्थानको प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

ज्ञातिसंबन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ७ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो विपत्में पडे हुए ज्ञाति, मित्र और जिनके सङ्ग सम्बन्ध है, ऐसे लोगोंको सामर्थ्यके अनुसार विपत्से बचाता है, वह वानप्रस्थ आश्रममें मिलनेवाले मोक्ष पदको पाता है ॥ ७ ॥

आह्निकं भूतयज्ञांश्च पितृयज्ञांश्च मानुषान् ।
कुर्वतः पार्थ विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ८ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जो नित्य ही संध्यावंदन आदि नित्यकर्म, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्य–यज्ञोंका अनुष्ठान विपुलतया करता है, उसे वानप्रस्थाश्रमके पुण्य फलकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

पालनात्सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राज्ञो वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र पृथापुत्र ! जो सब प्राणियोंका पालन और निज राज्यकी रक्षा करता है वह राजा अनेक प्रकारके यज्ञोंकी दीक्षा लेनेका फललाभ करके वानप्रस्थाश्रमसे प्राप्त फलोंको पाता है ॥ ९ ॥

वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्यपूजनम् ।
तथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १० ॥

जो सदा वेदाध्ययन, क्षमा, आचार्यकी पूजा और गुरुसेवा करता है, उसे भी ब्रह्मलोकका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

अजिह्ममशठं मार्गं सेवमानस्य भारत ।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥

हे भारत ! जो शठतारहित होकर यथार्थ व्यवहार करके, सब जीवोंके विषयमें सरल भाव प्रकाशित करता है; उसे भी ब्रह्मलोकका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत ।
प्रयच्छतोऽर्थान्विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥

हे भारत ! जो वानप्रस्थ और तीनों वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान करता है, वह वानप्रस्थ जनोंके पाने योग्य स्थानको प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत ।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १३ ॥

हे भारत ! जो सब जीवोंपर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह इच्छानुसार सब आश्रमोंके सेवनका लाभ कर सकता है ॥ १३ ॥

बालवृद्धेषु कौरव्य सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
अनुक्रोशं विदधतः सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १४ ॥

हे कुरुवंशी युधिष्ठिर ! बालक और बूढ़ोंके विषयमें दयापूर्ण व्यवहार करनेसे इच्छानुसार सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह ।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ १५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! दूसरेके बलसे पीडित शरणागत जीवोंका परित्राण करनेसे गृहस्थोंके पाने योग्य पद प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

चराचराणां भूतानां रक्षामपि च सर्वशः ।
यथार्हपूजां च सदा कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ १६ ॥

चराचर जीवोंकी सब भांतिसे रक्षा और उनकी यथा उचित पूजासे गार्हस्थ्य सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणां पुत्रनप्तृणाम् ।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत्तपः ॥ १७ ॥

हे पार्थ ! ज्येष्ठ और छोटी पत्नी, भ्राता, पुत्र और पौत्रोंको समयानुसार दण्ड वा अनुग्रह करनेका कार्य ही गृहस्थके कर्त्तव्य कर्म है और यही तप है ॥ १७ ॥

साधूनामर्चनीयानां प्रजासु विदितात्मनाम् ।
पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह! महात्मा, पूजनीय तथा प्रजाओंमें विद्वान् साधुओंकी पूजा, पालन आदि करना ही गृहस्थाश्रमका पुण्य कर्म है ॥ १८ ॥

आश्रमस्थानि सर्वाणि यस्तु वेश्मनि भारत ।
आददीतेह भोज्येन तद्गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर! जो किसी भी आश्रमस्थ प्राणियोंको निज गृहमें आवाहन करके उन्हें भोजन आदि दान सत्कार करता है, वही उसके लिये गार्हस्थ्यधर्मका पालन है ॥ १९ ॥

यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथार्थवत् ।
आश्रमाणां स सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २० ॥

जो पुरुष विधाताके बनाये धर्ममें स्थित होकर यथार्थ रूपसे उसका पालन करता है, वह सब आश्रमोंके प्राप्त होने योग्य मङ्गलमय श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है ॥ २० ॥

यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा ।
आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जिस पुरुषमें स्थित कोई सद्‌गुण कभी भी नष्ट नहीं होते, आर्य लोग उस पुरुषश्रेष्ठको सभी आश्रमोंके पालनमें रत कहा करते हैं ॥ २१ ॥

स्थानमानं वयोमानं कुलमानं तथैव च ।
कुर्वन्वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

हे युधिष्ठिर! जो स्थानमान, कुलमान और अवस्थामानकी रक्षा करते हुए कार्य करता है, वह सभी आश्रमोंमें निवास करनेका फल पाता है ॥ २२ ॥

देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च ।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २३ ॥

हे कुन्तीकुमार पुरुषश्रेष्ठ! राजा देशधर्म और कुलधर्मोंका यथारीतिसे पालन करनेसे सब आश्रमोंमें प्राप्त होने योग्य फल लाभ करता है ॥ २३ ॥

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च ।
अर्हयन्पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥ २४ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! जो यथा समय पर प्राणियोंको यथायोग्य धन और उपहार प्रदान करके सम्मानित करता है, वह साधुओंके आश्रममें निवास करनेका फल पाता है ॥ २४ ॥

+

दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते ।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥ २५ ॥

हे कौन्तेय ! जो मनु प्रणित दस धर्मोंसे युक्त होकर भी सब जगत्के धर्मकी ओर विशेष दृष्टि रखता है, वह सब आश्रमोंसे प्राप्त होने योग्य फल लाभ कर सकता है ॥ २५ ॥

ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति साधवः ।
पालिता यस्य विषये पादोंऽशस्तस्य भूपतेः ॥ २६ ॥

धर्मकुशल साधुलोग लोकमें धर्मका पालन करते हुए जिसके राज्यमें यथारीतिसे रक्षित होते हैं, वह राजा भी उन लोगोंके आचरित धर्मका अंशभागी होता है ॥ २६ ॥

धर्मारामान्धर्मपरान्ये न रक्षन्ति मानवान् ।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ २७ ॥

हे पुरुषसिंह ! परन्तु जो राजा धर्ममें रमण करनेवाले और धर्ममें तत्पर मनुष्योंकी रक्षा नहीं करता है, वह उन लोगोंके किये हुये पापकर्मोंके फलभागी होता है ॥ २७ ॥

ये च रक्षासहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर ।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥ २८ ॥

हे पापरहित युधिष्ठिर ! जो लोग यहां राजाओंकी सहायता करते हैं, वे सब दूसरोंके किये हुए धर्मके अंश भागी होते हैं ॥ २८ ॥

सर्वाश्रमपदे ह्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं वयं पर्युपास्महे ॥ २९ ॥

हे पुरुषसिंह ! हम लोग जिस धर्मकी उपासना करते हैं, वह प्रकाशमान गृहस्थ धर्म ही सब धर्मोंसे पवित्र है, ऐसा शास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं और यह निर्णय सब जानते हैं ॥ २९ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य लभते सुखम् ॥ ३० ॥

जो दण्डका त्याग कर और क्रोधहीन होकर सब प्राणियोंको अपने ही प्राणके समान समझता है, वह मृत्युके अनन्तर परलोकमें भी सुख लाभ करता है ॥ ३० ॥

धर्मोत्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटाकरा ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्त्वा संतारयिष्यति ॥ ३१ ॥

हे युधिष्ठिर ! सत्वरूप मल्लाहसे युक्त, शास्त्ररूपी बन्धन-रस्सीसे पूरित, त्यागरूपी वायुसे चलनेवाला तथा शीघ्रगामी राजा राजधर्म रूपी नौका पर चढके संसार रूपी समुद्रके पार होता है ॥ ३१ ॥

यदा निवृत्तः सर्वस्मात्कामो योऽस्य हृदि स्थितः।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥ ३२ ॥

जब मनुष्यके हृदयकी सब वासना विषयोंसे निवृत्त होती है, तभी वह सतोगुणी होकर पर ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ३३ ॥

हे पुरुष शार्दूल नरनाथ! प्रजा पालनमें रत रहनेवाला राजा ध्यान और चित्त-निरोधसे अत्यंत शुद्ध और प्रसन्न होकर महान् धर्मके फलका लाभ करता है ॥ ३३ ॥

वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम्।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चानघ ॥ ३४ ॥

हे अनघ युधिष्ठिर! तुम सदा वेदाध्ययनमें तत्पर और सत्कर्मोंमें रत रहनेवाले ब्राह्मणोंके तथा अन्य सब लोगोंके पालनमें यत्नवान रहो ॥ ३४ ॥

वने चरति यो धर्ममाश्रमेषु च भारत।
रक्षया तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥ ३५ ॥

हे भारत! वानप्रस्थ और दूसरे आश्रमवाले जो कुछ धर्मका आचरण करते हैं, राजा प्रजा पालन-रक्षा रूपी धर्मसे ही उनसे सौगुणा फल लाभ किया करता है ॥ ३५ ॥

एष ते विविधो धर्मः पाण्डवश्रेष्ठ कीर्तितः।
अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वैर्दृष्टं सनातनम् ॥ ३६ ॥

हे पाण्डव श्रेष्ठ! यही सब अनेक भांतिके धर्म तुम्हारे समीप कहे गये, तुम इस ही पूर्वजों द्वारा आचरित परम्परासे चले आये अनादि धर्मका अनुष्ठान करो ॥ ३६ ॥

चातुराश्रम्यमेकाग्रः चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ २३३० ॥

हे पुरुषशार्दूल पाण्डुपुत्र! तुम सदा एकाग्र चित्तसे प्रजा पालनमें अनुरक्त रहो; ऐसा होनेसे ही चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके फलको प्राप्त करोगे ॥ ३७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ २३३० ॥

: ६७ :

युधिष्ठिर उवाच—

चातुराश्रम्य उक्तोऽत्र चातुर्वर्ण्यस्तथैव च।
राष्ट्रस्य यत्कृत्यतमं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! आपने चारों आश्रम और चारों वर्णोंके धर्म कहे, अब राज्यके सब कर्त्तव्य कार्योंको कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्ति च ॥ २ ॥

भीष्म बोले— राजाका अभिषेचन करना ही राष्ट्र वा राज्यवासी सब लोगोंका प्रथम कर्त्तव्य है, क्योंकि डाकू लोग राजा हीन और बल-रहित राज्यको आक्रमण किया करते हैं ॥ २ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥

राजा रहित राज्योंमें धर्मका अस्तित्व नहीं रहता; अराजक राज्यमें एक दूसरेकी रक्षाके निमित्त लोग यत्नवान् नहीं होते। अधिक क्या कहें, आपसमें एक दूसरेकी अनिष्टचिन्तामें ही वे तत्पर रहते हैं; इससे ऐसे राजारहित राज्यको धिक्कार है ॥ ३ ॥

इन्द्रमेनं प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥

हे युधिष्ठिर ! श्रुति कहती है, प्रजा जो राजाका वरण करती है, वह इन्द्रका ही वरण करना समझा जाता है; इससे कल्याण-ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको इन्द्रकी भांति राजाकी भी पूजा करनी उचित है ॥ ४ ॥

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति वैदिकम्।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्यपि ॥ ५ ॥

वैदिक मतमें राजाहीन राज्योंमें वास करना उचित नहीं; क्योंकि वैसे विना राजाके राज्यमें अग्निदेव भी देवताओंके निकट हव्य नहीं पहुंचाते ॥ ५ ॥

अथ चेदभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकानि राष्ट्राणि हतराजानि वा पुनः ॥ ६ ॥

पराक्रमहीन अराजक राज्योंपर राज्यकी अभिलाषा करनेवाले दूसरे कोई बलवान राजाके आक्रमण करनेपर ॥ ६ ॥

प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम् ।
न हि पापात्पापतरमस्ति किंचिदराजकात् ॥ ७ ॥

वहांके प्रजाजनोंको आगे बढकर उसका सन्मान तथा स्वागत करना ही उत्तम नीतिका कार्य है, क्योंकि पापमय राजाहीन राज्यसे अधिक दोष उत्पन्न होनेवाला और कोई भी पाप कार्य नहीं है ॥ ७ ॥

स चेत्समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत् ।
बलवान्हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥ ८ ॥

उस बलवान राजाके प्रसन्न होनेसे ही सब राज्य मङ्गलमय होता है, अन्यथा वह कुपित होके सब देशको ही नष्ट कर सकता है ॥ ८ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
सुदुहा या तु भवति नैव तां क्लेशयन्त्युत ॥ ९ ॥

महाराज ! जो गऊ दूध दुहनेके समय विघ्न करती है, उसे बहुत ही क्लेश भोगने पडते हैं; परन्तु जो गऊ सहजहीमें दूध दुह लेने देती है, उसे लोग दुःख नहीं देते ॥ ९ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयन्त्युत ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्संनामयन्त्यपि ॥ १० ॥

जो राष्ट्र कष्टके विनाही नतमस्तक होता है, वह अधिक दुःख नहीं भोगता; जो लकडी सहजहीमें नत होती है, उसे लोग झुकानेका प्रयत्न नहीं करते ॥ १० ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥

इस उपमा पर दृष्टि रखके बलवानके निकट धीर मनुष्यको नत होना ही उचित है, क्योंकि बलवानको प्रणाम करता है, वह मानो इन्द्रको ही नमस्कार करता है ॥ ११ ॥

तस्माद्राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता ।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥

इससे राजारहित प्रजासमूहको सदा निज कल्याणके लिये किसीको राजा अवश्य बनाना उचित है; जिनके राज्यमें अराजकता है, उनके धन और स्त्रियां सुरक्षित नहीं रहतीं ॥ १२ ॥

प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके ।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥

राजा रहित राज्यमें पापी पुरुष परधनको हरके अत्यन्त प्रसन्न होता है; परन्तु जब दूसरे लोग उसके धनको हरण करते हैं; तब वही राजाके वास्ते इच्छा प्रकाशित करता है ॥ १३ ॥

पापा अपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन ।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ १४ ॥

अराजक राज्यमें पापचारी मनुष्य भी किसी भांति कुशलपूर्वक नहीं रह सकते ! अराजक होनेपर दो पुरुष एकके धनको और कई पुरुष मिलके दो जनोंके धनको हरण करते हैं ॥ १४ ॥

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात्स्त्रियः ।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान्प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

दासवृत्तिके अयोग्य पुरुषको बलपूर्वक दास बनाया जाता है और बलपूर्वक पराई स्त्रियोंका हरण किया जाता है; इस ही कारण देवताओंने प्रजापालक राजाओंका नियम किया है ॥ १५ ॥

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ १६ ॥

अधिक क्या कहें, यदि दण्ड धारण करनेवाला राजा इस लोकमें पृथ्वीकी रक्षा न करते, तो बलवान लोग इस प्रकार निर्बल पुरुषोंको नष्ट करते, जैसे जलमें बडे शरीरवाली मछलियां छोटी मछलियोंको भक्षण करती हैं ॥ १६ ॥

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥

हमने सुना है कि जैसे बलवान् मत्स्य जलमें दुर्बल मछलियोंको खा जाते हैं, वैसे ही पूर्वकालमें अराजक राज्यकी प्रजा परस्पर एक दूसरेको लूटकर नष्ट हुई थीं ॥ १७ ॥

ताः समेत्य ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्क्रूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारदारिकः ।
यश्च नस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति ॥ १८ ॥

इसी भांति जब आपसमें उन सब लोगोंका कुल नष्ट होने लगा, तब उन सब लोगोंने परस्पर मिलके शपथपूर्वक यह नियम स्थापित किया था। ऐसा हमारे सुननेमें आया है कि "हम लोगोंके बीच जो कोई निष्ठुर क्रूर वचन कहनेवाला, कठोर दण्डयुक्त, परस्त्री गमन करनेवाला और पराया धन हरनेवाला होगा, वह हम लोगोंसे त्याज्य समझा जायेगा।" ॥ १८ ॥

विश्वासनार्थं वर्णानां सर्वेषामविशेषतः ।
तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे ॥ १९ ॥

वे लोग सामान्य रूपसे सब वर्णवालोंके विश्वासके लिये आपसमें ऐसी ही प्रतिज्ञा करके उसका पालन करते हुए विरोध रहित होके वे सब सुखसे निवास करने लगे ॥ १९ ॥

सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥

इसके अनन्तर दुःखसे पीडित होकर वे सब कोई मिलकर पितामह ब्रह्माके निकट जाके उनसे बोले– हे भगवन् ! हम लोगोंमें कोई राजा न रहनेसे हमारा दुःख बढ रहा है, और हम सब नष्टप्राय हो गये हैं; इससे आप हम लोगोंके लिये एक राजा नियुक्त करिये ॥ २० ॥

यं पूजयेम संभूय यश्च नः परिपालयेत्।
ताभ्यो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ २१ ॥

जो हम सब लोगोंको प्रतिपालन करे और हम सब कोई मिलके जिसकी पूजा करें। अनन्तर पितामहने मनुको उन लोगोंका राजा होनेके निमित्त आज्ञा दी, परंतु मनुने प्रजाओंका स्वीकार नहीं किया ॥ २१ ॥

मनुरुवाच—

बिभेमि कर्मणः क्रूराद्राज्यं हि भृशदुष्करम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तिषु नित्यदा ॥ २२ ॥

मनु बोले— पापपूरित कर्म आचरणसे मुझे अत्यन्त भय होता है; राज्य करना अत्यन्त कठीन कार्य है, विशेष करके मिथ्याचारयुक्त मनुष्योंके बीच राज्य करना अत्यन्त ही कठिन है ॥२२॥

भीष्म उवाच—

तमब्रुवन्प्रजा मा भैः कर्मणैनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥ २३ ॥

भीष्म बोले— प्रजा समूहने मनुका ऐसा वचन सुनके उनसे कहा, " आप न डरिये, पापसे आपको कुछ भय नहीं है, जो लोग पाप करेंगे वेही उसके फलको भोग करेंगे। हम लोग आपके कोप वृद्धिके लिये अपने प्राप्त हुए पशु और सुवर्णके पचासवें भागका एक भाग और धान्यके दसवें भागमें एक भाग प्रदान करेंगे ॥ २३ ॥

मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २४ ॥

देवता जैसे देवराज इन्द्रके अनुगामी होते हैं, वैसे ही उत्तम वहानोंपर चढे हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे गमन करेंगे ॥ २४ ॥

स त्वं जातबलो राजन्दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान्कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥ २५ ॥

राजन्! आप इसी भांति बलशाली, प्रतापवान तथा दूसरेसे दुराधर्ष होकर इस प्रकार हम लोगोंको सुखसे और सुरक्षित रखेंगे, जैसे कुबेर यक्षों और राक्षसोंकी रक्षा करते हैं ॥२५॥

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं नो भविष्यति ॥ २६ ॥

प्रजा लोग आप जैसे राजासे रक्षित होकर जो कुछ धर्माचरण करेंगे आप उसके चतुर्थांश फलभागी होंगे ॥ २६ ॥

तेन धर्मेण महता सुखलब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान्सर्वतो राजन्देवानिव शतक्रतुः ॥ २७ ॥

राजन् ! सुखपूर्वक प्राप्त हुए उस ही महान् धर्मसे बलवान् होकर इस प्रकार हम लोगोंकी सब ओरसे रक्षा करियेगा, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं ॥ २७ ॥

विजयायाशु निर्याहि प्रतपन्रश्मिमानिव ।
मानं विधम शत्रूणां धर्मो जयतु नः सदा ॥ २८ ॥

आप मरीचिमाली सूर्यकी भांति शत्रुओंको सन्तापित करते हुए विजयके वास्ते शीघ्रही यात्रा करिये और शत्रुओंका अभिमान नष्ट कीजिये; ऐसा होनेसे हम लोग सुखपूर्वक धर्माचरण कर सकेंगे और हमारे धर्मकी विजय होगी ॥ २८ ॥

स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः ।
महाभिजनसंपन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २९ ॥

महान् सैन्य– बलसे घिरे हुए महातेजस्वी मनु प्रजापुञ्जसे इसी भांति पूजित होके निज तेज प्रभावसे दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए बाहर निकले ॥ २९ ॥

तस्य तां महिमां दृष्ट्वा महेन्द्रस्येव देवताः ।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥ ३० ॥

जैसे देवता लोग देवराज इन्द्रके प्रभावसे प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार सब लोग मनुकी महिमा देखकर अत्यन्त ही भयभीत हुए और सबने निज धर्ममें चित्त लगाया ॥ ३० ॥

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
शमयन्सर्वतः पापान्स्वकर्मसु च योजयन् ॥ ३१ ॥

इसके अनन्तर जैसे बादल जलकी वर्षासे धूलिका निवारण करते हैं, वैसे ही मनु सबको पाप कर्मोंसे निवृत्त करते और उन्हें निज धर्ममें प्रवृत्त करके पृथ्वीपर सब ओर घूमने लगे ॥ ३१ ॥

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ ३२ ॥

इसी भांति पृथ्वीपर जो मनुष्य मङ्गल कामनाकी इच्छा करें, वे प्रजासमूहपर अनुग्रह करनेके वास्ते सबसे पहले राजाको ही अवश्य नियुक्त करें ॥ ३२ ॥

नमस्येयुश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा ।
देवा इव सहस्राक्षं प्रजा राजानमन्तिके ॥ ३३ ॥

जैसे शिष्य भक्तिपूर्वक गुरुको नमस्कार करते हैं और देवता लोग सहस्राक्ष इन्द्रके समीप नत हुआ करते हैं; वैसे ही प्रजाजन राजाके समीप सदा विनीत भावसे रहा करें ॥ ३३ ॥

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥

क्योंकि यहां स्वजनोंसे सत्कृत होनेपर दूसरे लोग भी सत्कार किया करते हैं; परन्तु स्वजनोंसे तिरस्कृत होनेपर दूसरे लोग भी अवज्ञा करते हैं ॥ ३४ ॥

राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः ।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥ ३५ ॥

विशेष करके शत्रुओंसे राजाका पराभव होना सब प्रजाके क्लेशोंका मूल है । इसलिये प्रजा-समूह राजाको छत्र, सवारी, वस्त्र, वाह्य आभूषण ॥ ३५ ॥

भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च ।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३६ ॥

खाने पीनेकी वस्तु, गृह, आसन, शय्या और दूसरी सब भांति की सामग्री प्रदान करें ॥३६॥

गुप्तात्मा स्याद्दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
आभाषितश्च मधुरं प्रतिभाषेत मानवान् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार राजा प्रजाकी सहायतासे प्रवल और प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ होवे, तथा स्मित-पूर्वक भाषण करे; और अन्य मनुष्योंके प्रश्न करनेपर हंसके मधुर वचनसे उन्हें उत्तर देवें ॥३७॥

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु चर्जु च वल्गु च ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ २३६८ ॥

राजा उपकार करनेवालेके निकट कृतज्ञ, गुरु जनोंमें दृढभक्त, सबके सङ्ग संविभागी और जितेन्द्रिय होवे । दूसरेके देखनेपर सरलस्वभावसे सुन्दर तथा मनोहर मृदु दृष्टि उसकी ओर करे ॥ ३८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सदसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ २३६८ ॥

: ६८ :

युधिष्ठिर उवाच—

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतर्षभ पितामह ! ब्राह्मण लोग भी किस कारणसे मनुष्योंके प्रभु राजाको देवरूपी कहा करते हैं ? यह मुझे कहिये ॥ १ ॥

+

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! पहिले राजा वसुमनाने बृहस्पतिसे इस विषयमें जो कुछ पूछा था, पण्डित लोग इस प्रस्तावके उदाहरणमें उस ही प्राचीन इतिहासका प्रणाम देते हैं ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ कृतप्रज्ञो बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥

कोसलराज बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ वसुमनाने कृतप्रज्ञ महर्षि बृहस्पतिसे पूछा ॥ ३ ॥

सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतेः ।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥

विनययुक्त वसुमनाने धर्मात्मा बृहस्पतिको सब भांतिसे शिष्टाचार पूर्वक विनयसम्बन्धी कर्तव्य करके प्रदक्षिणा तथा विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ४ ॥

विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वभूतहिते रतः ।
प्रजानां हितमन्विच्छन्धर्ममूलं विशां पते ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीपते ! प्रजाके सुख—कल्याणकी इच्छासे सब लोगोंके हितमें रत राजाने राज्य-शासनकी विधिके विषयमें धर्मके आधार बृहस्पतिको पूछा— ॥ ५ ॥

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन च ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमत्यन्तमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! जीव लोग किस प्रकार उन्नत अवस्थाको प्राप्त होते, और किन कार्योंसे नष्ट होते हैं; और किसकी उपासनासे अत्यन्त—अक्षय सुखका लाभ करते हैं ॥ ६ ॥

इति पृष्टो महाराज्ञा कौसल्येनामितौजसा ।
राजसत्कारमव्यग्रः शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

बृहस्पति अमित तेजस्वी महाराज कोसलपति वसुमनाके प्रश्नको सुनके आनन्दके सहित राज-संस्कार विषयक सब वचन कहने लगे ॥ ७ ॥

राजमूलो महाराज धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥

हे महाराज ! प्रजा जो कुछ धर्माचरण करती है, राजा ही उसका मूल है; क्योंकि वे लोग राजभयसे ही आपसमें हिंसा नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥ ९ ॥

राजा ही धर्मपूर्वक मर्यादारहित और पराई स्त्रियों तथा कुकर्मोंमें रत लोगोंको अपने राज दण्डसे शासन करके अखिल जगत्की प्रसन्नता सिद्ध करते हुए स्वयं प्रसन्नभावसे प्रकाशित होकर निवास करता है ॥ ९ ॥

यथा ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

महाराज ! जैसे सूर्य और चन्द्रमाके उदय न होनेपर सब प्राणी घोर अन्धकारमें फंसते हैं और आपसमें एक दूसरेको नहीं देख सकते हैं ॥ १० ॥

यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहंगमाः ।
विहरेयुर्यथाकाममभिसृत्य पुनः पुनः ॥ ११ ॥

जैसे थोडे जलसे युक्त तालावके बीच मछलियें और रक्षकविना उपवनमें हिंसा भयसे रहित पक्षी वार वार परस्पर चोट करते हुए इच्छानुसार विचरते हैं ॥ ११ ॥

विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥

तथा काल क्रमसे आपसमें किसीके भी वचन न सहके सबका वचन अतिक्रम और सबको पीडित करते हुए आपसमें लडते हुए व्याकुल होकर थोडे ही समयमें नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥

वैसे ही राजाके न रहनेपर ये सारी प्रजा भी आपसमें झगडकर पालकहीन पशुकी भांति घोर अन्धकारमें पडके नष्ट हो जाती है ॥ १३ ॥

हरेयुर्बलवन्तो हि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे तो बलवान् पुरुष बलपूर्वक निर्बलोंका धन तथा स्त्रियोंको हर ले जायं; वे लोग अपनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार परम आग्रह करके भी उसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होंगे और घरकी रक्षा करनेवालोंको मार डालें ॥ १४ ॥

यानं वस्त्रमलंकारान्रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे, तो पापी चोर लोग सबकी सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा दूसरे अनेक भांतिके रत्नोंको हर ले जायं ॥ १५ ॥

ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत्संपरिग्रहः ।
विश्वलोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥

कोई भी "यह वस्तु मेरी है," ऐसा कहकर इस जगत्में संग्रह करनेमें नहीं समर्थ हो सकता; राजाके रक्षा न करनेसे समस्त विश्व सब तरहसे नष्ट हो जायगा ॥ १६ ॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥

राजा प्रजाकी रक्षा न करनेसे दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु जनोंको क्लेश देंगे अथवा उनका नाश करनेमें भी संकुचित न होगें ॥ १७ ॥

पतेद्बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे, तो धर्मचारियोंके ऊपर अनेक प्रकारके शस्त्र चलायेंगे, और सब कोई अधर्मका आसरा ग्रहण करेंगे ॥ १८ ॥

वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत् ।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ १९ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे, तो धनवान पुरुषोंको सदा ही वध, बन्धन अथवा बहुत ही क्लेश उठाना पडे; कोई भी किसी भी वस्तुको अपनी न समझ सके ॥ १९ ॥

अन्तश्चाकाशमेव स्याल्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत् ।
पतेच्च नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ २० ॥

राजा प्रजाकी रक्षा न करे, तो सब ही असमयमें ही मृत्यु–मुखमें पतित होंगे; सब जगत् ही डाकुओंके वशमें हो जाय तथा सब कोई घोर नरकमें पड जाय ॥ २० ॥

न योनिपोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ २१ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे, तो चारों योनियोंका पोषणकर्ता कृषि और वाणिज्य कुछ भी न रहेगा; धर्म डूब जाय और तीनों वेद लुप्त हो जाय ॥ २१ ॥

न यज्ञाः संप्रवर्तेरन्विधिवत्स्वाप्तदक्षिणाः ।
न विवाहाः समाजा वा यदि राजा न पालयेत् ॥ २२ ॥

राजा राज्यकी रक्षा न करे तो विधिवत् बहुत दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ, विवाह अथवा सामाजिक कार्य कुछ भी विधिपूर्वक न निर्वाहित होंगे ॥ २२ ॥

न वृषाः संप्रवर्तेरन्न मथ्येरंश्च गर्गराः ।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ २३ ॥

राजा पशुओंका पालन न करे तो वृषभ भी गौवोंमें वीर्यसिञ्चन न करे; गगरी भी न मथी जाएं; इससे अहीर लोग और गौ शालाएं भी नष्ट हो जायं ॥ २३ ॥

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम् ।
क्षणेन विनशेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २४ ॥

राजा रक्षा न करे तो सब जगत् ही भयभीत और व्याकुल होके हाहाकार करके चेतरहित हो क्षणभरमें नष्ट हो जाय ॥ २४ ॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत् ॥ २५ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो कोई भी निर्भयचित्त होकर यथारीति दक्षिणायुक्त सांवत्सरिक यज्ञोंका अनुष्ठान न करें ॥ २५ ॥

ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान्नाधीयेरंस्तपस्विनः ।
विद्यास्नातास्तपःस्नाता यदि राजा न पालयेत् ॥ २६ ॥

राज्य शासन न रहे, तो विद्यास्नात, व्रतचारी, तपस्वी और ब्राह्मण लोग चारों वेदोंका अध्ययन न करें ॥ २६ ॥

हृतो हरतं स मुष्णीयाद्भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
भयार्तं विद्रवेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २७ ॥

यदि राजा पालन न करे, तो मनुष्य निराश होकर धर्मका पालन छोड दें और चौर धन हरकर सकुशल शरीरसे घर लौट जायं ॥ २७ ॥

न लभेद्धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः ।
कर्ता स्वेच्छेन्द्रियो गच्छेद्यदि राजा न पालयेत् ॥ २८ ॥

राजाका शासन न हो, तो चोर लोग हाथमें स्थित धनको भी हरण कर ले जायं, सब मर्यादाएं टूट जायं और प्रजा भी भयसे विकल होकर चारों ओर भागने लगें ॥ २८ ॥

अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद्वै वर्णसंकरः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥ २९ ॥

राजा यदि रक्षा न करे तो चारों ओर अनीति फैल जाय, वर्णसङ्कर जातिकी बढती होनी लगें और राज्यमें सदा दुर्भिक्ष उपस्थित हो जाय ॥ २९ ॥

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥ ३० ॥

राजासे रक्षित होकर मनुष्य लोग निर्भयताके सहित सवर्त्र भ्रमण किया करते हैं और घरके दरवाजे खुले रख करके इच्छानुसार घरके भीतर शयन करते हैं, ॥ ३० ॥

नाक्रुष्टं सहते कश्चित्कुतो हस्तस्य लङ्घनम् ।
यदि राजा मनुष्येषु त्राता भवति धार्मिकः ॥ ३१ ॥

यदि धर्मात्मा राजा सब भांतिसे पृथ्वीकी रक्षा करे, तो कोई भी पुरुष अन्य पुरुषोंके कठोर वचनको अथवा हाथसे पीटे जानेका अपमान कैसे सहन करे ? ॥ ३१ ॥

स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालंकारभूषिताः ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३२ ॥

राजा यदि यथारितिसे रक्षा करे, तो सब आभूषणोंसे भूपित स्त्रियां किसी पुरुषको साथ लिये विना भी निर्भयताके सहित राजमार्गोंमें भ्रमण कर सकती हैं ॥ ३२ ॥

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३३ ॥

यदि राजा रक्षा करे तो आपसमें सब कोई सबके ऊपर कृपा करते हैं, और एक दूसरेकी हिंसा न करके धर्म मार्गका ही पालन करते हैं ॥ ३३ ॥

यजन्ते च त्रयो वर्णा महायज्ञैः पृथग्विधैः ।
युक्ताश्चाधीयते शास्त्रं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३४ ॥

जब राजा प्रजाकी यथारीतिसे रक्षा करता है, उस समय ब्राह्मणादिक तीनों वर्णोंके लोग अनेक प्रकारके महान् यज्ञोंको करके देवताओंकी पूजा करते हैं और चित्त स्थिर करके वेदाध्ययनमें तत्पर रहते हैं ॥ ३४ ॥

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा ।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३५ ॥

खेती आदि ही इस जगत्के जीवनका मूल है और यह जगत् तीनों विद्यासे ही रक्षित–पोषित होता है; राजाके उत्तम शासनसे ही वह सब भली भांति चलता है ॥ ३५ ॥

यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः ।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥ ३६ ॥

जब राजा कठिन भार ग्रहण करके महत् सैनिक बलके सहारे प्रजाओंकी रक्षा करता है, तब जगत्में सब कोई प्रसन्नभावसे निवास करते हैं ॥ ३६ ॥

यस्याभावे च भूतानामभावः स्यात्समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यः स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥ ३७ ॥

जिसके स्थित रहनेसे सब ही स्वच्छन्दताके सहित निवास करते हैं और जिसके अभावसे ही सब प्राणियोंका अभाव होता है; कौन पुरुष उस राजाकी पूजा नहीं करेगा ? ॥ ३७ ॥

तस्य यो वहते भारं सर्वलोकसुखावहम् ।
तिष्ठत्प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकौ हि यो जयेत् ॥ ३८ ॥

जो राजाका प्रिय और हितकारी होकर सब लोगोंको सुख देनेवाले शासनभारको उठाता है, वह दोनों लोकोंको जय करनेमें समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं पतेत् ॥ ३९ ॥

जो पुरुष मनमें भी राजाके अनिष्टका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही इस लोकमें क्लेश भोग करके परलोकमें नरकमें पडेगा ॥ ३९ ॥

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥

पृथ्वीपति राजाको यह मनुष्य है ऐसा समझके कभी भी उसकी अवमानना करनी उचित नहीं है; क्योंकि वह महान् देवता नररूप धारण करके पृथ्वीपर निवास करता है ॥ ४० ॥

कुरुते पञ्च रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥

राजा ही सदा समयानुसार पांच रूप धारण करता है, वह कभी अग्नि, सूर्य, मृत्यु, वैश्रवण–कुबेर और यम इन पांच भांतिकी पदवीको प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

यदा ह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥

जिस समय राजा पापी मनुष्योंके मिथ्या वर्तावसे वञ्चित होता है, तब वह अग्निस्वरूप होकर अपने उग्र तेजसे समीपस्थ पापियोंको भस्म करता है ॥ ४२ ॥

यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥

जब राजा दूतोंके जरिये सबके कार्योंका अनुसन्धान करता है और प्रजा पुञ्जके मङ्गल जनक कार्योंका आचरण करता है, उस समय ‘ भास्कर ’ सूर्यरूप कहके माना जाता है ॥ ४३ ॥

अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान्सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥ ४४ ॥

जब राजा क्रुद्ध होकर सैंकडो पापी लोगोंका उनके पुत्र, पौत्र और सेवकोंके सहित नाश करता है, उस समय वह “ मृत्युरूप ” होता है ॥ ४४ ॥

यदा त्वधार्मिकान्सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥

जब वह कठोर दण्डसे सब अधर्मियोंको नियंत्रित करता है और धर्मात्माओंके ऊपर कृपा प्रकाशित करता है; उस समय वह ‘यम’ होता है ॥ ४५ ॥

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥ ४६ ॥

जब राजा धनरूपी जलकी धाराओंसे उपकारियोंको तृप्त करता है और अपकारियोंके अनेक भांतिके रत्नोंको छीन लेता है ॥ ४६ ॥

श्रियं ददाति कस्मैचित्कस्माच्चिदपकर्षति ।
तदा वैश्रवणो राजँल्लोके भवति भूमिपः ॥ ४७ ॥

किसीको श्रीयुक्त और किसीको नष्टश्री करता है; राजन् ! उस समय वह पृथ्वीपति राजा इस जगत्में वैश्रवण कुबेर नामसे विख्यात होता है ॥ ४७ ॥

नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा ।
धर्म्यमाकाङ्क्षता लाभमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥

सब कार्योंमें दक्ष, सहज कार्य करनेमें समर्थ, धार्मिक लोकोंसे संपर्क रखनेकी इच्छा करनेवाला और द्वेष रहित मनुष्यको अपने राजाके हितके लिये उसकी निन्दामें नहीं पडना चाहिये ॥ ४८ ॥

न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन्सुखमवाप्नुयात् ।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ॥ ४९ ॥

राजाके विरुद्ध आचरण करनेवाला मनुष्य उसका पुत्र, भाई, मित्र अथवा स्वयंके तुल्य भी हो, तो कभी सुख नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ४९ ॥

कुर्यात्कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः ।
न तु राज्ञाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥ ५० ॥

वायुकी सहायतासे प्रज्वलित अग्नि कुछ भाग जलाये विना शेष छोड देती है, परन्तु राजा जब जिसपर आक्रमण करता है, तब उसकी कोई वस्तु शेष नहीं रहती ॥ ५० ॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥ ५१ ॥

मनुष्यको राजाकी सब रक्षित वस्तुओंको दूरसे ही त्यागना उचित है। जैसे मृत्युसे अपनी रक्षा की जाती है, वैसे ही राजस्व अपहरणसे भी आत्मरक्षा करनी उचित है ॥ ५१ ॥

नश्येदभिमृशन्सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन् ।
आत्मस्वमिव संरक्षेद्राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

क्योंकि उसे स्पर्श करनेसे ही जैसे मारण यन्त्रके स्पर्शसे ही मृग नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्यका नाश होता है। बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है, वह अपने धनके समान राजाके धनकी भी रक्षा करे ॥ ५२ ॥

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतसः ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥

जो राजधन हरते हैं, वे सदाके वास्ते अचेतन, अप्रतिष्ठित, भयङ्कर और महत् नरकमें पतित होते हैं ॥ ५३ ॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एवं स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमिच्छति ॥ ५४ ॥

जिस राजाकी भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृपति आदि शब्दोंसे स्तुति की जाती है, कौन पुरुष उसकी पूजा नहीं करेगा ? ॥ ५४ ॥

तस्माद्बुभूषुर्नियतो जितात्मा संयतेन्द्रियः ।
मेधावी स्मृतिमान्दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥ ५५ ॥

इन्हीं सब कारणोंसे ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला, जितात्मा, संयतेन्द्रिय, मेधावी, स्मृतिमान् और दक्ष पुरुष राजाका आसरा ग्रहण करें ॥ ५५ ॥

कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम् ।
धर्मनित्यं स्थितं स्थित्यां मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः ॥ ५६ ॥

राजा भी कृतज्ञ, बुद्धिमान्, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए दृढभक्तिवाले, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ और नीतिज्ञ मन्त्रीका सत्कार करे ॥ ५६ ॥

दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७ ॥

दृढभक्तियुक्त, शिक्षित बुद्धिमान्, धर्म जाननेवाले, जितेन्द्रिय और शूर, बड़े कार्योंके करनेवाले और जो कहा करता है मैं अकेला ही इस कर्मको सिद्ध करूंगा, दूसरे सहायककी आवश्यकता नहीं है; वैसे ही मनुष्यका आसरा ग्रहण करे ॥ ५७ ॥

राजा प्रगल्भं पुरुषं करोति राजा कृशं बृंहयते मनुष्यम् ।
राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥ ५८ ॥

राजा मनुष्यको धीर—सबल करता है, और राजा ही मनुष्यको दुर्बल करता है; राजा जिसपर क्रोध करे, उस मनुष्यको सुख कैसे मिलेगा ? परन्तु राजा उसके अनुगतको सब भांतिसे सुखी बनाता है ॥ ५८ ॥

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।
यमाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक्पुरुषा नरेन्द्रम् ॥ ५९ ॥

राजा ही प्रजासमूहके विशाल हृदय— मानसिक उत्कर्ष, सद्गति, प्रतिष्ठा और परम सुख लाभका कारण है। जो लोग राजाका आसरा ग्रहण करते हैं; वे इस लोक और मरनेके अनन्तर परलोकको भी पूर्णतया जय करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५९ ॥

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशास्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति सत्कृतम् ॥ ६० ॥

राजा भी दम, सत्य और सुहृदताके सहित पृथ्वीका शासन करते हुए महान् यज्ञोंका अनुष्ठान करके महायशस्वी होकर स्वर्गमें अमर तथा नित्य पद प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

स एवमुक्तो गुरुणा कौसल्यो राजसत्तमः ।
प्रयत्नात्कृतवान्वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ २४२९ ॥

राजसत्तम कौशलराज वीर वसुमना अपने गुरु बृहस्पतिके ऐसे वचन सुनके यत्नपूर्वक प्रजापालन करने लगे ॥ ६१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ २४२९ ॥

×

: ६९ :

युधिष्ठिर उवाच—

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं रक्ष्याश्च शत्रवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! राजाके कर्त्तव्य कर्मके बीच और क्या शेष है ? उसे प्रजाओंकी रक्षा कैसे करनी चाहिये तथा शत्रुओंसे किस प्रकार संरक्षण करना चाहिये ? ॥ १ ॥

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान्विश्वासयेत्कथम् ।
कथं भृत्यान्कथं दारान्कथं पुत्रांश्च भारत ॥ २ ॥

वह दूत, सेवक, स्त्री, पुत्र तथा सब वर्णोंके लोगोंमेंसे किसका किस भांति विश्वास करे तथा किसे किस भांतिके कार्योंमें नियुक्त करे; आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत्कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— महाराज ! राजा अथवा राजकार्य करनेवालेको सबसे पहले जो कार्य करना उचित है, तुम एकाग्रचित्तसे उस समस्त राजनीतिको सुनो ॥ ३ ॥

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥

राजा पहिले सदा अपने चित्तको जीतकर ही फिर शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे । जिस राजाने अपने मनको नहीं जीता वह शत्रुओंको कैसे जीत सकेगा ? ॥ ४ ॥

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः ।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥

जिसने श्रोत्र आदि पञ्च इन्द्रियों और अपने चित्तको वशमें किया है, वैसा जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होता है ॥ ५ ॥

न्यसेत गुल्मान्दुर्गेषु संधौ च कुरुनन्दन ।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥ ६ ॥

हे कुरुनन्दन ! राजाको उचित है, वह किला, राज्य-सीमाका वर्ण भाग, नगर और गांवके उपवनोंमें सेना रखे ॥ ६ ॥

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरस्य च ।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इसी प्रकार सभी चतुष्पथ, पुर, नगर, अन्तःपुर और राजमहलके आसपास सब स्थानोंमें पैदल सेना स्थापित करे ॥ ७ ॥

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन् ।
पुंसः परीक्षितान्प्राज्ञान्क्षुत्पिपासातपक्षमान् ॥ ८ ॥

जड, अन्धे और बधिर रूपवाले, भूखप्यास आदि क्लेशोंको सहनेवाले, बुद्धिमान् और परीक्षामें निपुण पुरुषोंको दूतरूपसे नियुक्त करे ॥ ८ ॥

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु त्रिविधेषु च ।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात्समाहितः ॥ ९ ॥

महाराज ! सब भांतिके सेवकों, अनेक प्रकारके मित्रों और पुत्रों इन तीन प्रकारके लोगोंपर भी राजा सावधान होकर गुप्तचरोंकी नियुक्ति करे ॥ ९ ॥

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु ।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥

पुर जनपद और सामन्त राजाओंके समीप इस प्रकार गुप्त चरोंको नियत करे, कि वे लोग आपसमें एक दूसरेको न जान सकें ॥ १० ॥

चारांश्च विद्यात्प्रहितान्परेण भरतर्षभ ।
आपणेषु विहारेषु समवायेषु भिक्षुषु ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! राजा अपने मल्लक्रीडा स्थान, बाजार, विहारस्थान, सामाजिक उत्सव, भिक्षुक, ॥ ११ ॥

आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे ।
वेशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ १२ ॥

पुष्पवाटिका, बाहिरी बगीचे, पण्डितोंकी सभा स्थान, अधिकारियोंके निवास स्थान, चौराह, राजसभा, धर्मशाला और प्रधान पुरुषोंके गृह—इन सब स्थानोंमें अनुसन्धान करनेसे ही शत्रुओंके भेजे हुए दूतोंको जान सकते हैं ॥ १२ ॥

एवं विहन्याच्चारेण परचारं विचक्षणः ।
चारेण विहितं सर्वं हतं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! बुद्धिमान राजा इसी भांति शत्रु–प्रेरित दूतोंको मालूम करे और उनका हेतु विफल करे; क्योंकि पहिले ही अपने दूतोंसे मालूम करनेसे शत्रुओंका हेतु नष्ट होता है ॥१३॥

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना ।
आमात्यैः सह संमन्त्र्य कुर्यात्संधिं बलीयसा ॥ १४ ॥

जब राजा स्वयं अपने पक्षको बलहीन समझे, तब मन्त्रियोंके सङ्ग विचार करके बलवान् शत्रुके साथ सन्धि करे ॥ १४ ॥

अज्ञायमाने हीनत्वे कुर्यात्संधिं परेण वै ।
लिप्सुर्वा कंचिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥

शत्रुको अपनी दुर्बलताका पता लगनेसे पहिले ही शत्रुके साथ संधि कर ले; बुद्धिमान् राजा इस संधिसे थोडे स्वार्थ लाभकी आशा-इच्छा रहनेपर शत्रुके साथ शीघ्रही सन्धि करे ॥१५॥

गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये ।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १६ ॥

जो लोग गुणवान्, महा उत्साहयुक्त, धर्म जाननेवाले और साधु हैं, वैसे पुरुषोंकी सहाय्यतासे धर्मपूर्वक राष्ट्रका पालन करनेवाला राजा बलवानोंके साथ संधि करे ॥ १६ ॥

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः ।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् राजा अपनेको उच्छिद्यमान हो रहा है यह जानकर लोकद्वेषी और पूर्व अपकारी लोगोंका संपूर्ण नाश करे ॥ १७ ॥

यो नोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः ।
अशक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥ १८ ॥

जो राजा किसी भांति उपकार और अपकार करनेमें समर्थ न हो, तथा जिसको उखाडना भी उचित नहीं लगता हो, उसके प्रति उपेक्षा प्रकाशित कर देनी चाहिये ॥ १८ ॥

यात्रां यायादविज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम् ।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥ १९ ॥

युद्धके वास्ते प्रस्थान करनेकी इच्छा होनेपर पहिले असावधान, सहायक बन्धुओंसे रहित, मित्रहीन, दूसरोंके साथ युद्धमें आसक्त, उन्मत्त और दुर्बल शत्रुपर चतुर राजा आक्रमण करे ॥ १९ ॥

यात्रामाज्ञापयेद्वीरः कल्यपुष्टबलः सुखी ।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥ २० ॥

यात्राकालकी सब वस्तुओंका संग्रह करके, कल्याणजनक वचनोंसे अभिनन्दित और महत् बलसे युक्त होकर स्वच्छन्दताके सहित युद्धनिपुण, दृढनिश्चयी वीर राजा अपनी सेनाको यात्राके लिये आज्ञा दे; अपने नगर रक्षाका उपाय करके चढाई करे ॥ २० ॥

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यद्यपि वीर्यवान् ।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्शयंस्तं परावसेत् ॥ २१ ॥

बल और पराक्रमहीन राजा भी निज सामर्थ्य प्रकाशित करनेकी इच्छासे अत्यंत शक्तिशाली राजाके स्वयं वशमें न होवे; उस प्रबल शत्रुके राज्यमें निवास करके उसे सब भांतिसे पीडित करे ॥ २१ ॥

राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ।
वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ॥ २२ ॥

शस्त्र, अग्नि और विष आदिसे प्रजासमूहको मोहित करके उसके राज्यको पीडित करे; अपने सेवकोंके जरिये उसके मित्रों तथा मन्त्रियोंमें भेद करा देवे। बुद्धिमान राजा राज्यके हितकी इच्छा कर सदा युद्धको टालनेका प्रयत्न करे ॥ २२ ॥

उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ।
सान्त्वेनानुप्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यमर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येद्धि पण्डितः ॥ २३ ॥

हे नराधिप ! राजा साम, दाम और भेद— इन तीन उपायोंसे ही धनकी आय करे, ऐसा बृहस्पतिने कहा है; इनसे जो कुछ धन प्राप्त कर सके, उसीसे पण्डित राजा संतुष्ट होवे ॥ २३॥

आददीत बलिं चैव प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
षड्भागममितप्रज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ २४ ॥

हे कुरुनन्दन ! बुद्धिमान् राजा प्रजासमूहकी रक्षाके वास्ते उनकी आयका छठवा अंश करके रूपमें लेवे ॥ २४ ॥

दशधर्मगतेभ्यो यद्वसु बह्वल्पमेव च ।
तन्नाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥ २५ ॥

पुरवासियोंकी रक्षाके वास्ते मतवाले, उन्मत्त आदि दस धर्मगत लोगोंसे दण्ड रूपमें बहुत वा थोडा ही धन प्राप्त हो, उसे सहसा ग्रहण न करे ॥ २५ ॥

यथा पुत्रास्तथा पौरा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां प्रकर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ २६ ॥

राजा पुरवासियोंको अपने पुत्रोंके समान स्नेहपूर्वक देखे, इसमें संदेह नहीं है; परन्तु विचार कार्यमें प्रवृत्त होकर स्वजन समझके उनके ऊपर स्नेहवश पक्षपात न करे ॥ २६ ॥

सुतं च स्थापयेद्राजा प्राज्ञं सर्वार्थदर्शिनम् ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं व्यवस्थितम् ॥ २७ ॥

राजा वादी-प्रतिवादियोंके वचनका विचार कार्य सुननेके वास्ते सदा सब अर्थोंके जाननेवाले विद्वान् पुत्रको नियुक्त करे, क्योंकि विशुद्ध न्यायपर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है ॥ २७ ॥

आकरे लवणे शुल्के तरे नागवने तथा ।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥ २८ ॥

राजाको उचित है कि वह सुवर्ण आदिकोंकी खान, लवण उत्पत्तिके स्थान, धान्य आदि विकनेके स्थान, नदी और हाथियोंके वन—इन सब स्थानोंपर मन्त्रियों अथवा निज हितकारी आत्मीय पुरुषोंको नियुक्त करे ॥ २८ ॥

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मे प्रशस्यते ॥ २९ ॥

यथारीतिसे दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्मजनित फल प्राप्त करता है; क्योंकि सतत दण्ड विधान ही राजाओंका परम धर्म कहकर उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ २९ ॥

वेदवेदाङ्गवित्प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३० ॥

हे भारत ! राजाको वेद वेदाङ्ग आदि सब विद्याओंका विद्वान् बुद्धिमान्, तपस्यामें रत, सदा दानशील तथा यज्ञशील होना उचित है ॥ ३० ॥

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
क्रियालोपे तु नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३१ ॥

ये सब गुण राजामें सदा स्थिर रहने चाहिये; क्योंकि राजाका न्यायपूर्ण व्यवहार तथा कर्म लुप्त होनेसे उसे स्वर्गलाभ कैसे प्राप्त होगा और यशही कैसे मिलेगा ? ॥ ३१ ॥

यदा तु पीडितो राजा भवेद्राज्ञा बलीयसा ।
त्रिधा त्वाक्रन्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३२ ॥

दूसरे बलवान् राजासे पीडित होनेपर बुद्धिमान् राजा समयके अनुसार मित्रोंका त्रिविध प्रकारसे आवाहन करके उनके सङ्ग विचार करके अपनी रक्षाके लिये प्रबन्ध करे ॥ ३२ ॥

घोषान्न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान्सर्वाञ्शाखानगरकेष्वपि ॥ ३३ ॥

वनमेंसे उठाकर अहीरोंको मार्गोंपर स्थित करे; आवश्यकता होनेपर छोटे गावोंको उठाके उन लोगोंको उपनगरोंमें प्रवेश करावे ॥ ३३ ॥

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

राज्यमें जो सब गुप्त और कठिनतासे जानने योग्य स्थान हैं, युद्ध उपस्थित होनेपर धनशाली सेनाके मुख्य अधिकारी और बलवान् पुरुषोंको बारबार मीठे वचनसे धीरज देके उन्हीं स्थानोंमें भेजे ॥ ३४ ॥

सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असंभवे प्रवेशस्य दाहयेदग्निना भृशम् ॥ ३५ ॥

राजा स्वयं उपस्थित होके निज राज्यके अनाजकी फसल कटवाकर किलेमें रखे, और यदि किलेमें लाना अशक्य हो तो चारों ओरसे आग लगाके वह सब भस्म कर देवे ॥ ३५ ॥

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् ।
विनाशयेद्वा सर्वस्वं बलेनाथ स्वकेन वै ॥ ३६ ॥

शत्रुके मित्र लोगोंमें भेद कराके अथवा निज सैन्य बलसे ही शत्रुके खेतोंमें जो अनाज हों उन्हें नष्ट करे ॥ ३६ ॥

नदीषु मार्गेषु सदा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं निस्रावयेत्सर्वमनिस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३७ ॥

नदीके पथमें स्थित पुलोंको तोड देवे; शत्रुके मार्गमें जो जल है वह सब बाहर कर देवे और जिस जलको बाहर करनेका उपाय न होवे, वैसे जलको विषादिकोंसे दूषित कर देवे ॥३७॥

तदात्वेनायतीभिश्च विवदन्भूम्यनन्तरम् ।
प्रतीघातः परस्याजौ मित्रकालेऽप्युपस्थिते ॥ ३८ ॥

विशेष मित्रकार्य उपस्थित होनेपर भी उसे परित्याग कर, वर्त्तमान और भविष्यकार्योंकी चिन्ता करते हुए, रणभूमिमें शत्रुके पराजित करनेमें समर्थ तथा राज्यकी सीमाके निकटका निवासी शत्रुओंके साथ मित्रता करके, उनकी सेनासे ही शत्रुको निज देशसे दूर करे ॥३८॥

दुर्गाणां चाश्रितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत् ।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान्विवर्जयेत् ॥ ३९ ॥

जिसमें शत्रु लोग आश्रय ले सकें वैसे छोटे छोटे किलोंको तोड देवे; चैत्य (मंदिर) वृक्षोंके अतिरिक्त अन्य सब क्षुद्र और बडे वृक्षोंकी जड काट दे ॥ ३९ ॥

प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखा प्रच्छेदयेत्तथा ।
चैत्यानां सर्वथा वर्ज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४० ॥

जो वृक्ष बढकर फैल गये हैं, उनकी डालियां कटवा दे; परन्तु चैत्यवृक्षोंको सर्वथा सुरक्षित रखे, उनका पत्ता पर्यन्त भी न तोडे ॥ ४० ॥

प्रकण्ठीः कारयेत्सम्यगाकाशजननीस्तथा ।
आपूरयेच्च परिखाः स्थाणुनक्रझषाकुलाः ॥ ४१ ॥

किलेकी दीवार, शूरवीरोंके निवासस्थान सब तैय्यार करे; वायुका निवास, किलेसे बाहरी शत्रुओंको देखना और उनके ऊपर अग्नेयास्त्र और गोली चलानेके वास्ते किलेकी दिवारोंमें छोटे छोटे छेदोंको तैयार करावे । किलेकी खांई घडियाल और बडी शरीरवाली मछलियोंसे परिपूरित करे ॥ ४१ ॥

कडङ्गद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य ह ।
तेषां च द्वारवद्गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४२ ॥

नगरसे बाहर जानेके वास्ते छोटे द्वार बनाके अन्य बडे दरवाजोंकी भांति उसकी भी रक्षाका उपाय करे ॥ ४२ ॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत्सदा।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४३ ॥

सब दरवाजोंपर सदा बडे यन्त्र और आवश्यकता होनेपर चलाई जा सकें, ऐसी शतघ्नी–तोप स्थापित करे और उनको अपने अधिकारमें रक्खे ॥ ४३ ॥

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।
संशोधयेत्तथा कूपान्कृतान्पूर्वं पयोर्थिभिः ॥ ४४ ॥

बहुतसा काष्ठ संग्रह कर रखे, जगह जगह कूएं खुदवाये और जो सब कूएं जलकी इच्छावाले दूसरे लोगोंने पहिलेसे खोद रखे हैं, उनके जलकी शुद्धि करावे ॥ ४४ ॥

तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनापि प्रलेपयेत्।
निर्हरेच्च तृणं मासं चैत्रे वह्निभयात्पुरः ॥ ४५ ॥

तृण आदिसे छाये हुए गृहोंको गीली मिट्टीसे लेपन करावे और चैत्र महीनेमें आग लगनेके भयसे नगरके भीतरसे घास–फूंस हटवा दे ॥ ४५ ॥

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः।
न दिवाग्निर्ज्वलेद्गेहे वर्जयित्वाग्निहोत्रिकम् ॥ ४६ ॥

युद्धके समय राजा रात्रिमें ही भक्ष्य आदि वस्तुओंको बनानेकी नगरके लोगोंको आज्ञा दे और अग्निहोत्रके अतिरिक्त दूसरे किसी कार्यमें भी दिनके समय घरमें अग्नि न जलने देवे ॥ ४६ ॥

कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः समाहितः।
गृहाणि च प्रविश्याथ विधेयः स्याद्धुताशनः ॥ ४७ ॥

लुहार और सूतिका गृहोंमें भली भांति सावधानतासे अग्नि प्रज्वलित करावे और उस अग्निको गृहके भीतर प्रविष्ट करके उत्तम प्रकारसे छिपा रखे ॥ ४७ ॥

महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत्।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य वै ॥ ४८ ॥

नगरकी रक्षा करनेके वास्ते जो दिनमें अग्नि जलावेगा, उसे बडा भारी दण्ड होगा ऐसी घोषणा करा देवे ॥ ४८ ॥

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्षीबोन्मत्तान्कुशीलवान्।
बाह्यान्कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥ ४९ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उस ही समय भिखमंगे, गाडीवान, क्षीव, उन्मत्त और नाटक करनेवाले पुरुषोंको नगरसे बाहर करे; क्योंकि उस समय उन लोगोंके नगरमें रहनेसे अनेक विपत्तियां उपस्थित होती हैं ॥ ४९ ॥

चत्वरेषु च तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ।
यथार्हवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वत्र पार्थिवः ॥ ५० ॥

चौराहे, मन्त्रादि अठारह भांतिके तीर्थ, सभा और धर्मशालाओंमें सब जगह वहांकी प्रवृत्ति जाननेके लिये राजा योग्य रीतिसे गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ५० ॥

विशालान्राजमार्गांश्च कारयेत नराधिपः ।
प्रपाश्च विपणीश्चैव यथोद्देशं समादिशेत् ॥ ५१ ॥

राजाको उचित है कि वह बहुत बडे बडे राजमार्ग तैय्यार करावे, और आवश्यकतानुसार जलके स्थान तथा बेचने-खरीदनेके बाजारोंकी व्यवस्था करे ॥ ५१ ॥

भाण्डागारायुधागारान्धान्यागारांश्च सर्वशः ।
अश्वागारान्गजागारान्बलाधिकरणानि च ॥ ५२ ॥

हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! पात्र-आदि साधनोंके भण्डार, शस्त्रागार, अन्नके भण्डार, अश्वशालाएं, गजशालाएं, सेनाका निवास स्थान, ॥ ५२ ॥

परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीः संकटानि च ।
न जातु कश्चित्पश्येत्तु गुह्यमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५३ ॥

परिघा-खांई, भीतरी मार्ग और अन्तःपुरके बगीचे-सब इस प्रकार गोपनीय स्थानोंमें तैय्यार करावे, कि दूसरा कोई किसी प्रकार भी देख न सके ॥ ५३ ॥

अथ संनिचयं कुर्याद्राजा परबलार्दितः ।
तैलं मधु घृतं सस्यमौषधानि च सर्वशः ॥ ५४ ॥

पराये बलसे पीडित हुआ राजा तेल, चर्बी, मधु, घृत, धान्य, अनेक भांतिकी औषधी और धन आदि सञ्चय करे ॥ ५४ ॥

अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरपर्णिनाम् ।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयेत च संचयान् ॥ ५५ ॥

अङ्गार, कुश, मूंज, पत्र, शर, लेशक, घास, काठ और विषमें बुझे हुए बाण,- आदिका भी संग्रह करावे ॥ ५५ ॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ।
संचयानेवमादीनां कारयेत नराधिपः ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार राजा शक्ति, ऋष्टि, प्रास आदि अस्त्रों और वर्म आदि आवश्यकीय वस्तुओंको संग्रह कर रखे ॥ ५६ ॥

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च ।
चतुर्विधांश्च वैद्यान्वै संगृह्णीयाद्विशेषतः ॥ ५७ ॥

सब भांतिकी औषधी, मूल, फल और विष, शल्य, रोग और कृत्या- इन चार भांतिके उत्पातोंको शान्त करनेवाले, चार भांतिके वैद्योंका विशेष रूपसे संग्रह करे ॥ ५७ ॥

+

नटाश्च नर्तकाश्चैव मल्ला मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ५८ ॥

नट, नर्तक, मल्ल और जादूगर मायावियोंको आश्रय देकर राजा राजनगरीको शोभित और दूसरे सब पुरुषोंको सब रीतिसे आनन्दित कर रखे ॥ ५८ ॥

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतो वापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान्कारयेत तान् ॥ ५९ ॥

यदि राजाको अपने सेवकसे, मन्त्रीसे, पुरवासियोंसे अथवा पडोसी राजासे भी कोई शंका हो तो उन्हें अपने वशमें कर रखे ॥ ५९ ॥

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद्धनसंचयैः ।
मानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥ ६० ॥

हे राजेन्द्र ! इच्छित कार्य पूर्ण होनेपर उसमें सहाय्य करनेवालोंका यथा उचित सन्मान बहुतसा धन और अनेक भांतिके शान्त वचनसे उनका सत्कार करना चाहिये ॥ ६० ॥

निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन ।
गतानृण्यो भवेद्राजा यथा शास्त्रेषु दर्शितम् ॥ ६१ ॥

हे कुरुनन्दन ! यदि राजा क्रोधमें शत्रुकी अवमानना, ताडना वा वध करे, तो शास्त्रमें कहे हुए वचनोंके अनुसार दान-मानादिसे उसके वंशका सत्कार करके उऋण हो जाय ॥ ६१ ॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चापि निबोध मे ।
आत्मामात्यश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥ ६२ ॥

जो सात विषय राजाको अवश्य रक्षा करनेके योग्य हैं, उसे सुनो; हे कुरुनन्दन ! राजाको उचित है, कि आत्मा- स्वयंका शरीर, मंत्री, कोष, दण्ड, मित्र ॥ ६२ ॥

तथा जनपदश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ६३ ॥

जनपद और पुर- इस सप्तात्मक राज्य सब भांति यत्नपूर्वक प्रतिपालन करे ॥ ६३ ॥

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गमपरं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुनक्ति महीमिमाम् ॥ ६४ ॥

हे पुरुषसिंह ! जो राज्य छः गुण, त्रिवर्ग और परम त्रिवर्ग- इन सबको जानता है, वही इस पृथ्वीका भोग करनेमें समर्थ होता है ॥ ६४ ॥

षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
संधायासनमित्येव यात्रासंधानमेव च ॥ ६५ ॥

हे युधिष्ठिर ! मैंने जो षाड्गुण्यकी कथा कही, उसे सुनो; शत्रुके साथ सन्धि करके निःशङ्क चित्तसे निवास; शत्रुके ऊपर चढाई, ॥ ६५ ॥

विगृह्यासनमित्येव यात्रां संपरिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥ ६६ ॥

वैर करके बैठ जाना, शत्रुको भय दिखानेके वास्ते यात्राका छल दिखाके निवास करना, शत्रुओंमें भेद निर्माण करना और अन्य किला तथा दूसरे प्रबल राजाका आसरा ग्रहण करना, येही छः राजाके षाड्गुण्य कहाते हैं ॥ ६६ ॥

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गमपरं तथा ॥ ६७ ॥

त्रिवर्गकी कथा जो मैंने कही हैं, उसे भी एकाग्रचित्तसे सुनो । क्षय, स्थान और वृद्धि– येही त्रिवर्ग हैं, परम त्रिवर्ग हैं ॥ ६७ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण हि महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥ ६८ ॥

धर्म, अर्थ और काम– समयके अनुसार इनका सेवन करना उचित है । इसी भांति राजा धर्मपूर्वक आचरण करनेसे पृथ्वीका पालन दीर्घकालतक कर सकता है ॥ ६८ ॥

अस्मिन्नर्थे च यो श्लोकौ गीतावङ्गिरसा स्वयम् ।
यादवीपुत्र भद्रं ते श्रोतुमर्हसि तावपि ॥ ६९ ॥

हे पृथानन्दन ! तुम्हारा मङ्गल हो, इस ही अर्थमें स्वयं बृहस्पतिने जो दो श्लोक कहे थे, उन दोनोंको तुम्हें सुनना उचित है ॥ ६९ ॥

कृत्वा सर्वाणि कार्याणि संयक्संपाल्य मेदिनीम् ।
पालयित्वा तथा पौरान्परत्र सुखमेधते ॥ ७० ॥

" पृथ्वी और पुरवासियोंका यथारीतिसे पालन-संरक्षण और दूसरे सब भांतिके कर्तव्य कार्य करके राजा परलोकमें सुख प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि ।
अपालिताः प्रजा यस्य सर्वा धर्मविनाकृताः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ २५०० ॥

जो प्रजापुञ्जको यथार्थ रीतिसे पालन नहीं करता है, और जिसने सबको धर्म विना किया है, वैसे राजाको तपस्यासे क्या फल प्राप्त होगा ? और उसे यज्ञोंका अनुष्ठान करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ७१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ २५०० ॥

: ७० :

युधिष्ठिर उवाच—

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि ।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्यै तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले, पितामह ! दण्डनीति और राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं, इसमेंसे किसे किस भांतिके कार्योंसे कैसी सिद्धि प्राप्त होती है, आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः ।
शृणु मे शंसतो राजन्यथावदिह भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भरत नन्दन महाराज ! दण्डनीतिसे जो राजा और प्रजाका महासौभाग्य होता है; मैं युक्तियुक्त सिद्ध वाक्योंसे वह सब वर्णन करता हूं, तुम यथावत् यही सुनो ॥२॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ ३ ॥

राजाके यथा उचित रीतिसे चलानेपर दण्डनीति चारों वर्णोंकी प्रजाको अधर्मसे निवृत्त करके स्वधर्ममें स्थापित करती है ॥ ३ ॥

चातुर्वर्ण्ये स्वधर्मस्थे मर्यादानामसंकरे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ४ ॥

दण्डनीतिके प्रभावसे चारों वर्णोंकी प्रजा स्वधर्ममें रत, सब मर्यादाओंसे युक्त और सब ओरसे निर्भय तथा कुशलपूर्वक रहती है ॥ ४ ॥

सोमे प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि ।
तस्माद्देवमनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ५ ॥

तीनों वर्णोंके लोग विधिपूर्वक स्वास्थ्य रक्षाका प्रयत्न करते हैं और उससे ही देव— मनुष्योंको परम सुख प्राप्त होता है, यह तुम जान लो ॥ ५ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥ ६ ॥

काल राजाका कारण है, अथवा राजा कालका कारण है, तुम्हें ऐसी शङ्का नहीं उपस्थित होनी चाहिये; इसे ही निश्चय जान रखो, कि राजा ही कालका कारण होता है ॥ ६ ॥

दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक्कात्स्न्र्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ ७ ॥

जब राजा पूरी रीतिसे दण्डनीतिका प्रयोग करता है, तभी कालश्रेष्ठ सत्ययुग प्रवर्त्तित हुआ करता है ॥ ७ ॥

भवेत्कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥ ८॥

अनन्तर उस कृत युगमें केवल मात्र धर्म ही विराजमान रहता है; अधर्म इक बारगी लुप्त हो जाता है; सब वर्णोंका मन अधर्ममें नहीं रत होता ॥ ८ ॥

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः।
वैदिकानि च कर्माणि भवन्त्यविगुणान्युत ॥ ९॥

प्रजाके योगक्षेम स्वयं सिद्ध होते रहते हैं और उन लोगोंके सब वैदिक कर्म सद्गुणोंसे युक्त होते हैं ॥ ९ ॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥ १०॥

सब ऋतु आरोग्यपूर्ण और सुखदायक होती हैं, मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन प्रसन्न रहते है ॥ १० ॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र नृशंसो नाभिजायते ॥ ११॥

कोई रोगसे पीडित नहीं होता और किसीकि अल्पायु नहीं दीख पडती। इस सतयुगमें कोई स्त्री विधवा तथा कोई भी मनुष्य दुष्ट नहीं होता ॥ ११ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ १२॥

बीना जोते-बोये ही पृथ्वीपर सब भांतिके अन्न और औषधियां उत्पन्न होती हैं; उनकी छाल, पत्ते, फल और मूल बलशाली होते हैं ॥ १२ ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलः।
इति कार्तयुगानेतान्गुणान्विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३॥

उस कृत-युगमें अधर्म लुप्त हो जाता है और केवल मात्र धर्म ही विराजमान रहता है; हे युधिष्ठिर! येही सब सतयुगके गुण समझ रखो ॥ १३ ॥

दण्डनीत्या यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥ १४॥

जब राजा पूर्ण रीतिसे प्रवृत्त न होकर दण्डनीतिके चौथे अंशको परित्याग करके उसके केवल तीन अंशोंका ही अनुयायी होता है, तब ही त्रेतायुग प्रवर्तित होता है ॥ १४ ॥

अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ १५॥

उस त्रेतायुगमें तीन हिस्से धर्म और एक भाग अशुभ अधर्म प्रचलित होगा; जोतने बोनेसे ही पृथ्वीपर अन्न और फसल उत्पन्न होती हैं ॥ १५ ॥

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः संप्रवर्तते ॥ १६ ॥

जब राजा दण्डनीतिके आधे भागको त्यागकर आधेका अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युगका प्रारंभ होता है ॥ १६ ॥

अशुभस्य तदा अर्धं द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यल्पफला तथा ॥ १७ ॥

उस समय लोग दो हिस्से अधर्म और दो भाग धर्मके अनुयायी होते हैं; पृथ्वीपर जोतने-बोनेसेही अन्न पैदा होता है, परंतु फसल तो अल्पही होती है ॥ १७ ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रविश्यति तदा कलिः ॥ १८ ॥

जब राजा संपूर्ण दण्डनीतिको त्यागके केवल मात्र असत् उपायोंसे ही प्रजा समूहको पीडित किया करता है, तभी कलियुगका प्रवेश होता है ॥ १८ ॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति तु क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ १९ ॥

कलियुगमें अधर्म अधिक होता है, कहीं भी धर्म नहीं दीख पडता, सब वर्णोंका मन निज धर्म कर्मोंसे विचलित हुआ करता है ॥ १९ ॥

शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसंकरः ॥ २० ॥

शूद्र लोग भिक्षा मांगकर और ब्राह्मण लोग सेवावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं; योगक्षेमका नाश होता है और वर्णसंकर बढ जाता है ॥ २० ॥

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो नसुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ २१ ॥

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठान विधिपूर्वक न करनेसे उसमें कुछ फल न होकर उलटा गुणहीन ही हो जाते हैं; कोई ऋतु भी सुखदायक नहीं होती, बल्कि सब ऋतुओंमें ही प्रजा रोगोंसे पीडित होती है ॥ २१ ॥

ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते चागतायुषः ॥ २२ ॥

मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मनका ऱ्हास होता है, और वे लोग रोगपीडित तथा अल्पायु होकर अकालमें ही मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद्वर्षति पर्जन्यः क्वचित्सस्यं प्ररोहति ॥ २३ ॥

कलियुगमें स्त्रियां विधवा होती हैं और प्रजा क्रूर हुआ करती है; बादल सब स्थानोंमें जलकी वर्षा नहीं करते; अन्न आदिक भी कभी कभी उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिसमाहितः ॥ २४ ॥

जब राजा दण्डनीतिमें स्थित होकर प्रजाकी भली भांति रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता, उस समय पृथ्वीके सब रसोंका भी नाश हो जाता है ॥ २४ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ २५ ॥

राजा ही सतयुगकी सृष्टि करनेवाला है और राजा ही त्रेता, द्वापर और चौथे कलियुगकी भी सृष्टिका कारण है ॥ २५ ॥

कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ २६ ॥

राजा सतयुगकी सृष्टि करनेके कारण अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति करता है; त्रेतायुगकी सृष्टि करनेसे स्वर्ग मिलता है, परंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

प्रवर्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ २७ ॥

और राजा द्वापर युगके आचरित धर्म और अधर्मकी संख्याके अनुसार अधिक वा अल्प स्वर्ग–सुख लाभ करता है । परन्तु कलियुगके आचरित कार्योंसे केवल पापयुक्त कष्ट ही भोग किया करता है ॥ २७ ॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर वह पापी नीचकर्म करनेवाला राजा उस पापके कारण अनेक वर्ष पर्यन्त नरकमें वास करता है । प्रजासमूहके आचरित पापपङ्कमें डूबके वह अपयश और पापके फल स्वरूप दुःख भोगता है ॥ २८ ॥

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन्क्षत्रियः सदा ।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥ २९ ॥

क्षत्रिय सदा निखिल दण्डनीतिमें तत्पर तथा उसे ही सम्मुखवर्त्तिनी करके सदा अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्तिके वास्ते यत्न और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षाका उपाय करे ॥ २९ ॥

लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभावनी ।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥ ३० ॥

यह दण्डनीति यथोचित् रीतिसे चलाई जाय तो वह बालककी रक्षा करनेवाले माता-पिताके समान लोककी उत्तम व्यवस्था करनेवाली और धर्ममर्यादा तथा जगत्की रक्षा करनेमें समर्थ होती है ॥ ३० ॥

यस्यां भवन्ति भूतानि तद्विद्धि भरतर्षभ ।
एष एव परो धर्मो यद्राजा दण्डनीतिमान् ॥ ३१ ॥

हे नरनाथ ! राजाका दण्डनीति विशारद होना और उसके अनुसार आचरण करना ही राजाका परम धर्म है; क्योंकि यह निश्चय जान रखो, कि दण्डनीतिके आधारपर ही सब लोग भली भांति स्थापित हुए हैं ॥ ३१ ॥

तस्मात्कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् ।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन्स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ २५३२ ॥

हे कुरुनन्दन ! मैं इस ही कारण कहता हूं, कि तुम नीति निपुण होके धर्मपूर्वक प्रजापालन करो; क्योंकि इसी भांति नीतियुक्त होके प्रजाकी रक्षा करनेसे तुम दुर्जय स्वर्गको भी जीतनेमें समर्थ होंगे ॥ ३२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ २५३२ ॥

: ७१ :

युधिष्ठिर उवाच—

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान्सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे आचारोंके ज्ञाता ! राजा कैसे कर्तव्य- कार्योंसे इस लोक और मृत्युके अनन्तर परलोकमें भविष्यत् सुखदायक पदार्थोंको अनायास ही प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

इयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुता ।
यान्गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन्गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— गुणवान् राजा जिन सब गुणोंका आचरण करके कल्याण प्राप्त किया करता है; अकटुक आदि छत्तीस गुणोंसे युक्त वह धर्म छत्तीस प्रकारके गुणोंका है। राजा उन गुणोंसे युक्त होनेका प्रयत्न करे ॥ २ ॥

चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न नास्तिकः ।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्काममनुद्धतः ॥ ३ ॥

कटुतासे रहित होके धर्म कार्योंका आचरण करे, आस्तिक रहकर दूसरोंसे स्नेह पूर्ण वर्ताव न छोडे; किसी भांतिका निष्ठुर आचरण न करके धन उपार्जन करना और जिसमें धर्म तथा अर्थ नष्ट न होवे, उस ही भांति यथा उचित इन्द्रियोंकी प्रीतिको साधन करना उचित है ॥ ३ ॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्रवर्षी स्यात्प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥ ४ ॥

दीनता रहित होके प्रिय वचन कहे, शूर–वीर होके भी अपनी बडाई न करे, निर्भय होकर भी निष्ठुर न होवे, और दाता होके भी अपात्रको दान न देवे ॥ ४ ॥

संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः ।
नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात्कार्यमपीडया ॥ ५ ॥

दुष्ट अनार्योंके साथ सन्धि न करे, बन्धुजनोंके सङ्ग विग्रह– झगडा न करे, जो विश्वसनीय बान्धव न हो ऐसे गुप्तचरसे काम न ले और दूसरेको पीडित न करके अनन्त कार्य करना उचित है ॥ ५ ॥

अर्थान्ब्रूयान्न चासत्सु गुणान्ब्रूयान्न चात्मनः ।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥

झूठेके निकट अपना प्रयोजन न कहे, अपने मुखसे निज गुणोंका वर्णन न करे, साधु पुरुषोंके निकटसे धन हरण न करे, नीच पुरुषका आश्रय न ले ॥ ६ ॥

नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत् ।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ ७ ॥

विना जांच– पडताल किये ही किसीको दण्ड न दे; दूसरेके निकट गुप्त विचार प्रकाशित न करे, लोभियोंको धन न दे, और अपकारियोंका विश्वास करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः ।
स्त्रियं सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥ ८ ॥

सदा ईर्षारहित होकर अपनी स्त्रीकी रक्षा करे; राजा शुद्ध और घृणा रहित होवे; स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्त न होवे और जिससे हानि हो, वैसे अन्नको त्यागके शुद्ध अन्न भोजन करे ॥ ८ ॥

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान्गुरून्सेवेदमायया ।
अर्चेद्देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥

विनीत– शान्तभावसे माननीय पुरुषोंका आदर सत्कार करे, कपट रहित होकर गुरुजनोंकी सेवा करे, दम्भ रहित होकर देवताओंकी पूजा करे और जिस धनको लेना निषेध नहीं है उसे ही ग्रहण करे ॥ ९ ॥

+

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित् ।
सान्त्वयेन्न च भोगार्थमनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥

प्रणय परित्याग करके सेवा करे और दक्ष होकर समयकी प्रतीक्षा करे; भोगके लिये किसीको सान्त्वना न दे; आश्रयदान करके अपमान करना उचित नहीं है ॥ १० ॥

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून्न शेषयेत् ।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥

विशेष रीतिसे विना माल्रूम किये किसीपर प्रहार न करे, शत्रुओंका नाश करके कुछ शेष न रखे, अकस्मात क्रोध न करे, अपकार करनेवालोंके लिये मृदु न हो ॥ ११ ॥

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि ।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥ १२ ॥

हे युधिष्ठिर ! यदि तुम इस लोकमें कल्याण प्राप्तिकी इच्छा करते हो, तो राज्य करते हुए ऐसा ही आचरण करना; क्योंकि इसके विपरीत आचरणसे राजा अत्यंत बडे संकटमें पड जाता है ॥ १२ ॥

इति सर्वान्गुणानेतान्यथोक्तान्योऽनुवर्तते ।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥

जो राजा यथार्थ रीतिसे कहे गये इन सब गुणोंके अनुसार कार्य करता है, उसका इस लोक और मृत्युके अनन्तर परलोकमें भी मङ्गल होता है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इदं वचः शांतनवस्य शुश्रुवान्युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः ।
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ २५९६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– पाण्डुपुत्र भीमादिकोंसे रक्षित बुद्धिमान् महाराज युधिष्ठिर शान्तनु–नन्दन भीष्मके ऐसे वचन सुनके उस समय उन पितामहकी वन्दना करके उसही भांति आचरण करने लगे ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ २५४६ ॥

: ७२ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते ।
धर्मे च नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! राजा किस प्रकार प्रजापालन करनेपर चिंतामें नहीं पडता और व्यवहार निर्णय आदि कार्योंमें तथा धर्मके विषयमें भी अपराधी नहीं होता; आप यह सब मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

समासेनैव ते तात धर्मान्वक्ष्यामि निश्चितान् ।
विस्तरेण हि धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे तात ! मैं वह सम्पूर्ण सत्य राज धर्मोंका संक्षेप रूपसे तुम्हारे निकट वर्णन करूंगा, क्योंकि उन समस्त धर्मोंका विस्तारके सहित वर्णित होनेपर कदापि अन्त ही नहीं हो सकता ॥ २ ॥

धर्मनिष्ठाञ्श्रुतवतो वेदव्रतसमाहितान् ।
अर्चितान्वासयेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥ ३ ॥

तुम धर्ममें निष्ठावान्, वेदज्ञ, वेदव्रत परायण होकर गृहपर आये हुए गुणवान् ब्राह्मणोंकी सदा पूजा किया करके अपने यहां निवास कराओ ॥ ३ ॥

प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।
अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके उपस्थित होनेपर पहिले उठके उनका स्वागत करो; उनके दोनों चरणोंकी वन्दना करे; इसके अनन्तर पुरोहितके साथ दूसरे सब आवश्यक कार्योंको करे ॥ ४ ॥

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च ।
ब्राह्मणान्वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥

इसी भांति धार्मिक कार्योंको पूर्ण करके अन्य मङ्गल जनक कार्योंमें नियुक्त हो उन ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थ सिद्धि—सूचक जय आशीर्वाद ग्रहण करो ॥ ५ ॥

आर्जवेन च संपन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत ।
अर्थार्थं प्रतिगृह्णीयात्कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

हे भारत ! राजा काम-क्रोध त्यागके सदा निजबुद्धिसे धीर और सरल भाव अवलम्बन करके यथार्थ प्राप्त वस्तुओंको ग्रहण करे ॥ ६ ॥

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति ।
न स धर्मं न चाप्यर्थं परिगृह्णाति बालिशः ॥ ७ ॥

जो मूढ राजा काम क्रोधके वशमें होकर धन संग्रह करनेकी इच्छा करता है, वह धन वा धर्म कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ७ ॥

मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामे चार्थेषु यूयुजः ।
अलुब्धान्बुद्धिसंपन्नान्सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

लोभी और मूर्ख लोगोंको इष्ट लोभयुक्त तथा धन सम्बन्धीय कार्योंमें नियुक्त न करे; लोभ-रहित बुद्धिमान् पुरुषोंको ही वैसे सब कार्योंमें नियत करना उचित है ॥ ८ ॥

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामद्वेषसमन्वितः ॥ ९ ॥

क्योंकि कार्याकार्य विवेकसे रहित मूर्ख पुरुष धनाधिकारी होनेपर काम द्वेषके वशमें होकर प्रजा समूहको पीडित किया करता है ॥ ९ ॥

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥

राजाको उचित है, कि गिनतीमें अधिक न हो, उस ही भांति उत्पन्न वस्तुओंमेंसे छठवां भाग कर नीति शास्त्रके अनुसार अपराधियोंको आर्थिक दण्ड और वनियोंकी रक्षा करनेके लिये जो उनसे वेतन प्राप्त होवे, उसीसे धन सञ्चय करे ॥ १० ॥

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नित्यं यथाविधि।
अशेषान्कल्पयेद्राजा योगक्षेमानतन्द्रितः ॥ ११ ॥

प्रजासे धर्मनीतिके अनुसार कर ग्रहण करके राज्यका यथाविधि पालन करना चाहिये; और राजाको सावधान रहकर शेष बचे हुए भागोंमेंसे प्रजाके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ११ ॥

गोपायितार दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम्।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥

राजा यदि प्रजाकी यथायोग्य रक्षा करनेवाला, दाता, सदा धर्ममें रत, आलस्य रहित और काम–क्रोधसे रहित हो, तो प्रजाके सभी लोग उसमें अनुरक्त होते हैं ॥ १२ ॥

मा स्माधर्मेण लाभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य योऽपशास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम कभी भी लोकके वशमें होकर अधर्म आचरणसे धन उपार्जन न करना; क्योंकि जो शास्त्रके अनुकूल कार्योंको नहीं करते; उनके धर्म और अर्थ सब मिथ्या हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अपशास्त्रपरो राजा संचयान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥

राजा केवल अर्थ शास्त्रके वशमें होनेसे कभी धर्म और अर्थ प्राप्त नहीं कर सकते, वरन उनका वह अर्थ कुस्थानमें विनष्ट होता है। जो राजा रीतिसे चलता है वह धर्म तथा धनका संचय नहीं कर सकता; उसका वह सब बुरे कामोंमें नष्ट होता है ॥ १४ ॥

अर्थमूलोऽपहिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजाः ॥ १५ ॥

जो धन लोभी राजा मोहके वशमें होकर प्रजासे शास्त्रके विरुद्ध कर ग्रहण करके उसे पीडित करता है, वह स्वयं ही अपना नाश करता है ॥ १५ ॥

ऊधश्छिन्द्याद्धि यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ १६ ॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य गऊका स्तन काटनेसे दूध नहीं प्राप्त कर सकता, वैसे ही असत् उपाय अवलम्बन करके राज्यको पीडित करनेसे उसकी कदापि उन्नति नहीं होती ॥ १६ ॥

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते तु स नित्यं लभते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥

जैसे जो सदा दूध देनेवाली गऊकी सेवा करता है, वही दूध पाता है, वैसे ही राजा भी उचित उपाय आदिकोंसे राज्यका पालन करनेसे ही सुख लाभ कर सकता है ॥ १७ ॥

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

हे युधिष्ठिर ! नीतियुक्त उपायोंसे राज्यकी रक्षा करके उसका उपभोग करना चाहिये; अर्थात् कर रूप धन सदा राजाके कोशकी अतुल वृद्धि करता है ॥ १८ ॥

दोग्धि धान्यं हिरण्यं च प्रजा राज्ञि सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥ १९ ॥

जैसे माता स्वयं तृप्त रहनेपर बालकको स्तन दान करके दूध पिलाती है, वैसे ही पृथ्वी राजासे भली भांति रक्षित होनेपर दूध देनेवाली गायकी भांति राजाके स्वजनों तथा दूसरे लोगोंको अन्न तथा सुवर्ण आदि वस्तु प्रदान किया करती है ॥ १९ ॥

मालाकारोपमो राजन्भव माङ्गारिकोपमः ।
तथा युक्तश्चिरं राष्ट्रं भोक्तुं शक्यसि पालयन् ॥ २० ॥

महाराज ! तुम कोयला बनानेके लिये वृक्षकी जड काटनेवालेकी भांति न होकर पुष्प संचय करनेवाले मालीकी वृत्ति अवलम्बन करके राज्यकी रक्षा करना; ऐसा होनेसे बहुत दिनोंतक तुम पृथ्वीको भोगनेमें समर्थ होंगे ॥ २० ॥

परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ ॥

शत्रुओंके आक्रमणसे यद्यपि तुम्हारे धनका क्षय हो जाय, तो सामरूप उपाय अवलम्बन करके अब्राह्मणोंसे धन ग्रहण करना ॥ २१ ॥

मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥

हे भारत युधिष्ठिर ! उन्नत अवस्थाकी तो कुछ बात ही नहीं है, अवनतिकी दशा उपस्थित होनेपर भी जिसमें ब्राह्मणको धनवान देखके तुम्हारा मन विचलित नहीं होवे ॥ २२ ॥

धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन्परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥ २३ ॥

तुम सदा उन ब्राह्मणोंकी रक्षा करना और निज शक्तिके अनुसार यथायोग्य धन दान करके उन लोगोंको सन्तुष्ट करना; ऐसा होनेसे दुर्जय स्वर्ग लोकका लाभ कर सकोगे ॥ २३ ॥

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालयन् ।
स्वन्तं पुण्यं यशोवन्तं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥

हे कुरुनन्दन ! तुम इसी भांति धर्मवृत्ति अवलम्बन करके प्रजा-पालन करनेसे परिणाममें शुभजनक पुण्य और नित्य यश प्राप्त करोगे ॥ २४ ॥

धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर तथा युक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! तुम धर्म और व्यवहारके अनुसार यथा नियमसे प्रजा पालन करो, ऐसा होनेसे कभी भी तुम दुःख चिन्तायुक्त नहीं होंगे ॥ २५ ॥

एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षते प्रजाः ।
भूतानां हि यथा धर्मे रक्षणं च परा दया ॥ २६ ॥

जब कि चराचर जीवोंकी रक्षा करना ही परम धर्म और परम दया कहके वर्णित हुआ है; तब राजा प्रजा समूहकी रक्षा करे, यही उसका सबसे श्रेष्ठ धर्म है ॥ २६ ॥

तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः ।
यद्राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥

राजा जो राज्यरक्षामें नियुक्त होकर जीवोंके ऊपर दया प्रकाशित करता है, धर्म जाननेवाले पण्डित लोग उसे ही उसका परम धर्म कहा करते हैं ॥ २७ ॥

यदह्ना कुरुते पापमरक्षन्भयतः प्रजाः ।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥

राजा प्रजाकी भयसे रक्षाका उपाय न करनेके कारण एक दिनमें जो पाप सञ्चय करता है, उसका फल उसे एक हजार वर्षोंतक भोगना पडता है ॥ २८ ॥

यदह्ना कुरुते पुण्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दश वर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥ २९ ॥

परन्तु प्रजासमूहकी धर्मपूर्वक रक्षा करनेके कारण राजा एक दिनमें जिस पुण्यका भागी होता है, स्वर्गमें उसका फल भोग करता रहता है ॥ २९ ॥

स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकाञ्जयति यावतः ।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ यज्ञसे गृहस्थ, उत्तम अध्ययनसे ब्रह्मचर्य और श्रेष्ठ तपसे वानप्रस्थके धर्मका आचरण करके मनुष्य जिन लोकोंपर जय करता है, धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेसे राजा क्षण मात्रमें ही उन्हें पाता है ॥ ३० ॥

एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालयन् ।
इह पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! तुम इस ही भांति यत्नपूर्वक धर्मका पालन करो, ऐसा होनेसे तुम पुण्यका फल प्राप्त करके कभी चिन्तामें नहीं पडोगे ॥ ३१ ॥

स्वर्गलोके च महतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव ।
असंभवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ।
तस्माद्राजैव नान्योऽस्ति यो महत्फलमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! वल्कि स्वर्गलोकमें महान् सुख सम्पत्ति प्राप्त करोगे । राजा नहीं होनेपर इस प्रकार धर्मोंका लाभ मिलना असंभव है। इससे राजा ही उस सम्पूर्ण धर्मका फल भोग करता है दूसरा नहीं ॥ ३२ ॥

स राज्यमृद्धिमत्प्राप्य धर्मेण परिपालयन् ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ २५७९ ॥

तुम भी इस समृद्धियुक्त महान् राज्यको पाके धीरज धरके धर्मपूर्वक प्रजासमूहका प्रतिपालन करो और यज्ञमें सोमरस आदिसे इन्द्रकी भी तृप्ति करते हुए, सुहृद मित्रोंको अभिलषित वस्तु देकर सन्तुष्ट करो ॥ ३३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ २५७९ ॥

: ७३ :

भीष्म उवाच--

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्हयेत ।
स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन्राजपुरोहितः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– महाराज ! जो सत्कर्मोंकी रक्षा और दुष्ट कर्मोंका नाश करता है, उसे ही राज पुरोहित बनाना राजाका कर्त्तव्य है ॥ १ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुरूरवस ऐलस्य संवादं मातरिश्वनः ॥ २ ॥

इस विषयमें पुरूरवाके पुत्र ऐलके सङ्ग वायुका जो वार्त्तालाप हुआ था; पण्डित लोग इस प्रसङ्गमें उस ही प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऐल उवाच—

कुतः स्विद्ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः ।
कस्माच्च भवति श्रेयानेतद्वायो विचक्ष्व मे ॥ ३ ॥

ऐल बोले– हे वायुदेव ! किससे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है ? क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंकी भी किससे उत्पत्ति हुई है और किस कारणसे ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं ? आप यह सब मेरे निकट वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वायुरुवाच—

ब्रह्मणो मुखतः सृष्टो ब्राह्मणो राजसत्तम ।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य उच्यते ॥ ४ ॥

वायु बोले– ' हे राजश्रेष्ठ ! ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण, दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय और ऊरुओंसे वैश्य उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां पुरुषर्षभ ।
वर्णश्चतुर्थः पश्चात्तु पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ॥ ५ ॥

और हे भरतर्षभ ! इसके बाद इन तीनों वर्णोंकी सेवाके वास्ते चौथे वर्ण शूद्रको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया ॥ ५ ॥

ब्राह्मणो जातमात्रस्तु पृथिवीमन्वजायत ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथ्वीपर धर्म रूप कोषकी रक्षाके निमित्त सब भूतोंके नियन्त्रक होता है ॥ ६ ॥

ततः पृथिव्या गोप्तारं क्षत्रियं दण्डधारिणम् ।
द्वितीयं वर्णमकरोत्प्रजानामनुगुप्तये ॥ ७ ॥

उसे देखके पितामहने प्रजासमूहकी रक्षाके वास्ते द्वितीय वर्ण क्षत्रियको दण्ड धारण करनेके निमित्त उत्पन्न करके पृथ्वीके शासन कार्यमें नियुक्त किया ॥ ७ ॥

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन्वर्णान्बिभृयादिमान् ।
शूद्रो ह्येनान्परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ ८ ॥

वैश्य धन–धान्यसे तीनों वर्णोंका भरण–पोषण करे और शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करे; ऐसी ही ब्रह्माने आज्ञा की " ॥ ८ ॥

ऐल उवाच—

द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत् ।
धर्मतः सह वित्तेन सम्यग्वायो प्रचक्ष्व मे　　॥ ९ ॥

ऐल बोले– हे वायुदेव ! समस्त धन–धान्य सहित यह पृथ्वी किसकी है ? ब्राह्मणकी या क्षत्रियकी ? आप कृपाकर यह विषय मेरे निकट वर्णन करिये ॥ ९ ॥

वायुरुवाच—

विप्रस्य सर्वमेवैतद्यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्मकुशला विदुः　　॥ १० ॥

वायु बोले– ' धर्म जाननेवाले सब लोग कहा करते हैं कि इस पृथिवी पर जितना कुछ है, वह सब ज्येष्ठत्व और उत्तम स्थानसे उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणका ही है ॥ १० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः　　॥ ११ ॥

ब्राह्मण जो कुछ दान करता, पहनता और भोजन करता है, वह सब अपने धनसे ही किया करता है; इसलिये ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

पत्यभावे यथा स्त्री हि देवरं कुरुते पतिम् ।
आनन्तर्यात्तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्　　॥ १२ ॥

जैसे स्त्री पतिके न रहनेपर देवरको पति करती है, वैसे ही पृथ्वी ब्राह्मणके बाद ही क्षत्रियको अपना पति किया करती है ॥ १२ ॥

एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेदतः ।
यदि स्वर्गे परं स्थानं धर्मतः परिमार्गसि　　॥ १३ ॥

यही प्रथम श्रेणीका नियम है, परन्तु आपत्कालमें इसका विपरीत भाव भी हो सकता है । यदि तुम्हें स्वधर्म उपार्जनके फल स्वरूप स्वर्गलोकमें उत्तम स्थानकी अभिलाषा हो, ॥ १३ ॥

य कश्चिद्विजयेद्भूमिं ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।
श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्मज्ञाय तपस्विने　　॥ १४ ॥

जितनी कुछ भूमिपर विजय प्राप्त करे, वह सब वैदिक कर्ममें रत, धर्म जाननेवाले, तपस्वी, ब्राह्मणको निवेदित करे ॥ १४ ॥

स्वधर्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत् ।
यो राजानं नयेद्बुद्ध्या सर्वतः परिपूर्णया　　॥ १५ ॥

निज धर्ममें अनुरक्त, लोभ रहित ब्राह्मणको दान करे, जो अपनी परिपक्व बुद्धिसे राजाको सन्मार्गपर ले जाता है ॥ १५ ॥

×

ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवाक्।
श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् ॥ १६ ॥

जो सत्कुलमें उत्पन्न हुआ, बुद्धिमान् और विनीत मधुरवाणी बोलनेवाला ब्राह्मण निज श्रेष्ठ बुद्धिके प्रभावसे विचित्र वचनोंसे राजाको सन्मार्गमें लाता है, वही राज पुरोहित है ॥ १६ ॥

राजा चरति यं धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम्।
शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणका बताया हुआ जो धर्म है, वही राजा आचरणमें लाता है; अभिमान रहित और पुरोहितके वचन सुननेके लिये उत्सुक ॥ १७ ॥

तावता स कृतप्रज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति।
तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः ॥ १८ ॥

उतनेसे ही क्षत्रिय धर्ममें रत वह विद्वान् राजा चिरकाल तक यशस्वी होता है; और राजपुरोहित भी उसके सब आचरित धर्मका अंशभागी होता है ॥ १८ ॥

एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः।
सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद्भयान्विताः ॥ १९ ॥

इसी भांति सारी प्रजा राजाका आसरा ग्रहण करके निज धर्ममें निवास करती हुई सदाचारसे युक्त और सब ओरसे निर्भय होती है ॥ १९ ॥

राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागं स विन्दति ॥ २० ॥

राजासे भलीभांति रक्षित होके प्रजालोग राष्ट्रमें जिस धर्मका आचरण करते हैं, वह राजा उस धर्मका चतुर्थांश फलभागी होता है ॥ २० ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः।
यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके ॥ २१ ॥

देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, सर्प और राक्षस—ये सब यज्ञका ही आसरा लेकर जीवन-निर्वाह किया करते हैं; परन्तु राजा रहित राष्ट्रमें यज्ञादिक सब कर्म लुप्त होते हैं ॥ २१ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा।
राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

देवता और पितर लोग इस लोकमें यज्ञादिकोंमें होम किये हुए घृतादिकसे ही जीवन धारण करते हैं; इसलिये यज्ञादि सब धर्म कर्मका योगक्षेम राजाके अधीन है ॥ २२ ॥

छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति।
अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति ॥ २३ ॥

राजशासन रहनेसे ही प्रजा धूपके समय छाया, जल और शीतल वायुसे, और शीत ऋतुमें वस्त्र, अग्नि तथा सूर्यके उत्तापसे सुख अनुभव किया करती हैं ॥ २३ ॥

शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः।
तेषु भोगेषु सर्वेषु नभीतो लभते सुखम् ॥ २४ ॥

और उन लोगोंका मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें आनन्दका अनुभव करता है; परन्तु जब राजासे रहित होगा, तो वह भयसे युक्त होकर किसी प्रकार भी वैसा सुख अनुभव नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

अभयस्यैव यो दाता तस्यैव सुमहत्फलम्।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये जो अभय दान करता है, उसीको ही महत् फल प्राप्त होता है; अधिक क्या कहूं, उस समय प्राण पर्यन्त दान करनेमें भी संकुचित न होवे; क्योंकि तीनों लोकोंमें कोई दान भी प्राणदानके समान नहीं है ॥ २५ ॥

इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च।
राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ २६०५ ॥

राजा ही इस सब जगत्का आधार है और वही समयके अनुसार इन्द्र, यम तथा धर्म इत्यादि विविध रूप धारण किया करता है ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ २६०५ ॥

: ७४ :

भीष्म उवाच—

राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान्बहुश्रुतः।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— राजा राज्य शासनमें प्रतिष्ठित होकर धर्म तथा अर्थकी गहन गतिको विचारके शीघ्र ही विद्वान् और बहुश्रुत ब्राह्मणको पुरोहित कार्यमें नियुक्त करे ॥ १ ॥

धर्मात्मा धर्मविद्येषां राज्ञां राजन्पुरोहितः।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥ २ ॥

महाराज! जिन राजाओंका राजपुरोहित धर्मात्मा और धर्मशास्त्रोंका ज्ञाता तथा राजा भी वैसे ही गुणोंसे युक्त होता है, उन प्रजा समूहका सब भांतिसे कल्याण हुआ करता है ॥ २ ॥

उभौ प्रजा वर्धयतो देवान्पूर्वान्परान्पितॄन् ।
यौ समेयास्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ ॥ ३ ॥

राजा और राजपुरोहित दोनों ही धर्ममें रत, श्रद्धेय और तपस्वी हो तो वे दोनों आपसमें मिलकर प्रजाकी वृद्धि करते हैं, तथा देवता, पूर्वज, पर और पितरोंको तृप्त करते हैं ॥ ३ ॥

परस्परस्य सुहृदौ संमतौ समचेतसौ ।
ब्रह्मक्षत्रस्य संमानात्प्रजाः सुखमवाप्नुयुः ॥ ४ ॥

वे दोनों परस्पर सौहार्द रखनेवाले, ऐकमत्य और समान हृदयवाले होने चाहिये; ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियका सम्मान करनेसे प्रजा सुख पाती है ॥ ४ ॥

विमाननात्तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव ह ।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां धर्माणां मूलमुच्यते ॥ ५ ॥

परन्तु उन दोनोंकी अवमानना करनेसे प्रजा नष्ट होती है; क्योंकि पण्डित लोग ब्राह्मण और क्षत्रियको ही सब वर्णोंका मूल कहा करते हैं ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऐलकश्यपसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे युधिष्ठिर ! आर्य लोग इस प्रस्तावमें ऐल और कश्यपके सम्वाद रूपी जिस इतिहासका उदाहरण देते हैं, उसे सुनो ॥ ६ ॥

ऐल उवाच—

यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म ।
अन्वग्बलं कतमेऽस्मिन्भजन्ते तथाबल्यं कतमेऽस्मिन्वियन्ति ॥ ७ ॥

ऐल बोले— ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों तेजसे राज्य रक्षित हुआ करता है, परन्तु ब्राह्मण जब क्षत्रियको छोड देता है वा राजा ब्राह्मणका त्याग करता है, तो अन्य सब वर्ण इन दोनोंमेंसे किसका आसरा ग्रहण करते हैं, और किसके जरिये रक्षित होते हैं ? ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच—

व्यृद्धं राष्ट्रं भवति क्षत्रियस्य ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुध्यते ह ।
अन्वग्बलं दस्यवस्तद्भजन्तेऽबल्यं तथा तत्र वियन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

कश्यप बोले— ब्राह्मण जहां क्षत्रियसे विरोध करता है, तो वहां क्षत्रियका राज्य नष्ट होता है; डाकू लोग दल बलके साथ राज्यमें उपद्रव किया करते हैं और वहां साधुपुरुष उसका परित्याग करते हैं ॥ ८ ॥

नैषामुक्षा वर्धते नोत उस्रा न गर्गरो मथ्यते नो यजन्ते।
नैषां पुत्रा वेदमधीयते च यदा ब्रह्म क्षत्रिया: संत्यजन्ति ॥ ९ ॥

क्षत्रिय लोग भी यदि ब्राह्मणको परित्याग करें, तो उनके पशुधनकी बढती नहीं होती, पृथिवी– राज्यकी उन्नति नहीं होती, दही– दूधका मटका महा नहीं जाता, तथा धर्म कार्य– यज्ञ आचरित नहीं होते और उनके पुत्र भी यथा रीतिसे रक्षित होके वेदाध्ययन करके यज्ञादि कर्मोंका आचरण नहीं करते ॥ ९ ॥

नैषामुक्षा वर्धते जातु गेहे नाधीयते सप्रजा नो यजन्ते।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति ये ब्राह्मणा: क्षत्रियान्संत्यजन्ति ॥ १० ॥

जो ब्राह्मण क्षत्रियोंको त्याग देते हैं, उनके घरमें कभी वृद्धि नहीं होती; उनकी संतानें पढती नहीं और यज्ञ भी नहीं करती। वे भ्रष्ट होकर सङ्कर जाति तथा डाकुओंकी भांति वृत्ति अवलम्बन करते हैं ॥ १० ॥

एतौ हि नित्यसंयुक्तावितरेतरधारणे।
क्षत्रं हि ब्रह्मणो योनिर्योनि: क्षत्रस्य च द्विजा: ॥ ११ ॥

क्षत्रिय और ब्राह्मण सदा परस्पर मिलकर रहें तो ही एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं; ब्राह्मणका आधार क्षत्रिय है और क्षत्रियका सहारा ब्राह्मण है ॥ ११ ॥

उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ संप्रापतुर्महतीं श्रीप्रतिष्ठाम्।
तयो: संधिर्भिद्यते चेत्पुराणस्तत: सर्वं भवति हि संप्रमूढम् ॥ १२ ॥

वे दोनों सदा आपसमें परस्परकी रक्षा करते हुए, महत् धन तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं; परन्तु यदि किसी प्रकारसे उनकी वह प्राचीन मैत्री भङ्ग हो जाती है, तो सारा जगत् किं– कर्तव्य मूढ होता है ॥ १२ ॥

नात्र प्लवं लभते पारगामी महागाधे नौरिव संप्रणुन्ना।
चातुर्वर्ण्यं भवति च संप्रमूढं तत: प्रजा: क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥

जैसे महान् अगाध समुद्रमें विपद्ग्रस्त नौका किसी प्रकार भी किनारे नहीं लग सकती, वैसे ही वे भी किसी विषयके पारदर्शी नहीं हो सकते; चारों वर्णोंकी प्रजा मोहयुक्त होती है और सब प्रजाका नाश होता है ॥ १३ ॥

ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति।
अरक्ष्यमाण: सततमश्रु पापं च वर्षति ॥ १४ ॥

ब्राह्मणरूपी वृक्ष यथा उचित रीतिसे रक्षित होनेपर वह सुख और सुवर्णमय फलकी वर्षा करता है; परन्तु उसकी रक्षा न करनेसे सदा दुःखके आंसु और पापकी वृष्टि होती है ॥ १४ ॥

अब्रह्मचारी चरणादपेतो यदा ब्रह्मा ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत् ।
आश्चर्यशो वर्षति तत्र देवस्तत्राभीक्ष्णं दुःसहाश्चाविशन्ति ॥ १५ ॥

जब अब्रह्मचारी ब्राह्मण डाकुओंसे निवारित होकर निज अधीत शाखाका परित्याग करता है, अपने पठनीय वेदका आसरा त्याग करता है और अपनी रक्षा चाहता है, उस समय इन्द्र अल्प जलकी वर्षा करते और वहांपर सदा अनेक भांतिके उत्पात—दुर्भिक्ष उपस्थित होते हैं ॥१५॥

स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वापि पापः सभायां यत्र लभतेऽनुवादम् ।
राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि ततो भयं जायते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥

जब कोई पापी पुरुष स्त्री अथवा ब्राह्मणकी हत्या करके भी सभाके बीच प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, और राजाके निकट भी पापसे भयभीत नहीं होता, तब वैसे पुरुषसे क्षत्रिय राजाको महत् भय उपस्थित होता है ॥ १६ ॥

पापैः पापे क्रियमाणेऽतिवेलं ततो रुद्रो जायते देव एषः ।
पापैः पापाः संजनयन्ति रुद्रं ततः सर्वान्साध्वसाधून्हिनस्ति ॥ १७ ॥

जब पापी लोग पाप कर्म करने लगते हैं, तब ये रुद्रदेव प्रकट होते हैं, पापी मनुष्यही अपने पापोंसे रुद्रको प्रकट करते हैं; तब वह रुद्र हिंसक होकर साधु और दुष्ट सब लोगोंको ही विनष्ट किया करते हैं ॥ १७ ॥

ऐल उवाच—

कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः सत्त्वैः सत्त्वं दृश्यते वध्यमानम् ।
एतद्विद्वन्कश्यप मे प्रचक्ष्व यतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥

ऐल बोले— हे विद्वान् कश्यप ! जगत्में जीव लोग जो जीवोंके जरियेसे ही मारे जाते हैं, वह रुद्र कैसे हैं और कहांसे आते हैं ? तथा ये किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? आप यह सब विस्तारपूर्वक मेरे निकट वर्णन करिये ॥ १८ ॥

कश्यप उवाच—

आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां स्वं स्वं देहं परदेहं च हन्ति ।
वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहुर्दोवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य ॥ १९ ॥

कश्यप बोले— ये रुद्र मनुष्योंके हृदयमें आत्मारूपसे स्थित होकर ही समयपर काम क्रोध आदि रूपसे प्रगट होके अपने वा दूसरेके शरीरोंको नष्ट किया करते हैं । पण्डित लोग रुद्रको उत्पात वायुके समान वेगवान् कहते हैं और उनका रूप बादलोंके समान है, ऐसा मानते हैं ॥ १९ ॥

ऐल उवाच—

न वै वातं परिवृणोति कश्चिन्न जीमूतो वर्षति नैव दावः।
तथायुक्तो दृश्यते मानवेषु कामद्वेषाद्वध्यते मुच्यते च ॥ २० ॥

ऐल बोले—वायुको कोई भी बाहरी पदार्थ आवृत्त नहीं करता है, बादल अकेले जलकी वर्षा नहीं करता है, तथा दावाग्नि भी नहीं जलाता है; इनको आकाशमें संयुक्त देखा जाता है; उसी प्रकार मानवोंमें आत्मा, मन, इंद्रिय आदिमें संयुक्त देखा जाता है और वह सदा काम क्रोधके वशमें होके बद्ध होते और मरते देखा जाता है ॥ २० ॥

कश्यप उवाच—

यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः कृत्स्नं ग्रामं प्रदहेत्स त्वरावान्।
विमोहनं कुरुते देव एष ततः सर्वं स्पृश्यते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥

कश्यप बोले—जैसे अग्नि एक गृहमें प्रज्वलित होके समस्त ग्राम वा चौतरोंको शीघ्रही भस्म कर देती है, वैसे ही रुद्रदेव भी एकहीमें प्रकट होकर सबको मोहित करते हैं; इससे सब कोई पुण्य-पाप जनक सङ्कर कार्यमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ २१ ॥

ऐल उवाच—

यदि दण्डः स्पृशते पुण्यभाजं पापैः पापे क्रियमाणेऽविशेषात्।
कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद्दुष्कृतं वा कस्य हेतोर्न कुर्यात् ॥ २२ ॥

ऐल बोले—जब पापियोंके सादृश्यरूपसे पाप कर्म करने पर भी दण्डनीति पुण्य-पापरूप दोनों भांतिके धर्म करनेवालोंके ऊपर प्रयोग हुआ करती है, तब क्यों मनुष्य सत्कर्मोंका अनुष्ठान करे और असत् कर्म न करे ? ॥ २२ ॥

कश्यप उवाच—

असंत्यागात्पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृश्यते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावान्न मिश्रः स्यात्पापकृद्भिः कथंचित् ॥ २३ ॥

कश्यप बोले—पापाचारियोंके सङ्ग किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेसे मनुष्य पापरहित होता है, इससे उसे दण्डनीतिसे अधीन नहीं होना पडता; परन्तु जैसे सूखे काठके साथ गिला काठ भी भस्म हो जाता है, वैसे ही पापाचारियोंके साथ निवासके कारण मिश्रितभाव होनेसे पुण्यात्माको भी पापियोंकी भांति दण्डनीय होना पडता है; इससे पापियोंके सङ्ग सब भांतिसे संसर्ग त्यागना उचित है ॥ २३ ॥

पैल उवाच—

साध्वसाधून्धारयतीह भूमिः साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः ।
साध्वसाधून्वातयतीह वायुरापस्तथा साध्वसाधून्वहन्ति ॥ २४ ॥

ऐल बोले– किस कारण पृथ्वी साधु और दुष्ट दोनों भांतिसे लोगोंको धारण किया करती है? सूर्य क्यों दोनोंको उत्ताप प्रदान करता है? वायु किस कारणसे दोनोंके समीप समान रूपसे वहता है और किस कारण जल साधु और दुष्ट दोनोंको पवित्र करता है, जीवन धारण करता है? ॥ २४ ॥

कश्यप उवाच—

एवमस्मिन्वर्तते लोक एव नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र ।
प्रेत्यैतयोरन्तरवान्विशेषो यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम् ॥ २५ ॥

कश्यप बोले– हे राजपुत्र! इस संसारमें ही ऐसा हुआ करता है, परन्तु परलोकमें ऐसा नहीं होता; मनुष्य जो इस लोकमें कुछ पुण्य संचय करता है, या पापाचरण करता है, मृत्युके बाद परलोकमें गमन करके उनमें बहुत अन्तर पडता है ॥ २५ ॥

पुण्यस्य लोको मधुमान्घृतार्चिर्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः ।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम् ॥ २६ ॥

जो मनुष्य संसारमें सदा पुण्य कर्म करता है, वह ब्रह्मचारी पुरुष परलोकमें मधुमान्, घृतार्चि, सुवर्णकी भांति ज्योतिसे युक्त और अमृतकी नाभि स्वरूप परम रमणीय स्थानमें निवास करता हुआ दुःख और जरा मरण रहित होकर अनेक सुख प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो नित्यं दुःखः शोकभूयिष्ठ एव ।
तत्रात्मानं शोचते पापकर्मा बह्वीः समाः प्रपतन्नप्रतिष्ठः ॥ २७ ॥

परन्तु वहां पर पापीके वास्ते जो स्थान निर्दिष्ट है, वह नरक और सदा दुःखसे पूर्ण, शोक-पूरित तथा प्रकाश रहित है; निन्दनीय पापी वहां पर जाके बहुत समय पर्यन्त सन्तापित होकर अपने किये हुए कर्मके निमित्त शोक प्रकाश किया करता है ॥ २७ ॥

मिथो भेदाद्ब्राह्मणक्षत्रियाणां प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति ।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह विद्वान्पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण ॥ २८ ॥

इसी भांति ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें भेद उपस्थित होनेपर प्रजाको असह्य दुःख प्राप्त होता है; इससे राजाको यह सब जानके अनेक भांतिकी विद्या जाननेवाले ब्राह्मणको पुरोहितके कार्य पर नियुक्त करना उचित है ॥ २८ ॥

तं चैवान्वभिषिच्येत तथा धर्मो विधीयते ।
अग्र्यो हि ब्राह्मणः प्रोक्तः सर्वस्यैवेह धर्मतः ॥ २९ ॥

राजा पहिले पुरोहितका वरण–सत्कार करे, इसके बाद अपना अभिषेक करावे; ऐसा होनेसे ही उसका धर्म भली भांति रक्षित होगा; क्योंकि धर्मके अनुसार ब्राह्मण ही यहां सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ २९ ॥

पूर्वं हि ब्राह्मणाः सृष्टा इति धर्मविदो विदुः ।
ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं सर्वं यदुत्तरम् ॥ ३० ॥

ब्रह्मधर्मविद् पण्डितोंका यह कहना है कि सबसे प्रथम ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है; इस कारण जेष्ठत्व और आभिजात्यके कारण प्रत्येक उत्तम वस्तुओंपर सबसे पहले ब्राह्मण अग्रभुक् है ॥३०॥

तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ।
सर्वं श्रेष्ठं वरिष्ठं च निवेद्यं तस्य धर्मतः ॥ ३१ ॥

इसलिये ब्राह्मण सब वर्गोंके लिये माननीय और पूज्य है; ब्राह्मण ही भोजनकी तथा सबसे श्रेष्ठ और उत्तम वस्तुओंको भोगनेका अधिकारी है; धर्मके अनुसार पहले उसकी सेवामें प्रदान करे ॥ ३१ ॥

अवश्यमेतत्कर्तव्यं राज्ञा बलवतापि हि ।
ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ २६३७ ॥

हे युधिष्ठिर ! क्षत्रिय ब्रह्मतेजसे रक्षित होकर ही ब्राह्मणकी रक्षा–उन्नति कर सकता है; इससे ब्राह्मणोंकी विशेष रूपसे पूजा करना ही बलवान् राजाका अवश्य कर्त्तव्य है ॥ ३२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ २६३७ ॥

: ७५ :

भीष्म उवाच –

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते ।
योगक्षेमश्च राज्ञोऽपि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्म बोले– राजन् ! राज्यका योग क्षेम राजाके वशमें है, परन्तु राजाका योग क्षेम सब पुरोहितके अधिकारमें है, ऐसा कहते है ॥ १ ॥

यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत ।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद्राष्ट्रं सुखमेधते ॥ २ ॥

जिस राज्यमें पुरोहित ब्रह्मतेजसे प्रजाके अदृष्ट और राजा बाहुबलसे दृष्ट भयका निवारण करता है; उस ही राज्यमें सुख प्राप्त होता है ॥ २ ॥

+

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें राजा कुबेर और मुचुकुन्दका जो कुछ वार्त्तालाप हुआ था, पण्डित लोग इस प्रस्तावमें उस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
जिज्ञासमानः स्वबलमभ्ययादलकाधिपम् ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ मुचुकुन्दने समस्त पृथ्वी जीतके निज बलकी परीक्षा करनेके वास्ते अलकानाथ कुबेरपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

ततो वैश्रवणो राजा रक्षांसि समवासृजत् ।
ते बलान्यवमृद्‌नन्तः प्राचरंस्तस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥

उसे देख कर यक्षराज वैश्रवणने राक्षसोंको आज्ञा दी; वे लोग मुचुकुन्दकी सेनाओंका नाश करते विचरने लगे ॥ ५ ॥

स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः ।
गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिंदमः ॥ ६ ॥

शत्रुदमन राजा मुचुकुन्द अपनी सेनाका नाश होता देखकर अपने विद्वान् पुरोहितकी निन्दा करने लगे ॥ ६ ॥

तत उग्रं तपस्तप्त्वा वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः ।
रक्षांस्यपावधीत्तत्र पन्थानं चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥

उसे सुनकर ब्रह्मधर्म जाननेवालोंमें अग्रणी वसिष्ठने उग्र तपस्यासे राक्षसोंका नाश किया और उसके जरियेसे मुचुकुन्दके विजयका मार्ग प्राप्त किया ॥ ७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत् ।
वध्यमानेषु सैन्येषु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर राजा वैश्रवण निज सेनाका नाश देखकर मुचुकुन्दके सम्मुख उपस्थित होकर उसे दर्शन देकर इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

त्वत्तो हि बलिनः पूर्वं राजानः सपुरोहिताः ।
न चैवं समवर्तंस्ते यथा त्वमिह वर्तसे ॥ ९ ॥

पहिले समयमें अनेक राजा पुरोहितके प्रभाव और बलसे तुमसे भी अधिक बलवान हुए थे, परन्तु तुमने जैसी वृत्ति अवलम्बन की है, किसीको भी मैंने वैसी वृत्ति अवलम्बन करते नहीं देखा ॥ ९ ॥

ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः ।
आगम्य पर्युपासन्ते मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥

वे राजा लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता और बलवान होके भी मेरे निकट आके मुझे सुख—दुःखका स्वामी समझके मेरी उपासना करते थे ॥ १० ॥

यद्यस्ति बाहुवीर्यं ते तद्दर्शयितुमर्हसि ।
किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्तसे ॥ ११ ॥

यदि तुम्हारी भुजाओंमें बल हो, तो उसे दिखाओ । तुम किस कारण ब्राह्मणके बलसे गर्वित होकर नीतिमार्ग अतिक्रम करते हो ? ॥ ११ ॥

मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम् ।
न्यायपूर्वमसंरब्धमसंभ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥

अनन्तर मुचुकुन्दनने क्रुद्ध होके धनपति कुबेरको इस क्रोध रहित सावधान नीतियुक्त वचनसे उत्तर दिया ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयंभुवा ।
पृथग्बलविधानं च तल्लोकं परिरक्षति ॥ १३ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही स्वयंभू प्रजापातिके जरिये एक योनिरूपसे उत्पन्न हुए हैं; इससे उनका बलविधान परस्पर पृथक् रीतिसे रहनेपर वे लोग जगत्का प्रतिपालन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ १३ ॥

तपोमन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम् ।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंमें तपस्या और मन्त्रका बल तथा क्षत्रियोंमें अस्त्र और बाहुबल सदा प्रतिष्ठित रहता है ॥ १४ ॥

ताभ्यां संभूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम् ।
तथा च मां प्रवर्तन्तं गर्हयस्यलकाधिप ॥ १५ ॥

इन दोनोंको साथ मिलके ही प्रजाका पालन करना ही उचित है । हे यक्षनाथ ! मैं इस ही नीतिके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त हुआ हूं, तब तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो ? ॥ १५ ॥

ततोऽब्रवीद्वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम् ।
नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचिद्विदधाम्युत ॥ १६ ॥

नाच्छिन्दे चापि निर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव ।
प्रशाधि पृथिवीं वीर मद्दत्तामखिलामिमाम् ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर कुबेरने पुरोहित सहित राजा मुचुकुन्दसे कहा, हे राजन् ! तुम निश्चय जान रखो, मैं ईश्वरकी विना आज्ञाके किसीको राज्य प्रदान नहीं करता और विना ईश्वरकी अनुमतिके किसीका राज्य भी नहीं हरता; हे वीर ! तो भी मैंने तुम्हें जो राज्य प्रदान किया है, तुम मेरी दी हुई उस समस्त पृथ्वीको शासन करो ॥ १६–१७ ॥

मुचुकुन्द उवाच—

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव ।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ १८ ॥

मुचुकुन्द बोले— " राजन् ! मैं आपका दिया हुआ राज्य भोगनेकी इच्छा नहीं करता; निज बाहुबलसे जो कुछ राज्य प्राप्त किया है, उसे ही भोग करूंगा, यही मेरा एकमात्र अभिप्राय है " ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच—

ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ ।
क्षत्रधर्मे स्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसंभ्रमम् ॥ १९ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर राजा वैश्रवण मुचुकुन्दको निर्भयताके सहित क्षात्रधर्ममें स्थित देखके अत्यन्त विस्मित हुए ॥ १९ ॥

ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद्वसुंधराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ २० ॥

अनन्तर पृथ्वीनाथ मुचुकुन्द सब भांतिसे क्षात्र-धर्मके अनुगामी होकर निज बाहुबलसे प्राप्त हुई पृथ्वीका शासन करने लगे ॥ २० ॥

एवं यो ब्रह्मविद्राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते ।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते ॥ २१ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो ब्रह्मवित् राजा इसी भांति ब्राह्मणको अगाडी करके उसकी सहायतासे राज्य शासन करता है, वह विना जीती हुई पृथ्वीको जय करके महत् यश प्राप्त करता है ॥२१॥

नित्योदको ब्राह्मणः स्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः ।
तयोर्हि सर्वमायत्तं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ २६५९ ॥

ब्राह्मणको सदा स्नानादि कृत्य करके पवित्र होना और क्षत्रियको सदा शस्त्रधारी होना उचित है; क्योंकि जगत्में जो कुछ है; वह सब इन दोनोंके अधीन है ॥ २२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ २६५९ ॥

: ७६ :

युधिष्ठिर उवाच—

यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान् ।
पुण्यांश्च लोकाञ्जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! राजा जिस वृत्तिका अवलम्बन करके प्रजासमूहकी उन्नति और स्वयं सब पुण्यलोकोंपर जय करता है, आप वह सब मेरे निकट वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत ।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! राजा नित्य प्रजापालनमें प्रवृत्त होके दानी, यज्ञशील, उपवास और तपस्यामें रत होवे ॥ २ ॥

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयेत् ।
उत्थानेनाप्रमादेन पूजयेच्चैव धार्मिकान् ॥ ३ ॥

राजा धर्मपूर्वक सदा प्रजाका पालन करते हुए नित्य ही घरपर आये हुए धर्मात्माओंका खडा होकर स्वागत करे और सावधान होकर उनकी पूजा करे ॥ ३ ॥

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते ।
यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानां हि रोचते ॥ ४ ॥

राजा जिस धर्मकी आराधना–पूजा करता है, उसका सब जगह आदर होता है; क्योंकि राजा जैसा आचरण करता है, वही प्रजासमूहको प्रमाण हुआ करता है ॥ ४ ॥

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु ।
निहन्यात्सर्वतो दस्यून्न कामात्कस्यचित्क्षमेत् ॥ ५ ॥

यमराजकी भांति राजा सदा शत्रुओंके विषयमें दण्डग्रहण करके तैय्यार रहे और सब भांतिसे डाकुओंका नाश करे; कभी भी अपनी इच्छानुसार किसीकी क्षमा न करे ॥ ५ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥

हे भारत ! प्रजा राजासे रक्षित होकर जो कुछ धर्माचरण यहां करती है; राजा उसमें चतुर्थांश फलभागी होता है ६ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
राजा चतुर्थभाक्तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥

प्रजा लोग जो कुछ अध्ययन, दान, होम, और पूजा करते हैं, राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन करके उसमेंसे चौथा अंश फल भोग किया करता है ॥ ७ ॥

यद्राष्ट्रेऽकुशलं किंचिद्राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ।
अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ॥ ८ ॥

हे भरतनन्दन ! राजा यदि प्रजाकी रक्षा न करे, तो राज्यके बीच जो कुछ अधर्म उपस्थित होता है, राजा उस पापमें भी चतुर्थांश भागी होता है । राज्यमें दुष्ट और मिथ्यावादी पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं, उस अवस्थामें राजा पूरे पापका भागी होता है, ऐसा कुछ लोगोंका मत है और कुछ लोगोंका यह कहना है कि राजा अवश्य ही उसमें अर्द्धांश भागी होता है ॥८॥

कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ।
ताहशात्किल्बिषाद्राजा शृणु येन प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझते हैं। राजा वैसे पापसे जिस प्रकार मुक्त होता है, उसे सुनो ॥ ९ ॥

प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद्धनं चोरैर्हृतं यदि ।
स्वकोशात्तत्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवता ॥ १० ॥

किसीके धनको चोरोंने चुराया है, उसे राजा पता लगाकर यदि लौटा न सके, तो वैसे समर्थ राजाको उचित है, कि निज कोषसे अपने आश्रयमें रहनेवाले मनुष्यको उतना ही धन प्रदान करे ॥ १० ॥

सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणास्तथा ।
न स्थेयं विषये तेषु योऽपकुर्याद्द्विजातिषु ॥ ११ ॥

सब वर्णोंके लोगोंको ब्राह्मणोंके धनकी तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी उचित है; और जो ब्राह्मणोंका अपकार करे, उसे राजाको अपने राज्यमें रहने देना उचित नहीं है ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे हि सर्वं भवति रक्षितम् ।
तेषां प्रसादे निर्वृत्ते कृतकृत्यो भवेन्नृपः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणका धन रक्षित होनेसे सब कुछ रक्षित होता है; इससे उन ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके उनकी कृपासे ही राजा कृतकृत्य हो सकता है ॥ १२ ॥

पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥

जैसे सब प्राणी मेघोंका और पक्षी महावृक्षका आसरा ग्रहण करके जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे ही मनुष्य लोग सब अर्थ सिद्ध करनेवाले राजाका आसरा ग्रहण करके जीवन विताते हैं ॥ १३ ॥

न हि कामात्मना राज्ञा सततं शठबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्याः पालयितुं प्रजाः ॥ १४ ॥

परन्तु कामात्मा, सदा शठबुद्धि रखनेवाला, क्रूर और अत्यन्त लोभी राजा प्रजाका पालन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं राज्यसे सुखकी अभिलाषा रखकर क्षणभरके लिये भी राज्य करनेकी इच्छा नहीं करता हूं। मैंने धर्मके वास्ते राज्यकी अभिलाष की थी, परंतु राज्यके बीच वह धर्म ही नहीं है; ऐसा जान पड़ता है ॥ १५ ॥

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद्धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥

तब वैसे धर्म रहित राज्यसे मुझे क्या प्रयोजन है ? मैं धर्म साधनके वास्ते फिर वनमें गमन करूंगा ॥ १६ ॥

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १७ ॥

और हिंसारहित तथा जितेन्द्रिय होकर उन पवित्र वनोंके बीच फल मूल खाकर मुनि वृत्ति धारण कर धर्मकी आराधना करूंगा ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच—

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा ।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं महदुपासितुम् ॥ १८ ॥

भीष्म बोले— तुम्हारी बुद्धि दूसरेको दुःख देनेवाली नहीं है; दया और मृदुता गुणसे युक्त है; इसे मैं जानता हूं; परन्तु धर्मके विषयमें वैसी बुद्धिको अत्यन्त निर्गुण ही कहनी होगी; क्योंकि शान्त और दयायुक्त बुद्धिसे कभी महत्की उपासना नहीं हो सकती ॥ १८ ॥

अपि तु त्वा मृदुं दान्तमत्यार्यमतिधार्मिकम् ।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १९ ॥

यदि तुम इकबारगी कोमल, कृपालु और अत्यंत धार्मिक होकर आर्यपुरुषोंके प्रदर्शित मार्गका अतिक्रम करोगे, तो सब कोई तुम्हें असमर्थ समझेंगे और तुम किसीके प्रशंसाभाजन नहीं होगे ॥ १९ ॥

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद्राज्ञामथो वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥

तुम जिस रीतिसे निवास करनेकी इच्छा करते हो, वह क्षत्रियोंका धर्म नहीं है, इससे तुम्हारे पितर– पितामहोंने जिस राजधर्म वृत्तिका अवलम्बन किया था, तुम भी उसहीका अनुगमन करो ॥ २० ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः ।
प्रजापालनसंभूतं प्राप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥

तुम शोकजनित दयावृत्ति धारण करनेसे ही यहां प्रजापालनसे प्रकट हुए धर्मके फलको नहीं प्राप्त कर सकोगे ॥ २१ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्त्यन्वयाचत ।
न चैतां प्राज्ञतां तात यया चरसि मेधया ॥ २२ ॥

हे तात! तुम जिस बुद्धि और विचार–वृत्तिके अनुगामी हुए हो, तुम्हारे जन्मके समय कुन्ती अथवा पाण्डु किसीने भी ऐसी प्रार्थना नहीं की थी ॥ २२ ॥

शौर्यं बलं च सत्त्वं च पिता तव सदाब्रवीत् ।
माहात्म्यं बलमौदार्यं तव कुन्त्यन्वयाचत ॥ २३ ॥

तुम्हारे पिता नित्य ही तुम्हारे पराक्रम, बल और सत्यके वास्ते और कुन्ती महात्म्य, बल और उदारताके निमित्त इच्छा करके प्रार्थना करती थी ॥ २३ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यमुभे मानुषदैवते ।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥

पुत्र जो यज्ञादिकोंसे देवताओं और श्राद्धादिकोंसे पितरोंको– इन दोनों कर्मसे तृप्त करते हैं; देवता और पितर लोग भी पुत्रोंसे ऐसे ही कर्मोंकी सदा कामना किया करते हैं ॥ २४ ॥

दानमध्ययनं यज्ञः प्रजानां परिपालनम् ।
धर्ममेतमधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायिथाः ॥ २५ ॥

दान, अध्ययन, यज्ञ और प्रजापालन करनेसे चाहे धर्म हो, चाहे अधर्म ही होवे; इन कई एक कर्मोंको करनेके ही वास्ते तुम्हारा जन्म हुआ है ॥ २५ ॥

काले धुरि नियुक्तानां वहतां भार आहिते ।
सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ २६ ॥

हे कुन्तीपुत्र! जो ध्रुव कार्योंमें नियुक्त होकर यथा समयमें नियत भार उठाते हैं उनके उस समय स्वयं दुःखी होनेपर भी उनकी कीर्ति नहीं क्षय होती ॥ २६ ॥

समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हि यः ।
निर्दोषकर्मवचनात्सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥

जो मनुष्य सब ओरसे सावधानीसे अपने कार्यभारको वहन करता है, लड़खड़ाता नहीं, उसे दोष नहीं लगता; कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है; इसलिये तुम कर्म और वचनसे सबके निकट निर्दोषी होके ही निज आचरित कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त कर सकोगे ॥ २७ ॥

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन ।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचार्यथ वा पुनः ॥ २८ ॥

धार्मिक, गृहस्थ, राजा अथवा ब्रह्मचारी कोई कभी भी इकबारगी अभिनिवेशके सहित शुद्ध धर्माचरण नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

अल्पं तु साधुभूयिष्ठं यत्कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥

इससे निज आचरित अल्प कर्म भी यदि उत्तम गुणोंसे युक्त हो, तो वह कर्म महान् ही है और न करनेकी अपेक्षा कुछ करना ही उत्तम है; क्योंकि कर्तव्य कर्म न करनेसे अत्यन्त ही पापभागी होना होता है ॥ २९ ॥

यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम्।
योगक्षेमस्तदा राजन्कुशलायैव कल्पते। ॥ ३० ॥

राजन्! जब सद्गुणशाली धर्मात्मा मनुष्य राजमन्त्री आदि श्रेष्ठ पदका ऐश्वर्य लाभ करता है, तब ही राजा अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओंका प्रतिपालन रूप योगक्षेम कुशल-दायक हुआ करता है ॥ ३० ॥

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा।
सर्वतः परिगृह्णीयाद्राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा राजा राज्य पाके किसीको दान, किसीको बल और किसीको मीठे वचनसे सब भांति अपने वशमें करे ॥ ३१ ॥

यं हि वैद्याः कुले जाता अवृत्तिभयपीडिताः।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३२ ॥

जीवन निर्वाहका साधन न होनेसे जो भययुक्त रहते हैं, ऐसे सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए पण्डित लोग जिसके आश्रय लाभसे परितृप्त होकर निर्भय और प्रतिष्ठाके सहित वास करते हैं, उस राजाको इससे बढकर धर्मकी बात क्या होगी ? ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

किं न्वतः परमं स्वर्ग्यं का न्वतः प्रीतिरुत्तमा।
किं न्वतः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि मन्यसे ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले— पितामह! स्वर्ग प्राप्तिका उत्तम उपाय क्या है ? उससे उत्तम प्रीति कौनसी है और उससे श्रेष्ठ ऐश्वर्य ही कौनसा है ? यदि यह सब आपको मालूम हो, तो मेरे निकट यथावत् वर्णन कीजिये ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच—

यस्मिन्प्रतिष्ठिताः सम्यक्क्षेमं विन्दन्ति तत्क्षणम्।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

भीष्म बोले— हे नरनाथ! जो राजा भयपीडित मनुष्योंको क्षणभरके बीच उस भयसे छुडाके उन लोगोंका मङ्गल विधान करता है, वह राजा ही हम लोगोंके बीच स्वर्गजित् है, यह मैं तुम्हारे निकट सत्य ही कहता हूं ॥ ३४ ॥

+

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात्कुरूणां कुरुसत्तम ।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥ ३५ ॥

हे कुरुसत्तम ! कुरुकुलमें तुम ही प्रीतिमान हो; इससे तुम राजा होकर स्वर्गपर जय, साधुओंका पालन और दुष्टोंका शासन करो ॥ ३५ ॥

अनु त्वा तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह ।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिवाण्डजाः ॥ ३६ ॥

हे तात ! जैसे सब प्राणी जल और पक्षी सुस्वादु फलसे युक्त वृक्षके आसरेसे जीवन धारण करते हैं; वैसे ही साधुओंके सहित सुहृद लोग तुम्हें उपजीव्य करके जीवन धारण करें ॥३६॥

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् ।
वत्सलं संविभक्तारमनु जीवन्तु त्वां जनः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ २६९६ ॥

जो राजा शूर, दुष्टोंको नाश करनेवाला, अनृशंस, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल, अतिथि और अपने अधीनमें रहनेवाले परिवार समूहको भोजन कराके आप भोजन करता है, मनुष्य लोग उस ही राजाका आसरा करके जीवन यात्रा निर्वाह करते हैं ॥ ३७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ २६९६ ॥

: ७७ :

युधिष्ठिर उवाच—

स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि ।
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— पितामह ! जो स्वकर्ममें रत और जो निषिद्ध कर्मोंमें रत हैं, उन सब ब्राह्मणोंमें कौनसी विशेषता है ? वह मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

विद्यालक्षणसंपन्नाः सर्वत्राम्नायदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन्ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! जो लोग विद्या और शम, दम आदि लक्षणोंसे युक्त और सर्वत्र वेद धर्मका आचरण करनेवाले हैं, वे ब्राह्मण लोग ही ब्रह्माके तुल्य कहे जाते हैं ॥ २ ॥

ऋत्विगाचार्यसंपन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः ।
एते देवसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ३ ॥

ब्राह्मणोंके बीच जो लोग स्वकर्ममें रत होके ऋत्विग् आचरण संपन्न हैं, वे लोग देवता समान माने जाते हैं ॥ ३ ॥

ऋत्विक्पुरोहितो मन्त्री दूतोऽथार्थानुशासकः ।
एते क्षत्रसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंके बीच जो लोग ऋत्विक्, पुरोहित, मन्त्री, दूत और अर्थकारणके अनुशासकका कार्य करते हैं; वे क्षत्रिय तुल्य समझे जाते हैं ॥ ४ ॥

अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः ।
एते वैश्यसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ५ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण लोग घुडसवार, गजसवार रथी और पदातिका कार्य करते हैं, वे वैश्य तुल्य कहाते हैं ॥ ५ ॥

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः ।
एते शूद्रसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ६ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मणोंके बीच जो जन्मोचित कर्मसे हीन हो, महा नीच कर्म करनेवाले और ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, वे शूद्रके समान होते हैं ॥ ६ ॥

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः ।
तान्सर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥ ७ ॥

जो सब ब्राह्मण वेदाध्ययन रहित और निरग्निक हैं, धर्मात्मा राजा उनसे कर ग्रहण करे और विना वेतन ही उनसे राज्यकी सेवकाई करावे ॥ ७ ॥

आह्वायका देवलका नक्षत्रग्रामयाजकाः ।
एते ब्राह्मणचण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! जो धर्माधिकारमें नियुक्त रहते और वेतन लेकर देवपूजा, नक्षत्र गणना, ग्राम-याजन और महापथ अर्थात् नौका पर चढके समुद्रमें गमन करते हैं, शास्त्रमें ये पांचों ही ब्राह्मण चाण्डाल कहाते हैं ॥ ८ ॥

एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः ।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ ९ ॥

राजा कोष रहित होने पर पहिले कहे हुए ब्रह्मा तथा देवताओंके समान और वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके अतिरिक्त इन सब ब्राह्मणोंसे कर ग्रहण करे, उससे उसे अधर्म नहीं होता ॥ ९ ॥

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ १० ॥

क्योंकि इस प्रकार वैदिक शासन है, कि ब्राह्मणोंके बीच जो लोग निषिद्धकर्म करते हैं, उनके और अब्राह्मणोंके धनका राजा ही स्वामी हुआ करता है ॥ १० ॥

विकर्मस्थास्तु नोपेक्ष्या जातु राज्ञा कथंचन ।
निग्रह्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकाम्यया ॥ ११ ॥

राजा दूसरेके कर्ममें रत कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणोंके विषयमें किसी प्रकार भी उपेक्षा न करे; बल्कि धर्मानुग्रह निबन्धनसे उन लोगोंको राजनियममें नियमित और पूर्णरीतिसे पृथक् कर रखे ॥११॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥

जिस राजाके राज्यमें ब्राह्मण चोर होता है, धर्म जाननेवाले पुरुष वह अपराध राजाके ही ऊपर आरोपित किया करते हैं ॥ १२ ॥

अवृत्त्या यो भवेत्स्तेनो वेदवित्स्नातकस्तथा ।
राजन्स राज्ञा भर्तव्य इति धर्मविदो विदुः ॥ १३ ॥

हे नरनाथ ! इससे धर्मज्ञ पण्डित लोग ऐसा कहा करते हैं, कि जो जीविका रहित वेद जाननेवाले वा स्नातक ब्राह्मण राज्यके बीच चोर होंगे; राजाको ही उनका भरण पोषण करना होगा ॥ १३ ॥

स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात्तस्माद्देशात्सबान्धवः ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥ २७१० ॥

हे परंतप ! यद्यपि वह ब्राह्मण राजाके निकट वृत्ति प्राप्त होनेपर भी अपनेमें परिवर्तन न करके, चोरी कर्मसे निवृत्त न होवे, तो ऐसा होनेसे राजा उसे बन्धुबान्धवोंके सहित निज देशसे निकाल देवे ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥ २७१० ॥

: ७८ :

युधिष्ठिर उवाच—

केषां राजा प्रभवति वित्तस्य भरतर्षभ ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ पितामह ! राजा किनके धनाधिकारके प्रभु होगा और उसे कैसी वृत्ति अवलम्बन करके रहना चाहिये ? वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! ऐसी जनश्रुति है, कि ब्राह्मणोंमें जो लोग कुकर्मी हैं, उनका और अब्राह्मणोंका राजा ही धन स्वामी होता है ॥ २ ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन ।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः ॥ ३ ॥

और साधु पुरुष राजाओंके विषयमें ऐसा कहा करते हैं कि ब्राह्मण कुकर्मी होनेपर राजा कभी भी उनके विषयमें उपेक्षा न करे, यही राजाओंका प्राचीन धर्म है ॥ ३ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप ॥ ४ ॥

हे नृप ! जिस राजाके राज्यमें ब्राह्मण चोर होता है, वह राजा अपराधी माना जाता है; पण्डित लोग वह दोष–पाप राजाके ही ऊपर आरोपित करते हैं ॥ ४ ॥

अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते तेन कर्मणा ।
तस्माद्राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥

इससे सभी राजऋषि लोग ब्राह्मणोंके वैसे कर्मसे अपनेको ही दोषी–कलंकित समझके उनका पालन किया करते हैं ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं केकयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ॥ ६ ॥

केकयराजने राक्षससे वनमें हरे जाने पर जो कुछ वचन कहे थे, पण्डित लोग इस स्थलमें उसही प्राचीन इतिहासको प्रमाण रूपसे वर्णन किया करते हैं ॥ ६ ॥

केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम् ।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥

राजन् ! किसी भयंकर राक्षसने वनके बीच स्वाध्यायरत तथा व्रतमें तत्पर केकयराजको पकड लिया ॥ ७ ॥

राजोवाच—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥

केकयराज बोले– मेरे राज्यमें चोर, कायर– कंजूस, मद्य पीनेवाला निरग्निक और यज्ञहीन कोई भी नहीं है; तो भी तुमने मेरे शरीरमें कैसे प्रवेश किया ? ॥ ८ ॥

न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः ।
नानाहिताग्निर्विषये मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥

मेरे राज्यमें अविद्वान् व्रतहीन यज्ञमें सोमरस न पीनेवाला और अग्निहोत्र न करनेवाला यज्ञहीन ब्राह्मण कोई भी नहीं है, तौभी तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया ? ॥ ९ ॥

नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
अधीते नाव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ १० ॥

मेरे राज्यमें अनेक प्रकारकी दक्षिणासे युक्त यज्ञ ब्राह्मण करते हैं; कोई भी ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना वेदाध्ययन नहीं करता, फिर तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया ? ॥ १० ॥

अधीयतेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥ ११ ॥

मेरे राज्यके ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन; यजन, याजन; दान और प्रतिग्रह इन छःहों कर्मोंमें सदा रत रहते हैं ॥ ११ ॥

पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १२ ॥

और निज कर्ममें तत्पर, सत्यवादी, शान्त ब्राह्मण लोग मेरे राज्यमें सदा सम्मानित और पूजित हुआ करते हैं, तोभी तुम मेरे शरीरमें कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥ १२ ॥

न याचन्त प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते न च याजकाः ॥ १३ ॥

मेरे राज्यमें सत्यधर्म जाननेवाले क्षत्रिय लोग किसीके समीप याचना नहीं करते, सब ही दान किया करते हैं; पढते हैं, पढाते नहीं; यज्ञ करते हैं कराते नहीं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणान्परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १४ ॥

और वे सब ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले, युद्धमें पीछे न हटनेवाले तथा निज कर्ममें रत हैं; तो भी तुम मेरे भीतर कैसे प्रवेश कर सके ? ॥ १४ ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया ।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ १५ ॥

मेरे राज्यमें वैश्य लोग कपट रहित होके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वृत्ति अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करते हैं; वे सब ही सावधान, क्रियावान्, उत्तम व्रत करनेवाले और सत्यवादी हैं ॥ १५ ॥

संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १६ ॥

निज कर्ममें रत और परस्पर संविभाग युक्त दम, पवित्रता और सुहृदताका आसरा किया करते हैं। इसलिये तुम मेरे समीप किस कारण आये हो ? ॥ १६ ॥

त्रीन्वर्णाननुतिष्ठन्ति यथावदनसूयकाः ।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १७ ॥

मेरे राज्यमें शूद्रलोग असूया-रहित, निज कर्ममें स्थित और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवासे यथा उचित जीविका निर्वाह किया करते हैं; तो भी तुम मेरे पास क्यों आये हो ? ॥ १७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १८ ॥

मैं दीन, अनाथ, वृद्ध, निर्बल, रोगी और स्त्रियोंकी यथा उचितसे सेवा किया करता हूं, तो भी तुम मेरे शरीरमें कैसे प्रविष्ट हुए हो ? ॥ १८ ॥

कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १९ ॥

मैं अपने प्रख्यात कुलधर्म और देशधर्म यथारीतिसे स्थापित करता हूं, इनमेंसे किसीको नष्ट नहीं करता, तो भी तुम मेरे भीतर कैसे घुस गये ? ॥ १९ ॥

तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः ॥ २० ॥

मेरे समीप तपस्वी लोग आदरके सहित पूजित, प्रतिपालित और संविभक्त हुआ करते हैं, तो भी तुम कैसे मेरे भीतर प्रविष्ट हुए ? ॥ २० ॥

नासंविभज्य भोक्तास्मि न विशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः ॥ २१ ॥

मैं सबको विना भोजन कराये भोजन नहीं करता, पराई स्त्रीको स्पर्श नहीं करता और कभी स्वच्छन्द होकर क्रीडा नहीं करता; इससे तुम्हें मुझे ग्रहण करनेका अधिकार नहीं है; तुम मेरे समीपसे दूर हो जाओ ॥ २१ ॥

नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाब्रह्मचारिकः ।
अनृत्विजं हुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः ॥ २२ ॥

मेरे राज्यमें अब्रह्मचारी भिक्षा-वृत्ति अवलम्बन नहीं करता, भिक्षुक ब्रह्मचर्यका पालन करता है; और ऋत्विकके अतिरिक्त दूसरे पुरुषके जरिये देवताओंकी आहुति नहीं दी जाती, इससे तुम मेरे निकटसे दूर रहो ॥ २२ ॥

नावजानाम्यहं वृद्धान्न वैद्यान्न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः ॥ २३ ॥

मैं वैद्य, वृद्ध और तपस्वियोंकी अवज्ञा नहीं करता और समस्त जनपद वासियोंके सोनेपर मैं उनकी रक्षाके लिये जागता रहता हूं, तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे आये हो ?॥२३॥

वेदाध्ययनसंपन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राज्यस्य श्रीमान्मम पुरोहितः ॥ २४ ॥

मेरे पुरोहित वेदज्ञान और विज्ञानसे युक्त, तपस्वी, सब धर्म जाननेवाले, श्रीमान् और सब राज्यके स्वामी हैं । ॥ २४ ॥

दानेन दिव्यानभिवाञ्छामि लोकान्सत्येनाथो ब्राह्मणानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २५ ॥

मैं दानसे दिव्य लोक पानेकी इच्छा करता हूं, ब्राह्मणोंकी रक्षा और सत्यसे स्वर्गादि लोक प्राप्ति की इच्छा किया करता हूं और शुश्रूषासे गुरुजनोंके अनुकूल रहता हूं; इसलिये राक्षसोंसे मुझे भय नहीं है ॥ २५ ॥

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कृपणो नोत चोरः ।
न पारजायी न च पापकर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २६ ॥

मेरे राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं है; कोई भी ब्राह्मण अधम, कृपण, चोर, पारजायी और पापकर्म करनेवाला नहीं है, इससे राक्षसोंसे मैं नहीं डरता ॥ २६ ॥

न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नमङ्गे ह्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः ॥ २७ ॥

मैं धर्मार्थ ही युद्ध किया करता हूं, इसलिये मेरे शरीरमें दो अंगुल भी शस्त्रसे विद्ध नहीं है ऐसा स्थान नहीं है; तो भी तुम मेरे भीतर कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥ २७ ॥

गोब्राह्मणे च यज्ञे च नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥

और मेरे राज्यमें सब प्रजा गऊ, ब्राह्मणकी रक्षा तथा यज्ञके वास्ते मङ्गल कामना किया करती है, इससे तुम मुझे स्पर्श मत करो, मेरे निकटसे दूर हो जाओ ॥ २८ ॥

राक्षस उवाच—

यस्मात्सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात्प्राप्नुहि कैकेय गृहान्स्वस्ति व्रजाम्यहम् ॥ २९ ॥

राक्षस बोला— हे केकयराज ! आप सब समय सब अवस्थाओंमें धर्मकी ही पर्यालोचना करते हैं, इससे मैंने आपको परित्याग किया; आप कुशलपूर्वक अपने घर जाइये; अब आपका मङ्गल होवे, मैं अपने स्थानपर जाता हूं ॥ २९ ॥

येषां गोब्राह्मणा रक्ष्याः प्रजा रक्ष्याश्च केकय ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु मानुषात् ॥ ३० ॥

हे केकय ! जो गऊ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और प्रजाको आपदसे बचाते हैं, उन्हें राक्षसोंसे भय नहीं होता, फिर मनुष्योंसे कैसे हो सकता है ? ॥ ३० ॥

येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मबलं बलम् ।
प्रियातिथ्यास्तथा दारास्ते वै स्वर्गजितो नराः ॥ ३१ ॥

और ब्राह्मण लोग जिनके अग्रगामी हैं, जिनका बल ब्राह्मणोंका बल है और जिनके राज्यकी स्त्रियां अतिथि–सत्कारकी प्रेमी हैं, वे नागरिक निश्चय ही स्वर्ग लोक पर जय किया करते हैं ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच—

तस्माद्द्विजातीन्रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद्राज्ञां राष्ट्रं सम्यक्प्रवर्धते ॥ ३२ ॥

भीष्म बोले– हे राजन् ! इस ही कारण ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी राजाको अवश्य उचित है । क्योंकि वे लोग राजाओंसे रक्षित होकर उनकी रक्षा करते हैं और राज्यादिके निमित्त सब भांतिसे वृद्धिसूचक आशीर्वाद दिया करते हैं ॥ ३२ ॥

तस्माद्राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः ।
नियम्याः संविभज्याश्च प्रजानुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

इस ही वास्ते दूसरे कर्ममें रत ब्राह्मणोंको उनपर अनुग्रह करनेके लिये नियंत्रित रक्खे और यथारीतिसे प्रजाओंपर अनुग्रहके लिये उन्हें आवश्यक वस्तुएं देवे ॥ ३३ ॥

य एवं वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह ।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥ २७४४ ॥

जो राजा पुरवासी प्रजासमूहके साथ इसी भांति आचरण करता है, वह इस लोकमें सब सुख भोगके परलोकमें इन्द्रके समान स्थान प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ २७४४ ॥

×

: ७८ :

युधिष्ठिर उवाच—

व्याख्याता क्षत्रधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत ।
कथंचिद्वैश्यधर्मेण जीवेद्वा ब्राह्मणो न वा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भारत ! आपने कहा है, आपदकालमें ब्राह्मण लोग क्षत्रिय धर्म अर्थात् शस्त्रधारण आदि कार्योंसे जीविका निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु वैश्य धर्म अर्थात् व्यवसायसे जीविकाका उपाय ब्राह्मण कर सकता है वा नहीं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये ॥ २ ॥

भीष्म बोले– क्षत्रिय धर्ममें असमर्थ ब्राह्मण जीविका वृत्तिक्षय रूपी व्यसन उपस्थित होनेपर, कृषि और गोरक्षा व्यवसाय अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करे ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कानि पण्यानि विक्रीणन्स्वर्गलोकान्न हीयते ।
ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन्भरतर्षभ ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतर्षभ ! वैश्य धर्मका अवलम्बन करनेवाला ब्राह्मण किन वस्तुओंके बेचनेसे स्वर्गच्युत नहीं होता, यह बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

सुरा लवणमित्येव तिलान्केसरिणः पशून् ।
ऋषभान्मधु मांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– हे तात युधिष्ठिर ! सुरा, लवण, तिल, घोडे, गऊ, भैंस आदि पशु, बैल, मधु, मांस और पक्वान्न आदि सब वस्तु ॥ ४ ॥

सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत् ।
एतेषां विक्रयात्तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥ ५ ॥

सभी अवस्थाओंमें ब्राह्मण न बेंचे; क्योंकि इन वस्तुओंको बेचनेसे ब्राह्मण नरकगामी होता है ॥ ५ ॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथंचन ॥ ६ ॥

बकरा अग्निरूप, भेड वरुणरूप, घोडा सूर्यरूप, पृथ्वी विराट्रूप और गौ यज्ञ तथा सोमरूप है; इस कारण इनका विक्रय नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

पक्केनामस्य निमयं न प्रशंसन्ति साधवः ।
निमयेत्पक्कमामेन भोजनार्थाय भारत ॥ ७ ॥

अन्न, गऊ, यज्ञ और सोम ये सब वस्तु कदापि ब्राह्मणोंको बेचने योग्य नहीं हैं । हे भारत! साधुपुरुष ब्राह्मणके लिये बनायी रसोई देकर बदलेमें कच्चा अन्न लेनेकी प्रशंसा नहीं करते हैं; परन्तु भोजनके वास्ते आमान्नके साथ पक्कान्नका बदल कर सकते हैं ॥ ७ ॥

वयं सिद्धमशिष्यामो भवान्साधयतामिदम् ।
एवं समीक्ष्य निमयन्नाधर्मोऽस्ति कदाचन ॥ ८ ॥

यदि कोई किसीको "मैं सिद्धान्न भोजन करूंगा आप आमान्न ग्रहण कीजिये," ऐसा कहके आमान्नके साथ सिद्धान्नको बदल करे, तो इस प्रकारके अदलबदलमें किसी भांति भी अधर्म नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मः पुरातनः ।
व्यवहारप्रवृत्तानां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें व्यवहारमें प्रवृत्त पुरुषोंका जो पुरातन धर्म है, वह तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ ९ ॥

भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत्प्रयच्छतु ।
रुचिते वर्तते धर्मो न बलात्संप्रवर्तते ॥ १० ॥

यदि कोई किसी पुरुषको "मैं तुम्हें यह वस्तु देता हूं, तुम मुझे अमुक वस्तु प्रदान करो," ऐसा कहके इच्छानुसार बदल करे, ऐसा होनेसे उसमें धर्म होता है; परन्तु बलपूर्वक बदलनेसे उसमें धर्म नहीं हो सकता ॥ १० ॥

इत्येवं सम्प्रवर्तन्त व्यवहाराः पुरातनाः ।
ऋषीणामितरेषां च साधु चेदमसंशयम् ॥ ११ ॥

ऋषि और इतर सज्जन लोगोंके इसी भांति प्राचीन कालसे व्यवहार प्रचलित हुआ करते हैं; यही उत्तम है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः ।
व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे तात! जब सब प्रजासमूह निजधर्म परित्याग करके शस्त्र ग्रहण करेगी, उस समय क्षत्रियका बल क्षीण हो जायगा ॥ १२ ॥

राजा त्राता न लोके स्यात्किं तदा स्यात्परायणम् ।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण पितामह ॥ १३ ॥

हे पितामह ! उस समय बलहीन राजा किस प्रकार राष्ट्रकी रक्षा और सब लोगोंका परम आश्रय होगा ? मुझे यह सन्देह हो रहा है, आप इस विषयको मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच--

दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥ १४ ॥

भीष्म बोले- ब्राह्मण आदि सब वर्णोंको दान, तपस्या, यज्ञ, अहिंसा और इन्द्रियदमनसे अपने अपने कुशलकी अभिलाष करनी चाहिये ॥ १४ ॥

तेषां ये वेदबलिनस्त उत्थाय समन्ततः ।
राज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥

परन्तु उन लोगोंके बीच जो ब्राह्मण वेद शास्त्रके बलशाली हैं, वे लोग सब ओरसे उठकर इन्द्रके बल बढानेवाले देवताओंकी भांति राजाका बल बढाते हैं ॥ १५ ॥

राज्ञो हि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम् ।
तस्माद्ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥

और पण्डित लोग ऐसे कहा करते हैं, कि ब्राह्मण ही बलहीन राजाका परम आश्रय है; इससे बुद्धिमान् राजा ब्रह्मबलका अवलम्बन करके ही समुत्थित होता है ॥ १६ ॥

यदा तु विजयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसंदधेत् ।
तदा वर्णा यथाधर्ममाविशेयुः स्वकर्मसु ॥ १७ ॥

जयशील राजा जब राज्यके बीच सबके कल्याणका शासन स्थापित करना चाहेगा, तो वह सब वर्णोंको किसी प्रकारसे भी निज निज धर्ममें रत रखे ॥ १७ ॥

उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते ।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

हे युधिष्ठिर ! जब डाकू लोग धर्ममर्यादाका उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी हुए हों और जातिनाश वर्णसंकर करनेमें प्रवृत्त होंगे, उस समय सब वर्ण ही शस्त्र ग्रहण करके उन्हें रोके तो वे दोष युक्त नहीं होंगे ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच --

अथ चेत्सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद्ब्राह्मणान्प्रति ।
कस्तस्य ब्राह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले- पितामह ! यदि क्षत्रिय ब्राह्मणोंके विषयमें सब ओरसे दोषदर्शी होकर विरुद्ध आचरण करे, तो उस समय उस ब्राह्मण कुलकी कौन ब्राह्मण रक्षा कर सकेगा ? उनके लिये कौनसा धर्म-कर्तव्य है ? कौनसा आश्रय है ? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच--

तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च ।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥

भीष्म बोले- उस समय ब्राह्मण तपस्या, ब्रह्मचर्य, शस्त्र, बल, शठता वा सरलता आदि जिस उपायसे होसके, वही क्षत्रियको शासित करनेका प्रयत्न करे ॥ २० ॥

क्षत्रस्याभिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ २१ ॥

जब क्षत्रिय प्रजाके ऊपर विशेष करके ब्राह्मणोंके सङ्ग विरुद्धाचरण करनेमें प्रवृत्त हो, तो ब्राह्मण ही उसका नियन्ता हो सकता है; कारण कि ब्राह्मणसे क्षत्रियकी उत्पत्ति हुई है ॥२१॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है; इससे उनका सर्वत्रगामी तेज निज निज योनिमें शान्त हुआ करता है ॥ २२ ॥

यदा छिनत्त्ययोऽश्मानमग्निश्चापोऽभिपद्यते ।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा शाम्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥

जब लोहा पत्थरको भेदता है, अग्नि जलके पास जाती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करता है, तब वह लोह, अग्नि और क्षत्रिय— ये तीनों स्वयं नष्ट होजाते हैं ॥ २३ ॥

तस्माद्ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! इससे क्षत्रियोंके तेज और बल अत्यंत प्रचण्ड और अजेय होते हुए भी ब्राह्मणोंके समीप शान्त हुआ करते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मवीर्ये मृदूभूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले ।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥

ब्राह्मणका बल कोमल, क्षत्रियका वीर्य निर्बल और सब वर्ण सब प्रकार ब्राह्मणोंके विरुद्ध होनेपर ॥ २५ ॥

ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
ब्राह्मणान्परिरिक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥

जो लोग ब्राह्मणोंके धर्म और आत्मरक्षाके वास्ते उस समय अपने जीवनकी आशा त्यागके शस्त्र ग्रहण कर युद्ध करनेके वास्ते उद्यत होते हैं, ॥ २६ ॥

मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यलोका भवन्ति ते ।
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥

वे मनस्वी मननशील मनुष्य ही पुण्य-स्थान प्राप्त करते हैं; क्योंकि ब्राह्मणोंकी रक्षाके वास्ते सबको ही शस्त्र ग्रहण करनेकी विधि है, ॥ २७ ॥

अति स्विष्टस्वधीतानां लोकानति तपस्विनाम् ।
अनाशकाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम् ।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २८ ॥

हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही क्यों; यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या, अनशन और अग्निप्रवेशकारी पुरुषोंसे ब्राह्मणहितैषी शूर पुरुष उत्तम गति प्राप्त करते हैं । सब विद्वान् लोग ऐसा समझते हैं, कि ब्राह्मणोंके वास्ते आत्मत्यागी होनेपर उससे बढके कोई भी धर्म श्रेष्ठ नहीं हो सकता ॥२८॥

तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वति ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ।
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान्वीरांस्तान्मनुरब्रवीत् ॥ २९ ॥

जो लोग ब्राह्मणद्वेषी लोगोंको दमन करनेके लिये युद्धरूपी आगमें निज शरीरकी आहुति देते हैं उन्हें नमस्कार है, उनका कल्याण हो; हम लोगोंको उन्हींके समान लोक प्राप्त हो । मनुने कहा है कि वे स्वर्गीय शूरवीर ब्रह्मलोकको जय करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २९ ॥

यथाश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत ।
दुष्कृतः सुकृतश्चैव तथा शस्त्रहता रणे ॥ ३० ॥

जैसे मनुष्य लोग अश्वमेध यज्ञके अवभृत स्नानसे पवित्र होते हैं और उनके सब पाप दूर होते हैं, वैसे ही युद्धमें शस्त्रसे मरा हुआ पुरुष भी पवित्र होता और उसका पाप दूर होता है ॥ ३० ॥

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद्देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! देशकालके व्यतिक्रम होनेसे उस देशकालके अनुसार ही धर्माधर्मका भी व्यतिक्रम अर्थात् धर्म अधर्म और अधर्म धर्म हुआ करता है ॥ ३१ ॥

मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् ।
धर्म्याः पापानि कुर्वन्तो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ ३२ ॥

देखिये, (उत्तङ्क और पराशर आदि महर्षि लोगोंने) क्रूर कर्म करके भी उत्तम स्वर्ग लोक जय किया है और धर्मात्मा क्षत्रिय लोग भी पाप कर्म करके परम-गतिको प्राप्त हुए हैं ॥३२॥

ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्गस्य नियमेषु च ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण आत्मरक्षा, वर्णदोष और दुर्गका नियमन करनेके वास्ते-- इन तीन समयमें ही शस्त्र ग्रहण कर सकता है; उसमें उसे दोष नहीं होता ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच –

अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसंकरे ।
संप्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽभिभवेद्बली ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे राजसत्तम ! डाकुओंका दल अधिक बढता हो, वर्ण सङ्कर अर्थात् परस्पर स्त्रीहरण आदि कार्य बढते रहे हो और सब वर्णोंके लोगोंके सब भांतिसे मूढ होनेपर यदि दूसरा कोई बलवान् ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद्दण्डं धर्मेण धारयन् ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंके बीच धर्मकी रक्षाके लिये दण्ड धारण करके डाकुओंके हाथसे प्रजा समूहकी रक्षा करे ॥ ३५ ॥

कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात्संवार्यो वा भवेन्न वा ।
न स्म शस्त्रं गृहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः ॥ ३६ ॥

तो वह पुरुष राजशासनका कार्य कर सकता है वा नहीं ? उसे इस कार्यसे रोकना चाहिये या नहीं ? और उस सम्बन्धसे क्षत्र बन्धुके अतिरिक्त दूसरे शस्त्र ग्रहण कर सकेंगे वा नहीं ? ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच—

अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३७ ॥

भीष्म बोले– जो अपार पारावारके पार अर्थात् तीर स्वरूप और नौकाहीन समुद्रमें नौका स्वरूप होकर सहारा देता है, वह शूद्र अथवा चाहे कोई वर्णका क्यों न हो, समाजके बीच सब भांतिसे सम्मानके पात्र हुआ करता है ॥ ३७ ॥

यमाश्रित्य नरा राजन्वर्तयेयुर्यथासुखम् ।
अनाथाः पाल्यमाना वै दस्युभिः परिपीडिताः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! अनाथ तथा पालने योग्य मनुष्य डाकुओंसे पीडित होकर जिसका आसरा ग्रहण करके सुख पूर्वक निवास करते हैं, ॥ ३८ ॥

तमेव पूजयेरंस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम् ।
महद्ध्यभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सन्मानमर्हति ॥ ३९ ॥

वे सब कोई निज बान्धवोंकी भांति उस रक्षा करनेवालेकी प्रीतिके सहित पूजा किया करते हैं; क्योंकि हे कुरुनन्दन ! अभयदाता अनाथ मनुष्योंमें सदा संमाननीय हुआ करता है ॥ ३९ ॥

किमुक्ष्णावहता कृत्यं किं धेन्वा चाप्यदुग्धया ।
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षता ॥ ४० ॥

हे कौरव ! जो बैल बोझा ढोनेमें असमर्थ और जो गऊ दूधदानसे रहित, जो स्त्री पुत्र प्रसव करनेमें अशक्य, जो राजा प्रजापालन करनेमें असमर्थ होता है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यथा ह्यनेत्रः शकटः पथि क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४१ ॥

हे पार्थ ! जैसे काठका हाथी, चमडेका मृग, अनेत्र शकट और ऊपर–क्षेत्र निष्फल हैं ॥४१॥

एवं ब्रह्मानधीयानं राजा यश्च न रक्षिता ।
न वर्षति च यो मेघः सर्व एते निरर्थकाः ॥ ४२ ॥

वैसे ही जो ब्राह्मण वेद नहीं पढता, जो राजा प्रजापालन नहीं करता और जो बादल जलकी वर्षा नहीं करता, इन सबको भी निष्फल समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निबर्हयेत् ।
स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ २७८७ ॥

जो सदा साधुओंकी रक्षा करे और दुष्टोंका दमन करे, उसे ही राजा बनाना उचित है; क्योंकि वैसा पुरुष ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ होता है ॥ ४३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें उन्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥ २७८९ ॥

: ८० :

युधिष्ठिर उवाच—

किंसमुत्थाः कथंशीला ऋत्विजः स्युः पितामह ।
कथंविधाश्च राजेन्द्र तद्‌ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ पितामह ! ऋत्विजोंकी उत्पत्ति किस कारण हुई है ? उनके कर्त्तव्य कर्म क्या हैं और उन लोगोंके स्वभाव तथा गुण कैसे होने उचित हैं ? वे किस प्रकारके होते हैं ? वह विस्तारके सहित कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच –

प्रतिकर्म पुराचार ऋत्विजां स्म विधीयते ।
आदौ छन्दांसि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥

भीष्म बोले– छन्द, ऋक्, यजु, साम और श्रुत अर्थात् मीमांसा शास्त्र जाननेवाले ब्राह्मण लोग ऋत्विज होने योग्य हैं; वे राजाओंके प्रति कर्म अर्थात शान्तिक पुष्टिक आदि कर्म करें; यही उन लोगोंके कर्त्तव्य कर्म हैं ॥ २ ॥

ये त्वेकरतयो नित्यं धीरा नाप्रियवादिनः ।
परस्परस्य सुहृदः संमताः समदर्शिनः ॥ ३ ॥

जो सदा एकही यजमानके हितमें रत, धीर, प्रिय बोलनेवाले, आपसमें सुहृद् सन्माननीय और समान भावसे देखनेवाले हैं, वे ही योग्य ऋत्विज हैं ॥ ३ ॥

येष्वानृशंस्यं सत्यं चाप्यहिंसा तप आर्जवम् ।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥

इसके अतिरिक्त ऋत्विक लोग क्रूरतारहित, सत्यवादी, अहिंसासे युक्त, तपस्वी, सरल, द्रोह रहित, अभिमानहीन, लज्जायुक्त, सहनशील, संयमी और शम गुणसे युक्त, ॥ ४ ॥

ह्रीमान्सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः ।
अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ॥ ५ ॥

विनयी, सत्यव्रतमें निष्ठावान्, धर्मात्मा– इंद्रियोंका दमन करनेवाले, जीव हिंसासे रहित, कामक्रोधहीन, निर्दोष, श्रुत, वृत्त आर वंश– इन तीनोंसे युक्त, ॥ ५ ॥

अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।
एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथातथम् ॥ ६ ॥

अहिंसक तथा ज्ञानसे तृप्त;– ऐसे गुणोंसे युक्त होनेपर वे लोग ब्रह्मासन प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे और तात ! यथा योग्य माननीय तथा धन आदिकोंसे पूजनीय होंगे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच–
यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते ।
इदं देयमिदं देयं न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले– यज्ञमें दक्षिणा देनेके वास्ते वेदेमें जो यह वचन कहा गया है कि " यह देना होगा, यह देना होगा " यह कोई वस्तुपर निश्चित नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

नेदं प्रति धनं शास्त्रमापद्धर्ममशास्त्रतः ।
आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥ ८ ॥

उसके वास्ते अनेक दक्षिणा विधान करनेवाला यह शास्त्र धनविभागके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है; परन्तु आपद्धर्मके अनुसार सर्वस्व दक्षिणाको विधि वर्णित हुई है । ऐसा होनेसे शास्त्रका यह शासन अत्यन्त भयङ्कर है, उसमें समर्थ और असमर्थ बोधकी सम्भावना नहीं है, इससे ऐसा होनेसे दरिद्रोंके भी यज्ञादि न हो सकते ॥ ८ ॥

श्रद्धामारभ्य यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥ ९ ॥

श्रद्धावान् पुरुष यज्ञ करे, ऐसी ही वैदिक श्रुति है; परन्तु दरिद्र श्रद्धायुक्त यज्ञ करे और योग्य दक्षिणा न दे तो वह यज्ञ मिथ्या भावका होगा; इस स्थितिमें श्रद्धा क्या करेगी ? ॥ ९ ॥

×

भीष्म उवाच—

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ १० ॥

भीष्म बोले– वेद वाक्योंकी अवज्ञा, शठता और माया—धूर्ततासे कोई कभी परम पद नहीं प्राप्त कर सकता, इससे तुम्हारी ऐसी बुद्धि न हो ॥ १० ॥

यज्ञाङ्गं दक्षिणास्तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न मन्त्रा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथंचन ॥ ११ ॥

हे तात ! दक्षिणा यज्ञोंका अङ्ग और वेदोंकी पुष्टि करनेवाली है; इससे दक्षिणा हीन यज्ञ–मन्त्र कदापि उद्धार करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ११ ॥

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण संमितानवमा भवेत् ।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥

हे तात ! दरिद्रके पूर्ण पात्र बारह सौ दक्षिणा होनेपर भी अधिक फलदायक है; इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंको यथा रीतिसे यज्ञ करना अवश्य उचित है ॥१२॥

सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
तं च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथा वृत्तिरिष्यते ।
तेन क्रीतेन धर्मेण ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १३ ॥

वेदमें ऐसी श्रुति है, कि सोम ब्राह्मणोंके राजा हैं; ब्राह्मण लोग यज्ञके लिये उसे भी बेचनेकी इच्छा करते हैं; विना अनिवार्य कारणके ही बेचना इष्ट नहीं है । धर्मपूर्वक सोमरसके साथ खरीदे हुए यज्ञ साधनोंसे यज्ञका विस्तार होता है ॥ १३ ॥

इत्येवं धर्मः ख्यातमृषिभिर्धर्मवादिभिः ।
पुमान्यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यथा भवेत् ।
अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १४ ॥

धर्म जाननेवाले ऋषियोंका इस विषयमें धर्मपूर्वक ऐसा ही विचार है । पुरुषके न्याययुक्त और शठता हीन होनेपर उसका ही सोम और यज्ञ पूर्ण होता है; परन्तु अन्याययुक्त होनेसे वह अपना तथा दूसरेका भला नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

शरीरं यज्ञपात्राणि इत्येषा श्रूयते श्रुतिः ।
तानि सम्यक्प्रणीतानि ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ १५ ॥

मैंने ऐसी जनश्रुति सुनी है, कि महात्मा ब्राह्मण लोग केवल शरीर–निर्वाह और यज्ञपात्रोंका अवलम्बन करके जो प्रणीताग्निमें यज्ञ आदि कर्म करते हैं, वह सब शुभ होता है ॥ १५ ॥

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ।
तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १६ ॥

हे विद्वन्! इस प्रकार वेदका उत्तम वचन है, कि तपस्या यज्ञसे भी श्रेष्ठ है; इसमें उस तपस्याका वृत्तान्त मैं तुमसे कहता हूं, उसे मेरे समीप सुनो ॥ १६ ॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १७ ॥

अहिंसा, सत्यवचन, अक्रूरता, संयम और दया इन सबको ही धीर लोग तपस्या समझते हैं; परन्तु उपवास आदिसे शरीर सुखानेको वे लोग तपस्या रूपसे नहीं गिनते ॥ १७ ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चातिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद्वै नाशनमात्मनः ॥ १८ ॥

वेदवाक्यको अप्रमाण, शास्त्रोंका वचन उल्लङ्घन और सर्वत्र अव्यवस्था निर्माण करना इन दुर्गुणोंसे स्वयंका ही नाश होता है ॥ १८ ॥

निबोध दशहोतॄणां विधानं पार्थ यादृशम् ।
चित्तिः स्रुक्चित्तमाज्यं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥ १९ ॥

हे पार्थ! यज्ञमें जैसे स्रुक् और घृत आदि सब वस्तु वर्णित हैं, अन्तरमें भी वैसे ही चित्ति अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकता रूपी साधन योगको स्रुक् और चित्तको घृत रूपसे समझना होता है, इस ज्ञानको ही अत्यन्त पवित्र करके जानो ॥ १९ ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ २८०७ ॥

सब भांतिकी शठता ही मृत्युकी मूल अर्थात् अनित्य और सरलता ही ब्रह्मपद अर्थात् नित्य है; यही ज्ञानका विषय है, अधिक बोलनेसे क्या लाभ हो सकता है? ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥ २८०७ ॥

: ८१ :

युधिष्ठिर उवाच—

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह! जब कि थोडा कार्य भी अकेले सहाय रहित पुरुषसे सिद्ध होना कठिन है, तब अकेले दूसरेकी सहायताके विना राजासे राज्यभारका कार्य किसी प्रकार सिद्ध हो सकेगा? ॥ १ ॥

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽर्थसचिवो भवेत् ।
कीदृशो विश्वसेद्राजा कीदृशे नापि विश्वसेत् ॥ २ ॥

इससे राजा कैसे आचार और किस प्रकार स्वभाव युक्त पुरुषको अर्थ— मन्त्रीपद पर नियुक्त करे और कैसे लोगोंके ऊपर विश्वास तथा कैसे मनुष्योंका अविश्वास करे ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन्भवन्त्युत ।
सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! राजाओंके सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम— ये चार भांतिके मित्र या मन्त्री हुआ करते हैं; उनमेंसे जो राजाके समीप ऐसा स्वीकार करते हैं, कि इस शत्रुका हम दोनों ही मिलके नष्ट करेंगे और इस शत्रु राज्यको हम दोनों आपसमें विभाग करके ग्रहण करेंगे; वह सहार्थ हैं। जो पिता पितामहके क्रमसे विद्यमान रहते हैं, वह भजमान हैं। मातृ स्वस्त्री आदि सहज जन्मसेही साथ रहते वा घनिष्ठ सम्बन्धवाले मित्र हैं और धन आदि देकर बनाये हुए कृत्रिम मित्र हैं ॥ ३ ॥

धर्मात्मा पञ्चमं मित्रं स तु नैकस्य न द्वयोः ।
यतो धर्मस्ततो वा स्यान्मध्यस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥

इनके अतिरिक्त राजाका पांचवां मित्र धर्मात्मा पुरुष होता है; वह किसी एकका पक्षपाती नहीं होता और दोनों पक्षोंके निकट वेतन लेनेकी इच्छासे कपटता नहीं करता और धर्मका पक्षपाती होकर धर्ममार्गमें ही विद्यमान रहता है; अथवा मध्यस्थ राजा है, वही उसका आश्रय लेता है ॥ ४ ॥

यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत् ।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ ५ ॥

जो विषय ऐसे धर्मात्माको न रुचे, उसे उसके समीप कदापि प्रकाशित नहीं करे; क्योंकि विजयकी इच्छा करनेवाले राजा लोग कभी धर्म और अधर्मके सहित भ्रमण किया करते हैं ॥ ५ ॥

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥

पहिले कहे हुए चार प्रकारके मित्रोंके बीच भजमान और सहज मित्र ही श्रेष्ठ माने जाते हैं, परन्तु शेष दो सहार्थ और कृत्रिम मित्रोंसे सदा शङ्कित रहना होगा और अपने कार्यको ध्यानमें रखकर सभी मित्रोंसे सदा शङ्कित रहना उचित है ॥ ६ ॥

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजा अपने मित्रोंकी रक्षा करनेमें कभी असावधानी न करे; क्योंकि सब लोग असावधान राजाका तिरस्कार किया करते हैं ॥ ७ ॥

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥

और राजाके असावधान चित्त होनेसे दुष्ट मनुष्य साधु और साधु मनुष्य दुष्ट होता है, शत्रु मित्र और मित्र शत्रु हुआ करता है ॥ ८ ॥

अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन्को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत्कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत् ॥ ९ ॥

मनुष्य अस्थिर चित्तवाला होता है, इसलिये उसपर कोई कैसे विश्वास करेगा ? इससे जो कार्य मुख्य है, उसे प्रत्यक्ष ही सिद्ध करे ॥ ९ ॥

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥

सबके ऊपर इकबारगी विश्वास करनेसे धर्म और अर्थ दोनोंका नाश होता है; और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्युसे बढकर है ॥ १० ॥

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन्हि विपद्यते ।
यस्मिन्करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥ ११ ॥

दूसरोंपर अत्यन्त विश्वास करना ही अकाल मृत्युके समान है। अत्यन्त विश्वास करनेसे ही विपदग्रस्त होना पडता है; वह जिसपर अत्यन्त विश्वास करता है, उसकी इच्छासे ही उसका जीवन रह सकता है; नहीं तो जीते रहनेकी आशा नहीं रहती ॥ ११ ॥

तस्माद्विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्मीश्चैव सनातनी ॥ १२ ॥

हे तात ! इससे राजाको विशेष लोगोंका विश्वास करना चाहिये और व्यक्ति विशेषका अविश्वास भी करना उचित है; यही सिद्धिकी सनातन नीतिकी गति है और इसे ही सदा लक्ष्य करना उचित है ॥ १२ ॥

यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमः स्पृशेत् ।
नित्यं तस्माच्छङ्कितव्यममित्रं तं विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

जिस व्यक्तिको समझे कि 'मेरे न रहनेपर यही राजा होगा, और धनकी आय अपने हाथमें रखेगा' उससे सदा शङ्का करनी उचित है, क्योंकि पण्डित लोग वैसे पुरुषको ही शत्रु समझते हैं ॥ १३ ॥

यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति ।
न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन्सर्वसेतवः ॥ १४ ॥

जिसके खेतका वर्षा आदिका जल दूसरेके खेतमें जाता है, उसकी इच्छाके विना उसके खेतके बंध तोडना नहीं ॥ १४ ॥

तथैवात्युदकाद्भीतस्तस्य भेदनमिच्छति ।
यमेवंलक्षणं विद्यात्तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

बंध न टूटनेसे जिसके खेतमें अधिक जल भर जाता है, वह भयभीत हो उसे तोडनेकी इच्छा करता है, ऐसे लक्षणवाले मनुष्यको शत्रु समझना चाहिये; इसीप्रकार अपने राज्यकी सीमाके रक्षक यदि सीमा तोड दे, तो राज्यपर भय आ जा सकता है, इसलिये उसे भी शत्रु समझो ॥ १५ ॥

यः समृद्ध्या न तुष्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमभिचक्षते ॥ १६ ॥

जो राजाकी अर्थ समृद्धिसे कभी तृप्त नहीं होता और धनक्षय होनेसे अत्यन्त दुःखित होता है; पण्डित लोग उसे ही उत्तम मित्रके लक्षण कहा करते हैं ॥ १६ ॥

यं मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन्कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ १७ ॥

जिसे जाने कि, मेरे न रहनेपर यह भी नहीं रहेगा, उसका पिताकी भांति विश्वास करे ॥१७॥

तं शक्त्या वर्धमानश्च सर्वतः परिबृंहयेत्
नित्यं क्षताद्वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु ॥ १८ ॥

और स्वयं वृद्धियुक्त होकर उसकी भी सब भांतिसे वृद्धि करे । जो धर्मके कर्मोंके क्षय होते देखके राजाको नित्य हानिसे बचानेका प्रयत्न करता है, ॥ १८ ॥

क्षताद्भीतं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम् ।
ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः ॥ १९ ॥

धर्मके क्षयसे डरे हुए उस मनुष्यके इस स्वभावको ही उत्तम मित्रका लक्षण समझना चाहिये; और जो उसके नाशकी इच्छा करते हैं, वे उसके शत्रु माने जाते हैं ॥ १९ ॥

व्यसनान्नित्यभीतोऽसौ समृद्ध्यामेव तृप्यते ।
यत्स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥ २० ॥

जो मनुष्य मित्रपर संकट आनेके भयसे सदा डरता है और उसकी समृद्धिसे ही तृप्त होता है, ऐसे मित्रको आत्मसदृश समझे ॥ २० ॥

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः ।
कुलीनः शीलसंपन्नः स ते स्यात्प्रत्यनन्तरः ॥ २१ ॥

जो पुरुष उत्तम रूप वर्ण और मीठे स्वरसे युक्त, क्षमाशील, असूयारहित; उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ और शीलसे युक्त होवे, वह तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिये ॥ २१ ॥

मेधावी स्मृतिमान्दक्षः प्रकृत्या चानृशंसवान् ।
यो मानितोऽमानितो वा न संदूष्येत्कदाचन ॥ २२ ॥

जो मेधावी, स्मृतिमान्, दक्ष, स्वाभाविक दयालु और सम्मानित वा अपमानित होनेपर भी कभी हृदयमें द्वेष भाव उत्पन्न होने नहीं देता, ॥ २२ ॥

ऋत्विग्वा यदि वाचार्यः सखा वात्यन्तसंस्तुतः ।
गृहे वसेदमात्यस्ते यः स्यात्परमपूजितः ॥ २३ ॥

वह ऋत्विज, आचार्य वा अत्यन्त प्रिय मित्र होनेपर वह मन्त्री होकर तुम्हारे गृहमें निवास करे, और तुम्हें उसका अधिक सम्मान करना चाहिये ॥ २३ ॥

स ते विद्यात्परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः ।
विश्वासस्ते भवेत्तत्र यथा पितरि वै तथा ॥ २४ ॥

वह तुम्हारे परम गोपनीय मन्त्र और धर्म तथा अर्थ प्रकृतिका स्वरूप जाननेको योग्य है और तुम भी उसका पिताकी भांति विश्वास करना ॥ २४ ॥

नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन्परस्परम् ।
एकार्थादेव भूतानां भेदो भवति सर्वदा ॥ २५ ॥

एक कार्यके दो वा तीन अधिकारी होनेपर वे लोग आपसमें एक दूसरेके दोषोंको क्षमा नहीं करते; इससे एक कार्यमें एकसे अधिक अध्यक्ष नियत करना उचित नहीं है; क्योंकि प्राणियोंमें सदा परस्पर मतभेद हुआ करता है ॥ २५ ॥

कीर्तिप्रधानो यश्च स्याद्यश्च स्यात्समये स्थितः ।
समर्थान्यश्च न द्वेष्टि समर्थान्कुरुते च यः ॥ २६ ॥

जो पुरुष सत्कीर्त्तिको प्रधान मानता है, जो नीतिमर्यादामें स्थित रहता है, जो समर्थ मनुष्योंके साथ द्वेष नहीं करता और समर्थ कार्य करता है ॥ २६ ॥

यो न कामाद्भयाल्लोभात्क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ।
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात्प्रत्यनन्तरः ॥ २७ ॥

जो काम, लोभ, भय और क्रोधके वशमें होकर निज धर्मका परित्याग नहीं करता और जो सब कार्योंमें दक्ष तथा पर्याप्तवादी है, वही तुम्हारा मुख्य मन्त्री होवे ॥ २७ ॥

शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः ।
कुलीनः शीलसंपन्नस्तितिक्षुरनसूयकः ॥ २८ ॥

और भी जो लोग शूर, आर्य, विद्वान्, कार्याकार्य विवेकमें निपुण, कुलीन, उत्तम स्वभावसे युक्त, क्षमावान, निन्दक न हो, उन्हें मन्त्रिपद पर नियुक्त करो ॥ २८ ॥

एते ह्यमात्याः कर्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः ।
पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः ॥ २९ ॥

वे तुम्हारे सब कार्योंमें नियुक्त करनेके योग्य हैं; उनको सम्मानपूर्वक सुख–सुविधाकी वस्तुएं देना; इस प्रकार आदरपूर्वक सत्कारित होनेपर वे तुम्हारे उत्तम सहाय्यक होंगे ॥ २९ ॥

कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु ।
युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्पादयन्ति च ॥ ३० ॥

ऐसे लोग सब प्रतिरूप अर्थात् आय–व्ययके हिसाब आदि कार्यों तथा सब मुख्य राजकार्योंके अधिकारी होनेसे महान् कार्य साधनमें दक्ष रहकर राजाके कल्याणकी वृद्धि किया करते हैं ॥ ३० ॥

एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा ।
अनुतिष्ठन्ति चैवार्थानाचक्षाणाः परस्परम् ॥ ३१ ॥

ये लोग सदा स्पर्द्धावान होकर निर्जनमें ही सब कार्योंको सिद्ध करते हैं तथा आपसमें वार्त्तालाप करके सब अर्थकी सिद्धिके प्रयोजनोंमें विचार करते हैं ॥ ३१ ॥

ज्ञातिभ्यश्चैव बिभ्येथा मृत्योरिव यतः सदा ।
उपराजेव राजर्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ ३२ ॥

मृत्युकी भांति जातिके लोगोंका सदा नियत भय करना; जैसे पडोसी राजा पासके राजाकी उन्नति देख नहीं सकता, वैसेही जातिके लोग सदा राजऋद्धिको नहीं सह सकते ॥ ३२ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥

हे महाबाहो ! सरल, मृदु, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी राजाके नाशका अभिलाप कुटुम्बीके सिवा दुसरा कोई नहीं करता ॥ ३३ ॥

अज्ञातिता नातिसुखा नावज्ञेयास्त्वतः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे परिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥

जाति सम्बन्धी हीन मनुष्यको सुख नहीं होता, इसलिये कुटुम्बीजनोंकी अवमानना नहीं करनी चाहिये; और ज्ञाति हीन पुरुषको ही दूसरे लोग अनादर करते हैं ॥ ३४ ॥

निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् ।
नान्यैर्निकारं सहते ज्ञातेर्ज्ञातिः कदाचन ॥ ३५ ॥

कोई दूसरेसे अवमानित होनेपर जाति ही उसके वास्ते आश्रय हुआ करती है और दूसरे लोग सजातीय बन्धुका अपमान करें तो जाति-भाई उसको कभी भी सह नहीं सकते हैं ॥३५॥

आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि ।
तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं तेषु लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

कोई पुरुष बन्धु-बान्धवोंसे अपमानित होवे तो जातिके पुरुष अपनेको ही अवमानित समझते हैं; इस प्रकार कुटुम्बी लोगोंमें गुण और अवगुण दिखाई देते हैं ॥ ३६ ॥

नाज्ञातिरनुगृह्णाति नाज्ञातिर्दिग्धमस्यति ।
उभयं ज्ञातिलोकेषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ३७ ॥

दूसरे जातिका मनुष्य किसीके ऊपर कृपा नहीं करता, तथा दोषित भी नहीं करता; जाति लोगोंके बीच साधु और दुष्ट दोनों ही दीख पडते हैं ॥ ३७ ॥

तान्मानयेत्पूजयेच्च नित्यं वाचा च कर्मणा ।
कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किंचिदाचरेत् ॥ ३८ ॥

इसलिये वचन और कर्मसे सदा जातिके पुरुषोंका सम्मान, पूजा तथा प्रियकार्य करे; तनिक भी उनके साथ अप्रिय आचरण न करे ॥ ३८ ॥

विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्तेत सर्वदा ।
न हि दोषो गुणो वेति निस्पृक्तस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥

उनपर विश्वास न करे; परंतु उनके समीप सदा विश्वास करनेवालेकी भांति वर्ताव करे और उनके गुण-दोषका स्वरूप देखनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती ॥ ३९ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ ४० ॥

हे राजन् ! जो पुरुष प्रमाद हीन होकर इसी भांति वर्ताव करता है; उसके शत्रु भी प्रसन्न होकर, मित्रकी भांति व्यवहार करते हैं ॥ ४० ॥

य एवं वर्तते नित्यं ज्ञातिसंबन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वैश्वर्ये चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ २८४८ ॥

जो पुरुष जाति, सम्बन्धी, मित्र शत्रु और मध्यस्थोंके निकट इसी प्रकार सदा नीतिपूर्ण व्यवहार करता है, वह ऐश्वर्य संपन्न होकर, अनंतकाल तक यशस्वी होता है ॥ ४१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें इक्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥ २८४८ ॥

: ८२ :

युधिष्ठिर उवाच—

एवमग्राह्यके तस्मिञ्ज्ञातिसंबन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— पहिले कहे हुए स्वजनों और सम्बन्धियोंको इस प्रकार वशमें न कर सके, तो मित्र भी शत्रु होजावें, इससे सबका चित्त किस प्रकार वशीभूत होगा ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वासुदेवस्य संवादं सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्म बोले— इस विषयमें पण्डित लोग श्रीकृष्ण और देवऋषि नारदके सम्वाद युक्त जिस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं, उसे कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच—

नासुहृत्परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् ।
अपण्डितो वापि सुहृत्पण्डितो वापि नात्मवान् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे नारद ! अमित्र और मूर्ख मित्र, तथा चञ्चु प्रकृतिवाले पण्डित सुहृद्के निकट परम गोपनीय मन्त्रणा प्रकाशित करना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

स ते सौहृदमास्थाय किंचिद्वक्ष्यामि नारद ।
कृत्स्नां च बुद्धिं संप्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवंगम ॥ ४ ॥

हे त्रिदिवङ्गम नारद ! इससे मैं तुम्हारे सब बल, बुद्धिको देखके तुम्हें ही उत्तम मित्र समझके कोई विषय कहता हूं और प्रश्न करता हूं ॥ ४ ॥

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम् ।
अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥

प्रभुता–ऐश्वर्यके कारण जाति– बंधुओंको अपना दास बनाना नहीं चाहता; भागोंमेंसे आधा भाग ही अपने उपभोगमें लेता हूं, शेष आधा भाग कुटुम्बीजनोंके लिये देता हूं; उनके दुर्वचनोंको सहकर क्षमा करता हूं ॥ ५ ॥

अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥ ६ ॥

हे देवर्षि ! जैसे पुरुष अग्निकी इच्छासे अरणी काष्ठ मथता है; वैसे ही उन जाति– लोगोंके कहे हुए कठोर वचनसे मेरा हृदय सदा मथता तथा जलता हुआ करता है ॥ ६ ॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥

हे नारद ! बडेभाई बलराम सदा बलसे, गद सुकुमारतासे और प्रद्युम्न रूपसे मतवाले हुए हैं; इससे इन सहायकोंके होते हुए भी मैं असहाय हुआ हूं ॥ ७ ॥

अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरासदाः ।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८ ॥

दूसरे जो सब महाभाग, बलवान और दुर्धर वीर पुरुष अन्धक और वृष्णिकुलमें विद्यमान हैं, वे सब सदा उद्योगशील हैं ॥ ८ ॥

यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृच्छ्रमेव तत् ।
द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥

वे लोग ऐसा समझते हैं, कि हम लोग जिस ओर होंगे वही पक्ष बलसे युक्त और हम लोग जिसके विरुद्ध होंगे, वही पक्ष निर्बल होगा। आहुक और अक्रूर दोनोंने आपसमें वैमनस्य होनेके कारण इस तरह मुझे निवारण किया है कि मैं किसी एक पक्षको नहीं स्वीकार कर सकता हूं ॥ ९ ॥

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य वापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥

इसके अतिरिक्त आहुक और अक्रूर दोनों ही पराक्रमी तथा कठिन कर्म करनेवाले हैं, इससे वे लोग जिस ओर रहेंगे, उसकी अपेक्षा दुःख दायक कुछ भी नहीं है, और जिसकी ओर न रहेंगे, उसे भी उससे अधिक दुःखका विषय कुछ भी नहीं हो सकता ॥ १० ॥

सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने ।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ ११ ॥

हे महामुनि ! दो जुआरियोंकी एकही माताकी भांति मैं इन दोनोंमेंसे एकको जय और दूसरेके अपराजयकी इच्छा करता हूं ॥ ११ ॥

ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥

हे नारद ! मैं दोनों ओरसे सदा इसी प्रकार क्लेश पाता हूं; इससे इस विषयमें मेरा और जातिके लोगोंका जिसमें कल्याण हो; वह उपाय तुम्हें कहना उचित है ॥ १२ ॥

नारद उवाच—

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वान्यतः ॥ १३ ॥

नारद मुनि बोले— हे वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए श्रीकृष्ण ! आपदा बाह्य और आभ्यन्तर रूपसे दो प्रकारकी हैं, वह स्वकृत तथा दूसरोंके कारणोंसे उत्पन्न हुआ करती हैं ॥ १३ ॥

सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत्कृच्छ्रा स्वकर्मजा।
अक्रूरभोजप्रभवाः सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ १४ ॥

अक्रूर और आहुकसे उत्पन्न कष्टप्रद यह आपत्ति आभ्यन्तर है तथा आपकेही कर्मोंसे उत्पन्न हुई है। ये सब आपके वंशके ही हैं ॥ १४ ॥

अर्थहेतोर्हि कामाद्वा द्वारा बीभत्सयापि वा।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥

तुमने जो स्वयं ऐश्वर्य प्राप्त किया था, उसे किसी कार्यसे वा इच्छासे वा कटुवचनसे दूसरेको दिया है ॥ १५ ॥

कृतमूलमिदानीं तज्जातशब्दं सहायवत्।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥ १६ ॥

इस प्रकार वह दिया हुआ ऐश्वर्य दृढ मूल हुआ है, और वह सहाय्यभूत है। वान्त अन्नकी भांति उसे तुम फिर नहीं ग्रहण कर सकते हो; इससे निज कर्मके दोषसे ही ऐसी आपद उत्पन्न हुई है ॥ १६ ॥

बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥ १७ ॥

हे श्रीकृष्ण ! विशेष करके जातिभेदके भयसे अब तुम अक्रूर और उग्रसेनके राज्यका किसी प्रकार भी फिर ग्रहण नहीं कर सकते हो ॥ १७ ॥

तच्चेत्सिध्येत्प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
महाक्षयव्ययं वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥ १८ ॥

यद्यपि तुम यत्नपूर्वक अनेक कठिन कार्योंको करके उसे साधन करो, तो ऐसा होनेसे फिर धनका अत्यंत व्यय और मनुष्यका विनाश उपस्थित होगा ॥ १८ ॥

अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १९ ॥

इससे तितिक्षा, ऋजुता और मृदुतासे— परिमार्जन दोष दूर करके तथा यथायोग्य पूजा आदिसे— अनुमार्जन प्रीति गुणके सहारे अनायस ही— लोहेका न बना हुआ— मृदु मर्मच्छेद शस्त्रसे सबकी जिह्वाका उद्धार करो— उन्हें मूक करो ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच—

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम्।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे मुनिवर ! तितिक्षा आदि ऐसे दोषोंको दूर कर और यथा उचित पूजासे प्रीति गुण सिद्ध करके जिस भांति जातिके पुरुषोंकी जिह्वा उद्धार करनी होती है, वह मृदु अनायस— लोहेके बिना बना हुआ शस्त्र क्या है, मैं उसे कैसे जानूं ? ॥ २० ॥

नारद उवाच—

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा दम आर्जवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥ २१ ॥

नारद मुनि बोले— सामर्थ्यके अनुसार सदा अन्नदान, सहनशीलता, संयम, सरलता और यथायोग्य दूसरेकी पूजा इन सबको ही अनायस शस्त्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटूनि च लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥ २२ ॥

लघु और कटुवादी जातिके पुरुषोंके कुटिल अभिप्राय कुवाक्य और दुष्ट सङ्कल्पोंको तुम मीठे वचनसे नष्ट करो और उनके हृदय, वाणी और मनको शान्त करो ॥ २२ ॥

नासहायपुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमादत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ २३ ॥

अपने मनको जिसने वशमें नहीं किया है, और जो असहाय्यक्त है, वह बडे भारको उठानेमें समर्थ नहीं होता । इससे तुमही निज वक्षस्थल पर उस भारको उठाकर वहन करो ॥ २३ ॥

सर्व एव गुरुं भारमनड्वान्वहते समे ।
दुर्गे प्रतीकः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥

देखो, समतल स्थानमें सब बैल भारी भार उठा सकते हैं; परन्तु कठिन स्थानमें भलीभांति दृढ अङ्गसे युक्त बैल ही कठिनतासे उठाने योग्य भारको ढो सकते हैं ॥ २४ ॥

भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु ॥ २५ ॥

हे श्रीकृष्ण ! तुम यादवसंघ मुखिया हो, ज्ञाति भेद होनेसे सब संघका ही नाश होगा; इससे ये जातिके लोग तुम्हारा आसरा करके जिनमें नाश दशाको न प्राप्त हो, वही उपाय करो ॥ २५ ॥

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसंत्यागाद्गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥

बुद्धि, शान्ति और इन्द्रियनिग्रहके विना, और धन त्यागके अतिरिक्त कोई संघ-गण किसी बुद्धिमान पुरुषकी आज्ञामें नहीं रहता ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं शुभम् ।
ज्ञातिनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥

हे श्रीकृष्ण ! इसलिये जिसमें धन, यश, आयु और सदा स्वपक्षकी बढती हो तथा जातिसे पुरुषोंका नाश न होवे, यह सब जैसे सम्भव हो, वही करो ॥ २७ ॥

आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाड्गुणस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा ॥ २८ ॥

हे प्रभु ! संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय– इन छहों गुणोंके प्रयोगसे तथा शत्रुपर आक्रमणके लिये यात्रा करनेपर वर्तमान या भविष्यमें क्या होगा ? यह सब आपसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

माधवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये ॥ २९ ॥

हे महाबाहो ! माधव, कुकुर, भोज, अन्धक तथा वृष्णि वंशके सब लोग और दूसरे लोग तथा लोकेश्वर तुममें अनुरक्त हैं ॥ २९ ॥

उपासते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि माधव ।
त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम् ।
त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते ज्ञातिनः सुखम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ २८७८ ॥

हे माधव ! ऋषि मुनि भी तुम्हारी बुद्धिकी उपासना करते हैं; तुम सब प्राणियोंके गुरु हो; तुम्हीं भूत, वर्तमान और भविष्य सब विषयोंको जानते हो; तुम यदुकुलमें श्रेष्ठ हो; इससे यदुवंशी लोग तुम्हें प्राप्त करके ही सुख भोग कर रहे हैं ॥ ३० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ २८७८ ॥

: ८३ :

भीष्म उवाच

एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत ।
यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः स मानवः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! मैंने जो कुछ कहा वह, राजाओंकी प्रथम वृत्ति है, इसके अनन्तर दूसरी वृत्ति कहता हूं, सुनो । जो कोई मनुष्य धनका उपार्जन करे तो राजा उसकी सदा सर्वदा रक्षा करे ॥ १ ॥

ह्रियमाणममात्येन भृतो वा यदि वाभृतः ।
यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर ॥ २ ॥

हे युधिष्ठिर ! मन्त्रीके राजभण्डार हरने और नष्ट करनेपर जो कोई राजाके द्वारा पालित अथवा अपालित मनुष्य वह वृत्तान्त राजासे कहे ॥ २ ॥

श्रोतव्यं तस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत्।
अमात्या ह्युपहन्तारं भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत ॥ ३ ॥

राजा निर्जन स्थानमें उसका वह वचन सुने और मन्त्रीसे उसकी रक्षा करे; क्योंकि हे भारत! धन हरनेवाले मन्त्री लोग अपना भेद खोलनेवाले मनुष्यको विशेषकर मार डालते हैं ॥ ३ ॥

राजकोशस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः।
समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः ॥ ४ ॥

राजकोषकी रक्षा करनेवाले मनुष्यको खजाना लूटनेवाले लोग एकमत होकर सताते हैं; राजासे उसकी रक्षा नहीं की जाय तो वह मारा जायगा ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुनिः कालकवृक्षीयः कौसल्यं यदुवाच ह ॥ ५ ॥

कालक–वृक्षीय मुनिने कौशल्यराजसे जो वृत्तान्त कहा था, पण्डित लोग इस स्थलमें भी उस प्राचीन इतिहासको वर्णन किया करते हैं ॥ ५ ॥

कोसलानामाधिपत्यं संप्राप्ते क्षेमदर्शिनि।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि जब राजा क्षेमदर्शी कोसलके सिंहासनपर अधिष्ठित थे, तब कालक वृक्षीय मुनि वहां आये थे ॥ ६ ॥

स काकं पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः।
पूर्वं पर्यचरद्युक्तः प्रवृत्त्यर्थी पुनः पुनः ॥ ७ ॥

पिञ्जरेके भीतर एक कौएको बन्द करके क्षेमदर्शी कौशलाधिपतिके सम्पूर्ण राज्यमें उन्होंने बार बार चक्कर लगाया; वे राज्यका समाचार जानना चाहते थे ॥ ७ ॥

अधीये वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः।
अनागतमतीतं च यच्च संप्रति वर्तते ॥ ८ ॥

घूमते समय वे कहते थे– तुम सब वायसी (कौओंकी बोली) विद्या सीखो; मुझे ये कौए भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् आदि सब कहा करते हैं ॥ ८ ॥

इति राष्ट्रे परिपतन्बहुशः पुरुषैः सह।
सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्कृतं परिपृष्टवान् ॥ ९ ॥

उन्होंने ऐसा ही कहते हुए अनेक पुरुषोंके सङ्ग उस राज्यमें भ्रमण करके, राजकार्यमें नियुक्त सभी सेवकोंका दुष्कर्म पूछा ॥ ९ ॥

स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः ।
राजयुक्तापचारांश्च सर्वान्बुद्ध्वा ततस्ततः ॥ १० ॥

अनन्तर उन्होंने उस राज्यके समस्त व्यवसाय और राजकार्यमें नियुक्त सब सेवकोंसे राज-द्रव्यका अपहार होनेकी सारी घटनाओंको सब ओरसे जानकर ॥ १० ॥

तमेव काकमादाय राजानं द्रष्टुमागमत् ।
सर्वज्ञोऽस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः ॥ ११ ॥

मैं सर्वज्ञ हूं, ऐसा ही कहते कहते वे उत्तम व्रतवाले मुनि वह कौवा साथ लेकर राजासे मिलनेके लिये आये ॥ ११ ॥

स स्म कौसल्यमागम्य राजामात्यमलंकृतम् ।
प्राह काकस्य वचनादमुत्रेदं त्वया कृतम् ॥ १२ ॥

मुनिने क्षेमदर्शी कौशल्यराजके निकट आके उनके सम्मुख कौवाके वचनके अनुसार अलंकारोंसे सजे हुए राजमन्त्रीसे कहा– तुमने अमुक स्थानमें राजाका इतना धन हरण किया है ॥ १२ ॥

असौ चासौ च जानीते राजकोशस्त्वया हृतः ।
एवमाख्याति काकोऽयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम् ॥ १३ ॥

और जिस राजकोषको हर रहे हो, उसे अमुक अमुक पुरुष जानते हैं, यह कौवा ऐसा वचन कहता है; इससे तुम शीघ्र इस अपराधको स्वीकार करो ॥ १३ ॥

तथान्यानपि स प्राह राजकोशहरान्सदा ।
न चास्य वचनं किंचिदकृतं श्रूयते क्वचित् ॥ १४ ॥

अनन्तर इस प्रकार मुनिने उस स्थानमें सदा राजाके धनकोषसे चोरी करनेवाले दूसरे राज-पुरुषोंसे भी कहा, तुम लोग भी राजकोषका हरन करनेवाले हो; कौवेके वचनके अनुसार उसे मैं विशेष रूपसे जानता हूं; क्योंकि इस कौवेका मिथ्या वचन मैंने कभी भी नहीं सुना है ॥ १४ ॥

तेन विप्रकृताः सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह ।
तमतिक्रम्य सुप्तस्य निशि काकमपोथयन् ॥ १५ ॥

हे कुरुकुल धुरन्धर ! इसी भांति कौशल्यके सेवकोंका यथायोग्य तिरस्कार करके सन्ध्याके समय वे निद्रित हुए; तब सब राजपुरुषोंने मिलके उन सोये हुए मुनिकी अवगणना करके बाणसे उनके कौवेको विद्ध किया ॥ १५ ॥

वायसं तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे ।
पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अनन्तर बहुत भोरके समय उठकर ब्राह्मणने पिञ्जरेमें कौएको बाणसे विद्ध देखके क्षेमदर्शी कौशल्यसे कहा ॥ १६ ॥

राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम् ।
अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं त्वत्पुरो हितम्   ॥ १७ ॥

हे राजन् ! आप प्रजाके प्राण और धनके स्वामी—ईश्वर हैं; इससे आपके समीप मैं अभयकी प्रार्थना करता हूं । महाराज! आपकी आज्ञासे ही मैंने सब भांतिकी शक्ति और यत्नके सहित तुम्हारे समीप आके आपके हितकर वचन कहा था ॥ १७ ॥

मित्रार्थमभिसंतप्तो भक्त्या सर्वात्मना गतः ।
अयं तवार्थं हरते यो ब्रूयादक्षमान्वितः   ॥ १८ ॥

आप हमारे मित्र हैं, आपके हितके लिये हृदयसे भक्तिभाव रखकर आया हूं, उससे अपने मित्रके नष्ट होनेसे मैं अत्यन्त दुःखित हुआ हूं; अपने सुहृद राजाके हितके लिये इसने क्षमा-रहित होके यह कहा था, तो भी उसका हरण हुआ ॥ १८ ॥

संबुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः ।
अतिमन्युप्रसक्तो हि प्रसज्य हितकारणम्   ॥ १९ ॥

उत्तम घोडेको सचेत करनेवाले सारथीकी भांति यदि कोई मित्रको प्रबोधित करनेकी अभि-लापासे आया हो, और मित्रके हितके वास्ते अत्यन्त क्रुद्ध होके हितसाधनमें प्रवृत्त हो ॥१९॥

तथाविधस्य सुहृदः क्षन्तव्यं संविजानता ।
ऐश्वर्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभूषता   ॥ २० ॥

तो ऐसा होनेपर नित्य ऐश्वर्य तथा उन्नतिकी इच्छा करनेवाले स्वजन पुरुषको वैसे मित्र और उसके वचनको क्षमा करना उचित है । परन्तु असावधान होके दूसरेसे वैसे मित्रको नष्ट कराना उचित नहीं है ॥ २० ॥

तं राजा प्रत्युवाचेदं यन्मा किंचिद्भवान्वदेत् ।
कस्मादहं न क्षमेयमाकाङ्क्षन्नात्मनो हितम्   ॥ २१ ॥

क्षेमदर्शी कालक-वृक्षीयका ऐसा वचन सुनके बोले, मैं अपने हितकी इच्छा किया करता हूं। इससे मेरे हितके वास्ते आप मुझे जो कुछ कहेंगे उसे मैं क्यों न क्षमा करूंगा ? ॥ २१ ॥

ब्राह्मण प्रतिजानीहि प्रब्रूहि यदि चेच्छसि ।
करिष्यामि हि ते वाक्यं यद्यन्मां विप्र वक्ष्यसि   ॥ २२ ॥

हे ब्राह्मण ! आप इस विषयमें जो कुछ करनेकी इच्छा करते हैं, उसे कहिये । हे विप्र ! मैं आपके समीप यह प्रतिज्ञा करता हूं कि आप मुझे जो कहेंगे मैं आपकी वह इच्छा सफल करूंगा ॥ २२ ॥

×

मुनिरुवाच—

ज्ञात्वा नयानपायांश्च भृत्यतस्ते भयानि च ।
भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोऽन्तिकमागमम् ॥ २३ ॥

मुनि बोले— महाराज ! मैंने आपके सेवकोंका दोषादोष, आचार–दुराचार और उनसे अपनेको भय प्राप्त होना मालूम करके उनका व्यवहार आपसे कहनेके वास्ते भक्तिपूर्वक आपके समीप आगमन किया था; ॥ २३ ॥

प्रागेवोक्तश्च दोषोऽयमाचार्यैर्नृपसेविनाम् ।
अगतीकगतिर्ह्येषा या राज्ञा सह जीविका ॥ २४ ॥

इस ही कारण पहिले समयमें नीतिशास्त्रके आचार्योंने राजसेवक पुरुषोंका इस प्रकार दोषका वर्णन कहा है, कि जो लोग राजसेवा करते हैं, उन लोगोंकी ऐसी पापजनक अगतीक गति अर्थात् अनुपायु मनुष्यकी भांति गति हुआ करती है ॥ २४ ॥

आशीविषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः ।
बहुमित्राश्च राजानो बहुमित्रास्तथैव च ॥ २५ ॥

पण्डित लोग कहा करते हैं, कि राजाओंके साथ जो आसक्त होता है, उसको विषधारी सर्पके साथ आसक्त होना समझा जाता है, क्योंकि राजाके समीप बहुतसे मित्र और अनेक शत्रु भी विद्यमान रहते हैं ॥ २५ ॥

तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपसेविनाम् ।
अथैषामेकतो राजन्मुहूर्तादेव भीर्भवेत् ॥ २६ ॥

हे राजन् ! राजसेवा करनेवालोंको उन सभीसे भय रहता है, यह कहा गया है, राजासे भी उन्हें सदा भय रहता है ॥ २६ ॥

नैकान्तेनाप्रमादो हि कर्तुं शक्यो महीपतौ ।
न तु प्रमादः कर्तव्यः कथंचिद्भूतिमिच्छता ॥ २७ ॥

हे राजन् ! राजाके समीप रहनेवालोंसे एकबारगी प्रमाद नहीं होता ऐसा नहीं है, इससे राजाके निकट ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको कभी प्रमाद करना उचित नहीं है ॥२७॥

प्रमादाद्धि स्खलेद्राजा स्खलिते नास्ति जीवितम् ।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद्राजानमुपशिक्षितः ॥ २८ ॥

क्योंकि सेवकके प्रमादसे राजा क्लेशित होता है, और कुपित हो मर्यादा भ्रष्ट हो जाता है; तब उसके जीवनमें संशय उत्पन्न होता है । जलती हुई अग्निके पास सचेत होकर जानेवाले पुरुषकी भांति राजाके समीप शिक्षित पुरुषको सावधानीसे रहना चाहिये ॥ २८ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम् ।
यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥ २९ ॥

इससे पुरुष सदा जीनेकी आशा त्यागके बडे प्रयत्नसे राजाकी सेवा करे; क्रुद्ध सर्पकी भांति भयंकर प्राण और धनके स्वामी राजाके निकट गमन करे; ॥ २९ ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमानो दुष्कृताद्दुरधिष्ठितात् ।
दुरासिताद्दुर्व्रजितादिङ्गितादङ्गचेष्टितात् ॥ ३० ॥

और राजाके समीप कुवचन कहना, दुःखित भावसे स्थित होना, कुस्थानमें निवास, निन्दित रीतिसे बैठना, दुष्टताके सहित गमन करना, इङ्गित और अङ्गचेष्टित इन सब कार्योंमें सदा शङ्का करे और सतर्क रहे ॥ ३० ॥

देवतेव हि सर्वार्थान्कुर्याद्राजा प्रसादितः ।
वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ।
इति राजन्मयः प्राह वर्तते च तथैव तत् ॥ ३१ ॥

मयने ऐसा कहा है कि, राजा प्रसन्न होनेसे देवताकी भांति सब अर्थ सिद्ध करता और क्रुद्ध होनेसे अग्निकी भांति जड सहित भस्म करता है; यह मयकी बात ज्योंकी त्यों सत्य है ॥ ३१ ॥

अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ।
ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि ॥ ३२ ॥

तो भी मैं उत्तरोत्तर आपके समृद्धिकी वढती करूंगा । मेरे समान अमात्यही आपद् कालमें बुद्धिकी सहायता प्रदान किया करता है ॥ ३२ ॥

वायसश्चैव मे राजन्नन्तकायाभिसंहितः ।
न च मेऽत्र भवान्गर्ह्यो न च येषां भवान्प्रियः ।
हिताहितांस्तु बुध्येथा मा परोक्षमतिर्भव ॥ ३३ ॥

राजन् ! मेरा यह कौवा आपका कार्यकारी था, परंतु वह मारा गया; मैं भी वैसा ही कार्य कर सकता हूं, परन्तु तुम्हारे सेवक लोग कौवेकी भांति मुझे भी नष्ट करेंगे, ऐसा ही मुझे सन्देह होरहा है । मैं इस विषयमें आपकी और आपके प्रिय सेवकोंकी निन्दा नहीं करता, इसके अनन्तर आप अपने हिताहितका विचार करके अपने सम्मुख ही सब कार्योंको सिद्ध कीजियेगा, दूसरोंपर विश्वास न कीजिये ॥ ३३ ॥

ये त्वादानपरा एव वसन्ति भवतो गृहे ।
अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३४ ॥

आपके गृहमें कोप हरण करनेवाले जो सब सेवक निवास कर रहे हैं, वे प्रजाके मङ्गलकी इच्छा करनेवाले नहीं है; उन्हीं सब सेवकोंने मुझसे शत्रुताचरण किया है ॥ ३४ ॥

ये वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
अन्तरैरभिसंधाय राजन्सिध्यन्ति नान्यथा ॥ ३५ ॥

राजन् ! जो आपका नाश करके आपके बाद राज्यको प्राप्त करना चाहता है, उसका आपके प्राण नाशका वह कर्म अन्तःपुरके सेवकोंसे मिलकर सफल होगा, अन्यथा नहीं; आप सावधान रहिये ॥ ३५ ॥

तेषामहं भयाद्राजन्गमिष्याम्यन्यमाश्रमम् ।
तैर्हि मे संधितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३६ ॥

महाराज ! मैं उन लोगोंके डरसे दूसरे आश्रममें गमन करूंगा। प्रभो ! उन लोगोंने मेरे वास्ते जो बाण चलाया था, परंतु उससे मेरा कौवा मरा है ॥ ३६ ॥

छद्मना मम काकश्च गमितो यमसादनम् ।
दृष्टं ह्येतन्मया राजंस्तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥ ३७ ॥

उन छद्मकामी लोगोंने ही मेरे कौवेको यमपुरीमें भेजा है, राजन् ! उसे मैं तपके द्वारा प्राप्त दूरदर्शिनी दृष्टिसे स्पष्टरूपसे देख रहा हूं ॥ ३७ ॥

बहुनक्रझषग्राहां तिमिंगिलगणायुताम् ।
काकेन बडिशेनेमामतार्षं त्वामहं नदीम् ॥ ३८ ॥

अनेक मगर, मच्छ और घडियालोंसे घिरे हुए, तिमिङ्गिल समूहसे परिपूर्ण इस राजनीति रूपी महानदीसे, मैं तकिया रूपी कौवेके जरिये पार हुआ हूं ॥ ३८ ॥

स्थाण्वश्मकण्टकवतीं व्याघ्रसिंहगजाकुलाम् ।
दुरासदां दुष्प्रवेशां गुहां हैमवतीमिव ॥ ३९ ॥

स्थाणु, अश्म और कांटेसे युक्त बाघ, सिंह और हाथियोंसे परिपूरित, भयङ्कर और दुःखसे प्रवेश करने योग्य गुफाकी भांति दुष्ट अधिकारियोंके कारण इस राज्यमें मनुष्यको रहना कठिन है ॥ ३९ ॥

अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यं च गम्यते ।
राजदुर्गावतरणे नोपायं पण्डिता विदुः ॥ ४० ॥

दीपकसे अन्धकार युक्त किला और नौकाओंसे जलदुर्गको पार किया जा सकता है, परन्तु पण्डित लोग भी राज दुर्गके पार होनेका कोई उपाय निश्चय नहीं कर सकते ॥ ४० ॥

गहनं भवतो राज्यमन्धकारतमोवृतम् ।
नेह विश्वसितुं शक्यं भवतापि कुतो मया ॥ ४१ ॥

आपका राज्य अन्धकारसे आच्छन्न और तम युक्त अर्थात् धर्माधर्म रहित और अत्यन्त अगम है; अतएव आप स्वयं जब इसमें विश्वास करसेमें समर्थ नहीं होते, तब मैं किस प्रकार विश्वास करूंगा ? ॥ ४१ ॥

अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह ।
वधो ह्येवात्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४२ ॥

इस राज्यमें जब पाप और पुण्य दोनों ही समान हैं, तब इस स्थानमें वास करना कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि इस राज्यमें सुकृत और दुष्कृत करनेवाले दोनोंका ही निश्चय विनाश हो सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४२ ॥

न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते स्यात्कथं वधः ।
नेह युक्तं चिरं स्थातुं जवेनातो व्रजेद्बुधः ॥ ४३ ॥

दुष्कृत करनेवालेको मारना ही न्याय है; सुकृत करनेवालेका कैसे वध हो सकता है? इससे इस स्थानमें स्थिरभावसे निवास करना युक्त नहीं है; इससे जो पण्डित है, वह इस स्थानसे शीघ्र ही भाग जावे ॥ ४३ ॥

सीता नाम नदी राजन्प्लवो यस्यां निमज्जति ।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४४ ॥

हे राजन्! जिसमें नौका भी डूब जाती है, उस सीता नाम्नी नदीकी भांति आपकी यह राजनीति सर्वघातिनी जाल रूपसे मुझे मालूम हो रही है ॥ ४४ ॥

मधुप्रपातो हि भवान्भोजनं विषसंयुतम् ।
असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ।
आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमिव पार्थिव ॥ ४५ ॥

आप शहदसे युक्त पेडकी उंची डालीके तथा विप मिलाये भोजनके समान हैं; आपके अभिप्राय मिथ्याकी भांति है, सदभिप्राय आपमें कुछ भी नहीं हैं; पार्थिव! इससे आप मुझे विषैले सर्पोंसे युक्त कूएंकी भांति मालूम हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

दुर्गतीर्था बृहत्कूला करीरीवेत्रसंयुता ।
नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान् ।
श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि ॥ ४६ ॥

हे राजन्! आप दुर्गम तीर्थ युक्त बडे किनारे तथा बेत संयुक्त मीठे जलसे परिपूरित नदी और कुत्ते, गिद्ध तथा शियारोंसे घिरे हुए राजहंसकी भांति मालूम हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

यथाश्रित्य महावृक्षं कक्षः संवर्धते महान् ।
ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्धते ॥ ४७ ॥

कक्ष अर्थात् तृण लता आदिओंका समूह महावृक्षके आसरेसे बढके उसे आवरण करते हुए क्रमसे उस वृक्षको अतिक्रम करके बढता है ॥ ४७ ॥

तेनैवोपेन्धनो नूनं दावो दहति दारुणः ।
तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान्परिशोधय ॥ ४८ ॥

फिर प्रचण्ड दावाग्निके लगनेसे महाकक्षके सहित जैसे वह वृक्ष भस्म हो जाता है, राजन् ! वैसे ही कक्ष तुल्य सेवकों सहित आप भी नष्ट होंगे; इससे आप उन सेवकोंका शोध करिये ॥ ४८ ॥

भवतैव कृता राजन्भवता परिपालिताः ।
भवन्तं पर्यवज्ञाय जिघांसन्ति भवत्प्रियम् ॥ ४९ ॥

आप ही उन लोगोंको मन्त्री पदवी पर नियुक्त करके प्रतिपालन कर रहे हैं; परन्तु वे लोग आपको अभिसन्धान करके– आपकी आज्ञाका उल्लंघन करके तुम्हारे सब इष्ट विषयको नष्ट करनेकी अभिलाषा करते हैं ॥ ४९ ॥

उषितं शङ्कमानेन प्रमादं परिरक्षता ।
अन्तःसर्प इवागारे वीरपत्न्या इवालये ।
शीलं जिज्ञासमानेन राज्ञश्च सहजीविना ॥ ५० ॥

इसही कारण मैं राजाके साथ रहनेवाले समस्त सेवकोंका स्वभाव जाननेकी इच्छा करके प्रमादकी सब भांतिसे रक्षा करते हुए सर्पसे युक्त गृह और वीर पत्नीके स्थानमें जैसे कोई घुस गया हो उसी भांति इस राज गृहमें शङ्कित चित्तसे निवास करता हूं ॥ ५० ॥

कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा कच्चिदभ्यन्तरा जिताः ।
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद्राज्ञः प्रियाः प्रजाः ॥ ५१ ॥

क्या इस देशके राजा जितेन्द्रिय हैं ? क्या इनके अंदर रहनेवाले इनके वशमें हैं ? और क्या सब प्रजाओंका इसपर प्रेम है ? तथा राजा भी अपनी प्रजाओंपर प्रेम रखते हैं ? ॥ ५१ ॥

जिज्ञासुरिह संप्राप्तस्तवाहं राजसत्तम ।
तस्य मे रोचसे राजन्क्षुधितस्येव भोजनम् ॥ ५२ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! यह सब जाननेके ही वास्ते मैंने आपके समीप आगमन किया है । हे राजन् ! भूखे पुरुषके भोजनीय वस्तुकी भांति आप मेरे अभिलषित हुए हैं ॥ ५२ ॥

अमात्या मे न रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् ।
भवतोऽर्थकृदित्येव मयि दोषो हि तैः कृतः ।
विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्र संशयः ॥ ५३ ॥

परन्तु आपके सेवक लोग प्यास रहित पुरुषके वास्ते जलकी भांति मेरे अनभिलषित हुए हैं । आप यह निश्चय जान रखो, कि इस ही कारण वे लोग " मैं आपका अर्थकारी हूं, " ऐसा दोष मेरे ऊपर आरोपित कर रहे हैं; दूसरा कोई कारण ही मुझमें विद्यमान नहीं है । मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ५३ ॥

न हि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषवद्गतम् ।
अरेर्हि दुर्हृताद्भयं भग्नपृष्ठादिवोरगात् ॥ ५४ ॥

मैंने उन लोगोंका कुछ भी अनिष्ट आचरण नहीं किया है; तौभी जब वे लोग मेरे दोपदर्शी हुए हैं, तब अब मुझे इस स्थानमें निवास करना उचित नहीं है; क्योंकि पूंछ दाबनेसे क्रुद्ध हुए सर्पकी भांति दुष्ट चित्तवाले शत्रुओंसे सदा डरते रहना उचित है ॥ ५४ ॥

राजोवाच—

भूयसा परिबर्हेण सत्कारेण च भूयसा ।
पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५५ ॥

राजा बोले– हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! मैं बहुतसा परिचार स्वीकार करके अधिक आदरके सहित आपकी पूजा करता हूं; आप मेरे गृहमें सम्मानित हो बहुत दिनोंतक निवास कीजिये ॥५५॥

ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति न ते वत्स्यन्ति मे गृहे ।
भवतैव हि तज्ज्ञेयं यदिदानीमनन्तरम् ॥ ५६ ॥

हे ब्राह्मण ! मेरे सेवकोंके बीच जो लोग आपको मेरे यहां नहीं रहने देना चाहते हैं, वे मेरे गृहमें न रहने पायेंगे । अनन्तर इन लोगोंका दमन अब करनेके लिये जो आवश्यक कार्य हो, उसे आपही जानिये ॥ ५६ ॥

यथा स्याद्दुष्कृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम् ।
तथा समीक्ष्य भगवञ्श्रेयसे विनियुङ्क्ष्व माम् ॥ ५७ ॥

हे भगवन् ! जिससे दुष्कृतोंके लिये दण्ड उत्तम रीतिसे धारण और सुकृत कर्म भली भांति सिद्ध हों, उस विषयमें विशेष समालोचना करके कल्याणके वास्ते मुझे नियुक्त कीजिये ॥५७॥

मुनिरुवाच –

अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलं कुरु ।
ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥ ५८ ॥

मुनि बोले– पहिले कौएके वधके कारण यह दोष देखकर इसे प्रकट किये विनाही एक एक सेवकको क्रमसे निर्बल अर्थात् ऐश्वर्य–अधिकार च्युत कीजिये । अनन्तर अपराधके कारणका वृत्तान्त विशेष रूपसे जानके एक एक करके उन लोगोंका वध करिये ॥ ५८ ॥

एकदोषा हि बहवो मृद्नीयुरपि कण्टकान् ।
मन्त्रभेदभयाद्राजंस्तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५९ ॥

हे राजन् ! बहुतसे मनुष्य एक ही दोपसे दूपित होनेपर सब कोई मिलके अत्यन्त तीक्ष्ण कण्टकोंको भी मसल डालते हैं, इसलिये यह गुप्त विचार प्रकट न हो जाय, इस ही कारण मैं आपसे ऐसा कहता हूं ॥ ५९ ॥

वयं तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः ।
स्वस्ति चेच्छामि भवतः परेषां च यथात्मनः ॥ ६० ॥

हम ब्राह्मण जातिके लोग स्वभावसे ही दयालु हैं; इससे हमारा दण्ड भी अत्यन्त कोमल होता है; अपनी भांति दूसरेका तथा आपके मङ्गलकी अभिलाषा किया करते हैं ॥ ६० ॥

राजन्नात्मानमाचक्षे संबन्धी भवतो ह्यहम् ।
मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६१ ॥

हे राजन् ! आपको मेरा परिचय देता हूं; मैं आपका सम्बन्धी हूं, मेरा नाम कालक-वृक्षीय मुनि कहके प्रसिद्ध है ॥ ६१ ॥

पितुः सखा च भवतः संमतः सत्यसंगरः ।
व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन्पितरि संस्थिते ॥ ६२ ॥

मुझे सत्यप्रतिज्ञ समझके तुम्हारे पिता मेरा मित्रके समान सम्मान करते थे; राजन् ! जब आपके पिता परलोकको गये, तब आपके राज्यपर बडा संकट आ गया था ॥ ६२ ॥

सर्वकामान्परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया ।
स्नेहात्त्वां प्रब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥ ६३ ॥

उस समय मैंने सब कामनाओंका त्याग कर तपस्या की थी। मैं आपके प्रति प्रीति होनेके कारण यहां आया हूं, और आपको बारबार यह वचन कहता हूं, कि आप फिर किसीके चक्करमें न पडे ॥ ६३ ॥

उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया ।
राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन्प्रमाद्यसि ॥ ६४ ॥

राजन् ! आपने सुख और दुःख दोनोंको ही देखे हैं, यह राज्य आपको दैवेच्छासे मिला है, तोभी क्यों इस प्रकार सेवकोंके ऊपर राज्य भार सौंपकर प्रमादग्रस्त होते हो ? ॥ ६४ ॥

भीष्म उवाच—

ततो राजकुले नान्दी संजज्ञे भूयसा पुनः ।
पुरोहितकुले चैव संप्राप्ते ब्राह्मणर्षभे ॥ ६५ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर पुरोहित कुलमें पैदा हुए उत्तम ब्राह्मण कालक वृक्षीय मुनिके फिर आनेसे राजकुलमें आनन्द और देवतास्तवन होने लगा ॥ ६५ ॥

एकच्छत्त्रां महीं कृत्वा कौसल्याय यशस्विने ।
मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ ६६ ॥

कालक वृक्षीय मुनिने इस भांति यशस्वी कोशल्यके समुद्र सहित सब पृथ्वीको एकछत्री करके अत्यन्त उत्तम यज्ञादि कार्य किया ॥ ६६ ॥

हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौसल्योऽन्वशिषन्महीम् ।
तथा च कृतवान्राजा यथोक्तं तेन भारत ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥ २९४५ ॥

हे भारत ! कौशल्यराज उनका वैसा हितकर वचन सुनके पृथ्वी जय करके उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करने लगे ॥ ६७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ २९४५ ॥

ः ८४ ः

भीष्म उवाच—

ह्रीनिषेधाः सदा सन्तः सत्यार्जवसमन्विताः ।
शक्ताः कथयितुं सम्यक्ते तव स्युः सभासदः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! जो लोग लज्जाशील, सदा योग्य मार्गदर्शन करनेवाले, सत्य और सरलतासे युक्त तथा प्रिय और अप्रिय वचनको पूरी रीतिसे कहनेमें समर्थ हैं, वैसे ही पुरुषोंको तुम सभासद करना ॥ १ ॥

अत्याढ्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् ।
सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु ॥ २ ॥

हे कौन्तेय ! जो सदा धनाढ्य हैं, अत्यंत पराक्रमी, बहुश्रुत ब्राह्मण, पूर्णरूपसे सन्तुष्ट और सब कार्योंमें उत्साहसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

एतान्सहायाल्ँलिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ।
कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ॥ ३ ॥

भारत ! उन्हें ही सभी आपद्के समय सहायक बनानेकी इच्छा करना । जो कुलीन, सदा सम्माननीय, निज शक्तिको छिपाता नहीं, ॥ ३ ॥

प्रसन्नं ह्यप्रसन्नं वा पीडितं हृतमेव वा ।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेको ह्यनुपालितः ॥ ४ ॥

और प्रसन्न वा अप्रसन्न, पीडित वा हृत राजाको– प्रत्येक स्थितिमें अनुसरण करता है, उस ही एक मात्रको सुहृदमित्र समझे ॥ ४ ॥

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः ।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥ ५ ॥

जो कुलीन अपने देशमें ही उत्पन्न, बुद्धिमान्, रूपवान, बहुश्रुत, प्रगल्भ और अनुरक्त हैं, उन्हें ही परिच्छद (सेनापति आदि) कार्यमें नियुक्त करे ॥ ५ ॥

×

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः ।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥ ६ ॥

हे तात ! जो लोग दुष्ट कुलोंमें उत्पन्न हुए, लोभी, क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे लोग जब तक गीले हाथ रहेंगे अर्थात् धनवान् होंगे, तभी तक तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ ७ ॥

अर्थमानार्घ्यसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियान् ।
यानर्थभाजो मन्येथास्ते ते स्युः सुखभागिनः ॥ ७ ॥

तुम जिन्हें प्रिय समझते हो, उन्हें धन, मान, दिव्यवस्त्र और पान आदि दान तथा सत्कार आदि अनेक भांतिके भोगसे प्रतिपालन तथा संतुष्ट करें; वेही तुम्हारे धन और सुखके भागी हों ॥ ७ ॥

अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः ।
न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः ॥ ८ ॥

हे युधिष्ठिर ! जिनकी चित्तवृत्ति किसी प्रकार विचलित नहीं होती, जो लोग सदाचारी, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी और श्रेष्ठ हैं, वेही नित्यार्थी अर्थात् सदा अभीष्ट वस्तुके लिये प्रार्थना करनेवाले आपदकालमें स्वामीको कभी नहीं त्यागते ॥ ८ ॥

अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः ।
तेभ्यः प्रतिजुगुप्सेथा जानीयाः समयच्युतान् ॥ ९ ॥

जो अनार्य, अधार्मिक, मन्दबुद्धि तथा मर्यादाहीन हैं, उन लोगोंको अपनी प्रतिज्ञासे गिरे हुए जानकर उनसे सावधान रहकर अपनी रक्षा करे ॥ ९ ॥

नैकमिच्छेद्गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः ।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान्कामं तेन गणं त्यजेत् ॥ १० ॥

सबके बीच अन्यतर ग्रहण करना हो, तो गण परित्याग करके एक पुरुषके ग्रहण करनेकी इच्छा न करे; परन्तु एक पुरुष गण अर्थात् सबमें गुणोंसे श्रेष्ठ होनेपर कल्याणकी इच्छा करनेवालेको समूहको त्यागके भी एक पुरुषको ग्रहण करना उचित है ॥ १० ॥

श्रेयसो लक्षणं ह्येतद्विक्रमो यस्य दृश्यते ।
कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात्समये यश्च तिष्ठति ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण यह है— जो युद्धमें स्थित होके विक्रम दिखाता है, जिसके जीवनमें कीर्तिकी प्रधानता है, जो अपनी प्रतिज्ञामें स्थित है, ॥ ११ ॥

समर्थान्पूजयेद्यश्च नास्पर्ध्यैः स्पर्धते च यः ।
न च कामाद्भयात्क्रोधाल्लोभाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ॥ १२ ॥

और जो समर्थ पुरुषका सम्मान करता, स्पर्द्धाहीन पुरुषके विषयमें स्पर्द्धा नहीं करता, काम, भय, क्रोध और लोभके वशमें होकर धर्मको नहीं त्यागता ॥ १२ ॥

अमानी सत्यवाक्शक्तो जितात्मा मान्यमानिता ।
स ते मन्त्रसहायः स्यात्सर्वावस्थं परीक्षितः ॥ १३ ॥

तथा अभिमान रहित, सत्यवादी, समर्थ, जितात्मा, मान्यवरोंसे सम्मानित और सब अवस्थाओंमें ही परीक्षायुक्त है, वही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणामें सहायक होवें ॥ १३ ॥

कुलीनः सत्यसंपन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान् ।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १४ ॥

हे पार्थ ! जो कुलीन– उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ, सत्यवचनोंसे युक्त, क्षमाशील, कार्यमें दक्ष, ऊंचे चित्त, शूर, कृतज्ञ और सत्य धर्मसे युक्त है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि यह सब गुण श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण कहके प्रसिद्ध हैं ॥ १४ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति ततो मित्रीभवन्त्यपि ॥ १५ ॥

ऐसा वर्ताव करनेवाले बुद्धिमान पुरुषके शत्रु भी प्रसन्न होके, उसके साथ मित्रकी भांति व्यवहार किया करते हैं ॥ १५ ॥

अत ऊर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणान् ।
संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः ॥ १६ ॥

इसलिये अपने मनको वशमें रखनेवाला बुद्धिमान् और ऐश्वर्य–वैभवकी अभिलाषा करनेवाला राजा अपने मन्त्री– सेवकोंके समस्त गुण–दोषों की परीक्षा करे ॥ १६ ॥

संबद्धाः पुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः ।
अहार्यैरव्यभीचारैः सर्वतः सुपरीक्षितैः ॥ १७ ॥

आत्मीय, कुलीन, स्वदेशीय, घूसे आदि विषयोंके वशमें न होनेवाले, व्यभिचार रहित और भलीभांति परिक्षा किये हुए पुरुषोंके साथ सम्बन्ध ॥ १७ ॥

योधाः श्रौवास्तथा मौलास्तथैवान्येऽप्यवस्कृताः ।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ १८ ॥

और अत्यन्त श्रेष्ठ योद्धा, वेद जाननेवाले, परम परागत और अवस्कृत मनुष्योंको ही अपनी उन्नतिकी इच्छा करनेवाले ऐश्वर्यकामी राजा मन्त्री करे ॥ १८ ॥

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृता चैव शोभना ।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुराग स्थितिर्धृतिः ॥ १९ ॥

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, उत्तम स्वभाव, तेज, धीरज, क्षमा, पवित्रता, अनुराग, मर्यादा और धारणा– ये सब गुण विद्यमान हैं, ॥ १९ ॥

परीक्षितगुणान्नित्यं प्रौढभावान्धुरंधरान् ।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः ॥ २० ॥

राजा उन लोगोंके इन गुणोंकी सदा परीक्षा करके मजबूत धुरन्धर, तथा कपट रहित हों, तो राजा उनमेंसे पांच व्यक्तियोंको चुनकर अर्थमन्त्रीपद पर नियुक्त करे ॥ २० ॥

पर्याप्तवचनान्वीरान्प्रतिपत्तिविशारदान् ।
कुलीनान्सत्यसंपन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! जो लोग बोलनेमें कुशल, वीर, प्रत्येक बातको समझनेमें विशारद, कुलीन, सत्यसे युक्त, संकेत जाननेवाले, निष्ठुरतारहित, ॥ २१ ॥

देशकालविधानज्ञान्भर्तृकार्यहितैषिणः ।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ॥ २२ ॥

देश और कालके उपायको जाननेवाले तथा स्वामी कार्यके हितैषी हैं; राजा उन्हें सब कार्योंमें ही मन्त्री करे ॥ २२ ॥

हीनतेजा ह्यसंहृष्टो नैव जातु व्यवस्यति ।
अवश्यं जनयत्येव सर्वकर्मसु संशयान् ॥ २३ ॥

जो राजा तेजरहित और असंतुष्ट मित्रके साथ सम्बन्ध रखता है, वह कभी कर्तव्याकर्तव्य विषयको निश्चय करनेमें समर्थ नहीं होता; बल्कि सब कार्योंमें अवश्य ही संशय उत्पन्न किया करता है, इससे राजा ऐसे मनुष्यको कभी अपना मन्त्री न करे ॥ २३ ॥

एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत ।
धर्मार्थकामयुक्तोऽपि नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २४ ॥

और शास्त्रोंका अल्प ज्ञान रखनेवाला मन्त्री उत्तम कुलमें उत्पन्न और धर्म, अर्थ और कामसे युक्त होनेपर भी वह गुप्त मन्त्रणाकी परीक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता; ॥ २४ ॥

तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः ।
अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यूह्येषु कर्मसु ॥ २५ ॥

नीच कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष अच्छे प्रकार बहुश्रुत होनेपर भी अनायक सैनिक तथा अन्धेकी भांति सूक्ष्म कर्ममें मोहित हुआ करता है; कर्तव्याकर्तव्यका विचार कर नहीं सकता ॥ २५ ॥

यो वा ह्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः ।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्म यापयितुं चिरम् ॥ २६ ॥

अस्थिर सङ्कल्पवाला पुरुष बुद्धिमान शास्त्रवित् और उपाय जाननेवाला होने पर भी बहुत समय तक कार्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ २६ ॥

केवलात्पुनराचारात्कर्मणो नोपपद्यते ।
परिमर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मतेः　　　　　　　　॥ २७ ॥

इस संसारमें जो नीच बुद्धि तथा शास्त्रज्ञानका अज्ञानी मनुष्य कर्मके विशेष फलको न जानके केवल मात्र कर्म करता है, वह सफल नहीं होता; उसकी सलाह नहीं ग्रहण की जा सकती ॥ २७ ॥

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो न हि विद्यते ।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत्　　　　　　　　॥ २८ ॥

जिस मन्त्रीका राजाके प्रति अनुराग नहीं है, उसका विश्वास करना युक्तियुक्त नहीं है, इसलिये विरक्त मन्त्रीके समीप कभी गुप्त विचारको प्रकट न करे; ॥ २८ ॥

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः ।
मारुतोपहतच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम्　　　　　　　　॥ २९ ॥

जैसे अग्नि वृक्षके हवासे भरे हुए छिद्रोंमें प्रवेश करके उसे भस्म करती है, वैसे ही वह कपटी मन्त्री गुप्त विचारोंको जानकर दूसरे मन्त्रियोंके साथ मिलके राजाको दुःखित किया करता है ॥ २९ ॥

संक्रुध्यत्येकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति ।
वाचा क्षिपति संरब्धस्ततः पश्चात्प्रसीदति　　　　　　　　॥ ३० ॥

राजा कभी क्रुद्ध होके मन्त्रीको उसके स्थानसे च्युत करता है, अथवा संतप्त होकर वचनसे निन्दा करके फिर उसके ऊपर प्रसन्न हुआ करता है ॥ ३० ॥

तानि तान्यनुरक्तेन शक्यान्यनुतितिक्षितुम् ।
मन्त्रिणां च भवेत्क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः　　　　　　　　॥ ३१ ॥

परन्तु राजाके प्रति अनुरक्त मंत्री ही स्वामीके वह सब उपद्रव सह सकता है; और प्रीतिरहित मन्त्रियोंका क्रोध वज्रपातके समान भयंकर होता है ॥ ३१ ॥

यस्तु संहरते तानि भर्तुः प्रियचिकीर्षया ।
समानसुखदुःखं तं पृच्छेदर्थेषु मानवम्　　　　　　　　॥ ३२ ॥

जो मन्त्री राजाके प्रिय-कामनाकी इच्छासे उसके उन सब उपद्रवोंको सहन कर सकता है, राजा समान सुख-दुःख भागी उस ही मनुष्यसे सब कार्योंमें सलाह प्रश्न किया करे ॥ ३२ ॥

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि संपन्नश्चेतरैर्गुणैः ।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति　　　　　　　　॥ ३३ ॥

सरल स्वभावसे रहित मनुष्य अनुरक्त और इतर गुणोंसे युक्त तथा बुद्धिमान होनेपर भी राजाके गुप्त विचारको सुनने योग्य नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

योऽमित्रैः सह संबद्धो न पौरान्बहु मन्यते।
स सुहृत्तादृशो राज्ञो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३४ ॥

अपने राजाके जो मनुष्य शत्रुसे सम्बन्ध करके पुरवासियोंका अधिक आदर नहीं करता, वैसा पुरुष सुहृदके समान नहीं गिना जाता है और वह गुप्त सलाह सुननेके योग्य नहीं है ॥३४॥

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
स सुहृत्क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥

मूर्ख, अपवित्र, चुप्पा, शत्रुकी सेवा करनेवाला, अपनी बडाई करनेवाला, क्रोधी और लोभी मनुष्य सुहृद् नहीं है; वह राजाकी उस मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
सत्कृतः संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥

आगन्तुक पुरुष, अनुरक्त, बहुश्रुत, सत्कृत और संविभक्त भलीभांति भेट दिया गया होनेपर भी गुप्त सलाह सुननेके योग्य नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

यस्त्वल्पेनापि कार्येण सकृदाक्षारितो भवेत्।
पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३७ ॥

जो पुरुष तनिक अनुचित कार्यके वास्ते पहले निर्द्धन कर दिया गया है, वह दूसरे अनेक गुणोंसे युक्त रहनेपर भी गुप्त सलाह सुननेके योग्य नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥

और जो मनुष्य कृतप्रज्ञ, मेधावी, पण्डित, अपनेही देशमें उत्पन्न, परम पवित्र और सब कार्योंमें शुद्धतायुक्त आचरण करनेवाला है, वह पुरुष ही राजाके गुप्त विचारको सुननेके योग्य हो सकता है ॥ ३८ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३९ ॥

जो पुरुष ज्ञान-विज्ञानसे युक्त, शत्रुके और अपने स्वभावको परखनेवाला और राजाका अपने आत्माके समान मित्र है, वही पुरुष गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य हो सकता है ॥ ३९ ॥

सत्यवाक्शीलसंपन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः।
पितृपैतामहो यः स्यात्स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४० ॥

जो पुरुष सत्यवादी, सुशील, गम्भीर अर्थात् मन्त्र गोपन करनेमें समर्थ, लज्जाशील, कोमलता युक्त और पिता-पितामहके क्रमसे राजाकी सेवा करता रहता है, वह पुरुष ही गुप्त सलाह सुन सकता है ॥ ४० ॥

संतुष्टः संमतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः ।
मन्त्रवित्कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य सन्तुष्ट, सर्वसम्मत, सत्यधर्मवाला, शूरवीर, पापद्वेषी, मन्त्रवित्, त्रिकालज्ञ और पराक्रमी है, वही पुरुष गुप्त सलाह सुननेका योग्य पात्र है ॥ ४१ ॥

सर्वलोकं समं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे ।
तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! जो मनुष्य शान्तवचनसे सब जगत्‌को समभावसे वशमें करनेमें समर्थ हो, दण्ड-धारी राजा उससे ही गुप्त सलाह करे ॥ ४२ ॥

पौरजानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः ।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४३ ॥

पुर और जनपदवासी लोग जिसका धर्म पूर्वक विश्वास करें तथा जो योद्धा, नीतिज्ञ पण्डित है वही पुरुष गुप्त सलाह सुननेके योग्य हो सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः ।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४४ ॥

इसलिये पहिले कहे हुए गुणोंसे युक्त सन्माननीय, प्रकृतिको जाननेवाले तथा महान् पदकी इच्छा करनेवाले जो हों उन्हें राजकार्यमें नियुक्त कर रखे; मन्त्री कमसे कम तीन होने चाहिये ॥ ४४ ॥

स्वासु प्रकृतिषु छिद्रं लक्षयेरन्परस्य च ।
मन्त्रिणो मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ ४५ ॥

मन्त्रियोंको—अपनी और शत्रु पक्षकी दुर्बलतापर सदा लक्ष्य करना चाहिये; क्योंकि मंत्रियोंकी उत्तम सलाह ही राजाके राष्ट्रकी मूल है, उससे ही राष्ट्र विशेष रूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है ॥४५॥

नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ४६ ॥

अपना छिद्र जिसमें शत्रुपक्षवाले न देख सकें, उसी भांति निज छिद्रको छिपाते हुए शत्रुओंके छिद्रोंका अनुसन्धान करे, जैसे कछुवा अपना सब शरीर सिकोड लेता है, वैसे ही अपना छिद्र गोपन करे ॥ ४६ ॥

मन्त्रग्राहा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः ।
मन्त्रसंहननो राजा मन्त्राङ्गानीतरो जनः ॥ ४७ ॥

महा बुद्धिमान् मन्त्री लोग ही राज्यके सब गुप्त विचार छिपाये रखते हैं, मन्त्र राजाका कवच है और दूसरे लोग मन्त्रणाके अंग हैं ॥ ४७ ॥

राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते ।
स्वामिनं त्वनुवर्तन्ति वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः ॥ ४८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले पण्डित लोग दूतको राज्यका मूल और मन्त्रको राज्यका सार कहा करते हैं; मन्त्री यहां अपनी जीविकाके लिये राजाका अनुसरण करते हैं ॥ ४८ ॥

स विनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृतः ।
नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ ४९ ॥

जो लोग अभिमान, क्रोध, मान तथा ईर्षारहित हो गये हैं और कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्मकृत और संकेतजनित पांच भांतिके छलोंसे ऊपर उठे हैं, उन मन्त्रियोंके साथ राजा सदा गुप्त विचार करे ॥ ४९ ॥

तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं बुध्येत चित्तं विनिवेश्य तत्र ।
स्वनिश्चयं तं परनिश्चयं च निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले ॥ ५० ॥

पहिले कहे हुए तीनों मन्त्रियोंके अनेक परामर्श तथा उनके चित्तको विशेष रूपसे मालूम करके, अपना तथा उन लोगोंका निश्चित मत स्थित करके सलाहके अनन्तर उसे राजगुरुकी सेवामें प्रकाशित करे ॥ ५० ॥

धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तमार्थम् ।
निष्ठा कृता तेन यदा सह स्यात्तं तत्र मार्गं प्रणयेदसक्तम् ॥ ५१ ॥

धर्म, अर्थ और कामके जाननेवाले ब्राह्मण गुरुके समीप जाके उनसे उनकी उत्तम सलाह जाननेके लिये इस विषयमें पूंछे, यदि उनके निर्णयके सङ्ग मतकी एकता होवे, तो उसही विचारको कार्यमें नियुक्त करे ॥ ५१ ॥

एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहुर्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्चयज्ञाः ।
तस्मात्त्वमेवं प्रणयेः सदैव मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थम् ॥ ५२ ॥

मन्त्रतत्त्वके यथार्थ अर्थ और निश्चयको विशेष रूपसे जाननेवाले पण्डित लोग कहते हैं कि इसी तरह सदा विचार करके, प्रजा संग्रहमें समर्थ उस मन्त्रको सदा प्रणयन कार्यमें नियुक्त करना उचित है ॥ ५२ ॥

न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा नान्धा जडाः स्त्री न नपुंसकं च ।
न चात्र तिर्यङ्न पुरो न पश्चान्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत् कश्चित् ॥ ५३ ॥

जिस स्थानमें गुप्त सलाह करे, उसके आगे–पीछे ऊपर–नीचे और तिर्यग देशमें बौने, कुबडे, कृश, लंगडे, अन्धे, गूंगे, स्त्री और नपुंसक ये सब किसी भांति भी जाने आने न पावें ॥५३॥

आरुह्य वातायनमेव शून्यं स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनम् ।
वागङ्गदोषान्परिहृत्य मन्त्रं संमन्त्रयेत्कार्यमहीनकालम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥ २९९९ ॥

और गृहके ऊपरी मंजिलपर चढके अथवा कुश-काश रहित प्रकाशमान निर्जन स्थानमें गमन करके, ऊंचे तथा भयानक वचन दोष और वक्र-विचार आदि सब अङ्गदोषोंको परित्याग करके योग्य समय कार्यके सम्बन्धमें गुप्त विचार करे ॥ ५४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ २९९९ ॥

: ८५ :

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादं शक्रस्य च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर ! इस मन्त्र मूल प्रजा संग्रह विषयमें पण्डित लोग बृहस्पति और इन्द्रके सम्वादयुक्त जिस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया करते हैं, उसे मैं इस प्रकार कहता हूं, सुनो ॥ १ ॥

शक्र उवाच -

किं स्विदेकपदं ब्रह्मन्पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ २ ॥

इन्द्र बोले—हे ब्रह्मन् ! जिसमें सब गुण अन्तर्हित होते हैं, वैसी एक पदवाली कौनसी है ? क्या वैसा कर्तव्य कार्यका यथारीतिसे आचरण करनेवाला पुरुष सब प्राणियोंका सम्मत होकर महान् यश प्राप्त कर सकता है ? ॥ २ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ ३ ॥

बृहस्पति बोले—हे सुरराज ! एक पद नामवाली वस्तु सान्त्वना अर्थात् सब गुणोंके आश्रय प्रिय वचन बोलना; इसका यथार्थ रीतिसे आचरण करनेवाला पुरुष सब प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश लाभ कर सकता है ॥ ३ ॥

एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम् ।
आचरन्सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! पुरुष सब लोगोंको सुखी करनेवाले इस सब गुणावलम्बी प्रिय वचनका आचरण करनेसे ही सदा सब प्राणियोंका प्रियपात्र हुआ करता है ॥ ४ ॥

+

यो हि नाभाषते किंचित्सततं भ्रुकुटीमुखः ।
द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन् ॥ ५ ॥

जो पुरुष इस संसारमें शान्त–वचनका आचरण न करके सदा भृकुटी टेढे मुखसे निवास करके किसीके साथ कुछ वार्त्तालाप नहीं करता; वह सब प्राणियोंका द्वेषी हुआ करता है ॥ ५ ॥

यस्तु पूर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति ॥ ६ ॥

जो सबको देखके पहिले ही बात करता है और हंसके उनके साथ वार्त्तालाप करता है; उसपर सब लोग ही प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ ६ ॥

दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितम् ।
न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम् ॥ ७ ॥

सब ठौर प्रियवचन रहित दिया हुआ दान व्यञ्जन हीन (साग–दाल आदि)- भोजनकी भांति प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

अदाता ह्यपि भूतानां मधुरामीरयन्गिरम् ।
सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे ॥ ८ ॥

हे सुरराज ! मीठा वचन बोलनेवाला मनुष्य लोगोंका सर्वस्व ग्रहण करनेपर भी वे लोग रुष्ट नहीं होते; क्योंकि प्रिय वचनसे सब लोग वशमें हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तस्मात्सान्त्वं प्रकर्तव्यं दण्डमाश्रित्सतामिह ।
फलं च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः ॥ ९ ॥

इसलिये दण्डधारी राजा सदा शान्त्वनापूर्ण मीठे वचनोंका प्रयोग करे, क्योंकि सान्त्वनासे वह अपना कार्यसिद्ध करता है, उससे कोई मनुष्य कभी व्याकुल नहीं होता ॥ ९ ॥

सुकृतस्य हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च ।
सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते ॥ १० ॥

उत्तम रीतिसे सान्त्वनापूर्ण, मधुर और मित्रतापूर्ण वचन बोलनेसे और उसीका सेवन करनेसे सब वशीभूत होते हैं; इसके समान इस जगत्में दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः कृतवान्सर्वं तथा शक्रः पुरोधसा ।
तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत्समाचर ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ ३०१० ॥

भीष्म बोले— हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रने अपने गुरु बृहस्पतिसे ऐसा सुनके उन बडे वचनके अनुसार सब कार्य किये थे; इसी प्रकार तुम भी सान्त्वनापूर्ण वचनपूर्ण पूरी रीतिसे आचरण करो ॥ ११ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पचासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ ३०१० ॥

: ८६ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन्पार्थिवः प्रजाः ।
प्रति धर्मं विशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम्		॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे राजेन्द्र ! इस लोकमें राजा किस प्रकार प्रजापालन करनेसे धर्म विशेषके जरिये लोगोंकी प्रीति और अक्षय कीर्त्ति प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः ।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकावाप्नोत्युभौ शुचिः		॥ २ ॥

भीष्म बोले— पवित्र रहकर शुद्ध व्यवहारसे प्रजा पालनमें तत्पर रहनेवाला राजा धर्म और कीर्त्ति लाभ करके दोनों लोक प्राप्त कर सकता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कीदृशं व्यवहारं तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः ।
एतत्पृष्टो महाप्राज्ञ यथावद्वक्तुमर्हसि		॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबुद्धिमान् ! राजा किस भांति व्यवहारसे कैसे लोगोंके साथ वर्त्ताव करे ? यह पूछा हुआ विषय यथारीतिसे वर्णन करना आपको उचित है ॥ ३ ॥

ये चैते पूर्वकथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति ।
नैकस्मिन्पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः		॥ ४ ॥

आपने पहिले पुरुषके जो सब गुण वर्णन किये, मुझे मालूम होता है, कि ये सब गुण एक पुरुषमें विद्यमान नहीं रह सकते ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमान् ।
दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्गुणगणैर्युतः		॥ ५ ॥

भीष्म बोले— हे महाबुद्धिमान् ! तुम्हें मैं बुद्धिमान समझता हूं । तुमने जैसा वचन कहा वह वैसा ही है । ऐसे शुभ गुण किसी एक पुरुषमें विद्यमान रहने असम्भव हैं ॥ ५ ॥

किं तु संक्षेपतः शीलं प्रयत्ने नेह दुर्लभम् ।
वक्ष्यामि तु यथामात्यान्यादृशांश्च करिष्यसि		॥ ६ ॥

और इस लोकमें अत्यन्त यत्नसे सत्स्वभाव दुष्प्राप्य नहीं है; तुम्हें जिस प्रकार जैसे स्वभावके मन्त्रियोंको एकत्र करना होगा, उसे संक्षेपमें कहता हूं ॥ ६ ॥

चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान्प्रगल्भान्सात्त्विकाञ्शुचीन् ।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन्कर्मणि पूर्वके ॥ ७ ॥

वेद जाननेवाले, चतुर, सात्विक और पवित्र आचरवाले चार ब्राह्मण, नित्य कर्ममें रत पवित्र और विनीत तीन शूद्र; ॥ ७ ॥

अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं चरेत् ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ८ ॥

सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहन, उपोहन, विज्ञान और तत्वज्ञान इन आठ गुणोंसे युक्त प्रगल्भ, अनसूयक तथा लगभग पचास वर्षीय हो ॥ ८ ॥

मतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ ९ ॥

तथा पुराण विद्याको जाननेवाला एक सूत– जो मति और स्मृतिसे युक्त, विनीत, समदर्शी, वादविवादके कार्यमें समर्थ, धनके लोभसे रहित ॥ ९ ॥

विवर्जितानां व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ १० ॥

और मृगया, जूवा, स्त्री, पान, दण्डपातन, वचनकी कठोरता, तथा अर्थ दूषण आदि सात भांतिके घोर व्यसनोंसे वर्जित हो । इन आठ मन्त्रियोंके बीच स्थित होके राजा गुप्त मन्त्रणा करे ॥ १० ॥

ततः संप्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रायाथ च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ ११ ॥

अनन्तर उन ही विचारका राज्यके बीच प्रचार करके राष्ट्रके नागरिकोंको इसका ज्ञान करा दे; इस ही व्यवहारसे तुम सदा प्रजा समूहकी देखरेख करना ॥ ११ ॥

न चापि गूढं कार्यं ते ग्राह्यं कार्योपघातकम् ।
कार्ये खलु विपन्ने त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत् ॥ १२ ॥

तुम कभी कर्तव्य धर्मका नाश करनेवाला गूढ कार्य अर्थात् किसी पुरुषके न्यस्त विषयको राजकीय कहके ग्रहण न करना; क्योंकि कार्यका नाश होनेपर वह अधर्म अवश्य ही तुम्हें और तुम्हारे मन्त्रियोंको पीडित करेगा ॥ १२ ॥

विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात्पक्षिगणा इव ।
परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १३ ॥

और तुम्हारे राज्यकी प्रजा, जैसे समुद्रमें टूटी हुई नौका कहीं भी बह जाती है तथा बाज पक्षीके डरसे भागनेवाले पक्षियोंकी भांति तुम्हारे निकटसे दूसरी ओर गमन करेगी ॥ १३ ॥

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं संभवति स्वर्गश्चास्य विरुध्यते ॥ १४॥

जो राजा अधर्म पूर्वक आचरण करके प्रजापालन करता है, उसके हृदयमें भय उपस्थित होता है, और उसका स्वर्ग लोक भी नष्ट हुआ करता है ॥ १४॥

अथ योऽधर्मतः पाति राजामात्योऽथ वात्मजः ।
धर्मासने नियुक्तः सन्धर्ममूलं नरर्षभ ॥ १५॥

हे नरेन्द्र ! धर्म ही मूल है उस धर्मासन पर बैठकर जो राजा, मन्त्री, अथवा राजपुत्र अधर्मके अनुसार प्रजाओंका पालन करता है ॥ १५॥

कार्येष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः ।
आत्मानं पुरतः कृत्वा यान्त्यधः सहपार्थिवाः ॥ १६॥

और अधिकृत कार्योंको पूर्ण न करनेवाले अर्थात् जो प्रजाके साथ योग्य वर्ताव नहीं करते हैं, वे राजाके अनुगामी पुरुष स्वयं भी राजाके सहित नरक गामी हुआ करते हैं ॥ १६॥

बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं बहु जल्पताम् ।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् ॥ १७॥

बलवान् पुरुषोंके अत्याचारसे पीडित अत्यंत दीनकी भांति पुकार करनेवाले अनाथ मनुष्योंको सहारा देनेवाला उनका नाथ या राजा ही होता है ॥ १७॥

ततः साक्षिबलं साधु द्वैधे वादकृतं भवेत् ।
असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद्विशेषतः ॥ १८॥

अभियोगमें उभय पक्षोंसे दो प्रकारकी बातें कहीं जाती है, तब योग्य निर्णयके लिये साक्षीका बल श्रेष्ठ माना जाता है; यदि कोई साक्षी न हो और कोई देखरेख करनेवाला कोई न हो तो राजा स्वयं विशेष प्रयत्नसे उसकी परीक्षा करे ॥ १८॥

अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु पातयेत् ।
उद्वेजयेद्धनैर्ऋद्धान्दरिद्रान्वधबन्धनैः ॥ १९॥

अनन्तर अपराधियोंको अपराधके अनुसार दण्ड करना होगा; यदि धनी पुरुष पापी हो; तो उसे उस धनसे वञ्चित करे और निर्द्धन पुरुष पापी हो, तो उसे कैद करे ॥ १९॥

विनयैरपि दुर्वृत्तान्प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥ २०॥

राजा दुष्ट मनुष्योंको विनय तथा प्रहारसे राहपर लाकर शिक्षित करे और शिष्ट पुरुषोंको शान्त वचनसे सुख–सुविधाकी वस्तुएं अर्पित करके उनका पालन करे ॥ २०॥

राज्ञो वधं चिकीर्षेद्यस्तस्य चित्रो वधो भवेत् ।
आजीवकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरस्य च । ॥ २१ ॥

जो मनुष्य राजाके वधकी इच्छा करनेवाला, चोरी करके जीवन निर्वाह करनेवाला और वर्णसंकर करनेवाला है, उसका विचित्र रीतिसे अर्थात् अनेक प्रकारसे वध करे ॥ २१ ॥

सम्यक्प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशां पते ।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एवेह शाश्वतः ॥ २२ ॥

हे पृथ्वीपतें ! शास्त्रके अनुसार स्थित तथा कर्तव्य पालनमें तत्पर भूपतिको उचित दण्डप्रयोग करनेसे उसमें उसे वध और वन्धनका दोष नहीं लगता, वल्कि उससे शाश्वत धर्मको ही प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः ।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमाप्नुयात् ॥ २३ ॥

जो मूर्ख राजा विना विचारे इच्छानुसार दण्ड प्रयोग करता है; वह इस लोकमें अपयशका भागी होके, मरनेके अनन्तर नरक लोक प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

न परस्य श्रवादेव परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा वध्नीयान्मोक्षयेत वा ॥ २४ ॥

दुसरेके कहनेके कारण अन्य पुरुषोंके ऊपर दण्ड प्रयोग न करे; शास्त्र और युक्तिके अवलम्बसे निश्चय करके वन्धन तथा मुक्त करे ॥ २४ ॥

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्यांचिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ॥ २५ ॥

राजा किसी आपदमें भी किसीके दूतका कभी वध न करे; क्योंकि दूतको मारनेवाला राजा अपने मन्त्रियोंके सहित नरकगामी हुआ करता है ॥ २५ ॥

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २६ ॥

क्षत्रधर्ममें रत जो राजा यथोक्त–वादी दूतका वध करता है, उसके पितर लोग भ्रूणहत्या पापके भागी हुआ करते हैं ॥ २६ ॥

कुलीनः शीलसंपन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥ २७ ॥

जो पुरुष कुलीन, शीलवान्, वाग्मी, दक्ष, प्रियवचन कहनेवाला, यथोक्त वादी और स्मृतिमान् हो, वही दूत होवे और उसमें ये सातों गुण विद्यमान रहें ॥ २७ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोऽस्य रक्षिता ।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः　　　　　　　　॥ २८ ॥

और राजाके द्वारकी रक्षा करनेवाले द्वारपाल तथा उसका अङ्गरक्षक भी इन्हीं गुणोंसे युक्त हो ॥ २८ ॥

धर्मार्थशास्त्रतत्त्वज्ञः संधिविग्रहको भवेत् ।
मतिमान्धृतिमान्धीमान्रहस्यविनिगूहिता　　　　　　　　॥ २९ ॥

जो धर्मशास्त्रका यथार्थ ज्ञानी, सन्धि-विग्रहको विशेष रूपसे जाननेवाला, बुद्धिमान्, धैर्य-शाली, धीमान्, रहस्य विषयोंको गोपन करनेवाला ॥ २९ ॥

कुलीनः सत्यसंपन्नः शक्तोऽमात्यः प्रशंसितः ।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत्　　　　　　　　॥ ३० ॥

कुलीन, सत्यवादी तथा पराक्रमसे युक्त है, वही पुरुष ही प्रशंसनीय मन्त्री कहके गिना जाता है । और ऐसे ही गुणोंसे युक्त सेनापति भी होना चाहिये ॥ ३० ॥

व्यूहयन्त्रायुधीयानां तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित्　　　　　　　　॥ ३१ ॥

वह व्यूह रचना, यन्त्रोंका प्रयोग तथा सब अस्त्र-शस्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाला, पराक्रमी, वर्षा सर्दी, गर्मी, वायु आदिको सहनेवाला तथा शत्रुओंके छिद्रको जाननेवाला हो ॥ ३१ ॥

विश्वासयेत्परांश्चैव विश्वसेन्न तु कस्यचित् ।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते　　　　　　　　॥ ३२ ॥

हे राजेन्द्र ! राजा स्वयं दूसरेका विश्वासपात्र होवे परंतु दूसरेका कभी विश्वास न करे । ऐसा ही क्यों पुत्रोंका भी विश्वास करना उत्तम नहीं है ॥ ३२ ॥

एतच्छास्त्रार्थतत्त्वं तु तवाख्यातं मयानघ ।
अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परमसुच्यते　　　　　　　　॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ ३०४३ ॥

हे पापरहित युधिष्ठिर ! मैंने नीति शास्त्रका यह यथार्थ तत्व तुम्हारे समीप वर्णन किया; किसी पर भी पूरी तरहसे विश्वास नहीं करना राजाओंका परम गुह्य गुण कहके वर्णित हुआ है ॥ ३३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ ३०४३ ॥

: ८७ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति ।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! राजाको कैसे पुरमें वास करना उचित है ? वह पहिलेके बने हुए, वा अपनी नयी बनाई हुई पुरीमें वास करे, यह विस्तारके सहित कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

यत्र कौन्तेय वस्तव्यं सपुत्रभ्रातृबन्धुना ।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं गुप्तिं वृत्तिं च भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे कुन्तीनन्दन ! भारत ! राजा, पुत्र, भाई और बान्धवोंके सहित जिस नगरमें वास करे, वहांके जीवन–व्यवहार और रक्षाका उपाय पूछना न्याययुक्त है; ॥ २ ॥

तस्मात्ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः ।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥ ३ ॥

इसलिये तुम्हें जैसे किलेके निर्माणके विषयको विशेष रूपसे कहूंगा; उसे सुनके यत्नपूर्वक वैसे ही उपायका अनुष्ठान करना तुम्हें उचित है ॥ ३ ॥

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत् ।
सर्वसंपत्प्रधानं यद्बाहुल्यं वापि संभवेत् ॥ ४ ॥
धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च ।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥

जिस स्थानमें सब प्रकारकी सम्पत्ति भरी हो तथा जो बहुत विशाल हो; वहां धन्व अर्थात् मरुभूमियुक्त किला, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, जलदुर्ग और वनदुर्ग आदि यही छः प्रकारके किलेको अवलम्बन करके राजा नये नगर निर्माण करे ॥ ४–५ ॥

यत्पुरं दुर्गसंपन्नं धान्यायुधसमन्वितम् ।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ६ ॥

जो नगर कोई किलेसे युक्त, धान्य और अस्त्रशस्त्रोंसे पूरित, दृढ दीवार और परिघासे घिरा हुआ, हाथी, घोडे तथा रथ समूहसे युक्त, ॥ ६ ॥

विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः ।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः ॥ ७ ॥

विद्वान् और शिल्पियोंसे अधिष्ठित, धान्य आदि आवश्यक वस्तुओंके भंडारोंसे परिपूरित, धार्मिक तथा कार्य कुशल मनुष्योंके निवाससे युक्त, ॥ ७ ॥

ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम् ।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥

बलवान् मनुष्य, हाथी और घोडोंसे परिपूर्ण, चौराहे तथा बाजारसे सुशोभित, प्रसिद्ध न्याय, विचार और व्यवहारयुक्त, सब प्रकारसे प्रशान्त, निर्भय, ॥ ८ ॥

सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम् ।
शूराढ्यजनसंपन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥ ९ ॥

सुन्दर प्रकाशयुक्त, गीतवाद्यकी ध्वनिसे परिपूरित, सुन्दर तथा बडे गृहोंसे युक्त, शूर और धनाढ्य लोगोंके निवाससे सम्पन्न, वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे अनुनादित, ॥ ९ ॥

समाजोत्सवसंपन्नं सदापूजितदैवतम् ।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमावसेत् ॥ १० ॥

सामाजिक उत्सवसे युक्त और सदा देवताओंकी पूजासे अधिष्ठित, ऐसे नगरके बीच अपने वशमें रहनेवाले मंत्रियों और सेनासे युक्त राजा स्वयं निवास करे ॥ १० ॥

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत् ।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान्निवर्तयेत् ॥ ११ ॥

राजा उसही नगरमें वास करके उस स्थानमें कोप, सेना, मित्र और व्यवहारकी सदा वृद्धि करे, और पुर तथा जनपद स्थित सब दोषोंको निवारण करे ॥ ११ ॥

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत् ।
निचयान्वर्धयेत्सर्वांस्तथा यन्त्रगदागदान् ॥ १२ ॥

धान्य भण्डार और अस्त्रशस्त्रालय आदि संग्रहको प्रयत्नपूर्वक बढावे और सब प्रकारकी आवश्यक वस्तुओंके संग्रहालयोंकी समृद्धि करे, यन्त्र तथा अस्त्र-शस्त्रोंके कारखाने तथा औषधालयोंकी उन्नति करे ॥ १२ ॥

काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान् ।
मज्जास्नेहवसाक्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥

काठ, लोहा, धानकी भूसी, कोयला, देव दारु, लकडी, बांस, सींग, हड्डी, मज्जा, तेल, घी, चर्बी, मधु, अनेक भांतिके औषध, ॥ १३ ॥

शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा ।
चर्म स्नायु तथा वेत्रं मुञ्जबल्वजधन्वनान् ॥ १४ ॥

सण, सर्जरस अर्थात् धूप, धान्य, अस्त्र-शस्त्र, बाण, चर्मता, तांत, बेंत, मूञ्ज और बल्वज-बन्धन, ॥ १४ ॥

+

आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिला वराः ।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥ १५ ॥

जलाशय– तालाव, कूएं उदपान, बहुत जलसे भरे हुए श्रेष्ठ तालाव और दूधवाले वृक्ष; इन सब सामग्रियोंकी राजा सदा निज नगरमें रक्षा करे ॥ १५ ॥

सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विक्पुरोहिताः ।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ॥ १६ ॥

आचार्य, ऋत्विक्, पुरोहित, महा धनुर्द्धारी योद्धा, ईंट आदिसे घर बननेवाले स्थपति, ज्योतिषी और चिकित्सक वैद्य– इन सबका यत्नपूर्वक सत्कार करे ॥ १६ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः ।
कुलीनाः सत्त्वसंपन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥

बुद्धिमान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, दक्ष, शूर, बहुश्रुत, कुलीन और पराक्रम युक्त पुरुषोंको सब कार्योंमें नियुक्त करे ॥ १७ ॥

पूजयेद्धार्मिकान्राजा निगृह्णीयादधार्मिकान् ।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान्स्वकर्मसु ॥ १८ ॥

राजा धार्मिक मनुष्योंकी पूजा– सत्कार करे, अधर्मियोंको दण्ड दे और यत्नपूर्वक सब वर्णोंको निज निज कर्ममें नियुक्त करे ॥ १८ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं जनम् ।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

नगर तथा ग्रामोंके बाहरी और अंदरके लोगोंके समाचारोंको पहिले दूतोंसे भली भांति मालूम करके फिर उसके अनुसार कार्य प्रयोग करे ॥ १९ ॥

चारान्मन्त्रं च कोशं च मन्त्रं चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत्स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

राजा स्वयं दूतोंको मिलकर गुप्त सलाह करना, कोष देखना और विशेष करके गुप्त नीतिकी आलोचना करे; क्योंकि राज्य इन्हींपर प्रतिष्ठित हुआ करता है ॥ २० ॥

उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम् ।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥

राजा दूतरूपी नेत्रोंसे नगर और ग्रामोंके तटस्थ, शत्रु और मित्र– सबके अभिलषित विषयको मालूम करे ॥ २१ ॥

ततस्तथा विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः ।
भक्तान्पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥ २२ ॥

अनन्तर राजा उनकी बातें जानकर, सावधानीसे उन लोगोंके उस विषयका सब ओरसे प्रतिकार करे। राजा अपने भक्तोंका सदा आदर करे और द्वेषियोंको बन्धनमें रखे ॥ २२ ॥

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया ।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं कर्म गर्हितम् ॥ २३ ॥

राजा सदा अनेक प्रकारके यज्ञ, क्लेशरहित दान और प्रजाकी रक्षा करे; परन्तु धर्म–बाधक कोई निंद्य कार्य न करे ॥ २३ ॥

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥

दीन, अनाथ, बूढे और विधवा स्त्रियोंकी जीविका तथा योगक्षेमका सदा प्रबन्ध करे ॥२४॥

आश्रमेषु यथाकालं चेलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपहरेद्राजा सत्कृत्यानवमन्य च ॥ २५ ॥

राजा सदा आश्रमवासियोंको सत्कार, सम्मान और आदरके सहित यथा समयमें अन्न, वस्त्र और पात्रदान अर्पित करे ॥ २५ ॥

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राज्यमेव च ।
निवेदयेत्प्रयत्नेन तिष्ठेत्प्रह्वश्च सर्वदा ॥ २६ ॥

राजा यत्नपूर्वक अपने राज्यके तपस्वियोंसे राज्यके सब कार्य और निज शरीरका वृत्तान्त कहे, तथा सदा उनके समीप नत होके निवास करे ॥ २६ ॥

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत्तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥ २७ ॥

सब स्वार्थमय वस्तुओंको त्यागनेवाला, सत्कुलमें उत्पन्न हुआ तथा बहुश्रुत तपस्वीको देखके राजा शय्या, आसन और भोजन देकर उसकी पूजा करे ॥ २७ ॥

तस्मिन्कुर्वीत विश्वासं राजा कस्यांचिदापदि ।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥ २८ ॥

राजा समस्त आपदाओंमें तपस्वियोंपर विश्वास करे; क्योंकि डाकू लोग भी तपस्वियोंका सदा विश्वास किया करते हैं ॥ २८ ॥

तस्मिन्निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च ।
न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥

राजा तपस्वीके सामने अपने सब निधियोंको रखे और उससे सलाह भी पूछे; परन्तु बार बार उसकी सेवा– आना जाना– न करे, तथा अत्यन्त सत्कार भी न करे ॥ २९ ॥

अन्यः कार्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः ।
अटवीष्वपरः कार्यः सामन्तनगरेषु च ॥ ३० ॥

निज राज्य, पर राष्ट्र, जंगल और माण्डलिक राजाओंके नगरोंमें अलग अलग तपस्वियोंको मित्र कर रखे ॥ ३० ॥

तेषु सत्कारसंस्कारान्संविभागांश्च कारयेत्।
परराष्ट्राटवीस्थेषु यथा स्वविषये तथा ॥ ३१ ॥
और निज राज्यमें रहनेवाले तपस्वियोंकी भांति पर राज्य तथा जंगलमें स्थित तपस्वियोंका भी आदर- सत्कार और सम्मानके सहित धन आदि प्रदान करे ॥ ३१ ॥

ते कस्यांचिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने।
राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ॥ ३२ ॥
क्योंकि राजा किसी भी दशामें तपस्वियोंके शरणागत होनेसे वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी लोग इच्छानुसार राजाको आश्रयदान किया करते हैं ॥ ३२ ॥

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः।
याद्दशं नगरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥
इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ ३०७६ ॥
हे युधिष्ठिर ! जैसे नगरमें राजाको स्वयं वास करना उचित नहीं है, उसके यही लक्षण और उद्देश्य मैंने संक्षेपमें तुम्हारे समीप वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥ ३०७६ ॥

: ८८ :

युधिष्ठिर उवाच—
राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन्राष्ट्रस्यैव च संग्रहम्।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! जिस प्रकार राष्ट्रकी रक्षा और राष्ट्र संस्थापन करना होता है, उसे पूरी रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं, इससे भली भांति विस्तार करके यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—
राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग्राष्ट्रस्यैव च संग्रहम्।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥
भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! राष्ट्ररक्षा और राष्ट्र संग्रह–समृद्धि जिस प्रकारसे करना होता है, वह सब मैं तुमसे पूरी रीतिसे कहता हूं, तुम एकाग्रचित्त करके सुनो ॥ २ ॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥
राजा हर एक ग्राममें एक एक पुरुषको सबका स्वामी कर रखे, अनन्तर किसीको दस गांव, किसीको बीस, किसीको सौ और किसीको सहस्र गावोंकी प्रभुता प्रदान करे ॥ ३ ॥

ग्रामे यान्ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः परिपालयेत् ।
तान्ब्रूयाद्दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥ ४ ॥

वह एक गांवका स्वामी गांववालोंके दोप और घटना–विवादोंका विचार करके उनका विवरण दस गांवके स्वामीसे कहे और इसीतरह दस गांवका स्वामी उसे वीस गांवके स्वामीसे कहे ॥ ४ ॥

सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने ।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥ ५ ॥

वह वीस गांवका स्वामी अपने जनपदके लोगोंका सब वृत्तांत तथा वह जिन जिन कार्योंको सिद्ध करे, वह सब उसे सौ ग्रामके स्वामीके निकट निवेदन करे ॥ ५ ॥

यानि ग्रामीणभोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नुयात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥ ६ ॥

ग्रामोंमें जो सब आय तथा खाने योग्य वस्तु उत्पन्न हो, एक गांवका स्वामी उन सब वस्तुओंको वह अपने पास रखकर उसमेंसे नियत अंशका उपभोग करे और वही दस गांवके स्वामीको और दस गांवका स्वामी वीस गांवके स्वामीका भरण–पोपण करे ॥ ६ ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतजनसंकुलम् ।
तत्र ह्यनेकमायत्तं राज्ञो भवति भारत ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो ग्राम वहुत वडा, धन धान्यसे सम्पन्न, उन्नत और जन समूहसे युक्त हो, सौ गांवका स्वामी सत्कारके सहित उसे ही भोगनेमें समर्थ होगा; भारत ! परन्तु सौ गावोंका स्वामी जिस गांवको भोग करेगा, वह गांव उस राजाके अनेक अधिपतियोंके अधीन रहेगा ॥ ७ ॥

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमम् ।
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रिय उद्यतः ॥ ८ ॥

और सबसे अधिक सहस्र गांवोंका सम्माननीय स्वामी राष्ट्रीय लोगोंके साथ मिलके शाखा-नगर (कसबा) और वहांके अन्न, सुवर्ण आदि सब भोगने योग्य वस्तुओंको भोगनेमें समर्थ होगा ॥ ८ ॥

तथा यद्ग्रामकृत्यं स्याद्ग्रामिकृत्यं च ते स्वयम् ।
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्प्रपश्येदतन्द्रितः ॥ ९ ॥

उन लोगोंके युक्त सम्बन्धी कार्य तथा गांवोंके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य उपस्थित होनेपर कोई धर्म जाननेवाला आलस रहित मन्त्री उसे यथार्थ रीतिसे देखे ॥ ९ ॥

नगरे नगरे च स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ।
उच्चैःस्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः ।
भवेत्स तान्परिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ॥ १० ॥

और प्रत्येक नगरमें एक एक अधिकारी सब अर्थोंका—कार्योंका चिन्तन और निरीक्षण करनेवाला रहे । जैसे महा घोर प्रबल ग्रह नक्षत्रोंके ऊपर स्थित हो घूमता रहता है; वैसे ही वह सब अर्थोंको जाननेवाला मन्त्री सब सभासदोंके ऊपर प्रतिष्ठित होकर उन लोगोंके सब कार्योंको सदा स्वयं देखें ॥ १० ॥

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजः कारयेत्करान् ॥ ११ ॥

राज्यमें माल बेचना—खरीदना, लानेका खर्च, नौकरोंका वेतन, कुल मूल्य और योगक्षेम—निर्वाह आदिका खर्च देखके ही राजा बनियोंके ऊपर कर लगावे ॥ ११ ॥

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत् ।
शिल्पप्रतिकरानेव शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥ १२ ॥

मालके उत्पत्ति, दान-वृत्ति, (खपत) तथा शिल्प कार्यको— निर्माण कार्यकी श्रेणियोंको देखके शिल्पकार्य वा शिल्पियोंके ऊपर कर निश्चित करें ॥ १२ ॥

उच्चावचकरा न्याय्याः पूर्वराज्ञां युधिष्ठिर ।
यथा यथा न हीयेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही क्यों ! जिसमें प्रजा दुःखित न हो, संकटमें न पड जाय, उसी भांति विचार करके प्रजाके ऊपर यथायोग्य— भारी वा हलका कर राजा स्थापित करे ॥ १३ ॥

फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ।
फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवर्तयेत् ॥ १४ ॥

हे राजन् ! फल अर्थात् धन धान्य और कर्म अर्थात् कृषि आदि कार्योंको पूरी रीतिसे देखके तब उस पर कर निश्चित करे, क्योंकि फल और कर्ममें किसीका स्वार्थ न रहनेसे वह कभी भी उस कार्य करनेमें प्रवृत्त नहीं होता ॥ १४ ॥

यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ।
समवेक्ष्य तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः ॥ १५ ॥

जिस उपायसे राजा और कर्म करनेवाले दोनों ही कृषि, वाणिज्य आदि कर्मके लाभके भागी हो सके, वैसा ही विचार करके राजा सदा कर स्थापित करे ॥ १५ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ।
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा संप्रीतिदर्शनः ॥ १६ ॥

जिसमें अत्यन्त लोभके कारण आत्ममूल राज्य और परमूल कृषि आदि कार्य नष्ट न हों, उसी भांति राजा लोभके दरवाजोंको बंद करके प्रजासमूहको प्रिय दर्शन होवे ऐसा वर्ताव करे ॥१६॥

प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ।
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयः संप्रियो लभते प्रियम् ॥ १७ ॥

राजाके अति शोषण करनेवाला कहके विख्यात होनेसे सब कोई उससे द्वेष किया करते हैं। जिससे सब लोग द्वेष करने लगते हैं, उसका किस भांति कल्याण हो सकेगा ? जो प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, उसे सब प्रिय लाभ मिलते हैं ॥ १७ ॥

वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ।
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत ॥ १८ ॥

हे भारत ! इसलिये जैसे लोग बछडेको भूखा न रखके गऊ दुहते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् राजा राज्यको दुहे; क्योंकि गायका बछडा दुध पीकर बलवान होनेपर अधिक कष्ट सह सकता है ॥ १८ ॥

न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत् ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे गायका दूध अधिक दुहनेसे उसका बछडा कर्म करनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही अत्यन्त दोहन करनेसे राष्ट्र भी दरिद्र होनेसे महान् कर्म नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिगृह्य स्वयं नृपः ।
संजातमुपजीवन्स लभते सुमहत्फलम् ॥ २० ॥

जो राजा स्वयं कृपा करके राष्ट्रकी सब भांतिसे रक्षा– धारणा करता है, वह बहुत समय तक उसकी प्राप्त हुई आयसे जीवित रहके महान् फल लाभ कर सकता है ॥ २० ॥

आपदर्थं हि निचयान्राजान इह चिन्वते ।
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात्कोशो वेश्मगतस्तथा ॥ २१ ॥

आपत्तिके कालमें उपयोगमें लानेके लिये ही राजा अपने राष्ट्रमें लोगोंके पाससे धनको इकठ्ठा करे; राजा राज्यको कोषभूत करके राष्ट्रको गृहके भीतर रक्खा हुआ कोष समझे ॥ २१ ॥

पौरजानपदान्सर्वान्संश्रितोपाश्रितांस्तथा ।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वानभ्यन्तरानपि ॥ २२ ॥

पुर और जनपदके लोग शरणमें आये हों या किसीके आश्रयसे शरणागत हुए हों राजा उन सब अल्प धनवाले भीतरी लोगोंके ऊपर सामर्थ्यके अनुसार कृपा करे ॥ २२ ॥

बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम् ।
एवं न संप्रकुप्यन्ते जनाः सुखितदुःखिताः ॥ २३ ॥

बाह्य अर्थात् आटविक डाकुओंको राज्यसे प्रत्याख्यान– भेद करके मध्यम अर्थात् गांवके लोगोंके निकट सुखसे धन ग्रहण करे, ऐसा होनेसे सुखी वा दुःखी दोनों प्रकारके मनुष्य उसके ऊपर क्रुद्ध नहीं होंगे ॥ २३ ॥

प्रागेव तु करादानमनुभाष्य पुनः पुनः ।
संनिपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥ २४ ॥

और " राजाको कर लेनेकी आवश्यकता है, " इसी भांति पहिले निज राज्यमें बार बार सर्वत्र घूमकर सूचना करे और राष्ट्रपर आनेवाले भयकी ओर ध्यान आकर्षित करे ॥ २४ ॥

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत् ।
अपि नान्ताय कल्पेत वेणोरिव फलागमः ॥ २५ ॥

उसके अनन्तर इच्छानुसार ग्राममें प्रजा समूहको ऐसा कहके भय दिखावे कि शत्रुओंके महान् आक्रमणरूपी एक आपदा उत्पन्न हुई है; बांसमें फल लगनेकी भांति वह आपद नाशकी मूल होगी तो भी नाशकी कल्पना नहीं करना ॥ २५ ॥

अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह ।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥ २६ ॥

हमारे शत्रु अपने ही नाशके वास्ते ही बहुतसे डाकुओंके सङ्ग प्रबल होके इस राज्यको पीडित करनेकी अभिलाषा करते हैं ॥ २६ ॥

अस्यामापदि घोरायां संप्राप्ते दारुणे भये ।
परित्राणाय भवतां प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २७ ॥

इस उपस्थित घोर आपद तथा प्रचण्ड भयसे मैं तुम लोगोंका परित्राण करनेके लिये तुम लोगोंसे धन ग्रहण करनेकी इच्छा करता हूं ॥ २७ ॥

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये ।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥ २८ ॥

उपस्थित भय नष्ट होनेपर ही मैं तुम लोगोंको सब धनको फिर वापस कर दूंगा; परन्तु शत्रु लोग बलपूर्वक इस राज्यसे जो धन हरण करेंगें, उसे वे फिर कभी नहीं लौटा देंगे ॥ २८ ॥

कलत्रमादितः कृत्वा नश्येस्त्वं स्वयमेव हि ।
अपि चेत्पुत्रदारार्थमर्थसंचय इष्यते ॥ २९ ॥

शत्रुओंका आक्रमण होनेपर पहले तुम्हारी स्त्रियोंपर भय आयगा; तुम स्वयं ही अपने धनको नष्ट करेंगे । स्त्री और पुत्रोंकी रक्षाके वास्ते धन सञ्चय करनेकी आवश्यकता रहती है ॥ २९ ॥

नन्दामि वः प्रभावेन पुत्राणामिव चोदये ।
यथाशक्त्यनुगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३० ॥

जैसे पुत्रोंकी उन्नतिसे पिताको प्रसन्नता होती है, वैसे ही तुम्हारी समृद्धिसे मैं आनन्द अनुभव करता हूं; राष्ट्र पर आये हुए संकटका निवारण करनेके लिये मैं आप- राष्ट्रके लोगोंको कष्ट दिये विना आपकी शक्तिके अनुसार धन ग्रहण करूंगा ॥ ३० ॥

आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः सद्गवैरिव ।
न वः प्रियतरं कार्यं धनं कस्यांचिदापदि ॥ ३१ ॥

जैसे उत्तम सुदृढ बैल दुर्गम स्थानोंमें गुरुभार ढोकर पहुंचाते हैं, वैसे ही तुम लोगोंको इस आपदके समयमें कुछ भार उठाना पडेगा । देखो, कोई आपद उपस्थित होनेपर उस समय धनको अत्यन्त प्रिय समझकर उसे छिपाये रखना आपको उचित नहीं है ॥ ३१ ॥

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया ।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्युगमादाय कालवित् ॥ ३२ ॥

अनन्तर समयकी विधिको जाननेवाला राजा इस भांति विनीत तथा मधुर वचनोंसे प्रजा-समूहको समझाकर योग अर्थात् धन ग्रहण करनेका उपाय अवलम्बन करके उसके अनुसार निज सेवक तथा पदातिसमूहको प्रजाके निटकसे धन ग्रहण करनेके लिये भेजे ॥ ३२ ॥

प्रचारं भृत्यभरणं व्ययं गोग्रामतो भयम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत्करान् ॥ ३३ ॥

राजा प्रचार कार्य, सेवकों और सैनिकोका भरण-पोपण, दूसरे आवश्यक व्यय, युद्धके भयका निवारण और सबका योगक्षेम करना है, इनकी आवश्यकता दिखाकर वैश्योंके ऊपर कर लगावे ॥ ३३ ॥

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः ।
तस्मात्तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥ ३४ ॥

यदि राजा वैश्योंके हितकी उपेक्षा करके उन्हें कर के लिये कष्ट पहुंचाता है तो वे राज्य छोडकर वनमें जाकर रहते हैं; इसलिये विशेप करके उनके विपयमें मृदुता पूर्ण आचरण करना होगा ॥ ३४ ॥

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः ।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यं संविभागाः प्रियाणि च । ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! सदा वैश्योंको सान्त्वना-धीरज दे, उनकी रक्षा-पालन करे, उन्हें धनकी सहायता दे, उनकी उत्तम अवस्था रहे ऐसा प्रबंध करे, आवश्यक वस्तुएं अर्पित करे और उनके प्रिय कार्य करना उचित है ॥ ३५ ॥

×

अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु सर्वतः ।
प्रभावयति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा ॥ ३६ ॥

वैश्योंको व्यापारियोंको सदा उनके कष्टका फल देना योग्य है; क्योंकि वे ही कृषि और व्यवसायसे राष्ट्रकी वृद्धि किया करते हैं ॥ ३६ ॥

तस्माद्गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद्विचक्षणः ।
दयावानप्रमत्तश्च करान्संप्रणयन्मृदून् ॥ ३७ ॥

इसलिये बुद्धिमान् राजा यत्नपूर्वक वैश्योंके ऊपर प्रीति भाव बनाये रखे और दयावान तथा सावधान होके उन लोगोंके ऊपर कोमल कर स्थापित करे ॥ ३७ ॥

सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं तात गोमिभिः ।
न ह्यतः सदृशं किंचिद्धनमस्ति युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ ३११४ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस ही कारण राज्यमें सर्वत्र ही वैश्योंके वास्ते कुशल पूर्वक विचरण करना सुलभ होवे ऐसा प्रबंध राजा करे इसके समान उत्तम धन दूसरा कुछ भी नहीं देखा जाता ॥३८॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ ३११४ ॥

: ८९ :

युधिष्ठिर उवाच—

यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते ।
कथं प्रवर्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबुद्धिमान् पितामह ! राजा समर्थ होकर भी यदि वह कोष वृद्धिकी अभिलाप करे, तो किस भांति उस विषयमें प्रवृत्त होवे, उसे मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥१॥

भीष्म उवाच—

यथादेशं यथाकालमपि चैव यथाबलम् ।
अनुशिष्यात्प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— धर्मशील राजा प्रजाका हितैषी होकर देश और कालका ध्यान रखकर अपने बलके अनुसार प्रजाको शासन करे ॥ २ ॥

यथा तासां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च ।
तथा धर्म्याणि सर्वाणि राजा राष्ट्रे प्रवर्तयेत् ॥ ३ ॥

अपनी और प्रजासमूहकी जिस प्रकारसे सदा मङ्गलकामना की जाती है, वैसे ही राज्यके सब धार्मिक कार्योंको भली भांति सिद्ध करना होगा ॥ ३ ॥

मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न विपातयेत् ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥ ४ ॥

जैसे बछडे माताके स्तनको न काटके केवल दूध दोहन करते और जैसे लोग मधुमक्षियोंके पीडित न करके मधु पान करते हैं, वैसे ही राजा राष्ट्ररूपी गौसे धन ग्रहण करे ॥ ४ ॥

जलौकावत्पिबेद्राष्ट्रं मृदुनैव नराधिप ।
व्याघ्रीव च हरेत्पुत्रमदष्ट्वा मा पतेदिति ॥ ५ ॥

राजन् ! जैसे बाघिन निज बच्चेको अपने दांतसे पकडके वह नीचे नहीं गिरे यह देखकर हरण करती है, तथा जोक जैसे मृदुभावसे लोहू पीती है; राजा भी उसी भांति कोमलभावसे राष्ट्रका दोहन करे ॥ ५ ॥

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः कामं वृद्धिं समाचरेत् ॥ ६ ॥

प्रजाको पालन करनेवाला राजा पहिले प्रजाके निकटसे थोडा थोडा कर वसूल करके बढाते हुए दूसरे वर्षमें अधिक करके धीरे धीरे बढावे फिर उसमें थोडी इच्छानुसार वृद्धि करके बढाता रहे ॥ ६ ॥

दमयन्निव दम्यानां शश्वद्भारं प्रवर्धयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥ ७ ॥

जैसे वत्सोंको अत्यन्त यत्नके सहित पाश ग्रहण कराके क्रमसे भार बढाके दमन करना होता है, वैसे ही प्रजापर भी पहले करका भार कम रखकर, धीरे धीरे उसे बढावे ॥ ७ ॥

सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः ।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः ॥ ८ ॥

जैसे बछडोंको सदा पाशमें बन्धकर उनपर भार रखे तो उन्हें वशमें रखना कठिन हो जायगा; इसलिये योग्य प्रयत्नसे उन्हें भार ढोनेके उपयोगमें लाना चाहिये; इससे वे पूरा भार वहन करनेके समर्थ होंगे ॥ ८ ॥

तस्मात्सर्वसमारम्भो दुर्लभः पुरुषव्रजः ।
यथामुख्यान्सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः ॥ ९ ॥

सभी पुरुषोंके समुदायको वशमें करनेका प्रयत्न दुष्कर है, इसलिये मुख्य पुरुषोंको मधुर वाणीसे शान्त करके अपने वशमें कर, इतर लोगोंको उपयोगमें लगना होगा ॥ ९ ॥

ततस्तान्भेदयित्वाथ परस्परविवक्षितान् ।
भुञ्जीत सान्त्वयित्वैव यथासुखमयत्नतः ॥ १० ॥

इसके अनन्तर राजा मुख्य पुरुषोंके जरिये उस कर भारको उठानेवाले परस्पर विचारवाले प्रजासमूहमें भेद कराके स्वयं उन्हें शान्त करते हुए प्रयत्नके सहित सबका सुख पूर्वक भोग करे ॥१०॥

न चास्थाने न चाकाले करानेभ्योऽनुपातयेत् ।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥ ११ ॥

परिस्थिति और समयके प्रतिकुल प्रजा– लोगोंके ऊपर कर भार अर्पण न करे; परन्तु समय और नियमके अनुसार शान्तवादसे धीरे धीरे करभार अर्पण करे ॥ ११ ॥

उपायान्प्रब्रवीम्येतान्न मे माया विवक्षिता ।
अनुपायेन दमयन्प्रकोपयति वाजिनः ॥ १२ ॥

मैंने यह सब उत्तम उपाय कहे, परन्तु छल-कपटकी बात मुझे विवक्षित नहीं है; देखिये घोडोंको उचित उपायके विरुद्ध मनमाने दमन करनेसे वे अत्यन्त ही कोपित हो जाते हैं ॥१२॥

पानागाराणि वेशाश्च वेशप्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥ १३ ॥

और राज्यके बीच मद्यशाला, तथा राज्यके उपघातक वेश्या, कुटनी, वेश्याओंके दलाल, जुआरी और दूसरे इस भांतिके जो मनुष्य निवास करें ॥ १३ ॥

नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रे हि तिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ १४ ॥

ये सब राष्ट्रको हानि पहुंचानेवाले हैं, इसलिये राजा उन सब लोगोंको दण्ड देकर दबाये रक्खे; क्योंकि उनके राज्यमें टिके रहनेपर वे उत्तम प्रजाको अत्यन्त क्लेशित करेंगे ॥ १४ ॥

न केनचिद्याचितव्यः कश्चित्किंचिदनापदि ।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥ १५ ॥

किसी आपदके कालको छोडकर अन्य समयमें किसीके समीप धन तथा कर कुछ न मांगे; मनु पहिले प्राणियोंके वास्ते ऐसी ही व्यवस्था स्थापित कर गये हैं ॥ १५ ॥

सर्वे तथा न जीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह ।
सर्व एव त्रयो लोका न भवेयुरसंशयम् ॥ १६ ॥

ऐसी व्यवस्था न होती तो सब जीवित नहीं रहते और कोई भी यहां कर्म नहीं करता; ऐसी दशामें ये तीनों लोक निःसंदेह ही नष्ट हो जाते ॥ १६ ॥

प्रभुर्नियमने राजा य एतान्न नियच्छति ।
भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ।
तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते ॥ १७ ॥

ऐसी जन श्रुति है, कि राजा ही सब प्राणियोंका शासन करनेवाला है; उससे जो राजा समर्थ होकर भी पापी पुरुषोंको काबूमें नहीं रखता, उसे उनके किये हुए पापका चौथा भाग भोग करना पडता है; पापियोंका दमन करनेवाला राजा प्रजाके धर्मका चौथाई भाग स्वयं प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

स्थानान्येतानि संगरुध्य प्रसङ्गे भूतिनाशनः ।
कामप्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥ १८ ॥

राजा भली भांति मद्य आदिकोंके स्थानको योग्य स्थानमें नियंत्रित करके स्थित करे; नहीं तो उसमें कामकी आसक्ति बढती है, और वह ऐश्वर्यको नष्ट करती है क्योंकि कामासक्त पुरुष कौनसा ऐसा अकार्य है, जिसे छोड दे ? ॥ १८ ॥

आपद्येव तु याचेरन्येषां नास्ति परिग्रहः ।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद्दयार्थिना ॥ १९ ॥

हे राजन् ! जिन लोगोंके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, आपदकालमें उन लोगोंके याचना करनेपर राजा उनके ऊपर कृपा करके धर्मपूर्वक उन दयार्थिको धन दान करे ॥ १९ ॥

मा ते राष्ट्रे याचनका मा ते भूयुश्च दस्यवः ।
इष्टादातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २० ॥

तुम्हारे राज्यमें याचक और डाकुओंको कभी वास करने न देना; क्योंकि ये लोग प्राणियोंके भलाईकी इच्छा न करके केवल मात्र अनिष्ठ आचरण किया करते हैं ॥ २० ॥

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः ।
ते ते राष्ट्रे प्रवर्तन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २१ ॥

जो प्राणियोंके ऊपर कृपा करते और जो लोग प्रजाकी बढती करते हैं, वेही तुम्हारे राज्यमें निवास करें । पाणियोंके नाशक लोग वास न करने पावे ॥ २१ ॥

दण्डयास्ते च महाराज धनादानप्रयोजनाः ।
प्रयोगं कारयेयुस्तान्यथा बलिकरांस्तथा ॥ २२ ॥

हे महाराज ! जो अधिकारी पुरुष निर्दिष्ट करके अतिरिक्त धन वसूल करते वा कराते हैं, वे तुम्हारेसे दण्डनीय होवें; अनन्तर दूसरे अधिकारी पुरुष यथार्थ कर वसूल करनेके वास्ते उन लोगोंको फिर नियुक्त करें ॥ २२ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ।
पुरुषैः कारयेत्कर्म बहुभिः सह कर्मभिः ॥ २३ ॥

कृपि, गोरक्षा, वाणिज्य और ऐसे ही दूसरे जो कुछ कर्म उपस्थित हों, उसे कर्मकुशल अनेक पुरुषोंसे सिद्ध कराना होगा; ऐसा न करनेसे कर्म नष्ट होगा ॥ २३ ॥

नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यं वाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः ।
संशयं लभते किंचित्तेन राजा विगर्ह्यते ॥ २४ ॥

यदि मनुष्य कृपि, गोरक्षा और वाणिज्य कार्यका अनुष्ठान करके चोर वा राजकीय लोगोंसे कुछ प्राण–संशय युक्त हों, तो: उसके वास्ते राजाको लोगोंके समीप निन्दित होना पडता है ॥ २४ ॥

धनिनः पूजयेन्नित्यं यानाच्छादनभोजनैः ।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति ह ॥ २५ ॥

राजा भोजन, वाहन और वस्त्रोंसे सदा धनवान व्यक्तियोंका संमान करे और उन लोगोंको मेरे सहित मेरी प्रजाके ऊपर कृपा करो, ऐसा विनयपूर्वक वचन कहे ॥ २५ ॥

अङ्गमेतन्महद्राज्ञां धनिनो नाम भारत ।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ २६ ॥

हे भारत ! धनवान पुरुष ही राजाओंके महान् अङ्ग हैं और धनवान् पुरुष सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २६ ॥

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च ।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चाभिरक्षति ॥ २७ ॥

ज्ञानी, शूर, धनी, स्वामी, धर्मात्मा, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजाकी रक्षा किया करते हैं ॥ २७ ॥

तस्मादेतेषु सर्वेषु प्रीतिमान्भव पार्थिव ।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥ २८ ॥

हे महाराज ! इसलिये तुम इन सब जीवोंमें प्रीतियुक्त होके, सत्य, सरलता, अक्रोध और दयालता आदि धर्मोंका पालन करो ॥ २८ ॥

एवं दण्डं च कोशं च मित्रं भूमिं च लप्स्यसे ।
सत्यार्जवपरो राजन्मित्रकोशसमन्वितः ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ ३१४३ ॥

हे राजन् ! तुम सत्य और सरलताके सहारे मित्र कोष और बलसे युक्त होनेपर निश्चय ही दण्ड, कोष, मित्र और भूमि लाभ करनेमें समर्थ होगे ॥ २९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ ३१४३ ॥

: ९० :

भीष्म उवाच—

वनस्पतीन्भक्ष्यफलान्न छिन्द्युर्विषये तव ।
ब्राह्मणानां मूलफलं धर्म्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! जिनके फल खानेके काम आते हैं, तुम्हारे राज्यमें वैसे वृक्षोंको कोई न काटने पावे; पण्डित लोग मूल और फलको ही ब्राह्मणोंका धन और धर्म कहा करते हैं ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तं च भुञ्जीरन्नितरे जनाः ।
न ब्राह्मणोपरोधेन हरेदन्यः कथंचन ॥ २ ॥

दूसरे लोग ब्राह्मणोंसे जो बचे उसीको भोग करें; इससे ब्राह्मणोंको प्रतिबन्ध करके दूसरे लोग किसी प्रकारसे ग्रहण न करें ॥ २ ॥

विप्रश्चेत्त्यागमातिष्ठेदाख्यायावृत्तिकर्शितः ।
परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात्सदारस्य नराधिप ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! यदि ब्राह्मण जीविकाका प्रबन्ध न होनेसे दुर्बल होके अपने परित्राणके वास्ते दूसरे स्थानमें गमन करने लग जाय तो परिवारके सहित उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था कर देवे ॥ ३ ॥

स चेन्नोपनिवर्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि ।
कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति ॥ ४ ॥

यदि वह उससे भी निवृत्त न हो, तो ब्राह्मण सभा मण्डलीमें जाकर राजा उससे कहे कि आप चले जायंगे तो ये लोग किससे धर्ममर्यादाका आचरण करेंगे ? ॥ ४ ॥

असंशयं निवर्तेत न चेद्वक्ष्यत्यतः परम् ।
पूर्वं परोक्षं कर्तव्यमेतत्कौन्तेय शासनम् ॥ ५ ॥

हे कौन्तेय ! यह सुनकर वह निश्चय ही लौटेगा; इसके अनन्तर यद्यपि वहां कुछ न कहें तो राजा इस प्रकार बोले— मेरे पूर्व अपराधका वृत्तान्तको आप भूल जावँ । इस प्रकार उसे प्रसन्न करना राजाका कर्तव्य है ॥ ५ ॥

आहुरेतज्जना ब्रह्मन्न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम् ।
निमन्त्र्यश्च भवेद्भोगैरवृत्त्या चेत्तदाचरेत् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणको भोगका अभाव हो तो भोग दान करनेके लिये आमंत्रित करे तथा जीविकाका अभाव हो तो उसकी व्यवस्था करे, ऐसा लोग कहते हैं; परंतु मैं इसपर विश्वास नहीं करता ॥ ६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान्भावयत्युत ॥ ७ ॥

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि कर्मोंसे ही इस लोकमें प्राणियोंकी जीविका निर्वाह होती है और तीनों वेद ऊपरके लोकोंमें भी रक्षा करते हैं, वेदविद्या ही प्राणियोंकी वृद्धि करती है ॥ ७ ॥

तस्यां प्रयतमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः ।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ ८ ॥

इस संसारमें प्रवर्त्तमान उस वेदविद्याके विषयमें जो सब डाकू लोग विरुद्धता करते हैं; उनके नाश करनेके वास्ते ब्रह्माने क्षत्रिय जातिको उत्पन्न किया है ॥ ८ ॥

शत्रूञ्जहि प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ ९॥

हे राजन्! कुरुनन्दन! तुम शत्रुओंको जीतो, प्रजाकी रक्षा करो, अनेक दक्षिणाके सहित यज्ञ करो और युद्धभूमिमें वीरतायुक्त युद्ध करो ॥ ९॥

संरक्ष्यान्पालयेद्राजा यः स राजार्यकृत्तमः।
ये केचित्तान्न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥ १०॥

जो राजा रक्षा करनेके योग्य प्राणियोंको सदा पालन करता है, वही आर्य राजाओंमें उत्तम है; और जो उनकी रक्षा नहीं करते, उन राजाओंकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १०॥

सदैव राज्ञा बोद्धव्यं सर्वलोकाद्युधिष्ठिर।
तस्माद्धेतोर्हि भुञ्जीत मनुष्यानेव मानवः ॥ ११॥

हे युधिष्ठिर! राजा सदा सब लोगोंके कल्याणके लिये उनका मन्तव्य जाने; इसलिये वह श्रेष्ठ पुरुष मनुष्योंको ही गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ११॥

अन्तरेभ्यः परान्रक्षन्परेभ्यः पुनरन्तरान्।
परान्परेभ्यः स्वान्स्वेभ्यः सर्वान्पालय नित्यदा ॥ १२॥

इससे तुम आत्मीय लोगोंसे बाहरी लोगोंकी रक्षा करो और पराए लोगोंसे आत्मीयोंका तथा परायोंसे पराये और आत्मीयोंसे रक्षण करो; आत्मीयोंका सदा पालन करो ॥ १२॥

आत्मानं सर्वतो रक्षन्राजा रक्षेत मेदिनीम्।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्हि विदुषो जनाः ॥ १३॥

राजा सब ओरसे अपनी रक्षा करते हुए पृथ्वीकी रक्षा करे; क्योंकि पण्डित लोग आत्म-रक्षाको ही सबका मूल कहा करते हैं ॥ १३॥

किं छिद्रं कोऽनुषङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम्।
कुतो मामास्रवेद्दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ १४॥

मेरा छिद्र—दोष क्या है, कौनसी आसक्ति होरही है, अविनिपातित बुराई जो दूर नहीं हैं—क्या हैं, कहांसे मुझे दोष आश्रय करता है, इन सब विषयोंको राजा सदा विचार करता रहे ॥ १४॥

गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुचारयेत्।
सुनीतं यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः ॥ १५॥

इन सब विषयोंके अनुसन्धान करनेके वास्ते आज्ञाकारी गुप्त दूतोंको पृथ्वीपर सब ओर भेजे। मेरा यह कार्य यदि प्रजाको मालूम हुआ हो, तो वह पुनर्वार उसकी प्रशंसा करती है, वा नहीं? जनपद और राज्यके बीच मेरा यश प्रजाके अभिलषित हुआ है, वा नहीं? ॥ १५॥

धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम् ।
राष्ट्रं च येऽनुजीवन्ति ये च राज्ञोऽनुजीविनः ॥ १६ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो धर्म जाननेवाले, धैर्यशाली तथा युद्धसे कभी न भागनेवाले वीर हैं, जो राष्ट्रमें ही रहकर जीविका चलाते हैं तथा जो लोग राजाके आश्रित रहके जीवित रहते हैं ॥ १६ ॥

अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानां च सर्वशः ।
ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथ वा पुनः ।
सर्वान्सुपरिणीतांस्तान्कारयेत युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

वे लोग और जो मन्त्री तथा मध्यस्थ–तटस्थ लोग है, वे भी तुम्हारी प्रशंसा वा निन्दा करें; उन सबको तुम्हें आदर सत्कार ही करना चाहिये ॥ १७ ॥

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम् ।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥ १८ ॥

हे तात ! कोई भी काम सबको इकबारगी अभिलषित होना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि सब प्राणियोंमें ही मित्र, शत्रु और मध्यस्थ विद्यमान होते हैं ॥ १८ ॥

तुल्यबाहुबलानां च गुणैरपि निषेविनाम् ।
कथं स्यादधिकः कश्चित्स तु भुञ्जीत मानवान् ॥ १९ ॥

समान बाहु बल और तुल्य गुणशाली मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य किस कारणसे सबसे प्रबल होता है तथा वह पुरुष किस कारणसे सब लोगोंपर शासन करने लगता है ? ॥ १९ ॥

ये चरा ह्यचरानद्युरदंष्ट्रान्दंष्ट्रिणस्तथा ।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजगा भुजगानिव ॥ २० ॥

जैसे क्रुद्ध विषधारी प्रबल सर्प निर्बल सांपोंका भक्षण करते हैं, जैसे पैरोंसे चलनेवाले प्राणी न चलनेवालोंको और दांतवाले जंतु बिन दांतवालोंको भक्षण किया करते हैं ॥ २० ॥

एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात्सदा यत्तो युधिष्ठिर ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २१ ॥

हे युधिष्ठिर ! इसलिये इन सब प्राणियोंसे यत्नपूर्वक राजा सदा सावधान न रहे; क्योंकि प्रमाद उपस्थित होनेपर ये सब गिद्धकी भांति सहसा टूट पडते हैं ॥ २१ ॥

कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ते करार्दिताः ।
क्रीणन्तो बहु वाल्पेन कान्तारकृतनिश्रमाः ॥ २२ ॥

तुम्हारे राज्यमें थोडे और अधिक मूल्यसे क्रय करनेवाले और व्यापारके लिये दुर्गम प्रदेशोंमें घुमनेवाले वणिक लोग तुम्हारे राज्यमें कर भारसे पीडित होके व्याकुल तो नहीं होते हैं ? ॥२२॥

×

कच्चित्कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः ।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां संभरन्तीतरानपि ॥ २३ ॥

जो राजाओंके बृहत् भारको उठाते और सब साधारण लोगोंका भरण–पोषण करते हैं, वे कृषक लोग कर भारसे अत्यंत पीडित होके तुम्हारे राज्यको परित्याग नहीं करते हैं ? ॥२३॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा ।
मनुष्योरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २४ ॥

और इन्हींके दिये हुए अन्नसे देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस, पशु और पक्षी सबका भरण होता है ॥ २४ ॥

एषा ते राष्ट्रवृत्तिश्च राष्ट्रगुप्तिश्च भारत ।
एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि पाण्डव ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ ३१६८ ॥

हे भारत ! यही तुम्हारे राज्य व्यवहार और राज्य रक्षाकी कथा कही है । हे पाण्डव ! यही विषयका अवलम्बन करके आगे कहूंगा ॥ २५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें नव्येवां अध्याय समाप्त ॥ ९० ॥ ३१६८ ॥

: ९१ :

भीष्म उवाच—

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! ब्रह्मवित्तम अङ्गिरापुत्र उतथ्यने युवनाश्व– पुत्र मान्धाताके ऊपर प्रसन्न होकर उनसे जिन सब क्षत्रिय धर्मोंको कहा था ॥ १ ॥

स यथानुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर ॥ २ ॥

तथा जिस प्रकार ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ उतथ्यने उन्हें उपदेश किया था, वह सब मैं तुमसे पूरी रीतिसे कहता हूं ॥ २ ॥

उतथ्य उवाच—

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
मान्धातरेवं जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥

उतथ्य बोले– हे मान्धाता ! तुम यह निश्चय जान रखो, कि धर्मका पालन और प्रचार करनेके लिये ही राजा होता है, कामोपभोगके लिये राजा नहीं हो सकता; राजा ही सब जगत्की रक्षा किया करता है ॥ ३ ॥

राजा चरति वै धर्मं देवत्वायैव गच्छति ।
न चेद्धर्मं स चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥

राजा यदि धर्मका आचरण करे, तो देवत्व प्राप्त कर सकता है और यदि वह अधर्मका आचरण करे, तो नरकगामी हुआ करता है ॥ ४ ॥

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥

सब प्राणी धर्ममें स्थित रहते हैं और धर्म राजामें निवास किया करता है । जो राजा उस धर्मकी उत्तम रीतिसे रक्षा करके उसके अनुसार राज्यशासन करता है, वही पृथ्वीका स्वामी होता है ॥ ५ ॥

राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान्पाप उच्यते ।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥ ६ ॥

जो राजा श्रीमान् और परम धर्मशील होता है, लोग उसे ही साक्षात् धर्म कहा करते हैं । जो राजा धर्मका पालन नहीं करता, तो लोग देवताओंकी निंदा करते हैं और वह धर्मात्मा नहीं पापात्मा कहा जाता है ॥ ६ ॥

अधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते ।
तदेव मङ्गलं सर्वं लोकः समनुवर्तते ॥ ७ ॥

जो लोग अधर्ममें विद्यमान रहते हैं; उनकी ही प्रयोजन सिद्धि होती दीख पडती है, सब जगत् उस सब मङ्गलमय धर्मके अनुगामी होता है ॥ ७ ॥

उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान् ।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ॥ ८ ॥

पण्डित लोग कहा करते हैं, कि मनुष्योंके जब पाप निवारित नहीं होते तब उनके धर्मकी हानि होकर अधर्मकी बढती होती है, और दिन रात प्रजाको भय हुआ करता है ॥ ८ ॥

न वेदाननुवर्तन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ।
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते ॥ ९ ॥

जब तक पाप दूर नहीं होता तब तक व्रत करनेवाला द्विजाति लोग वेदधर्मका अनुसरण नहीं करते और ब्राह्मण लोग यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमें भी समर्थ नहीं होते ॥ ९ ॥

वध्यानामिव सर्वेषां मनो भवति विह्वलम् ।
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते ॥ १० ॥

हे महाराज ! जबतक पाप दूर नहीं होता तब तक मनुष्योंका मन वध करने योग्योंकी तरह विह्वल हुआ करता है ॥ १० ॥

उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ।
असृजन्सुमहद्भूतमयं धर्मो भविष्यति ॥ ११ ॥

स्वयं ऋषि लोगोंने दोनों लोकोंको अवलोकन करके अत्यंत शक्तिमान् राजाकी उत्पत्ति की; उन्होंने विचार किया कि "यह पुरुष साक्षात् धर्म स्वरूप होगा" ॥ ११ ॥

यस्मिन्धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन्विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥ १२ ॥

इसलिये जिसमें धर्म विराजमान रहता है, उसे राजा कहा करते हैं और जिसमें धर्मका लय हो गया है उसे देवता लोग वृपल कहते हैं ॥ १२ ॥

वृषो हि भगवान्धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १३ ॥

भगवान् धर्मका नाम वृष है; जो धर्मके विपयमें 'अलम्' कहता है, देवता लोग उसे ही वृपल कहा करते हैं । इसलिये राजा धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये ॥ १३ ॥

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन्ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं प्रवर्धयेत् ॥ १४ ॥

धर्मकी बढती होनेसे सब प्राणियोंकी भी सदा उन्नति हुआ करती है; और धर्मका ह्रास होनेसे सबका क्षय होता है; इसलिये धर्मकी सदा ही विशेष रूपसे वृद्धि करे ॥ १४ ॥

धनात्स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः ।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥ १५ ॥

हे पुरुषेन्द्र ! धनसे धर्मकी उत्पत्ति होती है; तथा सबको धारण करनेके कारण वह निश्चित ही धर्म कहा जाता है; वह अकार्योंकी सीमाका नाशक कहके वर्णित हुआ है ॥ १५ ॥

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयंभुवा ।
तस्मात्प्रवर्धयेद्धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥ १६ ॥

स्वयम्भू ब्रह्माने प्राणियोंकी उन्नतिके वास्ते ही धर्मको प्रकट किया है, इसलिये राजा प्रजाके ऊपर कृपा करनेके लिये धर्मकी वृद्धि करे ॥ १६ ॥

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठ इति स्मृतः ।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत्पुरुषर्षभः ॥ १७ ॥

हे राजशार्दूल ! इस ही कारणसे धर्मको श्रेष्ठ कहके माना गया है; जो हितकारी पुरुषश्रेष्ठ धर्मपूर्वक प्रजापालन करता है, वही राजा है ॥ १७ ॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालयेत् ।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥ १८ ॥

हे भतरसत्तम ! धर्म ही राजाओंके निमित्त सबसे बढकर अत्यन्त कल्याणदायक है; इसलिये तुम काम–क्रोध त्यागके केवल धर्मका ही सदा पालन करो ॥ १८ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणा योनिस्तस्मात्तान्पूजयेत्सदा ।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कामान्कुर्यादमत्सरी ॥ १९ ॥

हे मान्धाता ! ब्राह्मण धर्मकी मूल योनि है, इसलिये उन ब्राह्मणोंका सदा सत्कार करे और मत्सरता रहित होकर उनकी कामना पूरी करे ॥ १९ ॥

तेषां ह्यकामकरणाद्राज्ञः संजायते भयम् ।
मित्राणि च न वर्धन्ते तथामित्रीभवन्त्यपि ॥ २० ॥

उनकी इच्छा पूर्ण न करनेसे राजाओंको भय उपस्थित होता है, और मित्रोंकी वृद्धि न होकर शत्रुओंकी उत्पत्ति होती है ॥ २० ॥

ब्राह्मणान्वै तदासूयाद्यदा वैरोचनो बलिः ।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद्यास्मिन्नासीत्प्रतापिनी ॥ २१ ॥

विरोचनपुत्र बलि सदा ब्राह्मणोंके साथ असूया करते थे, इसहीसे श्रीदेवी– जो शत्रुओंको दुःख देनेवाली थी उनसे सन्तापित होके उन्हें परित्याग करके चली गई ॥ २१ ॥

ततस्तस्मादपक्रम्य सागच्छत्पाकशासनम् ।
अथ सोऽन्वतपत्पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरंदरे ॥ २२ ॥

बलिका परित्याग करके वह श्रीदेवी– लक्ष्मी देवराज इन्द्रके पास गयी; अनन्तर बलि श्रीको इन्द्रके समीप देखके अत्यन्त ही शोकित हुए ॥ २२ ॥

एतत्फलमसूयाया अभिमानस्य चाभिभो ।
तस्माद्बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वा जह्यात्प्रतापिनी ॥ २३ ॥

हे विभु मान्धाता ! यह असूया और अभिमानका फल है। तुम भी देखो, शत्रुओंको संतापित करनेवाली श्री तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध होके तुम्हें परित्याग न करे ॥ २३ ॥

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन्नीताः सुबहुशो वशम् ॥ २४ ॥

ऐसा श्रुतिका कहना है, कि श्रीका पुत्र दर्प अधर्मसे उत्पन्न हुआ है; राजन् ! तुम यह निश्चय जान रखो, कि अनेक देवता, असुर और राजर्षियोंको उसनेही अपने वशमें करके उनका नाश किया है ॥ २४ ॥

राजर्षयश्च बहवस्तस्माद्बुध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २५ ॥

उसे जय करनेसे ही पुरुष राजा होता है और उसके समीप पराजित होनेसे ही दास हुआ करता है ॥ २५ ॥

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवसे ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत्स्थातुमिच्छसि ॥ २६ ॥

हे मान्धाता ! यदि तुम चिरकालतक राजगद्दीपर रहनेकी इच्छा करते हो, तो तुमसे दर्प और अधर्मको सेवन हो, ऐसा ही वर्ताव करो ॥ २६ ॥

मत्तात्प्रमत्तात्पोगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।
तदभ्यासादुपावर्तादहितानां च सेवनात् ॥ २७ ॥

मत्त, प्रमत्त, बालक और विशेषतः पागलोंसे बचो; उनके समीप न जावो; उनके साथ परिचय तथा उन अकल्याणकारीयोंकी सेवासे दूर रहो ॥ २७ ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद्विषमाद्दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात्सरीसृपात् ॥ २८ ॥

दण्डित मन्त्री, विशेष करके स्त्री, ऊंचे-नीचे और दुर्गम पहाड, हाथी, घोडे तथा सापोंसे राजा बचकर रहे ॥ २८ ॥

एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तंचर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यायं चातिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥ २९ ॥

इन सबकी ओरसे सदा सावधान रहे, रात्रिके समय घूमना छोड दे; और व्यसन, अत्यंत अभिमान, दम्भ और क्रोधका त्याग करे ॥ २९ ॥

अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च ।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः ॥ ३० ॥

अपरिचित स्त्रियां, क्लीव, स्वैरिणी, परायी स्त्री और कन्याओंके साथ राजा कभी मैथुन न करे ॥ ३० ॥

कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥ ३१ ॥

वर्णसङ्कर होनेसे कुलमें पापी, राक्षस, क्लीव, अङ्गहीन, गूंगे और बुद्धिहीन बालक उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ३१ ॥

एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३२ ॥

राजाके धर्मकी ओरसे प्रमादग्रस्त होनेसे ही ये तथा दूसरे सब नीच बालक उत्पन्न होते हैं; इसलिये राजा विशेष करके प्रजाके हितके अनुरक्त रहे ॥ ३२ ॥

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान्।
अधर्माः संप्रवर्तन्ते प्रजासंकरकारकाः ॥ ३३ ॥

क्षत्रियके प्रमत्त होनेसे महान् दोष उत्पन्न होता है और प्रजाको वर्णसङ्कर करनेवाले सब अधर्मोंकी वृद्धि हुआ करती है ॥ ३३ ॥

अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाविशति प्रजाः ॥ ३४ ॥

गर्मीके समयमें सर्दी होती है, शीतकालमें सर्दी नहीं रहती और कभी अत्यन्त वृष्टि, कभी अनावृष्टि–सूखा पडता है और अनेक प्रकारके रोग प्रजा समूहको दुःख देते है ॥ ३४ ॥

नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथापरे।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३५ ॥

आकाशमें भयङ्कर ग्रह और धूमकेतु आदि दूसरे तारे उदय होते हैं तथा राज्य नाशके सूचक अनेक उत्पात दीख पडते हैं ॥ ३५ ॥

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ताश्च सोऽनु विनश्यति ॥ ३६ ॥

जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता, वह प्रजाकी भी रक्षा करनेमें असमर्थ है; उसकी प्रजाका नाश होता है; पीछे उसका भी नाश हो जाता है ॥ ३६ ॥

द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोश्च बहवोऽपरे।
कुमार्यः संप्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ३७ ॥

जब एक पुरुषके धनको दो मनुष्य मिलके ग्रहण करते हैं और दो पुरुषोंका धन अनेक मनुष्य मिलकर लूटते हैं तथा कुमारी कन्याओंपर बलात्कार होने लगता है, उस समय पण्डित लोग राजाका ही दोष कहा करते हैं ॥ ३७ ॥

ममैतदिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठते।
त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥ ३२०६ ॥

जब राजा धर्म त्याग कर प्रमादग्रस्त होता है, तब मनुष्योंमें एक ही अपने धनको 'यह मेरा है' ऐसा मानकर नहीं रह सकता ॥ ३८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें इक्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥ ३२०६ ॥

: ९२ :

उतथ्य उवाच—

काालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः ।
संपद्यदैषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः ॥ १ ॥

उतथ्य बोले– जब बादलके समयपर बरसने और राजाके धर्मचारी होनेपर सम्पत्ति बढती है, तब वह सम्पत्ति प्रजासमूहका सुखपूर्वक पालन–भरण पोषण करती है ॥ १ ॥

यो न जानाति निर्हन्तुं वस्त्राणां रजको मलम् ।
रक्तानि वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥ २ ॥

जो धोबी वस्त्रोंके मैलमात्रको दूर करना नहीं जानता, अथवा रंगे हुए कपडोंको धोकर अज्ञानतासे उज्वल नहीं बना सकता, उसका होना न होना बराबर है ॥ २ ॥

एवमेव द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशामपि ।
शूद्राश्चतुर्णां वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थिताः ॥ ३ ॥

इसी भांति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– इन चारों वर्णोंके लोग यदि निज धर्मकर्मोंको जानकर उसमें रत नहीं रहते हैं, तो उनका होना न होना समान ही है ॥ ३ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥ ४ ॥

शूद्रमें सेवा, वैश्यमें कृषि क्षत्रियोंमें दण्डनीति और ब्राह्मणोंमें ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेद मन्त्र और सत्य प्रतिष्ठित है ॥ ४ ॥

तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् ।
शीलदोषान्विनिर्हन्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥

उनमेंसे जो क्षत्रिय धोबीके वस्त्र धोनेकी भांति शीलदोष बिलकुल दूर करना जानता है, वही प्रजाका पिता और प्रजाका स्वामी होता है ॥ ५ ॥

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥ ६ ॥

हे भरतर्षभ ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये सब ही राजाके आचरणोंमें स्थित हैं, इसलिये राजा ही युगरूपसे कहा जाता है ॥ ६ ॥

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद्यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥

जब राजा प्रमादग्रस्त होता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम मुग्ध हुआ करते हैं ॥ ७ ॥

राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः　　　॥ ८ ॥

राजा ही प्राणियोंका कर्त्ता और हर्त्ता है; परन्तु जो राजा धर्मात्मा है वही कर्त्ता– प्रजाका जीवनदाता है और जो अधर्मी है वही हर्त्ता कहाता है ॥ ८ ॥

राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति　　　॥ ९ ॥

जब राजा प्रमादग्रस्त होता है, तब उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव और सुहृद लोग उस ही समय शोकग्रस्त हुआ करते हैं ॥ ९ ॥

हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः ।
अधर्मवृत्ते नृपतौ सर्वे सीदन्ति पार्थिव　　　॥ १० ॥

हे राजन् ! राजाके अधर्मी होनेसे उसके हाथी, घोडे, गऊ, ऊंट, खच्चर और गर्दभ आदि सब पशु दुःखी हुआ करते हैं ॥ १० ॥

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते ।
अबलं तन्महद्भूतं यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्　　　॥ ११ ॥

हे मान्धाता ! ब्रह्माने दुर्बल प्राणियोंकी रक्षाके वास्ते ही बलवान राजाको उत्पन्न किया है, क्योंकि उसके बलपर ही निर्बल प्राणि प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ११ ॥

यच्च भूतं स भजते भूता ये च तदन्वयाः ।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे सीदन्ति पार्थिव　　　॥ १२ ॥

हे राजन् ! राजाके अधर्मी होनेसे वह जिन प्राणियोंकी भरण–पोषणसे सेवा करता है और जो प्राणी उसके अनुगामी हैं, वे सब प्राणी नष्ट होते हैं ॥ १२ ॥

दुर्बलस्य हि यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः　　　॥ १३ ॥

निर्बल, मुनि और विषधर सर्पकी दृष्टिको मैं अत्यन्त ही असह्य बोध करता हूं; इससे तुम दुर्बलको दुःखी न करना ॥ १३ ॥

दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम्　　　॥ १४ ॥

हे तात ! तुम निर्बल प्राणियोंको सदा अपमानका पात्र नहीं मानना; निर्बलोंके नेत्र तुम्हें बान्धवोंके सहित भस्म न करें इसके लिये सदा सावधान रहना ॥ १४ ॥

न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किंचित्प्ररोहति ।
आमूलं निर्दहत्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १५ ॥

जो पुरुष निर्बलोंके जरिये भस्म होता है, उसके कुलमें कुछ भी अंकुरित नहीं होता; बल्कि समूलसे ही भस्म हो जाता है, इससे तुम निर्बलोंको कभी पीडित न करना ॥ १५ ॥

अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
बलस्याबलदग्धस्य न किंचिदवशिष्यते ॥ १६ ॥

बलवानसे भी बलहीन पुरुष श्रेष्ठ है क्योंकि जो अत्यन्त बलवान् है, उसके बलसे निर्बलका बल अधिक है; बलवान पुरुष निर्बलके द्वारा भस्म होनेसे उसका कुछ भी बाकी नहीं रहता ॥ १६ ॥

विमानितो हतोत्क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति ।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥ १७ ॥

यदि अपमानित, घायल, वा आक्रुष्ट दुर्बल मनुष्य राजाको त्राणकर्त्ताके रूपमें न प्राप्त कर सके, तो दैवका दिया हुआ दण्ड राजाको ही नष्ट करता है ॥ १७ ॥

मा स्म तात बले स्थेया बाधिष्ठा मापि दुर्बलम् ।
मा त्वा दुर्बलचक्षूंषि धक्ष्यन्त्यग्निरिवाश्रयम् ॥ १८ ॥

हे तात ! तुम युद्धके लिये दुर्बलको कर भारसे कभी भी पीडित नहीं करना; अपने आश्रय-भूत काष्ठको जलानेवाली अग्निकी भांति जिससे निर्बलोंके नेत्र तुम्हें भस्म न करें ॥ १८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
तानि पुत्रान्पशून्घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशासताम् ॥ १९ ॥

दीन मनुष्य यदि किसीसे मिथ्या अभिशप्त होकर रोदन करते हैं, तब उनके नेत्रसे जो सब आंसू गिरते हैं, वे उसके मिथ्यावादके कारण वेही सब आंसू उनके पुत्र और पशुओंको नष्ट किया करते हैं ॥ १९ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २० ॥

यदि पाप कर्मका फल अपनेको नहीं मिला, तो पुत्रमें, पौत्र और दौहित्रमें फलित होता है । जैसे भूमिमें बोया हुआ बीज तुरंत फल नहीं देता, उसी प्रकार पाप भी सदा तत्काल फलित नहीं होती ॥ २० ॥

यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति ।
महान्दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २१ ॥

जिस स्थलमें निर्बल पुरुष बलवानसे पीडित होके किसीको अपना परित्राण करनेवाला नहीं पाता, उस स्थानमें सतानेवाले पापीपर दैवी महान् भयंकर दण्ड पतित हुआ करता है ॥२१॥

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव ।
अभीक्ष्णं भिक्षुदोषेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २२ ॥

जब जनपदवासी सब लोग एकत्रित होकर ब्राह्मणोंकी भांति भिक्षा मांगने लगते हैं, तब वे लोग भिक्षा मांगनेके दोषके कारण ही सदा राजाका नाश किया करते हैं ॥ २२ ॥

राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
अनयेनोपवर्तन्ते तद्राज्ञः किल्बिषं महत् ॥ २३ ॥

यदि जनपदके बीच राजाके बहुतसे सेवक राज कार्यमें नियुक्त होकर अनीतिसे बर्ताव करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तो राजाको वह महान् पाप लगता है ॥ २३ ॥

यदा युक्ता नयन्त्यर्थान्कामादर्थवशेन वा ।
कृपणं याचमानानां तद्राज्ञो वैशसं महत् ॥ २४ ॥

और राजा वा वे लोग काम तथा अर्थके वशमें होकर अयुक्तिके अनुसार याचना करनेवाली दीन प्रजाका भी धन हरण करें, तो ऐसा होनेसे राजाका इकबारगी नाश होता है ॥ २४ ॥

महावृक्षो जायते वर्धते च तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते वा तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २५ ॥

जैसे महान् वृक्ष उत्पन्न होके बडा होनेपर प्राणी (पक्षी) उसपर निवास करते हैं और उस वृक्षके कटने वा जलनेसे उसपर रहनेवाले वे सभी प्राणी आश्रय हीन होते हैं, दशा हुआ करती है ॥ २५ ॥

यदा राष्ट्रे धर्मभग्र्यं चरन्ति संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्तूर्णं जह्यात्सुकृतं दुष्कृतं च ॥ २६ ॥

यदि राज्यमें रहनेवाले लोग राजाके गुणोंका वर्णन करके, वैदिक संस्कारोंसे युक्त उत्तम धर्माचरण करते हैं, तो उस समय राजा पापमुक्त होता है; और यदि वे धर्मके भ्रमसे अधर्मका आचरण करें, तो उससे राजाका पुण्य नष्ट हुआ करता है ॥ २६ ॥

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति सतां कलिर्विन्दति तत्र राज्ञः ।
यदा राजा शास्ति नरान्नशिष्यान्न तद्राज्यं वर्धते भूमिपाल ॥ २७ ॥

हे पृथ्वीपते ! जहां राज्यके बीच पापी मनुष्य प्रकटरूपसे भ्रमण करते हैं, तो वहां कलियुगने उस राजाका आश्रय किया करता है ऐसा साधु लोग मानते हैं, जहां राजा मूर्ख–दुष्ट मनुष्यों-पर शासन करता है, तो उसका राज्य वृद्धिंगत नहीं होता है ॥ २७ ॥

यश्चामात्यं मानयित्वा यथार्हं मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात् ।
प्रवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलां चिराय ॥ २८ ॥

जो राजा मन्त्रियोंका यथाउचित संमान करके युद्ध और विचार कार्योंमें नियुक्त करता है, उस राजाका राज्य विशेष रूपसे बढता है और वह बहुत दिनोंतक समस्त पृथ्वीका राज्य भोगता है ॥ २८ ॥

अत्रापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम् ।
समीक्ष्य पूजयन्राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २९ ॥

राजा अपने सब लोगोंके उत्तम वचनको सुनके तथा सुकृत कर्मोंको देखकर उन लोगोंका संमान करनेसे उत्तम धर्मका लाभ करता है ॥ २९ ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते न चान्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३० ॥

यदि राजा सबको यथा नियमसे विभाग देकर स्वयं भोग करे, दूसरोंका अपमान न करे, और बलके अभिमानी दुष्टोंका दमन करे, ऐसा होनेसे वही राज्यका धर्म कहके वर्णित हुआ करता है ॥ ३० ॥

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा ।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

जब राजा वाचा, काया और कर्मसे सबकी रक्षा करता है, पुत्रके विषयमें भी क्षमा नहीं करता, तब उसका वह कर्म ही धर्मरूपसे वर्णित हुआ करता है ॥ ३१ ॥

यदा शारणिकान्राजा पुत्रवत्परिरक्षति ।
भिनत्ति न च मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥

जब राजा शरणागत मनुष्योंकी पुत्रके समान रक्षा करता है, और धर्मकी मर्यादाको भङ्ग नहीं करता, तब राजाका वह परम धर्म कहके गाया जाता है ॥ ३२ ॥

यदाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः ।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥

जब राजा काम-क्रोधका अनादर करके, पर्याप्त दक्षिणा युक्त यज्ञोंसें श्रद्धापूर्वक यजन करता है, तो वह राजाका परम धर्म कहा जाता है ॥ ३३ ॥

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु व्यपमार्ष्टि वै ।
हर्षं संजनयन्नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥

जब राजा दीन, अनाथ और बूढे मनुष्योंके क्लेशयुक्त आंसूको पोंछके उन लोगोंको हर्षित करता है, तो उसका वह भाव राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३४ ॥

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चापकर्षति ।
संपूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥

जो राजा मित्रोंकी वृद्धि शत्रुओंका नाश और साधुओंका सम्मान करता है, वही धार्मिक कहाता है ॥ ३५ ॥

सत्यं पालयति प्राप्त्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति ।
पूजयत्यतिथीन्भृत्यान्स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥

जो राजा सत्यका पालन, प्रीतिपूर्वक सदा सञ्चित भूमिका दान, अतिथि सेवा और सेवकोंका सत्कार युक्त भरण-पोषण करता है, लोग वैसे राजाको ही धार्मिक कहा करते हैं ॥ ३६ ॥

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ ।
अस्मिँल्लोके परे चैव राजा तत्प्राप्नुते फलम् ॥ ३७ ॥

जिसमें निग्रह और अनुग्रह दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, वही राजा इस लोक और परलोकमें उत्तम फल भोग किया करता है ॥ ३७ ॥

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः ।
संयच्छन्भवति प्राणान्नसंयच्छंस्तु पापकः ॥ ३८ ॥

हे मान्धाता ! राजा दुष्टोंको यमके समान और धार्मिकोंको परमेश्वरके समान है, जब वह अपनी इंद्रियोंको संयममें रखता है जब वह शासनमें समर्थ होता है और जब संयममें नहीं रखता तब मर्यादासे गिरकर पापी होता है ॥ ३८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्सत्कृत्यानवमन्य च ।
यदा सम्यक्प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३९ ॥

जब राजा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यका अपमान न करके सत्कार करता है और योग्य रीतिसे उनको अपनाता है, तब वह राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३९ ॥

यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः ।
तस्य राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत्प्रजाः ॥ ४० ॥

जैसे यम सब प्राणियोंका समान भावसे शासन करता है, वैसे ही राजा सब प्रजाको बिना भेदभावके यथारीतिसे नियंत्रित कर रखे ॥ ४० ॥

सहस्राक्षेण राजा हि सर्व एवोपमीयते ।
स पश्यति हि यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४१ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जब कि लोग सहस्र नेत्रवाले इन्द्रके साथ राजाकी तुलना करते हैं, तब राजा जिसे धर्मरूपसे देखे, वही धर्म कहके गिना जाता है ॥ ४१ ॥

अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम् ।
भूतानां सत्त्वजिज्ञासां साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! तुम सदा प्रमाद रहित होकर क्षमा, बुद्धि, धृति और मतिकी शिक्षा ग्रहण करो; प्राणियोंकी सत्त्व शक्ति और भलाई-बुराईको सदा जाननेकी इच्छा करो ॥ ४२ ॥

संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरा च वाक् ।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्याः स्वा यथा प्रजाः ॥ ४३ ॥

सब प्राणियोंको अनुकूल बनाकर संग्रह करो, सबको दान दो, सबसे मीठे वचन कहो; पुर और जनपदवासियोंकी स्वयंकी भांति यथा रीतिसे सुखपूर्वक रक्षा करो ॥ ४३ ॥

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम् ।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४४ ॥

हे तात ! अदक्ष राजा कभी प्रजा–पालन करनेमें समर्थ नहीं होता; क्योंकि राज्यका संचालनरूपी महत् भारको उठाना अत्यन्त ही कठिन है ॥ ४४ ॥

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम् ।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥ ४५ ॥

जो राजा दण्डवित् बुद्धिमान् और शूर है, वही राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है; परन्तु दण्डज्ञानसे रहित, क्लीब और बुद्धिरहित राजा राज्यकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं होता ॥ ४५ ॥

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ॥ ४६ ॥

तुम रूपवान्, सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए, दक्ष, राजभक्त, बहुश्रुत और अनुयाई मन्त्रियोंके सहित तापसों तथा आश्रमियोंके बुद्धिकी सब भांतिसे परीक्षा करना ॥ ४६ ॥

ततस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम् ।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनश्यति ॥ ४७ ॥

इसी प्रकार तुम सब प्राणियोंके परम धर्मको मालूम कर सकोगे; ऐसा होनेसे स्वदेश और विदेशमें कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं होगा ॥ ४७ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च धर्म एवोत्तरो भवेत् ।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मवित्सुखमेधते ॥ ४८ ॥

इस ही कारण अर्थ और कामसे धर्म ही उत्तम है और धर्मात्मा मनुष्यही इस लोक तथा परलोकमें सुख भोग किया करता है ॥ ४८ ॥

त्यजन्ति दारान्प्राणांश्च मनुष्याः प्रतिपूजिताः ।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ ४९ ॥

मनुष्योंका सम्मान करनेपर वे अपने स्त्री–पुत्रोंको त्यागते हैं; सब प्राणियोंका संग्रह, दान, मधुर वचन, ॥ ४९ ॥

अप्रमादश्च शौचं च तात भूतिकरं महत् ।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥ ५० ॥

प्रमादका त्याग और पवित्रता— ये सब राजाके ऐश्वर्यकारी महान् साधन हैं; हे तात ! मान्धाता ! इससे तुम इन सब विषयोंमें सदा सावधान रहना ॥ ५० ॥

अप्रमत्तो भवेद्राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः ।
नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५१ ॥

राजा सावधान होके अपना और दूसरेके छिद्रोंका अनुसन्धान करे, परन्तु दूसरे लोग अपने छिद्रको न देखने पावे; परंतु दूसरेके छिद्रोंका पता लगे, तो वह उसपर चढाई करे ॥५१॥

एतद्वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च ।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत्त्वमप्यनुपालय ॥ ५२ ॥

इन्द्र, यम, वरुण और सब राजर्षियोंका ऐसा ही बर्ताव है, तुम भी यत्नवान होकर इसे पालन करो, ॥ ५२ ॥

तत्कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम् ।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

हे भरत श्रेष्ठ महाराज ! राजर्षि लोग जिस धर्मका सेवन करते है, तुम भी उस हीका पालन करो और शीघ्र ही दिव्य पथका आश्रय करो ॥ ५३ ॥

धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत ।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्त्यमितौजसः ॥ ५४ ॥

हे भारत ! महातेजस्वी देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व लोग इस लोक तथा परलोकमें धर्मात्मा राजाके यशको गाया करते हैं ॥ ५४ ॥

भीष्म उवाच —

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत ।
कृतवानविशङ्कस्तदेकः प्राप च मेदिनीम् ॥ ५५ ॥

भीष्म बोले— हे भरतवंश प्रवीर युधिष्ठिर ! मान्धाताने उतथ्यसे ऐसे ऐसे वचन सुनके शङ्का रहित चित्तसे उस ही भांति धर्माचरण किये थे, इसीसे पृथ्वीका एकछत्र राज्य प्राप्त किया था ॥ ५५ ॥

भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपतिः ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्षन्स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ ३२६२ ॥

तुम भी पृथ्वीपति मान्धाताकी भांति धर्माचरण करते हुए इस लोकमें पृथ्वीका पालन करो; फिर तुम स्वर्ग लोकमें स्थान प्राप्त करोगे ॥ ५६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें बानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ३२६२ ॥

: ९३ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन्राजा वर्तेत धार्मिकः ।
पृच्छामि त्वा कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कुरुश्रेष्ठ पितामह ! धर्मात्मा राजा धर्म मार्गमें निवास करनेका अभिलाषी होकर किस प्रकार बर्ताव करे ? उसे मैं आपके समीप जाननेकी इच्छा करता हूं, इसे विस्तार करके कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥

भीष्म बोले—तत्वार्थदर्शी बुद्धिमान् वामदेवने पृथ्वीपति वसुमनासे जो कथा कही थी, पण्डित लोग उस प्राचीन इतिहासका ही ऐसे स्थलमें प्रमाण दिया करते हैं, मैं भी तुमसे कहता हूं, सुनो ! ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो बलवाञ्शुचिः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं यशस्विनम् ॥ ३ ॥

बलवान् पवित्रतायुक्त पृथ्वीनाथ वसुमनाने महायशस्वी महर्षि वामदेवसे धर्म और अर्थयुक्त वचन पूछा, ॥ ३ ॥

धर्मार्थसहितं वाक्यं भगवन्ननुशाधि माम् ।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन्न च्यवेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥

हे भगवन ! जिस प्रकार धर्माचरण करनेसे धर्मच्युत न होके निज धर्ममें रह सके, आप मुझे अपने अर्थ और धर्मयुक्त वचनोंसे उसहीका उपदेश करिये ॥ ४ ॥

तमब्रवीद्वामदेवस्तपस्वी जपतां वरः ।
हेमवर्णमुपासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥

परम तपस्वी तेजस्वी वामदेव नहुषपुत्र ययातिकी भांति पास बैठे हुए हेमवर्ण वसुमनासे बोले ॥ ५ ॥

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद्विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥

महाराज ! आप केवल धर्मके अनुवर्ती होइये; धर्मसे उत्तम दूसरा कुछ भी नहीं है। राजा लोग एक मात्र धर्ममें स्थित होके ही पृथ्वीको जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः ।
ऋतां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विरोचते ॥ ७ ॥

जो राजा अर्थसिद्धिसे धर्मको उत्तम समझकर निज सत्य बुद्धिको धर्म बढानेमें ही प्रवर्तित करता है, वही धर्मके जरिये विराजमान होता है ॥ ७ ॥

अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते ।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥ ८ ॥

जो राजा अधर्मी होकर बलपूर्वक अधर्म आचरणमें प्रवृत्त होता है, वह शीघ्र ही धर्म और अर्थसे रहित होता धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थ उससे अलग हो जाते हैं ॥ ८ ॥

असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥ ९ ॥

जिसके मन्त्री लोग दुष्ट और पापी हैं, तथा जो स्वयं उनकी सहायतासे धर्मकी हानि करता है, वह शीघ्र ही परिवारके सहित दुःखी होकर लोगोंके निकट वध्य होता है ॥ ९ ॥

अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः ।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥

जो राजा अर्थानुष्ठानसे रहित, कामाचारी और अपनी बडाई करनेवाला है, वह समस्त पृथ्वी प्राप्त करनेपर भी शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ १० ॥

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान्राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥

परन्तु जो राजा कल्याणकारी गुणोंको ग्रहण करनेवाला, असूया रहित, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है, वह नदियोंके प्रवाहसे बढनेवाले समुद्रकी भांति बढता है ॥ ११ ॥

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

जो राजा ऐसा माने कि मैं धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्र किसीसे भी परिपूरित नहीं हूं और सदा उनके संग्रहको बढानेका प्रयत्न करे ॥ १२ ॥

एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ।
एतानि शृण्वल्लँभते यशः कीर्तिं श्रियः प्रजाः ॥ १३ ॥

इन्हीं सबोंपर राजाकी जीवन यात्रा प्रतिष्ठित है; वह इन सबको सुनने और ग्रहण करनेसे यश, कीर्ति श्री और प्रजालाभ कर सकता है ॥ १३ ॥

एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः ।
अर्थान्समीक्ष्यारभते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥

जो राजा धर्म और अर्थका चिन्तक तथा धर्मका अनुगामी होकर इसी भांति अर्थ पर विचार करना आरम्भ करके उसका सेवन करता है, वह अवश्य ही विपुल फलका भोग कर सकता है ॥ १४ ॥

×

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन्प्रजाः ।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १५ ॥

जो राजा कृपण, प्रीतिरहित और दुःसाहस प्रकृति युक्त होकर प्रजाके विषयमें यथार्थ दण्ड-विधान नहीं करता, बार बार सताता है वह शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ १५ ॥

अथ पापं कृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान् ।
अकीर्त्यापि समायुक्तो मृतो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो बुद्धिहीन राजा पाप करके भी बुद्धिके द्वारा अपनेको पापी नहीं मानता, वह इस लोकमें अकीर्त्तिसे युक्त होकर मरनेपर नरकका भोग किया करता है ॥ १६ ॥

अथ मानयितुर्दातुः शुक्लस्य रसवेदिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

जो राजा सबका सम्मान करनेवाला दाता और सद्गुणोंसे युक्तोंका चाहक होता है, उसे विपद उपस्थित होनेपर सब मनुष्य आत्मविपदकी भांति उसके उस विपदके नाश करनेकी चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्याननुपृच्छति ।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं महदश्नुते ॥ १८ ॥

जिसको धर्मका उपदेश देनेवाला कोई गुरु नहीं है और जो दूसरोंसे भी कुछ नहीं पूछता है तथा धन मिलनेपर सुखोपभोगमें रत होता है, वह सदा सुखभोग नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थान्ववेक्षिता ।
धर्मप्रधानो लोकेषु सुचिरं महदश्नुते ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ ३२८१ ॥

जिसके धर्मके विषयमें उपदेश करनेवाला मुख्य गुरु है, और जो उनके कहनेके अनुसार आचरण करता है, जो स्वयं अर्थकी आलोचना करता है और जो इस लोकमें धर्मको ही प्रधान मानता है, वही सदा सुखका भोग कर सकता है ॥ १९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ ३२८१ ॥

ः ९४ ः

वामदेव उवाच -

यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः ।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥

वामदेव बोले— जिस राज्यमें अत्यन्त बलवान् राजा निर्बल प्रजाके ऊपर अधर्म करने लगता है, उसके नोकर भी उस ही वृत्तिको उपजीव्य किया करते हैं ॥ १ ॥

राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम् ।
अविनीतमनुष्यं तत्क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति ॥ २ ॥

तथा दूसरे सब मनुष्य उस पाप प्रवर्त्तक राजाके अनुगामी होते हैं; वह विनयरहित मनुष्योंसे युक्त राज्य शीघ्र ही विनष्ट होता है ॥ २ ॥

यद्वृत्तिमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः ।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥ ३ ॥

मनुष्य प्रकृतिस्थ अर्थात् स्वधर्मावलम्बी होनेपर साधारण मनुष्य जिस व्यवहारके अनुगामी हुआ करते हैं, विपमस्थ अर्थात् संकटोंमें पडनेपर उसी मनुष्यके उस व्यवहारको स्वजन पुरुष भी नहीं सहन करते हैं ॥ ३ ॥

साहसप्रकृतिर्यत्र कुरुते किंचिदुल्बणम् ।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ४ ॥

जिस राज्यमें दुःसाहस प्रकृतिवाला राजा कुछ उद्दण्डतापूर्ण कार्य करता है, उस राज्यमें शास्त्रोक्त मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला वह राजा शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ ४ ॥

योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥

जो क्षत्रिय जित अर्थात् आपन्न और अजित् अर्थात् स्वस्थ मनुष्योंके अत्यन्त आचरित वृत्तिके अनुवर्ती नहीं होता, वह क्षत्रियधर्मसे गिर जाता है ॥ ५ ॥

द्विषन्तं कृतकर्माणं गृहीत्वा नृपती रणे ।
यो न मानयते द्वेषात्क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥

जो क्षत्रिय पहलेका उपकार करनेवाले अनन्तर द्वेपी हुए हुए राजाको युद्धभूमिमें बंदी बनाकर द्वेषके कारण उसका सम्मान नहीं करता, वह क्षत्रिय धर्मसे गिर जाता है ॥ ६ ॥

शक्तः स्यात्सुमुखो राजा कुर्यात्कारुण्यमापदि ।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥

जो राजा समर्थ होके उत्तम सुखका अनुभव करता है और प्रजाकी आपदको दयाभावसे निवारण करता है, वह प्रजासमूहका प्यारा होता है, राजलक्ष्मीसे वैसा राजा कभी भ्रष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत् ।
नचिरेण प्रियः स स्याद्योऽप्रियः प्रियमाचरेत् । ॥ ८ ॥

जिसकी कभी बुराई की हो तो दूसरी बार उसकी भी भलाई करे; क्योंकि बुराई करनेवाला पुरुष फिर भलाई करनेपर थोडेही समयके बीच प्रिय हुआ करता है ॥ ८ ॥

मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥

मिथ्या वचनका परित्याग करे, विना कहे या याचना किये ही लोगोंका प्रिय कार्य करे; काम, क्रोध और द्वेषके वशमें होकर कभी धर्मका त्याग न करे ॥ ९ ॥

नापत्रपेत प्रश्नेषु नाभिभव्यां गिरं सृजेत् ।
न त्वरेत न चासूयेत्तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥

कोई प्रश्न करे, तो उसे निठुर होके उत्तर न दे; अनादर युक्त वचनका प्रयोग न करें; किसी कार्यमें शीघ्रता न करे; किसीकी निन्दा न करे; ऐसा करनेसे शत्रु भी वशमें हो जाता है ॥१०॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

अपना प्रिय होनेसे अत्यन्त हर्षित न होवे, अप्रिय होनेपर उसमें दुःखी न होवे और प्रजाके हितको स्मरण करते हुए अत्यन्त आर्थिक संकटमें भी चिन्तित न होवे ॥ ११ ॥

यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः ।
तस्य कर्माणि सिध्यन्ति न च संत्यज्यते श्रिया ॥ १२ ॥

जो राजा अपने गुणोंके अनुसार सबका सदा प्रिय कार्य किया करता है, उसके सब कार्य सिद्ध होते और राजश्री उसे कभी परित्याग नहीं करती ॥ १२ ॥

निवृत्तं प्रतिकूलेभ्यो वर्तमानमनुप्रिये ।
भक्तं भजेत नृपतिस्तद्धि वृत्तं सतामिह ॥ १३ ॥

राजा सदा स्थिरताके सहित यहां सदाचरणसे रहनेवाले, प्रतिकूल कार्योंसे अलग रहनेवाले और सदा अनुकूल प्रिय कार्यमें रत अपने भक्त सेवकका सत्कार करे ॥ १३ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं प्राज्ञमत्यन्तानुगतं शुचिम् ।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥

जो सेवक दृढ इन्द्रियोंसे युक्त, अत्यन्त अनुगत, पवित्र चित्तवाला, अनुरक्त और सब कार्यमें समर्थ हो, उसे ही राजा महान् कर्मोंमें नियुक्त करे ॥ १४ ॥

एवमेव गुणैर्युक्तो यो न रज्यति भूमिपम् ।
भर्तुरर्थेष्वसूयन्तं न तं युञ्जीत कर्मणि ॥ १५ ॥

जो सेवक ऐसे ही गुणोंसे युक्त हो, परन्तु राजाको प्रसन्न नहीं रख सकता और स्वामीके आर्थिक कार्योंका निन्दक है, उसे अपने कार्योंमें न लगावे ॥ १५ ॥

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम् ।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥ १६ ॥

मूढ, इन्द्रियपरायण, लोभी, अनार्योंके आचरित कर्मको करनेवाला, शठ, कपटता युक्त, हिंसक, नीचबुद्धि, मूर्ख ॥ १६ ॥

त्यक्तोपात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम् ।
कार्ये महति यो युञ्ज्याद्धीयते स नृपः श्रियः ॥ १७ ॥

उपयुक्त कर्मोंको त्यागनेवाला, मद्यमें रत, जुआरी, स्त्रीलम्पट तथा मृगयासक्त सेवकको जो राजा महान् कार्योंमें नियुक्त करता है, वह राजा श्रीभ्रष्ट हुआ करता है ॥ १७ ॥

रक्षितात्मा तु यो राजा रक्ष्यान्यश्चानुरक्षति ।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते ॥ १८ ॥

जो राजा अपनी रक्षा करके प्रतिपालन करने योग्य पुरुषोंकी रक्षा करता है, उसकी सब प्रजा बढती है, और वह अवश्य ही विपुल ऐश्वर्यका भोग किया करता है ॥ १८ ॥

ये केचिद्भूमिपतयस्तान्सर्वानन्ववेक्षयेत् ।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजा न रिष्यते ॥ १९ ॥

जो राजा अपने अप्रसिद्ध सुहृयोंसे गुप्त रूपसे अधीनमें रहनेवाले राजाओंके सब कार्योंको मालूम करता है, वह उनको पीडित नहीं करता है ॥ १९ ॥

अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
श्येनानुचरितैर्ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ २० ॥

राजा बलवान् शत्रुका अपकार करके "मैं दूर हूं," इस प्रकार धीरज पूर्वक उसकी उपेक्षा न करे, क्योंकि वे लोग बाज पक्षीकी भांति प्रमादयुक्त अपकारी राजाके समीप आके टूट पडते हैं ॥ २० ॥

दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः ।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥ २१ ॥

दृढमूल साधु राजा अपना बल मालूम करके अपनेसे निर्बल पुरुषोंके ऊपर चढाई करे; परन्तु जो अपनेसे बलवान् हैं, उनके ऊपर चढाई न करे ॥ २१ ॥

विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयन् ।
आहवे निधनं कुर्याद्राजा धर्मपरायणः ॥ २२ ॥

धर्ममें तत्पर राजा पराक्रमसे पृथ्वीको प्राप्त करके धर्मपूर्वक प्रजा पालन करे और युद्धमें शत्रुओंका वध करे ॥ २२ ॥

मरणान्तमिदं सर्वं नेह किंचिदनामयम् ।
तस्माद्धर्मे स्थितो राजा प्रजा धर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥

इस लोकमें सब कुछ नष्ट होनेवाला है; यहां कोई भी वस्तु नीरोग अर्थात् अविनाशी नहीं है; इसलिये राजा निजधर्ममें स्थित होके धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करे ॥ २३ ॥

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।
मन्त्रचिन्त्यं सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥ २४ ॥

युद्धमें रक्षाधिकरण अर्थात् किले आदिकी दृढता करनी, युद्ध, धर्मके अनुसार राज्यका अनुशासन, मन्त्र-चिन्तन और यथासमय प्रजाको सुख देना-इन पांच प्रकारके कार्योंसे राज्य विशेष रूपसे वर्द्धित होता है ॥ २४ ॥

एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तम ।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा भुङ्क्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥

हे राजसत्तम ! जो इन सबकी भली भांति गुप्त या रक्षा करता है वही राजेन्द्र होता है और वह सदा इनके पालनमें तत्पर रहकर ही इस पृथ्वीका उपभोग किया करता है ॥ २५ ॥

नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनान्ववेक्षितुम् ।
एतेष्वाप्तान्प्रतिष्ठाप्य राजा भुङ्क्ते महीं चिरम् ॥ २६ ॥

अकेले राजाके जरिये इन सब विषयोंका सिद्ध होना अत्यन्त ही कठिन है; इसलिये राजा सुयोग्य आप्तजनोंके ऊपर समस्त कार्यभार अर्पण करनेसे बहुत समयतक पृथ्वी भोग करनेमें समर्थ होता है ॥ २६ ॥

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते प्रियम् ॥ २७ ॥

जो पुरुष दाता, योग्य विभाग करनेवाला कोमल-स्वभाव, पवित्र और मनुष्योंका त्याग न करनेवाला होता है, उसे ही लोग प्रिय कहा करते हैं ॥ २७ ॥

यस्तु निःश्रेयसं ज्ञात्वा ज्ञानं तत्प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥

जो कल्याणकारी विषयका ज्ञान प्राप्त करके अपना मत परित्यागके उस निःश्रेयस ज्ञानको ही ग्रहण करता है, लोग उसके पीछे ही चलते हैं ॥ २८ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि विमना नचिरादिव ॥ २९ ॥

जो मनके प्रतिकूल होनेके कारण अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले वचन सहन नहीं करके, सदा प्रतिकूल वचन भी सुनता है, खिन्नसा रहता है ॥ २९ ॥

अप्राज्यचरितां बुद्धिमत्यन्तं यो न बुध्यते ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ३० ॥

और जो बुद्धिमान पुरुषोंके आचरित वृत्तिकी सदा सेवा नहीं करता, और पराजित या अपराजित लोगोंको उनके आचारका पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय धर्मसे गिर जाता है ॥ ३० ॥

मुख्यानमात्यान्यो हित्वा निहीनान्कुरुते प्रियान् ।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति ॥ ३१ ॥

जो मुख्य मन्त्रियोंका परित्याग करके अत्यन्त हीन प्रकृतिवाले सेवकोंको प्रिय समझता है; वह पुरुष संकटके घोर समुद्रमें फंसके कार्यका अन्त प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता— कहीं आश्रय नहीं पाता है ॥ ३१ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन्द्वेषान्नैवाभिमन्यते ।
अदृढात्मा दृढक्रोधो नास्यार्थो रमतेऽन्तिके ॥ ३२ ॥

जो राजा द्वेषके कारण कल्याणकारी गुणोंसे युक्त स्वजनोंका सम्मान करनेकी इच्छा नहीं करता, उस चञ्चल मनवाला, दृढ क्रोधयुक्त राजाके कार्य सिद्ध नहीं होते ॥ ३२ ॥

अथ यो गुणसंपन्नान्हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

गुणवान पुरुषोंको हृदयके अप्रिय होनेपर भी जो राजा उन्हें प्रिय वचनसे वशमें कर सकता है, वह सदा भूमण्डल पर यशस्वी होके निवास करता है ॥ ३३ ॥

नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ।
प्रिये नातिभृशं हृष्येद्युज्येतारोग्यकर्मणि ॥ ३४ ॥

राजा असमयमें कर लगाकर धनका संग्रह न करे, अनिष्ठ होने पर उसमें कभी अत्यन्त सन्तापित न होवे; प्रिय कार्यसे बहुत हर्षित न होवे और अपने शरीरको नीरोग बनानेके कार्यमें सदा तत्पर रहे ॥ ३४ ॥

के मानुरक्ता राजानः के भयात्समुपाश्रिताः ।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ ३५ ॥

कौन राजा मुझसे अनुरक्त हैं, कौन भयके कारण मेरे अनुगत हैं और इनमेंसे कौन मध्यस्थ हैं, कौन मेरे शत्रु हुए हैं ? इस बातका सदा राजा विचार करे ॥ ३५ ॥

न जातु बलवान्भूत्वा दुर्बले विश्वसेत्क्वचित् ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३६ ॥

राजा स्वयं बलवान् होकर भी निर्बल शत्रुका कभी तनिक विश्वास न करे, क्योंकि वे लोग असावधानीरूपी अवसर पानेसे गिद्धकी भांति आ गिरते हैं ॥ ३६ ॥

अपि सर्वैर्गुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् ।
अभिद्रुह्यति पापात्मा तस्माद्धि विभिषेज्जनात् ॥ ३७ ॥

स्वामी प्रियवादी और सब गुणोंसे युक्त होने पर भी जो पापी सेवक उसका अपकार किया करता है; उसपर कभी विश्वास नहीं करे ॥ ३७ ॥

एतां राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः ।
मनुष्यविजये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥ ३३१९ ॥

नहुष पुत्र ययातिने इसी भांति राजोपनिषत् अर्थात् राजाओंकी रहस्य विद्या कही है; इससे जो मनुष्योंपर विजय प्राप्त करनेवाली इस रहस्य विद्याके अनुसार चलता है, वही महान् शत्रुओंका नाश कर सकता है ॥ ३८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें चौरानव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥ ३३१९ ॥

: ९५ :

वामदेव उवाच—

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः ।
जघन्यमाहुर्विजयं यो युद्धेन नराधिप ॥ १ ॥

वामदेव बोले— हे नरनाथ ! राजा विना युद्ध किये ही और दूसरे उपायसे विजय प्राप्त करे; युद्धसे जो विजय होती है, पण्डित लोग उसे निम्न श्रेणीकी कहा करते हैं ॥ १ ॥

न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति ।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥ २ ॥

राज्यका मूल अत्यन्त दृढ न रहनेपर राजा अप्राप्त वस्तुके वास्ते कभी इच्छा न करे; क्योंकि निर्बल मूलवाले राजाको वैसा लाभ नहीं विहित होता ॥ २ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः संपन्नः प्रियराजकः ।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥

जिस राजाका राज्य उन्नत, सम्पत्ति तथा धान्यसे युक्त, राजाको प्रिय माननेवाले मनुष्योंसे संपूर्ण, सन्तुष्ट और पुष्ट मन्त्रियोंसे सम्पन्न है, उस पृथ्वीपतिको ही दृढमूल कहके जानना चाहिये ॥ ३ ॥

यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः ।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति भूमिपः ॥ ४ ॥

जिसकी सब सेना सन्तुष्ट, सान्त्वित और शत्रुओंको धोखा देनेमें निष्ठावान है, वह राजा थोडी ही सेनाके जरिये पृथ्वीपर जय कर सकता है ॥ ४ ॥

पौरजानपदा यस्य स्वनुरक्ताः सुपूजिताः ।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥

जिसके पुरवासी और जनपद वासी प्रजा लोग उस राजापर अनुरक्त और उत्तम रीतिसे सम्मानित; धनवान और धान्यसे संपन्न हैं; उस राजाको ही दृढमूल कहके जानना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रभावकालावधिकौ यदा मन्येत चात्मनः ।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिं धनान्युत ॥ ६ ॥

मेधावी राजा जब अपने भावको तथा समयको सबसे अधिक योग्य समझे, तभी परभूमि और परधनकी लालसा करे; ॥ ६ ॥

भोगेष्वदयमानस्य भूतेषु च दयावतः ।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ ॥

क्योंकि भोगोंमें उदयमान, सब प्राणियोंमें दयावान, शीघ्रता करनेवाले और आत्मरक्षामें समर्थ राजाका ही राज्य वर्द्धित हुआ करता है ॥ ७ ॥

तक्षत्यात्मानमेवैष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो अच्छा वर्ताव करनेवाले आत्मीय पुरुषोंके विषयमें सब भांतिसे मिथ्या आचरण करता है, वह परशुसे काटे हुए वनकी तरह अपने आपको ही नष्ट करता है ॥ ८ ॥

न वै द्विषन्तः क्षीयन्ते राज्ञो नित्यमपि घ्नतः ।
क्रोधं नियन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥

जो राजा किसी द्वेष करनेवालेको दण्ड नहीं देता, उसके द्वेष करनेवाले कभी कमी नहीं होते हैं; जो राजा क्रोधको वशमें रखनेकी कला जानता है, कोई भी उसका द्वेषी नहीं रहता है ॥ ९ ॥

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद्बुधः ।
यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥

आर्य श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्मको बुरा मानते हों, विद्वान् राजा उस कर्मको कभी भी न करे; और जिस कार्यको सबके लिये मंगलप्रद माने, उसीमें स्वयंको लगावे ॥ १० ॥

नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते ।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति ॥ ११ ॥

जो राजा सब कर्त्तव्य कर्मोंको सिद्ध करके अन्तमें सुख अनुभव करनेकी अभिलाषा करता है, उसका दूसरे लोग अनादर नहीं करते हैं और वह भी संतप्त नहीं होता है ॥ ११ ॥

+

इदंवृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः ।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये संप्रतिष्ठते ॥ १२ ॥

जो राजा इसी भांति प्रजाके साथ व्यवहार करता है, वह दोनों लोकोंको जय करके विजय पथमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत्कृतवान्नृपः ।
तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥ ३३३२ ॥

भीष्म बोले— राजा वसुमनाने महर्षि वामदेवको ऐसा वचन सुनके उसके अनुसार ही सब कार्योंका अनुष्ठान किया था; तुम भी वैसा आचरण करनेसे अवश्यही दोनों लोकोंको जय कर सकोंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें पंचानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ ३३३२ ॥

: ९६ :

युधिष्ठिर उवाच—

अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि ।
कस्तस्य धर्मो विजय एतत्पृष्टो ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— यदि कोई क्षत्रिय युद्धमें दूसरे क्षत्रियको जीतनेकी इच्छा करे, तो वह विजयके लिये किस धर्मका आचरण करे ? यही मैं आपसे पूछता हूं; आप मुझसे यह वृत्तान्त विशेष करके कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः ।
ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥

भीष्म बोले— राजा सहायकोंसे युक्त वा बिना सहायकोंके ही अकस्मात दूसरेके राज्यमें गमन करके वहांके प्रजा समूहसे कहे, कि मैं तुम्हारा राजा हूं और तुम लोगोंकी सर्वदा रक्षा करूंगा ॥ २ ॥

मम धर्म्यं बलिं दत्त किं वा मां प्रतिपत्स्यथ ।
ते चेत्तमागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥

इससे तुम लोग मुझे धर्मपूर्वक कर प्रदान करो, अथवा मेरे साथ युद्ध करो। ऐसा वचन सुनके यदि प्रजा समूह उस समागत राजाको राज्यमें वरण करे, तो ऐसा होनेसे उन लोगोंका कुशल होता है ॥ ३ ॥

ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुध्येयुः कथंचन ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥

हे नरनाथ ! यदि वे लोग क्षत्रिय न होकर भी राजाके विषयमें किसी प्रकार विरुद्धाचरण करें, तो ऐसा होनेपर उन वर्ण विपरीत कर्ममें लगे हुए मनुष्योंका सब भांतिके उपायोंसे दमन करना उचित है ॥ ४ ॥

अशक्तं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णात्यथापरः ।
त्राणायाप्यसमर्थं तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥

उस देशका क्षत्रिय दुर्बल हो और अपनी रक्षा करनेमें भी अत्यंत असमर्थ मानता हो, तो वहांका क्षत्रियेतर मनुष्य भी देशकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करे ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् ।
कथं स प्रतियोद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा युद्धके वास्ते दूसरे क्षत्रिय राजापर चढाई करे तो वह क्षत्रिय राजाके साथ किस प्रकार युद्ध करे ? वह मुझसे कहिये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

नासंनद्धो नाकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजस्व क्षिपामि च ॥ ७ ॥

भीष्म बोले— जो कवच बांधके सज्ज हुए न हो, उस क्षत्रियके साथ समरमें युद्ध नहीं करे; एक योद्धा दूसरे अकेले योद्धासे कहे कि तुम शस्त्र छोडो, मैं भी तुमपर प्रहार करूंगा ॥ ७ ॥

स चेत्संनद्ध आगच्छेत्संनद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत्ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥

यदि वह सावधान होके कवच बांधकर आगमन करे, तो स्वयं भी कवच धारण करना चाहिये और यदि वह सेनाके सहित आगमन करे, तो स्वयं भी सेना-युक्त होके उसे आवाहन करे ॥ ८ ॥

स चेन्निकृत्या युध्येत निकृत्या तं प्रयोधयेत् ।
अथ चेद्धर्मतो युध्येद्धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ९ ॥

और यदि वह राजा शठताके सहित युद्ध करे; तो स्वयं भी शठतापूर्वक ही उसके साथ युद्ध करे और वह धर्मसे युद्ध करनेपर धर्मयुद्धके जरिये ही उसे निवारण करे ॥ ९ ॥

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद्रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥ १० ॥

घुडसवार होके रथीपर आक्रमण न करे; रथीके साथ रथीको ही लडाई करनी चाहिये। और संटकसे आर्त्त, डरे हुए और पराजित शत्रुके ऊपर प्रहार न करे ॥ १० ॥

नेषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
जयार्थमेव योद्धव्यं न क्रुध्येदजिघांसतः ॥ ११ ॥

विषमे बुझे हुए बाण और कर्णी बाणका प्रयोग नहीं करना; ये असत् पुरुषोंके ही अस्त्र हैं; इससे यथार्थ रीतिसे ही युद्ध करें, न मारनेवाले पुरुषके ऊपर क्रोध न करे ॥ ११ ॥

साधूनां तु मिथोभेदात्साधुश्चेद्व्यसनी भवेत् ।
सव्रणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन ॥ १२ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंमें परस्पर भेद होनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष विपत्तिमें पडे, तो उसपर प्रहार नहीं करे । घावसे पीडित और संतानहीन पुरुषपर किसी प्रकार भी आघात न करे ॥ १२ ॥

भग्नशस्त्रो विपन्नाश्वश्छिन्नज्यो हतवाहनः ।
चिकित्स्यः स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहान्भवेत् ।
निर्व्रणोऽपि च मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

जिसका शस्त्र टूट गया हो, विपद्ग्रस्त, जिसके वाहन घोडे मार डाले गये हों, जिसके धनुष्यकी डोरी कट गयी हो, ऐसे मनुष्यपर प्रहार न करे । बल्कि यदि ऐसा पुरुष अपने अधिकार वा अपने राज्यमें उपस्थित हो तो उसकी चिकित्सा करावे अथवा उसके घर पहुंचावे । जिसके कोई घाव भी न हो तो भी उसे छोडे; यह सनातन धर्म है ॥ १३ ॥

तस्माद्धर्मेण योद्धव्यं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
सत्सु नित्यं सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत् ॥ १४ ॥

इस ही कारण स्वयम्भूपुत्र मनुने कहा है, कि साधुओंके साथ धर्मके अनुसार युद्ध करना ही कर्त्तव्य है। साधुओंका सनातन धर्म सदा सत्पुरुषोंमें ही रहा है; उसका आश्रय लेकर कभी भी उसे नष्ट नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

यो वै जयत्यधर्मेण क्षत्रियो वर्धमानकः ।
आत्मानमात्मना हन्ति पापो निकृतिजीवनः ॥ १५ ॥

जो वृद्धिकी इच्छा करनेवाला क्षत्रिय अधर्म आचरणसे जय लाभ करता है, वह शठजीवी, पापी राजा स्वयं ही अपना नाश करता है ॥ १५ ॥

कर्म चैतदसाधूनामसाधुं साधुना जयेत् ।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ॥ १६ ॥

दुष्ट लोग ही ऐसा कर्म करते हैं; परन्तु साधु पुरुषको तो उत्तम व्यवहारसे— धर्मसे ही दुष्टोंपर विजय पानी चाहिये । धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मरनेसे भी वह कल्याणकारी होता है; परन्तु पाप कर्मके जरिये जय होनेपर भी वह कल्याणकारी नहीं होता ॥ १६ ॥

नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ।
मूलान्यस्य प्रशाखाश्च दहन्समनुगच्छति ॥ १७ ॥

हे राजन्! अधर्म आचरण करना उचित नहीं है; क्योंकि जैसे पृथ्वीमें बोये हुए बीजका फल तत्काल नहीं मिलता है, वैसे ही पापका फल भी तुरंत नहीं मिलता है; परन्तु जब वह फल प्राप्त होता है, तब शाखा और मूल पर्यन्त सब भस्म कर देता है ॥ १७ ॥

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ।
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति ॥ १८ ॥

पापी पुरुष पाप कर्मोंसे धन प्राप्त करके अत्यन्त हर्षित होता है, और उस चोरीसे वर्द्धित होकर पाप कर्ममें ही आसक्त रहता है ॥ १८ ॥

न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ।
अश्रद्दधानभावाच्च विनाशमुपगच्छति ॥ १९ ॥

वह धर्म है ही नहीं यह मानकर पवित्र पुरुषोंका उपहास करते हुए धर्मविषयमें श्रद्धाहीन भाव होनेके कारण वह मनुष्य विनष्ट होता है ॥ १९ ॥

स बद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते ।
महादृतिरिवाध्मातः स्वकृतेन विवर्धते ॥ २० ॥

और स्वयं वरुणके पाशोंमें बन्धके अपनेको अमरकी भांति समझता है; वायुसे परिपूरित चमडेकी थैलीकी भांति अपने किये हुए पापसे बढता है ॥ २० ॥

ततः समूलो ह्रियते नदीकूलादिव द्रुमः ।
अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि ।
तस्माद्धर्मेण विजयं कामं लिप्सेत भूमिपः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥ ३३५३ ॥

और अन्तमें नदीके किनारे रहनेवाले वृक्षकी भांति जड सहित नष्ट होता है; अनन्तर लोग पत्थरसे फूटे हुए घडेकी भांति उसे टूक टूक होनेपर उसकी निन्दा करते हैं; इसलिये राजा धर्मके जरिये विजय और कोष प्राप्त करनेकी अभिलाषा करे ॥ २१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ ३३५३ ॥

: ९७ :

भीष्म उवाच--

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः ।
अधर्मविजयं लब्ध्वा कोऽनुमन्येत भूमिपः ॥ १ ॥

भीष्म बोले-- राजा अधर्मके अनुसार पृथ्वीपर जय प्राप्त करनेकी इच्छा न करे; क्योंकि कौन भूपति अधर्मके अनुसार विजय लाभ करके सम्मानित होगा? ॥ १ ॥

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।
सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अधर्मयुक्त विजय अनित्य है; उससे स्वर्ग प्राप्त नहीं होता; बल्कि वैसी विजय राज्य और भूपति दोनोंको ही नष्ट करती है ॥ २ ॥

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न विहिंसयेत् ॥ ३ ॥

इससे जो पुरुष युद्धमें कवचरहित होकर हाथ जोडके मैं आपकी शरणमें हूं ऐसा वचन कहके शस्त्र परित्याग करे, राजा वैसे मनुष्यको कैद करके वध न करे ॥ ३ ॥

बलेनावजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः ।
संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत् ॥ ४ ॥

जो पुरुष बलसे जीता जावे, राजा उसके साथ युद्ध न करे, उसे एकवर्ष पर्यन्त अनुकूल रहनेकी शिक्षा दे । फिर उसका नया जन्म होगा; वह विजयी राजाके लिये पुत्रके समान होता है ॥ ४ ॥

नार्वाक्संवत्सरात्कन्या स्प्रष्टव्या विक्रमाहृता ।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत्सहसाहृतम् ॥ ५ ॥

यदि राजा किसी कन्याको पराक्रमपूर्वक हरण कर ले आवे; तो एक वर्ष पर्यन्त कोई उसे स्पर्श न करे, प्रश्न न करे । एक सालके बाद पूछनेपर यदि वह कन्या दूसरेकी अभिलाषिनी हो, तो उसे लौटा देना चाहिये; और ऐसे ही छलसे दास-दासी आदि जो कुछ धन हरके लाया गया होवे, उसके विषयमें भी समझना चाहिये ॥ ५ ॥

न तु वन्ध्यं धनं तिष्ठेत्पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः ।
युञ्जीरन्वाप्यनड्वहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत् ॥ ६ ॥

तस्कर आदि दुष्टोंका जो धन हरण किया जाता है, वह अपने पास नहीं रक्खे; उसे सार्वजनिक कार्योंमें व्यय करना चाहिये और गौ छीनकर लायी गयी हो जो उसका दूध स्वयं न पीकर ब्राह्मणोंको पिलावे; बैल हों तो उन्हें ब्राह्मण ही बोझा ढोनेके वास्ते नियुक्त करें; परन्तु सब अपहृत वस्तुओंका मालिक यदि शरणागत हो तो उसे क्षमा करके उसका धन लौटा दे ॥ ६ ॥

राज्ञा राजैव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते ।
नान्यो राजानमभ्यसेदराजन्यः कथंचन ॥ ७ ॥

राजा राजाके साथ ही युद्ध करे, उसके लिये यही धर्म होता है; इससे जो राजा नहीं है वह राजाके सम्मुख होकर किसी प्रकार भी शस्त्र न चलावे ॥ ७ ॥

अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद्ब्राह्मणोऽन्तरा ।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत् ।
मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद्ब्राह्मणं योऽभिलङ्घयेत् ॥ ८ ॥

दोनों ओरकी सेनाओंके भिड जानेपर यदि ब्राह्मण उनके बीचमें संधि करानेकी इच्छासे आ जाय, तो उस समय दोनों ओरकी सेना शान्ति अवलम्बन करके युद्धसे निवृत्त होना चाहिये। जो ब्राह्मणको उल्लङ्घन करता है, वह सनातन कालसे चली आयी हुई मर्यादाको तोडता है ॥८॥

अथ चेल्लङ्घयेदेनां मर्यादां क्षत्रियब्रुवः ।
अप्रशस्यस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि ॥ ९ ॥

जो अधम क्षत्रिय उस मर्यादाको अतिक्रम करता है, तो अनन्तर उसे नीच क्षत्रिय मानकर उसे क्षत्रिय जातिमें नहीं गिनना चाहिये और क्षत्रियोंकी सभामें उसे स्थान नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

या तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च ।
तां वृत्तिं नानुवर्तेत विजिगीषुर्महीपतिः ।
धर्मलब्धाद्धि विजयात्को लाभोऽभ्यधिको भवेत् ॥ १० ॥

धर्मका लोप और मर्यादा भङ्ग करके विजय प्राप्त करनेवाले राजाके इस बर्तावका विजयकी इच्छा करनेवाला राजा कभी अनुसरण नहीं करें; क्योंकि धर्मसे प्राप्त हुई विजयसे बढके क्या कोई अधिक लाभ हो सकता है? ॥ १० ॥

सहसा नाम्य भूतानि क्षिप्रमेव प्रसादयेत् ।
सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः ॥ ११ ॥

सहसा नीचस्वभाववाले प्राणियोंको शीघ्र मधुर वचन बोलकर और भोगदानसे प्रसन्न करना ही राजाओंकी परम नीति है ॥ ११ ॥

भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिताः ।
अमित्रान्पर्युपासीरन्व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ १२ ॥

क्योंकि वे सब अनुचित कठोरतासे बलपूर्वक वशमें किये जानेपर अत्यन्त ही दुखित होके अपने राष्ट्रसे भाग जाते हैं; और शत्रु बनकर राजाकी विपत्तिके समयकी राह देखते हुए शत्रुओंकी उपासना करते हैं ॥ १२ ॥

अमित्रोपग्रहं चास्य ते कुर्युः क्षिप्रमापदि ।
संदुष्टाः सर्वतो राजन्राजव्यसनकाङ्क्षिणः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! वे लोग असन्तुष्ट होनेपर सब प्रकारसे राजाके व्यसनके अभिलाषी होकर आपद-कालमें राजाके शत्रुओंकी शीघ्रही अनुकूलता करते हैं ॥ १३ ॥

नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथंचन ।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजत्येकदा नरः ॥ १४ ॥

इससे राजा किसी प्रकार भी शत्रुको छलसे न ठगे तथा उसे किसी प्रकार अत्यन्त उच्छिन्न न करे; क्योंकि वह अत्यंत क्षत-विक्षत कर देनेपर अपने जीवनका त्याग भी कर देगा ॥१४॥

अल्पेनापि हि संयुक्तस्तुष्यत्येवापराधिकः ।
शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते ॥ १५ ॥

इस ही कारण राजा थोडेसे लाभमें ही सन्तुष्ट होकर वैसा राजा पवित्र जीवनको ही अत्यन्त मान देता है ॥ १५ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः संपन्नः प्रियराजकः ।
संतुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १६ ॥

जिस राजाका जनपद उन्नत, सम्पत्तियुक्त तथा राजप्रिय होता है और जिसके सेवक तथा मन्त्री संतुष्ट होते हैं, वह राजा ही दृढ मूल हुआ करता है ॥ १६ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसंमताः ।
पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकजिदुच्यते ॥ १७ ॥

जो राजा ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य और दूसरे पूजनीय श्रुतिसम्मत विद्वान् श्रेष्ठोंकी पूजा तथा उचित सत्कार करता है, वह जगत्में लोकजित् कहके विख्यात होता है ॥ १७ ॥

एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः ।
अन्वेव चैन्द्रं विजयं व्यजिगीषन्त पार्थिवाः ॥ १८ ॥

सुरपति इन्द्रने ऐसे ही व्यवहारसे राज्य प्राप्त किया था; इससे राजा लोग इसी व्यवहारके अनुसार इन्द्रके विजयके समान जय करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १८ ॥

भूमिवर्जं पुरं राजा जित्वा राजानमाहवे ।
अमृताश्चौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥ १९ ॥

पहले राजा प्रतर्दनने महायुद्धमें राजापर विजय प्राप्त करके प्रजा समूहके भूमिके अतिरिक्त समस्त धन, अन्न और औषधियोंको भी हरण किया था ॥ १९ ॥

अग्निहोत्राण्यग्निशेषं हविर्भाजनमेव च ।
आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोऽभवत् ॥ २० ॥

और राजा दिवोदासने अग्निहोत्र, अग्निसे बची हुई हवि तथा भोजनपात्र भी हरण किये थे; उस ही कारण वे लोग निन्दित हुए ॥ २० ॥

सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ ।
अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसस्वाच्च भारत ॥ २१ ॥

हे भारत ! राजा नाभागने श्रोत्रिय और तापसके धनको छोडकर शेष सारा राज्य दक्षिणा-रूपमें ब्राह्मणोंको दान किया था ॥ २१ ॥

उच्चावचानि वृत्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर ।
आसन्राज्ञां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २२ ॥

हे युधिष्ठिर ! धर्म जाननेवाले प्राचीन राजाओंमें जो सब उत्तम व्यवहार विद्यमान थे, वे सब मेरे अभिलषित हुए हैं ॥ २२ ॥

सर्वविद्यातिरेकाद्वा जयमिच्छेन्महीपतिः ।
न मायया न दम्भेन य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥ ३३७६ ॥

अपना वैभव बढानेकी इच्छा करनेवाला राजा सब भांतिकी विद्याओंके उत्कर्षसे विजयकी इच्छा करे; परन्तु माया और दंभके जरिये अपने ऐश्वर्यकी अभिलाषा न करे ॥ २३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९७ ॥ ३३७६ ॥

: ९८ :

युधिष्ठिर उवाच—

क्षत्रधर्मान्न पापीयान्धर्मोऽस्ति भरतर्षभ ।
अभियाने च युद्धे च राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रधर्मसे बढके पापयुक्त धर्म दूसरा नहीं है; क्योंकि राजा चढाई करनेमें और युद्धमें अत्यंत महान् जनसंहार कर डालता है ॥ १ ॥

अथ स्म कर्मणा येन लोकाञ्जयति पार्थिवः ।
विद्वञ्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे विद्वन् ! इससे राजा किस कर्मसे सब पुण्य लोकोंको प्राप्त करे ? इसे मैं जाननेकी इच्छा करता हूं; इसे आप मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— राजा लोग पापियोंको दण्ड देने और साधुओंका संग्रह करनेसे तथा, यज्ञ और दानसे ही सब दोषोंसे छूटकर पवित्र हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

*

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः ।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥

जो राजा विजयकी इच्छासे युद्धके समय प्राणियोंको पीडित करते हैं; वेही फिर विजय प्राप्त करके प्रजा समूहकी उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञतपोबलैः ।
अनुग्रहेण भूतानां पुण्यमेषां प्रवर्धते ॥ ५ ॥

वे दान, यज्ञ और तपोबलसे अपने पापोंको नष्ट कर देते हैं और प्राणियोंके ऊपर कृपा करनेके ही कारण उनके पुण्यकी विशेष रूपसे वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

यथैव क्षेत्रनिर्दाता निर्दन्वै क्षेत्रमेकदा ।
हिनस्ति कक्षं धान्यं च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥

जैसे खेतको परिष्कार करनेवाला किसान खेतको साफ करनेके वास्ते तृण आदिके साथ धान्यके पौधोंको भी काटता है, उससे धान्य नष्ट नहीं होता; (बल्कि उसके खेत सब भांतिसे साफ होनेसे फिर उसमें धान्यकी अत्यन्त वृद्धि होती है) ॥ ६ ॥

एवं शस्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्यानथैकदा ।
तस्यैषा निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः ॥ ७ ॥

इसी भांति जो राजसैनिक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके वध्य शत्रुओंका वध करते हैं; राजाके उस कर्मका प्रायश्चित्त यही है कि उस राज्यके लोगोंकी फिर उन्नति करे ॥ ७ ॥

यो भूतानि धनज्यानाद्वधात्क्लेशाच्च रक्षति ।
दस्युभ्यः प्राणदानात्स धनदः सुखदो विराट् ॥ ८ ॥

जो राजा धनहानि, प्राण नाश और क्लेशोंसे प्रजापुञ्जकी रक्षा करता है, डाकुओंसे रक्षा करके जीवन-दान देता है, वैसा राजा ही प्रजासमूहका धनदाता और सुखदाता होके विराजमान् होता है ॥ ८ ॥

स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथाभयदक्षिणैः ।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ९ ॥

अनन्तर वह अभय दक्षिणा-युक्त सब प्रकारके यज्ञ करके इस लोकमें अनेक भांतिके सुखको भोगता हुआ इन्द्रके समान स्वर्गलोकको प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽभिनिःसृत्य युध्यते ।
आत्मानं यूपमुच्छ्रित्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ १० ॥

ब्राह्मणोंकी रक्षाका समय आनेपर जो राजा आगे बढकर युद्धमें गमन करके यूपकी भांति निज शरीरको त्यागता है, उसका वह त्याग अनन्त दक्षिणायुक्त यज्ञके समान ही है ॥ १० ॥

अभीतो विकिरञ्शत्रून्प्रतिगृह्णञ्शरांस्तथा ।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किंचन ॥ ११ ॥

जो युद्धमें भयरहित होके शत्रुओंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करता है और स्वयं भी बाणोंका आघात सहता है, तो उसके लिये देवता लोग उससे बढके पृथ्वीपर कुछ भी अधिक कल्याण-कारी कार्य नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

तस्य यावन्ति शस्त्राणि त्वचं भिन्दन्ति संयुगे ।
तावतः सोऽश्नुते लोकान्सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥ १२ ॥

युद्धभूमिमें जितने शस्त्र उसके देहकी त्वचाको वेधते हैं, उतने ही परिमाणसे वह सर्वकामप्रद और अक्षय लोकोंको इच्छानुसार प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

न तस्य रुधिरं गात्रादावेधेभ्यः प्रवर्तते ।
स ह तेनैव रक्तेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

और युद्धमें उसके शरीरसे आघातोंके कारण रुधिर बहता नहीं, उस रक्तसे ही वह सब पापोंसे मुक्त होता है ॥ १३ ॥

यानि दुःखानि सहते व्रणानामभितापने ।
न ततोऽस्ति तपो भूय इति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

धर्म जाननेवाले पुरुष ऐसा कहा करते हैं, कि जो क्षत्रिय प्राणोंसे पीडित होकर जिन दुःखोंको सहता है, उस ही दुःख भोगके जरिये उसकी महत् तपस्या हुआ करती है ॥ १४ ॥

पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तन्तेऽधमपूरुषाः ।
शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम् ॥ १५ ॥

जैसे प्राणी बादलसे जीवनप्रद जलकी इच्छा करते हैं, वैसे ही भयशील सब कनिष्ठ श्रेणीके मनुष्य भी युद्धमें शूर पुरुषोंके पीछे रहके निज शरीर रक्षाकी अभिलाषा करते हैं ॥ १५ ॥

यदि शूरस्तथा क्षेमे प्रतिरक्षेत्तथा भये ।
प्रतिरूपं जनाः कुर्युर्न च तद्वर्तते तथा ॥ १६ ॥

यदि शूर पुरुष क्षेमकालकी भांति भयसे समय पिछाडी स्थित उस भयभीत मनुष्यकी रक्षा करे, तो उसके प्रति वह अपने अनुरूप पुण्य करता है; यदि वह पीछेके मनुष्योंको अपने जैसे नहीं बना सके, तो भी वह पूर्ण पुण्यका भागी होता है ॥ १६ ॥

यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैव तम् ।
युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद्वर्तते तथा ॥ १७ ॥

यदि वे रक्षित मनुष्य कृतज्ञ होते हुए सदैव उसे प्रणाम करें, तभी उसके प्रति वे योग्य और न्याय्य कर्तव्यका पालन करते हैं; अन्यथा उनकी स्थिति विपरीत होती है ॥ १७ ॥

पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम् ।
संग्रामेऽनीकवेलायामुत्क्रुष्टेऽभिपतत्सु च ॥ १८ ॥

युद्धमें समान बलवाले पुरुषोंमें परस्पर भिडनेके समय महान् अन्तर देखा जाता है; कोई निर्भय वृत्तिसे लडते हैं, तो कोई प्राण बचानेकी चिन्ता करते हैं ॥ १८ ॥

पतत्यभिमुखः शूरः परान्भीरुः पलायते ।
आस्थायास्वर्ग्यमध्वानं सहायान्विषमे त्यजन् ॥ १९ ॥

भयङ्कर युद्धमें शूर पुरुष ही शत्रुओंके सम्मुख होकर वेगसे आगे बढता है और भीरु पुरुष भागता है; वह स्वर्गप्राप्तिके मार्गपर पहुंचकर भी अपने सहायकोंको उस संकटके समय अकेला छोड देता है ॥ १९ ॥

मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान् ।
ये सहायान्रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान्ययुः ॥ २० ॥

हे तात ! जो लोग समरमें अपने सहायकोंको त्यागके अपने मङ्गलकी अभिलाष करके घरकी ओर भाग जाते हैं, तुम वैसे अधम पुरुषोंका संग्रह मत करो ॥ २० ॥

अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
त्यागेन यः सहायानां स्वान्प्राणांस्त्रातुमिच्छति ॥ २१ ॥

जो सहायकोंको परित्याग करके निज प्राण रक्षाकी अभिलाष करता है, इन्द्र आदि देवता-लोग उसका कल्याण नहीं करते ॥ २१ ॥

तं हन्युः काष्ठलोष्टैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना ।
पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥

इसलिये शूरवीर क्षत्रिय पुरुष वैसे मनुष्योंको काष्ठ वा ढेलोंसे नष्ट करें अथवा घासकी ढेरकी आगमें जला देवें; वा पशु मारनेकी भांति मार डालें ॥ २२ ॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्मपित्तानि कृपणं परिदेवयन् ॥ २३ ॥

शूरवीर क्षत्रियके लिये कफ और पित्त परित्याग कर दुःखी होकर रोदन करते हुए शय्यापर मरना अधर्म है ॥ २३ ॥

अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥

जो क्षत्रिय घाव रहित शरीरसे मृत्युको प्राप्त होता है, प्राचीन शास्त्र जाननेवाले पण्डित लोग उसके वैसे कार्यकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २४ ॥

न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौटीराणामशौटीरमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥ २५ ॥

हे तात ! इसलिये क्षत्रियोंको घरमें मरना उनके लिये प्रशंसनीय नहीं है; क्योंकि शूरताभिमानी पुरुषोंके यह भीरुता और दीनता अत्यंत अधर्मकी बात है ॥ २५ ॥

इदं दुःखमहो कष्टं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्यान्बहु शोचयन् ॥ २६ ॥

मुझे यह बडा दुःख हुआ है, मैं बहुत कष्ट पाता हूं, तथा मैं महान् पापी हूं, ऐसा आर्त वचन लोगोंके समीप प्रकाशित करना, विकृत मुख होना, दुर्गन्धि शरीरसे अमात्योंके लिये अत्यंत शोक करना ॥ २६ ॥

अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥ २७ ॥

आरोग्यताकी इच्छा करना और रुग्णावस्थामें बार बार मृत्युकी इच्छा करना– इस प्रकारकी मृत्यु किसी स्वाभिमानी वीरके लिये योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैः सुविक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ २८ ॥

बलसे युक्त शूरताभिमानी वीर क्षत्रिय स्वजनोंसे घिरकर युद्धमें संग्राम करके शाणित शस्त्रोंसे अत्यंत घायल होके प्राणोंका त्याग करे, वह ऐसी ही मृत्युके योग्य है ॥ २८ ॥

शूरो हि सत्यमन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् ।
कृत्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥

शूर पुरुष काम–क्रोधसे युक्त होकर अत्यन्त वेगसे युद्ध करते हुए, शत्रुओंके बाणोंसे शरीर घायल होनेपर भी उसे पीडा नहीं समझते, उसकी सुध–बुधही नहीं रहती है ॥ २९ ॥

स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३० ॥

वह शूर क्षत्रिय युद्धमें लोकपूजित उत्तम मृत्यु और महान् धर्मका लाभ करके इन्द्रकी सलोकताको पाता है ॥ ३० ॥

सर्वो योधः परं त्यक्तुमाविष्टस्त्यक्तजीवितः ।
प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥ ३४०७ ॥

जो शूर पुरुष प्राणकी आशा छोडके सब तरहके उपायके सहित युद्धमें सम्मुख स्थित होके पीठ नहीं दिखाता अर्थात् भागता नहीं; वह इन्द्रलोकमें वास करता है ॥ ३१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९८ ॥ ३४०७ ॥

: ९९ :

युधिष्ठिर उवाच—

के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! संग्राममें पीठ न दिखाके युद्ध करनेवाले शूर क्षत्रिय रणभूमिमें मरके किन लोकोंमें गमन करते हैं, वह मुझसे विशेष करके कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले–हे युधिष्ठिर ! इन विषयमें पण्डित लोग अम्बरीष और इन्द्रके संवादयुक्त प्राचीन इतिहासको दृष्टान्त रूपसे वर्णन किया करते हैं ॥ २ ॥

अम्बरीषो हि नाभागः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् ।
ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥ ३ ॥

नाभागपुत्र अम्बरीषने अत्यन्त दुर्लभ स्वर्गलोकमें जाके अपना सचिव देवलोकमें इन्द्रके साथ विराजमान है, ऐसे देखा ॥ ३ ॥

सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम् ।
उपर्युपरि गच्छन्तं स्वं वै सेनापतीं प्रभुम् ॥ ४ ॥

वह शक्तिमान् सेनापति सब तेजोमय, दिव्य और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर ऊपर ऊपर जा रहा था; ॥ ४ ॥

स दृष्ट्वोपरि गच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः ।
ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितः प्राह वासवम् ॥ ५ ॥

उदार बुद्धिवाले राजा अम्बरीष अपने सेनापतिको अपनेसे भी ऊपर जाते देखकर और सुदेवकी समृद्धिको जानकर अत्यन्त विस्मित होके इन्द्रसे बोले ॥ ५ ॥

सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशिष्य यथाविधि ।
चातुर्वर्ण्ये यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥ ६ ॥

हे सुरनाथ ! मैं समुद्रके सहित सब पृथ्वीको यथारीति शासित करके धर्मकी अभिलाषासे शास्त्र विधिके अनुसार चातुर्वर्ण्य धर्ममें प्रवृत्त रहता था ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण घोरेण आचार्यकुलसेवया ।
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रं च केवलम् ॥ ७ ॥

मैंने कठिन ब्रह्मचर्यका पालन और आचार्य कुलकी सेवासे धर्मपूर्वक सब वेद शास्त्रोंको पढा और राजशास्त्रका विशेष अध्ययन किया है; ॥ ७ ॥

अतिथीनन्नपानेन पितृंश्च स्वधया तथा ।
ऋषीन्स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान्यज्ञैरनुत्तमैः ॥ ८ ॥

खाने-पीनेकी वस्तुओंसे अतिथियों, स्वधा मन्त्रोंसे पितरों, निज शाखामें वर्णित वेदाध्ययन और दीक्षासे ऋषियों और सब भांतिके उत्तम यज्ञोंसे देवताओंको सन्तुष्ट किया है; ॥ ८ ॥

क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि ।
उदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥ ९ ॥

और हे देवेन्द्र ! यथारीति शास्त्रकी ओर दृष्टि करके क्षत्रधर्ममें स्थित होकर सेनाकी देखभाल करता और युद्धमें शत्रुओंकी सेनापर जय प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

देवराज सुदेवोऽयं मम सेनापतिः पुरा ।
आसीद्योधः प्रशान्तात्मा सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ १० ॥

हे देवराज ! यह सुदेव पहिले मेरा सेनापति था; शान्त स्वभाववाला एक योद्धा था; तो फिर यह मुझे लांघकर कैसे जा रहा है ? ॥ १० ॥

नानेन क्रतुभिर्मुख्यैरिष्टं नैव द्विजातयः ।
तर्पिता विधिवच्छक्र सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! इसने मुख्य मुख्य दक्षिणा युक्त यज्ञोंको सम्पन्न नहीं किया और विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको भी तृप्त करके प्रसन्न नहीं किया था; तब इसने किस प्रकार मुझे अतिक्रम किया ? ॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच —

एतस्य विततस्तात सुदेवस्य बभूव ह ।
संग्रामयज्ञः सुमहान्यश्चान्यो युध्यते नरः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले— हे तात ! पहिले इस सुदेवने बहुतसे बडे बडे संग्राम यज्ञको सम्पन्न करके विस्तार किया था; अब भी जो क्षत्रिय युद्ध करता है, उसका भी यह युद्धयज्ञ विस्तृत हुआ करता है ॥ १२ ॥

संनद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम् ।
युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥

ऐसा निश्चय है, कि जो योद्धा कवच धारण करके सेनाके मुखमें प्राप्त होकर सावधान और दीक्षित होता है, वह युद्धयज्ञका अधिकारी हुआ करता है ॥ १३ ॥

अम्बरीष उवाच—

कानि यज्ञे हवींष्यत्र किमाज्यं का च दक्षिणा ।
ऋत्विजश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो ॥ १४ ॥

अम्बरीष बोले— हे इन्द्र ! इस युद्ध-यज्ञमें हवि क्या है ? घृत और दक्षिणा क्या है ? और इसमें ऋत्विक् किसको कहते हैं ? वह मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच—

ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा ।
हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमेव च ॥ १५ ॥

इन्द्र बोले– इस यज्ञमें हाथी ही सब ऋत्विज, घोडे अध्वर्यु, शत्रुओंका मांस ही हवि और उनका रुधिर घृतरूपसे वर्णित हुआ है ॥ १५ ॥

सृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र सत्रिणः ।
आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे ॥ १६ ॥

सियार, गिध, कौए और पक्षी ही इस यज्ञके सदस्य हैं; वेही यज्ञमें शेष घृतको (रक्त) और हवि (मांस) भोजन किया करते हैं ॥ १६ ॥

प्रासतोमरसंघाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः ।
ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः ॥ १७ ॥

जलते हुए तेजधारवाले उत्तम पानी चढे हुए चोखे प्रास, तोमर, तलवार, शक्ति और फरसे येही सब यज्ञ करनेवालेके स्रुवा हैं ॥ १७ ॥

चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावदारणः ।
ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकोऽस्य स्रुवो महान् ॥ १८ ॥

धनुषसे वेगपूर्वक खींचे जानेके कारण विशाल आकारवाला, शत्रुके शरीरको वेधनेवाला, तीक्ष्ण, सीधा, धारदार और उत्तम पानी चढाया हुआ बाण ही उसका स्रुवा है ॥ १८ ॥

द्वीपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः ।
हस्तिहस्तगतः खड्गः स्फ्यो भवेत्तस्य संयुगे ॥ १९ ॥

वाघके चमडेसे युक्त मियानमें बंधा, हाथी दांतकी बनी हुई मूंठवाला और हाथियोंके शरीरको विदारनेवाला खड्ग ही इस युद्धयज्ञमें स्फ्य होता है ॥ १९ ॥

ज्वलितैर्निशितैः पीतैः प्रासशक्तिपरश्वधैः ।
शैक्यायसमयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद्वसु ॥ २० ॥

दीप्तिमान, अत्यन्त चोखे और उत्तम पानी चढे हुए तथा सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए प्रास, शक्ति और परशु आदिसे जो आघात किया जाता है, वही द्रव्य है ॥ २० ॥

आवेगाद्यत्तु रुधिरं संग्रामे स्यन्दते भुवि ।
सास्य पूर्णाहुतिर्होत्रे समृद्धा सर्वकामधुक् ॥ २१ ॥

संग्राम करते समय शस्त्रोंके लगनेपर वीरोंके शरीरसे पृथ्वीपर वेगसे जो रुधिरकी धारा गिरती है, वह होमकार्यमें उस युद्ध यज्ञ करनेवालेकी सर्वकामप्रद, समृद्धियुक्त पूर्णाहुति हुआ करती है ॥ २१ ॥

छिन्धि भिन्धीति यस्यैतच्छ्रूयते वाहिनीमुखे ।
सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने ॥ २२ ॥

काटो ! वेध करो, ऐसे जो सब शब्द सेनाके बीच सुनाई देते हैं, वही सामगान हैं । सैनिक-रूपी सामगान करनेवाले शत्रुओंको यमलोकमें भेजनेके लिये मानो सामगान करते हैं ॥२२॥

हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीमुखम् ।
कुञ्जराणां हयानां च वर्मिणां च समुच्चयः ।
अग्निः श्येनचितो नाम तस्य यज्ञे विधीयते ॥ २३ ॥

उस यज्ञमें शत्रुओंकी सेनाका मुख उस वीरके लिये हवि स्थापन करनेका पात्र कहा गया है; और हाथी, घोडे तथा कवचधारी वीरोंका समूह श्येनाचित नामक अग्नि कहके वर्णित होते हैं ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठति कबन्धोऽत्र सहस्रे निहते तु यः ।
स यूपस्तस्य शूरस्य खादिरोऽष्टाभिरुच्यते ॥ २४ ॥

उस युद्धयज्ञमे सहस्रों वीरोंके मरनेपर जो सब कबन्ध उठते दिखायी देते हैं, वेही यज्ञ करने-वाले शूरके खदिरसे बने हुए आठ कोनेसे युक्त यूपरूपसे कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

इडोपहूतं क्रोशन्ति कुञ्जरा अङ्कुशेरिताः ।
व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव ।
उद्गाता तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिः स्मृतः ॥ २५ ॥

हे राजन् ! हाथियोंके समूहको वाणीसे ललकारने और अंकुश देनेपर वे जो चिंघारते हैं, करतलध्वनिके साथ होनेवाली वही आवाज उस यज्ञके इडोपहूत मन्त्र और वषट्कार रूपी होती है । नगाडेके शब्द ही उस यज्ञमें त्रिसामा नाम उद्गाता हैं ॥ २५ ॥

ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे यः प्रियां युद्धे तनुं त्यजेत् ।
आत्मानं यूपमुच्छ्रित्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ २६ ॥

राजन् ! युद्धमें ब्रह्मस्व हरण होनेपर जो क्षत्रिय प्रिय शरीरकी रक्षाकी आशा त्यागके निज देहको यूप रूपसे छोडता है; उसका वह युद्ध अत्यन्त दक्षिणासे युक्त यज्ञ कहा जाता है ॥२६॥

भर्तुरर्थे तु यः शूरो विक्रमेद्वाहिनीमुखे ।
भयान्न च निवर्तेत तस्य लोका यथा मम ॥ २७ ॥

जो शूरवीर स्वामीके हितके लिये सेनाके सम्मुख पराक्रम प्रकाशित करके भयके कारण युद्धसे निवृत्त नहीं होता, वह मेरे समान लोकोंमें वास करता है ॥ २७ ॥

*

नीलचन्द्राकृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ।
यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम ॥ २८ ॥

जिसकी वेदी अर्थात् युद्धयज्ञकी भूमि, नीले चन्द्राकृति म्यानमें रखी तलवारों और परिघ समान भुजाओंसे परिपूरित होती है, वह मेरे तुल्य लोकोंमें निवास करता है ॥ २८ ॥

यस्तु नावेक्षते कंचित्सहायं विजये स्थितः ।
विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम ॥ २९ ॥

जो विजयके लिये युद्धमें डटकर शत्रुकी सेनामें घुसता है और दूसरे किसी सहायककी आशा नहीं रखता, उसे मेरे समान लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

यस्य तोमरसंघाटा भेरीमण्डूककच्छपा ।
वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा ॥ ३० ॥

जिसके संग्राममें तोमरोंका आघात शब्द, भेरी मेढक और कछुओंके समान हैं, वीरोंकी हड्डियां कंकडके समान हैं, उसमें प्रवेश करना अत्यंत कठिन है, मांस और रुधिर ही कीचड है ॥३०॥

असिचर्मप्लवा सिन्धुः केशशैवलशाद्वला ।
अश्वनागरथैश्चैव संभिन्नैः कृतसंक्रमा ॥ ३१ ॥

तलवार और ढाल नौकाके समान हैं, वह नदी केशरूपी सिवार और घाससे युक्त है, कटे हुए घोडे, हाथी और रथ उसमे उतरनेके लिये सीढी हैं ॥ ३१ ॥

पताकाध्वजवानीरा हतवाहनवाहिनी ।
शोणितोदा सुसंपूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः ॥ ३२ ॥

पताका–ध्वजा तटवर्ती बेंत–लताके समान हैं, मरे हुए घोडे, हाथी आदिको वह बहा ले जाती है, रुधिर रूपी जलसे वह भरी है, उसे पार करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिये वह कठिन है ॥ ३२ ॥

हतनागमहानक्रा परलोकवहाशिवा ।
ऋष्टिखड्गध्वजानूका गृध्रकङ्कवडप्लवा ॥ ३३ ॥

मरे हुए कुञ्जर महाग्राह, वह परलोककी ओर बहनेवाली नदी अशुभ दीखती है, ऋष्टि, तलवार और ध्वजा महानौका, गृद्ध, कङ्क और वड प्लवस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥

पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ।
नदी योधमहायज्ञे तदस्यावभृथं स्मृतम् ॥ ३४ ॥

और नदी पार जानेवाले पुरुषोंसे दुःखसे तरने योग्य हैं, वह राक्षस समूहोंसे युक्त और भीरुओंको पापसागरमें बहाने वाली है । वह नदी उस संग्रामरूपी यज्ञमें अवभृत स्नानके समान पुण्यजनक है ॥ ३४ ॥

वेदी यस्य त्वमित्राणां शिरोभिरवकीर्यते ।
अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम ॥ ३५ ॥

जिसके युद्धयज्ञकी वेदी शत्रुओंके सिर, घोडे और हाथियोंके गर्दनोंसे परिपूरित होती है, वह मेरे तुल्य लोकोंमें निवास करता है ॥ ३५ ॥

पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ।
हविर्धानं स्ववाहिन्यस्तदस्याहुर्मनीषिणः ॥ ३६ ॥

पण्डित लोग ऐसा कहते हैं, कि जो शत्रुओंके सेनाके मुखको पत्नीशाला बनाता है, वह निज सेनाके मुखको युद्ध यज्ञके हवि स्थापनका पात्र करता है ॥ ३६ ॥

सदस्यान्तरयोधाग्निराग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ।
शत्रुसेनाकलत्रस्य सर्वलोकानदूरतः ॥ ३७ ॥

दक्षिण ओर स्थित सब योद्धा सदस्य और उत्तर ओर स्थित सब योद्धा लोग आग्नीध्र ऋत्विक् होते हैं, उस शत्रुसेनारूपी भार्यासे युक्त यज्ञ करनेवाले पुरुषके लिये इन्द्रलोक आदि सब लोक निकटमें ही विद्यमान रहते हैं ॥ ३७ ॥

यदा तूभयतो व्यूहो भवत्याकाशमग्रतः ।
सास्य वेदी तथा यज्ञे नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः ॥ ३८ ॥

व्यूहबद्ध दोनों सेनाके सम्मुखवर्ती शून्य प्रदेश ही युद्ध यज्ञ करनेवालेकी वेदी होती है; उसमें यजमान ऋक् यजु और साम इन तीनों वेदोंको अग्निरूप कल्पना करके नित्ययज्ञके जरिये यज्ञ किया करता है ॥ ३८ ॥

यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते परैः ।
अप्रतिष्ठं स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ३९ ॥

परन्तु जो योद्धा भयके कारण पीठ दिखकर भागता है ओर शत्रुओंसे पीडित होकर मारा जाता है, वह पुरुष प्रतिष्ठारहित होकर नरकमें गमन करता है, इसमें संशय नहीं है ॥३९॥

यस्य शोणितवेगेन नदी स्यात्समभिप्लुता ।
केशमांसास्थिसंकीर्णा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ ४० ॥

जिसके रुधिरके वेगसे केश, मांस तथा हड्डीयोंसे भरी हुई रणयज्ञकी नदी परिपूरित होती है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यानमधिरोहति ।
स विष्णुविक्रमक्रामी बृहस्पतिसमः क्रतुः । ॥ ४१ ॥

जो शूर पुरुष शत्रुके सेनापतिका वध करके उसके रथपर चढता है, वह बृहस्पतिके समान यज्ञकर्ता और विष्णुके समान पराक्रमशाली शूर पुरुष माना जाता है ॥ ४१ ॥

नायकं वा प्रमाणं वा यो वा स्यात्तत्र पूजितः ।
जीवग्राहं प्रगृह्णाति तस्य लोका यथा मम ॥ ४२ ॥

जो युद्धमें सेनापति वा उसके प्रमुखको अथवा उस पक्षके पूजित योद्धाको जीते जी पकडता है, उसको मेरे तुल्य लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

आहवे निहतं शूरं न शोचेत कदाचन ।
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ॥ ४३ ॥

शूर पुरुषके युद्धमें मारे जानेपर उसके वास्ते कभी शोक न करें; क्यों कि युद्धमें मारा जानेपर वह शूर पुरुष स्वर्गलोकमें सम्मानके पात्र होता है, इसलिये कभी भी शोचनीय है ॥ ४३ ॥

न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ।
हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकाञ्शृणुष्व मे ॥ ४४ ॥

युद्धमें मारे गये पुरुषके वास्ते पिण्डदान, जलदान, अशोच्यकी विधि और स्नान करनेकी इच्छा आत्मीयजन नहीं करते हैं; युद्धमें मरनेपर जिन लोकोंको वह प्राप्त करता है, वह मुझसे सुनो ॥ ४४ ॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ।
त्वरमाणा हि धावन्ति मम भर्ता भवेदिति ॥ ४५ ॥

जो पुरुष युद्धमें मरता है, सबसे उत्तम सहस्रों अप्सराएं "यह मेरा पति हो।" ऐसा कहती हुई उसकी ओर शीघ्रताके सहित दौडती हैं ॥ ४५ ॥

एतत्तपश्च पुण्यं च धर्मश्चैव सनातनः ।
चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धे न पलायते ॥ ४६ ॥

जो शूर युद्ध कर्मको सिद्ध करता हुआ युद्धसे भागता नहीं, उसके लिये यही तपस्या, पुण्य, सनातन धर्म और चारों आश्रमोंके नियमोंका पालन है ॥ ४६ ॥

वृद्धं बलं न हन्तव्यं नैव स्त्री न च वै द्विजः ।
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ॥ ४७ ॥

युद्धमें वृद्ध सैनिक, स्त्री और ब्राह्मणका वध नहीं करना चाहिये; जो पुरुष संग्रामके समय मुखमें तृण धारण करके शरणमें आकर "मैं आपका हुआ हूं," ऐसा वचन कहे उसका भी वध न करे ॥ ४७ ॥

अहं वृत्रं बलं पाकं शतमायं विरोचनम् ।
दुरावार्यं च नमुचिं नैकमायं च शम्बरम् ॥ ४८ ॥

मैं वृत्र, बल, पाक, सैकडों मायावाले विरोचन, दुर्जय नमुचि, अनेक माया जाननेवाले शम्बर, ॥ ४८ ॥

विप्रचित्तिं च दैतेयं दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ।
प्रह्लादं च निहत्याजौ ततो देवाधिपोऽभवम् ॥ ४९ ॥

दैत्यवंशी विप्रचित्ति, सब दनुपुत्रों और प्रह्लादको युद्धमें मारके देवताओंका स्वामी हुआ हूं ! ॥ ४९ ॥

भीष्म उवाच—

इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोऽभिपन्नवान् ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ ३५५७ ॥

भीष्म बोले– राजा अम्बरीषने इन्द्रका ऐसा वचन सुनकर उसे ग्रहण करके योद्धाओंको स्वतः प्राप्त होनेवाली सिद्धि लाभकी थी ॥ ५० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥ ३५५७ ॥

: 100 :

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! राजा प्रतर्दन और मिथिलापति जनक इन दोनोंने जिस कारणसे युद्ध किया था, शूर पुरुषोंके उत्साह विषयमें पण्डित लोग उस प्राचीन इतिहासको दृष्टान्त-रूपसे वर्णन किया करते हैं ॥ १ ॥

यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा ।
योधानुद्धर्षयामास तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

हे युधिष्ठिर ! यज्ञोपवित धारण करनेवाले मिथिलाधिपति जनकने समरमें अपने योद्धाओंको जिस प्रकार उत्साहित किया था, वह सुनो ॥ २ ॥

जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित् ।
योधान्स्वान्दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥ ३ ॥

हे राजन् ! महात्मा और सर्वतत्त्ववित् मिथिलापति राजा जनकने निज योद्धाओंको स्वर्ग और नरक दिखाते हुए उन लोगोंसे कहा था, ॥ ३ ॥

अभीतानामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत ।
पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोऽक्षयाः ॥ ४ ॥

हे योद्धा लोगों ! तुम लोग युद्धमें भय रहित होकर युद्ध करनेवाले शूरपुरुषोंको प्राप्त होनेवाले इन प्रकाशमान लोकोंको देखो; ये लोक गन्धर्वोंकी कन्याओंसे भरे हुए, सब इच्छाओंको सिद्ध करनेवाले और अक्षय हैं ॥ ४ ॥

इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः ।
अकीर्तिः शाश्वती चैव पतितव्यमनन्तरम् ॥ ५ ॥

और युद्धसे भागनेवाले पुरुषोंके वास्ते ये नरक उपस्थित हैं; इसमें पतित होनेपर सदा अपकीर्ति हुआ करती है ॥ ५ ॥

तान्दृष्ट्वारीन्विजयतो भूत्वा संत्यागबुद्धयः ।
नरकस्याप्रतिष्ठस्य मा भूत वशवर्तिनः ॥ ६ ॥

इससे इन दोनों लोकोंका दर्शन करके तुम लोग युद्धमें प्राण त्यागके निश्चयका अवलम्बन करके शत्रुओंको जीतो; अप्रतिष्ठित नरकके वशवर्त्ती न बनो ॥ ६ ॥

त्यागमूलं हि शूराणां स्वर्गद्वारमनुत्तमम् ।
इत्युक्तास्ते नृपतिना योधाः परपुरंजय ॥ ७ ॥

हे शत्रुओंके नगरीको जीतनेवाले ! शूरोंको श्रेष्ठतम स्वर्गका द्वार उनके त्यागके मूल कारणसे ही प्राप्त होता है, योद्धाओंने राजा जनकका ऐसा वचन सुनके ॥ ७ ॥

व्यजयन्त रणे शत्रून्हर्षयन्तो जनेश्वरम् ।
तस्मादात्मवता नित्यं स्थातव्यं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

युद्धमें अपने राजाको हर्षित करके, शत्रुओंको जीता था; इससे ऊंचे चित्तवाले शूरवीर मनुष्यको युद्धमें सदा अगाडी स्थित रहना अवश्य उचित है ॥ ८ ॥

गजानां रथिनो मध्ये रथानामनु सादिनः ।
सादिनामन्तरा स्थाप्यं पादातमिह दंशितम् ॥ ९ ॥

गजसेनाके बीच रथियोंको, रथियोंके पीछे घुडसवार और घुडसवारोंके बीच कवच और शस्त्रोंसे सज्जित पैदल सेना स्थापित करनी उचित है ॥ ९ ॥

य एवं व्यूहते राजा स नित्यं जयते द्विषः ।
तस्मादेवं विधातव्यं नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १० ॥

युधिष्ठिर ! जो राजा अपनी सेनाका इस प्रकार व्यूह बनता है, वह शत्रुओंपर सदा विजय पाता है; इसलिये तुम्हें भी सदा इसी प्रकार व्यूह बनाना चाहिये ॥ १० ॥

सर्वे सुकृतमिच्छन्तः सुयुद्धेनातिमन्यवः ।
क्षोभयेयुरनीकानि सागरं मकरा इव ॥ ११ ॥

अत्यन्त ऊंचे चित्तवाले सभी शूर पुरुष समुद्रको क्षोभित करनेवाले मकर घडियालकी भांति अच्छी प्रकार युद्ध करते हुए शत्रुसेनाको क्षोभित करके उत्तम गति प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं ॥ ११ ॥

हर्षयेयुर्विषण्णांश्च व्यवस्थाप्य परस्परम् ।
जितां च भूमिं रक्षेत भग्नान्नात्यनुसारयेत् ॥ १२ ॥

विपदग्रस्त तथा विषादयुक्त योद्धाओंको इकट्ठे कर यथा रीति उन्हें परस्पर स्थापित करके उन्हें हर्षित करे; जितभूमिकी रक्षा करे, और जो लोग लौटनेके भयसे युद्धसे भागें, अपनी सेनासे उन लोगोंका बहुत पीछा न करे ॥ १२ ॥

पुनरावर्तमानानां निराशानां च जीविते ।
न वेगः सुसहो राजंस्तस्मान्नात्यनुसारयेत् ॥ १३ ॥

हे राजन् ! जीनेकी आशा त्यागके फिर युद्धके लिये लौटे हुए शूर पुरुषोंका वेग अत्यन्त असह्य होता है, इससे भागते हुए उन लोगोंका बहुत पीछा करना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

न हि प्रहर्तुमिच्छन्ति शूराः प्राद्रवतां भयात् ।
तस्मात्पलायमानानां कुर्यान्नात्यनुसारणम् ॥ १४ ॥

शूर पुरुष भयसे भागनेवाले पुरुषोंके ऊपर शस्त्र चलानेकी इच्छा नहीं करते, इससे पलायन करनेवाले उन लोगोंका बहुत पीछा न करे ॥ १४ ॥

चराणामचरा ह्यन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि ।
अपाणयः पाणिमतामन्नं शूरस्य कातराः ॥ १५ ॥

अचर अन्न है चलनेवाले प्राणियोंके, विन दांतवाले प्राणी दांतवालोंके अन्न हैं, जल प्यासे लोगोंका अन्न है और कायर पुरुष शूर पुरुषोंके अन्न हुआ करते हैं ॥ १५ ॥

समानपृष्ठोदरपाणिपादाः पश्चाच्छूरं भीरवोऽनुव्रजन्ति ।
अतो भयार्ताः प्रणिपत्य भूयः कृत्वाञ्जलीनुपतिष्ठन्ति शूरान् ॥ १६ ॥

वीर और डरपोक पुरुषोंके पीठ, उदर, हाथ पांव समान होनेपर भी, कायर पुरुष शूरोंका अनुगमन करते हैं; इससे भयसे आरत पुरुष पृथ्वीमें गिरके हाथ जोडकर वारंवार नमस्कार करते हुए शूर पुरुषकी शरणमें आते हैं ॥ १६ ॥

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत्सदा ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु शूरः संमानमर्हति ॥ १७ ॥

शूर पुरुषोंकी भुजाओंसे यह जगत् सदा पुत्रकी भांति रक्षित हुआ करता है; इसलिये सब अवस्थाओंमें ही शूर पुरुष सम्मान भाजन हुआ करता है ॥ १७ ॥

न हि शौर्यात्परं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥ ३४७५ ॥

तीनों लोकोंके बीच पराक्रमसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है; क्यों कि शूर पुरुष सबका ही पालन किया करता है, और शूर पुरुषसे ही सब जगत् प्रतिष्ठित रहता है ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें सौवां अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥ ३४७५ ॥

: 101 :

युधिष्ठिर उवाच—

यथा जयार्थिनः सेनां नयन्ति भरतर्षभ ।
ईषद्धर्मं प्रपीड्यापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ पितामह ! विजयकी इच्छा करनेवाले राजा धर्मका थोडासा अतिक्रम करके भी भयभीत सेनाको किस भांति रणभूमिकी ओर भेजें ? यह मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

सत्येन हि स्थिता धर्म उपपत्त्या तथापरे ।
साध्वाचारतया केचित्तथैवौपयिका अपि ।
उपायधर्मान्वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— किन्हींका सत्यसे धर्म स्थित है, ऐसा मत है; दूसरे युक्तिवादसे धर्मकी प्रतिष्ठा मानते हैं; किसी श्रेष्ठ आचरणसे ही धर्मकी स्थिति कहते हैं और कितने तो सामदान आदिसे धर्मकी प्रतिष्ठा है, ऐसा मानते हैं। हे युधिष्ठिर ! मैं तुमसे सदा फल देनेवाले उपाय धर्मोंका वर्णन करूंगा ॥ २ ॥

निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ।
तेषां प्रतिविघातार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् ।
कार्याणां संप्रसिद्ध्यर्थं तानुपायान्निबोध मे ॥ ३ ॥

जब डाकूलोग धर्म और अर्थकी मर्यादा तोडने लगते हैं, तब उनके नाशके वास्ते इस समय मैं तुमसे वेदोक्त उपाय कहता हूं; तुम सब कार्योंकी सिद्धिके लिये उन उपायोंको मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत ।
जानन्वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ४ ॥

हे भारत ! राजा सरल और कुटिल दोनों ही बुद्धिका ज्ञान प्राप्त करे; परन्तु कुटिल बुद्धिका जान बूझकर सेवन न करे; यदि वैसी बुद्धि आ जाय तो उसे हटावे ॥ ४ ॥

अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत ।
तां राजा निकृतिं जानन्यथामित्रान्प्रबाधते ॥ ५ ॥

अमित्र लोग भेदके जरिये राजाके निकट उपस्थित होकर फूट डालनेका प्रयत्न करते हुए सेवा करते हैं; उनकी कपटताको राजा जाने और शत्रुओंके समान उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

गजानां पार्श्वचर्माणि गोवृषाजगराणि च ।
शल्यकङ्कटलोहानि तनुत्राणि मतानि च ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! हाथियोंके पार्श्व शरीरको ढापनेके वास्ते गऊ, बैल और बकरे अजगरके चमडोंके कवच बनावे; लोहेके शल्य, कांटे, लोह और तनुत्राण बनावे, यह योग्य है ॥ ६ ॥

शितपीतानि शस्त्राणि संनाहाः पीतलोहिताः ।
नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताकाः केतवश्च ते ॥ ७ ॥

पानी चढे और चोखे शस्त्र, पीले और लाल रंगके कवच, अनेक रङ्गोंसे रङ्गी हुई ध्वजा–पताकाएं ॥ ७ ॥

ऋष्टयस्तोमराः खड्ग निशिताश्च परश्वधाः ।
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ।
अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्रमाः ॥ ८ ॥

तेजधारवाली ऋष्टि, तोमर, तलवार, फरशे और ढाल–इन सब सामग्रियोंको भारी संख्यामें तैयार कराकर युद्धके वास्ते संग्रह कर रखे । शस्त्रों पर पानी चढाकर तैयार करना, और योद्धाओंको युद्धमें दृढ निश्चय कराना होगा ॥ ८ ॥

चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते ।
पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बुमती तथा ॥ ९ ॥

चैत्र वा मार्गशीर्षका महीना ही सेनाकी यात्राका उत्तम समय है; उस समय खेती पक जाती है और पृथ्वीपर बहुत जल होता है ॥ ९ ॥

नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ।
तस्मात्तदा योजयेत परेषां व्यसनेषु वा ।
एतेषु योगाः सेनायाः प्रशस्ताः परबाधने ॥ १० ॥

हे भारत ! समय भी बहुत शीत तथा अत्यन्त उष्ण नहीं रहता; इसलिये उसी समय चढाई करे अथवा शत्रुओंको संकटमें फंसा देखके उनपर आक्रमण करे; क्योंकि शत्रुओंको सेनासे बाधा करनेके लिये ये ही अवसर उत्तम हुआ करते हैं ॥ १० ॥

*

जलवांस्तृणवान्मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते ।
चारैर्हि विहिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ ११ ॥

जल और तृणयुक्त समतल मार्ग ही युद्धकी यात्रा करनेके लिये सुगम होता है; इससे मार्गको जाननेवाले वनचारी दूतोंके जरिये उसे भली भांति बारम्बार माल्म करें ॥ ११ ॥

नव्यारण्यैर्न शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव ।
तस्मात्सर्वासु सेनासु योजयन्ति जयार्थिनः ॥ १२ ॥

वन्य पशुओंकी भांति जङ्गलके मार्गसे गमन करना मनुष्यके लिये कठिन है; इसलिये विजयकी इच्छा करनेवाले राजा लोग सारी सेनाओंको पहिले कहे हुए मार्गसे भेजा करते हैं ॥ १२ ॥

आवासस्तोयवान्दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते ।
परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत् ॥ १३ ॥

शत्रुसे बचनेका स्थान या दुर्ग जलसे घिरा हुआ पहुंचनेके लिये कठिन ऐसा होवे; तथा उंचा परकोटा और उसके चारों ओर खुला आकाश रहे; ऐसा होनेसे समीप स्थित शत्रु लोग किसी प्रकार भी उसे आक्रमण नहीं कर सकेंगे। उस स्थानपर शत्रुओंको रोकनेके लिये सुविधा रहे ॥ १३ ॥

आकाशं तु वनाभ्यासे मन्यन्ते गुणवत्तरम् ।
बहुभिर्गुणजातैस्तु ये युद्धकुशला जनाः ॥ १४ ॥

उस निवास स्थानके समीपवाली भूमिमें अवकाश रहें और उसके निकट वन हों, उस स्थानको ही अधिक गुण युक्त मानते हैं; इससे निज सेनाके निकटमें रहनेवाले वैसे स्थानमें अनेक गुणोंसे युक्त युद्ध जाननेवाले पुरुषोंको स्थापित करे ॥ १४ ॥

उपन्यासोऽपसर्पाणां पदातीनां च गूहनम् ।
अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थं परायणम् ॥ १५ ॥

वहां वाहनोंसे उतरना, चलना और पैदल सैनिकोंको छिपाकर रखना शक्य है; वहांसे शत्रुओंके आक्रमणका उत्तर दिया जायगा और संकटके समय छिप जाना भी सुगम है ॥ १५ ॥

सप्तर्षीन्पृष्ठतः कृत्वा युध्येरन्नचला इव ।
अनेन विधिना राजञ्जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १६ ॥

राजन्! योद्धा लोग सप्तर्षियोंको पीछे रखकर पर्वतकी भांति अचल भावसे युद्ध करें; इस रीतिसे युद्ध करनेपर दुर्जय शत्रुओंको भी जय करनेमें समर्थ होगा ॥ १६ ॥

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः ।
पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां संनिपाते युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर! जिस दिशामें वायु, सूर्य और शुक्र रहे, उस ही ओर युद्ध करनेसे जय होती है; परन्तु ये तीनों यदि भिन्न दिशाओंमें रहें, तो पूर्वापरके अनुसार श्रेष्ठ हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम्।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥ १८ ॥

घुडसवार सेनाके लिये युद्ध जाननेवाले पुरुष कीचडहीन, जलरहित, अमर्याद अर्थात् पूल और प्रकार आदि सीमारहित तथा ढेलेसे रहित समतल भूमिकी प्रशंसा किया करते हैं ॥१८॥

समा निरुदकाकाशा रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥ १९ ॥

रथसेनाके लिये जलरहित, कीचड और गढेसे रहित समतल भूमि अच्छी है; तथा हाथी योद्धाओंके वास्ते भूमि छोटे वृक्षों, महाकक्ष और जलसे युक्त होने पर प्रशंसनीय होती है ॥१९॥

बहुदुर्गा महावृक्षा वेत्रवेणुभिरास्तृता।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥ २० ॥

पैदल सेनाओंके लिये अत्यंत दुर्गम, महान् वृक्षोंसे युक्त, बांस और बेतोंसे परिपूरित तथा पहाड और उपवनोंसे युक्त भूमि प्रशंसनीय हुआ करती है ॥ २० ॥

पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥ २१ ॥

हे भारत! सेनामें पैदलोंकी बहुत संख्या हो, वह मजबूत होती है; वर्षारहित अच्छे दिनोंमें रथ और घोडोंकी अधिक संख्यासे युक्त प्रशंनीय हुआ करती है ॥ २१ ॥

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतान्प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥ २२ ॥

वर्षा ऋतुमें अनेक हाथी और पैदलयुक्त सेना श्रेष्ठ होती है; इससे राजा ये ही सब गुण और देश-कालका विचार करके सेनाका संचालन प्रयोग करे ॥ २२ ॥

एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः।
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक्प्रयोजयन् ॥ २३ ॥

जो राजा इसी भांति विचार करके तिथि और नक्षत्रमें शुभ आशीर्वादसे युक्त होकर पूरी रीतिसे सेनाका नियोग करता है; वह सदा जय लाभ किया करता है ॥ २३ ॥

प्रसुप्तांस्तृषिताञ्श्रान्तान्प्रकीर्णान्नाभिघातयेत्।
मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः ॥ २४ ॥

जो लोग सोते हैं, प्यासे हैं, थक गये हैं, तथा इधर-उधर भागते हैं, उनके ऊपर प्रहार न करे। शस्त्र और कवच उतारनेके बाद, युद्धसे चलने पर, घूमते समय तथा खाने-पीनेके समय पर किसीको न मारे ॥ २४ ॥

अतिक्षिप्तान्व्यतिक्षिप्तान्विहतान्प्रतनूकृतान् ।
सुविस्रम्भान्कृतारम्भानुपन्यासप्रतापितान् ।
बहिश्चरनुपन्यासान्कृत्वा वेश्मानुसारिणः ॥ २५ ॥

जो अत्यन्त घबराये हुए हों, पागल, घायल, दुर्बल, विस्रम्भ, कृतारंभ, उपाय जाननेवाले, पीडासे संतप्त, बाहिर जानेवाले, दूरसे सामान लाकर घर पहुंचानेवाले और भागनेवाले– इत्यादि इन सबके उपर प्रहार न करे ॥ २५ ॥

पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः ।
परिचर्यावरोद्धारो ये च केचन वल्गिनः ॥ २६ ॥

जो परम्परासे राजद्वारकी रक्षाका कार्य करते हैं, मन्त्री आदिके द्वारपर पहारा देते हैं तथा गुप्त उपायोंको जाननेवाले हैं, उनको नहीं मारना ॥ २६ ॥

अनीकं ये प्रभिन्दान्ति भिन्नं ये स्थगयन्ति च ।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥ २७ ॥

जो शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न करते हैं; और अपनी तितर बितर हुई सेनाको स्थापित करते हैं, उन्हें अपने समान खाने पीनेकी वस्तु प्रदान करे और उनका दुगुना वेतन कर देवे ॥२७॥

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा ।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ २८ ॥

कुछ लोगोंको दस सैनिकोंका स्वामी बनावे, कुछको सौका; किसी शूर सावधान वीरको एक हजार सैनिकोंका अधिपति नियुक्त करे ॥ २८ ॥

यथामुख्यं सन्निपात्य वक्तव्याः स्म शपामहे ।
यथा जयार्थं संग्रामे न जह्याम परस्परम् ॥ २९ ॥

मुख्य वीरोंको इकट्ठा करके सब पुरुषोंसे कहना चाहिये, कि तुम लोग शपथ करके मेरे समीप यह स्वीकार करो, कि हम सब इकट्ठे होकर विजयके वास्ते युद्धमें प्रवृत्त होंगे, आपसमें कोई किसीका परित्याग करके न भागेंगे ॥ २९ ॥

इहैव ते निवर्तन्तां ये नः केचन भीरवः ।
न घातयेयुः प्रदरं कुर्वाणास्तुमुले सति ॥ ३० ॥

जो लोग डरपोक हों, वे इसी समय स्वयं निवृत्त होवें और जो घमासान युद्धमें शत्रुओंको अव्यवस्थित करके नष्ट कर सकें, वे ही यहां ठहरें ॥ ३० ॥

आत्मानं च स्वपक्षं च पालयन्हन्ति संयुगे ।
द्रव्यनाशो वधोऽकीर्तिरयशश्च पलायने ॥ ३१ ॥

शूरवीर ही अपनी तथा अपनी ओरकी सेनाके पुरुषोंकी रक्षा करके शत्रु पक्षीय सेनाका वध कर सकता है । संग्रामसे भागनेमें द्रव्यनाश, वध, अकीर्ति और अपयश होता है ॥ ३१ ॥

अमनोज्ञासुखा वाचः पुरुषस्य पलायतः ।
प्रतिस्पन्दौष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च ॥ ३२ ॥

युद्धसे भागनेवालेको जिसके ओठ और दांत टूट गये हों, जिसने सब अस्त्र-शस्त्र नीचे डाले हों, ऐसे लोगोंके मुखसे कठोर और निन्दित वचन सुनना पडता है ॥ ३२ ॥

हित्वा पलायमानस्य सहायान्प्राणसंशये ।
अमित्रैरनुबद्धस्य द्विषतामस्तु नस्तथा ॥ ३३ ॥

जो प्राणोंका भय उत्पन्न होनेपर सहायके लिये भागता हुआ शत्रुओंके हाथोंसे पकडा जाकर बंधनमें रखा गया हो, ऐसा योद्धा हमारे शत्रुओंका ही रहे ॥ ३३ ॥

मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः ।
राशिवर्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह ॥ ३४ ॥

जो सब लोग युद्धसे भागते हैं, वे नीच मनुष्योंमें गिने जाते हैं; बल्कि वैसे लोग सैनिकोंकी संख्या वृद्धि मात्रके वास्ते हैं; इस लोक और परलोकमें वे लोग सुखभागी नहीं होते ॥३४॥

अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम् ।
जयिनं सुहृदस्तात वन्दनैर्मङ्गलेन च ॥ ३५ ॥

हे तात ! शत्रु आनन्दित चित्तसे भागनेवालेका पीछा करते हैं; विजयी मनुष्यको सुहृद लोग वन्दन और मंगल आशीर्वादोंसे पूजित करते हैं ॥ ३५ ॥

यस्य स्म व्यसने राजन्ननुमोदन्ति शत्रवः ।
तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३६ ॥

राजन् ! युद्धमें आपत्तिमें शत्रुओंके जरियें जिसका यश नष्ट होता है, मैं उसके लिये उस दुःखको मृत्युसे भी अधिक असह्य और दुःखदायक समझता हूं ॥ ३६ ॥

श्रियं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च ।
सा भीरूणां परान्याति शूरस्तामधिगच्छति ॥ ३७ ॥

इससे श्रीको ही धर्म और सब तरहके सुखका मूल जानना चाहिये; कायर मनुष्योंको वह शत्रुओंकी ओर ले जाती है, शूर पुरुष उसे सहर्ष स्वीकार करता है ॥ ३७ ॥

ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे त्यक्तजीविनाः ।
जयन्तो वध्यमाना वा प्राप्नुमर्हाम सद्गतिम् ॥ ३८ ॥

हम स्वर्गकी कामना रखकर युद्धमें जीनेकी आशा त्यागके लडेंगे; विजय प्राप्त करेंगे; मारे जाकर महत् गति लाभ करेंगे ॥ ३८ ॥

एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः ।
अमित्रवाहिनीं वीराः संप्रगाहन्त्यभीरवः ॥ ३९ ॥

ऐसी ही शपथ करके जो वीर पुरुष जीनेकी आशा त्याग कर देते हैं, वेही युद्धमें भय-रहित होकर शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करते हैं ॥ ३९ ॥

अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां भवेत् ।
पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४० ॥

सेनाके कूच करते समय ढाल–तलवार ग्रहण करनेवाले पुरुष सेनाके आगे, रथियोंकी सेना-पीछे और बीचमें स्त्रियोंको रखे ॥ ४० ॥

परेषां प्रतिघातार्थं पदातीनां च गूहनम् ।
अपि ह्यस्मिन्परे गृद्धा भवेयुर्ये पुरोगमाः ॥ ४१ ॥

नगरमें जो चतुर–उत्सुक पुरुष मुख्य हों, वे शत्रुओंका सामना और नाश करनेके लिये पैदल सैनिकोंको गुप्ततासे रखे ॥ ४१ ॥

ये पुरस्तादभिमताः सत्त्ववन्तो मनस्विनः ।
ते पूर्वमभिवर्तेरंस्तानन्वागितरे जनाः ॥ ४२ ॥

जो सब पहलेसे ही अपने शौर्यके लिये सम्मानित, धैर्यवान् और मनस्वी हैं, वे आगे रहें और इतर लोग उन्हींके पीछे चले ॥ ४२ ॥

अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः ।
स्कन्धदर्शनमात्रं तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४३ ॥

यदि थोडी ही सेना हो तो जो डरनेवाले सैनिक हों, उनका भी प्रयत्नपूर्वक उत्साह बढाना होगा; अथवा वे सेनाका बहुत मोटा समूह दिखानेके लिये आस–पास खडे रहें ॥ ४३ ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥ ४४ ॥

उसे इकट्ठे करके शत्रुओंके साथ युद्ध करावे और बहुतसे योद्धा हों तो उन्हें इच्छानुसार अनेक भांतिसे विस्तारित करे; और बहुतोंकें सहित थोडी सेनाको सूचीमुख नामक व्यूह कर युद्ध करना उचित है; इससे वह भी करे ॥ ४४ ॥

संप्रयुद्धे प्रहृष्टे वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।
प्रगृह्य बाहून्क्रोशेत भग्ना भग्नाः परा इति ॥ ४५ ॥

अपनी सेना युद्धमें आनन्दित होकर लडती हो या निकृष्ट अवस्थामें, बात सत्य हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर ' शत्रु भाग रहे हैं, भाग रहे हैं, ' ऐसा जोर जोरसे कहे; और हर्ष प्रकाशित करे ॥ ४५ ॥

आगतं नो मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत् ।
शब्दवन्तोऽनुधावेयुः कुर्वन्तो भैरवं रवम् ॥ ४६ ॥

तथा ' हमारी मित्र सेना आ गयी, अब तुम लोग निर्भय होके प्रहार करो ' यह सुनते ही बलवान् वीर पुरुष भयानक शब्द करते हुए शत्रुओंकी ओर दौडें; ॥ ४६ ॥

क्ष्वेडाः किलकिलाः शङ्खाः क्रकचा गोविषाणिकान् ।
भेरीमृदङ्गपणवान्नादयेयुश्च कुञ्जरान् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥ ३५२२ ॥

ताली, तलत्राण, गोशृङ्ग आदि शब्द किये जावें, और आगे चलनेवाले पुरुष लोग मृदङ्ग, भेरी और ढोल आदि बाजे बजावें ॥ ४७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ १०१ ॥ ३५२२ ॥

: १०२ :

युधिष्ठिर उवाच—

किंशीलाः किंसमुत्थानाः कथंरूपाश्च भारत ।
किंसंनाहाः कथंशस्त्रा जनाः स्युः संयुगे नृप ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतपुत्र राजन् ! कैसे स्वभाव, किस प्रकारके आचार, कैसे रूप, कैसे कवच और किस भांतिके शस्त्रशाली शूर लोग युद्ध करनेमें समर्थ होते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

यथाचरितमेवात्र शस्त्रपत्रं विधीयते ।
आचारादेव पुरुषस्तथा कर्मसु वर्तते ॥ २ ॥

भीष्म बोले— युद्धमें वीर पुरुष देशाचार और कुलाचारसे युक्त होके, शस्त्र तथा वाहन आदि सब सामग्रियोंको संग्रह करके अपने परम्परागत आचारके अनुसार ही सभी कार्योंमें प्रवृत्त होता है ॥ २ ॥

गान्धाराः सिंधुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः ।
आभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम् ॥ ३ ॥

गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशीय वीर लोग नखर और प्राससे युद्ध किया करते हैं; वे सब युद्ध करनेमें निडर और अत्यंत बलवान होते हैं; तथा उनकी सेना सबको लांघ जानेवाली होती है ॥ ३ ॥

सर्वशास्त्रेषु कुशलाः सत्त्ववन्तो ह्युशीनराः
प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः शठयोधिनः ॥ ४ ॥

उशीनर देशीय शूर लोग सब अस्त्र-शस्त्रोंके जाननेवाले और बलवान होते हैं । प्राग्देशीय योद्धा लोग हाथियोंके युद्धमें निपुण और कूटयोधी होते हैं ॥ ४ ॥

तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये ।
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिचर्मिण: ॥ ५ ॥

यवन, काम्बोज और मथुराके आस-पासके रहनेवाले शूर पुरुष मल्लयुद्धमें निपुण होते हैं; दक्षिणी लोग ढाल-तलवार और बाहु युद्धमें अत्यन्त निपुण हैं ॥ ५ ॥

सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्त्वा महाबला: ।
प्राय एष समुद्दिष्टो लक्षणानि तु मे शृणु ॥ ६ ॥

सभी स्थानोंमें इसी भांति महापराक्रमी, महाबलवान और शूर पुरुष प्राय: उत्पन्न हुआ करते हैं; उन सबका निर्देश बहुश: किया गया है; अब उनके यथोक्त लक्षण सुनो ॥ ६ ॥

सिंहशार्दूलवाङ्नेत्रा: सिंहशार्दूलगामिन: ।
पारावतकुलिङ्गाक्षा सर्वे शूरा: प्रमाथिन: ॥ ७ ॥

जिनका बोलना, चलना और देखना सिंह और शार्दूलके समान होता है और जिनके नेत्र कुलिङ्ग और पारावत पक्षीकी तरह होते हैं, वे सब शूर और शत्रुसेनाको मथनेवाले होते हैं ॥७॥

मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तथापरे ।
प्रवादिन: सुचण्डाश्च क्रोधिन: किंनरीस्वना: ॥ ८ ॥

जिनका स्वर हरिनोंके समान और आंखें बाघ तथा बैलोंके समान होती हैं; वे सब ही बहुत बोलनेवाले और भयंकर होते हैं; किंनरीं स्वरवाले लोग बडे क्रोधी होते हैं ॥ ८ ॥

मेघस्वना: क्रुद्धमुखा: केचित्करभनिस्वना: ।
जिह्मनासानुजङ्घाश्च दूरगा दूरपातिन: ॥ ९ ॥

जिनकी गर्जना बादलके समान, मुख क्रोध युक्त, स्वर ऊंटके समान तथा नाक और जांघ टेढी हो, वे दूर तक दौडनेवाले और अत्यंत दूरके लक्ष्यको वेधनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

बिलाडकुब्जास्तनवस्तनुकेशास्तनुत्वच: ।
शूराश्चपलचित्ताश्च ते भवन्ति दुरासदा: ॥ १० ॥

जिनका शरीर बिडालके समान कुबडा, सिरके केश और त्वचा अत्यंत पतले होते हैं, वे शूर चञ्चल और दुर्जय होते हैं ॥ १० ॥

गोधानिमीलिता: केचिन्मृदुप्रकृतयोऽपि च ।
तुरंगगतिनिर्घोषास्ते नरा: पारयिष्णव: ॥ ११ ॥

जो कोई कोई गोधा-गोहटीकी भांति आंखें बंद किये रहते हैं, जिनका कोमल स्वभाव होता है और चलते समय घोडेकी टाप जैसा शब्द करते हैं, वे मनुष्य युद्धके पार पहुंच जाते हैं ॥ ११ ॥

सुसंहताः प्रतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ।
प्रवादितेन नृत्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥

जो लोग दृढ उत्तम शरीरसे युक्त, सुन्दर सुडौल अवयववाले और बडी छातीवाले होते हैं, जो युद्धमें डरकर खडे होते हैं, वे प्रवादके समय नाचने लगते हैं और झगडेमें ही हर्षित हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

गम्भीराक्षा निःसृताक्षाः पिङ्गलां भ्रुकुटीमुखाः ।
नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥

जो गंभीर लोचन, कढे नेत्र, पिङ्गलवर्णकी आंखें, भृकुटी मुख और नेवलेके समान भूरी आंखोंवाले होते हैं, वे सब मनुष्य शूरवीर और युद्धमें शरीर त्यागनेवाले होते हैं ॥ १३ ॥

जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च ।
वक्रबाह्वङ्गुलीसक्ताः कृशा धमनिसंतताः ॥ १४ ॥

जो कुटिल दृष्टि, ऊंचे ललाटवाले, मांसरहित दाढीसे युक्त, वज्रकी तरह भुजा तथा अंगुलियोंसे युक्त होते हैं तथा जिनकी नस-नाडियां दिखाई देती हैं ॥ १४ ॥

प्रविशन्त्यतिवेगेन संपरायेऽभ्युपस्थिते ।
वारणा इव संमत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥

वे सब शूर लोग युद्ध उपस्थित होनेपर हाथीकी भांति मतवाले होकर वेगके सहित उसमें प्रवेश करते हैं और दुर्जय होते हैं ॥ १५ ॥

दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ।
उन्नतांसा पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डिका ॥ १६ ॥

जिनके केशोंके अग्रभाग पीले और बिखरे हुए हैं, पसलियां, ठोडी और मुख मोटे हैं, कंधे उन्नत, ग्रीवास्थल पृथु, विकटरूप और पिण्डली स्थूल हैं ॥ १६ ॥

उद्वृत्ताश्चैव सुग्रीवा विनता विहगा इव ।
पिण्डशीर्षाहिवक्त्राश्च वृषदंशमुखा इव ॥ १७ ॥

सुग्रीव अश्वोंके समान तथा गरुडकी भांति उद्धत स्वभाववाले हैं, वर्त्तुलाकार सिर, मुख सर्पकी तरह बडा और बिल्ली जैसा मुखवाले हैं ॥ १७ ॥

उग्रस्वना मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः ।
अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शिनः ॥ १८ ॥

जिनका स्वर कठोर होता है; वे उग्र-क्रोधी स्वभावयुक्त, और युद्धमें गरजते हुए विचरते हैं; वे धर्मज्ञानहीन, गर्वित और भयंकर आकृतिवाले होते हैं; उनका दर्शनही घोर है ॥१८॥

+

त्यक्तात्मानः सर्व एते अन्त्यजा ह्यनिवर्तिनः ।
पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चापि ते ॥ १९ ॥

युद्धमें शरीर त्यागनेवाले, युद्धसे न भागनेवाले अन्त्यज जातीय योद्धा लोगोंका सदा सेनाके मुखस्थलमें रखना चाहिये; इनको सदा पुरस्कार देना चाहिये; ये शत्रुओंके प्रहार सहन करते और उन्हें भी मारते हैं ॥ १९ ॥

अधार्मिका भिन्नवृत्ताः साध्वेवैषां पराभवः ।
एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोऽप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥ ३५४२ ॥

ये अधर्मी और धर्मकी मर्यादा भंग करनेवाले होते हैं; बार बार ये राजापर भी क्रुद्ध होते हैं; इसीलिये इन्हें साधुवृत्तिसे शान्त बचनसे काबूमें रखना चाहिये ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ १०२ ॥ ३५४२ ॥

: १०३ :

युधिष्ठिर उवाच—

जैत्र्या वा कानि रूपाणि भवन्ति पुरुषर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि ताविहेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पुरुषश्रेष्ठ ! जयशील सेनाके कौन कौनसे लक्षण श्रेष्ठ होते हैं, उसे मैं जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

जैत्र्या वा यानि रूपाणि भवन्ति पुरुषर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे पुरुषश्रेष्ठ ! जयशील सेनाके जो सब श्रेष्ठ लक्षण हैं, उसे पूर्ण रीतिसे कहता हूं ॥ २ ॥

दैवं पूर्वं विकुरुते मानुषे कालचोदिते ।
तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा ॥ ३ ॥

हे राजन् ! पहले दैवके प्रतिकूल तथा मनुष्योंके कालप्रेरित होनेपर, विद्वान पुरुष ज्ञानमय दीर्घ–दृष्टिसे उसका अनुसन्धान विशेष रूपसे मालूम कर लेते हैं ॥ ३ ॥

प्रायश्चित्तविधिं चात्र जपहोमांश्च तद्विदः ।
मङ्गलानि च कुर्वन्तः शमयन्त्यहितान्यपि ॥ ४ ॥

तब उसे निवारण करनेके वास्ते प्रायश्चित्त, जप और होम आदि मांगलिक कार्योंको करके उस अहितकारक दैवी आपत्तिकी शान्ति किया करते हैं ॥ ४ ॥

उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत ।
यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां जयं वदेत् ॥ ५ ॥

हे भारत ! जिस सेनामें वाहन और योद्धा लोग सदा उत्साहपूर्वक निवास करते हैं, उस सेनाकी निश्चय ही उत्तम विजय हुआ करती है ॥ ५ ॥

अन्वेनां वायवो वान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च ।
अनुप्लवन्ते मेघाश्च तथादित्यस्य रश्मयः ॥ ६ ॥

जब वायु प्रवाहित होकर तथा, इन्द्रधनुष, बादल और सूर्यकी किरण सेनाके अनुगामी होती हैं, ॥ ६ ॥

गोमायवश्चानुलोमावडा गृध्राश्च सर्वशः ।
आचरेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥

तथा शियार, गिद्ध और कौए आदि अनुकूल होकर उसकी अर्चना करते हैं; तभी वह उत्तम सिद्धि लाभ किया करती है ॥ ७ ॥

प्रसन्नभाः पावक उर्ध्वरश्मिः प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ८ ॥

अग्नि प्रसन्न किरण, उर्द्धरश्मि, दक्षिणावर्त्त शिखासे युक्त और धूंएसेरहित होने तथा आहुतिकी पुण्य गन्ध प्रवाहित होनेपर, पण्डित लोग उसे भावी जयके लक्षण कहा करते हैं ॥ ८ ॥

गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च शंखाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र ।
युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥

गम्भीर शब्दवाले भेरी और शंख आदिके बजने तथा युयुत्सुओंके अनुकूल होनेसे ही पण्डित लोग उसे भावी जयका रूप कहते हैं ॥ ९ ॥

इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च संप्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहुर्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ १० ॥

इष्ट मृगोंके समूह युद्धप्रस्थित पुरुषोंके पीछे, जो संग्रामके वास्ते गमन करें उनके बांई ओर; तथा युद्ध करते समय दाहिनी ओर रहनेसे ऊपर कहे हुए सब कार्य इष्टसिद्धिसूचक होते हैं; और अगाडी रहनेपर पहिले कहे हुए कार्योंमें प्रतिषेध किया करते हैं ॥ १० ॥

मंगल्यशब्दाः शकुना वदन्ति हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः ।
हृष्टा योधाः सत्त्ववन्तो भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ११ ॥

हंस, क्रौञ्च, सारस और स्वर्णचातक आदि पक्षियोंके मांगलिक शब्द करने और बलवान योद्धाओंके हर्षित होनेपर, पण्डित लोग उसे भविष्य जयके लक्षण कहा करते हैं ॥ ११ ॥

शस्त्रैः पत्रैः कवचैः केतुभिश्च सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिप्रेक्षणीया येषां चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥ १२ ॥

जिनकी सेना शस्त्र, पत्र, कवच और पताकासे शोभित हो और जिनके सैनिकोंके मुखमण्डलकी उज्ज्वल किरणसे प्रकाशित हुई सेनाकी ओर शत्रुओंको देखनेका साहस नहीं होता, वही शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ १२ ॥

शुश्रूषवश्चानभिमानिनश्च परस्परं सौहृदमास्थिताश्च ।
येषां योधाः शाचमनुष्ठिताश्च जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥

शूर योद्धा पुरुषोंके स्वामीसेवामें रत, अभिमान रहित, आपसमें सुहृदभावयुक्त और पवित्र आचारवाले होनेपर पण्डित लोग उसे भावी जयका लक्षण कहा करते हैं ॥ १३ ॥

शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः ।
धैर्यं चाविशते योधान्विजयस्य मुखं तु तत् ॥ १४ ॥

मनके प्रसन्न करनेवाले शब्द, स्पर्श और गन्ध प्रवाहित होने और योद्धाओंके धैर्यशाली होने पर बुद्धिमान पुरुष उसे विजयका रूप कहा करते हैं ॥ १४ ॥

इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः ।
पश्चात्संसाधयत्यर्थं पुरस्तात्प्रतिषेधति ॥ १५ ॥

कौआ संग्राममें प्रविष्ट हुए पुरुषके बाईं ओर तथा जो युद्धमें प्रवेश करेंगे, उनकी दाहिनी ओर रहनेसे इष्ट साधन करता है; और पीछे रहनेपर भी कार्यकी सिद्धि करता है तथा अगाडी रहनेपर बाधा करता है ॥ १५ ॥

संभृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां युधिष्ठिर ।
साम्नैवावर्तने पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥

हे युधिष्ठिर ! पहिले महत् चतुरङ्गिनी सेना संग्रह करके तुम्हें शत्रुसे सामके जरिये संधि करनेका प्रयत्न करना चाहिये और यदि वह सफल न हो तो युद्धमें नियुक्त होवे ॥ १६ ॥

जघन्य एष विजयो यद्युद्धं नाम भारत ।
याहच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् ॥ १७ ॥

हे भारत ! रणभूमिमें युद्ध करके जो विजय प्राप्त होती है, वह अधम जय कहके गिनी जाती है; यह विजय यदृच्छा क्रमसे वा दैवी संयोगसे प्राप्त होती है, यह बात विचारणीय होती है; इसका पहलेसे निश्चय नहीं होता ॥ १७ ॥

अपामिव महावेगस्त्रस्ता मृगगणा इव ।
दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥

भागती हुई बडी सेना जलके महान् वेग और डरे हुए महामृगोंके समूहोंकी भांति रोकना अत्यंत कठिन होता है ॥ १८ ॥

भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोऽपि नकारणम् ।
उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥ १९ ॥
विशाल सेना मृगोंके समूहोंके समान होती है; उसमें बलवान वीर होनेपर भी, कुछ भागते हैं; यह देखकर सब भागने लगते हैं, जब उन्हें उसका कारण नहीं ज्ञात होता है ॥ १९ ॥

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः ।
अपि पञ्चाशतिः शूरा मृद्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥
आपसमें परिचित, हर्ष और उत्साहसे युक्त, प्राण त्यागनेवाले और मरने–मारनेके दृढ निश्चय युक्त पचास शूर पुरुष युद्धमें बहुतसी शत्रु सेनाको नाश करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २० ॥

अथ वा पञ्च षट्सप्त सहिताः कृतनिश्चयाः ।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्रवान् ॥ २१ ॥
युद्धमें कृतनिश्चय, सत्कुलमें उत्पन्न हुए सम्मानित पांच, छः वा सात शूर पुरुष ही युद्ध करनेपर अनायास ही बहुतसी शत्रु सेना जय कर सकते हैं ॥ २१ ॥

संनिपातोः न गन्तव्यः शक्ये सति कथंचन ।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥ २२ ॥
जब तक सन्धि हो सकती हो, तो किसी प्रकार युद्धकी अभिलाष न करे; क्यों कि साम, भेद और दान इन सबसे अनन्तर युद्ध विहित हुआ करता है ॥ २२ ॥

संसर्पणाद्धि सेनाया भयं भीरून्प्रबाधते ।
वज्रादिव प्रज्वलितादियं क नु पतिष्यति ॥ २३ ॥
सेनाको सामनेसे आते देखते ही कायरोंको भय उत्पन्न होता है; जैसे "प्रज्वलित वज्रसे बिजली कभी गिरेगी" इसी भयसे कायर पुरुष बाध्य होते हैं ॥ २३ ॥

अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्यथ ।
तेषां स्पन्दन्ति गात्राणि योधानां विषयस्य च ॥ २४ ॥
शत्रुसेनाको यद्धके वास्ते आती जानके जो लोग उसकी ओर दौडते हैं, उन सब योद्धाओंके शरीर युद्धकी लालसासे स्पन्दित होते हैं ॥ २४ ॥

विषयो व्यथते राजन्सर्वः सस्थाणुजङ्गमः ।
शस्त्रप्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहिनाम् ॥ २५ ॥
हे राजन् ! स्थाणु और जङ्गमके सहित विषय अर्थात् सब देश अनेक भांति शस्त्र–अस्त्र तापसे व्यथित होता है और शस्त्र–अस्त्र तापसे तापित देहधारियोंकी मज्जा सूखने लगती है ॥ २५ ॥

तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः ।
संपीड्यमाना हि परै योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥

उन प्रजाओंके प्रति कठोरताके साथ सब भांतिसे मधुर वचनोंका प्रयोग बारबार करना चाहिये; केवल कठोर वचनोंसे दुःखित हो वे सब तरहसे शत्रुओंको मिल जाते हैं ॥ २६ ॥

अन्तराणां च भेदार्थं चारानभ्यवचारयेत् ।
यश्च तस्मात्परो राजा तेन सन्धिः प्रशस्यते ॥ २७ ॥

अनन्तर शत्रुओंके मित्रोंमें भेद करानेके लिये गुप्त दूत भेजे; शत्रुओंके बीच जो बलवान् होवे, उसहींके साथ राजा सन्धि करे ॥ २७ ॥

न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथाविधा ।
यथा सार्धममित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥

यदि ऐसा न हो– शत्रुके साथ सन्धि करके जो पीडा दी जा सकती है– तो जिसमें शत्रुके साथ सब भांतिसे प्रतिकूलता होवे, उसी भांति शत्रुओंको पीडित करना असाध्य हो जाता है ॥ २८ ॥

क्षमा वै साधुमाया हि न हि साध्वक्षमा सदा ।
क्षमायाश्चाक्षमायाश्च विद्धि पार्थ प्रयोजनम् ॥ २९ ॥

हे पार्थ ! क्षमा साधुओंके समीपमें ही सदा समागम होती है, उनके निकट कभी अक्षमा समागम नहीं होती; इससे क्षमा और अक्षमा दोनोंके प्रयोजनको मालूम करो ॥ २९ ॥

विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञोऽभिवर्धते ।
महापराधा ह्यप्यस्मिन्विश्वसन्ति हि शत्रवः ॥ ३० ॥

जो राजा जयलाभ करके शत्रुओंके अपराध क्षमा करता है, उसका यश विशेष रूपसे बढता है और शत्रु लोग महा अपराध रहनेपर भी उसका विश्वास किया करते हैं ॥ ३० ॥

मन्यते कर्शयित्वा तु क्षमा साध्विति शम्बरः ।
असंतप्तं तु यद्दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥ ३१ ॥

दैत्यवर शम्बरने ऐसा मत स्थिर किया है, कि पहिले शत्रुको दुःखित करके फिर क्षमा करनी ही उत्तम कार्य है; क्यों कि टेढी बांस आदि लकडियोंको न जलाके सरल करनेसे वे सब फिर सीधी हुआ करती है ॥ ३१ ॥

नैतत्प्रशंसन्त्याचार्या न च साधु निदर्शनम् ।
अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥ ३२ ॥

आचार्य लोग इस शम्बर मतकी प्रशंसा नहीं करते, क्यों कि यह साधुओंका निदर्शन नहीं है; परन्तु वे लोग ऐसा कहते हैं कि शत्रुओंको निज पुत्रके समान विना क्रोध किये पालन करना उचित है, उनका नाश न करे ॥ ३२ ॥

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर ।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयभाग्भवेत् ॥ ३३ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! राजाके प्रचण्ड--उग्र स्वभावके होनेपर सब प्राणी उससे द्वेष करते हैं और कोमल होने पर भी सब कोई उसकी अवज्ञा किया करते हैं । इससे राजा उग्रता और मृदुता दोनोंका ही आचरण किया करे ॥ ३३ ॥

प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात्प्रहरन्नपि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायेत शोचन्निव रुदन्निव ॥ ३४ ॥

हे भारत ! शत्रुओंके ऊपर प्रहार करनेके पहिले और प्रहारके समय भी प्रिय वचन ही कहे, तथा प्रहार करके रोदन और शोक प्रकाश करके उन पर कृपा करे ॥ ३४ ॥

न मे प्रियं यत्स हतः संप्राहैवं पुरो वचः ।
न चकर्थ च मे वाक्यमुच्यमानः पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

और घायल तथा प्रहार करनेवाले पुरुषोंका गुप्त रीतिसे सम्मान करके यह वचन कहे, कि मेरी सेनाने युद्धमें शूर पुरुषोंको मार डाला है, यह मेरा प्रिय नहीं किया है, मैंने वार वार उन लोगोंसे कहा है, उन्होंने मेरे वचनकी रक्षा न की ॥ ३५ ॥

अहो जीवितमाकाङ्क्षे नेदृशो वधमर्हति ।
सुदुर्लभाः सुपुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ ३६ ॥

ओहो ! युद्धमें पीछे न हटनेवाले उत्तम पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, मैं उनके जीवनकी अभिलाष करता हूं, ऐसा वध अत्यंत अयोग्य हुआ है ॥ ३६ ॥॥

कृतं ममाप्रियं तेना येनायं निहतो मृधे ।
इति वाचा वदन्हन्तॄन्पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥

जिन्होंने युद्धमें इन शूरवीरोंको मारा है, उन्होंने मेरे अनिष्टके अतिरिक्त इष्ट नहीं किया है; ऐसा वचन कहके गुप्त रीतिसे प्रहर्ता पुरुषोंको-- जिन्होंने शत्रुके प्रमुख वीरोंका वध किया हो-- सम्मानित करे ॥ ३९ ॥

हन्तॄणां चाहतानां च यत्कुर्युरपराधिनः ।
क्रोशेद्बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षञ्जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥

और पुरुषोंको संग्रह करनेके इच्छावाले पराक्रमी राजा अपने और प्रहर्ता पुरुषोंके लिये ऐसा ही दुःख प्रकट करे, जैसे अपराधी किया करते हैं; उनको अपने अनुकूल करनेके लिये उन पुरुषोंकी भुजा ग्रहण करके उनके ऊपर विलाप प्रकाश करे ॥ ३८ ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरन् ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥

जो राजा इसी प्रकार सब अवस्थामें ही शान्तता युक्त कार्य करता है, वह धर्मज्ञ राजा सब प्राणियोंका प्यारा तथा निर्भय होता है ॥ ३९ ॥

विश्वासं चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत ।
विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥

हे भारत ! सब कोई उसके ऊपर विश्वास करते हैं । विश्वास योग्य होनेपर वह उनके साथ रहकर इच्छानुसार सबका उपभोग कर सकता है ॥ ४० ॥

तस्माद्विश्वासयेद्राजा सर्वभूतान्यमायया ।
सर्वतः परिरक्षेच यो महीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥ ३५८३ ॥

इससे जो राजा इस पृथ्वीका राज्य भोग करनेका अभिलाषी होवे, वह कपटरहित होके सबको ही विश्वासित करे और सब तरहके प्रजाकी रक्षा करे ॥ ४१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥ ३५८३ ॥

---

§ 104 §

युधिष्ठिर उवाच—

कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव ।
अरौ वर्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! राजन् ! प्रबलपक्षवाले शत्रुके कोमल वा कठोर होनेपर राजा पहिले उसके साथ कैसा आचरण करे ? वह मुझसे यथार्थ कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें पण्डित लोग इन्द्र और बृहस्पतिके सम्वादयुक्त प्राचीन इतिहासका वर्णन किया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥

शत्रुओंके वीरोंका नाश करनेवाले देवराज शचीपतिने बृहस्पतिके पास जाकर प्रणाम कर हाथ जोडके उनसे पूंछा ॥ ३ ॥

अहितेषु कथं ब्रह्मन्वर्तेयमप्रमतन्द्रितः ।
असमुच्छिद्य चैवेनान्नियच्छेयमुपायतः ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं सावधान होके शत्रुओंके साथ किस प्रकार प्रवृत्त होऊंगा और उन लोगोंको जड सहित नष्ट न करके फिर किस उपायसे उन्हें दमन करूंगा ? ॥ ४ ॥

सेनयोर्व्यतिषङ्गेण जयः साधारणो भवेत् ।
किं कुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीः प्रतापिनी ॥ ५ ॥

दोनों सेनाके इकट्ठी होकर संग्राम करने पर साधारणकी जय हुआ करती है; इससे मैं क्या करूं, जिससे शत्रुओंको सन्ताप देनेवाला यह उज्ज्वला लक्ष्मी मुझे परित्याग न करे ? ॥५॥

ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान् ।
राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरंदरम् ॥ ६ ॥

ऐसे पूछे जानेपर धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गके प्रतिपादनमें कुशल, प्रतिभाशाली और राज-धर्मके विधानको जाननेवाले बृहस्पतिने सुरपतिसे कहा ॥ ६ ॥

न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः ।
बालसंसेवितं ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमा ।
न शत्रुर्विवृतः कार्यो वधमस्याभिकाङ्क्षता ॥ ७ ॥

हे देवराज ! राजा कभी कलहसे शत्रु पुरुषोंको दमन करनेकी अभिलाष न करे; क्यों कि बालक ही क्रोध और अक्षमाकी सेवा किया करते हैं। शत्रुवधकी इच्छा करनेवाला राजा शत्रुको सावधान न करे ॥ ७ ॥

क्रोधं बलममर्षं च नियम्यात्मजमात्मनि ।
अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन् ॥ ८ ॥

क्रोध, बल और हर्षको निज शरीरमें छिपाते हुए, उसका विश्वास न करके विश्वस्तकी भांति उसके साथ व्यवहार करे ॥ ८ ॥

प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किंचिदाचरेत् ।
विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासं च वर्जयेत् ॥ ९ ॥

उससे सदा प्रियवचन कहे; उसके साथ कोई अप्रिय आचरण न करे; निष्फल वैरसे विरत होवे और कण्ठको पीडा देनेवाले वाद विवादको त्याग करे ॥ ९ ॥

+

यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ।
तान्द्विजान्कुरुते वश्यांस्तथा युक्तो महीपतिः ।
वशं चोपनयेच्छत्रून्निहन्याच्च पुरंदर ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! जैसे व्याध सावधानीसे पक्षियोंको फंसानेके लिये उन्हींके समान शब्द करते हुए विहङ्गोंको अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही उद्यमशील राजा शत्रुओंको वशमें करके उन लोगोंका वध करे ॥ १० ॥

न नित्यं परिभूयारीन्सुखं स्वपिति वासव ।
जागर्त्येव च दुष्टात्मा संकरेऽग्निरिवोत्थितः ॥ ११ ॥

हे वासव ! राजा शत्रुओंका सदा तिरस्कार करके सदा सुखकी नींद नहीं सो सकता; वह दुष्टात्मा राजा प्रज्वलित अग्निकी भांति सदा ही जागता रहता है ॥ ११ ॥

न संनिपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति ।
विश्वास्यैवोपसंन्यास्यो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! युद्धमें जय एक समान्य वस्तु होनेपर युद्ध करना उचित नहीं है; इससे उन लोगोंका विश्वासपात्र और प्रिय होके उन्हें वशीभूत करके अर्थ साधनमें प्रवृत्त होवे ॥ १२ ॥

संप्रधार्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः ।
उपेक्षमाणोऽवज्ञाते हृदयेनापराजितः ॥ १३ ॥

शत्रुओंके उपेक्षा वा अवज्ञा करनेपर भी राजा अपने मनसे पराजित न होकर, वह महात्मा मन्त्र जाननेवाले मन्त्रियोंके सहित मन्त्रणा स्थिर करे ॥ १३ ॥

अथास्य प्रहरेत्काले किंचिद्विचलिते पदे ।
दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १४ ॥

अनन्तर शत्रुओंके तनिक विचलित होनेपर ही उस समय उनके ऊपर प्रहार करे और आप्तकारी पुरुषोंके जरिये उनकी सेनामें फूट डलवा दे ॥ १४ ॥

आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नं च विचारयेत् ।
बलानि दूषयेदस्य जानंश्चैव प्रमाणतः ॥ १५ ॥

राजा शत्रुके, आदि, मध्य और अन्तको मालूम कर, गुप्त भावसे मन ही मन विषम भाव धारण करके, उन लोगोंकी सेनाको सब प्रमाणके अनुसार जानके उसमें फूट डाले ॥ १५ ॥

भेदेनोपप्रदानेन संसृजन्नौषधैस्तथा ।
न त्वेव चैलसंसर्गं रचयेदरिभिः सह ॥ १६ ॥

भेद, दान अथवा औषधिके जरिये उन लोगोंमें मतभेद निर्माण करे; परन्तु शत्रुओंके साथ कभी प्रकटरूपसे संबंध स्थापित करनेकी अभिलाष न करे ॥ १६ ॥

दीर्घकालमपि क्षान्त्वा विहन्यादेव शात्रवान् ।
कालाकाङ्क्षी यामयेच्च यथा विस्रम्भमाप्नुयुः ॥ १७ ॥

शत्रुओंको मारनेके लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करे; वे लोग जिस प्रकार विश्वास लाभ करें वैसे ही कार्योंको करते हुए बहुत समयकी आकांक्षा करके समय बितावे, अनन्तर सब शत्रुओंको नष्ट करे ॥ १७ ॥

न सद्योऽरीन्विनिर्हन्याद्दृष्टस्य विजयोऽज्वरः ।
न यः शल्यं घट्टयति नवं च कुरुते व्रणम् ॥ १८ ॥

राजा शत्रुओंपर तत्काल आक्रमण न करे; निश्चित मन होकर विजयके लिये विचार करे; राजा शत्रुओंके ऊपर शल्य न चलावे और वाक्यबाणसे भी उन्हें घायल न करे ॥ १८ ॥

प्राप्ते च प्रहरेत्काले न स संवर्तते पुनः ।
हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपुं प्रति ॥ १९ ॥

हे देवेन्द्र ! शत्रुवधकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिये शत्रु नाशका समय बारंबार फिर नहीं प्राप्त होता; इससे समय उपस्थित होनेपर ही राजा शत्रुओंके ऊपर प्रहार करे, कभी समयको न बीतने देवे ॥ १९ ॥

यः कालो हि व्यतिक्रामेत्पुरुषं कालकाङ्क्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनः कालः कालधर्मचिकीर्षुणा ॥ २० ॥

जो समय समयकी अभिलाप करनेवाले पुरुषको अतिक्रम करता है, कर्मचिकीर्षु पुरुषके लिये फिर उस समयका मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ २० ॥

और्जस्थ्यं विजयेदेवं संगृह्णन्साधुसंमतान् ।
कालेन साधयेन्नित्यं नाप्राप्तेऽभिनिपीडयेत् ॥ २१ ॥

राजा साधु पुरुषोंकी सम्मतिसे अपने बलको बढाकर सदा विजय प्राप्त करे; अनुकूल अवसर न आये तो शत्रुको पीडा न दे; योग्य समय प्राप्त होनेपर सदा सब कार्य पूर्ण करे ॥ २१ ॥

विहाय कामं क्रोधं च तथाहंकारमेव च ।
युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुरंदर ॥ २२ ॥

हे इन्द्र ! राजा काम, क्रोध और अभिमानको त्यागके सावधानतासे बारबार शत्रुओंके छिद्रका अनुसन्धान करे ॥ २२ ॥

मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम ।
मायाश्च विविधाः शक्र साधयन्त्यविचक्षणम् ॥ २३ ॥

हे देवताओंमें उत्तम शक्र ! मृदुता, दम्भ, आलस्य और प्रमाद ये चारों तथा सब विविध माया येही सब अनभिज्ञ राजाको कष्ट देते हैं ॥ २३ ॥

निहत्यैतानि चत्वारि मायां प्रतिविधाय च ।
ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥ २४ ॥

इससे राजा मृदुता आदि ऊपर कहे हुए चारोंको दमन करके तथा शत्रुकी समस्त मायाका प्रतिकार करे; फिर वह विना विचारे शत्रुपर प्रहार कर सकता है ॥ २४ ॥

यदैवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत् ।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विद्रावयन्त्यपि ॥ २५ ॥

राजा अकेले ही जहांतक गुप्त कार्यको करनेमें समर्थ होसके, वहां तक उसे कर डाले, क्योंकि मन्त्री लोग कभी कभी गुप्त मन्त्रोंको प्रकाशित करते और आपसमें सुना भी दिया करते हैं ॥ २५ ॥

अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत् ।
ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरङ्गिणीम् ॥ २६ ॥

परन्तु अकेले विचार विषयमें एकबारगी असमर्थ होनेपर दूसरोंके साथ मन्त्रणा करे। अनन्तर शत्रुओंके अदृष्ट अर्थात् दूर होनेपर उनके ऊपर ब्रह्मदण्ड अभिचार आदि प्रयोग करे; और निकटमें रहनेपर उनकी ओर चतुरङ्गिनी सेना नियुक्त करे ॥ २६ ॥

भेदं च प्रथमं युञ्ज्यात्तूष्णींदण्डं तथैव च ।
काले प्रयोजयेद्राजा तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ २७ ॥

राजा पहिले शत्रुके प्रति भेद नीतिका प्रयोग करे; फिर योग्य अवसर उपस्थित होनेपर उस शत्रुके प्रति भिन्न भिन्न समयमें शीघ्र दण्ड नीतिका प्रयोग करे ॥ २७ ॥

प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः ।
युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥ २८ ॥

राजा समयके अनुसार बलवान् शत्रुके निकट प्रणत होवे; परन्तु शत्रुके असावधान होनेपर राजा स्वयं सावधान और उद्यमशील होके उसके वधका अनुसन्धान करे ॥ २८ ॥

प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन् ।
अमित्रमुपसेवेत न तु जातु विशङ्कयेत् ॥ २९ ॥

राजा प्रणिपात, दान और मीठे वचनसे शत्रुकी भी मित्रके समान प्रसन्नता सिद्ध करे, परन्तु कदापि उसे शङ्कित न करे ॥ २९ ॥

स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विवर्जयेत् ।
न च तेष्वाश्वसेद्द्रुग्ध्वा जाग्रतीह निराकृताः ॥ ३० ॥

जो सब शत्रु शङ्कित हुए हैं, राजा वैसे शत्रुओंके स्थान पर न जावे, उनका कभी विश्वास न करे; क्यों कि उसके द्वारा निरस्कृत हुए शत्रु सदा ही बदला लेनेके लिये सावधान रहते हैं ॥ ३० ॥

न ह्यतो दुष्करं कर्म किंचिदस्ति सुरोत्तम।
यथा विविधवृत्तानामैश्वर्यममराधिप ॥ ३१ ॥

हे सुरपति ! अनेक प्रकारके व्यवहार कुशल लोगोंके ऐश्वर्यपर शासन करना अत्यंत कठिन कर्म है, उससे बढकर दुष्कर कर्म और कोई नहीं है ॥ ३१ ॥

तथा विविधशीलानामपि संभव उच्यते।
यतेत योगमास्थाय मित्रामित्रानवारयन् ॥ ३२ ॥

ऐसे भिन्न भिन्न प्रकारकी वृत्तिके लोगोंपर नियंत्रण करना शक्य है, जभी राजा उद्यमशील होकर मित्र और शत्रुके विषयमें विचार करके अनिष्टका निवारण करनेमें प्रयत्नशील रहे ॥ ३२ ॥

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः।
मातीक्ष्णो मामृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥ ३३ ॥

राजाके मृदुस्वभाव होनेपर प्रजा उसकी अवज्ञा करती है और कठोर स्वभाव होनेपर उससे व्याकुल हुआ करती है; इससे तुम केवल कोमल वा कठोर न होकर कठोर और कोमल दोनों भावको ही अवलम्बन करो ॥ ३३ ॥

यथा वप्रे वेगवति सर्वतःसंप्लुतोदके।
नित्यं विवरणाद्बाधस्तथा राज्यं प्रमाद्यतः ॥ ३४ ॥

जैसे वेगशाली जलके जरिये सब तरहसे परिपूरित तट सदा विदारण करनेसे उसमें बाधा होती है, वैसे ही राजाके सावधान न होनेपर उसके राज्यके विनष्ट होनेका भय रहता है ॥ ३४ ॥

न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान्।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरंदर ॥ ३५ ॥

हे पुरन्दर ! राजा बहुतसे शत्रुओंपर एक साथ आक्रमण न करे; साम, दान, भेद और दण्डसे इनमें एक एकको ॥ ३५ ॥

एकैकमेषां निष्पिंषञ्शिष्टेषु निपुणं चरेत्।
न च शक्तोऽपि मेधावी सर्वानेवारभेन्नृपः ॥ ३६ ॥

दबाकर शेष बचे हुए शत्रुको नष्ट करनेके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न करे; मेधावी राजा समस्त उपाय प्रयोग करनेमें समर्थ होनेपर भी सब शत्रुओंको नष्ट करनेका कार्य एक साथ आरम्भ न करे ॥ ३६ ॥

यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला।
पदातियन्त्रबहुला स्वनुरक्ता षडङ्गिनी ॥ ३७ ॥

जब हाथी, घोडे और रथोंसे युक्त, अनेक पदाति और यन्त्रोंसे परिपूरित षडङ्गिनी विशाल सेना स्वामीके प्रति अनुरक्त होवे ॥ ३७ ॥

यदा बहुविधां वृद्धिं मन्यते प्रतिलोमतः ।
तदा विवृत्य प्रहरेद्दस्यूनामविचारयन् ॥ ३८ ॥

और जिस समय राजा शत्रुसे अपने बलकी अनेक भांतिसे वृद्धि तथा उन्नति समझे, उस समय विचार न करके प्रकाश्य भावसे डाकू और लुटेरोंपर प्रहार करनेमें प्रवृत्त होवे ॥ ३८ ॥

न साम दण्डोपनिषत्प्रशस्यते न मार्दवं शत्रुषु यात्रिकं सदा ।
न सस्यघातो न च संकरक्रिया न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥ ३९ ॥

शत्रुके ऊपर साम उपायका प्रयोग करना उत्तम नहीं है, इससे राजा उसे न करके शत्रुके विषयमें रहस्य पूर्ण दण्डनीतिका विधान करे; परन्तु शत्रुके प्रति कोमलता, उनके साथ सदा युद्धके लिये यात्रा, शस्यनाश, विष आदिसे जल दूषित करना और बार बार प्रकृति विचार न करे ॥ ३९ ॥

मायाविभेदानुपसर्जनानि पापं तथैव स्पशसंप्रयोगात् ।
आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत पुरेषु राष्ट्रेषु च संप्रयुक्तः ॥ ४० ॥

किन्तु उनके ऊपर अनेक तरहकी माया, उन्हें परस्पर उत्थापन आदि और गुप्तरूपमें अपने गुप्तचर नियुक्त करना वैसे कपट उपाय करे; इसी प्रकार शत्रुके नगर और राज्यमें अपनी ओरसे चोरी आदि कोई पापकर्म न करे ॥ ४० ॥

पुराणि चैषामनुसृत्य भूमिपाः पुरेषु भोगान्निखिलानिहाजयन् ।
पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४१ ॥

हे बल-वृत्रसूदन ! राजा लोग पहले शत्रुओंके अनुगामी होकर उन लोगोंके पुर और राज्यमें स्थित सब भोग्य वस्तुओंको जय करके निजपुरीमें विधिपूर्वक नीति स्थापित करें ॥ ४१ ॥

प्रदाय गूढानि वसूनि नाम प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान् ।
दुष्टाः स्वदोषैरिति कीर्तयित्वा पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! राजा लोग ये मेरे सब सेवक दुष्ट हैं, दूषित हैं; इसलिये ये लोग मुझे त्यागके दूसरे राजाके शरणागत हुए हैं, लोगोंके समीप उन लोगोंके इसी प्रकार दोष वर्णन करे; और उन्हें पराये देश वा पर राज्यमें उनका भेद लेनेके लिये नियोजित करें, उनकी सारी भोग सामग्री ऊपरसे छीन लेते हैं और गुप्तरूपसे उन्हें विपुल धन देकर आत्मीय लोगोंको भी लगा देते हैं ॥ ४२ ॥

तथैव चान्यै रतिशास्त्रवेदिभिः स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः ।
सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः परेषु कृत्यानुपधारयस्व ॥ ४३ ॥

और इसी तरह दूसरे रतिशास्त्रवित्, उत्तम रीतिसे सज्जित, शास्त्र विधानके जाननेवाले सुशिक्षित तथा भाष्य कथा विशारद सेवकोंके जरिये शत्रुओंपर कृत्याका प्रयोग करे ॥ ४३ ॥

इन्द्र उवाच—

कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम ।
कथं दुष्टं विजानीयादेतत्पृष्टो ब्रवीहि मे ॥ ४४ ॥

इन्द्र बोले— हे द्विजसत्तम ! दुष्टके क्या लक्षण हैं ? दुष्टको किस प्रकार मालूम करूं ? इसे मैं पूंछता हूं, आप मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये ॥ ४४ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयति ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ४५ ॥

बृहस्पति बोले— जो पुरुष परोक्षमें लोगोंके दोष प्रकाशित करता है, सद्गुणोंसे युक्त मनुष्योंकी निन्दा करता है और दूसरे किसीके गुणके वर्णन करनेपर पराङ्मुख होकर मौनभावसे स्थित होता है; उसे दुष्ट समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

तूष्णींभावेऽपि हि ज्ञानं न चेद्भवति कारणम् ।
विश्वासमोष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४६ ॥

दुष्ट पुरुषके मौनभावसे स्थित होनेपर भी उसकी दुष्टताको जाना जा सकता है; कुछ कारण न होनेपर भी वह पुरुष लम्बी सांस छोडता, ओंठ काटता और शिर कंपाता है ॥ ४६ ॥

करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते ।
अदृष्टितो विकुरुते दृष्ट्वा वा नाभिभाषते ॥ ४७ ॥

जो बारबार आकर अत्यन्त संसर्ग करता, असन्तुष्ट होकर दोषयुक्त वार्त्तालाप करता, परोक्षमें स्वीकृत कार्योंको पूरा नहीं करता और अपरोक्ष होनेपर उस विषयका उल्लेख नहीं करता, वह दुष्ट माना जाता है ॥ ४७ ॥

पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि ।
आसने शयने याने भावा लक्ष्या विशेषतः ॥ ४८ ॥

जो स्वयं आके पृथक् भोजन आदि करता है और आज भोजनादि विधिपूर्वक नहीं हुआ कहके परोक्षमें उसकी निन्दा किया करता है; इससे आसन, शयन और सवारी आदिसे दुष्टोंके अभिप्रायको मालूम करना चाहिये ॥ ४८ ॥

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ४९ ॥

हे राजन् ! जो पुरुष मित्रके पीडित होनेपर आर्त होता है और प्रिय पुरुषके प्रसन्न रहनेपर स्वयं भी प्रसन्न होता है, उसे ही मित्रके लक्षणयुक्त जानना चाहिये; इसके विपरीत होनेपर शत्रुका लक्षण मालूम करे ॥ ४९ ॥

एतान्येवं यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप ।
पुरुषाणां प्रदुष्टानां स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५० ॥

हे त्रिदशनाथ ! मैंने तुमसे इन सब लक्षणोंको जिस प्रकार कहा है, उसे विशेष करके मालूम करो; दुष्टोंका स्वभाव अत्यन्त बलवत्तर होता है ॥ ५० ॥

इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुरसत्तम ।
निशाम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५१ ॥

हे सुरसत्तम ! मेरे कहे हुए इस दुष्टविज्ञानको सुनके शास्त्रके अनुसार इसके यथार्थ तत्वको मालूम करो ॥ ५१ ॥

भीष्म उवाच—
स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रतस्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः ।
चचार काले विजयाय चारिहा वशं च शत्रूननयत्पुरंदरः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुराधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥ ३६३५ ॥

भीष्म बोले– शत्रुओंके विनाशमें तत्पर शत्रुनाशक इन्द्रने बृहस्पतिका ऐसा यथार्थ वचन सुनके उसके अनुसार आचरण किया; योग्य समय आनेपर उन्होंने विजयके लिये यात्रा करके, शत्रुओंको अपने वशमें किया ॥ ५२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ चारवां अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ ३६३५ ॥

: १०५ :

युधिष्ठिर उवाच—
धार्मिकोऽर्थानसंप्राप्य राजामात्यैः प्रबाधितः ।
च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन्कथं चरेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! धर्मात्मा राजा सेवकोंसे प्रबाधित, कोष और दण्डसे च्युत तथा अर्थलाभमें असमर्थ होकर सुखका अभिलाष होनेपर कैसा आचरण करे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—
अत्रायं क्षेमदर्शीयमितिहासोऽनुगीयते ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! ऐसे स्थलमें क्षेमदर्शी राजाके जिस इतिहासको वर्णन किया करते हैं, वह मैं तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

क्षेमदर्शं नृपसुतं यत्र क्षीणबलं पुरा ।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् ।
तं पप्रच्छोपसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥

मैंने सुना है, पहिले राजपुत्र क्षेमदर्शी शत्रुके जरिये बलक्षीण होके तथा घोर आपदमें पडके कालकवृक्षीय मुनिके निकट आये और उन्हें प्रणाम करके उनसे आपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय पूछा था ॥ ३ ॥

अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः ।
अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन्किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

राजा बोले– हे ब्रह्मन् ! मेरे समान अर्थभागी पुरुष अर्थ प्राप्तिके वास्ते बार बार यत्नवान होकर राज्य लाभ न कर सकनेपर कैसा आचरण करे ? ॥ ४ ॥

अन्यत्र मरणात्स्तेयादन्यत्र परसंश्रयात् ।
क्षुद्रादन्यत्र चाचारात्तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥ ५ ॥

हे मुनिसत्तम ! मेरे समान पुरुषोंका मरना, दैन्य, शत्रुका आश्रय और क्षुद्र आचारके अतिरिक्त जो कर्त्तव्य है, उसे कहिये ॥ ५ ॥

व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा ।
बहुश्रुतः कृतप्रज्ञस्त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥

आपके समान धर्म जाननेवाले बहुश्रुत और कृतप्रज्ञ महात्मा ही शारीरिक और मानसिक व्याधिसे युक्त मनुष्यके आश्रय हुआ करते हैं ॥ ६ ॥

निर्विद्य हि नरः कामान्नियम्य सुखमेधते ।
त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वाप्रीतिमयं वसु ॥ ७ ॥

पुरुष विषय भोगसे विरक्त होकर प्रीति और शोक परित्याग करके प्रीतिमय वस्तु लाभ करनेसे सुख भोगनेमें समर्थ होता है ॥ ७ ॥

सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् ।
मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८ ॥

जो लोग सुखको धनके आधीन समझते हैं, उनके वास्ते मैं शोक करता हूं; क्योंकि स्वप्नमें मिले धनकी भांति मेरा बहुतसा अर्थ नष्ट हुआ है ॥ ८ ॥

दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये ।
वयं त्वेनान्परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९ ॥

अहो ! जो लोग उपस्थित बहुतसे धनको परित्याग करते हैं, वे लोग अत्यन्त कठिन कार्यको करते हैं; हम हमारे पास कुछ भी धन न रहनेपर भी इस अविद्यमान धनकी आशा परित्याग नहीं कर सकते, ॥ ९ ॥

+

इमामवस्थां संप्राप्तं दीनमार्तं श्रियश्च्युतम् ।
यदन्यत्सुखमस्तीह तद्ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं श्रीभ्रष्ट होकर अत्यन्त ही आर्त्त, दीन और ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुआ हूं; इस समय धनके अतिरिक्त जिसमें सुखलाभ हो, मुझे वही उपदेश करिये ॥ १० ॥

कौसल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता ।
मुनिः कालकवृक्षीयः प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११ ॥

महातेजस्वी कालकवृक्षीय मुनि बुद्धिमान् कौशल राजपुत्र क्षेमदर्शीका ऐसा वचन सुनकर बोले ॥ ११ ॥

पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानतः ।
अनित्यं सर्वमेवेदमहं च मम चास्ति यत् ॥ १२ ॥

हे राजन् ! यद्यपि आप "मैं और मेरी जो कुछ वस्तु विद्यमान हैं, ये सब अनित्य हैं," इस प्रकार जानते हैं, तो पहिले ही आपको ऐसा समझना उचित था ॥ १२ ॥

यत्किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३ ॥

आप जो समझते हैं, कि सब वस्तु विद्यमान हैं, वे सभी नहीं हैं, ऐसाही समझिये; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ऐसा समझनेसे अत्यन्त आपदायुक्त होनेपर भी दुःखित नहीं होता ॥ १३ ॥

यद्धि भूतं भविष्यच्च ध्रुवं तन्न भविष्यति ।
एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जो होगया और जो होगा, वह सब निश्चयसे फिर न होवेगा, इसी भांति आप जानने योग्य विषयोंको जानकर अधर्मोंसे मुक्त होंगे ॥ १४ ॥

यच्च पूर्वे समाहारे यच्च पूर्वतरे परे ।
सर्वं तन्नास्ति तच्चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥ १५ ॥

पहिले पूर्व लोगोंके पास जो कुछ वस्तु थी और उसके अनन्तर जो कुछ एकके बाद दूसरेकी होती आयी है, तुम्हारी वह सब कुछ भी नहीं है; इससे उन सब विषयोंसे ममतारहित होके शान्त होकर कौन पुरुष इसे जानके दुःखित होगा ? ॥ १५ ॥

भूत्वा च न भवत्येतदभूत्वा च भवत्यपि ।
शोके न ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात्कथं नरः ॥ १६ ॥

जो हुआ है, वह फिर नहीं होता; जो नहीं हुआ है, वही हुआ करता है; शोकसे आर्त पुरुषोंमें धन उपार्ज्जनकी सामर्थ्य नहीं रहती; इससे मनुष्य किसी प्रकारका शोक न करे ॥ १६ ॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन्क्व नु तेऽद्य पितामहः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वा पश्यन्ति तेऽपि च ॥ १७ ॥

महाराज! देखिये, तुम्हारे पिता और पितामह आज कहां हैं? आज आप उन लोगोंको नहीं देख सकते हैं और वे लोग भी आपको नहीं देखते हैं ॥ १७ ॥

आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि ।
बुद्ध्या चैवानुबुध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥

आप अपने देहकी अनित्यता देखकर भी उन लोगोंके वास्ते क्यों शोक करते हैं? बुद्धिसे यह विचारिये, कि एक दिन निश्चयही तुम भी नहीं रहोंगे ॥ १८ ॥

अहं च त्वं च नृपते शत्रवः सुहृदश्च ते ।
अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति ॥ १९ ॥

हे राजन्! मैं, आप, शत्रु और आपके सुहृद लोग, निश्चय ही हम कोई न रहेंगे; सब कोई मृत्युग्रासमें पडेंगे और सभी वस्तु नष्ट होंगी ॥ १९ ॥

ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥ २० ॥

जो सब मनुष्य वीस वा तीस वर्षके जीवित हैं, एक सौ वर्षके बीच उन सबको ही मरना होगा ॥ २० ॥

अपि चेन्महतो वित्ताद्विप्रमुच्येत पूरुषः ।
नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥

यद्यपि मनुष्य महत् संपत्तिसे निवृत्त नहीं होता है, तो ऐसा होनेपर यह मेरा नहीं है, यह समझके अपना कल्याण करना चाहिये ॥ २१ ॥

अनागतं यन्न ममेति विद्यादतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात् ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानास्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः ॥ २२ ॥

जो लोग अनागत और अतीत वस्तुओंको "मेरी नहीं है" ऐसा समझते और भाग्यको ही बलवान् जानते हैं; पण्डित लोग उन्हें ही ममतारहित विद्वान् और साधुओंके स्थान मानते हैं ॥ २२ ॥

अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यं चाप्यनुशासते ।
बुद्धिपौरुषसंपन्नास्त्वया तुल्याधिका जनाः ॥ २३ ॥

जो धनाढ्य नहीं हैं, वे मनुष्य भी जीवित रहते हैं और कोई राज्य शासन भी किया करते हैं। उनमेंसे आपके समान बुद्धि और पौरुषयुक्त हैं और कुछ तुमसे बढकर भी हैं ॥२३॥

न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात्त्वमपि मा शुचः ।
किं नु त्वं तैर्न वै श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः ॥ २४ ॥

परन्तु आपकी तरह वे लोग शोक नहीं करते; इससे आप भी शोक न कीजिये। आप क्या उन बुद्धि और पौरुष युक्त पुरुषोंसे श्रेष्ठ वा उनके समान नहीं हैं? ॥ २४ ॥

राजपुत्र उवाच—

याहच्छिकं ममासीत्तद्राज्यमित्येव चिन्तये ।
ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥

राजपुत्रने कहा— हे द्विज! यदृच्छानुसार वह सब राज्य मुझे प्राप्त हुआ था, यही मैं समझता हूं; और वह सब महान् कालने हरण किया है ॥ २५ ॥

तस्यैवं ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन ।
फलमेतत्प्रपश्यामि यथालब्धेन वर्तये ॥ २६ ॥

हे तपोधन! जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहा ले जाता है, उसी प्रकार महाकालके वेगसे मेरा राज्य अपहृत हुआ है। उसके फल स्वरूप मैं यथा प्राप्त धनसे जीविका निर्वाह करके, शोकका अनुभव करता हूं ॥ २६ ॥

मुनिरुवाच—

अनागतमतीतं च यथा तथ्यविनिश्चयात् ।
नानुशोचसि कौसल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥

मुनि बोले— हे कौसल राजपुत्र! जैसे मनुष्य अनागत और अतीत वस्तुके यथार्थ रूपको निश्चय करके सब विषयोंमें शोक नहीं करता आप भी उस ही भांति सभी पदार्थोंके विषयमें शोक रहित होइये ॥ २७ ॥

अवाप्यान्कामयस्वार्थान्नानवाप्यान्कदाचन ।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन्मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥

आप प्राप्त होने योग्य वस्तुओंकी इच्छा करिये, अप्राप्त अर्थकी कभी अभिलाषा न करिये और वर्त्तमान समयके प्राप्त विषयोंका अनुभव कीजिये तथा अनागत विषयके वास्ते शोक न करिये ॥ २८ ॥

यथा लब्धोपपन्नार्थस्तथा कौसल्य रंस्यसे ।
कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रिया हीनो न शोचसि ॥ २९ ॥

हे कौशल्य! आप अभी लब्ध धनसे ही सन्तुष्ट पहले जैसे रह सकोगे? श्री हीन होनेपर शुद्ध स्वभावसे विचलित न कर क्या आप शोकरहित हुए हो? ॥ २९ ॥

पुरस्ताद्भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः ।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थांश्च न मृष्यते ॥ ३० ॥

बुद्धिहीन पुरुष पहले धन प्राप्त होकर फिर नष्ट होनेपर स्वयंको भाग्यहीन मानकर सदा विधाताकी निन्दा करता है, और प्रारब्धवश प्राप्त धनसे सन्तुष्ट नहीं होता है ॥ ३० ॥

अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान् ।
एतस्मात्कारणादेतद्दुःखं भूयोऽनुवर्तते ॥ ३१ ॥

दूसरे धनवानोंको वह धनके अयोग्य मानता है; इसी कारण यह ईर्षाजन्य दुःख उसके पीछे लगता है ॥ ३१ ॥

ईर्ष्यातिच्छेदसंपन्ना राजन्पुरुषमानिनः ।
कच्चित्त्वं न तथा प्राज्ञ मत्सरी कोसलाधिप ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! बलके अभिमानी मनुष्य ईर्षा और अभिमानके वशमें होकर दूसरेकी बुराई करनेमें प्रवृत्त होते हैं; हे कोसलाधिपति ! आप ऐसे मत्सरयुक्त तो नहीं हो ? ॥ ३२ ॥

सहस्व श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा ।
अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते जनाः ।
अभिविष्यन्दते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनात् ॥ ३३ ॥

यद्यपि आपमें वह श्री विद्यमान न रहे, तोभी आप दूसरेकी सम्पत्ति सह्य कीजिये; कभी द्वेष न करिये, क्योंकि चतुर मनुष्य दूसरोंके यहां रहनेवाली लक्ष्मीको भी सदा भोग किया करते हैं। जो मनुष्य मत्सरी होकर लोगोंकी श्रीसे द्वेष करता है, उसके पास लक्ष्मी हो तो भी वह शीघ्रही नष्ट होती है ॥ ३३ ॥

श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः ।
त्यागधर्मविदो वीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥ ३४ ॥

त्याग धर्मको जाननेवाले धीर धर्माचारी मनुष्य श्री, पुत्र और पौत्रोंको स्वयं परित्याग किया करते हैं ॥ ३४ ॥

बहु संकसुकं दृष्ट्वा विवित्सासाधनेन च ।
तथान्ये संत्यजन्त्येनं मत्वा परमदुर्लभम् ॥ ३५ ॥

दूसरे साधारण पुरुष सब कार्योंके अनुपरम और धन, इन दोनोंको अस्थिर अर्थ तथा परम दुर्लभ समझके परित्याग करते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन्कृपणं परितप्यसे ।
अकाम्यान्कामयानोऽर्थान्पराचीनानुपद्रुतान् ॥ ३६ ॥

परन्तु आप बुद्धिमान होके भी अकाम्य पराधीन अस्थिर अर्थकी कामना करते हुए, केवल कृपणकी तरह व्यर्थ शोकित होरहे हैं ॥ ३६ ॥

तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैनान्परित्यज ।
अनर्थांश्चार्थरूपेण अर्थांश्चानर्थरूपतः ॥ ३७ ॥

इससे आप उस बुद्धिको जाननेके अभिलाषी होकर यह सब भोगोंको परित्याग कीजिये; क्योंकि सब अर्थ रूपसे मालूम होनेवाले अनर्थ हैं; वास्तवमें सब भोग अनर्थ रूप हैं ॥३७॥

अर्थायैव हि केषांचिद्धननाशो भवत्युत ।
अनन्त्यं तं सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीक्षते ॥ ३८ ॥

कितने ही लोगोंका इस अर्थके ही वास्ते धननाश होता है; कोई उसे अत्यन्त सुखदायक समझके सब भांतिसे श्रीलाभ करनेकी अभिलाष किया करते हैं ॥ ३८ ॥

रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते ।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥ ३९ ॥

कोई मनुष्य श्रीमें रममाण होकर दूसरा कुछ भी सुखका साधन उससे श्रेष्ठ नहीं समझता; उस चेष्टमान पुरुषके सब कार्य ही दैववश नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

कृच्छ्राल्लब्धमभिप्रेतं यदा कौसल्य नश्यति ।
तदा निर्विद्यते सोऽर्थात्परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥

हे कौसलराज ! यदि किसी पुरुषके अभिप्रेत कष्टसे प्राप्त धन नष्ट होवे, तो वह पुरुष आशा भङ्ग होनेपर उससे निवृत्त हुआ करता है— धनसे विरक्त होता है ॥ ४० ॥

धर्ममेकेऽभिपद्यन्ते कल्याणाभिजना नराः ।
परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥

सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य पारलौकिक सुखकी इच्छा करते हुए लौकिक कार्योंसे विरत होकर केवल धर्म कार्य किया करते हैं ॥ ४१ ॥

जीवितं संत्यजन्त्येके धनलोभपरा नराः ।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥

धन लोभसे युक्त पुरुष धनके वास्ते जीवन परित्याग करते हैं, ऐसा क्या, वे लोग धनके अतिरिक्त जीवनको भी कार्यकारी नहीं समझते ॥ ४२ ॥

पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम् ।
अध्रुवे जीविते मोहादर्थतृष्णामुपाश्रिताः ॥ ४३ ॥

बरन उनकी वैसी कृपणता और निर्बुद्धिता देखिये कि जो लोग मोहके वशमें होकर अनित्य जीवनमें अर्थ दृष्टि अवलम्बन किया करते हैं ॥ ४३ ॥

संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते ।
संयोगे विप्रयोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ॥ ४४ ॥

जब सञ्चयके अनन्तर विनाशके अनन्तर मरण जीवन और संयोगके बाद वियोग ही है, तब इनकी ओर कौन अपना चित्त लगायेगा ? ॥ ४४ ॥

धनं वा पुरुषं राजन्पुरुषो वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येतत्तद्विद्वान्कोऽनुसंज्वरेत् ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! कभी पुरुष धनको और कभी धन पुरुषको अवश्य परित्याग करता है; इससे जो इस विषयको विशेष रूपसे जानता है, वह उस विषयमें कभी शोकित नहीं होता फिर इस धनके लिये कौन चिन्ता करेगा ॥ ४५ ॥

अन्येषामपि नश्यन्ति सुहृदश्च धनानि च ।
पश्य बुद्ध्या मनुष्याणां राजन्नापदमात्मनः ।
नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरम् ॥ ४६ ॥

इसी तरह दूसरोंके भी मित्र और धन नष्ट हुआ करते हैं । हे राजन् ! आप बुद्धिसे विचार करके देखिये, कि तुम्हारी आपत्ति दूसरे मनुष्योंके समान ही है । इससे आप उसे विशेष रूपसे देखकर इन्द्रिय निरोध, मन और वचनका संयम कीजिये ॥ ४६ ॥

प्रतिषिद्धानवाप्येषु दुर्लभेष्वहितेषु च ।
प्रतिकृष्टेषु भावेषु व्यतिकृष्टेष्वसंभवे ।
प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥ ४७ ॥

क्यों कि अहितकारी इन्द्रिय, मन और वाक्य इन सबके दुर्बल—दुर्लभ और सन्निकृष्ट विषयोंमें आसक्त होनेपर कोई भी उन्हें निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता; पर विषय सन्निकृष्ट होनेपर ये सब स्वयं निवारित हुआ करते हैं । आपके समान ज्ञानसे तृप्त पराक्रमी पुरुष इन्द्रियोंको दमन किया करता है, इससे वह इस विषयमें शोक नहीं करता ॥ ४७ ॥

अल्पमिच्छन्नचपलो मृदुर्दान्तः सुसंशितः ।
ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव मुह्यति ॥ ४८ ॥

इसके अतिरिक्त आपके समान मृदु, धार्मिक, सुनिश्चित और ब्रह्मचर्य युक्त मनुष्य अल्प विषयकी अभिलाषासे चञ्चल नहीं होता और उसके वास्ते शोक भी नहीं करता ॥ ४८ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ।
नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुःखां कापुरुषोचिताम् ॥ ४९ ॥

तथा तुम्हें हाथमें कपाल लेकर भीख मांगनेवालोंकी तथा निर्दय – कपटभरी वृत्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्यों कि यह पापी, दुःखमयी और कायरोंके योग्य वृत्ति है ॥ ४९ ॥

अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने ।
वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूतदयान्वितः ॥ ५० ॥

इससे आप इन्द्रियां, मन और वचनको संयम करके सब प्राणियोंमें दया प्रकाशित करते तथा महावनमें फल मूलसे जीविका निर्वाह करते हुए अकेले ही विहार कीजिये ॥ ५० ॥

सदृशं पण्डितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिना ।
यदेको रमतेऽरण्ये यच्चाप्यल्पेन तुष्यति ॥ ५१ ॥

तुम जैसे विद्वान पुरुषको वनके बीच अरण्यवृत्ति अवलम्बन करके ईषाके समान दांतवाले हाथीके साथ अकेले ही विहार करना योग्य है और वहां जंगलके पत्र, पुष्प तथा फल मूल खाकर संतुष्ट रहना चाहिये ॥ ५१ ॥

महाह्रदः संक्षुभित आत्मनैव प्रसीदति ।
एतदेवंगतस्याहं सुखं पश्यामि केवलम् ॥ ५२ ॥

जैसे महातालाव पूर्णरीतिसे क्षुभित होकर स्वयं ही प्रसन्न—निर्मल होता है; मैं ऐसी अवस्थायुक्त तुम्हें इसी भांति जीवित रहना ही अत्यंत सुखमय समझता हूं ॥ ५२ ॥

असंभवे श्रियो राजन्हीनस्य सचिवादिभिः ।
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान् ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥ ३६८८ ॥

महाराज ! मन्त्री आदिकोंसे रहित तथा दैवके प्रतिकूल रहनेपर मनुष्यको श्री असम्भव है; ऐसी अवस्थामें आप कौनसा कल्याणमय मार्गका अवलम्बन योग्य समझते हैं ? ॥ ५३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ १०५ ॥ ३६८८ ॥

: १०६ :

मुनिरुवाच—

अथ चेत्पौरुषं किंचित्क्षत्रियात्मनि पश्यसि ।
ब्रवीमि हन्त ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥ १ ॥

मुनि बोले- हे राजन् ! यदि आपके निज शरीरमें कुछ पौरुष है, ऐसा समझते हैं, तो जिसमें आपको फिर राज्य प्राप्त होवे, मैं वैसी नीति कहता हूं ॥ १ ॥

तां चेच्छक्ष्यस्यनुष्ठातुं कर्म चैव करिष्यसि ।
शृणु सर्वमशेषेण यत्त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

आप यदि उस नीतिका अनुष्ठान करने और कार्य करनेमें अपनेको समर्थ समझें; तो मैं आपसे जो सब यथार्थ वचन कहूंगा, उसे चित्त लगाके सुनिये ॥ २ ॥

आचरिष्यसि चेत्कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।
राज्यं राज्यस्य मन्त्रं वा महतीं वा पुनः श्रियम् ।
यद्येतद्रोचते राजन्पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते ॥ ३ ॥

हे राजन् ! मैं जो कहूंगा, आप यदि वैसा ही आचरण करें, तो आप निश्चय ही उसे महान् सब अर्थ, राज्य, राज्यके मन्त्र और महती श्रीको फिर प्राप्त करेंगे। इससे यह आपको रुचता है, वा नहीं, वह मुझसे फिर कहिये । क्या मैं तुमसे इसका वर्णन करूं ? ॥ ३ ॥

राजपुत्र उवाच—

ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नोऽस्म्यहं प्रभो ।
अमोघमिदमद्यास्तु त्वया सह समागतम् ॥ ४ ॥

राजाने कहा- हे भगवान् ! आप मुझसे जिस नीतिको कहना चाहते हैं, उसे अवश्य कहिये; मैं आपकी शरणमें आया हूं । आपके साथ मेरा यह समागम सफल होवे ॥ ४ ॥

मुनिरुवाच—

हित्वा स्तम्भं च मानं च क्रोधहर्षौ भयं तथा ।
प्रत्यमित्रं निषेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ ५ ॥

मुनि बोले— आप जडता, अभिमान, क्रोध, हर्ष और भय त्यागके प्रणत भावसे हाथ जोडके शत्रुओंकी भी सेवा कीजिये ॥ ५ ॥

तमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिराधय ।
दातुमर्हति ते वृत्तिं वैदेहः सत्यसंगरः ॥ ६ ॥

आप उस सत्यसन्ध विदेहराजकी शुद्ध और उत्तम कर्मोंसे आराधना कीजिये, ऐसा होनेसेही वे आपको धन दान करेंगे ॥ ६ ॥

प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च गमिष्यसि ।
ततः सहायान्सोत्साहाँल्लप्स्यसेऽव्यसनाञ्शुचीन् ॥ ७ ॥

इसी भांति क्रमसे सबसे विश्वासपात्र होनेपर आप विदेहराजकी दाहिनी बाहुस्वरूप होंगे; अनन्तर उत्साहयुक्त, व्यसनरहित, शुद्ध स्वभाववाले सहायकोंको प्राप्त कर सकेंगे ॥ ७ ॥

वर्तमानः स्वशास्त्रे वै संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ॥ ८ ॥

नीतिशास्त्रके अनुसार चलनेवाला, स्थिर चित्त, जितेन्द्रिय मनुष्य अपना तो उद्धार करता ही है, अपितु प्रजाको भी प्रसन्न कर सकता है ॥ ८ ॥

तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ।
प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा प्रग्रहणं महत् ॥ ९ ॥

श्रीमान् और धैर्यशाली उस विदेहराजसे आप सत्कृत होनेपर सबके विश्वासपात्र होकर अत्यंत ही आदरणीय होंगे ॥ ९ ॥

ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रितम् ।
अन्तरैर्भेदयित्वारीन्बिल्वं बिल्वेन शातय ।
परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥ १० ॥

उसके अनन्तर आप मित्रोंकी सेनाका लाभ कर, उत्तम मन्त्रियोंके साथ विचार करके, बेलसे बेल तोडनेकी भांति शत्रु पक्षीय आन्तरिक पुरुषोंके जरिये शत्रुओंमें भेद अथवा शत्रुओंके साथ सन्धि करके विदेह राजके सब बलको नष्ट कीजिये ॥ १० ॥

अलभ्या ये शुभा भावाः स्त्रियश्चाच्छादनानि च ।
शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ ११ ॥

जो शुभ पदार्थ अलभ्य हैं, उनमें और स्त्री, ओढनेके वस्त्र, शय्या, आसन, सवारी, महामूल्यवान गृह, ॥ ११ ॥

×

पक्षिणो मृगजातानि रसा गन्धाः फलानि च ।
तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्येत्स्वयं परः ॥ १२ ॥

विभिन्न जातिके पशु, पक्षी, रस, गन्ध और फल आदि जो सब वस्तु हैं— इनमें शत्रुको आसक्त करो; जिससे सब शत्रु स्वयं ही नष्ट होवें ॥ १२ ॥

यद्येव प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति ।
न जातु विवृतः कार्यः शत्रुर्विनयमिच्छता ॥ १३ ॥

हे राजन् ! शत्रुको यदि इन सब विषयोंमें जानेसे रोकना पडे तो वह करना चाहिये, अथवा उपेक्षाके योग्य हो तो उपेक्षा कीजिये; उत्तम नीतिका फल इच्छनेवाले राजाको शत्रुको अपना गुप्त भाव प्रकट नहीं होने देना चाहिये ॥ १३ ॥

वसस्व परमामित्रविषये प्राज्ञसंमते ।
भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्राधममनर्थकैः ॥ १४ ॥

आप बुद्धिमान पुरुषोंमें सम्मत होकर शत्रुओंके विषयमें विहार करिये और सदा सावधानी तथा भय चकित आदि कुत्ते, हिरन और कौओंके समान निरर्थक उपायोंसे मित्रधर्मका आचरण कीजिये ॥ १४ ॥

आरम्भांश्चास्य महतो दुष्करांस्त्वं प्रयोजय ।
नदीबन्धविरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १५ ॥

आप ऐसे ही उपायोंके अनुसार विदेहराजके दुष्कर महान् कार्यको आरम्भ करिये और बलवान सेनाके जरिये नदी बन्धकी भांति सब विरोध विशेप रूपसे रुद्ध करिये ॥ १५ ॥

उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिभोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १६ ॥

विदेहराजको बगीचे, महामूल्य शय्या, आसन तथा विविध भोगके साधनोंमें खर्च कराकर उसका कोष खाली करिये ॥ १६ ॥

यज्ञदानप्रशंसास्मै ब्राह्मणेष्वनुवर्ण्यताम् ।
ते त्वत्प्रियं करिष्यन्ति तं चेष्यन्ति वृका इव ॥ १७ ॥

आप ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करके उनके द्वारा विदेहराजको यज्ञ और दान आदि कार्य नियुक्त करो; पीछे अपना मङ्गलार्थ कीजिये; ऐसा होनेसे ही वे लोग भेडियेकी तरह उन्हें भक्षण करते हुए आपका मङ्गल करेंगे ॥ १७ ॥

असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति पार्थिवः ।
कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति ॥ १८ ॥

पुण्यशील राजा निश्चयही परम गतिको प्राप्त होता है; ऐसाही क्यों, वह स्वर्गमें भी पुण्यस्थान लाभ किया करता है; कोष खाली होते ही राजा शत्रुओंके अधीन हो जाता है ॥ १८ ॥

उभयत्र प्रसक्तस्य धर्मे चाधर्म एव च ।
बलार्थमूलं व्युच्छिन्द्येत्तेन नन्दन्ति शत्रवः ॥ १९ ॥

धर्म वा अधर्म दोनोंमेंही प्रसक्त रहनेवाले राजाका कोप नष्ट होता है; शत्रुके बल, फल और मूल, तथा खेती आदि नष्ट करा दे, इससे शत्रु प्रसन्न होते हैं ॥ १९ ॥

निन्द्यास्य मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ।
असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ २० ॥

यह कार्य किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं कहना, निंदा करनी; परंतु यह दैवी घटना है कहकर वर्णित करे; दैव परायण मनुष्य शीघ्र ही नष्ट होता है, यह निश्चय ही है ॥ २० ॥

याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्यताम् ।
ततो गच्छत्वसिद्धार्थः पीडयमानो महाजनम् ॥ २१ ॥

इससे आप उनके सर्वस्व दान स्वरूप विश्वजित् यज्ञ कराके उन्हें राज्यसे विरत कीजिये, उससे वह किसी श्रेष्ठ पुरुषको दुःखित करके असिद्धार्थ होकर गमन करेगा ॥ २१ ॥

त्यागधर्मविदं मुण्डं कंचिदस्योपवर्णय ।
अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिद्गच्छेदनामयम् ॥ २२ ॥

फिर किसी योगधर्म जाननेवाले मुंडित महात्माका उसके सामने वर्णन करे; जिससे वह अपने राज्यको त्यागनेकी इच्छा करने लगे; कदाचित् वह प्रकृतिस्थ रहकर वैराग्ययुक्त नहीं भी होवे ॥ २२ ॥

सिद्धेनौषधयोगेन सर्वशत्रुविनाशिना ।
नागानश्वान्मनुष्यांश्च कृतकैरुपघातय ॥ २३ ॥

तब आप सब शत्रुओंके नाश करनेवाले सिद्ध औषध प्रयोग करके उनके हाथी, घोडे और मनुष्योंका नाश करियेगा ॥ २३ ॥

एते चान्ये च बहवो दम्भयोगाः सुनिश्चिताः ।
शक्या विषहता कर्तुं नक्लीबेन नृपात्मज ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥ ३७१२ ॥

हे राजन् ! इसी प्रकार तथा दूसरे अनेक तरहके दम्भ योग निश्चित हैं, संयमी पुरुष विष प्रयोग करके सबको ही नाश करनेमें समर्थ हुआ करता है ॥ २४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ छठा अध्याय समाप्त ॥ १०६ ॥ ३७१२ ॥

: १०७ :

राजपुत्र उवाच—

न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान्सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥

राजाने कहा— हे ब्रह्मन् ! मैं कपट और दम्भके जरिये जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करता और अधर्म युक्त महत् अर्थकी भी अभिलाष नहीं करता ॥ १ ॥

पुरस्तादेव भगवन्मयैतदपवर्जितम् ।
येन मां नाभिशङ्केत यद्वा कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥

हे भगवन् ! कपटता और दम्भ रहनेसे कोई मुझ पर शङ्का करेगा ऐसा समझ कर और सबको सम्पूर्ण हित हो यह इच्छा रखकर मैंने पहिलेसे ही इन दुर्गुणोंका परित्याग किया है ॥ २ ॥

आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिञ्जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतन्मय्युपपद्यते ॥ ३ ॥

मैं इस लोकमें दया-धर्मके जरिये जीवित रहनेकी इच्छा करता हूं; इससे मैं ऐसा अधर्माचरण नहीं कर सकूंगा और आपको भी ऐसा उपदेश देना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

मुनिरुवाच —

उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे ।
प्रकृत्या ह्युपपन्नोऽसि बुद्ध्या चाद्भुतदर्शन ॥ ४ ॥

मुनि बोले— हे अद्भुत दर्शन राजन् ! आपने जैसा कहा है, वैसे गुणोंसे आप सम्पन्न हो । तुम धार्मिक वृत्तिवाले और बुद्धिमान् हो ॥ ४ ॥

उभयोरेव वामर्थे यतिष्ये तव तस्य च ।
संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनपायिनम् ॥ ५ ॥

मैं आप दोनोंके मङ्गलके वास्ते यत्न करूंगा और आपके साथ विदेहराजकी जिसमें सदाके वास्ते अक्षय सन्धि होवेगी, वही उपाय करूंगा ॥ ५ ॥

त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतम् ।
अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥

आपके समान सत्कुलमें उत्पन्न, बहुश्रुत, दयालु, राज्य प्रणयनमें कुशल पुरुषको पाके कौन राजा अमात्य पद पर नियुक्त न करेगा ? ॥ ६ ॥

यस्त्वं प्रव्रजितो राज्याद्व्यसनं चोत्तमं गतः ।
आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥

आप क्षत्रिय कुलमें जन्म ग्रहण करके राज्यच्युत और अत्यन्त विपदग्रस्त होकर भी जब दयायुक्त वृत्तिसे जीविका निर्वाह करनेके अभिलाषी हुए हैं, तब मैं आपको धन्यवाद देता हूं ॥ ७ ॥

आगन्ता मद्गृहं तात वैदेहः सत्यसंगरः ।
यथाहं तं नियोक्ष्यामि तत्करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥

हे तात ! सत्यप्रतिज्ञ विदेहराज मेरे आश्रमपर आवेंगे, मैं उन्हें जिस कार्यमें नियुक्त करूंगा, वह उसको ही पूर्ण करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच—

तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत् ।
अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम ॥ ९ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर मुनिने विदेहराजको आवाहन करके कहा— यह क्षेमदर्शी राजकुमार राजकुलमें उत्पन्न हुआ है, मैं इसके अन्तःकरणको सब भांतिसे जानता हूं ॥ ९ ॥

आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा इव ।
नास्मिन्पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥

इसका चित्त आरसीके समान शुद्ध और शरद्कालके चन्द्रमाके समान विमल है; मैंने इसकी सब प्रकारसे परीक्षा की है; मैं इसके चित्तमें किसी प्रकारकी कुटिलता नहीं देखता हूं ॥ १० ॥

तेन ते संधिरेवास्तु विश्वसास्मिन्यथा मयि ।
न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुममित्रहन् ॥ ११ ॥

इससे इसके साथ आपकी सन्धि होवे; आप जैसा मेरा विश्वास करते हैं, वैसे ही इसका भी विश्वास करिये । हे शत्रुनाशन राजन् ! कोई भी राज्य अमात्यके बिना नहीं चलाया जा सकता ॥ ११ ॥

अमात्यः शूर एव स्याद्बुद्धिसंपन्न एव च ।
ताभ्यां चैव भयं राज्ञः पश्य राज्यस्य योजनम् ।
धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी ॥ १२ ॥

इससे राजा वीरता और बुद्धियुक्त मनुष्यको मन्त्री करे; पराक्रम और बुद्धिबल इन दोनोंसे ही राजाको भय रहता है; इसलिये देखिये, धर्मात्मा राजाओंको इस जगत्में अच्छे मन्त्रीके समान दूसरी गति कहीं भी नहीं है ॥ १२ ॥

कृतात्मा राजपुत्रोऽयं सतां मार्गमनुष्ठितः ।
सुसंगृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः ।
संसेव्यमानः शत्रूंस्ते गृह्णीयान्महतो गणान् ॥ १३ ॥

यह राजपुत्र क्षेमदर्शी कृतात्मा है; विशेष करके इन्होंने साधुओंके मार्गको अवलम्बन किया है । इस राजपुत्रको धर्मके सामने रखकर आप संग्रह करके पूर्ण रीतिसे सेवा करनेसे यह आपके भारी शत्रुओंको निग्रह करेगा ॥ १३ ॥

यद्ययं प्रतियुध्येत्त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत् ।
जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे ॥ १४ ॥

यदि यह अपने पिता–पितामह राज्यके वास्ते तुम्हें जीतनेके लिये युद्धकी इच्छा करके आपके साथ संग्राम करनेमें प्रवृत्त होगा तो क्षत्रियके लिये यह स्वधर्मका पालनही होगा ॥१४॥

त्वं चापि प्रतियुध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः ।
अयुद्ध्वैव नियोगान्मे वशे वैदेह ते स्थितः ॥ १५ ॥

तब आप भी विजयकी अभिलाषासे इनके सङ्ग युद्ध करोगेही; परन्तु हे वैदेह ! ऐसा न करके मेरी इच्छाके अनुसार इसके हितैषी होकर इसे वशमें करिये ॥ १५ ॥

स त्वं धर्ममवेक्षस्व त्यक्त्वाधर्ममसांप्रतम् ।
न हि कामान्न च द्रोहात्स्वधर्मं हातुमर्हसि ॥ १६ ॥

आप धर्मदर्शी होके अपने समान पुरुषोंसे अनुचित अधर्मको त्यागकर धर्मकी रक्षा करिये; काम और क्रोधके वशमें होकर निज धर्मको त्यागना आपको उचित नहीं है ॥ १६ ॥

नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः ।
तस्माद्भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः ॥ १७ ॥

हे तात ! एक पुरुषकी सदा पराजय नहीं होती; जय–पराजय दोनों ही हुआ करती है; इससे भोग्य वस्तुओंके जरिये शत्रुके साथ सन्धि करनी उचित है ॥ १७ ॥

आत्मन्येव हि संदृश्यावुभौ जयपराजयौ ।
निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद्भयम् ॥ १८ ॥

हे तात ! जय–पराजय दोनों ही अपनेमें देखना चाहिये; निःशेषकारियोंको निःशेष–निबन्धन रूपी भय हुआ करता है ॥ १८ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम् ।
अभिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य च ॥ १९ ॥

विदेहराज जनक कालक वृक्षीय मुनिका ऐसा वचन सुनकर उन पूजनीय ब्राह्मणश्रेष्ठ मुनिका सम्मान और सत्कार करके तथा उनकी बातका अनुमोदन करके बोले– ॥ १९ ॥

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद्बहुश्रुतः ।
श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोर्यत्क्षमं भवेत् ॥ २० ॥

हे ब्रह्मन् ! आप महाबुद्धिमान्, महाश्रुत और हमारा कल्याण इच्छिनेवाले हैं, इससे आपने हम दोनोंमें मेलकी इच्छा करके जो कुछ कहा वह हम दोनोंको शिरोधार्य है ॥ २० ॥

तथा वचनमुक्तोऽस्मि करिष्यामि च तत्तथा ।
एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २१ ॥

आपने मुझसे जैसा कहा, मैं वैसाही करूंगा; क्यों कि मैं इसे परम कल्याणदायक बोध करता हूं; इस विषयमें अब मैं कुछ भी विचार न करूंगा ॥ २१ ॥

ततः कौसल्यमाहूय वैदेहो वाक्यमब्रवीत् ।
धर्मतो नीतितश्चैव बलेन च जितो मया ॥ २२ ॥

अनन्तर वैदेह जनकने कौसलराज क्षेमदर्शीको आवाहन करके कहा, हे राजसत्तम ! मैंने धर्म, नीति और बलसे पृथ्वीपर जय किया है ॥ २२ ॥

सोऽहं त्वया त्वात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम ।
आत्मानमनवज्ञाय जितवद्वर्ततां भवान् ॥ २३ ॥

परन्तु हे नृपश्रेष्ठ ! आपने अपनी अवज्ञा करके निज गुणोंसे मुझे जय किया है; इससे आप विजयीकी भांति विराजमान रहिये ॥ २३ ॥

नावमन्ये च ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम् ।
नावमन्ये जयामीति जितवद्वर्ततां भवान् ॥ २४ ॥

मैं आपके बुद्धि और पौरुषकी अवज्ञा नहीं कर सकता; मैंने आपपर विजय प्राप्त की है, यह सोचकर तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता; इससे आप विजयीकी तरह विद्यमान रहिये ॥ २४ ॥

यथावत्पूजितो राजन्गृहं गन्तासि मे गृहात् ।
ततः संपूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥ २५ ॥

हे राजन् ! इस समय आप यथारीतिसे पूजित होकर मेरे घरसे अपने घर चलिये । अनन्तर मिथिलाराज जनक और कौसलराज दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ मुनिकी पूजा करके विश्वासी होकर घर गये ॥ २५ ॥

वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा ।
पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥

तब विदेहराजने कौसलराजको आदरपूर्वक गृहमें प्रवेश कराके पूजनीय अतिथिका पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्कसे उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च ।
एष राज्ञां परो धर्मः सह्यौ जयपराजयौ ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥ ३७३९ ॥

फिर उन्हें अपनी कन्या तथा विविध वस्तु रत्न आदि दान की । राजाओंका यही परम धर्म है, जय और पराजयको अनित्य जानना चाहिये ॥ २७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ १०७ ॥ ३७३९ ॥

: १०८ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
धर्मो वृत्तं च वृत्तिश्च वृत्त्युपायफलानि च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्मयुक्त आचार जीविका व्यवहार जीवनके उपाय और फल, ॥ १ ॥

राज्ञां वृत्तं च कोशश्च कोशसंजननं महत् ।
अमात्यगुणवृद्धिश्च प्रकृतीनां च वर्धनम् ॥ २ ॥

राजाओंके धन, कोप, महान् कोपस्थापन, मन्त्रीके गुण तथा उनकी वृद्धि, प्रजाकी उन्नति, ॥२॥

षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनानीतिस्तथैव च ।
दुष्टस्य च परिज्ञानमदुष्टस्य च लक्षणम् ॥ ३ ॥

संधि—विग्रह आदि षाड्गुण्यके गुण कल्पना, सेनाकी नीति, दुष्ट पुरुषोंका परिचय, सत्पुरुषोंके लक्षणका ज्ञान, ॥ ३ ॥

समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणोच्चयः ।
मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विवर्धता ॥ ४ ॥

समान, हीन और अधिक दक्ष पुरुषोंके यथावत् लक्षण, मध्यम वित्त पुरुषोंकी प्रसन्नताके वास्ते वर्द्धित राजाको जिस भांति रहना होता है—इसका निर्देष, ॥ ४ ॥

क्षीणसंग्रहवृत्तिश्च यथावत्संप्रकीर्तिता ।
लघुनादेशरूपेण ग्रन्थयोगेन भारत ॥ ५ ॥

दीन—दुर्बल मनुष्योंको ग्रहण और जीविकाकी व्यवस्था—हे भारत ! आपने इन विषयोंका शास्त्रोंके अनुसार संक्षेपमें उपदेश युक्त वर्णन किया है ॥ ५ ॥

विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते ।
गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! आपने विजयाभिलाषी राजाका भी व्यवहार कहा है; अब मैं गणतन्त्र राज्योंका व्यवहार तथा वृत्तान्त सुनना चाहता हूं ॥ ६ ॥

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरीन्हि विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

हे भारत ! गणतन्त्रके लोग जिस प्रकार वर्द्धित होते है, जिस प्रकार आपसमें फूट नहीं होने देते, तथा वे लोग शत्रुओंके जीतनेकी अभिलाषा करके किस भांति सुहृद पुरुषोंको प्राप्त करते हैं ? ॥ ७ ॥

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलभ्यते।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥

मैं बोध करता हूं, कि गणतन्त्रके शूर पुरुषोंमें परस्पर भेद ही नाशका कारण है। अनेक पुरुषोंके निकट गुप्तमन्त्रणा या विचारको छिपाना अत्यन्त कठिन है ॥ ८ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परंतप।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच मे ब्रूहि पार्थिव ॥ ९ ॥

हे परंतपनृप ! इन सबके उपायोंको मैं आपके निकट पूर्णरूपसे सुननेकी इच्छा करता हूं। ये संघ या गण किस प्रकार आपसमें फूटते नहीं, आप यह सब वृत्तान्त विस्तारके सहित मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

गणानां च कुलानां च राज्ञां च भरतर्षभ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ जनाधिप ॥ १० ॥

भीष्म बोले— हे भरतश्रेष्ठ नरेश ! गण, कुल और राजाओंमें लोभ और अमर्ष ये दोही वैरकी अग्नि प्रज्वलित करनेवाले हैं ॥ १० ॥

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यजनिताश्रयौ ॥ ११ ॥

पहले एक मनुष्य लोभकी इच्छा करता है, तो दूसरा क्रोधकी अभिलाष करता है; इससे दोनों कुल क्षय और व्ययसे युक्त होकर परस्परमें एक दूसरेके नाशक हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः।
क्षयव्ययभयोपायैः कर्शयन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥

वे लोग दूत, गुप्त मन्त्रणा, बल, आदान, साम, दान, भेद, क्षय, व्यय और भय आदि इन सब उपायोंके जरिये आपसमें परस्परको आकर्षण किया करते हैं ॥ १२ ॥

तत्र दानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥

उसमेंसे एक मतके अनुसार चलनेवाले गणराज्यके शूरोंमें दानसे भेद होता है। वे लोग पृथक् होनेसे ही आपसमें चित्तकी अनैक्यताके कारण शत्रुओंके वशमें हुआ करते हैं ॥ १३ ॥

भेदाद्गणा विनश्यन्ति भिन्नाः सूपजपाः परैः।
तस्मात्संघातयोगेषु प्रयतेरन्गणाः सदा ॥ १४ ॥

हे राजन् ! गणराज्य आपसमें मतभेद होनेसे ही नष्ट होते हैं और फूट होनेपर शत्रुओंसे पराजित होते हैं; इसलिये गणोंके लोगोंको सदा एक मतमें रहकर विजयके लिये सब तरहसे यत्न करना उचित है ॥ १४ ॥

*

अर्था ह्येवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषात् ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥

संघबद्ध लोगोंके बल और पौरुष एक होनेपर वे लोग अर्थ लाभमें समर्थ हो सकते हैं। यहां तक कि उन लोगोंकी वृत्ति एक तरहकी होनेपर अन्य मतावलम्बी शूर पुरुष भी उनके साथ मित्रता करते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानवृद्धान्प्रशंसन्तः शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥

जो संघबद्ध पुरुष ज्ञानवृद्ध पण्डित परस्परकी सेवा करते हैं; लोगोंकी आदरपूर्वक प्रशंसा करते हैं, तथा जो आपसमें ठगानेकी वृत्ति नहीं रखते, वे लोग सब भांतिसे सुख भोग कर सकते हैं ॥ १६ ॥

धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत्संप्रवर्तन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ लोग सब धर्म व्यवहार शास्त्रके अनुसार स्थापित करके उसपर यथावत् दृष्टि रखते हैं, वे समूहके बीच यथावत् व्यवहार करके वर्द्धित हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनये च सदा रताः ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ पुरुष पुत्र और भाइयोंको सदा वे यदि कुमार्गपर चलें तो दण्ड देते हैं; वे विनयाचारमें सदा रत उन उत्तम शिक्षितोंको आदरसे ग्रहण करते हैं और सब गुणोंमें वर्द्धित होकर उन्नति करते हैं ॥ १८ ॥

चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥

हे महाबाहो ! गणराज्यके सब लोग दूत, गुप्त मन्त्रणा, उपाय और कोषके कार्योंमें सदा रत रहते हैं, इसलिये वे सब तरहसे बढते हैं ॥ १९ ॥

प्राज्ञाञ्शूरान्महेष्वासान्कर्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥

हे राजन् ! संघराज्यके नागरिक बुद्धिमान्, शूरवीर, महा धनुर्धारी और कार्योंमें स्थिर पौरुषवाले, शूरोंको सदा सम्मानित करनेमें रत रहते हैं, इसलिये उनकी बढती हुआ करती है ॥ २० ॥

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान्गणानुत्तारयन्ति ते ॥ २१ ॥

गणराज्यके लोग धनवान्, शूरवीर, शास्त्रज्ञ और शास्त्रमें पारग विद्वान् होते हैं, वे कष्टयुक्त घोर आपदमें मोहित मनुष्योंका परित्राण किया करते हैं ॥ २१ ॥

क्रोधो भेदो भयो दण्डः कर्शनं निग्रहो वधः ।
नयन्त्यरिवशं सद्यो गणान्भरतसत्तम ॥ २२ ॥

हे भरतसत्तम! क्रोध, भेद, भय, दण्ड, कर्षण, निग्रह और वध, ये सब गणराज्यके लोगोंमें पैदा हो जाय तो वे सदा उन्हें शत्रुओंके वशमें किया करते हैं ॥ २२ ॥

तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥

हे राजन्! इसलिये गण समूहमें मुख्य, प्रधान अधिकारियोंका विशेष सम्मान करना तुम्हें उचित है; क्यों कि समस्त लोक यात्रा ही पूर्ण रीतिसे उन पुरुषोंके अधिकारमें हुआ करती है ॥ २३ ॥

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्शन ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४ ॥

हे शत्रुकर्शन भारत! मुख्य प्रधान पुरुष ही दूत और गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा किया करते हैं, इससे वेही मन्त्रणा सुनने पावें; परन्तु गणराज्यके सब पुरुष गुप्त मन्त्रणा सुननेके अधिकारी नहीं है ॥ २४ ॥

गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विमतस्य ततोऽन्यथा ।
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च ॥ २५ ॥

जो समूहके बीच मुख्य हैं, वे सबके साथ परस्पर मिलके गुप्त भावसे समूहके हितका साधन करें; परन्तु गणके पृथक् भिन्न और विरत होनेपर उसका विपरीत होता है; यहां तक कि निज शक्तिके अनुष्ठानकारी गणोंमें भेद होनेसे सब अर्थ अवसन्न होते और अनर्थ उत्पन्न हुआ करता है ॥ २५ ॥

तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुष्ठिताम् ।
निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ॥ २६ ॥

इससे परस्पर भिन्न होकर पृथक् अपनी शक्तिका प्रयोग करनेवालोंमें मुख्योंका गणराज्यके विद्वान् अधिकारियोंको तत्काल ही दमन करना चाहिये ॥ २६ ॥

कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ।
गोत्रस्य राजन्कुर्वन्ति गणसंभेदकारिकाम् ॥ २७ ॥

कुलोंमें कलह उत्पन्न होनेपर यदि कुलके वृद्ध पुरुष उनकी उपेक्षा कर दें तो वे कलह गणोंमें भेद निर्माणकर समस्त कुलका—गणका नाश करते हैं ॥ २७ ॥

आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यं सुरक्ष्यं बाह्यतो भयम् ।
आभ्यन्तराद्भयं जातं सद्यो मूलं निकृन्तति ॥ २८ ॥

हे राजन् ! इसलिये भीतरी भयकी यत्नपूर्वक रक्षा करे तथा बाह्य भयकी भी उत्तम रीतिसे रक्षा करनी चाहिये। आभ्यन्तर भय निर्माण होनेपर ही वह तत्काल गणराज्यका मूलच्छेदन किया करता है ॥ २८ ॥

अकस्मात्क्रोधलोभाद्वा मोहाद्वापि स्वभावजात ।
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ॥ २९ ॥

अकस्मात् क्रोध, लोभ और स्वाभाविक मोहके कारण गणराज्यके लोग आपसमें एक दूसरेसे वार्त्तालाप न करनेसे, उसे ही उनके पराभवका लक्षण मालूम करना चाहिये ॥ २९ ॥

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न तु शौर्येण बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥ ३० ॥

सब कोई पराक्रम, बुद्धि, रूप वा धनमें समान होवे, वा न होवे, जाति और कुलमें सभी एक समान हो सकते हैं ॥ ३० ॥

भेदाच्चैव प्रमादाच्च नाश्यन्ते रिपुभिर्गणाः ।
तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥ ३७७० ॥

शत्रु लोग गणराज्यके लोगोंमें भेद तथा छिद्र निर्माण करके सब संघमें फूट डालकर उनको वशमें कर सकते हैं; इसलिये संघ बद्ध रहना ही गणराज्यके नागरिकोंका महान् आश्रय है ॥ ३१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥ ३७७० ॥

: १०९ :

युधिष्ठिर उवाच—

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! यह धर्म मार्ग बहुत बडा और अनेक शाखाओंसे युक्त है, इन सब धर्मके बीच कौन धर्म अत्यन्त अनुष्ठेय कहके आपको सम्मत है ? ॥ १ ॥

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम्।
यथायं पुरुषो धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ २ ॥

सब धर्मोंके बीच कौन धर्म अनुष्ठेय और गुरुतर करके आपको अभिमत है ? जिस परम धर्मका आसरा करके इस लोक और परलोकमें पुरुष उत्तम फल प्राप्त करेगा, आप उसे वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
अत्र युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— माता, पिता और गुरुजनोंकी पूजा करनी मुझे बहुमत है; मनुष्य इस लोकमें इस पुण्य कर्ममें नियुक्त रहनेसे ही सब लोकोंको जय करते हुए महत् यशस्वी होता है ॥३॥

यदेते ह्यभिजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः।
धर्म्यं धर्मविरुद्धं वा तत्कर्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! उत्तम रीतिसे पूजित माता, पिता और गुरु जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दें, वह धर्म ही हो, वा धर्म विरुद्ध ही होवे, शङ्का रहित चित्तसे उसे करना ही उचित है ॥४॥

न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं प्रकल्पयेत्।
यमेतेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥ ५ ॥

उन लोगोंके निवारण करने पर दूसरे धर्मका आचरण न करे; वे लोग जो कुछ आज्ञा दें वही धर्म है, यह निश्चय जाने ॥ ५ ॥

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ६ ॥

माता, पिता और गुरु ये तीनों त्रिलोक स्वरूप हैं; ये ही तीनों आश्रम, तीनों वेद और तीनों अग्नि स्वरूप हैं; ॥ ६ ॥

पिता ह्यग्निर्गार्हपत्यो माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ ७ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिण अग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि हैं; ये तीनों अग्नि लौकिक अग्नियोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥ ७ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकानवजेष्यसि।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथापरम्।
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नित्यमेव चरिष्यसि ॥ ८ ॥

माता, पिता और गुरु इन तीनोंकी सेवामें तुम कोई भूल न करोगे तो तीनों लोकोंको जय करोगे; पितृसेवा— पूजासे इस लोकको, मातृसेवा— पूजासे परलोकको और नियमपूर्वक गुरु सेवा— पूजासे अवश्य ही ब्रह्मलोकको उत्तीर्ण करोगे ॥ ८ ॥

सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ।
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मं च सुमहाफलम् ॥ ९ ॥

हे भारत ! तीन लोक स्वरूप इन सबका पूर्णरीतिसे संमान करना । तुम्हारा मङ्गल होवे; इससे तुम यश और धर्मका महान् फल प्राप्त करोगे ॥ ९ ॥

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ।
नित्यं परिचरेच्चैव तद्वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान्प्राप्स्यसे च जनाधिप ॥ १० ॥

माता, पिता और गुरुके समीप भोग कार्य विषयमें अपनी आधिकता नहीं दिखाना, उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना; इनके पहले स्वयं भोजन न करना; इनपर दोषारोपण न करना; और सदा इनकी सेवामें रत रहना, यही सबसे उत्तम पुण्य कर्म है । हे नृपसत्तम ! ऐसा करनेसे तुम कीर्ति, पुण्य, यश और पवित्र लोकोंको प्राप्त करोगे ॥ १० ॥

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ ११ ॥

माता, पिता और गुरु इन तीनोंका जो आदर सम्मान करता है, वह सब लोकोंका आदर करता है, और जो इनका अनादर करता है उसके सब कार्य ही जिसने इन तीनों गुरुजनोंका सदा अवमान ही किया है, निष्फल होते हैं ॥ ११ ॥

नैवायं न परो लोकस्तस्य चैव परन्तप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १२ ॥

हे शत्रुतापन ! जिसने इन तीनों गुरुओंका सम्मान नहीं किया है, उसके वास्ते यह लोक और परलोक कुछ भी सुखद नहीं है, ॥ १२ ॥

न चास्मिन्न परे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं पारत्रं समुदाहृतम् ॥ १३ ॥

ये तीनों गुरु जिसके जरिये सदा अपमानित होते हैं, इस लोक और परलोकमें उसका यश प्रकाशित नहीं होता तथा परलोकमें जो अन्य कल्याणमय सुख कहा गया है, वह उसे प्राप्त नहीं होता है ॥ १३ ॥

तेभ्य एव तु तत्सर्वं कृत्यया विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ।
तस्मान्मे संप्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

माता, पिता वा गुरुकोही मैं सब शुभ कर्म करके समर्पित करता था; इससे मेरे पक्षमें वह पुण्य सौगुणा और सहस्रगुणा बढ गया है; हे युधिष्ठिर ! इस ही कारण मेरे वास्ते तीनों लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १४ ॥

दशैव तु सदाचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ।
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान्पिता दश ॥ १५ ॥

दस श्रोत्रियोंसे एक आचार्य सदा बढकर है; उपाध्याय दस आचार्योंसे अधिक; दस उपाध्यायोंसे पिता मुख्य है ॥ १५ ॥

पितॄन्दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि ।
गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।
गुरुर्गरीयान्पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ॥ १६ ॥

और दस पिताओंसे माताका महत्त्व अधिक है; और क्या कहूं, वह अकेली माता ही गौरवसे समस्त पृथ्वीको अभिभव किया करती है; इससे माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है। मेरे विचारमें पिता और मातासे गुरु ही अधिक गौरवयुक्त है; ॥ १६ ॥

उभौ हि मातापितरौ जन्मनि व्युपयुज्यतः ।
शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ॥ १७ ॥

माता–पिता दोनों ही जन्मके विषयमें कारण हैं। हे भारत ! पिता और माता दोनोंसे ही इस शरीरकी उत्पत्ति होती है; और आचार्यके उपदेशके अनुसार जो जन्म होता है, वह दिव्य, अजर और अमर है ॥ १७ ॥

अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ ।
न संदुष्यति तत्कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम् ।
धर्माय यतमानानां विदुर्देवाः सहर्षिभिः ॥ १८ ॥

माता पिता अपराध करनेपर भी सदा अवध्य हैं। पुत्र या शिष्य उनका अपराध करके भी उनकी दृष्टिमें दूषित नहीं होते हैं; वे उसपर दोषारोपण नहीं करते हैं; परन्तु उसे सदा धर्मके मार्गपर ले जानेका प्रयत्न करते हैं; इनका महत्त्व ऋषियों सहित देवता जानते हैं ॥ १८ ॥

य आवृणोत्यवितथेन कर्णावृतं ब्रुवन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं वै मन्ये पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ १९ ॥

जो सत्य कर्मसे पुत्रको कवचकी भांति ढक लेता है, जो सत्य वचनसे वेदके विषयमें अनुग्रह प्रकाशित करता है और जो सत्य वचनके जरिये अमृत प्रदान करता है, उसे ही माता पिता समझना चाहिये; तथा उसके कार्यको मालूम करके कभी उसके विषयमें अनिष्ट आचरण न करे ॥ १९ ॥

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते प्रत्यासन्नं मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते गुरुभिर्भावनीयास्तथा तेषां गुरवोऽप्यर्चनीयाः ॥ २० ॥

जो लोग विद्या पढके कृतकृत्य होकर गुरुके विषयमें कार्यके जरिये मनही मन उनका आदर नहीं करते, पास रहकर मन, वाणी और कर्मसे गुरुकी सेवा नहीं करते, उन लोगोंको भ्रूणहत्यासे भी अधिक पाप लगता है; इस लोकमें उनसे बढके अधिक पापी दूसरे कोई भी नहीं हैं। जैसे गुरुजनोंका शिष्यको आत्मोन्नति पथपर ले जानेका कर्त्तव्य है, वैसे ही शिष्योंका भी धर्म है, उनकी वैसी ही पूजा करें ॥ २० ॥

तस्मात्पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ २१ ॥

इसलिये जो प्राचीन धर्मकी कामना करते हैं; उन्हें गुरुजनोंकी पूजा करना और उन्हें प्रयत्न पूर्वक आवश्यक वस्तुएं लाकर देना चाहिये ॥ २१ ॥

येन प्रीताश्च पितरस्तेन प्रीतः पितामहः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २२ ॥

जिन कर्मोंसे पिताको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे पितामह ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं; और जिसके जरिये माताको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे पृथ्वी पूजित होती है ॥ २२ ॥

येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद्ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात्पूज्यतमो गुरुः ।
ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह ॥ २३ ॥

तथा जिस कर्मसे उपाध्यायको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे परब्रह्म परमात्मा पूजित होता है; इसमे माता पिताकी अपेक्षा गुरु ही पूजनीय है। गुरुके पूजित होनेपर पितरोंके सहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं ॥ २३ ॥

न केनचन वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् ।
न च माता न पिता तादृशो यादृशो गुरुः ॥ २४ ॥

किसी भी प्रकारके कार्यसे गुरु अवज्ञाभाजनके योग्य नहीं हो सकता; माता और पिता भी अनादरके योग्य नहीं है; जैसे गुरु माननीय हैं, वैसे ही माता–पिता भी हैं ॥ २४ ॥

न तेऽवमानमर्हन्ति न च ते दूषयन्ति तम् ।
गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवाः सहर्षिभिः ॥ २५ ॥

माता, पिता और गुरु कभी अवमान भाजन नहीं होसकते; वे उसको दूषण भी कभी नहीं देते हैं। ऋषियों सहित देवता लोग गुरुओंके सम्मानको अपना सत्कार मानते हैं ॥ २५ ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च येऽभिद्रुह्यन्ति मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ २६ ॥

जो लोग मन वा कार्यसे उपाध्याय, पिता और माताका अनिष्ट करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी अधिक पाप लगता है; इस लोकमें उनसे अधिक दूसरा कोई पापी नहीं है ॥ २६ ॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य पिशुनस्य च ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुमः ॥ २७ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीघाती और निन्दक— इन चारोंके पापका प्रायश्चित्त हमने सुना नहीं है ॥ २७ ॥

एतत्सर्वमतिदेशेन सृष्टं यत्कर्तव्यं पुरुषेणेह लोके ।
एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद्विशिष्टं सर्वान्धर्माननुसृत्यैतदुक्तम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥ ३७९८ ॥

इस लोकमें पुरुषको जो कुछ कर्त्तव्य है, वह सब विस्तारके सहित कहा गया; यही कल्याणकारी मार्ग है और इससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है; सब धर्म एकत्रित करके उसमें जो सार स्वरूप था, वही कहा गया है ॥ २८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ नवां अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ३७९८ ॥

: ११० :

युधिष्ठिर उवाच—

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन्नरो वर्तेत भारत ।
विद्वञ्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! मनुष्य धर्ममार्गमें निवास करनेकी इच्छा करते हुए किस प्रकार बर्ताव करे ? हे विद्वन् भरतश्रेष्ठ ! मुझ जिज्ञासुको आप वही उपदेश करिये ॥ १ ॥

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः ।
तयोः किमाचरेद्राजन्पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥ २ ॥

हे राजन् ! सत्य और असत्य ये दोनों ही संसारको आवरण करके विद्यमान हैं; उन्हें त्यागना अत्यन्त कठिन है; इससे धर्म–निश्चित मनुष्य उन दोनोंमेंसे किसका आचरण करे ? ॥ २ ॥

किं स्वित्सत्यं किमनृतं किं स्विद्धर्म्यं सनातनम् ।
कस्मिन्काले वदेत्सत्यं कस्मिन्कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥

सत्य क्या है ? मिथ्या क्या है ? और कौनसा कार्य सनातन धर्मके योग्य है ? किस समय सत्य बोले और किस समय मिथ्या कहे ? ॥ ३ ॥

×

भीष्म उवाच—

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
यद्भूलोके सुदुर्ज्ञातं तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! सत्य कहना ही उत्तम है, सत्यसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है; भूलोकके बीच जो अत्यंत कठिनाईसे जानने योग्य है, उसे कहता हूं ॥ ४ ॥

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥ ५ ॥

किसी समय सत्य बोलना उचित नहीं और कभी मिथ्या कहा जाता है । जिससे मिथ्या सत्य और सत्य भी मिथ्या हुआ करता है ॥ ५ ॥

तादृशे मुह्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम् ।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ६ ॥

जिसमें सत्य निष्ठायुक्त नहीं है, वैसा बालक अर्थात् अज्ञानी मनुष्य मोहित होता है । सत्य और मिथ्याका विशेष रूपसे निश्चय कर सकनेसे मनुष्य धर्म जाननेवाला हुआ करता है ॥६॥

अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽपि सुदारुणः ।
सुमहत्प्राप्नुयात्पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥

जैसे व्याधा हिंसक स्वभाववाला है, वह भी अन्धेका वध करनेसे स्वर्गको गया था, वैसे ही अनार्य, हीनबुद्धि अत्यन्त निष्ठुर पुरुष भी महत् पुण्य लाभ कर सकता है; ॥ ७ ॥

किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित् ।
सुमहत्प्राप्नुयात्पापं गङ्गायामिव कौशिकः ॥ ८ ॥

गङ्गाके किनारे सापिनके स्थापित किये हुये सहस्र अण्डोंको भेद कर उल्लूकने जिस प्रकार महत् पापका लाभ किया था; वैसे ही धर्मकी इच्छा करनेवाला अधर्मी मूढ पुरुष अधर्मके फलको प्राप्त होता है, उसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ८ ॥

तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्वचः ।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तर्केणात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥

जिस विषयमें धर्म अत्यन्त दुर्लभ और दुर्ज्ञेय है, यह प्रश्न वैसा ही हुआ है । धर्मका लक्षण वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, इससे इसे तर्कद्वारा निश्चय करके कहा जा सकता है ॥ ९ ॥

प्रभावार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥

जीवोंकी उन्नतिके वास्ते ऋषियोंने धर्मका वर्णन किया है, इससे जो अभ्युदय तथा अहिंसा युक्त है, वही धर्म कहके निश्चित है ॥ १० ॥

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥

जो धारण करता है, महर्षि लोग उसे ही धर्म कहते हैं; धर्मने ही सारी प्रजाको धारण किया है; इससे जो धारण और पोषण युक्त है वही धर्म है ॥ ११ ॥

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः ।
न तु तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १२ ॥

कोई कोई श्रुतिको ही धर्म कहते हैं, दूसरे उसे अङ्गीकार नहीं करते ! हम उनकी निन्दा नहीं करते; सबमें ही कुछ विहित नहीं होता है— वेदमें सभी बातोंका विधान नहीं है ॥ १२ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कर्हिचित् ।
तेभ्यस्तन्न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १३ ॥

जो अन्यायसे किसीके धनको हरनेकी इच्छा करते हैं; उन्हें धनीका पता देना उचित नहीं है; यही धर्म रूपसे निश्चित है ॥ १३ ॥

अकूजनेन चेन्मोक्षो नात्र कूजेत्कथंचन ।
अवश्यं कूजितव्यं वा शङ्केरन्वाप्यकूजनात् ॥ १४ ॥

चोर लोग धनी की बात पूंछे, तो यदि न कहनेसे उनके समीपसे छुटकारा मिले तो किसी प्रकार भी उनसे न कहे; यदि बोलना आवश्यक होवे और विना कहनेसे यदि उनके मनमें संदेह पैदा होवे तो शपथ पूर्वक नहीं जानता हूं, ऐसा भी कहे ॥ १४ ॥

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् ।
यः पापैः सह संबन्धान्मुच्यते शपथादिति ॥ १५ ॥

ऐसे स्थलमें सत्यकी अपेक्षा मिथ्या कहना ही कल्याणयुक्त है; यही विचार पूर्वक निर्णय किया है। शपथ करने पर भी यदि पापाचारी मनुष्योंके हाथसे छुटकारा मिले, तो वह ही उत्तम है ॥ १५ ॥

न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १६ ॥

किसी प्रकारकी सामर्थ्य रहते पापाचारी मनुष्योंके हाथमें धन न जाने दे; पापाचारियोंको जो धन दिया जाता है, वह दाताको ही पीडित करता है ॥ १६ ॥

स्वशरीरोपरोधेन वरमादातुमिच्छतः ।
सत्यसंप्रतिपत्त्यर्थं ये ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ।
अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः ॥ १७ ॥

ऋण देनेवाला यदि ऋणी पुरुषके शरीरको दासत्वमें नियुक्त करके दिया हुआ धन वसूल करनेकी अभिलाषा करे, उस समय सत्य कहनेके वास्ते लाये गये साक्षी लोग जो कुछ कहें, और उस विषयमें जो कहना योग्य है उसे यदि न कहें, तो वे सब ही मिथ्यावादी हैं ॥ १७ ॥

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ।
परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन्नीचः स्याद्धर्मभिक्षुकः ॥ १८ ॥

प्राणसंकट और विवाहके समय मिथ्या वचन कहनेसे भी दोष नहीं होता। दूसरेके धनकी रक्षाके निमित्त और धर्मकी रक्षाके वास्ते झूठ कहनेसे दोष नहीं होता; दूसरेकी सिद्धिकी कामना करते हुए नीच पुरुष ही धर्मभिक्षुक होते हैं ॥ १८ ॥

प्रतिश्रुत्य तु दातव्यं श्वःकार्यस्तु बलात्कृतः ।
यः कश्चिद्धर्मसमयात्प्रच्युतोऽधर्ममास्थितः ॥ १९ ॥

दोनों मिलके किसी कार्यको करते हुए लाभालाभको समान हिस्सेमें बांट लूंगा ऐसा निश्चय होनेपर अन्तमें यदि अर्थ नष्ट होवे, तौ भी हिस्सेके अनुसार देना उचित है। कोई पुरुष यदि धर्मबन्धनसे च्युत हो, अथवा अधर्मके वशमें होकर यदि जबर्दस्ती करे, तो उसके ऊपर दण्ड-विधान करना उचित है ॥ १९ ॥

शठः स्वधर्ममुत्सृज्य तमिच्छेदुपजीवितुम् ।
सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापो निकृतिजीवनः ॥ २० ॥

जो दुष्ट पुरुष स्वधर्मका परित्याग करके पाप धर्मके जरिये जीविका निर्वाह करनेकी इच्छा करता है, उस कपटसे निर्वाह करनेवाले पापीको सभी उपायोंसे मारना चाहिये ॥ २० ॥

धनमित्येव पापानां सर्वेषामिह निश्चयः ।
येऽविषह्या ह्यसंभोज्या निकृत्या पतनं गताः ॥ २१ ॥

सब पापियोंका धन ही किसी भी प्रकार इकट्ठा करे, यही विचार रहता है; ये दूसरोंके लिये असह्य होते हैं; इन्हें अपना अन्न दे और उनका अन्न स्वयं न भोजन करे; क्योंकि छलकपटसे ये पतित हो चुके हैं ॥ २१ ॥

च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते ।
धनादानाद्दुःखतरं जीविताद्विप्रयोजनम् ॥ २२ ॥

वे देवता और मनुष्योंसे भ्रष्ट हो प्रेतोंके समान अवस्थाको प्राप्त हुए हैं; किसीके वित्त विनाशसे अधिक दुःखद जीवनका नाश यह है ॥ २२ ॥

अयं तो रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ।
न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ॥ २३ ॥

इससे इस धर्ममें तुम्हारी अभिरुचि होवे, यत्नपूर्वक उन्हें तुम यह उपदेश देवे; पापाचारियोंके वास्ते धर्मरूपसे कोई विषय निश्चित नहीं है ॥ २३ ॥

तथागतं च वो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ।
स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित्कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २४ ॥

वैसे पुरुषका जो वध करता है, वह पापग्रस्त नहीं होता; वह पापी मनुष्य निज कर्मसे ही मरे हुए पुरुषका वध किया करता है; जो मारा जाता है, वह निज कर्मके जरिये ही मरता है। उन बुद्धिहीन पापाचारियोंके वधका नियम कोई भी ले सकता है ॥ २४ ॥

यथा काकश्च गृध्रश्च तथैवोपधिजीविनः ।
उर्ध्वं देहविमोक्षान्ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २५ ॥

जैसे कौए और गिद्ध होते हैं, उसी तरह केवल कपटजीवी लोग होते हैं; वे देह त्यागनेपर इन्हीं सब योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २७ ॥

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युदेयः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते, शान्तिपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥ ३८२४ ॥

जो मनुष्य जिस विषयमें जैसा व्यवहार करता है, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना धर्म है; कपटीको कपट व्यवहारोंसे बाधित करना चाहिये और साधु आचरणवाले मनुष्यके समीप सदाचरण करना उचित है ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ दसवां अध्याय समाप्त ॥ ११० ॥ ३८२४ ॥

: १११ :

युधिष्ठिर उवाच—

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद्येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! जगत्‌के प्राणी जैसी भिन्न अवस्थामें रहते हैं, उस ही उस अवस्थामें क्रमसे क्लेशित होनेपर जिस उपायके सहारे दुस्तर विषयोंके पार होसकते हैं, उसे आप मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः ।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥

भीष्म बोले—जो सब स्थिर चित्तवाले द्विजाति पहिले कहे हुए आश्रमोंके यथोक्त धर्माचरण करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ २ ॥

ये दम्भान्न जपन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संवृता ।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥

जो दम्भका आचरण नहीं करते, जिनकी चित्तवृत्ति स्थिर है और जो इन्द्रियोंको निग्रह किया करते हैं; वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम करते हैं ॥ ३ ॥

वासयन्त्यतिथीन्नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः ।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको आदरपूर्वक आश्रय देते हैं, कभी किसीकी निन्दा नहीं करते–दोष नहीं देखते हैं और सदा स्वाध्याय रत अर्थात् स्वशास्त्रोक्त वेद पाठ करते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ ४ ॥

मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः ।
वर्जयन्ति दिवास्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥

जो सब धर्म जाननेवाले मनुष्य माता–पिताकी सेवामें रत रहते हैं और दिनमें कभी सोते नहीं हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते ॥ ५ ॥

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तेष्वृतावृतौ ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हैं और ऋतुकालमें अपनी स्त्रीके साथ धर्मानुकूल रत होते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ ६ ॥

ये न लोभान्नयन्त्यर्थान्राजानो रजसावृताः ।
विषयान्परिरक्षन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥

जो राजा लोग रजोगुणसे युक्त होकर लोभके कारण प्रजाके धनका हरण नहीं करते हैं, और अपने राज्यकी सब तरहसे रक्षा करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ ७ ॥

आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम् ।
धर्मेण जयमिच्छन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥

जो शूर पुरुष युद्धमें मृत्युका भय त्यागके धर्मपूर्वक जयकी इच्छा करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम कर सकते हैं ॥ ८ ॥

ये पापानि न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा ।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥

जो मन, वचन और कर्मसे कुछ पापाचरण नहीं करते हैं और जीवोंको कभी भी पीडित नहीं करते हैं, वेही कठिन विषयोंमें अतिक्रम किया करते हैं ॥ ९ ॥

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥

इस संसारमें प्राणत्यागका समय उपस्थित होनेपर भी जो सत्य वचन कहते हैं, वे जीवोंके विश्वासपात्र होकर दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १० ॥

अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नैव कुर्वते ।
तपोनित्याः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण अनध्यायके दिवस वेद पाठ नहीं करते, वे तपस्यामें रत श्रेष्ठ तपस्वी लोग दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ ११ ॥

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः ।
येषामर्थाश्च साध्वर्था दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥

जिनके कार्योंमें कोई कपटता नहीं है, वचन सत्य और प्रिय है तथा सब धन सत्कार्योंमें परिणत होता है; वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम करते हैं ॥ १२ ॥

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः ।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥

जो सब कुमार ब्रह्मचारी विद्या, वेद और व्रतमें निष्ठावान होकर तपस्या करते हैं, वे दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १३ ॥

ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये ।
सत्ये स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥

जिन महात्माओंमें रजोगुण और तमोगुण शान्त होगये हैं, तथा वे लोग केवल सतोगुणको अवलम्बन किये हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १४ ॥

येषां न कश्चित्त्रसति त्रसन्ति न च कस्यचित् ।
येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥

जिनके समीप कोई भयभीत नहीं होता और जो स्वयं किसीके निकट त्रास युक्त नहीं होते, तथा जिनको यह सब जगत् अपने आत्माके समान है, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम कर सकते हैं ॥ १५ ॥

परश्रिया न तप्यन्ते ये सन्तः पुरुषर्षभाः ।
ग्राम्यादन्नान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥

जो सब पुरुषश्रेष्ठ साधु लोग पराई श्रीको देखके दुःखित नहीं होते और जो ग्राम्य विषयसे निवृत्त रहते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १६ ॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति सर्वान्धर्मांश्च शृण्वते ।
ये श्रद्दधाना दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १७ ॥

जो सब श्रद्धावान् संयमी स्वभाववाले मनुष्य सब देवताओंको प्रणाम करते और सभी धर्मोंको सुनते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १७ ॥

ये न मानितमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परम् ।
मान्यमाना न मन्यन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १८ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान नहीं चाहते, जो परमश्रेष्ठको ही मानते हैं, स्वयंको सम्मानके योग्य नहीं मानते, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ १८ ॥

ये श्राद्धानि च कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः ।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १९ ॥

जो प्रजाकामनासे शुद्धचित्तसे प्रति तिथिमें पितरोंका श्राद्ध करते हैं, वे सब कठिन विषयोंको अतिक्रम करते हैं ॥ १९ ॥

ये क्रोधं नैव कुर्वन्ति क्रुद्धान्संशमयन्ति च ।
न च कुप्यन्ति भृत्येभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥

जो कभी भी क्रोधित नहीं होते हैं और क्रुद्ध पुरुषोंको पूरी रीतिसे शान्त किया करते हैं, तथा नोकरोंके ऊपर कोपित नहीं होते हैं; वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ २० ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २१ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें सदा मद्य मांसका भोजन परित्याग करते, जन्म भर मद्यपान नहीं करते; वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ २१ ॥

यात्रार्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥

जो प्राणयात्रा निर्वाहके ही वास्ते भोजन करते और पुत्र उत्पत्तिके वास्ते भार्याका सङ्ग करते, सत्य कहनेके निमित्त वचन बोलते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥२२॥

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २३ ॥

सब प्राणियोंके ईश्वर, जगत्की उत्पत्ति और लयके कारण नारायण देवकी जो लोग भक्ति करते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं ॥ २३ ॥

य एष रक्तपद्माक्षः पीतवासा महाभुजः ।
सुहृद्भ्राता च मित्रं च संबन्धी च तवाच्युतः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! यह जो लाल पद्मके समान नेत्रवाले पीताम्बरधारी महाबाहु श्रीकृष्ण हैं, जो तुम्हारे सुहृद्, भ्राता, मित्र और सम्बन्धी हैं, यही साक्षात् नारायण हैं ॥ २४ ॥

य इमान्सकलाँल्लोकांश्चर्मवत्परिवेष्टयेत् ।
इच्छन्प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥ २५ ॥

ये अचिन्त्यस्वभाव पुरुषश्रेष्ठ प्रभु गोविन्द इच्छा करनेसे ही सब लोकोंको चमडेकी तरह समेटा करते हैं ॥ २५ ॥

स्थितः प्रियहिते जिष्णोः स एव पुरुषर्षभ ।
राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ॥ २६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ राजन् ! जो धनञ्जय तथा तुम्हारे प्रिय और हितकर कार्योंमें सदा तत्पर रहते हैं, वेही पुरुष प्रवर अनभिभवनीय श्रीकृष्ण–वैकुण्ठ निवासी ही पुरुषोत्तम–श्रीविष्णु हैं ॥२६॥

य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् ।
ते तरन्तीह दुर्गाणि न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २७ ॥

जो सब भक्त लोग इस लोकमें इस नारायण श्रीहरिका आसरा करते हैं, वे दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं; इस विषयमें मुझे कोई सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च ।
पाठयन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥

जो लोग इस दुस्तर दुःखके अतिक्रमका विवरण पढते और सुनते हैं, तथा ब्राह्मणोंके निकट गाया करते हैं, वे भी कठिन विषयोंसे पार होते हैं ॥ २८ ॥

इति कृत्यसमुद्देशः कीर्तितस्ते मयानघ ।
संतरेद्येन दुर्गाणि परत्रेह च मानवः ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥ ३८५३ ॥

हे पाप रहित ! मनुष्य इस लोक और परलोकमें जिस प्रकार दुस्तर विषयोंसे उत्तीर्ण होता है, मैंने यही उस कार्यका विवरण तुम्हारे समीप वर्णन किया है ॥ २९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥ ३८५३ ॥

: ११२ :

युधिष्ठिर उवाच –

असौम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शिनः ।
ईदृशान्पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जो प्रिय नहीं हैं, वे प्रिय रूपसे और जो प्रियदर्शन हैं, वे अप्रिय रूपसे दीख पडते हैं, इससे ऐसे पुरुषोंको हम किस प्रकार जानेंगे ? ॥ १ ॥

+

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्याघ्रगोमायुसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर! इस विषयमें वाघ और सियार सम्वाद युक्त जिस पुराने इतिहासका प्राचीन लोग उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः।
परहिंसारुचिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥

पहिले समयमें समृद्ध पुरिका नामक पुरीके बीच परहिंसामें रत, क्रूर स्वभाववाला पुरुषोंमें अधम पौरिक नाम एक राजा था ॥ ३ ॥

स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम्।
गोमायुत्वं च संप्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥ ४ ॥

वह आयु क्षय होनेपर किसीको भी अभीष्ट नहीं ऐसी गतिको प्राप्त होकर पूर्व-कर्मके दोषसे दूसरे जन्ममें जम्बुक हुआ था ॥ ४ ॥

संस्मृत्य पूर्वजातिं स निर्वेदं परमं गतः।
न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥

वह पूर्व जन्मके ऐश्वर्यको स्मरण करके दुःख और वैराग्यको प्राप्त हुआ। दूसरेके लानेपर भी वह मांसको भक्षण नहीं करता था ॥ ५ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक्सुदृढव्रतः।
चकार च यथाकाममाहारं पतितैः फलैः ॥ ६ ॥

वह सब जीवोंके विषयमें हिंसा रहित, सत्यवादी और दृढव्रती होकर, यथा समयमें स्वयं गिरे हुए फलके जरिये आहार-वृत्तिसे जीविका निर्वाह करता था ॥ ६ ॥

श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः संमतोऽभवत्।
जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यद्वासमरोचयत् ॥ ७ ॥

श्मशानमें वास करना ही उसे सम्मत था; जन्मभूमिके अनुरोधके कारण दूसरी जगह निवास करनेकी उसकी इच्छा नहीं होती थी ॥ ७ ॥

तस्य शौचममृष्यन्तः सर्वे ते सहजातयः।
चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥

समान जातिवाले सियारोंको उसका यह पवित्रतासे रहना सहन नहीं हुआ; वे सब प्रेम-विनय युक्त वचनसे उसकी बुद्धि विचलित करने लगे ॥ ८ ॥

वसन्पितृवने रौद्रे शौचं लप्सितुमिच्छसि।
इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥

वे सब बोले, तुम भयङ्कर श्मशानमें वास करते हुए शुद्धाचारसे रहनेकी अभिलाष करते हो; तुम जब मांसभक्षी हो, तब तुम्हारी ऐसी विपरीत बुद्धि क्यों हुई? ॥ ९ ॥

तत्समो वा भवास्माभिर्भक्ष्यान्दास्यामहे वयम् ।
भुङ्क्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं तदस्ति ते ॥ १० ॥

इससे तुम हमारे समान होकर रहो, हम लोग तुम्हें भक्ष्य वस्तु देंगे; शुद्ध आचार परित्याग करके भोजन करो; जो हम लोगोंका भोजन है, वही तुम्हारा भक्ष्य होवे ॥ १० ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः ।
मधुरैः प्रश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥

जम्बुकने सजातीय सियारोंका वचन सुनके स्थिर चित्त होकर विस्तारपूर्वक, युक्तियुक्त निष्ठुरतारहित मधुर वचनसे उत्तर दिया ॥ ११ ॥

अप्रमाणं प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम् ।
प्रार्थयिष्ये तु तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥

मेरे जन्मका कोई प्रमाण नहीं है; अच्छे स्वभावके अनुसार आचरण करनेपर कुलकी प्रतिष्ठा होती है; जिससे कुलका यश बढे, मैं वैसे कर्म करनेकी प्रार्थना करता हूं; ॥ १२ ॥

श्मशाने यदि वासो मे समाधिर्मे निशाम्यताम् ।
आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मलक्षणम् ॥ १३ ॥

यद्यपि मैं श्मशानमें वास करता हूं, तौभी मैं जो समाधान देता हूं उसको सुनो; आत्मा ही कर्म फल भोग करता है, आश्रम कोई धर्मका लक्षण नहीं है ॥ १३ ॥

आश्रमे यो द्विजं हन्याद्गां वा दद्यादनाश्रमे ।
किं नु तत्पातकं न स्यात्तद्वा दत्तं वृथा भवेत् ॥ १४ ॥

आश्रममें रहके जो पुरुष ब्रह्महत्या करता अथवा दूसरे आश्रममें रहके गऊदान करता है; उससे क्या उसके पाप वा दान व्यर्थ होते हैं ? ॥ १४ ॥

भवन्तः सर्वलोभेन केवलं भक्षणे रताः ।
अनुबन्धे तु ये दोषास्तान्न पश्यन्ति मोहिताः ॥ १५ ॥

तुम लोग केवल स्वार्थी और लोभके वशमें होकर केवल भक्षण करनेमें ही रत होरहे हो; परिणाममें जो तीन दोष प्राप्त होते हैं, मोहित होकर उन्हें नहीं देखते हो ॥ १५ ॥

अप्रत्ययकृतां गर्ह्यामर्थापनयदूषिताम् ।
इह चामुत्र चानिष्टां तस्माद्वृत्तिं न रोचये ॥ १६ ॥

असन्तोष कारिणी, निन्दनीय वृत्ति धर्महानिके कारण दूषित होती है; इस लोक और परलोकमें अनिष्ट करनेवाली वृत्तिमें मेरी अभिलाषा नहीं है ॥ १६ ॥

तं शुचिं पण्डितं मत्वा शार्दूलः ख्यातविक्रमः ।
कृत्वात्मसदृशां पूजां साचिव्येऽवरयत्स्वयम् ॥ १७ ॥

कोई विख्यात बली शार्दूलने सियारको पवित्र और पण्डित समझके स्वयं उसका अपने समान सम्मान करते हुए मन्त्रीके कार्यके वास्ते चुना ॥ १७ ॥

सौम्य विज्ञातरूपस्त्वं गच्छ यात्रां मया सह ।
म्रियन्तामीप्सिता भोगाः परिहार्याश्च पुष्कलाः ॥ १८ ॥

शार्दूल बोला– हे प्रियदर्शन ! तुम्हारा स्वभाव मालूम हुआ; तुम मेरे साथ राजकार्य करनेके वास्ते चलो, और अभिलषित भोगोंकी इच्छा करके प्रचुर भोग करो । जो वस्तुएं प्रिय न हों, उन्हें त्यागना ॥ १८ ॥

तीक्ष्णा वयमिति ख्याता भवतो ज्ञापयामहे ।
मृदुपूर्वं घातिनस्ते श्रेयश्चाधिगमिष्यति ॥ १९ ॥

मैं तुम्हें सूचित करता हूं, कि हम तीक्ष्ण रूपसे विख्यात हैं; इससे तुम कोमलता युक्त व्यवहार करते हुए हितकर कार्यमें लगोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १९ ॥

अथ संपूज्य तद्वाक्यं मृगेन्द्रस्य महात्मनः ।
गोमायुः प्रश्रितं वाक्यं बभाषे किंचिदानतः ॥ २० ॥

अनन्तर जम्बुक महानुभाव मृगेन्द्रके वचनका सम्मान करके कुछ नत मस्तक होकर विनय-युक्त वचनसे कहने लगा ॥ २० ॥

सदृशं मृगराजैतत्तव वाक्यं मदन्तरे ।
यत्सहायान्मृगयसे धर्मार्थकुशलाञ्शुचीन् ॥ २१ ॥

हे मृगराज ! तुमने मेरे वास्ते जो वचन कहा, वह तुम्हारे योग्य ही है; तुम जो धर्मार्थ कुशल और पवित्र सहाय खोजते हो, वह उचित ही है ॥ २१ ॥

न शक्यमनमात्येन महत्त्वमनुशासितुम् ।
दुष्टामात्येन वा वीर शरीरपरिपन्थिना ॥ २२ ॥

हे वीर ! अमात्यके विना अकेला राजा विशाल राज्यका सामना नहीं कर सकता अथवा शरीरको सुखा देनेवाले दुष्ट अमात्यके द्वारा भी शासन नहीं चलाया जा सकता ॥ २२ ॥

सहायाननुरक्तांस्तु यतेतानुपसंहितान् ।
परस्परमसंघुष्टान्विजिगीषूनलोलुपान् ॥ २३ ॥

हे महाभाग ! अनुरक्त, नीतिज्ञ, उद्यमशील, सद्भावयुक्त, परस्पर असंसृष्ट, विजिगीषु, लोभरहित, ॥ २३ ॥

तानतीतोपधान्प्राज्ञान्हिते युक्तान्मनस्विनः ।
पूजयेथा महाभागान्यथाचार्यान्यथा पितॄन् ॥ २४ ॥

कपट नीतिमें कुशल, बुद्धियुक्त, स्वामीके हितमें रत और ऊंचे चित्तवाले सहायकोंको मन्त्री बनाकर आप उनका आचार्य और पिताकी तरह सम्मान करें ॥ २४ ॥

न त्वेवं मम संतोषाद्रोचतेऽन्यन्मृगाधिप ।
न कामये सुखान्भोगानैश्वर्यं वा त्वदाश्रयम् ॥ २५ ॥

हे मृगराज ! मुझे सन्तोषके सिवा दूसरे विषयमें रुची नहीं होती है; मैं सुख-भोग और उसके आश्रित ऐश्वर्यकी अभिलाषा नहीं करता ॥ २५ ॥

न योक्ष्यति हि मे शीलं तव भृत्यैः पुरातनैः ।
ते त्वां विभेदयिष्यन्ति दुःखशीला मदन्तरे ॥ २६ ॥

मेरा शील-चरित्र तुम्हारे पुराने सेवकोंके साथ न मिलेगा । वे शीलरहित दुष्ट सेवक मेरे वास्ते तुमको विभिन्न करेंगे ॥ २६ ॥

संश्रयः श्लाघनीयस्त्वमन्येषामपि भास्वताम् ।
कृतात्मा सुमहाभागः पापकेष्वप्यदारुणः ॥ २७ ॥

आप दूसरे तेजस्वी प्राणियोंके भी प्रशंसनीय आसरा हैं । आप पवित्र चित्तवाले महाभाग पुरुष अपराधियोंके प्रति भी दयालु हैं ॥ २७ ॥

दीर्घदर्शी महोत्साहः स्थूललक्ष्यो महाबलः ।
कृती चामोघकर्तासि भाव्यैश्च समलंकृतः ॥ २८ ॥

आप दीर्घदर्शी, महाउत्साहसे युक्त, धर्मात्मा, महाबलशाली, कृतार्थ, सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले और अनेक भोगोंसे अलंकृत हैं ॥ २८ ॥

किं तु स्वेनास्मि संतुष्टो दुःखा वृत्तिरनुष्ठिता ।
सेवायाश्चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः ॥ २९ ॥

मैं अपने आपमें संतुष्ट रहनेवाले हूं; मैंने दुःखमयी जीविका अपनायी है; मैं राजसेवाकी वृत्तिसे अनभिज्ञ हूं; केवल स्वच्छन्दताके सहित वनके बीच घूमा करता हूं ॥ २९ ॥

राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम् ।
वनचर्या च निःसङ्गा निर्भया निरवग्रहा ॥ ३० ॥

जो राजाके आश्रयमें वास करते हैं, उन लोगोंको राजाके निकट निन्दाजनित दोष हुआ करते हैं; और वनवासियोंका व्रत आचरण आसक्ति रहित तथा निर्भय होता है ॥ ३० ॥

नृपेणाहूयमानस्य यत्तिष्ठति भयं हृदि ।
न तत्तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम् ॥ ३१ ॥

राजासे बुलाये जानेपर मनुष्यके मनमें जो भय होता है, सन्तुष्टचित्त और फलमूल भोजन करनेवाले वनवासियोंके मनमें वह भय नहीं रहता ॥ ३१ ॥

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥ ३२ ॥

अनायास प्राप्त हुए जल और भययुक्त स्वादु अन्न इन दोनोंके बीच विचार करके देखता हूं, जिसमें भय निवृत्ति है, उसहीमें सुख है ॥ ३२ ॥

अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टाः नराधिपैः ।
उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः ॥ ३३ ॥

राजाओंने सेवकोंके वास्तविक अपराधके कारण उन्हें इतना दण्ड दिया नहीं होगा, जितने झूठे लगाये दोषोंसे कलंकित होकर राजाके हाथसे मारे गये हैं ॥ ३३ ॥

यदि त्वेतन्मया कार्यं मृगेन्द्रो यदि मन्यते ।
समयं कृतमिच्छामि वर्तितव्यं यथा मयि ॥ ३४ ॥

हे मृगेन्द्र ! यदि मुझे यह राजकार्य करना होवे, तुम ऐसा विचारते हो, तो मुझे जिस प्रकार रहना होगा, उसका एक नियम करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ३४ ॥

मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यं च हितं वचः ।
कल्पिता या च ते वृत्तिः सा भवेत्तव सुस्थिरा ॥ ३५ ॥

मेरे स्वजनोंका तुम्हें सम्मान करना होगा; मेरा हितकर वचन तुम्हें सुनना योग्य है। मेरी जो जीविकाकी व्यवस्था कल्पित होगी, वह तुम्हारे समीप स्थिर रहेगी ॥ ३५ ॥

न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित् ।
नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि ॥ ३६ ॥

मैं कभी तुम्हारे दूसरे मन्त्रियोंके साथ विचार नहीं करूंगा; तुम्हारे प्राचीन मन्त्री नीतिज्ञ होनेपर भी मेरे विषयमें व्यर्थ वार्त्ता करेंगे ॥ ३६ ॥

एक एकेन संगम्य रहो ब्रूयां हितं तव ।
न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहिते ॥ ३७ ॥

मैं अकेले एकान्तमें केवल तुम्हारे साथ मिलके हितकर वचन कहूंगा; स्वजनोंके कार्यमें तुम भी मुझसे हिताहितका विषय न पूछना ॥ ३७ ॥

मया संमन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया ।
मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातयेः ॥ ३८ ॥

तुम मेरे साथ सलाह करके फिर आपके पहलेके मन्त्रियोंकी भूल प्रमाणित हो तो भी उनकी हिंसा न करना, और मेरे आत्मीयगणोंके ऊपर क्रुद्ध होकर तुम दण्डविधान न करना ॥३८॥

एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः ।
प्राप्तवान्मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः ॥ ३९ ॥

"ऐसा ही होवे"– मृगेन्द्रने ऐसा वचन कहके जम्बुकका सम्मान किया; जम्बुक भी सम्मानित होकर व्याघ्रके बुद्धिदायक मन्त्री पदपर प्रतिष्ठित हुआ ॥ ३९ ॥

तं तथा सुकृतं दृष्ट्वा युज्यमानं च कर्मणि ।
प्राद्विषन्कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥

बाघके पूर्व-स्थित सेवक लोग सियारको निज कार्यमें युक्त होकर सत्कृत और पूजित देखकर सब कोई दलबद्ध होकर बारम्बार उससे द्वेष करने लगे ॥ ४० ॥

मित्रबुद्धया च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रवेश्य च ।
दोषेषु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः ॥ ४१ ॥

दुष्टबुद्धि मन्त्रियोंने मित्रभावसे सियारको शान्त और प्रसन्न करके अपनी तरह उसे भी दोषके पथपर चलनेकी इच्छा की ॥ ४१ ॥

अन्यथा ह्युचिताः पूर्वं परद्रव्यापहारिणः ।
अशक्ताः किंचिदादातुं द्रव्यं गोमायुयन्त्रिताः ॥ ४२ ॥

ऐसा न करनेसे पहिले उन्होंने पराये धनको हरण किये थे, इस समय वे वैसा नहीं कर सकते थे; और सियारसे निमन्त्रित होके कोई वस्तु ग्रहण करनेमें समर्थ न होते थे ॥ ४२ ॥

व्युत्थानं चात्र काङ्क्षद्भिः कथाभिः प्रविलोभ्यते ।
धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते ॥ ४३ ॥

वे सब सियारको विचलित करनेकी इच्छा करते हुए, अनेक प्रकारके वचन और वित्तसे उसकी बुद्धि लोभयुक्त करने लगे ॥ ४३ ॥

न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद्धैर्यादचाल ह ।
अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय स्थिताः परे ॥ ४४ ॥

परन्तु वह महाबुद्धिमान् जम्बुक किसी प्रकार उनके प्रलोभनमें आकर धीरजसे विचलित नहीं हुआ । अनन्तर सबने मिलकर षड्यन्त्र करके सियारके नाशके वास्ते प्रतिज्ञा की और उसके लिये प्रयत्न शुरू किया ॥ ४४ ॥

ईप्सितं तु मृगेन्द्रस्य मांसं यत्तत्र संस्कृतम् ।
अपनीय स्वयं तद्धि तैर्न्यस्तं तस्य वेश्मनि ॥ ४५ ॥

एक दिन व्याघ्रका अभिलषित मांस जो उसके घरमें तैयार करके रखा था; उन लोगोंने स्वयं उस मांसको वहांसे लाकर सियारके घरमें रखा ॥ ४५ ॥

यदर्थं चाप्यपहृतं येन यच्चैव मन्त्रितम् ।
तस्य तद्विदितं सर्वं कारणार्थं च मर्षितम् ॥ ४६ ॥

वह मांस जिस कारण जिसके जरिये लाया गया था, और जिसने इस विषयकी सलाह की थी; वह सब हाल सियारको मालूम था, उसने केवल अपने बन्धु विच्छेदके निमित्त क्षमा की थी ॥ ४६ ॥

समयोऽयं कृतस्तेन साचिव्यमुपगच्छता ।
नोपघातस्त्वया ग्राह्यो राजन्मैत्रीमिहेच्छता ॥ ४७ ॥

वह जब मन्त्री कार्यपर नियुक्त हुआ, उस समय यह नियम किया गया था, कि राजन् ! यदि आप मुझसे मैत्री चाहते हैं तो किसीके बहकानेमें आकर मेरा विनाश न कीजिये ॥ ४७ ॥

भोजने चोपहर्तव्ये तन्मांसं न स्म दृश्यते ।
मृगराजेन चाज्ञप्तं मृग्यतां चोर इत्युत ॥ ४८ ॥

उसके भोजनके योग्य जो परोसा जानेवाला था, वह मांस उसे नहीं दिखायी दिया; तब उसने आज्ञा दी, कि किसने मांस चुराया है, उस चोरका पता लगाओ ॥ ४८ ॥

कृतकैश्चापि तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ।
सचिवेनोपनीतं ते विदुषा प्राज्ञमानिना ॥ ४९ ॥

कपट आचारी सेवकोंने मृगेन्द्रके समीप उस मांसका विषय वर्णन किया, कि तुम्हारे अपनेके अत्यंत प्राज्ञ और पण्डित माननेवाले मन्त्रीने उस मांसको हरण किया है ॥ ४९ ॥

सरोषस्त्वथ शार्दूलः श्रुत्वा गोमायुचापलम् ।
बभूवामर्षितो राजा वधं चास्याभ्यरोचयत् ॥ ५० ॥

अनन्तर शार्दूलराज सियारकी चपलता सुनने पर कोपित होगया; उससे यह नहीं सह गया; और उसका वध करनेकी इच्छा करी ॥ ५० ॥

छिद्रं तु तस्य तद्दृष्ट्वा प्रोचुस्ते पूर्वमन्त्रिणः ।
सर्वेषामेव सोऽस्माकं वृत्तिभङ्गेषु वर्तते ॥ ५१ ॥

पूर्वस्थित मन्त्रियोंने उसका वह छिद्र देखके आपसमें कहने लगे, वह सियार हम सब लोगोंकी वृत्ति भङ्ग करनेमें प्रवृत्त हुआ है ॥ ५१ ॥

इदं चास्येदृशं कर्म वाल्लभ्येन तु रक्ष्यते ।
श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५२ ॥

उसका जब ऐसा कर्म है, तब वह और क्या नहीं कर सकता ? आप स्वामीने पहिले उसे जिस प्रकार सुना था, वह वैसा नहीं है ॥ ५२ ॥

वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः ।
धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः ।
कार्यार्थं भोजनार्थेषु व्रतेषु कृतवाञ्श्रमम् ॥ ५३ ॥

वह वचन मात्रका ही धर्मिष्ठ है; परन्तु उसका स्वभाव अत्यन्त क्रूर है । इस पापीने कपट धर्म अवलम्बन करके वृथा आचरण परिग्रह किया है; उसने कार्य सिद्धके कारण भोजनके वास्ते व्रत विषयमें श्रम किया है ॥ ५३ ॥

मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रस्तेषां तु तद्वचः ।
आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति ॥ ५४ ॥

मांसकी चोरी और उनसे उसके वृत्तान्तको सुनकर, व्याघ्रने उस समय " सियारका वध करो, " ऐसी आज्ञा की ॥ ५४ ॥

शार्दूलवचनं श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः ।
मृगराजं हितैर्वाक्यैः संबोधयितुमागमत् ॥ ५५ ॥

अनन्तर शार्दूलकी माता उसका वचन सुनके, हितकर वाक्यसे उसे शान्त करनेके वास्ते वहां आई ॥ ५५ ॥

पुत्र नैतत्त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंवृतम् ।
कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दुष्यत्यशुचिभिः शुचिः ॥ ५६ ॥

वह बोली, हे पुत्र ! कपट कार्य संयुक्त वाक्य ग्रहण करने तुम्हें उचित नहीं हैं । ईर्षाके कारण उग्रतायुक्त अपवित्र पुरुषोंको संसर्ग जनित दोषके जरिये निर्दोषी पुरुष भी दोषी होता है ॥ ५६ ॥

नोच्छ्रितं सहते कश्चित्प्रक्रिया वैरकारिका ।
शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ॥ ५७ ॥

कोई पुरुष समुन्नत प्रकृष्ट कर्म नहीं सह सकता, यही वैरभाव उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया है; निर्दोषी पुरुषके अभियुक्त होनेपर वह दूषित हुआ करता है; ॥ ५७ ॥

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ।
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः ।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपकाः ॥ ५८ ॥

लोभियोंके शुद्ध स्वभाववाले द्वेषी होते हैं, कायरोंके बलवान्, मूर्खोंके पण्डित और दरिद्रोंके महाधनवान मनुष्य द्वेषी हुआ करते हैं; अधर्मियोंके धर्मात्मा और कुरूपोंके स्वरूपवान मनुष्य द्वेषभाजन होते हैं ॥ ५८ ॥

बहवः पण्डिता लुब्धाः सर्वे मायोपजीविनः ।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ५९ ॥

बहुतेरे पण्डित अविवेकी, लोभी और कपटी होते हैं; वे बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् निर्दोषी मनुष्योंपर दोष स्थापित किया करते हैं ॥ ५९ ॥

शून्यात्तच्च गृहान्मांसं यदद्यापहृतं तव ।
नेच्छते दीयमानं च साधु तावद्विमृश्यताम् ॥ ६० ॥

यद्यपि तुम्हारे सूने गृहसे मांस चुराया गया है, परन्तु जो पुरुष देने पर भी मांस लेनेकी इच्छा नहीं करता; उस विषयमें पहले अच्छी तरह विचार करो ॥ ६० ॥

असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यदर्शिनः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६१ ॥

जगत्में असत्य लोग सत्य और सत्य लोग असत्यके समान दीख पडते हैं । लोगोंके भाव अनेक तरहके देखे जाते हैं; इससे उनके विषयमें परीक्षा करना युक्तियुक्त है ॥ ६१ ॥

×

तलवद्दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि न खद्योते हुताशनः ॥ ६२ ॥

आकाशका तल कडाहीके पेट समान दीखता है और जुगुनू अग्निकी चिनगारी सदृश दीख पडता है; परन्तु आकाशका तल नहीं है और जुगुनू भी अग्नि नहीं है ॥ ६२ ॥

तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तमर्थः परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्ह्यर्थान्न पश्चात्परितप्यते ॥ ६३ ॥

इससे प्रत्यक्ष दृष्ट विषयोंकी भी परीक्षा करनी उचित है । परीक्षा लेकर जांच करनेपर किसी कार्यके लिये आज्ञा देनेसे पीछे पछताना नहीं पडता ॥ ६३ ॥

न दुष्करमिदं पुत्र यत्प्रभुर्घातयेत्परम् ।
श्लाघनीया च वर्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६४ ॥

हे पुत्र ! शक्तिशाली राजा होके दूसरेको नष्ट करना, उसके लिये कुछ कठिन काम नहीं है; परन्तु इस लोकमें प्रभावयुक्त पुरुषोंमें क्षमाका गुण ही बढाईके योग्य तथा यशदायक है ॥६४॥

स्थापितोऽयं पुत्र त्वया सामन्तेष्वधि विश्रुतः ।
दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्यतामेष ते सुहृत् ॥ ६५ ॥

हे पुत्र ! तुमने इसे समस्त राज्यके मन्त्रीके पदपर स्थापित किया है; तुम्हारे सामन्तोंमें भी वह विख्यात हुआ है; मन्त्रणा पात्र व्यक्ति अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होता है; यह तुम्हारा सुहृद् है, इससे इसकी रक्षा करो ॥ ६५ ॥

दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६६ ॥

पराए मिथ्या दोषसे दूषित पवित्र पुरुषको जो दूसरी भांति समझता है,— दण्ड देता है, वह दुष्ट अमात्योंवाला राजा शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ ६६ ॥

तस्मादथारिसंघाताद्गोमायोः कश्चिदागतः ।
धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत्कपटं कृतम् ॥ ६७ ॥

जम्बुकके उन शत्रु समूहके बीचसे कोई धर्मात्मा सियार आया, उसने जिस प्रकार यह छल-कपट हुआ था, वह सब प्रकाशित करके कह दिया ॥ ६७ ॥

ततो विज्ञातचारित्रः सत्कृत्य स विमोक्षितः ।
परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ६८ ॥

अनन्तर जम्बुकका सच्चरित्र मालूम होनेपर व्याघ्रने उसका सत्कार करके उसे मुक्त किया और वारम्वार प्रीतिके सहित उसे आलिङ्गन किया ॥ ६८ ॥

अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीतिशास्त्रवित्।
तेनामर्षेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ६९ ॥

नीतिशास्त्रको जाननेवाले वह सियारने मृगेन्द्रकी आज्ञा लेके उस ही अमर्षसे दुःखित होकर प्रायोपवेशन व्रतकी इच्छा की ॥ ६९ ॥

शार्दूलस्तत्र गोमायुं स्नेहात्प्रस्रुतलोचनः।
अवारयत्स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७० ॥

शार्दूलने प्रीतिके कारण अश्रुयुक्त नेत्रसे उस धर्मात्मा सियारका आदरके सहित सम्मान करके उसे अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे निवारण किया ॥ ७० ॥

तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसंभ्रमम्।
बभाषे प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७१ ॥

सियार बाघको स्नेहवशके कारण संभ्रान्त चित्त देख, उसने उसे प्रणत होके गद्गद वचनसे कहा ॥ ७१ ॥

पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः।
परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नार्हाम्यहं त्वयि ॥ ७२ ॥

तुमने पहिले मुझे पूजित करके पीछे अपमानित किया और मुझे शत्रुओंकी सी अवस्थामें डाल दिया; इससे मैं तुम्हारे समीप निवास नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

स्वसंतुष्टाश्च्युताः स्थानान्मानात्प्रत्यवरोपिताः।
स्वयं चोपहृता भृत्या ये चाप्युपहृताः परैः ॥ ७३ ॥

जो सेवक स्वसंतुष्ट, स्थानभ्रष्ट, मानसे हीन किये गये हैं, जो स्वयं राजासे पुरस्कृत होकर दूसरोंके द्वारा दोष लगाये जानेके कारण आदरसे वञ्चित कर दिये गये हैं ॥ ७३ ॥

परिक्षीणाश्च लुब्धाश्च क्रूराः काराभिलापिताः।
हृतस्वा मानिनो ये च त्यक्तोपात्ता महेप्सवः ॥ ७४ ॥

जो क्षीण, लोभी, क्रूर, कारावासके धोखेमें डाले गये हैं, जो हृत सर्वस्व होवें और जो मानी तथा महा अर्थ लाभके अभिलाषी होकर आदान हीन हुआ करते हैं ॥ ७४ ॥

संतापिताश्च ये केचिद्व्यसनौघप्रतीक्षिणः।
अन्तर्हिताः सोपहिताः सर्वे ते परसाधनाः ॥ ७५ ॥

जो दुःखित वा राजापर आनेवाली संकटोंकी प्रतीक्षा करते हैं, छिपे रहते हैं और मनमें कपटभाव रखते हैं, वे सब शत्रुओंका काम करनेवाले होते हैं ॥ ७५ ॥

अवमानेन युक्तस्य स्थापितस्य च मे पुनः ।
कथं यास्यसि विश्वासमहमेष्यामि वा पुनः ॥ ७६ ॥

मैं अपमानयुक्त हुआ हूं, और फिर आप मुझे मन्त्रीपद पर स्थापित कर रहे हैं, इससे किस प्रकार मैं तुम्हारा विश्वास पात्र होऊंगा; और कैसे तुम्हारे समीप मैं स्थित होनेकी इच्छा करूंगा ? ॥ ७६ ॥

समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्ष्य च ।
कृतं च समयं भित्त्वा त्वयाहमवमानितः ॥ ७७ ॥

मुझे समर्थ समझके तुमने मन्त्री पद प्रदान करके मेरी परीक्षा की और अपने किये हुए नियमको उल्लंघन करके मुझे अवमानित किया है ॥ ७७ ॥

प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि ।
न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ७८ ॥

सभाके बीच शीलवान कहके जिसे विख्यात किया था; प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेवालेके पक्षमें उसका दोष कहना उचित नहीं है ॥ ७८ ॥

एवं चावमतस्येह विश्वासं किं प्रयास्यसि ।
त्वयि चैव ह्यविश्वासे ममोद्वेगो भविष्यति ॥ ७९ ॥

मैं जब इस प्रकार यहां अपमानित हुआ हूं, तब तुम मेरे ऊपर कैसे विश्वास करेंगे ? तुम्हारे विश्वास न करनेसे मेरा भी चित्त व्याकुल होगा ॥ ७९ ॥

शङ्कितस्त्वमहं भीतः परे छिद्रानुदर्शिनः ।
अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद्बहुच्छलम् ॥ ८० ॥

तुम शङ्कित और मैं भयभीत हूं; दुसरे छिद्र खोजनेवाले भृत्यलोग मुझसे अस्निग्ध और असन्तुष्ट रहेंगे; फिर मन्त्रीका यह कार्य भी बहुत छलकपट युक्त रहता है ॥ ८० ॥

दुःखेन श्लेष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ॥ ८१ ॥

पृथक् हुई वस्तु बहुत कष्टसे जुडती है और जुडी हुई वस्तु अत्यन्त कष्टसे अलग हुआ करती है; जो प्रीति पृथक् होके फिर जुडती है, वह स्नेहसे मिश्रित नहीं रहती ॥ ८१ ॥

कश्चिदेव हि भीतस्तु दृश्यते न परात्मनोः ।
कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावाः स्निग्धास्तु दुर्लभाः ॥ ८२ ॥

कोई भीत-शंकित पुरुषको अपना पराया दोनोंके अतिरिक्त केवल स्वामीके हितकर कार्योंमें रत देखा जाता है; बहुत ही कार्यकी अपेक्षा स्वार्थके लिये प्रेम करनेवाले होते हैं; परंतु स्निग्धबन्धु अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ८२ ॥

सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम् ।
समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८३ ॥

राजाओंका चित्त अत्यन्त चञ्चल होनेके कारण उनके लिये उत्तम पुरुषको समझना बहुत कठिन है; समर्थ वा शङ्कारहित पुरुष सैकडोंमें एक पाया जाता है ॥ ८३ ॥

अकस्मात्प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् ।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवात् ॥ ८४ ॥

मनुष्योंकी उन्नति और अवनति अकस्मात् हुआ करती हैं; किसीका भला करके बुरा करना और उसे महत्त्व देकर नीचे गिराना, यह अल्प बुद्धिका परिणाम है ॥ ८४ ॥

एवं बहुविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मार्थहेतुमत् ।
प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८५ ॥

जम्बुकने इसी प्रकार धर्म और अर्थसे पूरित युक्तियुक्त बहुत शान्त वचन कहकर बाघको प्रसन्न करके उसकी आज्ञा लेकर वनमें गमन किया ॥ ८५ ॥

अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य स बुद्धिमान् ।
गोमायुः प्रायमासीनस्त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥ ३९३९ ॥

बुद्धिमान् सियार उस शार्दूलकी विनतीको न मान कर व्रत अवलम्बन करके देह त्यागनेके अनन्तर स्वर्गमें गया ॥ ८६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ ३९३९ ॥

: ११३ :

युधिष्ठिर उवाच—

किं पार्थिवेन कर्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत् ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वं धर्मभृतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— धर्मोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ पितामह ! राजाको क्या कर्त्तव्य है, और कैसा कार्य करनेसे राजा सुखी होता है ? इसे आप यथार्थ रूपसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम् ।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— अच्छा,— इस लोकमें राजाको जो कुछ कर्त्तव्य है और जिसके करनेसे वह सुखी होता है, उस कार्यके विषयमें निश्चय करके मैं तुम्हारे समीप कहता हूं; उसे सुनो ॥२॥

न त्वेवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम ।
उष्ट्रस्य सुमहद्वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

हे युधिष्ठिर ! हमने जिस प्रकार एक ऊंटका अत्यंत महान् वृत्तान्त सुना है, राजाको वैसा बर्ताव करना उचित नहीं; इससे उसे सुनो ॥ ३ ॥

जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ययुगोद्भवः ।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥

प्राजापत्य युगमें एक महान् ऊंट था, उसको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था; उसने जङ्गलके बीच व्रताचरण करके महत् तपस्या की थी ॥ ४ ॥

तपसस्तस्य चान्ते वै प्रीतिमानभवत्प्रभुः ।
वरेण छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥

उसकी तपस्या पूरी होने पर सर्व-शक्तिमान् पितामह ब्रह्मा प्रसन्न हुए; अनन्तर उन्होंने उसे वर मांगनेको कहा ॥ ५ ॥

उष्ट्र उवाच—

भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् ।
योजनानां शतं साग्रं या गच्छेच्चरितुं विभो ॥ ६ ॥

ऊंट बोला— हे भगवन् ! आपकी कृपासे मेरी यह गर्दन लम्बी होवे, हे विभु ! जिससे जब मैं चरनेके लिये जाऊं तो सौ योजनसे भी आगेकी खाद्य वस्तुएं ग्रहण कर सकूं ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना ।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥

भीष्म बोले— वरदाता महात्मा पितामहने कहा " ऐसा ही होवे " । ऊंट भी उत्तम वर पाके निज वनमें चला गया ॥ ७ ॥

स चकार तदालस्यं वरदानात्स दुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥

अत्यन्त दुर्बुद्धि ऊंटने उस समय वरके प्रभावसे कहीं आने जानेमें आलस्य किया । वह दुष्टात्मा कालसे मोहित होकर चरनेके वास्ते जाना नहीं चाहता था; ॥ ८ ॥

स कदाचित्प्रसार्यैवं तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात्ततो महान् ॥ ९ ॥

किसी समय उस सौ योजन लम्बी ग्रीवाको पसार कर वह निःशङ्क चित्तसे चर रहा था; इस ही समयमें प्रबल हवा बहने लगी ॥ ९ ॥

स गुहायां शिरोग्रीवं निधाय पशुरात्मनः।
आस्ताथ वर्षमभ्यागात्सुमहत्प्लावयज्जगत् ॥ १० ॥

वह ऊंट अपने शिर और गर्दनको कन्दराके बीच डाल कर चर रहा था। अनन्तर जगत्को परिपूरित करती हुई महत् वर्षा आरम्भ हुई ॥ १० ॥

अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥ ११ ॥

उस ही समय कोई सियार जलसे भीगके शीतसे और भूखसे आर्त हुआ; इससे कष्टमें पडके उसने भार्याके सहित शीघ्र ही उस गुफाके बीच प्रवेश किया ॥ ११ ॥

स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः।
अभक्षयत्ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी जम्बुक परिश्रम और अत्यन्त क्षुधासे युक्त होकर ऊंटकी गर्दन देखके उसे भक्षण करने लगा ॥ १२ ॥

यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः।
तदा संकोचने यत्नमकरोद्भृशदुःखितः ॥ १३ ॥

ऊंटने जब अपनेको भक्ष्यमान समझा, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर ग्रीवा समेटनेके वास्ते यत्नवान् हुआ ॥ १३ ॥

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः।
तावत्तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥

वह पशु जबतक अपनी गर्दनको ऊपर–नीचे समेटता रहा था, तबतक भार्याके सहित सियारने उसे भक्षण किया ॥ १४ ॥

स हत्वा भक्षयित्वा च जम्बुकोष्ट्रं ततस्तदा।
विगते वातवर्षे च निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १५ ॥

इस प्रकार वह सियार ऊंटको मारकर भक्षण करके, वर्षा और वायुके शान्त होनेपर गुफासे बाहर हुआ ॥ १५ ॥

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा।
आलस्यस्य क्रमात्पश्य महद्दोषमुपागतम् ॥ १६ ॥

नीचबुद्धि ऊंट उस समय इसी भांति मृत्युको प्राप्त हुआ था। देखिये, उसके आलस्यके कारण कितना महत् दोष उपस्थित हुआ ॥ १६ ॥

त्वमप्येवं विधिं त्यक्त्वा योगेन नियतेन्द्रियः ।
वर्तस्व बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

इसलिये तुम भी उपाय अवलम्बन करके ऐसे आलस छोडके सावधान होकर बुद्धिमूलक विषयोंमें वर्त्तमान रहो । मनुने कहा है, कि विजयका मूल बुद्धि ही है ॥ १७ ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ १८ ॥

हे भारत ! बुद्धिमूलक कर्म ही उत्तम हैं; बाहुबल जनित कर्म मध्यम, और पांवके बलसे किये कार्य निकृष्ट हैं और मस्तकसे बोझा ढोना सबसे अधम है ॥ १८ ॥

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च ।
गुप्तमन्त्रश्रुतवतः सुसहायस्य चानघ ॥ १९ ॥

जो कार्य दक्ष और क्रमसे इन्द्रियोंको निग्रहीत किया हुआ है, उसीका राज्य स्थिर रहता है; हे पापरहित युधिष्ठिर ! जिसने गुप्त मन्त्रणा सुनी है, जो उत्तम सहायकोंसे युक्त है ॥ १९ ॥

परीक्ष्यकारिणोऽर्थाश्च तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥ २० ॥

और परीक्षा करके कार्य करता है; इस लोकमें उसके ही पास सब अर्थ उपस्थित रहते हैं; सहायकोंसे युक्त राजा समस्त पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ है ॥ २० ॥

इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव ।
मयापि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या त्वमत्र युक्तः प्रचरस्व राजन् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥ ३९६० ॥

हे महेन्द्र सदृश प्रभावसे युक्त महाराज ! राज्यशासनकी विधि जाननेवाले साधुओंके जरिये पहिले समयमें यह कथा कही हुई थी; मैंने भी तुम्हारे समीप शास्त्र दृष्टिके अनुसार इसे वर्णन किया है; इससे जैसा कहा है, उस ही भांति बुद्धिसे विचार करके आचरण करो ॥ २१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ११३ ॥ ३९६० ॥

: ११४ :

युधिष्ठिर उवाच —

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्बलो भरतर्षभ ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! दुर्बल राजा राज्य पाके सेना तथा धनसे रहित होके अत्यन्त बलवान् शत्रुके निकट किस प्रकार निवास करे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत　　॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! विद्वान् लोग इस विषयमें सरित्पति सागर और नदियोंके सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं ॥ २ ॥

सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरितां पतिः ।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः　　॥ ३ ॥

एक समय दैत्योंके निवासस्थान और सरिताओंके स्वामी समुद्रने सब नदियोंसे अपने मनका एक संदेह पूछा ॥ ३ ॥

समूलशाखान्पश्यामि निहतांश्छायिनो द्रुमान् ।
युष्माभिरिह पूर्णाभिरन्यांस्तत्र न वेतसम्　　॥ ४ ॥

हे नदियो ! मैं देखता हूं कि तुम जिस समय बाढसे परिपूर्ण भर जाती हो, उस समय जड और शाखाओंके सहित बडे बडे वृक्षोंको नष्ट करके बहा लाती हो; परन्तु उनके बीच बेतके पेडको टूटते हुए नहीं देखता ॥ ४ ॥

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः ।
अवज्ञाय नशक्यो वा किंचिद्वा तेन वः कृतम्　　॥ ५ ॥

बेतका वृक्ष छोटा शरीर और अल्प शक्तिवाला तुम्हारे किनारे पर उत्पन्न होता है; इससे तुम लोग उसे अवज्ञाके कारण नहीं लाती हो; वा उसने तुम लोगोंका कुछ उपकार किया है ? ॥ ५ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा कूलानि चेमानि भित्त्वा नानीयते वशम्　　॥ ६ ॥

बेत जो तुम लोगोंके तटको छोडके वशमें नहीं आता, उस विषयमें मैं तुम सब लोगोंके मतको सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ६ ॥

ततः प्राह नदी गङ्गा वाक्यमुत्तरमर्थवत् ।
हेतुमद्ग्राहकं चैव सागरं सरितां पतिम्　　॥ ७ ॥

इस विषयमें गङ्गा सरित्पति समुद्रसे उत्तम अर्थ पूर्ण और युक्तियुक्त हृदय–ग्राहक उत्तर देने लगी ॥ ७ ॥

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः ।
ततस्त्यजन्ति तत्स्थानं प्रातिलोम्यादचेतसः　　॥ ८ ॥

ये सब वृक्ष यथा स्थानमें अकडकर रहनेसे नष्ट होते हैं; ये सब प्रवाहके सामने नत मस्तक नहीं होते । हम लोगोंके विरुद्ध आचरण करके अन्तमें निज स्थानसे अचेत होकर भ्रष्ट हुआ करते हैं; बेतवृक्ष ऐसा न करनेसे निज स्थानमें ही निवास करता है ॥ ८ ॥

+

वेतसो वेगमायान्तं दृष्ट्वा नमति नेतरः ।
स च वेगेऽभ्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

नदीके वेगको आते देखके बेत नत होता है, दूसरे वृक्ष नत नहीं होते; नदीका वेग घटनेपर बेत फिर निज स्थानमें स्थिर रहता है ॥ ९ ॥

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्रुमः ।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥ १० ॥

बेत कालज्ञ, समयज्ञ और सदा वशीभूत, अनुलोम तथा उद्धत नहीं है; उसमें गर्व नहीं है, इस ही निमित्त इस स्थानमें नहीं आता ॥ १० ॥

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च ।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥ ११ ॥

जो सब औषधी, वृक्ष और लता वायु तथा जलके वेगसे झुक जाती और वेग शान्त होनेपर ऊपर उठती हैं, वे अपने पराभवको नहीं प्राप्त होतीं ॥ ११ ॥

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्वधविनाशने ।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव स नश्यति ॥ १२ ॥

जो राजा वध और नाश करनेमें समर्थ प्रवल वैरीके प्रथम वेगको विनीत भावसे नहीं सहता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः ।
जानन्विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥ १३ ॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने और शत्रुके सार असार तथा बलवीर्यको मालूम करके बर्ताव करता है, उसकी वुद्धि पराभव नहीं होती है ॥ १३ ॥

एवमेव यदा विद्वान्मन्येतातिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद्वैतसीं वृत्तिमेवं प्रज्ञानलक्षणम् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥ ३९७४ ॥

इसी भांति जो शत्रुओंको प्रवल पराक्रमी जानके बेतसीवृत्ति—नम्रताका अवलम्बन करता है, उसकी पराभव नहीं होती; यही प्रकृष्ट ज्ञानका लक्षण है ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥ ३९७४ ॥

: ११५ :

युधिष्ठिर उवाच—

विद्वान्मूर्खप्रगल्भेन मृदुस्तीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे शत्रुनाशन भारत ! विद्वान् पुरुष सभाके बीच मूर्ख वा प्रगल्भके जरिये कोमल तथा कठोर भावसे निन्दित होकर कैसा व्यवहार करे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते ।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पचेतसः　　　　॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे पृथ्वीनाथ ! यह विषय जिस प्रकार वर्णित होता है, अर्थात् बुद्धिमान् शुद्ध-चरित पुरुष अल्पबुद्धि मनुष्यके अत्याचारको जिस प्रकार सदा सहता है, उसे सुनो ॥ २ ॥

अरुष्यन्क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति ।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै　　　　॥ ३ ॥

जो निन्दक पुरुषके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके सुकृतका फल लाभ किया करता है; वह सहनशील मनुष्य अपने किये हुए सब दुष्कृत कर्मोंको उस क्रोधी मनुष्य पर धो डालता है ॥ ३ ॥

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम् ।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते　　　　॥ ४ ॥

टिट्टिभ पक्षीके शब्दकी भांति कानोंमें कडवे मालूम होनेवाले क्रोधसे आतुर पुरुषके वचनकी उपेक्षा करे, वह पुरुष लोक समाजमें द्वेषभाजन होगा, उसके सब कर्म ही निष्फल हो जायंगे ॥ ४ ॥

इति स श्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा ।
इदमुक्तो मया कश्चित्संमतो जनसंसदि ।
स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोऽवतिष्ठति　　　　॥ ५ ॥

वह उसही पाप कर्मके जरिये सदा अपनी बडाई करता है,–"मैंने जनसमाजके बीच अत्यन्त विख्यात किसी पुरुषको ऐसा वचन कहा था कि वह लज्जासे गड गया, उसका मुख सूख गया और वह अधमरासा हो गया" ॥ ५ ॥

श्लाघन्नश्लाघनीयेन कर्मणा निरपत्रपः ।
उपेक्षितव्यो दान्तेन तादृशः पुरुषाधमः　　　　॥ ६ ॥

जो निर्लज्ज पुरुष बडाई न करने योग्य कर्मोंके जरिये बडाई करता है, वैसे अधम पुरुषके विषयमें संयमीको यत्नपूर्वक उपेक्षा करनी योग्य है ॥ ६ ॥

यद्यद्ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेत्सदा ।
प्राकृतो हि प्रशंसन्वा निन्दन्वा किं करिष्यति ।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम्　　　　॥ ७ ॥

अल्पबुद्धि मनुष्य जो कुछ कहे, बुद्धिमान् पुरुष उसे सदा सहन करे; वनके बीच कौवेकी तरह निरर्थक चिल्लाते हुए बुद्धिहीन साधारण पुरुष प्रशंसा या निन्दा करके क्या भला या बुरा कर सकता है ? ॥ ७ ॥

यदि वाग्भिः प्रयोगाः स्यात्प्रयोगे पापकर्मणः ।
वागेवार्थो भवेत्तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ८ ॥

पाप कर्मोंका करना यदि वचनसे कहा जावे, अर्थात् इस पुरुषने यह कर्म किया है, ऐसा करने पर वचनमात्रसे दूसरेका दोषसिद्ध आड करता है; हिंसक पुरुषका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इससे वचनके जरिये दूषित पुरुष कभी दोषी नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया ।
मयूर इव कौपीनं नृत्यन्संदर्शयन्निव ॥ ९ ॥

दुष्ट पुरुष यदि कडवे वाक्यसे कोई विपरीत वचन कहें, अर्थात् जनसमाजमें यदि कोई पुरुष कडवे वचनसे गाली देवे, तो जैसे मोर अपना गुह्य दिखाके नाचते नाचते अपनी बडाई समझता है, उसी प्रकार अपनी उस कुचेष्टासे अपने छिपे दोषोंको प्रकट करता है ॥ ९ ॥

यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं वापि किञ्चन ।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संक्लिष्टकर्मणा ॥ १० ॥

जगत्में जिसे कुछ भी न करने वा कहने योग्य अथवा अकार्य नहीं है, ऐसे दूषित चित्तवाले मनुष्यके साथ पवित्र उत्तम कर्मसे विशुद्ध स्वभाव युक्त पुरुषको वार्त्तालाप करना उचित नहीं है ॥ १० ॥

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षं तु विनिन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरायणः ॥ ११ ॥

जो पुरुष सम्मुखमें प्रशंसा और परोक्षमें निन्दा किया करता है, वह मनुष्य कुत्तेके समान है; उसके लोक और परलोक नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादेन तन्नाशयति स क्षणात् ॥ १२ ॥

परोक्षमें निन्दा करनेवाला मनुष्य यदि सैकडों मनुष्योंको दान करे, तथा होम करे, तो उस ही समय वह सब निष्फल हो जाता है ॥ १२ ॥

तस्मात्प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।
वर्जयेत्साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १३ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष सदा वैसे पापी साधुताहीन विचारवाले पुरुषको तत्काल त्याग दे; वह कुत्तेके मांसकी तरह सात्त्विक पुरुषोंके लिये सदा त्याज्य है ॥ १३ ॥

परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महात्मने ।
प्रकाशयति दोषान्स्वान्सर्पः फणमिवोच्छ्रितम् ॥ १४ ॥

जो दुष्टात्मा लोगोंमें किसी महात्माकी निन्दा करता है, वह सर्पकी तरह ऊंचा फन दिखाके अपने ही दोषोंको प्रकाशित किया करता है ॥ १४ ॥

तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति ।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि मज्जति ॥ १५ ॥

जो परनिन्दारूप निज कर्मको करनेवाले खलके प्रतिकार करनेकी इच्छा करता है, वह इस प्रकार दुःखमें पडता है, जैसे मूर्ख गधा राखमें प्रवेश करता है ॥ १५ ॥

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं जनापवादे सततं निविष्टम् ।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १६ ॥

जो पुरुष दूसरेकी निन्दा करनेमें सदा रत रहता है, वह मनुष्यके आकारमें भेडिया स्वरूप है । चिल्लानेवाले उन्मत्त हाथी और अत्यन्त भयङ्कर कुत्तेकी तरह काटनेको दौडता है; साधु पुरुषको उस नीच पुरुषको परित्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥

अधीरजुष्टे पथि वर्तमानं दमादपेतं विनयाच्च पापम् ।
अरिव्रतं नित्यमभूतिकामं धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १७ ॥

जो पुरुष अधीर सेवित मार्गमें वर्त्तमान और इन्द्रिय दमन तथा विनयसे विरत होता है; उस अरिव्रती सदा अनैश्वर्यकामी पाप बुद्धि पापी मनुष्यको धिक्कार है ॥ १७ ॥

प्रत्युच्यमानस्तु हि भूय एभिर्निशाम्य मा भूस्त्वमथार्तरूपः ।
उच्चस्य नीचेन हि संप्रयोगं विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १८ ॥

नीच मनुष्यके कुछ निन्दा वाचक वचन बोलनेपर यदि साधु पुरुष उसका उत्तर देनेके लिये तैय्यार होवें, तो उसे उत्तर देनेसे निवारण करना उचित है; क्योंकि उसके उत्तर देनेसे आर्त्त होना पडता है। स्थिर बुद्धिवाले पुरुष ऊंचे पदवाले पुरुषके नीचके सहित वार्त्तालाप करनेकी भी निन्दा किया करते हैं ॥ १८ ॥

क्रुद्धो दशार्धेन हि ताडयेद्वा स पांसुभिर्वापकिरेत्तुषैर्वा ।
विवृत्य दन्तांश्च विभीषयेद्वा सिद्धं हि मूर्खे कुपिते नृशंसे ॥ १९ ॥

मूढ पुरुष क्रुद्ध होनेपर चपेटाघात कर सकता है, धूलि वा तूप फेंक सकता है, अथवा दांत निकालके विभीपिका प्रदर्शित किया करता है; नृशंस तथा मूर्खके कोपित होनेपर ये ही सब कार्य प्रसिद्ध हैं ॥ १९ ॥

विगर्हणां परमदुरात्मना कृतां सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः ।
पठेदिदं चापि निदर्शनं सदा न वाङ्मयं स लभति किंचिदप्रियम् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥ ३९९४ ॥

जो मनुष्य सभाके बीच अत्यन्त दुष्टचित्तवाले दुर्जनोंकी की हुई निन्दा सहन करता और इस दृष्टान्तका सदा पाठ करता है; उसे कोई अप्रिय वचन नहीं प्राप्त होता ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥ ३९९४ ॥

: ११६ :

युधिष्ठिर उवाच--

पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम्।
स च्छेत्तव्यस्त्वया राजन्भवान्कुलकरो हि नः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले-- हे महाबुद्धिमान् पितामह ! आपको मेरा यह महत् संशय दूर करना होगा। आप हमारे कुलको स्थिर करनेवाले हैं ॥ १ ॥

पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम्।
कथितो वाक्यसंचारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥

हे तात ! आपने नीचकर्म करनेवाले दुष्टात्मा पुरुषोंके विषयमें ऐसे वचन कहे, इस ही वास्ते आपसे कुछ निवेदन करता हूं ॥ २ ॥

यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम्।
आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरं च यत् ॥ ३ ॥

जो राजतन्त्रके हितकारी और जिससे वंशको सुख प्राप्त होता तथा जो वर्त्तमान और भविष्य-कालमें कुशलकी वृद्धि करनेवाला हुआ करता है; ॥ ३ ॥

पुत्रपौत्राभिरामं च राष्ट्रवृद्धिकरं च यत्।
अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद्ब्रवीहि मे। ॥ ४ ॥

जो पुत्र-पौत्र आदि क्रमसे चले आते हो, जो राज्यकी बढती करनेवाला हो, खानेपीने और शरीरके विषयमें जो हितकर होवे, उसे आप मेरे समीप वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

अभिषिक्तो हि यो राजा राज्यस्थो मित्रसंवृतः।
असुहृत्समुपेतो वा स कथं रञ्जयेत्प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अभिषिक्त होकर राज्यके बीच मित्रोंमें घिरके सुहृदोंसे युक्त होवे, वह किस प्रकार प्रजाको प्रसन्न करे ? ॥ ५ ॥

यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः।
इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥

जो असत् विषयोंमें अनुरक्त, प्रीति और प्रबल आसक्तिसे युक्त, तथा इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण सज्जन होना नहीं चाहता ॥ ६ ॥

तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः।
न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा संप्रयुज्यते ॥ ७ ॥

उसके सद्वंशमें उत्पन्न हुए सेवक लोग गुणरहित हो जाते हैं और वह राजा सेवकोंके बलसे प्राप्त हुए धनके जरिये गौरवयुक्त नहीं होता ॥ ७ ॥

एतान्मे संशयस्यास्य राजधर्मान्सुदुर्लभान् ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवाञ्शंसितुमर्हति ॥ ८ ॥

मैं इस ही सन्देहसे युक्त हो रहा हूं; आप बुद्धिमें बृहस्पतिके समान हैं, इससे इस दुर्लभ सब राज्य-धर्मको मेरे समीप कहनेमें आप ही योग्य हैं ॥ ८ ॥

शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वं नः कुलहिते रतः ।
क्षत्ता चैव पटुप्रज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥ ९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप हमारे वंशके हित करनेमें रत हैं, आप ही सब विषयोंको कह सकते हैं, और महाबुद्धिमान् विदुर भी हम लोगोंसे सदा सत्कथा कहा करते हैं ॥ ९ ॥

त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम् ।
अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् ॥ १० ॥

आपके समीपसे वंश और राज्यके हितकर उपदेश वचन सुनके मैं अक्षय अमृत पानकी तरह तृप्त होकर सुखसे शयन करूंगा ॥ १० ॥

कीदृशाः संनिकर्षस्था भृत्याः स्युर्वा गुणान्विताः ।
कीदृशैः किंकुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥ ११ ॥

राजाके पास रहनेवाले सेवक कैसे गुणोंसे युक्त होवें और किस कुलमें उत्पन्न हुए कैसें सैनिकोंके साथ राजा युद्धकी यात्रा करे ? ॥ ११ ॥

न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता ।
राज्यं चेदं जनः सर्वस्तत्कुलीनोऽभिशंसति ॥ १२ ॥

सेवकोंसे रहित राजा अकेले कभी राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता; सत्वंशमें उत्पन्न हुए सब लोग इस राज्यकी निन्दा करते हैं ॥ १२ ॥

न हि प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ।
लब्धुं लब्ध्वा चापि सदा रक्षितुं भरतर्षभ ॥ १३ ॥

हे राजन् ! सहायकोंके विना अकेले कोई भी राज्यका शासन करनेमें समर्थ नहीं है। हे तात भरतर्षभ ! सहायहीन राजा धन प्राप्त करने वा प्राप्त हुए धनकी सदा रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच—

यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः ।
हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते ॥ १४ ॥

भीष्म बोले— जिसके सब सेवक ज्ञान-विज्ञानके जाननेवाले, हितैषी, सत्कुलमें उत्पन्न हुए और कोमलता- युक्त हैं, वही राजा राज्यका फल भोग करता है ॥ १४ ॥

मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः ।
नृपतेर्मतिदाः सन्ति संबन्धज्ञानकोविदाः ॥ १५ ॥

जिसके मन्त्री उत्तम कुलवाले और घूस आदिसे अभेद, उसके साथ सदा रहनेवाले, राजाको उत्तम बुद्धि देनेवाले, साधु सम्बन्ध युक्त ज्ञानके जाननेवाले होते हैं ॥ १५ ॥

अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः ।
अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते ॥ १६ ॥

भविष्यके समयके विधाता, ज्ञानमें निपुण और जो बीते हुए विषयोंके वास्ते शोक नहीं करते, वही राजा राज्यका फल भोग करता है ॥ १६ ॥

समदुःखसुखा यस्य सहायाः सत्यकारिणः ।
अर्थचिन्तापरा यस्य स राज्यफलमश्नुते ॥ १७ ॥

जिसके सहायक उसके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख मानते हैं, सदा सत्यका अनुसरण करनेवाले हैं और कोप कैसे बढ़े– इसकी चिन्तामें रत होते हैं, वह राजा राज्यका फल पाता है ॥ १७ ॥

यस्य नार्तो जनपदः संनिकर्षगतः सदा ।
अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राज्यफलभाग्भवेत् ॥ १८ ॥

जिसका राज्य दुखी नहीं है, जो सदा समीपवर्ती रहता है, क्षुद्रता–हीन और सत्मार्गका अवलम्बन करता है, वह राजा ही राज्यभागी होता है ॥ १८ ॥

कोशाक्षपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्जनैः ।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं धार्यते स नृपोत्तमः ॥ १९ ॥

कोषको बढानेवाले आप्त और सन्तुष्ट पुरुषोंसे जिसके खजानेकी सदा बढती होती है, वही राजा उत्तम है ॥ १९ ॥

कोष्ठागारमसंहार्यैराप्तैः संचयतत्परैः ।
पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणीभवेत् ॥ २० ॥

पहिले सञ्चय, उसके अनन्तर घूस आदिसे अभेद, लोभरहित और विश्वासी मन्त्रियोंसे जिसकी धान्य आदि सामग्रीके जरिये सब लोग प्रतिपालित होते हैं, वह राजा अनेक गुणोंसे युक्त होता है ॥ २० ॥

व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्मफलोदयः ।
दृश्यते शङ्खलिखितः स धर्मफलभाग्भवेत् ॥ २१ ॥

जिसके नगरमें व्यवहार कार्य– कर्मके अनुसार फलकी प्राप्ति– शङ्ख लिखित मुनिके न्याय-व्यवहारका पालन होता देखा जाता है, वह राजा ही धर्मके फलका भागी होता है ॥ २१ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित् ।
षड्वर्गं प्रतिगृह्णन्स धर्मात्फलमुपाश्नुते ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥ ४०१६ ॥

राजधर्मको जाननेवाला जो राजा विचारके मनुष्योंको संग्रह करता है और सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैध और समाश्रय इन षड्वर्गोंको स्वीकार करता है, वही धर्मके फलका भोग किया करता है ॥ २२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ११६ ॥ ४०१६ ॥

: ११७ :

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निदर्शनकरं लोके सज्जनाचरितं सदा ॥ १ ॥

भीष्म बोले— इस विषयमें पुराने लोग इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं; यह सज्जनोंसे आचरित लोक समाजमें सदा परम प्रमाण स्वरूप है ॥ १ ॥

अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने ।
जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः ॥ २ ॥

तपोवनमें जामदग्न्य परशुरामके समीप श्रेष्ठ ऋषियोंने जैसा कहा था, उसे इस वक्ष्यमाण विषयके सदृश मैंने सुना था ॥ २ ॥

वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते ।
ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥

मनुष्य-सञ्चारसे रहित किसी जङ्गलके बीच फल मूल आहार करनेवाले नियममें निष्ठावान जितेन्द्रिय एक ऋषि वास करते थे ॥ ३ ॥

दीक्षादमपरः शान्तः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्पथे स्थितः ॥ ४ ॥

वह दीक्षा दमसे युक्त, शान्त, स्वाध्यायमें रत, पवित्र, उपवासके कारण शुद्धचित्त और सदा सत्पथका अवलम्बन करके रहते थे ॥ ४ ॥

तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः ।
सर्वसत्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥

उस बुद्धिमानके बैठे रहनेपर सब वनमें रहनेवाले प्राणी उनका सद्भाव देखके उनके समीप आ जाते थे ॥ ५ ॥

×

सिंहव्याघ्राः सशरभा मत्ताश्चैव महागजाः ।
द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥

सिंह, बाघ, शरभ, बडे मतवाले हाथी, चीते, गैंडे, भालू और इसके अतिरिक्त जो सब भयानक रूपवाले प्राणी थे, वे सब उनके पास आते थे ॥ ६ ॥

ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः ।
तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूताः प्रियकारिणः ॥ ७ ॥

वे रुधिर पीनेवाले—मांसाहारी सब जीव उनसे कुशल प्रश्न करते और सब कोई शिष्यकी तरह नम्र भावसे उस ऋषिके प्रियकार्योंके करनेमें प्रवृत्त होते थे ॥ ७ ॥

दत्त्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम् ।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्र नाजहाच्छ्वा महामुनिम् ॥ ८ ॥

वे सब जानवर ऋषिके साथ सुख-प्रश्न करके जैसे आते वैसे यथा योग्य स्थानोंपर गमन करते थे; उनके बीच एक ग्रामीण कुत्ता उस महामुनिको छोडके नहीं जाता था ॥ ८ ॥

भक्तोऽनुरक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः ।
फलमूलोत्कराहारः शान्तः शिष्टाकृतिर्यथा ॥ ९ ॥

वह महामुनिका भक्त और सदा उनमें अनुरक्त, उपवाससे कृशित, दुर्बल, फल-मूल-जलाहारी, शान्त और साधुओंके समान जीवन विताता था ॥ ९ ॥

तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामुनेः ।
मनुष्यवद्गतो भावः स्नेहबद्धोऽभवद्भृशम् ॥ १० ॥

उन महर्षिके चरणोंके पास बैठे हुए उस कुत्तेके मनमें मनुष्यकी तरह प्रेम हो गया और वह अत्यन्त स्नेहबद्ध होने लगा ॥ १० ॥

ततोऽभ्ययान्महावीर्यो द्वीपी क्षतजभोजनः ।
श्वार्थमत्यन्तसंदुष्टः क्रूर काल इवान्तकः ॥ ११ ॥

अनन्तर महाबली मांसभक्षी स्वार्थ लाभके वास्ते अत्यन्त तत्पर-दुष्ट, चीता क्रूर काल तथा यमराजके समान वहां पर उपस्थित हुआ ॥ ११ ॥

लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः ।
व्यादितास्यः क्षुधाभग्नः प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥

वह प्यासा चीता जीभ निकालके और पूंछ खडी करके, क्षुधासे पीडित होकर उस कुत्तेके मांसको भक्षण करनेकी इच्छा कर मुख बाके उसकी ओर आने लगा ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा क्रूरमायान्तं जीवितार्थी नराधिप ।
प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र यत्तच्छृणु महामते ॥ १३ ॥

हे राजन् ! महामते ! उस क्रूर चीतेको आते देख जीनेकी इच्छासे उस कुत्तेने मुनिसे जैसा वचन कहा था, उसे सुनो ॥ १३ ॥

श्वशत्रुर्भगवन्नत्र द्वीपी मां हन्तुमिच्छति ।
त्वत्प्रसादाद्भयं न स्यात्तस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! यह कुत्तोंका शत्रु चीता मुझे मारनेकी इच्छा करता है । हे महामुनि ! आपकी कृपासे जिस प्रकार इससे मुझे भय न होवे, आप वैसा ही करिये ॥ १४ ॥

मुनिरुवाच –

न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथञ्चन ।
एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १५ ॥

मुनि बोले– हे बच्चा ! तुम चीतेसे मृत्युके वास्ते कुछ मत डरो; तुम निज कुत्तेके रूपको त्यागके चीता हो जाते हो ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच—

ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः ।
चित्राङ्गो विस्फुरन्हृष्टो वने वसति निर्भयः ॥ १६ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर वह कुत्ता सुवर्णके समान आकृतिसे युक्त विचित्र अङ्गवाला चितकबरा चीता हुआ; उसके सब दांत बडे बडे होगये; तब वह निर्भय होकर वनके बीच स्थित हुआ ॥ १६ ॥

ततोऽभ्ययान्महारौद्रो व्यादितास्यः क्षुधान्वितः ।
द्वीपिनं लेलिहद्वक्त्रो व्याघ्रो रुधिरलालसः ॥ १७ ॥

अनन्तर महाभयङ्कर विकराल शरीरसे युक्त, रुधिर लालसासे मुख बाये हुए भूखा शेर उस द्वीपीके समीप आने लगा ॥ १७ ॥

व्याघ्रं दृष्ट्वा क्षुधाभग्नं दंष्ट्रिणं वनगोचरम् ।
द्वीपी जीवितरक्षार्थमृषिं शरणमेयिवान् ॥ १८ ॥

वह चीता वनवासी बडी दाढोंसे युक्त भूखे शेरको देखके अपने जीवन रक्षाकी इच्छासे ऋषिके शरणमें गया ॥ १८ ॥

ततः संवासजं स्नेहमृषिणा कुर्वता सदा ।
स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपुभिर्बलवत्तरः ।
ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाभ्यहंस्तं विशां पते ॥ १९ ॥

ऋषि सहवासके कारण उसपर प्रीति करते थे; इस ही कारण उन्होंने उस द्वीपीको उसके शत्रुओंसे भी बलवान शेर बना दिया । महाराज ! अनन्तर शेरने उसे निज जातिके समान देखके नहीं मारा ॥ १९ ॥

स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान्पिशिताशनः ।
न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत्तदा ॥ २० ॥

वह कुत्ता उस समय व्याघ्रत्वको प्राप्त होके बलवान हुआ और मांस भोजन करने लगा; तब उसे फल–मूल भोजन करनेमें रुचि न रही ॥ २० ॥

यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकाङ्क्षति वनौकसः ।
तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत्तदा ॥ २१ ॥

महाराज ! मृगराज सिंह जैसे सदा वनवासी जीवोंको भक्षण करनेकी इच्छा करता है, वह शेर भी उस समय वैसा ही हुआ ॥ २१ ॥

व्याघ्रस्तूटजमूलस्थस्तृप्तः सुप्तो हतैर्मृगैः ।
नागश्चागात्तमुद्देशं मत्तो मेघ इवोत्थितः ॥ २२ ॥

वह शेर कुटीके समीप निवास करते हुए मृगोंको मारके उनके मांससे तृप्त होकर शयन कर रहा था; उसही समय ऊंचे उठे हुए बादलके समान एक मतवाला हाथी उस स्थान पर उपस्थित हुआ ॥ २२ ॥

प्रभिन्नकरटः प्रांशुः पद्मी विततमस्तकः ।
सुविषाणो महाकायो मेघगम्भीरनिस्वनः ॥ २३ ॥

उस हाथीका गण्डस्थल प्रभिन्न होके मद झर रहा था, उसका मस्तक बहुत बडा था और उसके शरीरमें पद्मचिन्ह विद्यमान था । उस दोनों विशाल दांतोंसे युक्त, अत्यन्त ऊंचा बडा शरीर और बादलके समान गम्भीर शब्द करनेवाला ॥ २३ ॥

तं दृष्ट्वा कुञ्जरं मत्तमायान्तं मदगर्वितम् ।
व्याघ्रो हस्तिभयात्त्रस्तस्तमृषिं शरणं ययौ ॥ २४ ॥

मदोन्मत्त उस हाथीको आते देखके वह बाघ हाथीके भयसे डरके उस ऋषिके शरणमें गया ॥ २४ ॥

ततोऽनयत्कुञ्जरतां तं व्याघ्रमृषिसत्तमः ।
महामेघोपमं दृष्ट्वा तं स भीतोऽभवद्गजः ॥ २५ ॥

अनन्तर उन ऋषि श्रेष्ठने उस बाघको हाथी बनाया । असल हाथी उस बाघको महामेघके समान हाथी होते देखके भयभीत हुआ ॥ २५ ॥

ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च ।
व्यचरत्स मुदा युक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ २६ ॥

अनन्तर वह हाथी शल्लकी तथा कमल वनमें कमलोंके परागसे विभूषित और आनन्द युक्त होकर घूमने लगा ॥ २६ ॥

कदाचिद्रममाणस्य हस्तिनः सुमुखं तदा ।
ऋषेस्तस्योटजस्थस्य कालोऽगच्छन्निशानिशम् ॥ २७ ॥

ऋषिकी कुटीके समीप रहके उस सुंदर मुखवाले हाथीको इधर उधर घूमते हुए कितनी ही रातोंका समय बीत गया ॥ २७ ॥

अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः ।
गिरिकन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ २८ ॥

अनन्तर पहाडकी कन्दरामें रहनेवाले लालवर्णवाली केशरसे युक्त हाथियोंके कुलको नाश करनेवाला काल तुल्य एक सिंह उस स्थान पर आया ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयाकुलः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः ॥ २९ ॥

हाथी उस सिंहको आते देख उसके भयसे डरके थरथर कांपने लगा और ऋषिकी शरणमें गया ॥ २९ ॥

ततः स सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा ।
वन्यं नागणयत्सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् ॥ ३० ॥

अनन्तर मुनिने उस गजराजको सिंह बनाया । तब उसने समान जातिके सम्बन्धके कारण वनके सिंहकी पर्वाह न की; ॥ ३० ॥

दृष्ट्वा च सोऽनशत्सिंहो वन्यो भीसन्नवाग्बलः ।
स चाश्रमेऽवसत्सिंहस्तस्मिन्नेव वने सुखी ॥ ३१ ॥

उसे सिंह होते देखकर बनका सिंह भयभीत होकर चला गया । वह नकली सिंह उस महावनके बीच मुनिके आश्रमके समीप सुखसे वास करने लगा ॥ ३१ ॥

न त्वन्ये क्षुद्रपशवस्तपोवननिवासिनः ।
व्यदृश्यन्त भयत्रस्ता जीविताकाङ्क्षिणः सदा ॥ ३२ ॥

दूसरे क्षुद्र पशु जो तपोवनमें रहते थे, उसके भयसे भयभीत होके सदा जीवनकी इच्छासे तपोवनके निकटक भी नहीं दिखायी दिये ॥ ३२ ॥

कदाचित्कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः ।
बलवान्क्षतजाहारो नानासत्त्वभयंकरः ॥ ३३ ॥

किसी समय कालयोगसे सब प्राणियोंका नाशक बलवान्, रुधिर पीनेवाला, अनेक प्रकारके प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला ॥ ३३ ॥

अष्टपादूर्ध्वचरणः शरभो वनगोचरः ।
तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ ३४ ॥

आठ पांव, उर्द्ध पांववाला, वनवासी शरभ उस सिंहको संहार करनेके वास्ते मुनिके आश्रममें उपस्थित हुआ ॥ ३४ ॥

तं मुनिः शरभं चक्रे बलोत्कटमरिन्दम ।
ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ।
दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं संप्राद्रवद्भयात् ॥ ३५ ॥

हे शत्रुनाशन ! मुनिने उस समय सिंहको अत्यन्त बलवान शरभ बनाया । जङ्गली शरभ मुनिके अत्यंत भयंकर और बलसे युक्त शरभको अपने अगाडी देख, भयभीत हो शीघ्रताके सहित वनसे भाग गया ॥ ३५ ॥

स एवं शरभस्थाने न्यस्तो वै मुनिना तदा ।
मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शारभ्यं सुखमाप्तवान् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वह कुत्ता उस समय मुनिके जरिये शरभत्व प्राप्त करके, उनके निकट सुखपूर्वक समय बिताने लगा ॥ ३६ ॥

ततः शरभसंत्रस्ताः सर्वे मृगगणा वनात् ।
दिशः संप्राद्रवन्राजन्भयाज्जीवितकाङ्क्षिणः ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! अनन्तर जंगलके सब पशु उस शरभके भयसे डरके और अपनी जीवन रक्षाके लिये यत्नवान होकर दसों दिशाकी ओर दौडने लगे ॥ ३७ ॥

शरभोऽप्यतिसंदुष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
फलमूलाशनं शान्तं नैच्छत्स पिशिताशनः ॥ ३८ ॥

अत्यंत दुष्ट शरभ भी प्रतिदिन प्राणियोंके वधमें रत हुआ; इससे वह मांसके स्वादसे मोहित होकर फल मूल भोजन करनेकी इच्छा नहीं करता था ॥ ३८ ॥

ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोऽन्वितः ।
इयेष तं मुनिं हन्तुमकृतज्ञः श्वयोनिजः ॥ ३९ ॥

कुछ दिनोंके अनन्तर अकृतज्ञ श्वयोनिज शरभ लोहू पीनेकी प्रबल इच्छासे अत्यन्त मुग्ध होकर मुनिको ही मारनेकी अभिलाप करने लगा ॥ ३९ ॥

ततस्तेन तपःशक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा ।
विज्ञाय च महाप्राज्ञो मुनिः श्वानं तमुक्तवान् ॥ ४० ॥

तब वह महाबुद्धिमान् मुनि तपोबल और ज्ञाननेत्रसे उसकी दुष्ट अभिलापा जान गये और विदित होने पर वे उस कुत्तेसे कहने लगे ॥ ४० ॥

श्वा त्वं द्वीपित्वमापन्नो द्वीपि व्याघ्रत्वमागतः ।
व्याघ्रो नागो मदपटुर्नागः सिंहत्वमाप्तवान् ॥ ४१ ॥

तू पहिले कुत्ता था, मेरे तपोबलसे चीता हुआ, चीतेसे धीरे धीरे बाघ बना; बाघसे मद चूनेवाला मतवाला हाथी हुआ । हाथीसे सिंह हुआ ॥ ४१ ॥

सिंहोऽतिबलसंयुक्तो भूयः शरभतां गतः ।
मया स्नेहपरीतेन न विसृष्टः कुलान्वयः ॥ ४२ ॥

अन्तमें बल युक्त सिंहसे फिर शरभत्व प्राप्त किया। मैंने तुझपर प्रीति करके क्रमसे तुझे अनेक तरहसे सृजन किया, परन्तु तेरा उन कुलोंके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ; तू अपने कुलके सम्बन्धको त्याग न सका ॥ ४२ ॥

यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि ।
तस्मात्स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि ॥ ४३ ॥

हे पापी! तू जब मुझे पापरहित जानके भी मारनेकी इच्छा करता है, तब तू आत्मयोनिको प्राप्त होकर कुत्ता ही होवेगा ॥ ४३ ॥

ततो मुनिजनद्वेषाद्दुष्टात्मा श्वाकृतोऽबुधः ।
ऋषिणा शरभः शप्तः स्वं रूपं पुनराप्तवान् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥ ४०६० ॥

अनन्तर मुनि-द्वेषी दुष्टचित्त प्रकृत मूर्ख शरभ उस ऋषिके शापसे फिर पहिले रूपको प्राप्त हुआ था ॥ ४४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११७ ॥ ४०६० ॥

: ११८ :

भीष्म उवाच—

स श्वा प्रकृतिमापन्नः परं दैन्यमुपागमत् ।
ऋषिणा हुंकृतः पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥

भीष्म बोले—वह कुत्ता प्रकृतिस्थ होकर परम दीनदशासे ग्रस्त हुआ और ऋषिने उस पापात्माको हुङ्कारके जरिये उस तपोवनसे बाहर किया ॥ १ ॥

एवं राज्ञा मतिमता विदित्वा शीलशौचताम् ।
आर्जवं प्रकृतिं सत्त्वं कुलं वृत्तं श्रुतं दमम् ॥ २ ॥

इसी तरह बुद्धिमान् राजा पहले अपने सेवकोंका शील, पवित्रता, सरलता, स्वभाव, सत्त्व, कुल, चारित्र्य, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह ॥ २ ॥

अनुक्रोशं बलं वीर्यं भावं संप्रशमं क्षमाम् ।
भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुशिक्षिताः ॥ ३ ॥

दया, बल, वीर्य, प्रभाव, विनय और क्षमा आदि मालूम करके जो सेवक जिस कार्यके योग्य हो, उसे उस ही कार्यपर नियुक्त करे ॥ ३ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः प्रकर्तुं भृत्यमर्हति ।
अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥

विना परीक्षा किये किसीको मन्त्री नियुक्त करना राजाको उचित नहीं है। जो राजा अकुलीन मनुष्योंसे घिरता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

कुलजः प्रकृतो राज्ञा तत्कुलीनतया सदा ।
न पापे कुरुते बुद्धिं निन्द्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥

सत्कुलोंमें उत्पन्न हुआ मनुष्य राजासे निरपराधके ही तिरस्कृत और निन्दित होनेपर भी कभी पाप कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता ॥ ५ ॥

अकुलीनस्तु पुरुषः प्रकृतः साधुसंक्षयात् ।
दुर्लभैश्वर्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

और कुलहीन साधारण पुरुष साधुसंक्षयसे दुर्लभ ऐश्वर्य लाभ करके यदि कभी राजासे निन्दित होवे, तो उस ही समय वह उसका शत्रु होजाता है ॥ ६ ॥

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानकोविदम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥

कृतज्ञ, शिक्षित, विद्वान्, ज्ञानविज्ञानके जाननेवाले, सब शास्त्रोंके अर्थ और तत्वके जाननेवाले, सहनशील, स्वदेशीय, ॥ ७ ॥

कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥

कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, मनका दमन करनेवाले, जितेन्द्रिय, लोभरहित, जो कुछ मिले उसहीमें सन्तुष्ट रहनेवाले और उस स्वामीके मित्रकी उन्नति इच्छिनेवाले ॥ ८ ॥

सचिवं देशकालज्ञं सर्वसंग्रहणे रतम् ।
सत्कृतं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥ ९ ॥

मन्त्रणाकार्यके जाननेवाले, जिस देश वा जिस समयमें जैसा कार्य करना होता है उस विषयके जाननेवाले, प्राणी मात्रके चित्तको प्रसन्न करनेमें अनुरक्त, सदाचारयुक्त, सदा युक्तचित्त, हितैषी, आलसरहित, ॥ ९ ॥

युक्ताचारं स्वविषये संधिविग्रहकोविदम् ।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥

अपने देशमें गुप्तदूत रखनेवाला, सन्धि विग्रहके समयको जाननेवाले, राजाके धर्म–अर्थ और कामके जाननेवाले, पुर और जनपदवासी लोगोंके प्यारे, ॥ १० ॥

खातकृद्व्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम् ।
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्रायानविशारदम् ॥ ११ ॥

खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूहोंके तत्त्वज्ञ, सब सेनाको हर्षित करनेमें निपुण, संकेत समझनेवाले, शत्रुओंपर चढाई तथा वाहन विशारद, ॥ ११ ॥

हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम् ।
प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिनं युक्तकारिणम् ॥ १२ ॥

हाथियोंकी शिक्षामें निपुण, अहंकार रहित, प्रगल्भ, दानी, धर्मात्मा, बलवान् यथा उचित कार्य करनेवाले, ॥ १२ ॥

चोक्षं चोक्षजनाकीर्णं सुवेषं सुखदर्शनम् ।
नायकं नीतिकुशलं गुणषड्या समन्वितम् ॥ १३ ॥

पवित्र और पवित्र लोगोंसे घिरे हुए, प्रसन्न वेषसे युक्त, सुखदर्शन, नायक, नीतिकुशल, छः गुणोंसे युक्त, ॥ १३ ॥

अस्तब्धं प्रश्रितं शक्तं मृदुवादिनमेव च ।
धीरं श्लक्ष्णं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम् ॥ १४ ॥

सावधान, विनयी, समर्थ, मधुर और कोमल भाषासे युक्त, धीर, सौम्य, महा ऐश्वर्यसे युक्त और देशकालके अनुसार कार्य करनेवाले ॥ १४ ॥

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते ।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥ १५ ॥

योग्य पुरुषको जो राजा मन्त्री करता है, और उसकी अवज्ञा नहीं करता, चन्द्रमाकी चांदनीके समान उस राजाका राज्य बढता है ॥ १५ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः ।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥ १६ ॥

इन सब गुणोंसे युक्त तथा शास्त्र जाननेवाले, प्रजापालनमें तत्पर और धर्ममें निष्ठावान राजाको सभी चाहते हैं ॥ १६ ॥

धीरो मर्षी शुचिः शीघ्रः काले पुरुषकारवित् ।
शुश्रूषुः श्रुतवाञ्श्रोता ऊहापोहविशारदः ॥ १७ ॥

धीर, क्षमावान, पवित्र, समयके अनुसार शीघ्रता करनेवाले, पुरुषके प्रयत्नके जाननेवाले, सुननेके लिये तत्पर, श्रुतवान, श्रोता, तर्कवितर्कके जाननेवाले, ॥ १७ ॥

×

मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥ १८ ॥

मेधावी, धारणायुक्त, यथारीतिसे कार्योंको करनेवाले, संयमी, सदा प्रिय वचन कहनेवाले, अपकारमें क्षमावान्, ॥ १८ ॥

दानाच्छेदे स्वयंकारी सुद्वारः सुखदर्शनः ।
आर्तहस्तप्रदो नित्यमाप्तंमन्यो नये रतः ॥ १९ ॥

दानमें विघ्न न करनेवाले, उत्तम उपायोंके जाननेवाले, सुखदर्शक, आर्त्तोंके अवलम्ब, सदा विश्वसनीय सेवकोंसे युक्त, नीतिमें रत, ॥ १९ ॥

नाहंवादी न निर्द्वंद्वो न यत्किंचनकारकः ।
कृते कर्मण्यमोघानां कर्ता भृत्यजनप्रियः ॥ २० ॥

अहङ्कार रहित, सुख-दुःख सहनेवाले, तुच्छ कार्योंसे रहित, सेवकोंसे कोई कार्य सिद्ध होनेपर उनके उपकार करनेवाले, सेवकोंके प्यारे, ॥ २० ॥

संगृहीतजनोऽस्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा ।
दाता भृत्यजनावेक्षी न क्रोधी सुमहामनाः ॥ २१ ॥

लोगोंको संग्रह करनेवाले, सावधानतायुक्त, सदा प्रसन्न मुख, दाता, सेवकोंका ख्याल रखनेवाले, क्रोधरहित, ऊंचे चित्तवाले, ॥ २१ ॥

युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासकः ।
चारनेत्रः परावेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा ॥ २२ ॥

उचित दण्ड देनेवाले, दण्डका त्याग न करनेवाले, धर्मकार्यके प्रशासक, दूतरूपी नेत्रोंसे राज्यकी देखभाल करनेवाला, शत्रुओंसे राज्य रक्षा कार्यमें तत्पर और सदा धर्म-अर्थमें कुशल ॥ २२ ॥

राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत् ।
योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वैर्गुणगणैर्वृताः ॥ २३ ॥

ऐसे सैकडों गुणोंसे युक्त राजा सबकेही अभिलषित होता है । हे नरनाथ ! राज्यकी रक्षामें सहायस्वरूप सब सैनिक भी ऐसे उत्तम गुण समूहोंसे परिपूरित होने चाहिये ॥ २३ ॥

अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणाः ।
न विमानयितव्याश्च राज्ञा वृद्धिमभीप्सता ॥ २४ ॥

इसलिये उत्तम पुरुषोंकी— जो राज्यका शासन करनेमें सहायक होंगे, खोज करनी चाहिये; जो राजा अपनी समृद्धिकी इच्छा करता है, उसे कभी योद्धाओंकी अवमानना करनी उचित नहीं है ॥ २४ ॥

योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः ।
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंयुताः ॥ २५ ॥

जिस राजाके योद्धा—युद्धमें निपुण, कृतज्ञ, शस्त्र चलानेकी कला जाननेवाले, धर्मशास्त्रके ज्ञानसे युक्त, पदातियोंसे घिरे हुए, ॥ २५ ॥

अर्थमानविवृद्धाश्च रथचर्याविशारदाः ।
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २६ ॥

अर्थ तथा मानसे सम्पन्न, रथी, धनुर्विद्यामें निपुण होते हैं, इस भूमण्डलका राज्य उसी राजाके अधीन रहता है ॥ २६ ॥

सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा ।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥

जो राजा सबके संग्रह करनेमें सदा आग्रह युक्त, उद्योगी और मित्रोंसे परिपूरित रहता है, वही राजसत्तम है ॥ २७ ॥

शक्या अश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत ।
संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुंधरा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥ ४०८८ ॥

हे भारत ! जो उपर्युक्त मनुष्योंका संग्रह करता है, वह केवल एक सहस्र घुडसवार वीरोंके जरिये इस समस्त पृथ्वीको जय कर सकता है ॥ २८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११८ ॥ ४०८८ ॥

: ११९ :

भीष्म उवाच—

एवं शुनासमान्भृत्यान्स्वस्थाने यो नराधिपः ।
नियोजयति कृत्येषु स राज्यफलमश्नुते ॥ १ ॥

भीष्म बोले— जो राजा इसी भांति कुत्तेके समान विश्वसनीय सेवकोंको निज निज स्थानों तथा कार्य विशेषमें नियुक्त करता है, वही राज्य फल भोग किया करता है ॥ १ ॥

न श्वा स्वस्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभि सत्कृतः ।
आरोप्यः श्वा स्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत्प्रपद्यते ॥ २ ॥

कुत्तेका सम्मान करके उसे निज स्थानसे ऊंचे स्थानपर नियुक्त करे तो वह विश्वासके पात्र नहीं रहता; उसको कभीभी उसकी जगहसे उठाकर ऊंचा न बिठावे; क्यों कि यह निज स्थानसे उच्च पदको पाके प्रमत्त होता है ॥ २ ॥

स्वजातिकुलसंपन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः ।
प्रकर्तव्या बुधा भृत्या नास्थाने प्रक्रिया क्षमा ॥ ३ ॥

स्वजाति कुलयुक्त सेवकोंको जो निज वर्णोचित कार्योंमें लगे रहते हैं, उन्हें मन्त्री बनाना योग्य है; किसीको उसकी योग्यतासे बाहरसे कार्यपर न लगावे ॥ ३ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति ।
स भृत्यगुणसंपन्नं राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

जो राजा सेवकोंको उनकी योग्यताके उचित कार्य सौंपता है, वह सेवकके गुणसे युक्त राजा श्रेष्ठ फलका भोग किया करता है ॥ ४ ॥

शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः ।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥ ५ ॥

शरभकी जगह शरभ, सिंहकी जगह बलवान सिंह, वाघकी जगह वाघ और चितेके ही स्थानमें चीता नियुक्त करना उचित है ॥ ६ ॥

कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि ।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ ६ ॥

जो सेवक जिस कर्मके योग्य हो, उसे उस ही कार्य पर नियुक्त करना उचित है; कर्म फलकी इच्छा करनेवाले राजाको अपने सेवकोंको उनकी योग्यता और मर्यादाके विपरीत रीतिसे नियुक्त करना उचित नहीं है ॥ ६ ॥

यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः ।
भृत्यान्स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः ॥ ७ ॥

जो बुद्धिहीन राजा मर्यादाका अतिक्रम करके उलटी रीतिसे सेवकोंको स्थापित करता है, वह प्रजाको प्रसन्न नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

न बालिशा न च क्षुद्रा न चाप्रतिमितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः पार्श्वे स्थाप्या राज्ञा हितैषिणा ॥ ८ ॥

मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले और अकुलीन मनुष्योंको अपने सान्निध्यमें रखना हितैषी राजाका कर्त्तव्य नहीं है ॥ ८ ॥

साधवः कुशलाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षा नराः स्युः पारिपार्श्वकाः ॥ ९ ॥

साधु, कुशल, शूरवीर, ज्ञानवान्, ईर्ष्यारहित, उत्तम स्वभाववाले, पवित्र और दक्ष पुरुषोंको ही राजा पार्श्ववर्ती सेवक करे ॥ ९ ॥

न्यग्भूतास्तत्पराः क्षांताश्चौक्षाः प्रकृतिजाः शुभाः ।
स्वे स्वे स्थानेऽपरिक्रुष्टास्ते स्यू राज्ञो बहिश्चराः ॥ १० ॥

जो नम्र, कार्योंमें तत्पर, क्षमाशील, चतुर, स्वाभाविक शुभ गुणोंसे रमणीय और अपने पद पर रहके निन्दित नहीं होते, वेही राजाके बहिश्चर प्राणस्वरूप हैं ॥ १० ॥

सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एव जनो भवेत्।
असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥

सिंहके समीप सिंह ही सदा सेवक रहे; जो सिंह नहीं है, वह सिंहके साथ मिलनेसे सिंहके समान फल लाभ करता है ॥ ११ ॥

यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः ।
न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः ॥ १२ ॥

जो सिंह होकर कुत्तोंसे घिरा रहकर सिंहके योग्य कर्म-फलमें रत होता है, वह कुत्तोंसे उपासित होकर सिंहके फलको भोग करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १२ ॥

एवमेतैर्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः ।
कुलीनैः सह शक्येत कृत्स्नां जेतुं वसुंधराम् ॥ १३ ॥

हे नरनाथ ! इस प्रकार शूर, बुद्धिमान्, बहुश्रुत और कुलीनोंके जरिये सब पृथ्वीको जय किया जासकता है ॥ १३ ॥

नावैद्यो नानृजुः पार्श्वे नाविद्यो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥ १४ ॥

हे भृत्यवत्सल ! प्रबल विद्याहीन, सरलतासे रहित, बुद्धिहीन और धन हीन सेवकोंका संग्रह करना राजाओंको उचित नहीं है ॥ १४ ॥

बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा जनाः ।
ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

स्वामीका कार्य सिद्ध करनेमें तत्पर पुरुष बाणकी तरह कार्यके भीतर प्रवेश करते हैं; जो सब सेवक राजाके हितकारी हों, उनके विषयमें प्रिय वचन प्रयोग करना उचित है ॥१५॥

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशमूलकरो भव ॥ १६ ॥

राजाओंको प्रयत्नके सहित सदा कोषकी रक्षा करनी उचित है; कोष ही राजाओंका मूल और बढती करनेवाला हुआ करता है, इसलिये तुम कोषकी वृद्धि करनेवाला बनो ॥ १६ ॥

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतं धान्यैः सुसंचितम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥

तुम्हारा धान्यगृह बहुतसे अन्नकी राशिसे सदा परिपूरीत और उत्तम सेवकोंसे सदा रक्षित रहे; तुम धन धान्यसे युक्त रहो ॥ १७ ॥

नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या भवन्तु रणकोविदाः ।
वाजिनां च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते ॥ १८ ॥

तुम्हारे सेवक सदा उद्योगी और युद्धके जाननेवाले होवें । घोडोंकी सवारी करने या उन्हें हांकनेमें भी उनको निपुण होना चाहिये ॥ १८ ॥

ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसंबन्धिसंवृतः ।
पौरकार्यहितान्वेषी भव कौरवनन्दन ॥ १९ ॥

हे कौरव नन्दन ! तुम स्वजन और बान्धवोंके विषयोंको विचारते हुए मित्र तथा सम्बन्धियोंसे युक्त होके पुरकार्यके हितका अन्वेषण करो ॥ १९ ॥

एषा ते नैष्ठिकी बुद्धिः प्रज्ञा चाभिहिता मया ।
श्वा ते निदर्शनं तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥ ४१०८ ॥

हे तात ! यही कुत्तेकी उपमासे युक्त प्रजाके विषयमें तुम्हें जैसी नैष्ठिक बुद्धि स्थापित करनी होगी, उसे मैंने वर्णन किया; फिर अब क्या सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ २० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ ११९ ॥ ४१०८ ॥

: १२० :

युधिष्ठिर उवाच—

राजवृत्तान्यनेकानि त्वया प्रोक्तानि भारत ।
पूर्वैः पूर्वनियुक्तानि राजधर्मार्थवेदिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे भारत ! आपने राजधर्मके तत्त्वको जाननेवाले पहिले राजाओंके आचरित बहुतसे राजकृतका वर्णन किया है, ॥ १ ॥

तदेव विस्तरेणोक्तं पूर्वैर्दृष्टं सतां मतम् ।
प्रणयं राजधर्माणां प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

वह सब पूर्वदृष्ट साधुसम्मत राजधर्म जिसे आपने विस्तार पूर्वक कहा है, हे भरतश्रेष्ठ ! उसे संक्षिप्त करके जो धारण किया जा सके, उसे ही वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच –

रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षत्रे परं मतम् ।
तद्यथा रक्षणं कुर्यात्तथा शृणु महीपते ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– महाराज ! सब प्राणियोंकी रक्षा करनी ही क्षत्रिय धर्म है, यही सबसे श्रेष्ठ है; जिस प्रकार उसकी रक्षा करनी होती है, उसे सुनो ॥ ३ ॥

यथा बर्हाणि चित्राणि बिभर्ति भुजगाशनः ।
तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत धर्मवित् ॥ ४ ॥

सांपको खानेवाला मोर जैसे विचित्ररूपको धारण करता है, वैसे ही धर्मज्ञ राजा अनेक तरहके रूप धारण करे ॥ ४ ॥

तैक्ष्ण्यं जिह्मत्वमादान्त्यं सत्यमार्जवमेव च ।
मध्यस्थः सत्त्वमातिष्ठंस्तथा वै सुखमृच्छति ॥ ५ ॥

क्रूरता, कुटिलता, अभयदान, सत्य और सरलता इन सबके मध्यवर्ती होकर जो सतोगुणको अवलम्बन करता है, वही राजा सुखी होता है ॥ ५ ॥

यस्मिन्नर्थे हितं यत्स्यात्तद्वर्णं रूपमाविशेत् ।
बहुरूपस्य राज्ञो हि सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥ ६ ॥

जिस विषयमें जो हितकर होता है, वही उस समयका रूप है अर्थात् दण्डके समय क्रूरता और अनुग्रहके समय शान्त्वना दिखावें, क्यों कि इस रीतिसे अनेक रूपधारी राजाका छोटासा कार्य भी नष्ट नहीं होता ॥ ६ ॥

नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद्यथा मूकः शरच्छिखी ।
श्लक्ष्णाक्षरतनुः श्रीमान्भवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥

जैसे शरदकालमें मोर मूक हुआ करता है, वैसे ही राजा मौनावलम्बन करके सदा मन्त्रणा गोपन करे; वह मधुर वचन बोलनेवाला, सौम्य, शोभायमान और शास्त्र विशारद होवे ॥७॥

आपद्द्वारेषु यत्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव ।
शैलवर्षोदकानीव द्विजान्सिद्धान्समाश्रयेत् ॥ ८ ॥

जलके झरनेके समान मन्त्रभेद आदि आपदोंके द्वारपर सदा सावधान रहे; पर्वतके समीप वर्षाके जलसे उत्पन्न हुई नदीके जल समान सिद्ध ब्राह्मणोंके निकट पूर्ण रीतिसे आसरा ग्रहण करे; ॥ ८ ॥

अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ।
नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेच्चाप्रमादतः ।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा वृक्षाद्वृक्षमिवाप्लवन् ॥ ९ ॥

अर्थ कामसे युक्त राजा धर्मके ढोंगीके समान सिरपर शिखा धारण करे, अर्थात् योग्यता चिन्ह-उच्च लक्षण आदि प्रदर्शित करे । राजा सदा दण्ड उद्यत करके प्रजापालनमें रत रहे; प्रत्येक कार्य सावधानीसे करे; जैसे लोग ईखको काटके पेर कर रस ग्रहण करते हैं, वैसा न करके जैसे बडे वृक्ष ताड और खजूर आदिकी रक्षा करके उनके रसको ग्रहण किया जाता है, राजा वैसे ही प्रजा समूहके आय व्ययको देखकर उनकी रक्षा करके उनसे धन ग्रहण करे ॥ ९ ॥

मृजावान्स्यात्स्वयूथ्येषु भावानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देद्रक्षेद्वैकल्यमात्मनः ॥ १० ॥

राजा अपने पक्षके लोगोंके साथ शुद्ध व्यवहार करे और विरोधियोंके भूमिमें उत्पन्न हुए शस्य आदिकोंको घोडे आदिकोंको चलाके नष्ट करावे, सहायकोंसे युक्त होकर युद्धके लिये यात्रा करे और अपनी विकलता देखके स्थिर रहे ॥ १० ॥

दोषान्विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान्विधूनयेत् ।
काननेष्विव पुष्पाणि बर्हीवार्थान्समाचरेत् ॥ ११ ॥

शत्रुके दोषोंको विस्तारित करे और उसके पक्षके लोगोंको अपने पक्षमें आनेके लिये विचालित करे; जैसे लोग वनसे फूल ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा बाहरसे धनका संग्रह करे ॥ ११ ॥

उच्छ्रितानाश्रयेत्स्फीतान्नरेन्द्रानचलोपमान् ।
श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं शरणमाश्रयेत् ॥ १२ ॥

दूसरेके किलेके स्वामीके साथ सन्धि करके देवता दर्शन आदि छलसे दूसरेके किलेमें अकस्मात् प्रवेश करके पर्वतके समान बडे और उन्नत विरुद्ध राजाओंका आश्रय करे; और अविज्ञात उनकी छायाका आश्रय ले और गुप्त रीतिसे शरण ले ॥ १२ ॥

प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्जने ।
मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चालक्षितश्चरेत् ।
न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना ॥ १३ ॥

रात्रिमें मोर जैसे एकान्तमें छिपा रहता है, उसी तरह प्रावृट्कालमें महलमें निवास करे; मयूरके गुणको अवलम्बन करके स्त्रियोंसे अलक्षित रहकर अन्तःपुरमें भ्रमण करे; कभी अपने कवचका परित्याग न करे, आप ही अपनी रक्षा करे ॥ १३ ॥

चारभूमिष्वभिगमान्पाशांश्च परिवर्जयेत् ।
पीडयेच्चापि तां भूमिं प्रणश्येद्गहने पुनः ॥ १४ ॥

घूमने-फिरनेके स्थानोंपर शत्रुओंसे बिछाये जालोंका निवारण करे; जहां जाल बिछा हो, वहां स्वयं जाके उसे पीडित करें; यदि संकटकी सम्भावना हो तो गहन वनमें छिप जाय ॥ १४ ॥

हन्यात्क्रुद्धानतिविषान्ये जिह्मगतयोऽहितान् ।
नाश्रयेद्बालबर्हाणि सन्निवासानि वासयेत् ॥ १५ ॥

कुटिल वर्ताव करनेवाले क्रुद्ध हुए शत्रुओंका विषैल सर्पोंके समान वध करे; अज्ञ लोगोंका आश्रय न करे; श्रेष्ठ पुरुषोंका आसरा लेवे ॥ ॥१५॥

सदा बर्हिनिभः कामं प्रसक्तिकृतमाचरेत् ।
सर्वतश्चाददेत्प्रज्ञां पतंगान्गहनेष्विव ।
एवं मयूरवद्राजा स्वराष्ट्रं परिपालयेत् ॥ १६ ॥

सदा मयूरकी तरह निज इच्छानुसार बडे कार्योंका आसक्तिपूर्वक आचरण किया करे। सबसे उत्तम विचार ग्रहण करे; शरभसमूह जैसे घने वनमें प्रविष्ट होके वनको पत्तोंसे रहित करते हैं, वैसे ही राजा सेनाके सहित मिलकर शत्रुराज्यको आक्रमण करके उन्हें नष्ट करे; इसी भांति बुद्धिमान् राजा मोरकी तरह निज राज्यका पालन करे ॥ १६ ॥

आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः ।
आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्यावतारणम् ।
बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्तिरेतच्छास्त्रनिदर्शनम् ॥ १७ ॥

जो अपनी उन्नतिमें साधक हो, उसी नीतिका चतुर राजा आचरण करे। बुद्धिसे आत्मसंयम करना उचित है, ऐसा ही नियम करे; और सचिव आदि दूसरोंकी बुद्धिके अनुसार उस कार्यका निश्चय करना योग्य है; शास्त्रमें कही हुई बुद्धि शक्तिके जरिये आत्मगुणकी प्राप्ति होती है, यही शास्त्रोंका प्रयोजन है ॥ १७॥

परं चाश्वासयेत्साम्ना स्वशक्तिं चोपलक्षयेत् ।
आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत् ।
सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यविचारकः ॥ १८ ॥

राजा शान्त वचनसे दूसरेका विश्वास उत्पन्न करे और अपनी शक्ति भी दिखाता रहे; सब तरहसे बीते और अनागत विषयोंके विचारके जरिये उहापोह कर कौशलरूपी वृद्धि शक्तिसे कर्त्तव्य विषयोंके निश्चयका विचार करे। बुद्धिमान राजा सान्त्व-योगका अवलम्बन करके कार्याकार्यके विचारक होवे अर्थात् लोगोंको कर्तव्यकी प्रेरणा दे और अकर्तव्यसे रोके ॥१८॥

+

निगूढबुद्धिर्धीरः स्याद्वक्तव्ये वक्ष्यते तथा ।
संनिकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्धया बृहस्पतिः ।
स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके ॥ १९ ॥

और उपदेश वा वोलते समय निगूढ बुद्धि धीर पुरुषके समान होवे; जलमें डालनेसे जैसे गर्म लोहा उस ही समय शीतल हो जाता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष बुद्धिशक्तिके जरिये बृहस्पतिके समान होके भी यदि निकृष्ट बात कहें अर्थात् अपनी निर्बुद्धित्व प्रमादसे युक्त होवें, तब वे सदा युक्ति अवलम्बन करके निज भावके स्वास्थ्यकी इच्छा करे ॥ १९ ॥

अनुयुञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः ।
आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य चैव परस्य च ॥ २० ॥

राजा अपने वा दूसरेको भी शास्त्रमें बताये हुए सब कार्योंमें लगावे ॥ २० ॥

क्षुद्रं क्रूरं तथा प्राज्ञं शूरं चार्थविशारदम् ।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये वचनाधिकाः ॥ २१ ॥

क्रूर, क्षुद्र और बुद्धिमान्, तथा कार्यके विधानको जाननेवाले मनुष्यको शूर अथवा दूसरे जो बोलनेमें चतुर व्यक्ति होवें, उन्हें निज कार्योंमें नियुक्त करे ॥ २१ ॥

अप्यदृष्ट्वा नियुक्तानि अनुरूपेषु कर्मसु ।
सर्वांस्ताननुवर्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता ॥ २२ ॥

अनन्तर वीणाके विस्तृत तार जैसे सात स्वरोंका अनुवर्त्तिन करते हैं, वैसे ही राजा अपने सेवकोंको निज निज योग्यतानुसार कार्योंमें नियुक्त देखकर सबका ही अनुवर्त्तन करे ॥ २२ ॥

धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रियमाचरेत् ।
ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः ॥ २३ ॥

धर्ममें बाधा न लाते हुए सबका प्रिय करे । प्रजासमूहको ' ये हमारे हैं ' ऐसा समझनेवाला राजाही पर्वतकी तरह अचल हुआ करता है ॥ २३ ॥

व्यवसायं समाधाय सूर्यो रश्मिमिवायताम् ।
धर्ममेवाभिरक्षेत कृत्वा तुल्ये प्रियाप्रिये ॥ २४ ॥

सूर्य जैसे बडी किरण मण्डलके द्वारा सबको प्रकाशित करता है, राजा वैसे ही कार्योंको सिद्ध करते हुए प्रिय और अप्रियको विषयमें समान समझे; सब प्रकारसे केवल धर्मकी रक्षा करे ॥ २४ ॥

कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान्मृदुभाषिणः ।
मध्ये वयसि निर्दोषान्हिते युक्ताञ्जितेन्द्रियान् ॥ २५ ॥

जो लोग कुल, स्वभाव और देशके धर्मज्ञ हैं, मीठे वचन बोलनेवाले, युवावस्थामें निष्कलङ्क जीवनवाले, हित साधनमें रत, जितेन्द्रिया, ॥ २५ ॥

अलुब्धाञ्शिक्षितान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत्सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥ २६ ॥

लोभरहित, शिक्षित, दमयुक्त, धर्ममें निष्ठावान् और धर्म और अर्थकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, उन्हीं पुरुषोंको राजा सब कार्योंमें नियुक्त करे ॥ २६ ॥

एतेनैव प्रकारेण कृत्यानामागतिं गतिम् ।
युक्तः समनुतिष्ठेत तुष्टश्चारैरुपस्कृतः ॥ २७ ॥

राजा इसीही प्रकार दूतोंके जरिये राष्ट्रका सब वृत्तान्त मालूम करे और सन्तुष्ट होकर इसी भांति सदा सावधान रहकर राज्यके सब कार्योंका प्रारम्भ और समाप्ति करे ॥ २७ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्वपेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुधैव वसुंधरा ॥ २८ ॥

जिसका क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं होता और जो स्वयं सब कार्योंको देखा करता है, तथा आत्मप्रत्ययही जिसका खजाना है, उस राजाके पक्षमें पृथ्वी ही वसुदात्री हुआ करती है ॥२८॥

व्यक्तश्चानुग्रहो यस्य यथार्थश्चापि निग्रहः ।
गुप्तात्मा गुप्तराष्ट्रश्च स राजा राजधर्मवित् ॥ २९ ॥

जिसकी कृपा स्पष्टरीतिसे मालूम होती है, और जो यथार्थ कारणसेही निग्रह करता है, और जो राजा आत्मरक्षा करते हुए राज्यकी रक्षा किया करता है, वही राजा राजधर्मका जाननेवाला है ॥ २९ ॥

नित्यं राष्ट्रमवेक्षेत गोभिः सूर्य इवोत्पतन् ।
चारांश्च नचरान्विद्यात्तथा बुद्ध्या न संज्वरेत् ॥ ३० ॥

जैसे सूर्य उदित होकर किरण मण्डलके जरिये सब जगत्को देखता— प्रकाशित करता है, वैसे ही राजा सदा निज दृष्टिसे राज्यको देखता रहे; और गुप्तचरोंद्वारा राज्य तथा पर राज्य विषयके समाचारोंको मालूम करे और आप निज बुद्धिके प्रभावसे सब कार्योंका अनुष्ठान करे ॥ ३० ॥

कालप्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत् ।
अहन्यहनि संदुह्यान्मह्रीं गामिव बुद्धिमान् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् राजा समयके अनुसारही धन संग्रह करे और अर्थवत्ताके विषयको किसीके समीप प्रकाशित न करे; बुद्धिमान मनुष्य गायकी रक्षा करकेही दूध दुहता है, वैसे राजा पृथ्वीका पालन करकेही उससे धन दुहा करे ॥ ३१ ॥

यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः ।
तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत संचयम् ॥ ३२ ॥

जैसे मधुमक्खी यथा क्रम फूलोंसे मधु ग्रहण करती है; वैसे ही राजा प्रजासे धीरे धीरे द्रव्य ग्रहण करके सञ्चय करे ॥ ३२ ॥

यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात्तद्धितं धर्मकामयोः ।
संचयानुविसर्गी स्याद्राजा शास्त्रविदात्मवान् ॥ ३३ ॥

राज्यकी सुरक्षा-व्यवस्था करनेसे बचा हुआ धनही धर्म और दूसरे उपयोगी कार्योंमें लगाना हितकर है; शास्त्र जाननेवाला बुद्धिमान राजा सञ्चित धनसे कभी व्यय नहीं करे ॥ ३३ ॥

नाल्पमर्थं परिभवेन्नावमन्येत शात्रवान् ।
बुद्ध्यावबुद्ध्येदात्मानं न चाबुद्धिषु विश्वसेत् ॥ ३४ ॥

अल्प धन मिले तो भी उसका तिरस्कार न करे; शत्रुकी कभी भी अवहेलना न करे; बुद्धिसे अपनेको समझावे और निर्बुद्धि पुरुषोंका विश्वास न करे ॥ ३४ ॥

धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरग्र्या धैर्यं शौर्यं देशकालोऽप्रमादः ।
स्वल्पस्य वा महतो वापि वृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥ ३५ ॥

धारणाशक्ति, दक्षता, संयम, उत्तम बुद्धि, धीरज, वीरता, देशकालका ज्ञान और असावधान न रहना, थोडे वा बहुत धनके विशेष रूपसे वृद्धिके विषयमें ये आठ गुण उद्दीपक हुआ करते हैं– धनरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये इन्धन हैं ॥ ३५ ॥

अग्निस्तोको वर्धते ह्याज्यसिक्तो बीजं चैकं बहुसाहस्रमेति ।
क्षयोदयौ विपुलौ संनिशाम्य तस्मादल्पं नावमन्येत विद्वान् ॥ ३६ ॥

अग्नि थोडी होनेपर भी घृतसे युक्त होनेपर बढती है, एक बीजसे अनेक सहस्र बीज उत्पन्न हुआ करते हैं; इससे विद्वान् पुरुष बहुतसे आय-व्ययके विषयको पूरी रीतिसे विचार कर थोडे धनका कभी अनादर न करे ॥ ३६ ॥

बालोऽबालः स्थविरो वा रिपुर्यः सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात् ।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३७ ॥

शत्रुके बालक, जवान या बूढे होनेपर भी उसे कम समझना उचित नहीं है, क्यों कि वह विपक्षियोंको असावधान देखनेसे ही नष्ट करता है । अनुकूल समय पर अन्य शत्रु राजाके मूलको हरण कर सकता है; इसलिये समयके जाननेवाला राजा ही सब राजाओंके बीच श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

हरेत्कीर्तिं धर्ममस्योपरुन्ध्यादर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात् ।
रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा तस्माच्छत्रौ नैव हेडेद्यतात्मा ॥ ३८ ॥

वैर करनेवाला शत्रु निर्बल हो, वा बलवान् राजाकी कीर्ति हरण करता है और उसके धर्ममें बाधा पहुंचाता है और धन विषयक उसके कार्योंमें अत्यन्त ही विघ्न डालता है । संयमी चित्तवाला राजा शत्रुसे किसी प्रकार लापरवाह न रहे ॥ ३८ ॥

क्षयं शत्रोः संचयं पालनं चाप्युभौ चार्थौ सहितौ धर्मकामौ ।
अतश्चान्यन्मतिमान्संदधीत तस्माद्राजा बुद्धिमन्तं श्रयेत ॥ ३९ ॥

क्षय, वृद्धि, पालन और सञ्चयका विचार करके, परस्पर सम्बन्धित ऐश्वर्य, काम और धर्मको जानकर राजाको शत्रुके साथ सन्धि या विग्रह करना योग्य है; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषका आश्रय करना राजाको अवश्य उचित है ॥ ३९ ॥

बुद्धिर्दीप्ता बलवन्तं हिनस्ति बलं बुद्ध्या वर्धते पाल्यमानम् ।
शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो बुद्धेः पश्चात्कर्म यत्तत्प्रशस्तम् ॥ ४० ॥

तीक्ष्ण बुद्धि बलवान् पुरुषको भी नष्ट कर सकती है, प्रतिपालित बल बुद्धिके जरियेसे ही बढता है । बढे हुए वैरीको बुद्धिबलसे नष्ट किया जाता है; इससे बुद्धिके अनुसार जो कार्य किया जाता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

सर्वान्कामान्कामयानो हि धीरः सत्त्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदेहः ।
यथात्मानं प्रार्थयतेऽर्थ्यमानैः श्रेयःपात्रं पूरयते ह्यनल्पम् ॥ ४१ ॥

दोष रहित धीर पुरुष सब काम्य विषयोंकी अभिलाष करके थोडे बलसे ही उन्हें प्राप्त कर सकता है; और जो अपनेको याचमान मनुष्योंसे युक्त होनेकी इच्छा करता है, वह लोभी राजा अल्पमात्र कल्याण पात्रको पूर्ण नहीं कर सकता ॥ ४१ ॥

तस्माद्राजा प्रगृहीतः परेषु मूलं लक्ष्म्याः सर्वतोऽभ्याददीत ।
दीर्घं कालमपि संपीड्यमानो विद्युत्संपातमिव मानोर्जितः स्यात् ॥ ४२ ॥

इसलिये राजा शत्रुके विषयमें प्रीतियुक्त होकर सब ओरसे लक्ष्मीके मूल धनको ग्रहण करे । शत्रुको बहुत समय तक पीडित करके बिजली गिरनेकी तरह उसके ऊपर पतित होकर सम्मानित होगा ॥ ४२ ॥

विद्या तपो वा विपुलं धनं वा सर्वमेतद्व्यवसायेन शक्यम् ।
ब्रह्म यत्तं निवसति देहवत्सु तस्माद्विद्याद्व्यवसायं प्रभूतम् ॥ ४३ ॥

उद्योगसे विद्या, तपस्या और बहुतसा धन प्राप्त हो सकते हैं; वह उद्योग ब्रह्मके वशमें होकर देहधारी पुरुषोंमें निवास करता है, इससे सदा उद्योग करनेमें यत्नवान् होना उचित है ॥४३॥

यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनः शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च ।
वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं तस्माद्विद्वान्नावमन्येत देहम् ॥ ४४ ॥

जिसमें बुद्धिमान् मनस्वी महर्षि, सुरराज इन्द्र, विष्णु और सरस्वती सदा वास करते हैं, और सब प्राणी सदा जिसमें स्थित रहते हैं; विद्वान् पुरुष उस मानव शरीरकी कभी अवज्ञा न करे ॥ ४४ ॥

लुब्धं हन्यात्संप्रदानेन नित्यं लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति ।
सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ॥ ४५ ॥

लोभी मनुष्यको सदा दानसे वशमें करे, लोभी पराया धन पाके कभी तृप्त नहीं होता। सत्कर्मोंके फलरूप सुख भोगनेमें सभी लोभी हुआ करते हैं; जो पुरुष धनहीन होता है, वह धर्म और कामको त्याग करता है ॥ ४५ ॥

धनं भोज्यं पुत्रदारं समृद्धिं सर्वो लुब्धः प्रार्थयते परेषाम् ।
लुब्धे दोषाः संभवन्तीह सर्वे तस्माद्राजा न प्रगृह्णीत लुब्धान् ॥ ४६ ॥

लोभी मनुष्य दूसरोंके धन, भोज्य, पुत्र, स्त्री और समृद्धि सबकी ही इच्छा करता है; इस संसारमें लोभी पुरुषके विषयमें सब दोष ही सम्भव होसकते हैं; इसलिये राजा कभी भी लोभी पुरुषोंको किसी पदपर स्थापित न करे ॥ ४६ ॥

संदर्शने सत्पुरुषं जघन्यमपि चोदयेत् ।
आरम्भान्द्विषतां प्राज्ञः सर्वानर्थांस्तु सूदयेत् ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान् राजा नीच पुरुषको देखते ही दूर करे; और शत्रुओंके सब कार्यों तथा समस्त विषयोंको नष्ट करे ॥ ४७ ॥

धर्मान्वितेषु विज्ञातो मन्त्री गुप्तश्च पाण्डव ।
आप्तो राजन्कुलीनश्च पर्याप्तो राज्यसंग्रहे ॥ ४८ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! राजन् ! धर्मात्मा मण्डलीमें विज्ञान युक्तकोही मन्त्री बनावे और उसकी रक्षा करनी होगी; जो राजा विश्वासी और कुलीन है, वह सब राजाओंको वश करनेमें समर्थ होता है ॥ ४८ ॥

विधिप्रवृत्तान्नरदेवधर्मानुक्तान्समासेन निबोध बुद्ध्या ।
इमान्विदध्याद्व्यनुसृत्य यो वै राजा महीं पालयितुं स शक्तः ॥ ४९ ॥

यही सब मैंने शास्त्र विधिपूर्वक राजधर्मोंको संक्षेपरीतिसे वर्णन किया; तुम इसे बुद्धिशक्तिके जरिये धारण करो। जो गुरुसे सीखकर यह सब धर्म हृदयमें धारण करता और आचरणमें लाता है, वही राजा पृथ्वीका पालन करनेमें समर्थ होता है ॥ ४९ ॥

अनीतिजं यच्चविधानजं सुखं हठप्रणीतं विविधं प्रदृश्यते ।
न विद्यते तस्य गतिर्महीपतेर्न विद्यते राष्ट्रजमुत्तमं सुखम् ॥ ५० ॥

जिसे अनीतिसे अर्जित, हठ प्रणीत तथा दैवके विधानसे प्राप्त हुआ सुख विधिपूर्वक दीखता है; उसकी गति तथा उसे श्रेष्ठ राज्य सुख प्राप्त नहीं होता ॥ ५० ॥

धनैर्विशिष्टान्मतिशीलपूजितान्गुणोपपन्नान्युधि दृष्टविक्रमान् ।
गुणेषु दृष्टानचिरादिहात्मवान्सलोऽभिसंधाय निहन्ति शात्रवान् ॥ ५१ ॥

राजधर्मके अनुसार सन्धि विग्रह आदि विषयोंमें सावधान राजा धन युक्त, बुद्धि तथा शील सम्पन्न, गुणवान् तथा युद्धमें पराक्रमी शत्रुओंको देखकर शीघ्रताके सहित छलपूर्वक उनका वध कर सकता है ॥ ५१ ॥

पश्येदुपायान्विविधैः क्रियापथैर्न चानुपायेन मतिं निवेशयेत् ।
श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो धनं न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते ॥ ५२ ॥

अनेक प्रकारकी क्रियाओंसे शत्रु विजयके विविध उपायोंको देखे; अयोग्य उपायमें बुद्धि न लगावे; निर्दोष पुरुषोंमें भी जो दोष देखता है, वह योग्य ऐश्वर्य बहुतसे धन-यशको भोग नहीं कर सकता ॥ ५२ ॥

प्रीतिप्रवृत्तौ विनिवर्तने तथा सुहृत्सु विज्ञाय निवृत्य चोभयोः ।
यदेव मित्रं गुरुभारमावहेत्तदेव सुस्निग्धमुदाहरेद्बुधः ॥ ५३ ॥

सुहृदोंको जानके प्रीतिकी प्रवृत्ति होनेपर जब दो मित्र एक कार्यमें लगते हैं और उससे निवृत्त होते हैं, उन दोनोंके बीच जो मित्र लौटकर बडे भारको उठाता है, विद्वान् पुरुष उसही श्रेष्ठ मित्रकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५३ ॥

एतान्मयोक्तांस्तव राजधर्मान्नृणां च गुप्तौ मतिमादधत्स्व ।
अवाप्स्यसे पुण्यफलं सुखेन सर्वो हि लोकोत्तमधर्ममूलः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥ ४१६२ ॥

हे राजन् ! मेरे कहे हुए इन सब राजधर्मोंका आचरण करो, प्रजाओंका पालन करनेमें बुद्धि लगाओ; इससे अनायास सुखपूर्ण पुण्यफल पाओगे, क्योंकि धर्म ही सब लोकोंकी जड है ॥ ५४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२० ॥ ४१६२ ॥

: १२१ :

युधिष्ठिर उवाच—

अयं पितामहेनोक्तो राजधर्मः सनातनः ।
ईश्वरश्च महादण्डो दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— पितामह ! आपने यह सनातन राजधर्मका वर्णित किया; अत्यन्त बृहत् दण्ड ही सबका नियन्ता— ईश्वर है, क्योंकि दण्डसे ही सब कुछ प्रतिष्ठित हो रहा है ॥ १ ॥

देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
यक्षरक्षःपिशाचानां मर्त्यानां च विशेषतः ॥ २ ॥

देवता, ऋषि, पितर, महात्मा, यक्ष, राक्षस, पिशाच और विशेष करके मर्त्य ॥ २ ॥

सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यक्ष्वपि निवासिनाम् ।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! तथा पशु-पक्षियोंकी योनिमें निवास करनेवाले जगत्के सब प्राणियोंके विषयमें सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

इत्येतदुक्तं भवता सर्वं दण्डयं चराचरम् ।
दृश्यते लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम् ॥ ४ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंके सहित चराचर सब जगत् दण्डपर प्रतिष्ठित है यह देखा जाता है, ऐसे आपने कहा है ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः ॥ ५ ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! इससे मैं इसे यथार्थ रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूं । दण्ड किसे कहते हैं और वह कैसा है ? उसका कैसा आकार है तथा उसका परम आश्रय क्या है ? ॥ ५ ॥

किमात्मकः कथंभूतः कतिमूर्तिः कथंप्रभुः ।
जागर्ति स कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः ॥ ६ ॥

दण्डका कैसा स्वरूप है ? रीति कैसी है ? किस तरहकी मूर्त्ति है ? कैसा तेज और दण्ड प्रजाके विषयमें सावधान होके किस प्रकार जाग्रत रहता है ? ॥ ६ ॥

कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन् ।
कश्च विज्ञायते पूर्वं कोऽपरो दण्डसंज्ञितः ।
किंसंस्थश्च भवेद्दण्डः का चास्य गतिरिष्यते ॥ ७ ॥

इस पूर्वापर जगत्का प्रतिपालन करता हुआ जागता है ? पहिले इसे किस नामसे जाना जाता है; और कौन दूसरा दण्ड नामसे प्रसिद्ध है ? दण्डका आधार क्या है ? और उसकी गति किसे कहते हैं ? ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहार्यो यथा च सः ।
यस्मिन्हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ ८ ॥

भीष्म बोले— हे कुरुवंशातवंस ! दण्डका स्वरूप और उसका व्यवहार जिस तरहका है, उसे सुनो । इस लोकमें जिसमें सब अधिकार रहे, उस ही असाधारणको दण्ड कहा जाता है ॥ ८ ॥

धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते ।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेऽव्यवहितात्मनः ।
इत्यर्थं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते ॥ ९ ॥

महाराज ! पूरी रीतिसे धर्मका प्रकाश "व्यवहार" नामसे कहा जाता है। लोकके बीच सावधान पुरुषके धर्मका किसी तरह लोप नहीं हो, इसीलिये दण्ड है, और यही उस व्यवहारका व्यवहारत्व इष्ट हुआ करता है ॥ ९ ॥

अपि चैतत्पुरा राजन्मनुना प्रोक्तमादितः ।
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः ॥ १० ॥

हे राजन् ! इसके अतिरिक्त पहिले समयमें मनुने यही वचन कहा है, कि जो राजा प्रिय और अप्रिय समान रूपसे मानकर उत्तम प्रणीत दण्डके जरिये पूर्ण रीतिसे प्रजापालन करता है, उसका वही केवल धर्म है ॥ १० ॥

अथोक्तमेतद्वचनं प्रागेव मनुना पुरा ।
जन्म चोक्तं वसिष्ठेन ब्रह्मणो वचनं महत् ॥ ११ ॥

पहिले समयमें प्रथम मनुने इस वचनको कहा था; और उस ब्रह्माके महान् वचनका आविर्भाव वसिष्ठ ऋषिने किया था ॥ ११ ॥

प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः ।
व्यवहारस्य चाख्यानाद्व्यवहार इहोच्यते ॥ १२ ॥

पहिलेसे ही यह वचन मनसे कहा गया था, इस ही कारण पण्डित लोग इसे प्राग् वचन कहा करते हैं। इसमें व्यवहारकी व्याख्या होनेसे यहां व्यवहार नाम कहा जाता है ॥ १२ ॥

दण्डात्त्रिवर्गः सततं सुप्रणीतात्प्रवर्तते ।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोच्छिखः ॥ १३ ॥

सुप्रणीत दण्डमें धर्म, अर्थ और काम ये तीनों सदा विद्यमान रहते हैं; दण्ड महान् देवता है; उसका रूप जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी है ॥ १३ ॥

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शङ्कुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ १४ ॥

दण्डका बाह्यरूप नीलकमल दलके समान श्याम वर्ण है, इसके चार दाढें और चार भुजाएं हैं; आठ पांव और अनेक नेत्र हैं; इसके कान खूंटेके समान हैं और रोएं ऊपरकी ओर उठे हुए हैं ॥ १४ ॥

×

जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुरावरः ॥ १५ ॥

इसके सिरपर जटा है; दो जीभवाला है; मुख तांबेके समान लाल है; व्याघ्र चर्मसे उसका शरीर ढका रहता है; इस प्रकार दुर्द्धर्ष दण्ड सदा यह प्रचण्डरूप धारण किया करता है ॥१५॥

असिर्गदा धनुः शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः ।
मुसलं परशुश्चक्रं प्रासो दण्डर्ष्टितोमराः ॥ १६ ॥

तलवार, गदा, धनुष, शक्ति, त्रिशूल, मुद्गर, बाण, मूसल, फरसा, चक्र, प्रास, दण्ड, ऋष्टि और तोमर आदिक ॥ १६ ॥

सर्वप्रहरणीयानि सन्ति यानीह कानिचित् ।
दण्ड एव हि सर्वात्मा लोके चरति मूर्तिमान् ॥ १७ ॥

इस लोकमें जो कुछ प्रहार करने योग्य शस्त्र हैं, उन सबमें सर्वात्मा दण्ड मूर्तिमान् होकर घूमता है ॥ १७ ॥

भिन्दंश्छिन्दन्रुजन्कृन्तन्दारयन्पाटयंस्तथा ।
घातयन्नभिधावंश्च दण्ड एव चरत्युत ॥ १८ ॥

वही भेदता, छेदता, पीडित करता, काटता, चीरता, फाडता तथा घात करवाता है; और सम्मुख दौडते हुए दण्ड ही भ्रमण किया करता है ॥ १८ ॥

असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः प्रजागरः ॥ १९ ॥

वह असि, विशसन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुरासद्, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, प्रजागर, ॥१९॥

शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्रश्च शास्ता प्राग्वचनं गतः ।
धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगो ग्रहः ॥ २० ॥

शास्त्र, ब्राह्मण, मन्त्र, शास्ता, प्राग्वचन, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, ग्रह, ॥२०॥

असङ्गो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवंकरः ।
नामान्येतानि दण्डस्य कीर्तितानि युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

असङ्ग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर है । हे युधिष्ठिर ! दण्डके ये सब नाम वर्णित हुए हैं ॥ २१ ॥

दण्डो हि भगवान्विष्णुर्यज्ञो नारायणः प्रभुः ।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महापुरुष उच्यते ॥ २२ ॥

दण्डही भगवान् विष्णु, यज्ञ, नारायण और प्रभु है; सदा महत् रूप धारण किया करता है, इस ही निमित्त महान् पुरुष कहलाता है ॥ २२ ॥

यथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्नीतिः सरस्वती ।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः ॥ २३ ॥

जिस प्रकार दण्डनीति ब्रह्माकी कन्या है, उसी तरह लक्ष्मी, नीति, सरस्वती तथा जगद्धात्री भी उसीके नाम हैं; इस प्रकार दण्डके अनेक प्रकारके रूप हैं ॥ २३ ॥

अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले ।
दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २४ ॥

हे भारत ! अर्थ–अनर्थ, सुख–दुःख, धर्म–अधर्म, बल–अबल, दौर्भाग्य–भागधेय, पुण्य–पाप, गुण–अवगुण ॥ २४ ॥

कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः ।
अप्रसादः प्रसादश्च हर्षः क्रोधः शमो दमः ॥ २५ ॥

काम–अकाम, ऋतु–मास, दिन–रात्रि, क्षण, अप्रसाद, प्रसाद, हर्ष–क्रोध, शम–दम, ॥२५॥

दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये ।
हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २६ ॥

दैव, पुरुषार्थ, मोक्ष–बन्ध, भय–अभय, हिंसा–अहिंसा, तपस्या, यज्ञ, संयम, विष–अविष, ॥२६॥

अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपञ्चनम् ।
मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥ २७ ॥

अन्त, आदि, मध्य, कार्यविस्तार, मद, प्रमाद, दर्प, दम्भ, धीरज, नीति–अनीति, ॥ २७ ॥

अशक्तिः शक्तिरित्येव मानस्तम्भौ व्ययाव्ययौ ।
विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २८ ॥

शक्ति–अशक्ति, मान, स्तब्धता, व्यय–अव्यय, विनय, दान, काल–अकाल, ॥ २८ ॥

अनृतं ज्ञाज्ञता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव च ।
क्लीबता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ २९ ॥

असत्य, ज्ञान, सत्य, श्रद्धा-अश्रद्धा, अकर्मण्यता, व्यवसाय, लाभ-हानि, जय-पराजय, ॥२९॥

तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा ।
विराद्धिश्चैव राद्धिश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३० ॥

तीक्ष्णता, मृदुता, मृत्यु, आगम-अनागम, असिद्धि-सिद्धि, कार्य-अकार्य, सबलता-निर्बलता, ॥३०॥

असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च ।
अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च संपद्विपच्च ह्र ॥ ३१ ॥

असूया-अनसूया, धर्म-अधर्म, लज्जा-अलज्जा, सम्पद-विपद, ॥ ३१ ॥

तेजः कर्मणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता ।
एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन्बहुरूपता ॥ ३२ ॥

तेज, सब कर्मोंमें कुशलता, वाक्यशक्ति और तत्त्व बुद्धिता; हे कौरवन्दन ! इसी प्रकारको इस लोकमें दण्डकी बहुरूपता हुआ करती है ॥ ३२ ॥

न स्याद्यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम् ।
भयाद्दण्डस्य चान्योन्यं घ्नन्ति नैव युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

हे युधिष्ठिर ! जगत्के बीच यदि दण्ड न रहे, तो लोग आपसमें लडकर एक दूसरेको नष्ट करते । दण्डके भयसे ही लोग आपसमें प्रहार नहीं करते हैं ॥ ३३ ॥

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः ।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद्दण्डः परायणम् ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! दण्डसे रक्ष्यमाण प्रजा इस जगत्में सदा राजाको वर्द्धित करती है, इससे दण्ड ही परम आश्रय है ॥ ३४ ॥

व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर ।
सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥ ३५ ॥

हे नरेश्वर ! दण्डही शीघ्र इस लोकको सत्यमें स्थापित करता है; सत्यका पक्षपाती धर्म ब्राह्मण-मूर्त्ति स्वरूप है ॥ ३५ ॥

धर्मयुक्ता द्विजाः श्रेष्ठा वेदयुक्ता भवन्ति च ।
बभूव यज्ञो वेदेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः ॥ ३६ ॥

धर्मयुक्त सब ब्राह्मण वेदज्ञ हुआ करते हैं । वेदोंसे ही यज्ञ उत्पन्न हुआ है, यज्ञ देवताओंको प्रीतियुक्त किया करता है ॥ ३६ ॥

प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिददत्युत ।
अन्नं ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः ॥ ३७ ॥

देवता लोग प्रसन्न होकर प्रजाके लिये सदा इन्द्रकी स्तुति करते हैं, इन्द्र भी उन सब प्रजा समूहके ऊपर कृपा करके अन्नदान किया करता है ॥ ३७ ॥

प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः ।
तस्मात्प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दण्डो जागर्ति तासु च ॥ ३८ ॥

सब प्राणियोंके प्राण सदा अन्नसे ही प्रतिष्ठित है; इससे प्रजासमूह भी दण्डमें प्रतिष्ठित हैं और दण्ड इन प्रजाओंकी रक्षाके विपयमें जाग्रत रहता है ॥ ३८ ॥

एवंप्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः ।
रक्षन्प्रजाः प्रजागर्ति नित्यं सुविहितोऽक्षरः ॥ ३९ ॥

इस ही भांति रक्षारूपी प्रयोजनके अनुसार दण्ड क्षत्रियत्वको प्राप्त हुआ और अक्षय दण्ड सदा सावधान होके प्रजाकी रक्षा करते हुए जाग्रत रहता है ॥ ३९ ॥

ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः ।
भूतात्मा जीव इत्येव नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः ॥ ४० ॥

ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा और जीव— इन आठ नामोंसे दण्ड उक्त हुआ करता है ॥ ४० ॥

अददद्दण्ड एवास्मै ध्रुवमैश्वर्यमेव च ।
बले नयश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः ॥ ४१ ॥

जो नीतिमान् राजा बलसे युक्त और धर्म, व्यवहार, दण्ड, ईश्वर तथा जीव रूपसे पञ्चविध है; ईश्वरने उसे दण्ड और ऐश्वर्यदान किया है ॥ ४१ ॥

कुलबाहुधनामात्याः प्रज्ञा चोक्ता बलानि च ।
आहार्यं चाष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद्युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

हे युधिष्ठिर ! कुल, सेना, धन, मन्त्री तथा बुद्धि ये प्राकृतिक बल हैं; आहार्य बल जो उससे भिन्न है, वह निम्न आठ वस्तुओंसे आठ प्रकारका माना जाता है ॥ ४२ ॥

हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टिस्तथैव च ।
दैशिकाश्चारकाश्चैव तदष्टाङ्गं बलं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

हाथी, घोडे, रथ, पदाति, नौका, अवैतनिक बोझा ढोनेवाले, देशकी प्रजा और गुप्तचर— ये राजाओंके अष्टाङ्ग बल आहार्यरूपसे वर्णित हुए हैं ॥ ४३ ॥

अष्टाङ्गस्य तु युक्तस्य हस्तिनो हस्तियायिनः ।
अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥ ४४ ॥

आठ अङ्गोंसे युक्तके गजपति, गजारोही, घुडसवार, पैदल सेना, मन्त्री, चिकित्सक— वैद्य, ॥४४॥

भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः ।
कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ॥ ४५ ॥

भिक्षुक, वकील, ज्योतिषी, दैवचिन्तक, कोष, मित्र, धान्य तथा अन्य सब सामग्री ॥ ४५ ॥

सप्तप्रकृति चाष्टाङ्गं शरीरमिह यद्विदुः ।
राज्यस्य दण्ड एवाङ्गं दण्डः प्रभव एव च ॥ ४६ ॥

और राज्यकी सप्त-प्रकृतियां— राज्यके अष्टाङ्गयुक्त शरीर रूपसे समझे जाते हैं; परन्तु दण्ड ही राज्यका प्रधान अङ्ग है और दण्ड ही उत्पत्तिका कारण है ॥ ४६ ॥

ईश्वरेण प्रयत्नेन धारणे क्षत्रियस्य हि ।
दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ।
राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथाधर्मप्रदर्शनः ॥ ४७ ॥

ईश्वरने प्रयत्नके सहित धर्मकी धारणाके लिये क्षत्रियको उसके समान जातिवाला दण्ड दिया है; यह दण्ड सनातन व्यवहारका कारण है; इस धर्मस्वरूप दण्डसे बढके राजाओंके वास्ते दूसरा कुछ भी पूजनीय नहीं है ॥ ४७ ॥

ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च।
भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथापरः।
तस्माद्यः सहितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ४८ ॥

प्रजापतिके जरिये लोक रक्षाके वास्ते और स्वधर्म स्थापनके लिये, इस प्रकार धर्म प्रदर्शित हुआ है; स्वामीके विश्वाससे उत्पन्न और वादी, प्रतिवादीके जरिये प्रवर्त्तित व्यवहार भिन्न है; इस अन्यतरसे जो दण्ड दिया जाता है, वह हित लक्षण युक्त दीखता है, वह दण्डका 'भर्तृ-प्रत्यय लक्षण' कहाता है ॥ ४८ ॥

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथापरः ॥ ४९ ॥

हे राजन्! वेदप्रतिपादित दोषकी निवृत्तिके वास्ते प्रायश्चित्त आदि महा दण्ड वेदात्मा वा वेद प्रत्यय नामसे कहा जाता है; और कुलाचार युक्त व्यवहारमें मौल तथा अपर-दण्ड शास्त्रोक्त नामसे कहा जाता है ॥ ४९ ॥

उक्तो यश्चापि दण्डोऽसौ भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
ज्ञेयो न स नरेन्द्रस्थो दण्डप्रत्यय एव च ॥ ५० ॥

उन तीन प्रकारके दण्डके बीच पहिला भर्तृ प्रत्यय लक्षण दण्ड क्षत्रियके आधीन है; क्षत्रियोंमें दण्ड ज्ञान रहना अवश्य उचित है। नरेन्द्रनिष्ठ प्रत्यय लक्षणयुक्त दण्ड क्षत्रियोंपर अवश्य अवलम्बित है ॥ ५० ॥

दण्डप्रत्ययदृष्टोऽपि व्यवहारात्मकः स्मृतः।
व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः ॥ ५१ ॥

स्वामीके विश्वासके आधारपर ही वह दण्ड देखा गया है; तो भी उसे भी व्यवहार स्वरूप माना गया है। जिसे व्यवहार माना गया है, वह भी वेदोक्त विषयसे भिन्न नहीं है ॥५१॥

यश्च वेदप्रसूतात्मा स धर्मो गुणदर्शकः।
धर्मप्रत्यय उत्पन्नो यथाधर्मः कृतात्मभिः ॥ ५२ ॥

वेदसे उत्पन्न हुआ धर्मही गुणदर्शक है; कृतात्मा मुनियोंके जरिये धर्मके अनुसार धर्म श्रद्धामय कहके दण्ड वर्णित हुआ है ॥ ५२ ॥

व्यवहारः प्रजागोप्ता ब्रह्मदिष्टो युधिष्ठिर।
त्रीन्धारयति लोकान्वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥ ५३ ॥

हे युधिष्ठिर! ब्रह्मोपदिष्ट व्यवहार प्रजासमूहकी रक्षा करता है; वह सत्यस्वरूप ऐश्वर्यका वर्द्धन करनेवाला व्यवहार ही तीनों लोकोंको धारण करता है ॥ ५३ ॥

यश्च दण्डः स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः ।
व्यवहारश्च यो दृष्टः स धर्म इति नः श्रुतः ।
यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः ॥ ५४ ॥

जो दण्ड नामसे कहलाता है, उसे ही सनातन व्यवहार रूपसे देखा जाता है; जो व्यवहार दीखता है, वही धर्म है; ऐसा हमने सुना है; जो वेद है, वही धर्म है; और जो धर्म है, उसे ही सन्मार्ग जाने ॥ ५४ ॥

ब्रह्मा प्रजापतिः पूर्वं बभूवाथ पितामहः ।
लोकानां स हि सर्वेषां ससुरासुररक्षसाम् ।
समनुष्योरगवतां कर्ता चैव स भूतकृत् ॥ ५५ ॥

पहिले समयमें पितामह ब्रह्मा प्रजापति हुए थे; वे ही देवता, असुर, राक्षस मनुष्य और सर्पोंके सहित सब लोकोंके कर्ता हैं और सब प्राणियोंके स्रष्टा हैं ॥ ५५ ॥

ततो नो व्यवहारोऽयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः ।
तस्मादिदमवोचाम व्यवहारनिदर्शनम् ॥ ५६ ॥

उन प्रजापतिसे ही यह हमारा भर्तृ-प्रत्यय लक्षण व्यवहार प्रवर्तित होता है; उन्होंने ही इस व्यवहारका निदर्शन किया है ॥ ५६ ॥

माता पिता च भ्राता च भार्या चाथ पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञां यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥ ४२१९ ॥

जो राजा निज धर्मके अनुसार प्रजा पालन करता है; उसके समीप माता, पिता, भाई, भार्या और पुरोहित इन सबके बीच- जो धर्ममें स्थित नहीं है- कोई भी अदण्डय नहीं है ॥५७॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२१ ॥ ४२१९ ॥

॥ १२२ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अङ्गेषु राजा द्युतिमान्वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥

भीष्म बोले- पुराने लोग इस दण्डकी उत्पत्तिके विषयमें इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। अङ्ग देशमें वसुहोम नामक एक विख्यात तेजस्वी राजा थे, ऐसा सुना जाता है ॥१॥

स राजा धर्मनित्यः सन्सह पत्न्या महातपाः ।
मुञ्जपृष्ठं जगामाथ देवर्षिगणपूजितम् ॥ २ ॥

वह महातपस्वी नित्य धर्ममें रत राजा भार्याके सहित देवतागणों और ऋषियोंसे पूजित मुञ्ज-पृष्ठमें गये थे ॥ २ ॥

तत्र शृङ्गे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते ।
यत्र मुञ्जवटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥

वह स्थान सुवर्णमय पर्वत सुमेरुके निकट उस हिमालयके शिखर पर है, जहां मुञ्जवटके नीचे परशुरामने अपनी जटा हरण करनेका आदेश दिया था ॥ ३ ॥

तदाप्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः संशितव्रतैः ।
मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र ! तभीसे कठोर व्रत करनेवाले ऋषि लोग उस रुद्रसेवित प्रदेशको मुञ्जपृष्ठ कहा करते हैं ॥ ४ ॥

स तत्र बहुभिर्युक्तः सदा श्रुतिमयैर्गुणैः ।
ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षिसदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥

वे उस समय श्रुतिमय अनेक गुणोंसे युक्त होकर ब्राह्मणोंके अनुमत तथा देवर्षियोंके समान हुए थे ॥ ५ ॥

तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानितः ।
अभ्यगच्छन्महीपालो मान्धाता शत्रुकर्शनः ॥ ६ ॥

किसी समय इन्द्रके सम्मानित सखा निर्भय चित्तवाले शत्रुसूदन राजा मान्धाता उनके निकट उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

सोऽभिसृत्य तु मान्धाता वसुहोमं नराधिपम् ।
दृष्ट्वा प्रकृष्टं तपसा विनयेनाभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥

मान्धाता श्रेष्ठ राजा वसुहोमको तपसे युक्त देखकर विनीत भावसे उनके सम्मुख स्थित हुए ॥ ७ ॥

वसुहोमोऽपि राज्ञो वै गामर्घ्यं च न्यवेदयत् ।
अष्टाङ्गस्य च राज्यस्य पप्रच्छ कुशलं तदा ॥ ८ ॥

वसुहोमने भी राजा मान्धाताको पाद्य, अर्घ्य दिया और अष्टाङ्गोंसे युक्त उनके राज्यका कुशल पूंछा ॥ ८ ॥

सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनम् ।
अपृच्छद्वसुहोमस्तं राजन्किं करवाणि ते ॥ ९ ॥

पहिले समयमें साधुओंके आचरणके यथावत् अनुयायी उस मान्धातासे वसुहोमने पूछा— हे राजन् ! मैं आपका क्या कार्य करूं ? ॥ ९ ॥

सोऽब्रवीत्परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम् ।
वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥

हे कुरुनन्दन ! परम प्रसन्न होकर मान्धाता बैठे हुए महाबुद्धिमान् राजसत्तम वसुहोमसे कहने लगे ॥ १० ॥

बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया ।
तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नराधिप ॥ ११ ॥

हे नरसत्तम महाराज ! आपने बृहस्पतिके सब मतका अध्ययन किया है और शुक्राचार्यके सब शास्त्रोंको भी आप जानते हैं; ॥ ११ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम् ।
किं चापि पूर्वं जागर्ति किं वा परममुच्यते ॥ १२ ॥

इससे दण्ड किस प्रकार उत्पन्न हुआ है, मैं इसे जाननेकी अभिलाषा करता हूं । इस दण्डके पहिले क्या जाग्रत रहता है और क्योंकि इसको सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ? ॥ १२ ॥

कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः संप्रत्यवस्थितः ।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥

सम्प्रति दण्ड किस प्रकार क्षत्रियोंमें युक्त होकर स्थित होरहा है ? हे महाबुद्धिमान् ! आप मुझसे यही कहिये, मैं आचार्यकी दक्षिणा प्रदान करूंगा ॥ १३ ॥

वसुहोम उवाच –

शृणु राजन्यथा दण्डः संभूतो लोकसंग्रहः ।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४ ॥

वसुहोम बोले– हे राजन् ! प्रजासमूहके विनयकी रक्षाके निमित्त सनातन धर्म स्वरूप लोक संग्रहमें समर्थ दण्ड जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, उसे सुनो ॥ १४ ॥

ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान्सर्वलोकपितामहः ।
ऋत्विजं नात्मना तुल्यं ददर्शेति हि नः श्रुतम् ॥ १५ ॥

सब लोगोंके पितामह भगवान् ब्रह्माने यज्ञ करनेकी इच्छा करके, अपने योग्य किसी ऋत्विजको नहीं देखा ! हमने ऐसा सुना है ॥ १५ ॥

स गर्भं शिरसा देवो वर्षपूगानधारयत् ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु स गर्भः क्षुवतोऽपतत् ॥ १६ ॥

उस देव प्रजापतिने मस्तकके जरिये अनन्त वर्ष पर्यन्त एक गर्भ धारण किया था; एक सहस्र वर्ष पूरा होनेपर उनको छींक आनेपर वह गर्भ नीचे गिरा ॥ १६ ॥

स क्षुपो नाम संभूतः प्रजापतिरिरंदिम ।
ऋत्विगासीत्तदा राजन्यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

हे शत्रुनाशन ! उस ही गर्भसे उत्पन्न हुआ बालक क्षुप नामक प्रजापति हुआ । हे महाराज ! महानुभाव ब्रह्माके यज्ञमें वही ऋत्विज हुए थे ॥ १७ ॥

×

तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ ।
हृष्टरूपप्रचारत्वाद्दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥

हे राजन् ! प्रजापति ब्रह्माके उस यज्ञके आरम्भ होने पर आनन्दरूपी प्रचारके कारण वह दण्ड अन्तर्द्धान हुआ ॥ १८ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते चाथ प्रजानां संकरोऽभवत् ।
नैव कार्यं न चाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥

दण्डके अन्तर्द्धान होने पर प्रजामें वर्णसङ्करता होने लगी; कार्य, अकार्य, भोज्य, अभोज्यका कुछ भी विचार न रहा ॥ १९ ॥

पेयापेयं कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम् ।
गम्यागम्यं तदा नासीत्परस्वं स्वं च वै समम् ॥ २० ॥

तब पेय और अपेय विषयोंमें विचार क्यों रहेगा ? सब एक दूसरेकी हिंसा करने लगे; उस समय गम्य वा अगम्यका कुछ भी विचार न रहा; अपना धन और पराया धन समान हुआ ॥ २० ॥

परस्परं विलुम्पन्ते सारमेया इवामिषम् ।
अबलं बलिनो जघ्नुर्निर्मर्यादमवर्तत ॥ २१ ॥

जैसे कुत्ते मांसके लिये परस्परमें छीनाझपटी करते हैं, वैसे ही सब कोई आपसमें एक दूसरेके धनको हरनेमें प्रवृत्त हुए; बलवान् लोग निर्बलोंको मारने लगे ; सब ही मर्यादारहित हो गये ॥ २१ ॥

ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम् ।
संपूज्य वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥

अनन्तर पितामह ब्रह्मा सनातन देव वरदाता महादेव विष्णुकी पूर्ण रीतिसे पूजा करके बोले– ॥ २२ ॥

अत्र साध्वनुकम्पां वै कर्तुमर्हसि केवलम् ।
संकरो न भवेदत्र यथा वै तद्विधीयताम् ॥ २३ ॥

हे केशव ! इस विषयमें आपको उत्तम कृपा करनी उचित है, जिससे यहां प्रजामें वर्णसङ्कर न होवे, आप वैसा ही उपाय करिये ॥ २३ ॥

ततः स भगवान्ध्यात्वा चिरं शूलजटाधरः ।
आत्मानमात्मना दण्डमसृजद्देवसत्तमः ॥ २४ ॥

अनन्तर देवश्रेष्ठ शूलजटाधारी भगवानने बहुत समयतक विचार करके अपने आपको ही दण्डके रूपमें प्रकट किया ॥ २४ ॥

तस्माच्च धर्मचरणां नीतिं देवीं सरस्वतीम् ।
असृजद्दण्डनीतिः सा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २५ ॥

उससे धर्माचरणयुक्त नीतिरूपी सरस्वती देवीको उत्पन्न किया; वह तीनों लोकोंमें दण्डनीतिके नामसे विख्यात है ॥ २५ ॥

भूयः स भगवान्ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
तस्य तस्य निकायस्य चकारैकैकमीश्वरम् ॥ २६ ॥

शूलधारी भगवानने फिर कुछ देर तक ध्यान करके भिन्नभिन्न समुदायके वास्ते एक एक राजा बना दिया ॥ २६ ॥

देवानामीश्वरं चक्रे देवं दशशतेक्षणम् ।
यमं वैवस्वतं चापि पितॄणामकरोत्पतिम् ॥ २७ ॥

उन्होंने सहस्र नेत्रवाले देवराज इन्द्रको देवताओंका ईश्वर किया; वैवस्वत यमको पितरोंका राजा बनाया ॥ २७ ॥

धनानां रक्षसां चापि कुबेरमपि चेश्वरम् ।
पर्वतानां पतिं मेरुं सरितां च महोदधिम् ॥ २८ ॥

धन और राक्षसोंको अपने वशमें रखनेके वास्ते कुबेरको राजा किया, सुमेरुको शैलपति और महासमुद्रको सरित्पति किया ॥ २८ ॥

अपां राज्ये सुराणां च विदधे वरुणं प्रभुम् ।
मृत्युं प्राणेश्वरमथो तेजसां च हुताशनम् ॥ २९ ॥

जल और देवोंके राज्यपर शक्तिमान् वरुणको स्थापित किया; मृत्युको प्राणका और हुताशन–अग्निको तेजका स्वामी बनाया ॥ २९ ॥

रुद्राणामपि चेशानं गोप्तारं विदधे प्रभुः ।
महात्मानं महादेवं विशालाक्षं सनातनम् ॥ ३० ॥

महानुभाव विशालाक्ष सनातन महादेवने अपने आपको रुद्रगणोंका रक्षक और प्रभु कर दिया ॥ ३० ॥

वशिष्ठमीशं विप्राणां वसूनां जातवेदसम् ।
तेजसां भास्करं चक्रे नक्षत्राणां निशाकरम् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठको ब्राह्मणोंका और जातवेदा अग्निको वसुओंका स्वामी बनाया; सूर्यको तेजस्वी ग्रहोंकी और चन्द्रमाको नक्षत्रोंकी प्रभुता दी ॥ ३१ ॥

वीरुधामंशुमन्तं च भूतानां च प्रभुं वरम् ।
कुमारं द्वादशभुजं स्कन्दं राजानमादिशत् ॥ ३२ ॥

अंशुमान्को लता समूहका ईश्वर किया और द्वादश बाहु कुमार स्कन्दको भूतोंके ऊपर राजत्व करनेकी आज्ञा दी ॥ ३२ ॥

कालं सर्वेशमकरोत्संहारविनयात्मकम् ।
मृत्योश्चतुर्विभागस्य दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ३३ ॥

संहार और विनय (उत्पादन) स्वरूप सर्वेश्वर कालको शस्त्र, शत्रु, रोग और भोजन मृत्युके ये चार विभागका तथा सुख और दुःखका भी राजा बनाया ॥ ३३ ॥

ईश्वरः सर्वदेहस्तु राजराजो धनाधिपः ।
सर्वेषामेव रुद्राणां शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

सबके देह, राजाओंके राजा और धनोंके पति शूलपाणि भगवान् शिव स्वयं सब रुद्रोंके अधिपति हुए, ऐसा सुना जाता है ॥ ३४ ॥

तमेकं ब्रह्मणः पुत्रमनुजातं क्षुपं ददौ ।
प्रजानामधिपं श्रेष्ठं सर्वधर्मभृतामपि ॥ ३५ ॥

महादेवने ब्रह्माके छोटे पुत्र क्षुपको प्रजासमूहोंका तथा सब धर्मात्माओंका श्रेष्ठ अधिपति बनाया ॥ ३५ ॥

महादेवस्ततस्तस्मिन्वृत्ते यज्ञे यथाविधि ।
दण्डं धर्मस्य गोप्तारं विष्णवे सत्कृतं ददौ ॥ ३६ ॥

अनन्तर ब्रह्माके उस यज्ञके विधिपूर्वक पूर्ण होनेपर, महादेवने धर्म रक्षक भगवान् विष्णुका सत्कार करके उन्हें वह दण्ड समर्पित किया ॥ ३६ ॥

विष्णुरङ्गिरसे प्रादादङ्गिरा मुनिसत्तमः ।
प्रादादिन्द्रमरीचिभ्यां मरीचिर्भृगवे ददौ ॥ ३७ ॥

भगवान् विष्णुने उसे अङ्गिराको प्रदान किया; मुनिसत्तम अङ्गिराने इन्द्र और मरीचिको, मरीचिने भृगुको सौंप दिया ॥ ३७ ॥

भृगुर्ददावृषिभ्यस्तु तं दण्डं धर्मसंहितम् ।
ऋषयो लोकपालेभ्यो लोकपालाः क्षुपाय च ॥ ३८ ॥

भृगुने ऋषियोंको वह धर्मयुक्त दण्ड दान किया। ऋषियोंने लोकपालोंको और लोकपालोंने उसे क्षुपको दिया ॥ ३८ ॥

क्षुपस्तु मनवे प्रादादादित्यतनयाय च ।
पुत्रेभ्यः श्राद्धदेवस्तु सूक्ष्मधर्मार्थकारणात् ।
तं ददौ सूर्यपुत्रस्तु मनुर्वै रक्षणात्मकम् ॥ ३९ ॥

अनन्तर क्षुपने आदित्य पुत्र मनुको उसे अर्पण किया। श्राद्धदेवने सूक्ष्म धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये उसे अपने पुत्रोंको समर्पण किया। सूर्यपुत्र मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये ही पुत्रोंको दण्ड दिया था ॥ ३९ ॥

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यहच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो बन्धो हिरण्यं बाह्यतःक्रिया　　॥ ४० ॥
न्याय-अन्यायका विचार करके धर्मके अनुसार दण्डका विधान करना चाहिये; इच्छानुसार दण्ड देना उचित नहीं है। दुर्वाचाका निग्रह करना ही दण्ड—बन्ध कहते हैं; सुवर्ण आदि दण्ड लोगोंका विभीषिका दिखाने मात्रके लिये होता है ॥ ४० ॥

व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो वा नाल्पकारणात् ।
शरीरपीडास्तास्तास्तु देहत्यागो विवासनम्　　॥ ४१ ॥
छोटेसे अपराधपर शरीरका अङ्ग भंग करना, उसका वध करना, शारीरिक यातनाएं देना, देह त्याग करवाना, तथा निज देशसे निकाल देना, ये कभी भी योग्य नहीं हैं ॥ ४१ ॥

आनुपूर्व्या च दण्डोऽसौ प्रजा जागर्ति पालयन् ।
इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः　　॥ ४२ ॥
यह दण्ड ही क्रमशः मंत्रियोंके हाथमें आकर प्रजाका पालन करते हुए जाग्रत रहता है। भगवान् इन्द्र दण्ड विधानमें सदा जाग्रत रहते हैं; इन्द्रसे प्रकाशमान् अग्नि जाग्रत हैं ॥४२॥

अग्नेर्जागर्ति वरुणो वरुणाच्च प्रजापतिः ।
प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विनयात्मकः　　॥ ४३ ॥
अग्निसे वरुण जाग्रत हैं; वरुणसे प्रजापति उसको प्राप्त करके सदा जाग्रत रहते हैं। सम्पूर्ण जगत्को शिक्षा देनेवाले धर्म प्रजापतिसे दण्ड धारण करके प्रजाकी रक्षाके लिये सदा जाग्रत रहते हैं ॥ ४३ ॥

धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः ।
व्यवसायात्ततस्तेजो जागर्ति परिपालयन्　　॥ ४४ ॥
धर्मसे ब्रह्मपुत्र सनातन व्यवसाय, व्यवसायसे तेज प्रजा पालन करता हुआ जाग्रत रहता है ॥ ४४ ॥

ओषध्यस्तेजसस्तस्मादोषधिभ्यश्च पर्वताः ।
पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रसगुणात्तथा　　॥ ४५ ॥
तेजसे ओषधियां, ओषधियोंसे पर्वत, पर्वतोंसे रस जाग्रत रहते हैं ॥ ४५ ॥

जागर्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि ।
वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः　　॥ ४६ ॥
रससे निर्ऋतिदेवी और निर्ऋतिसे ज्योतियां जाग्रत हुआ करती हैं; ज्योतियोंसे दण्ड लेकर वेद प्रतिष्ठित हुए हैं; वेदोंसे प्रभु हयशिरा जाग्रत होते हैं ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा पितामहस्तस्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः ।
पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवाञ्शिवः ॥ ४७ ॥

हयग्रीवसे अव्यय प्रभु पितामह ब्रह्मा लोक रक्षाके लिये जाग्रत रहते हैं; पितामहसे दण्ड पाकर महादेव भगवान् जागते हैं ॥ ४७ ॥

विश्वेदेवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः ।
ऋषिभ्यो भगवान्सोमः सोमाद्देवाः सनातनाः ॥ ४८ ॥

शिवसे विश्वेदेव और विश्वेदेवोंसे ऋषि लोग; ऋषियोंसे भगवान् चन्द्रमा, चन्द्रमासे सनातन देवता लोग ॥ ४८ ॥

देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय ।
ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान्रक्षन्ति धर्मतः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ॥ ४९ ॥

और देवताओंसे वह अधिकार लेकर लोक रक्षाके लिये ब्राह्मण लोग जाग्रत रहते हैं; इस बातको तुम जान लो। ब्राह्मणोंसे क्षत्रिय लोग धर्मके अनुसार सब लोगोंकी रक्षा करते हैं; क्षत्रियोंसे यह सनातन स्थावर–जङ्गम जगत् सुरक्षित होता रहा है; ॥ ४९ ॥

प्रजा जाग्रति लोकेऽस्मिन्दण्डो जागर्ति तासु च ।
सर्वसंक्षेपको दण्डः पितामहसमः प्रभुः ॥ ५० ॥

इस लोकमें प्रजा जागती है और प्रजाओंमें दण्ड जागता है; पितामहके समान प्रभावसे युक्त दण्ड सबको ही मर्यादामें रखता है; ॥ ५० ॥

जागर्ति कालः पूर्वं च मध्ये चान्ते च भारत ।
ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः ॥ ५१ ॥

हे भारत ! यह कालरूप दण्ड सृष्टिके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें जाग्रत रहता है। सब लोकोंके ईश्वर महादेवका स्वरूप यह सब प्रजाओंका पालनकर्ता है ॥ ५१ ॥

देवदेवः शिवः शर्वो जागर्ति सततं प्रभुः ।
कपर्दी शंकरो रुद्रो भवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ५२ ॥

देवोंके देव, कल्याणमय जटाजूटधारी रुद्र भव स्थाणु उमापति प्रभु शङ्कर सदा दण्डके रूपमें जागरित रहते हैं ॥ ५२ ॥

इत्येष दण्डो विख्यात आदौ मध्ये तथावरे ।
भूमिपालो यथान्यायं वर्तेतानेन धर्मवित् ॥ ५३ ॥

आदि, मध्य और अन्तमें इसी भांति यह दण्ड विख्यात है। धर्म जाननेवाला राजा यथा-रीतिसे इस दण्डको धारण करते हुए बर्ताव करे ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच—

इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद्यो मतं नरः ।
श्रुत्वा च सम्यग्वर्तेत स कामानाप्नुयान्नृपः ॥ ५४ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! जो राजा इस वसुहोमके मतको सुनता और सुनकर पूर्ण रीतिसे अनुष्ठान करता है, वह समस्त काम्य विषयोंको प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

इति ते सर्वमाख्यातं यो दण्डो मनुजर्षभ ।
नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥ ४२७४ ॥

हे मनुष्यश्रेष्ठ राजन् ! यही तो दण्डका सब विषय मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया; दण्ड ही धर्मसे आक्रान्त सब लोकोंका नियन्ता है ॥ ५५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२२ ॥ ४२७४ ॥

: १२३ :

युधिष्ठिर उवाच—

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम् ।
लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन त्रिष्वेतेषु प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे तात ! मैं धर्म, अर्थ और कामके विषयमें आपके निश्चित मतको सुननेकी इच्छा करता हूं; लोकयात्रा पूर्ण रीतिसे इन तीनोंपर प्रतिष्ठित हुआ करती है ॥ १ ॥

धर्मार्थकामाः किंमूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः ।
अन्योन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

धर्म, अर्थ और कामका मूल क्या है और इस त्रिवर्गकी उत्पत्तिका कारण ही क्या है ? ये सब परस्पर मिलित और पृथक् पृथक् होकर किस निमित्त स्थिति करते हैं ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

यदा ते स्युः सुमनसो लोकसंस्थार्थनिश्चये ।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— मनुष्य लोग जब जगतकी उत्तम संस्थापना करनेका निश्चय करके शुद्ध चित्त होते हैं, मनुष्यके मनमें जब ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग काल प्रभव होके एकत्र प्रकट होता है ॥ ३ ॥

धर्ममूलस्तु देहोऽर्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥ ४ ॥

धर्म ही देह– अर्थका मूल है और काम अर्थका फल है; यह सदा उक्त हुआ करता है; और कामका मूल इन्द्रिय प्रीति है; धर्म, अर्थ और काम ये तीनों ही सङ्कल्प मूलक हैं तथा सङ्कल्प रूप आदि विषयात्मक हैं ॥ ४ ॥

विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये ।
मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥ ५ ॥

रूप आदि सब विषय पूर्णतया इन्द्रियोंके उपभोगके लिये हैं, यही धर्म, अर्थ और काम– त्रिवर्गका मूल है; और इससे निवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं ॥ ५ ॥

धर्मः शरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ इष्यते ।
कामो रतिफलश्चात्र सर्वे चैते रजस्वलाः ॥ ६ ॥

धर्मके निमित्त शरीरकी रक्षा अर्थात् आरोग्यताके वास्ते धर्मकी सेवा करनी उचित है और धर्मके लिये ही धनकी इच्छा करनी योग्य है; और कामका फल रति है; इससे धर्म, अर्थ, काम– ये तीनों रजोगुण प्रधान हैं ॥ ६ ॥

संनिकृष्टांश्चरेदेतान्न चैनान्मनसा त्यजेत् ।
विमुक्तस्तमसा सर्वान्धर्मादीन्कामनैष्ठिकान् ॥ ७ ॥

आत्मज्ञान फलरूप धर्म, अर्थ और काम भी जिस प्रकार अपना हित करनेवाले हो, उसी समय इनको सेवन करे अर्थात् कल्याणका साधन बनाकर उपयोगमें लावे; मनसे भी इन्हें परित्याग न करे । चित्तशुद्धिके वास्ते धर्म, निष्काम कर्मोंके वास्ते अर्थ और देह धारण मात्रके कारण कामकी सेवा करनी उचित है; तपसे ही उनसे स्वयंको मुक्त करके अर्थात् आसक्ति और फलका त्याग करके इनका सेवन करे; भोग पास प्राप्त होनेपर उनका धर्ममर्यादासे सेवन करे ॥ ७ ॥

श्रेष्ठबुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयात्क्षणात् ।
बुद्ध्या बुध्येदिहार्थे न तदह्ना तु निकृष्टया ॥ ८ ॥

योग्य रीतिसे त्रिवर्गका सेवन किया जाय तो वह कल्याणमय है; यदि उसे अवसर पर प्राप्त कर सके तो वह मंगलमय है । धनके विषयमें यहां बुद्धिपूर्वक विचार करे; निकृष्ट बुद्धिसे तत्काल फल सुलभ नहीं होता ॥ ८ ॥

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
संप्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्तितः ॥ ९ ॥

धर्मका मूल फलकी इच्छा है; दान और भोग न करना, संग्रह करना ही अर्थका मल है; केवल प्रीतिके वास्ते काम सेवन कामका मल है; इससे वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम, फलाभि-सन्धान, दान, भोग और प्रीतिसे– अपने दोषोंसे– रहित होनेपर कल्याणमय होता है ॥९॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कामन्दस्य च संवादमङ्गारिष्ठस्य चोभयोः ॥ १० ॥

इस विषयमें कामन्द और अङ्गारिष्ठ इन दोनोंके सम्वादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका पहिलेके आचार्य लोग प्रमाण दिया करते हैं ॥ १० ॥

कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नराधिपः ।
अङ्गारिष्ठोऽथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्ययम् ॥ ११ ॥

राजा अङ्गारिष्ठने सुखसे बैठे हुए कामन्द ऋषिको प्रणाम करके प्रश्नके उपयुक्त समय देखकर पूछा– ॥ ११ ॥

यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः ।
प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात्पापप्रणाशनम् ॥ १२ ॥

हे ऋषि ! जो राजा काम और मोहके वशमें होकर पापाचरण करता है, फिर उसे पश्चात्ताप होनेपर उसका वह पाप किस प्रकार नष्ट होता है ? ॥ १२ ॥

अधर्मो धर्म इति ह योऽज्ञानादाचरेदिह ।
तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्तयेत् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अज्ञानके कारण अधर्मको धर्म समझके आचरण करता है, लोकमें विख्यात उस मनुष्यको राजा किस उपायसे उस अधर्मसे निवारित करे ? ॥ १३ ॥

कामन्द उवाच—

यो धर्मार्थौ समुत्सृज्य काममेवानुवर्तते ।
स धर्मार्थपरित्यागात्प्रज्ञानाशमिहार्छति ॥ १४ ॥

कामन्द बोले– जो पुरुष धर्म और अर्थको त्यागके केवल कामका अनुवर्ती होता है, वह धर्म तथा अर्थ परिहार निबन्धनसे इस लोकमें बुद्धिसे हीन हुआ करता है ॥ १४ ॥

प्रज्ञाप्रणाशको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः ।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १५ ॥

बुद्धिका नाश करनेवाला मोह है, वह धर्म और अर्थका नाशक हो जाता है; इससे मनुष्यमें नास्तिकता आती है और वह दुराचारी होता है ॥ १५ ॥

दुराचारान्यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १६ ॥

राजा जब दुष्टों तथा दुराचारियोंको दण्ड देकर काबूमें नहीं करता है, तब प्रजा घरमें स्थित सर्पके समान उस राजासे व्याकुल हुआ करती है ॥ १६ ॥

×

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः ।
ततः संक्षयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥ १७ ॥

प्रजासमूह, ब्राह्मण और साधु लोग वैसे राजाके अनुवर्त्ती नहीं होते । अनन्तर वह नाशको प्राप्त होकर वध्य भी होता है ॥ १७ ॥

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १८ ॥

अवनत वा अपमानित होकर अत्यन्त दुःखसे जीवित रहता है; पदभ्रष्ट होके भी जीवित रहना, वह केवल मृत्युके समान है ॥ १८ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य च निबर्हणम् ।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ १९ ॥

पहिलेके आचार्योंने इस विषयमें यह बताया है कि वह सब प्रकार अपने पापकी निन्दा करे वेदोंका अध्ययन करे और ब्राह्मणोंका सत्कार करे ॥ १९ ॥

महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले ।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान्मनस्विनः ॥ २० ॥

धर्म विषयमें विशेष करके मन लगावे और उत्तम कुलमें विवाह करे । क्षमाशील मनस्वी ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ २० ॥

जपेदुदकशीलः स्यात्सुमुखो नान्यदास्थितः ।
धर्मान्वितान्संप्रविशेद्बहिः कृत्वैव दुष्कृतीन् ॥ २१ ॥

वह जलमें प्रविष्ट होके जप करे और सदा प्रसन्न मुख रहे, इसके विपरीत न रहे; दुष्कर्मी मनुष्योंको राज्यसे बाहर करके धर्मात्मा पुरुषोंका सहवास करे ॥ २१ ॥

प्रसादयेन्मधुरया वाचाप्यथ च कर्मणा ।
इत्यस्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन्गुणान् ॥ २२ ॥

मीठे वचन और उत्तम कर्मसे सबको प्रसन्न रखे, दूसरोंके गुणोंका वर्णन करते हुए, मैं आपका ही हूं, ऐसा सबसे सदा कहे ॥ २२ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
पापान्यपि च कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २३ ॥

जो निष्पाप राजा ऐसा आचरण कर सकता है, वह शीघ्र ही सबके आदरका पात्र होता है; वह अपने कठिन पापोंको भी नष्ट करता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

गुरवोऽपि परं धर्मं यद्ब्रूयुस्तत्तथा कुरु ।
गुरूणां हि प्रसादाद्धि श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥ ४२९८ ॥

गुरु लोग जो परम धर्मका विषय कहा करते हैं, तुम उस धर्मका वैसा ही आचरण करो; गुरुओंकी कृपासे तुम परम कल्याणको प्राप्त होगे ॥ २४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२३ ॥ ४२९८ ॥

: १२४ :

युधिष्ठिर उवाच—

इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि ।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पुरुष श्रेष्ठ ! भूमण्डलमें ये सब मनुष्य लोग पहिले सदा धर्मके अनुरूप शीलकी ही प्रशंसा किया करते हैं; इस विषयमें एकबारगी मुझे महान् संशय होरहा है ॥१॥

यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥

हे धार्मिक प्रवर ! यदि उसे जाननेकी मुझमें सामर्थ्य हो, तो वह जिस प्रकार प्राप्त होता है, वह सब सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

कथं नु प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किंलक्षणं च तत्प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ३ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ भारत ! किस प्रकार वह शील प्राप्त हो सकता है और उसका कैसा लक्षण कहा गया है ? आप उसे मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।
आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागताम् ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महाराज तव सभ्रातृकस्य ह ।
सभायां चावहसनं तत्सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥
भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिं चाप्यनुत्तमाम् ।
दुर्योधनस्तदासीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

भीष्म बोले—हे मानद महाराज ! पहिले दुर्योधनने भाइयोंके सहित इन्द्रप्रस्थमें तुम्हारा वह अतुल ऐश्वर्य, वह उत्तम सभा और समृद्धि देखकर सन्तापित और सभामें उपहसित होकर पिता धृतराष्ट्रके समीप बैठकर वह सब वर्णन किया था, वह सब सुनो ॥ ४–६ ॥

श्रुत्वा च धृतराष्ट्रोऽपि दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत्कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥

तब धृतराष्ट्रने दुर्योधनका वचन सुनके कर्णके साथ बैठे हुए उससे यह वक्ष्यमाण वचन कहा ॥ ७ ॥

किमर्थं तप्यसे पुत्रः श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग्भविष्यसि ॥ ८ ॥

हे पुत्र ! तुम किस कारण सन्तापित होते हो ? मैं उसे यथार्थ रूपसे सुननेकी इच्छा करता हूं । सुनने पर यदि मुझे उपयुक्त बोध होगा, तो तुम्हें उपदेश करूंगा ॥ ८ ॥

यथा त्वं महदैश्वर्यं प्राप्तः परपुरंजय ।
किंकरा भ्रातरः सर्वे मित्राः संबन्धिनस्तथा ॥ ९ ॥

हे परपुरञ्जय ! तुमने परम ऐश्वर्य प्राप्त किया है; भ्राता, मित्र और सम्बन्धी लोग सदा तुम्हारी आज्ञामें रत हैं; ॥ ९ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितोदनम् ।
आजानेया वहन्ति त्वां कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ १० ॥

अच्छे वस्त्र पहनते हो और पक्वान्न भोजन भोग करते हो; उत्तम घोडे तुम्हें ले चलते हैं; तौभी हे पुत्र ! तुम किस कारणसे दुःखित हो ? ॥ १० ॥

दुर्योधन उवाच—

दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ११ ॥

दुर्योधन बोले– हे भारत ! युधिष्ठिरके गृहमें दस हजार महानुभाव स्नातक ब्राह्मण लोग नित्य स्वर्णपात्रमें भोजन करते हैं ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम् ।
अश्वांस्तित्तिरकल्माषान्रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥

हे मानव ! दिव्य फल–फूलोंसे शोभित वह दिव्य सभा और तीतर पक्षीके समान विचित्र रंगवाले घोडे, अनेक तरहके रत्न ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानामृद्धिमिन्द्रोपमां शुभाम् ।
अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि मानद ॥ १३ ॥

और इन्द्रके समान विशाल और शुभङ्करी समृद्धि अपने शत्रु पाण्डवोंके पास देखकर मैं शोकित हो रहा हूं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच -

यदीच्छसि श्रियं तात यादृशीं तां युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान्भव पुत्रक ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे तात ! नरवर ! पुत्र ! युधिष्ठिरकी जैसी समृद्धि है, तुम यदि वैसे वा उससे अधिक ऐश्वर्यकी इच्छा करते हो, तो तुम शीलवान् बनो ॥ १४ ॥

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥ १५ ॥

शीलके जरिये तीनों लोकोंपर जय किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं है; इस लोकमें शीलवान् मनुष्योंके लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है ॥ १५ ॥

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः ।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिवान् ॥ १६ ॥

मान्धाताने एक दिनमें, जनमेजयने तीन दिनोंमें और नाभागने सात दिनोंमें इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया था ॥ १६ ॥

एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दमान्विताः ।
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागमत् ॥ १७ ॥

ये सब राजा शीलवान् और संयमयुक्त थे; इसलिये वसुन्धरा गुण क्रीता होकर स्वयं उनके निकट उपस्थित हुई थी ॥ १७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत ॥ १८ ॥

हे भरतनन्दन ! महर्षि नारदने पहिले जो शीलके विषयमें कहा था, पुराने लोग इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ १८ ॥

प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशीकृतम् ॥ १९ ॥

प्रह्लादने दैत्य होके भी शीलका अवलम्बन करके महात्मा इन्द्रके राज्यको हरण और तीनों लोकोंको अपने वशमें किया था ॥ १९ ॥

ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः ।
उवाच च महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २० ॥

अनन्तर महाबुद्धिमान् इन्द्र हाथ जोडके बृहस्पतिके समीप उपस्थित हुए और बोले, मैं अपने कल्याणका उपाय जाननेकी अभिलाप करता हूं ॥ २० ॥

ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ।
कथयामास भगवान्देवेन्द्राय कुरूद्वह ॥ २१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तब भगवान् बृहस्पतिने उन देवेन्द्रसे परम कल्याण सम्बन्धीय ज्ञानका विषय कहा ॥ २१ ॥

एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत ।
इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ क्व विशेषो भवेदिति ॥ २२ ॥

बृहस्पतिने मोक्षके उपयोगी ज्ञानकी कथा कहके "इतना ही श्रेय है" ऐसा कहा । देवराजने फिर पूछा, कि निःश्रेयससे भी कुछ विशेष कल्याणदायक है वा नहीं ? ॥ २२ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः ।
तत्रागमय भद्रं ते भूय एव पुरंदर ॥ २३ ॥

बृहस्पति बोले— हे तात देवन्द्रे ! इस विषयमें जो महान् विशेष है, वह महानुभाव शुक्राचार्यको है; इसलिये तुम उनके समीप जाके इस विषयको पूंछो; तुम्हारा मङ्गल होगा ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात्सुमहायशाः ।
ज्ञानमागमयत्प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— महातपस्वी परम तेजस्वी देवराजने अपने कल्याण लाभके लिये प्रीतिपूर्वक भार्गवसे पुनः श्रेयका ज्ञान प्राप्त किया ॥ २४ ॥

तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना ।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः ॥ २५ ॥

महात्मा भार्गवने उन्हें उपदेश देनेपर इन्द्रने फिर शुक्राचार्यसे पूछा, कि क्या इससे विशेष श्रेय है ? ॥ २५ ॥

भार्गवस्त्वाह धर्मज्ञः प्रह्रादस्य महात्मनः ।
ज्ञानमस्ति विशेषेण ततो हृष्टश्च सोऽभवत् ॥ २६ ॥

सर्वज्ञ शुक्राचार्य बोले—महानुभाव प्रह्लादको इस विषयका विशेष ज्ञान है; इन्द्र ऐसा सुनकर हर्षित हुए ॥ २६ ॥

स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्रादं पाकशासनः ।
सृत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २७ ॥

अनन्तर मेधावी इन्द्र ब्राह्मणका वेष धारण करके प्रह्लादके निकट जाकर बोले, मैं श्रेय जाननेकी अभिलाष करता हूं ॥ २७ ॥

प्रह्रादस्त्वब्रवीद्विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ ।
त्रैलोक्यराज्ये सक्तस्य ततो नोपदिशामि ते ॥ २८ ॥

हे द्विजवर ! मैं तीनों लोकोंके राज्यका शासन करनेमें सदा तत्पर रहता हूं, इससे मुझे एक क्षणभर भी फुर्सत नहीं है; इसीसे तुम्हें उपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूं ॥ २८ ॥

ब्राह्मणस्त्वब्रवीद्वाक्यं कस्मिन्काले क्षणो भवेत् ।
ततोपदिष्टमिच्छामि यद्यत्कार्यान्तरं भवेत् ॥ २९ ॥

ब्राह्मण इस प्रकार बोला, हे राजन् ! जब आपको अवसर मिलेगा, तभी इस कार्य अनन्तर मैं उत्तम आचरणीय विषयके उपदेशको ग्रहण करनेकी अभिलाष करता हूं ॥ २९ ॥

ततः प्रीतोऽभवद्राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिने ।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा ॥ ३० ॥

अनन्तर राजा प्रह्लाद ब्रह्मवादीपर प्रसन्न हुए और "ऐसा ही होगा" यह वचन कहके उस शुभक्षणमें उसे ज्ञानका तत्व प्रदान किया ॥ ३० ॥

ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम् ।
चकार सर्वभावेन यद्वत्स मनसेच्छति ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणने भी यथा न्यायसे गुरुके साथ अत्यंत उत्तम भक्तिपूर्ण व्यवहार किया और उनके अन्तःकरणकी रुचिके अनुसार सब तरहसे उनकी सेवा की ॥ ३१ ॥

पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमरिंदम ।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद्ब्रवीहि मे ॥ ३२ ॥

और बारम्बार ब्राह्मणने प्रह्लादसे पूछा, हे अरिदमन ! आपने किस प्रकार तीनों लोकोंके उत्तम राज्यको प्राप्त किया है ? हे धर्मज्ञ ! वह कारण मेरे समीप कहिये ॥ ३२ ॥

प्रह्लाद उवाच

नासूयामि द्विजश्रेष्ठ राजास्मीति कदाचन ।
कव्यानि वदतां तात संयच्छामि वहामि च ॥ ३३ ॥

प्रह्लाद बोले– हे विप्र श्रेष्ठ ! मैं अपनेको राजा समझके कदापि ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता; तात ! इन लोगोंके शुक्राचार्यके बनाये हुए नीतिशास्त्रकी व्याख्या करनेके समय मैं उसे संयमपूर्वक सुनकर धारण किया करता हूं ॥ ३३ ॥

ते विस्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा ।
ते मा कव्यपदे सक्तं शुश्रूषुमनसूयकम् ॥ ३४ ॥

वे लोग विश्वासी होकर मुझे उपदेश देते हुए, मुझे नियमित करते हैं । मैं शुक्राचार्यके कहे हुए नीतिमार्गमें सदा वर्त्तमान रहता हूं, ब्राह्मणोंकी सेवा करता हूं, कभी उन लोगोंकी निन्दा नहीं करता ॥ ३४ ॥

धर्मात्मानं जितक्रोधं संयतं संयतेन्द्रियम् ।
समाचिन्वन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ॥ ३५ ॥

जैसे मधु मक्खियां सदा छत्तेमें मधु इकट्ठा करती हैं, वैसे ही वे उपदेश करनेवाले ब्राह्मण लोग मुझे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और सदा जित क्रोध जानके शास्त्र वचनसे सेचन किया करते हैं ॥ ३५ ॥

सोऽहं वागग्रपिष्टानां रसानामवलेहिता ।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ३६ ॥

मैं वाङ्मय शास्त्रोंके मुख्य विद्यारसको ग्रहण करते हुए, नक्षत्रमण्डलीके बीच स्थित चन्द्रमाकी तरह निज जातिके बीच निवास करता हूं ॥ ३६ ॥

एतत्पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद्ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणके मुखमें जो शुक्राचार्यका नीतिवचन है, उसे सुनकर उसके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त होना ही पृथ्वीके बीच अमृतरूपी और यही उत्तम नेत्रस्वरूप है ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३८ ॥

धृतराष्ट्र बोले— प्रह्लादने उस ब्रह्मवादी ब्राह्मणसे इतनाही श्रेय है, ऐसा ही कहा, और उस समय दैत्यराज उस ब्राह्मणसे पूजित होकर बोले— ॥ ३८ ॥

यथावद्गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदातास्मि न संशयः ॥ ३९ ॥

हे द्विजसत्तम ! तुमने मेरे साथ गुरुकी तरह व्यवहार किया है, उससे मैं प्रसन्न हुआ हूं; तुम्हारा कल्याण हो; तुम वर मांगो, तुम्हें उसे मैं दूंगा; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥३९॥

कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत्प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४० ॥

तब उस ब्राह्मणने दैत्येन्द्रसे कहा, आपने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी; प्रह्लाद और प्रसन्न होकर कोई वर ग्रहण करो ऐसा ही बोले ॥ ४० ॥

ब्राह्मण उवाच—

यदि राजन्प्रसन्नस्त्वं मम चेच्छसि चेद्धितम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण बोला— हे राजन् ! आप यदि प्रसन्न होकर मेरी प्रिय कामना पूर्ण करना चाहते हैं, तो मैं आपका शील प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूं; यही मेरा वर है ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ततः प्रीतश्च दैत्येन्द्रो भयं चास्याभवन्महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजायमित्युत ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र बोले— अनन्तर यह सुनकर दैत्यराज प्रसन्न हुए, परन्तु उन्हें अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ; ब्राह्मणके वर मांगनेपर ये कोई अल्प तेजस्वी नहीं है— ऐसा ही सोचने लगे ॥ ४२ ॥

एवमस्त्विति तं प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४३ ॥

अन्तमें प्रह्लादने विस्मित होकर "ऐसा ही होवे" यह वचन कहा और उस ब्राह्मणको वरदान करके अत्यंत दुःखित हुए ॥ ४३ ॥

दत्ते वरे गते विप्रे चिन्तासीन्महती ततः ।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! वरदानके अनन्तर ब्राह्मणके जानेपर प्रह्लादको बहुत चिन्ता उत्पन्न हुई; वे उस समय कुछ भी निश्चय न कर सके ॥ ४४ ॥

तस्य चिन्तयतस्तात छायाभूतं महाद्युते ।
तेजो विग्रहवत्तात शरीरमजहात्तदा ॥ ४५ ॥

हे तात ! जब वे चिन्ता कर रहे थे, तब तेजोमय छायाभूत मूर्तिमान् महातेजने प्रकट होकर उनके शरीरको परित्याग किया ॥ ४५ ॥

तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति ।
प्रत्याह ननु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥ ४६ ॥

प्रह्लादने उस समय उस महाकायसे पूछा, 'आप कौन हैं ?' वह बोला, 'हे राजन् ! मैं शील हूं, तुमने मुझे परित्याग किया, इससे जाता हूं' ॥ ४६ ॥

तस्मिन्द्विजवरे राजन्वत्स्याम्यहमनिन्दितम् ।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः ।
इत्युक्त्वान्तर्हितं तद्वै शक्रं चान्वविशत्प्रभो ॥ ४७ ॥

राजन् ! जो शिष्य होकर सदा तुम्हारे निकट सावधानीके साथ स्थित थे, मैं उस ही अनिन्दित द्विजवरके शरीरमें वास करूंगा । हे प्रभो ! तेजोमय शील ऐसा कहके अन्तर्द्धान हुआ और इन्द्रके शरीरमें समा गया ॥ ४७ ॥

तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ।
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत् ॥ ४८ ॥

शीलस्वरूप तेजके जानेपर वैसे ही तेजसे युक्त दूसरा प्रह्लादके शरीरसे निकला, तब उन्होंने उससे पूछा– 'आप कौन हैं ?' ॥ ४८ ॥

धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ।
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ॥ ४९ ॥

वह बोला– हे प्रह्लाद ! मैं धर्म हूं; जिस स्थानमें वह द्विज सत्तम है, मैं वहां ही जाऊंगा । हे दैत्यराज ! शील जिस स्थानमें होता है, मैं भी वहां ही रहता हूं ॥ ४९ ॥

+

ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ५० ॥

महाराज ! अनन्तर और एक पुरुष मानो तेजसे प्रज्वलित होकर महात्मा प्रह्लादके शरीरसे बाहर हुआ ॥ ५० ॥

को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ।
सत्यमस्म्यसुरेन्द्राग्र्य यास्येऽहं धर्ममन्विह ॥ ५१ ॥

उन्होंने पूछा ' आप कौन हैं ? प्रह्लादके ऐसा पूछनेपर वह महातेजस्वी बोला– हे असुरेन्द्र ! मैं सत्य हूं। इस समय धर्मका अनुगमन करूंगा ॥ ५१ ॥

तस्मिन्ननुगते धर्मं पुरुषे पुरुषोऽपरः ।
निश्चक्राम ततस्तस्मात्पृष्टश्चाह महात्मना ।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५२ ॥

सत्यने ऐसा कहके धर्मके पीछे गमन किया। फिर दूसरा एक महान् पुरुष प्रह्लादके शरीरसे निकला और वह महाबलवान् पूछे जानेपर बोला– हे प्रह्लाद ! मैं सदाचार हूं; सत्य जहां रहता है, मैं भी वहीं ही रहता हूं ॥ ५२ ॥

तस्मिन्गते महाश्वेतः शरीरात्तस्य निर्ययौ ।
पृष्टश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ।
इत्युक्त्वा च ययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप ॥ ५३ ॥

उसके जानेपर प्रह्लादके शरीरसे महान् प्रकाशमय पुरुष प्रकट हुआ और पूंछनेपर बोला– ' मैं बल हूं। सदाचार जहां होता है, मैं भी वहां ही स्थित रहता हूं। ' हे नरनाथ ! बल ऐसा कहके जहां वृत्त गया था, वहां ही चला गया ॥ ५३ ॥

ततः प्रभामयी देवी शरीरात्तस्य निर्ययौ ।
तामपृच्छत्स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

अनन्तर उनके शरीरसे एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई ! दैत्यराज प्रह्लादके उससे पूछनेपर उसने कहा, मैं लक्ष्मी हूं ॥ ५४ ॥

उषितास्मि सुखं वीर त्वयि सत्यपराक्रमे ।
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं यत्र ततो ह्यहम् ॥ ५५ ॥

हे सत्यपराक्रमी वीर ! मैं स्वयं तुम्हारे शरीरमें सुखसे निवास करती थी, इस समय तुमसे परित्यक्त होनेसे जाती हूं; मैं बलकी अनुगामिनी हुआ करती हूं ॥ ५५ ॥

ततो भयं प्रादुरासीत्प्रह्लादस्य महात्मनः ।
अपृच्छत च तां भूयः क्व यासि कमलालये ॥ ५६ ॥

अनन्तर महानुभाव प्रह्लादके अन्तःकरणमें भय उत्पन्न हुआ। उन्होंने फिर उसे पूछा– हे कमलालये ! तुम कहां जाती हो ? ॥ ५६ ॥

त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी ।
कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५७ ॥

तुमही सत्यव्रत धारिणी लोककी परमेश्वरी देवी हो । वह द्विजवर कौन थे ? इसे मैं यथार्थ रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ ५७ ॥

श्रीरुवाच—

स शक्रो ब्रह्मचारी च यस्त्वया चोपशिक्षितः ।
त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्यं तत्तेनापहृतं प्रभो ॥ ५८ ॥

लक्ष्मी बोली—हे प्रभो ! जिसे तुमने उपदेश दिया था, वे ब्रह्मचारीके रूपमें देवराज इन्द्र थे; तीनों लोकोंमें तुम्हारा जो ऐश्वर्य था, वह उन्हींके जरिये हरण हुआ है ॥ ५८ ॥

शीलेन हि त्वया लोकाः सर्वे धर्मज्ञ निर्जिताः ।
तद्विज्ञाय महेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ५९ ॥

हे धर्मज्ञ ! तुमने शीलके सहारे सब तीनों लोकोंपर जय किया था; प्रभो ! सुरराजने उसे मालूम करके तुम्हारे उस शीलको हरण किया है ॥ ५९ ॥

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं वलं चैव तथा ह्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६० ॥

हे महाबुद्धिमान् ! धर्म, सत्य, सदाचार, वल और मैं—शील ही हम सब लोगोंका मूल है; इस विषयमें सन्देह नहीं है ॥ ६० ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा गता तु श्रीस्ते च सर्वे युधिष्ठिर ।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीदिदम् ॥ ६१ ॥

भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही कहके लक्ष्मी और वे शील आदि सबने इन्द्रके पास गमन किया था । इधर दुर्योधन फिर अपनें पितासे इस प्रकार बोले ॥ ६१ ॥

शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन ।
प्राप्यते च यथा शीलं तमुपायं वदस्व मे ॥ ६२ ॥

हे कौरवनन्दन ! मैं शीलके तत्त्वको जाननेकी इच्छा करता हूं । जिस उपायके जरिये शील प्राप्त हो सकता है, आप वह उपाय मुझसे कहिये ॥ ६२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना ।
संक्षेपतस्तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नराधिप ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वह उपाय पहिलें ही महानुभाव प्रह्लादके द्वारा वर्णित हुआ है । हे जनाधिप ! इस समय शील प्राप्तिके विषयको संक्षेपमें कहता हूं, सुनो ॥ ६३ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

वचन, मन और कर्मसे सब प्राणियोंके विषयमें अनिष्ट आचरण न करना, कृपा प्रकाश करनी और दान देना— यही शील कहलाता है; इसकी सब प्रशंसा करते हैं ॥ ६४ ॥

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन ॥ ६५ ॥

अपना कर्म वा पौरुष जो दूसरेको हितकर न हो और जिससे दूसरेके समीप लज्जित होना पडे, किसी प्रकार भी उसका अनुष्ठान करना उचित नहीं है ॥ ६५ ॥

तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघेत संसदि ।
एतत्छीलं समासेन कथितं कुरुसत्तम ॥ ६६ ॥

जिस कर्मके जरिये सभामें बडाई प्राप्त हो सकती है, सदा वैसा कार्य करना चाहिये । हे कुरुसत्तम ! यही तो मैंने तुमसे संक्षेपमें शीलका विषय कहा ॥ ६६ ॥

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति कचिच्छ्रियम् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च पतन्ति ते ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! तात ! शीलहीन मनुष्य जो कदापि श्रीसे युक्त होते हैं, तौभी वे बहुत समयतक उस श्रीको भोग करनेमें समर्थ नहीं होते हैं और जडमूलसहित नष्ट होते हैं ॥ ६७ ॥

एतद्विदित्वा तत्त्वेन शीलवान्भव पुत्रक ।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥ ६८ ॥

हे पुत्र ! हे तात ! यदि युधिष्ठिरसे भी अधिक ऐश्वर्य लाभ करनेकी इच्छा करते हो, तो इसे यथार्थ रूपसे जानके शीलवान् बनो ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच —

एतत्कथितवान्पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिप ।
एतत्कुरुष्व कौन्तेय ततः प्राप्स्यसि तत्फलम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥ ४३६७ ॥

भीष्म बोले— हे नराधिप कुन्तीनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने निज पुत्र दुर्योधनसे यह उपदेश दिया था । तुम भी ऐसा ही आचरण करो, अवश्य ही इसका फल पाओगे ॥ ६९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौबीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२४ ॥ ४३६७ ॥

: १२५ :

युधिष्ठिर उवाच—

शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
कथमाशा समुत्पन्ना या च सा तद्वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! पुरुषके विषयमें शील ही मुख्य है, वह तो आपने वर्णन किया; परन्तु आशा किस प्रकार उत्पन्न हुई है और वह आशा क्या है ? उसे आप मेरे समीप कहिये ॥ १ ॥

संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह।
छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरंजय ॥ २ ॥

हे पितामह ! इस विषयमें मुझे बहुत ही संशय उत्पन्न हुआ है; हे परपुरञ्जय ! आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस संशयको छुडानेवाला नहीं है ॥ २ ॥

पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने।
प्राप्ते युद्धे तु यद्युक्तं तत्कर्तायमिति प्रभो ॥ ३ ॥

हे पितामह ! युद्ध उपस्थित होनेपर वह उचित कार्य करेगा और विना युद्धके भी दुर्योधन मुझे आधा राज्य प्रदान करेगा, उसके विषयमें मुझे यह वडी आशा थी ॥ ३ ॥

सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युरसंशयम् ॥ ४ ॥

पुरुष मात्रको ही महती आशा उत्पन्न होती है; उस आशाके नष्ट होनेपर दुःखकारी मृत्यु होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम ॥ ५ ॥

हे राजेन्द्र ! उस दुष्टात्मा धार्त्तराष्ट्रने मुझे दुर्बुद्धि और हताश किया है; मेरी मन्दात्मता देखिये ॥ ५ ॥

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात्।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥ ६ ॥

मैं आशाको वृक्षोंसे युक्त पहाडसे भी बहुत वडी समझता हूं; हे राजन् ! आशा आकाशसे भी अप्रमेय है ॥ ६ ॥

एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद्दुर्लभं ततः ॥ ७ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! यह आशा अचिन्तनीय और अत्यंत दुर्लभ है; दुर्लभत्व निवन्धन युक्त दूसरे किसी विषयको भी इससे अधिक दुर्लभ नहीं देखता हूं ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच----

अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत्।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च ॥ ८॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर! इस विषयमें मैं तुम्हारे समीप सुमित्र और ऋषभके सम्वाद युक्त पूर्वघटित इतिहासको वर्णन करता हूं, सुनो ॥ ८॥

सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः।
ससार स मृगं विद्ध्वा बाणेन नतपर्वणा ॥ ९॥

हैहयवंशीय राजर्षि सुमित्र मृगयाके वास्ते वनमें जाके नतपर्व बाणसे मृगको विद्ध करके उसका पीछा कर रहे थे ॥ ९॥

स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः।
स च राजा बली तूर्णं ससार मृगमन्तिकात् ॥ १०॥

अत्यन्त विक्रमसे युक्त वह मृग राजाके बाणके साथही भागने लगा; बलवान् राजाने भी शीघ्रताके सहित उस मृगका पाससे पीछा किया ॥ १०॥

ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः।
मुहूर्तमेव राजेन्द्र समेन स पथागमत् ॥ ११॥

हे राजेन्द्र! अनन्तर वह शीघ्रगामी मृग नीची भूमिकी ओर दौडा; फिर मूहूर्त्त भरमें वह समतल मार्गमें दौडने लगा ॥ ११॥

ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च।
ससार बाणासनभृत्सखड्गो हंसवत्तदा ॥ १२॥

अन्तमें वह तनुत्राणसे युक्त नौजवान और हार्दिक बलसे सम्पन्न राजा धनुष चलाता और तलवार ग्रहण करके हंसके समान उसका पीछा करने लगे ॥ १२॥

तीर्त्वा नदान्नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैव वने चरन् ॥ १३॥

वह वनमें विचरनेवाला मृग अकेलाही नद, नदी, गड्ढे और वनोंको वारंवार अतिक्रम करता हुआ आगे भागता था ॥ १३॥

स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम्।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥ १४॥

राजन्! वह वेगवान् मृग अपनी इच्छासे ही राजाके समीप आकर पुनः अत्यंत वेगसे भागता था ॥ १४॥

स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १५॥

राजेन्द्र! राजाके अनेक बाण उसके शरीरमें धंसे थे, तो भी वह वनचारी मृग खेल करता हुआसा फिर उनके पास आ जाता था ॥ १५॥

पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः ।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! वह मृग समूहोंका पति अत्यंत वेगवान् था; बार बार बडे वेगसे अतिक्रम करके फिर उनके निकट आता था ॥ १६ ॥

तस्य मर्मच्छिदं घोरं सुमित्राऽमित्रकर्शनः ।
समादाय शरश्रेष्ठं कार्मुकान्निरवासृजत् ॥ १७ ॥

अनन्तर शत्रुनाशन सुमित्र राजाने उसके मर्मको छेदनेवाला भयंकर श्रेष्ठ बाण ग्रहण करके धनुषपर चढाया ॥ १७ ॥

ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः ।
तस्य बाणपथं त्यक्त्वा तस्थिवान्प्रहसन्निव ॥ १८ ॥

अनन्तर मृगयूथपति मानो हंसी करते हुए बाणके मार्गको परित्याग करके दो कोसकी दूरीपर स्थित हुआ ॥ १८ ॥

तस्मिन्निपतिते बाणे भूमौ प्रज्वलिते ततः ।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥

जलता हुआ तेजसे युक्त वह बाण पृथ्वीपर गिरा; मृगने महावनके बीच प्रवेश किया; राजा भी उसके पीछे दौडे ॥ १९ ॥

प्रविश्य तु महारण्यं तापसानामथाश्रमम् ।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत्पुनः ॥ २० ॥

अनन्तर राजा महावनमें प्रवेश करके तपस्वियोंके आश्रम पर उपस्थित हुए और थकके उस समय वहां बैठ गये ॥ २० ॥

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा ।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन्पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ २१ ॥

ऋषियोंने उस धनुर्द्धारी राजाको परिश्रमसे पीडित और भूखसे व्याकूल देखके सबने उस स्थानपर इकठे होकर यथारीति उनका सत्कार किया ॥ २१ ॥

ऋषयो राजशार्दूलमपृच्छन्स्वं प्रयोजनम् ।
केन भद्रमुखार्थेन संप्राप्तोऽसि तपोवनम् ॥ २२ ॥

तपोधन ऋषि लोगोंने उन राजश्रेष्ठसे उनके वहां आगमनका प्रयोजन पूछा। हे राजन्! आप कौनसे उत्तम सुखके वास्ते इस तपोवनमें आये हैं? ॥ २२ ॥

पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर ।
एतदिच्छाम विज्ञातुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद ।
कस्मिन्कुले तु जातस्त्वं किं नामासि ब्रवीहि नः ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! आप तलवार और धनुषबाण धारण करके पैदलही चले आये हैं। हे मानद ! आपने किस स्थानसे आगमन किया है ? हम लोग यह सुननेकी इच्छा करते हैं। आप किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं और आपका क्या नाम है, वह सब हम लोगोंके निकट वर्णन करिये ॥ २३ ॥

ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ ।
आचख्यौ तद्यथान्यायं परिचर्यां च भारत ॥ २४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ भरतवंशावतंस ! अनन्तर राजाने सब ब्राह्मणोंको यथारीतिसे सब वृत्तान्त और परिचर्या भी कही ॥ २४ ॥

हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः ।
चरामि मृगयूथानि निघ्नन्बाणैः सहस्रशः ।
बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः ॥ २५ ॥

मैं हैहयवंशमें उत्पन्न हुआ हूं; मैं मित्रोंके आनन्दको बढानेवाला सुमित्र नामसे प्रसिद्ध हूं और सहस्रों बाणोंसे मृग समूहोंको मारता हुआ विचर रहा हूं। मैं विपुल सेनासे रक्षित और मंत्री तथा अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंके साथ आया हूं ॥ २५ ॥

मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान् ।
तं द्रवन्तमनु प्राप्तो वनमेतद्यदृच्छया ।
भवत्सकाशे नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः ॥ २६ ॥

कोई मृग मेरे बाणोंसे विद्ध होकर शल्यके सहित दौड रहा है; मैं उस ही दौडते हुए मृगका पीछा करते हुए दैव इच्छासे इस वनमें उपस्थित हुआ हूं। इस समय श्रीरहित, निराश और परिश्रमसे थक कर आप लोगोंके समीप आया हूं ॥ २६ ॥

किं नु दुःखमतोऽन्यद्वै यदहं श्रमकर्शितः ।
भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो नष्टलक्षणः ॥ २७ ॥

मैं परिश्रमसे कातर, निराश और राजचिन्होंसे नष्ट लक्षण होकर आप लोगोंके आश्रममें आया हूं, इससे बढके मुझे और दूसरा दुःख क्या हो सकता है ? ॥ २७ ॥

न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः ।
दुःखं करोति तत्तीव्रं यथाशा विहता मम ॥ २८ ॥

हे तपस्वी लोगो ! मेरी मृग–विषयक आशा नष्ट होनेसे जैसा तीव्र दुःख हुआ है, राजचिह्नोंका त्यागना और नगरको छोडना वैसा तीव्र दुःखदायक नहीं है ॥ २८ ॥

हिमवान्वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः ।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां रोदस्योरन्तरं यथा
आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः ॥ २९ ॥

अत्यन्त ऊंचा महा पर्वत हिमालय, बहुत बडे महोदधि समुद्र और पृथ्वी– आकाशकी अन्तराल महत्वके अनुसार आशाके समान नहीं हो सकते। हे तापस वृन्द ! इसलिये मैं आशाका अन्त भी नहीं देखता हूं ॥ २९ ॥

भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः ।
भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात्प्रक्ष्यामि संशयम् ॥ ३० ॥

आप लोग सर्वज्ञ और तपस्यासे भरे हैं; सब आप लोगोंको विदित है; आप महा भाग्यशाली तपस्वी हैं; इसही कारण आप लोगोंसे संशयका विषय पूछता हूं ॥ ३० ॥

आशावान्पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा ।
किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्वात्प्रतिभाति वः ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम् ॥ ३१ ॥

आशावान् पुरुष और आकाश इन दोनोंके बीच महत्वमें आप लोगोंको इस जगत्में कौन श्रेष्ठ मालूम होता है ? मैं तत्वपूर्ण दृष्टिसे यही सुननेकी अभिलाष करता हूं; इस आश्रममें आकर कौनसी वस्तु दुर्लभ है ? ॥ ३१ ॥

यदि गुह्यं तपोनित्या न वो ब्रूतेह माचिरम् ।
न हि गुह्यमतः श्रोतुमिच्छामि द्विजपुंगवाः ॥ ३२ ॥

यह विषय यदि आप लोगोंके समीप गोपनीय न हो, तो शीघ्र ही मुझे कहिये। हे द्विजसत्तम वृन्द ! आप लोगोंके गोपनीय विषयको सुननेकी इच्छा नहीं करता हूं ॥ ३२ ॥

भवत्तपोविघातो वा येन स्याद्विरमे ततः ।
यदि वास्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः ॥ ३३ ॥

मेरे प्रश्नसे आपकी तपस्यामें विघ्न पडता हो तो मैं इससे विराम लेता हूं; मैंने जो प्रश्न किया है, कथाके प्रसङ्गसे यदि आपके पास समय होवे, तो वर्णन कीजिये ॥ ३३ ॥

एतत्कारणसामग्र्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
भवन्तो हि तपोनित्या ब्रूयुरेतत्समाहिताः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥ ४४०१ ॥

आशाके कारण पूर्ण रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं; आप लोग ही सदा तपस्यामें रत रहते हैं, इससे सब कोई मिलकर इस विषयको वर्णन कीजिये ॥ ३४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पचीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२५ ॥ ४४०१ ॥

+

: १२६ :

भीष्म उवाच—

ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः ।
ऋषभो नाम विप्रर्षिः स्मयन्निव ततोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर उन सब ऋषियोंके बीच ऋषि सत्तम ऋषभ नामक विप्रर्षि हंसते हुएसे यह वचन बोले— ॥ १ ॥

पुराहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन्प्रभो ।
समासादितवान्दिव्यं नरनारायणाश्रमम् ॥ २ ॥

हे प्रभु नृपवर ! पहिले समयमें मैं सब तीर्थोंमें घुमता हुआ, नर नारायणके दिव्य आश्रममें उपस्थित हुआ था ॥ २ ॥

यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा ।
यत्र चाश्वशिरा राजन्वेदान्पठति शाश्वतान् ॥ ३ ॥

राजन् ! जिस स्थानमें वहरमणीय वदरीका वृक्ष और आकाश गङ्गाका वैहायस ह्रद विद्यमान है, और वे अश्वशिरा (हयग्रीव) सनातन वेदोंका पाठ करते हैं; ॥ ३ ॥

तस्मिन्सरसि कृत्वाहं विधिवत्तर्पणं पुरा ।
पितृणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा ॥ ४ ॥

पहिले मैं उस ही तालावमें पितर और देवताओंका विधिपूर्वक तर्पण करके उस ही समय आश्रममें उपस्थित हुआ ॥ ४ ॥

रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी ।
अदूरादाश्रमं कश्चिद्वासार्थमगमं ततः ॥ ५ ॥

जिस स्थानमें वे नर और नारायण ऋषि सदा आनन्दमें निवास करते हैं; उनके निकटमें ही बास करनेके लिये किसी दूसरे आश्रममें मैंने गमन किया ॥ ५ ॥

ततश्चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च ।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोनिधिम् ॥ ६ ॥

वहां सदा मृगछालाको धारण करनेवाले तनु नामक तपोनिधि ऋषिको आते देखा । उनका शरीर बहुत ऊंचा और दुर्वल था; ॥ ६ ॥

अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम् ।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥ ७ ॥

हे महाबाहो ! उनका शरीर दूसरे मनुष्योंसे आठगुना लंबा था; हे राजर्षे ! उनकी जैसी कृशता थी, वैसी कृशता कहीं भी मैंने नहीं देखी है ॥ ७ ॥

शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम् ।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! उनका शरीर कनिष्ठिका अंगुलीके समान पतला था; उनकी गर्दन, दोनों भुजाएं, दोनों पैर और सब केश देखनेमें अद्भुत थे; ॥ ८ ॥

शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च ।
तस्य वाक्चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥

शरीरके अनुरूप ही सिर था; दोनों कान और दोनों नेत्र भी उसके समान ही थे। हे राजसत्तम ! उनका वचन और चेष्टा सामान्य थी; ॥ ९ ॥

दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः ।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥ १० ॥

मैं उस कृश विप्रको देखके अत्यन्त डरा और मन ही मन दुःखित हुआ। अनन्तर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोडके उनके सम्मुख खडा रहा ॥ १० ॥

निवेद्य नाम गोत्रं च पितरं च नरर्षभ ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥ ११ ॥

हे राजन् ! नाम, गोत्र और पिताका नाम कहके उनके दिये हुए आसन पर जाके धीरे धीरे बैठ गया ॥ ११ ॥

ततः स कथयामास कथा धर्मार्थसंहिताः ।
ऋषिमध्ये महाराज तत्र धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! अनन्तर उस धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षि तनुने ऋषियोंके बीच धर्म और अर्थ युक्त कथा कहनी आरंभ की ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः ।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः ॥ १३ ॥

वह जब धर्मयुक्त कथा कहने लगे, तब कमलके समान नेत्रोंवाले कोई राजा सेना और अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंके सहित वेगवान घोडोंके जरिये वहां पर उपस्थित हुआ ॥ १३ ॥

स्मरन्पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः ।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान्रघुश्रेष्ठो महायशाः ॥ १४ ॥

वनके बीच उनका पुत्र खोया गया था; उसे स्मरण करके वे अत्यन्त दुःखित होते थे; पहिले समयमें भूरिद्युम्नके पिता महायशस्वी श्रीमान् रघुश्रेष्ठ राजा थे ॥ १४ ॥

इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः ।
एवमाशाकृतो राजंश्चरन्वनमिदं पुरा ॥ १५ ॥

इस ही स्थानमें उस पुत्रको देखूंगा, यहो वह निश्चयही दिखायी देगा, ऐसा ही आशासे युक्त होकर उस वनमें वे पहले समयमें विचरते थे ॥ १५ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः ।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत्तदा ॥ १६ ॥

उस परम धार्मिक पुत्रका दर्शन होना मेरे लिये दुर्लभ है; अकेला पुत्र महावनके बीच खोया गया; उस समय बारम्बार ऐसा ही वचन वे कहते थे ॥ १६ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम ।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

" मुझे उसका दर्शन होना दुर्लभ है, परन्तु उसे देखनेके वास्ते मुझे बडी ही आशा लगी हुई है; उस ही आशासे मेरा सब शरीर परिपूरित होनेसे मैं मरनेकी अभिलाष करता हूं; इसमें सन्देह नहीं है " १७ ॥

एतच्छ्रुत्वा स भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः ।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥

मुनिश्रेष्ठ भगवान् तनु राजाका ऐसा वचन सुनके नीचे सिर किये ध्यानपरायण होके मुहूर्त भर स्थित रहे ॥ १८ ॥

तमनुध्यान्तमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः ।
उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दं मन्दमिवासकृत् ॥ १९ ॥

राजा उन्हें चिंतन करते देख, अत्यन्त दुःखित हुआ और दीनताके सहित वार वार मन्द स्वरसे बोला ॥ १९ ॥

दुर्लभं किं नु विप्रर्षे आशायाश्चैव किं भवेत् ।
ब्रवीतु भगवानेतद्यदि गुह्यं न तन्मयि ॥ २० ॥

हे विप्रर्षि ! दुर्लभ क्या है और आशासे बृहत् क्या है ? यदि यह मेरे समीप गोपनीय न हो, तो, हे भगवन् ! इसे वर्णन कीजिये ॥ २० ॥

महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद्विमानितः ।
बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयात्मनः ॥ २१ ॥

पहिले तुम्हारे उस पुत्रने बालिश बुद्धिका आश्रय लेकर और निज मन्दभाग्यताके कारण एक पूजनीय महर्षिका अपमान किया था ॥ २१ ॥

अर्थयन्कलशं राजन्काञ्चनं वल्कलानि च ।
निर्विण्णः स तु विप्रर्षिर्निराशः समपद्यत ॥ २२ ॥

हे राजन् ! महर्षिने एक सोनेका कलश और वल्कल मांगा था, वे न मिलनेके कारण वह विप्रर्षि अत्यंत दुःखित और निराश हुए थे ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वाभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम् ।
श्रान्तो न्यषीदद्धर्मात्मा यथा त्वं नरसत्तम ॥ २३ ॥

हे नरसत्तम ! उनके ऐसा कहनेपर वह धर्मात्मा राजा इसी प्रकार निराश होकर उस लोक-पूजित ऋषिको प्रणाम करके तुम्हारी भांति श्रान्त और अवसन्न हुए थे ॥ २३ ॥

अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महानृषिः ।
आरण्यकेन विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ २४ ॥

अनन्तर महर्षिने पाद्य और अर्घ्य लेकर अरण्य विधिके अनुसार राजाको वह सब निवेदन किया ॥ २४ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम् ।
उपाविशन्पुरस्कृत्य सप्तर्षय इव ध्रुवम् ॥ २५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! अनन्तर जैसे सप्तऋषि लोग ध्रुवको घेरते हैं, वैसे ही सब मुनि लोग उस राजाको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २५ ॥

अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम् ।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य प्रवेशनम् ॥ २६ ॥

और उन लोगोंने उस अपराजित राजाके आश्रममें आनेका सब प्रयोजन पूछा ॥ २६ ॥

राजोवाच—

वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाहं दिक्षु विश्रुतः ।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः ॥ २७ ॥

राजा बोला— मैं वीरद्युम्न नामसे विख्यात राजा चारों ओर प्रसिद्ध हूं; मेरा पुत्र भूरिद्युम्न नष्ट हुआ है, उसे खोजनेके वास्ते मैं इस वनमें आया हूं ॥ २७ ॥

एकपुत्रः स विप्राग्र्य बाल एव च सोऽनघ ।
न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चराम्यहम् ॥ २८ ॥

हे पापरहित विप्रवर ! मेरे वही एक मात्र पुत्र है; इसपर भी वह बालक है; उसे इस वनमें न देखके उसीको खोजनेके लिये मैं चारों ओर घूम रहा हूं ॥ २८ ॥

ऋषभ उवाच—

एवमुक्ते तु वचने राज्ञा मुनिरधोमुखः ।
तूष्णीमेवाभवत्तत्र न च प्रत्युक्तवान्नृपम् ॥ २९ ॥

ऋषभ बोले— जब राजाने ऐसा कहा, तब उस समय मुनि अधोवदन होकर चुप होरहे; राजाको कुछ भी उत्तर न दिया ॥ २९ ॥

स हि तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः ।
आशाकृशं च राजेन्द्र तपो दीर्घं समास्थितः ॥ ३० ॥

पहिले समयमें उस राजाने उन ऋषिका विशेष सम्मान नहीं किया था; हे राजेन्द्र ! उन्होंने आशा भंग होनेके निमित्त बहुत तपस्या की थी ॥ ३० ॥

प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथंचन ।
अन्येषां चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा ॥ ३१ ॥

मैं किसी प्रकारसे राजाके निकट प्रतिग्रह तथा दूसरे किसी वर्णका दान नहीं ग्रहण करूंगा; उस समय ऐसी ही बुद्धि अवलम्बन करके वे स्थित थे ॥ ३१ ॥

आशा हि पुरुषं बालं लालापयति तस्थुषी ।
तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः ॥ ३२ ॥

आशा ही स्थिर होकर पुरुषको तथा बालक– अज्ञको भी उद्योगशाली करती है; इससे मैं उस आशाको दूर करूंगा, मन ही मन ऐसा ही निश्चय करके वे मुनि स्थिर हो गये थे ॥ ३२ ॥

राजोवाच–

आशायाः किं कृशत्वं च किं चेह भुवि दुर्लभम् ।
ब्रवीतु भगवानेतत्त्वं हि धर्मार्थदर्शिवान् ॥ ३३ ॥

राजा बोला– आशाकी कृशता क्या है ?–आशासे बढकर दुर्बलता क्या है ? इस पृथ्वीमण्डलके बीच दुर्लभ क्या है ? आप इसे ही वर्णन करिये; क्यों कि आप धर्म और अर्थके ज्ञाता है ॥ ३३ ॥

ऋषभ उवाच–

ततः संस्मृत्य तत्सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत् ।
राजानं भगवान्विप्रस्ततः कृशतनुस्तनुः ॥ ३४ ॥

ऋषभ बोले– अनन्तर दुर्बल शरीरवाले भगवान् ब्राह्मणश्रेष्ठ तनु पहिले वृत्तान्तको स्मरण करके उसे मानो राजाको स्मरण करानेके लिये कहने लगे ॥ ३४ ॥

कृशत्वे न समं राजन्नाशाया विद्यते नृप ।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! आशायुक्त पुरुषके समान दूसरा कोई दुर्बल नहीं है; आशाग्रस्त विषयका दुर्लभत्व देखकर ही मैंने राजाओंके निकट याचना की थी ॥ ३५ ॥

राजोवाच–

कृशाकृशे मया ब्रह्मन्गृहीते वचनात्तव ।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ ३६ ॥

राजा बोला– हे ब्रह्मन् ! आपके वचनके अनुसार मैंने जान लिया कि जो आशायुक्त है वह दुर्बल है और जिसने आशाको जीत लिया, वह पुष्ट है । हे द्विज ! जिस वस्तुकी आशा की जाती है, वह अत्यंत दुर्लभ होती है, इस आपकी बातको मैंने वेदवचनके समान ग्रहण किया ॥ ३६ ॥

संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम ।
तन्मे सत्तम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ३७ ॥

हे महाबुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ ! मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है, इससे मैं उस संशयके विषयको पूछता हूं, आप विधिपूर्वक कहिये ॥ ३७ ॥

त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम् ।
यदि गुह्यं न ते विप्र लोकेऽस्मिन्किं नु दुर्लभम् ॥ ३८ ॥

हे मुनिसत्तम ! यदि गोपनीय न हो, तो अपनेसे भी बढकर दुबलापन क्या है ? तथा निश्चित दुर्लभ क्या है ? हे भगवन् ! इसे ही मेरे निकटमें प्रकट करिये ॥ ३८ ॥

कृशतनुरुवाच—

दुर्लभोऽप्यथ वा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात् ।
सुदुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते ॥ ३९ ॥

कृशतनु बोले–हे तात ! याचक होके धैर्य धारण कर–किसीसे याचना न करके–सन्तुष्ट हुआ करे, ऐसा पुरुष दुर्लभ है, अथवा नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है; और याचना करनेवाले याचकको अवहेलना न करे, ऐसा पुरुष अत्यंत ही दुर्लभ है ॥ ३९ ॥

संश्रुत्य नोपक्रियते परं शक्त्या यथार्हतः ।
सक्ता या सर्वभूतेषु साशा कृशतरी मया ॥ ४० ॥

शक्ति रहते भी सत्कार करके याचकको वचन दिलाकर भी दूसरेका उपकार न करना उस स्थितिमें जो आशा सब प्राणिओंमें आसक्त हो रही है, मैंने उस आशाको बहुत कृश किया है ॥ ४० ॥

एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषिते तथा ।
प्रवृत्तिं यो न जानाति साशा कृशतरी मया ॥ ४१ ॥

एक मात्र पुत्रका पिता पुत्र खो जाने वा परदेशमें चले जानेपर उसका हाल जो नहीं जानता, तब उसके मनमें जो आशा रहती है, वह आशा मुझसे भी इकबारगी कृश है ॥ ४१ ॥

प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता ।
तथा नरेन्द्र धनिनामाशा कृशतरी मया ॥ ४२ ॥

हे नरनाथ ! हे नरेन्द्र ! वृद्ध आयुवाली स्त्रियोंके हृदयमें जो पुत्र पैदा होनेके लिये आशा होती है और धनियोंके मनमें जो अधिक धनकी आशा रहती है, वह मुझसे अत्यन्त कृश है ॥ ४२ ॥

ऋषभ उवाच—

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन्स राजा सावरोधनः ।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभे ॥ ४३ ॥

ऋषभ बोले–हे राजन् ! अनन्तर यह सब कथा सुनके राजा अपनी पत्नीके सहित उस द्विजवरके चरणोंको मस्तकसे स्पर्श करके वहीं गिर पडे ॥ ४३ ॥

राजोवाच—

प्रसादये त्वां भगवन्पुत्रेणेणच्छामि संगतिम् ।
वृणीष्व च वरं विप्र यमिच्छसि यथाविधि ॥ ४४ ॥

राजा बोले– हे भगवन् ! मैं आपके अनुग्रहकी इच्छा करता हूं, मैं निज पुत्रके साथ मिलनेकी अभिलाष करता हूं। हे द्विजसत्तम ! इस समय आप यथाविधि जिस वरको देनेकी इच्छा करते हो वह दीजिए ॥ ४४ ॥

ऋषभ उवाच—

अब्रवीच हि तं वाक्यं राजा राजीवलोचनः ।
सत्यमेतद्यथा विप्र त्वयोक्तं नास्त्यतो मृषा ॥ ४५ ॥

ऋषभ बोले– अनन्तर राजीवलोचन राजा उनसे इस प्रकार बोले– हे विप्रवर ! आपने जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है, कुछ भी मिथ्या नहीं है ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः ।
पुत्रमस्यानयत्क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च ॥ ४६ ॥

तब धार्मिक प्रवर भगवान् तनुने हंसकर अपना तप और विद्याबलके प्रभावसे उस राजपुत्रको शीघ्र लाके उपस्थित किया ॥ ४६ ॥

तं समानाय्य पुत्रं तु तदोपालभ्य पार्थिवम् ।
आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतां वरः ॥ ४७ ॥

उन्होंने राजपुत्रको वहां लाके राजाका तिरस्कार करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मुनिने आप ही जो धर्मस्वरूप थे, उसे दिखाया; ॥ ४७ ॥

संदर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।
विपाप्मा विगतक्रोधश्चचार वनमन्तिकात् ॥ ४८ ॥

दिव्य और अद्भुतदर्शनने अपने स्वरूपका दर्शन कराकर पापरहित और क्रोधहीन तब मुनि निकटके वनमें चले गये ॥ ४८ ॥

एतद्दृष्टं मया राजंस्ततश्च वचनं श्रुतम् ।
आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम् ॥ ४९ ॥

हे राजन् ! मैंने यह सब स्वयं देखा था, और मुनिकी वही सब वचन सुना था; इसलिये तुम भी शरीरको अत्यन्त कृश बनानेवाली इस आशाको शीघ्र ही त्याग दो ॥ ४९ ॥

भीष्म उवाच—

स तत्रोक्तो महाराज ऋषभेण महात्मना ।
सुमित्रोऽपनयत्क्षिप्रमाशां कृशतरीं तदा ॥ ५० ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! उस समय राजा सुमित्रने महात्मा ऋषभका ऐसा वचन सुनके शीघ्र ही शरीरको अत्यंत दुर्बल बनानेवाली आशाका परित्याग किया ॥ ५० ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम ।
स्थिरो भव यथा राजन्हिमवानचलोत्तमः ॥ ५१ ॥

हे कुन्तीपुत्र राजन् ! तुम भी मेरा यह वचन सुनके आशाका त्याग करो और पर्वत श्रेष्ठ हिमवान्की तरह स्थिर हो जाओ ॥ ५१ ॥

त्वं हि द्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वर्थकृतेष्विह ।
श्रुत्वा मम महाराज न संतप्तुमिहार्हसि ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥ ४४५३ ॥

हे महाराज ! तुम द्रष्टा और श्रोता हो, इससे मेरा मत सुनके आपत्काल उपस्थित होनेपर भी सन्ताप भाजन न होना ॥ ५२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२६ ॥ ४४५३ ॥

: १२७ :

युधिष्ठिर उवाच —

नामृतस्येव पर्याप्तिर्ममास्ति ब्रुवति त्वयि ।
तस्मात्कथय भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! आप जब धर्मकथा कहते हैं तब मैं जैसे अमृतको पीनेसे इच्छा पूर्ण नहीं होती, और पीनेकी इच्छा बढती है, वैसेही मेरा मन तृप्त नहीं होता; हे पितामह ! इससे आप फिर धर्मकी ही कथा कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य च संवादं यमस्य च महात्मनः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— इस विषयमें पुराने लोग महानुभाव यम और गौतमके सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं ॥ २ ॥

पारियात्रगिरिं प्राप्य गोतमस्याश्रमो महान् ।
उवास गौतमो यत्र कालं तदपि मे शृणु ॥ ३ ॥

पारियात्र पर्वतपर गौतमका अत्यन्त बडा आश्रम था, गौतमने उस आश्रममें जबतक वास किया था, वह भी मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि सोऽतप्यद्गौतमस्तपः ।
तमुग्रतपसं युक्तं तपसा भावितं मुनिम् ॥ ४ ॥

गौतमने उस आश्रममें साठ हजार वर्ष तक तपस्या की थी । हे राजन् ! उस उग्र तपस्यामे युक्त तथा तपस्यासे पवित्र महात्मा मुनिके पास ॥ ४ ॥

उपयातो नरव्याघ्र लोकपालो यमस्तदा ।
तमपश्यत्सुतपसमृषिं वै गौतमं मुनिम् ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! लोकपाल यमने गमन किया और उस समय वहां अत्यन्त कठोर तपस्वी गौतम ऋषिको देखा ॥ ५ ॥

स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यमभागतमोजसा ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपसृप्तस्तपोधनः ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षि तपस्वी गौतमने तेजसे प्रभावशाली यमको उनके तेजसे ही वहां आये हुए जानकर वे हाथ जोडके नियत हो उठ खडे उनके पास गये ॥ ६ ॥

तं धर्मराजो दृष्ट्वैव नमस्कृत्य नरर्षभम् ।
न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ॥ ७ ॥

धर्मराजने उन नरवरको देखते ही धर्मके अनुसार उनका सत्कार करके उनसे पूछा, " मैं तुम्हारा क्या करूं ? " कहकर उन्हें धर्मचर्चा सुननेके लिये आमन्त्रित किया ॥ ७ ॥

गौतम उवाच—

मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात् ।
कथं च लोकानश्नाति पुरुषो दुर्लभाञ्शुभान् ॥ ८ ॥

गौतम बोले— क्या करनेसे मनुष्य माता पितासे अऋण होता है और किस प्रकार पवित्र तथा दुर्लभ लोगोंको प्राप्त करता है ? ॥ ८ ॥

यम उवाच—

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च ।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ ९ ॥

यम बोले— तपस्या और पवित्र आचार युक्त तथा नियम और सत्य धर्ममें रत रहकर मनुष्यको सदा पिता माताकी सेवा–पूजा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
तेन लोकानुपाश्नाति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान् ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥ ४४६३ ॥

और बहुतसी दक्षिणासे युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञ करनेसे पुरुष अद्भुत दर्शनोंसे युक्त पुण्य लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२७ ॥ ४४६३ ॥

---

§ १२८ §

युधिष्ठिर उवाच--

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः ।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले-- हे भारत ! जो राजा मित्रोंसे परित्यक्त हुआ है; जिसके बहुतसे शत्रु हुए हैं, और जो कोषहीन तथा बलहीन हुआ है; उसके वास्ते क्या उपाय है ? ॥ १ ॥

दुष्टामात्यसहायस्य स्रुतमन्त्रस्य सर्वतः ।
राज्यात्प्रच्यवमानस्य गतिमन्यामपश्यतः ॥ २ ॥

दुष्ट मन्त्री जिसका सहायक हुआ है, जिसकी मन्त्रणा सब तरहसे निष्फल हुई है, राज्यसे जो भ्रष्ट होता है और जो अपनी उन्नतिके उत्तम उपायको देखनेमें असमर्थ है; उसके लिये क्या कर्तव्य है ? ॥ २ ॥

परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा ।
असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः ॥ ३ ॥

जो शत्रु राज्यपर आक्रमण करनेके वास्ते उद्यत, बलवान् शत्रुकी अपेक्षा अत्यंत दुर्बल, जो राजा पूर्ण रीतिसे अपने राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता; जो देश और कालके अनुसार कार्य करनेमें अज्ञ है, उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ३ ॥

अप्राप्यं च भवेत्सान्त्वं भेदो वाप्यतिपीडनात् ।
जीवितं चार्थहेतोर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥

अत्यन्त पीडन निबन्धनसे दूसरोंके सेवक आदिकोंका भेद और सामवाद जिसे अप्राप्य होता है; उसका क्या उपाय है ? वह जीवनकी रक्षा करे या धनके साधनकी ? उसके लिये कौनसा कार्य कल्याणकारी है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच--

गुह्यं मा धर्ममप्राक्षीरतीव भरतर्षभ ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेनं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्म बोले-- हे भरत श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने अत्यन्त गुप्त विषय पूछा है; तुम्हारे न पूछने पर मैं इस संकट कालीन धर्म विषयके कहनेका उत्साह न करता ॥ ५ ॥

धर्मो ह्यणीयान्वचनाद्बुद्धेश्च भरतर्षभ ।
श्रुत्वोपास्य सदाचारैः साधुर्भवति स क्वचित् ॥ ६ ॥

हे भरतप्रवर ! धर्मका विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, शास्त्र सुननेके कारण उसका ज्ञान हुआ करता है; धर्म सुनने और उत्तम आचार निबन्धनसे कदाचित कोई पुरुष सदाचारके जरिये साधु होता है ॥ ६ ॥

कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुनः ।
तादृशोऽयमनुप्रश्नः स व्यवस्यस्त्वया धिया ॥ ७ ॥

बुद्धियुक्त कर्मसे मनुष्य धनवान् हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता; तुम्हें ही इसपर स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार करके निश्चय करना चाहिये ॥ ७ ॥

उपायं धर्मबहुलं यात्रार्थं शृणु भारत ।
नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणात् ।
दुःखादान इहाढ्येषु स्यात्तु पश्चात्क्षमो मतः ॥ ८ ॥

हे भारत! संकटके समय राजाओंको व्यवहार निबाहनेके तथा स्वयंकी रक्षाके वास्ते धर्मकी अधिकतावाले उपाय हैं, सुनो। मैं धर्मके निमित्त इस प्रकार धर्म प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं करता। आपत्तिके समय प्रजाको दुःख देके जो धन धनवानोंसे प्राप्त किया जाता है, वह पीछे युक्त माना जाता है ॥ ८ ॥

अनुगम्य गतीनां च सर्वासामेव निश्चयम् ।
यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ९ ॥

पवित्र बुद्धिवाले मनुष्यों वा प्रजासमूहका ऐसा ही निश्चय है। पुरुष प्रति दिन जैसे शास्त्रोंका अध्ययन करना है, वैसा ही विज्ञान लाभ करके उसमें अनुरक्त हुआ करता है ॥ ९ ॥

अविज्ञानादयोगश्च पुरुषस्योपजायते ।
अविज्ञानादयोगोहि योगो भूतिकरः पुनः ॥ १० ॥

अज्ञानके कारण संकट समयमें मनुष्यको उपाय नहीं सूझता; परंतु अज्ञानताके कारण ही वह अयोग फिर वह उपाय ही समृद्धिका श्रेष्ठ साधन होता है ॥ १० ॥

अशङ्कमानो वचनमनसूयुरिदं शृणु ।
राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥ ११ ॥

तुम अशङ्कित और असूया रहित होकर मेरा यह वचन सुनो। राजाका कोष नष्ट होनेसे ही उसके बलका नाश हुआ करता है ॥ ११ ॥

कोशं संजनयेद्राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ।
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मोऽत्र सांप्रतम् ॥ १२ ॥

निर्जल स्थलमें खोदकर जल उत्पन्न करनेकी तरह राजा संकटकालमें निर्धन प्रजासे भी कोष सञ्चय करे। फिर समयके अनुसार राजा पूर्व पीडित प्रजाके ऊपर उस धनसे कृपा करे; सांप्रत यही धर्म है ॥ १२ ॥

उपायधर्मं प्राप्यैनं पूर्वैराचरितं जनैः ।
अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यश्च भारत ॥ १३ ॥

पहलेके राजाओंने इस उपाय धर्मको पाकर इसका आचरण किया था; हे भारत ! समर्थ मनुष्योंका धर्म दूसरा है और आपदग्रस्त मनुष्योंका धर्म स्वतन्त्र होता है ॥ १३ ॥

प्राक्कोशः प्रोच्यते धर्मो बुद्धिर्धर्माद्गरीयसी ।
धर्मं प्राप्य न्यायवृत्तिमबलीयान्न विन्दति ॥ १४ ॥

पहले कोष सञ्चय करना धर्म कहा जाता है; धर्मसे भी बुद्धियुक्त जीवन गुरुतर है । निर्बल पुरुष धर्मको पाकर भी न्याययुक्त जीविका अवलम्बन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

यस्माद्धनस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते ।
तस्मादापद्यधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः ॥ १५ ॥

धर्मका पालन करनेपर भी बलकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी, ऐसा नियम नहीं है; इससे सुना गया है, आपदकालमें अधर्म भी धर्म लक्षण युक्त हुआ करता है ॥ १५ ॥

अधर्मो जायते यस्मिन्निति वै कवयो विदुः ।
अनन्तर क्षत्रियस्य इति वै विचिकित्सते ॥ १६ ॥

इससे आपदकालमें भी धर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे अधर्म हुआ करता है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं; आपदकाल बीतनेपर क्षत्रियके वास्ते पहिले कहे हुए अधर्मके दोषोंको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये ? वह प्रायश्चित करे या दूसरा कुछ उपाय करे ? ॥ १६ ॥

यथास्य धर्मो न ग्लायेन्नेयाच्छत्रुवशं यथा ।
तत्कर्तव्यमिहेत्याहुर्नात्मानमवसादयेत् ॥ १७ ॥

क्षत्रियंको जिसमें उसके धर्मकी हानि न हो, और वह जिससे शत्रुके वशमें न होवे, वैसा ही बर्ताव करना उचित है; वह अपने आपको संकटमें न डाले, ऐसा ही विद्वान् लोग कहा करते हैं ॥ १७ ॥

सन्नात्मा नैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः ।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥ १८ ॥

सब तरहके यत्नके जरिये अपने वा दूसरेके धर्म उद्धारकी इच्छा न करें; सभी उपायोंसे अपने आपके ही उद्धारकी इच्छा करना चाहिये; ऐसा ही निश्चय जाने ॥ १८ ॥

तत्र धर्मविदां तात निश्चयो धर्मनैपुणे ।
उद्यमो जीवनं क्षत्रे बाहुवीर्यादिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

हे तात ! आपदकालके अनन्तर धर्म जाननेवाले पुरुषोंका निश्चय उनकी धर्म विषयमें निपुणता ही सूचित करता है औ क्षत्रियोंके वास्ते बाहुबलके सहारे उद्यम ही करना उसका जीवन है, इसी प्रकार श्रुति कहती है ॥ १९ ॥

क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥ २० ॥

हे भारत ! पुरी रीतिसे आजिवीकासे रहित होनेपर क्षत्रिय तपस्वी और ब्राह्मणका धन छोडके और सबका धन ले सकता है ॥ २० ॥

यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत्।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात्तथेदं नात्र संशय। ॥ २१ ॥

जैसे ब्राह्मण जीविका नष्ट होनेपर अनधिकारी पुरुपके निकट यज्ञ करा सकता है तथा भोजन न करने योग्य अन्नका भी भोजन कर सकता है, वैसा ही क्षत्रियका भी कर्तव्य बताया है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

पीडितस्य किमद्वारमुत्पथो निधृतस्य वा।
अद्वारतः प्रद्रवति यदा भवति पीडितः ॥ २२ ॥

पीडित पुरुपको अद्वार क्या है ? और कैदीके लिये कौनसा बुरा मार्ग है ? जब मनुष्य आपत्तिसे पीडित होता है, तब अद्वारसे भी दौडा करता है ॥ २२ ॥

यस्य कोशबलज्यान्या सर्वलोकपराभवः।
भैक्षचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ॥ २३ ॥

जो राजा धनागारसे रहित और सेनाके नष्ट होनेसे लोगोंके समीप पराभव युक्त होता है, उसीके लिये उपर्युक्त बाते बतायी गयी हैं; उसे भिक्षा करके जीवन धारण तथा वैश्य और शूद्रकी वृत्ति अवलम्बन करनेका विधान नहीं है ॥ २३ ॥

स्वधर्मानन्तरा वृत्तिर्यान्याननुपजीवतः।
वहतः प्रथमं कल्पमनुकल्पेन जीवनम् ॥ २४ ॥

क्षत्रिय जब स्वजातिके लिये प्रतिपादित धर्मका अवलम्बन करके जीवन निर्वाह न कर सके, तब स्वधर्मसे विपरीत वृत्ति धारण करे; क्योंकि आपदकालमें स्वधर्मानुकूल वृत्तिका त्याग करनेवालेके लिये अपनेसे नीचे वर्णकी वृत्तिसे जीवन व्यतित करनेका विधान है ॥ २४ ॥

आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम्।
अपि ह्येतद्ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥

आपदकाल उपस्थित होनेपर वह धर्मके विपरीत आचरण करके जीवन धारण कर सकता है। जीविका क्षीण होनेपर ब्राह्मणोंका भी ऐसा ही व्यवहार दीख पडा है ॥ २५ ॥

क्षत्रिये संशयः कः स्यादित्येतन्निश्चितं सदा।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत्कथंचन ॥ २६ ॥

तब क्षत्रियके विषयमें क्यों सन्देह होगा ? क्षत्रिय पुरुष आपदकालमें अधिक धनशाली पुरुषोंसे बलपूर्वक धन ग्रहण करके जीवन धारण करे; किसी तरह दुःखित न होवे, उसमें सन्देह करना उचित नहीं है, यह सदासे ही निश्चित है ॥ २६ ॥

हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः ।
तस्मात्संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥

पण्डित लोग क्षत्रियको प्रजा पालक और विनाशक समझते हैं; इसलिये प्रजाकी रक्षा करते हुए ही क्षत्रिय बन्धु धनवान मनुष्योंके निकटसे धन ग्रहण करे । ॥ २७ ॥

अन्यत्र राजन्हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! इस जगत्में किसीकी भी हिंसाके विना जीविका नहीं निभती है; वनमें एकान्त रहकर विचरनेवाले मुनिकी जीविका भी हिंसारहित नहीं है ॥ २८ ॥

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सता ॥ २९ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! माथेमें लिखी हुई वृत्ति अर्थात् अदृष्ट मात्रको अवलम्बन करके जीवन धारण करना किसीको भी शक्य नहीं है; विशेष करके प्रजापालनकी इच्छावाले राजाको दैवके भरोसे निर्वाह चलाना अशक्यही है ॥ २९ ॥

परस्पराभिसंरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि ।
नित्यमेवेह कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥

यहां आपदकालमें राजा और राज्यकी प्रजा दोनोंको ही सदा परस्पर रक्षा करनी चाहिये, यही सनातन धर्म है ॥ ३० ॥

राजा राष्ट्रं यथापत्सु द्रव्यौघैः परिरक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने परिरक्ष्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥

आपदकालमें जैसे राजा धनके जरिये सब तरहसे राज्यकी रक्षा करता है, उसी प्रकार राजाके ऊपर विपद उपस्थित होनेपर राष्ट्रकी प्रजाको उसकी रक्षा करनी योग्य है ॥ ३१ ॥

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् ।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगते क्षुधा ॥ ३२ ॥

कोंष, दण्ड, बल, मित्र और दूसरी जो कुछ वस्तु सञ्चित रहे, राजा भूखसे पीडित होनेपर भी राज्यके वास्ते उसे दूर न करे ॥ ३२ ॥

बीजं भक्तेन संपाद्यमिति धर्मविदो विदुः ।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥

मनुष्य अपने भोजनके लिये संचित अन्नमेंसे बीजके लिये बचाकर रखे, धर्म जाननेवाले पुरुष ऐसा ही कहते हैं । इस विषयमें महामायावी शम्बरका विचार भी ऐसा ही बताया गया है ॥ ३३ ॥

धिक्तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
अवृत्त्यान्त्यमनुष्योऽपि यो वै वेद शिबेर्वचः ॥ ३४ ॥
जिस राजाके राज्यमें वास करनेवाली प्रजा अवसन्न होती है, अथवा वृत्तिसे रहित होनेपर अल्प परिवारको पालन करता है, और जो शिबीका वचन जानता है; उसे धिकार है ॥३४॥

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥
कोषागार और सेना ही एकमात्र राजाका मूल है, उसके बीच खजाना ही सेनाका मूल है; सेना सब धर्मोंकी रक्षाका मूल है और धर्म ही प्रजासमूहका मूल होता है, इससे सबकी जड धनागारकी बढती करनी उचित है ॥ ३५ ॥

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम् ।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं न प्राप्तुमर्हति ॥ ३६ ॥
दूसरोंको पीडित न करनेसे कोप सञ्चय नहीं होता, तब धनसंग्रहके विना सेनाका संग्रह किस प्रकार हो सकेगा ? इसलिये संकट समयमें कोप सञ्चयके वास्ते लोगोंको पीडित करनेसे राजा दोपभागी नहीं होता ॥ ३६ ॥

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु ।
एतस्मात्कारणाद्राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥ ३७ ॥
यज्ञकार्योंको निबाहनेके निमित्त अकार्य भी किया जाता है; इस ही कारण आपत्तिकालमें प्रजापीडनसे राजा कदापि दोषभागी नहीं होता ॥ ३७ ॥

अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत्तत्सर्वं ह्यर्थलक्षणम् ।
एवं बुद्ध्या संप्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥ ३८ ॥
आपदकालमें प्रजापीडन अर्थके लिये ही हुआ करता है, वह स्वतन्त्र है; और उस समय प्रजाको पीडित न करना अनर्थका कारण होजाता है। अर्थके अभावके वास्ते व्यय बढानेवाले सैन्य संग्रह आदि कार्य हैं, और वे युद्ध संकटके समय अर्थके उत्पादक भी हुआ करते हैं; इससे मेधावी पुरुष इस कर्मनिश्चयको बुद्धिके जरिये विचारे ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थमन्यद्भवति यज्ञे नार्थस्तथापरः ।
यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत्तत्सर्वं यज्ञसाधनम् ॥ ३९ ॥
जैसे यज्ञकी सिद्धिके लिये अन्य सामग्रियां होती हैं, उत्तम यज्ञ चित्त संस्कारका कारण हुआ करता है और यज्ञ सम्बन्धी अन्य बातें भी किसी विशेप उद्देश्यकी सिद्धिके लिये होती हैं तथा यह सब यज्ञका साधनही है; वैसे ही कोपका कारण दण्ड, बलका कारण कोप, और शत्रु पराभवके कारण कोष, बल तथा नीति ये तीनों ही राज्य पुष्टिके निमित्त हुआ करते हैं ॥३९॥

उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम् ।
यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः ॥ ४० ॥

इस विषयमें धर्म–तत्वको प्रकाशित करनेवाली उपमा कहता हूं; यज्ञके लिये यूप तैयार करनेके हेतुसे योग्य वृक्ष तोडते हैं। उस समय जो वृक्ष उसको बाधक तथा घेरनेवाले होते हैं ॥ ४० ॥

द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि ।
ते चापि निपतन्तोऽन्यान्निघ्नन्ति च वनस्पतीन् ॥ ४१ ॥

उनको भी निश्चय ही काटा जाता है। कटे वृक्ष जब गिरते हैं तब उस कारण भी कई वनस्पतियां नाशको प्राप्त होती हैं। इस रीतिसे मुख्यके लिये गौणका नाश होता है ॥४१॥

एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः ।
तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परंतप ॥ ४२ ॥

हे शत्रुतापन ! इसी प्रकार जो मनुष्य महान् कोषके संग्रहमें बाधक होवें, उन्हें नष्ट न करनेसे उस विषयमें सिद्धि नहीं देखी जाती है ॥ ४२ ॥

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा ।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥ ४३ ॥

धनसे मनुष्य यह लोक और परलोक दोनोंपर ही विजय प्राप्त करता है। सत्य और धर्मकोही प्राप्त कर लेता है; निर्द्धनको इसमें सफलता नहीं मिलती, वह नहींके बराबर होता है ॥४३॥

सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम् ।
न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्याकार्येषु भारत ॥ ४४ ॥

यज्ञ कार्यके लिये सब धनको सब तरहके उपायोंसे संग्रह करे। हे भारत ! यज्ञके वास्ते जो धन आवश्यक होता है, निषिद्ध उपायसे भी उसे जिस प्रकार ग्रहण करना उचित है, वैसे ही विहित और निषिद्ध कार्याकार्य विषयोंमें अर्थात् आपदकालमें प्रजा पीडन करना योग्य है, और वही निरापदके समयमें निषिद्ध है; इससे उस प्रकारके विषयमें यह समान दोष नहीं है। देश कालके अनुसार कार्य भी अकार्य होता है और अकार्य भी कार्य हुआ करता है ॥४४॥

नैतौ संभवतो राजन्कथंचिदपि भारत ।
न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित् ॥ ४५ ॥

हे पृथ्वीपाल महाराज ! धनसंग्रह और धन त्याग एकही व्यक्तिमें एक ही साथ किस तरह सम्भव नहीं होते; मैंने वनके बीच रहनेवाले मुनियोंको धनमें समृद्ध नहीं देखा ॥ ४५ ॥

×

यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किंचन ।
ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्ययं काङ्क्षते जनः ॥ ४६ ॥

इस पृथ्वीपर यहां जो कुछ धन दीखता है, वह सब हमारा ही होवे, हमारा ही होवे; लोग ऐसी ही अभिलाष किया करते हैं ॥ ४६ ॥

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप ।
धर्मं शंसन्ति ते राज्ञामापदर्थमितोऽन्यथा ॥ ४७ ॥

हे शत्रुतापन ! राजाके लिये राज्यकी रक्षाके समान और कुछ भी धर्म नहीं है; राजाओंको आपदकालमें बहुतसा कर ग्रहण करना पापमूलक नहीं है, निरापदके समयमें वही पापजनक हुआ करता है । इससे आपदके निमित्त अर्थ संग्रह करना पाप युक्त नहीं होता । तब धन-मूलक राज्य भी हेय नहीं होसकता ॥ ४७ ॥

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः ।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चाप्यन्ये चिन्वन्ति धनसंचयान् ॥ ४८ ॥

कोई कोई दान और यज्ञकर्मसे तपस्वी होते हैं, कोई तपस्या करके ही तपस्वी हुआ करते हैं; कुछ बुद्धि-कौशलसे और दूसरे सब दक्षता युक्त कार्यसे धन सञ्चय लाभ करते हैं ॥ ४८ ॥

अनधं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान्भवेत् ।
सर्वं धनवतः प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ।
कोशाद्धर्मश्च कामश्च परो लोकस्तथाप्ययम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥ ४५१२ ॥
समाप्तं राजधर्मपर्व

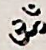
पण्डित लोग धनहीन पुरुषको ही दुर्बल कहते हैं, धनसे ही मनुष्य बलवान् होता है; धनवान् मनुष्यको कुछ भी सुलभ है । कोप तथा कोषवाला मनुष्य सब विपदोंसे पार होजाता है; कोषके जरिये धर्म, काम तथा इस लोक और परलोकमें सुख लाभ होता है ॥ ४९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२८ ॥ ४५१२ ॥

राजधर्मपर्व समाप्त ।

शान्तिपर्व

आपद्धर्मपर्व



आपद्धर्मपर्व ।

युधिष्ठिर उवाच—

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु ।
विरक्तपौरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भारत ! जो राजा सेना तथा धान्यकोप आदि संग्रहसे क्षीण, आलसी, बन्धु–बान्धवोंके नाशकी शंका भयके कारण उन्हें साथ लेकर युद्ध करनेमें असमर्थ, शत्रुओंने जिसके नगर और राज्यको विभाग कर अपने अधीन कर लिया है, जो द्रव्यसंग्रह रहित है, ॥ १ ॥

परिशङ्कितमुख्यस्य स्रुतमन्त्रस्य भारत ।
असंभावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः ॥ २ ॥

जो सदा मन्त्री आदिके चरित्रपर शङ्कित है, जिसके गुप्त विचारको दूसरे लोगोंने सुना है, और मित्रोंको सब तरहसे सम्मान पूर्वक अपने वश करनेमें समर्थ नहीं है, जिसके मन्त्री–सेवक लोग शत्रुओंके वशमें हुए है, ॥ २ ॥

परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा ।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥ ३ ॥

शत्रु लोग जिसपर आक्रमण कर रहे हैं, स्वयं निर्बल होनेसे प्रबल शत्रुके द्वारा पीडित हो, और आपदमें पडकर जिसका चित्त व्याकुल हुआ है; उसे अन्तमें क्या करना उचित है ? संकटसे मुक्त होनेके लिये उसे क्या करना चाहिये ? वह कहिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः ।
जवेन संधिं कुर्वीत पूर्वान्पूर्वान्विमोक्षयन् ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– विजयकी इच्छासे आक्रमण करनेवाला राजा बाहरका हो, धर्मपूर्वक धन प्राप्त करनेमें निपुण और पवित्र हो, तो शत्रुसे विजित अपने पूर्वजोंके अधिकारमें रहे राज्यको शान्तिवादके सहारे उससे छुडाके, शीघ्र उसके साथ सन्धि स्थापित करे ॥ ४ ॥

अधर्मविजिगीषुश्चेद्बलवान्पापनिश्चयः ।
आत्मनः संनिरोधेन संधिं तेनाभियोजयेत् ॥ ५ ॥

जो अधर्मके अनुसार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बलवान् और पाप बुद्धि होकर आक्रमण करता है, उसके साथ कुछ खोकर भी सन्धि करनेमें सम्मत होवे, ॥ ५ ॥

अपास्य राजधानीं वा तरेदन्येन वापदम् ।
तद्भावभावे द्रव्याणि जीवन्पुनरुपार्जयेत् ॥ ६ ॥

अथवा अपनी राजधानीका परित्याग करके द्रव्य सञ्चय दानसे भी आपदसे पार होवे । यदि राजगुणसे युक्त होकर जीवित रहे, तो द्रव्य आदि फिर प्राप्त कर सकेगा; ॥ ६ ॥

यास्तु स्युः केवलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ७ ॥

धन और सेना परित्याग करनेसे यदि सब आपद दूर हो, तो कौन धर्म और अर्थको जाननेवाला पुरुष उस विषयमें अपनी सबसे अधिक वस्तु शरीरका त्याग करेगा ? ॥ ७ ॥

अवरोधाज्जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथंचन ॥ ८ ॥

पहले अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंकी रक्षा करे, वे यदि शत्रुके अधिकारमें हुई हों, तो उस विषयमें दया—ममता करनेकी आवश्यकता नहीं है; जहांतक सम्भव हो किसी प्रकार भी आत्म समर्पण करना योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे स्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले— भीतर मन्त्री आदि कोपित, बाहर किले तथा राज्य आदि शत्रुसे आक्रान्त, खजाना खालि, और राजाकी गुप्त मन्त्रणा प्रकाशित होनेपर, अन्तमें उसे क्या करना उचित है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

क्षिप्रं वा संधिकामः स्यात्क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
पदापनयनं क्षिप्रमेतावत्सांपरायिकम् ॥ १० ॥

भीष्म बोले— शत्रुके सङ्ग शीघ्र ही सन्धिकी इच्छा करे, अथवा शीघ्र ही दुःसह पराक्रम प्रदर्शित करके शत्रुको राज्यसे दूर करे; ऐसा उद्योग करते समय प्राणको त्याग करके परलोकमें गमन करना ही कल्याणकारी है ॥ १० ॥

अनुरक्तेन पुष्टेन हृष्टेन जगतीपते ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति पार्थिवः ॥ ११ ॥

हे पृथ्वीपति ! थोडी सेना होनेपर भी यदि वह स्वामीके प्रति अनुरक्त, हृष्टपुष्ट, अभिप्रेत और हर्षयुक्त हो, तो राजा उस ही से महीमण्डल पर जय कर सकता है ॥ ११ ॥

हतो वा दिवमारोहेद्विजयी क्षितिमावसेत् ।
युद्धे तु संत्यजन्प्राणाञ्शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ १२ ॥

यदि वह युद्धमें मारा जाय तो स्वर्गलोकमें जाता है अथवा उसने शत्रुपर विजय पायी तो वह पृथ्वीका राज्य भोग सकता है; जो युद्धमें प्राण त्यागता है, वह इन्द्रलोक पाता है ॥ १२ ॥

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद्विनयं कुर्याद्व्यवस्येद्वाप्युपानहौ ॥ १३ ॥

दुर्बल राजा शत्रुके सभी लोगोंको संतुष्ट करके उसके मनमें कोमलता और विश्वास निर्माण करे और युद्ध बंद करनेके लिये विनय करे; तथा स्वयं भी समयके अनुसार शत्रुका विश्वास करे; ॥ १३ ॥

अपक्रमितुमिच्छेद्वा यथाकामं तु सान्त्वयेत् ।
विलङ्घयित्वा मित्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥ ४५२६ ॥

सेवक आदिकोंके प्रतिकूल रहनेपर युद्ध करनेमें असमर्थ होनेपर राजा शान्तिवादके सहारे शत्रुको शान्त करते हुए, किलेसे बाहर होकर देश देशान्तरमें कुछ समय बिताके फिर अन्तमें मित्रोंके द्वारा मन्त्रणा करके अपने बलसे स्वयं राज्य जय करनेका उद्योग करे ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२९ ॥ ४५२६ ॥

: 130 :

युधिष्ठिर उवाच—

हीने परमके धर्मे सर्वलोकातिलङ्घिनि ।
सर्वस्मिन्दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! यदि राजाका सब लोकोंकी रक्षापर आधारित परम धर्म न निभ सके और पृथ्वीपर जिन सब वस्तुओंको उपजीव्य करके जीवन धारण किया जाता है, उन सब पर लुटेरोंका अधिकार हो जाय, तो भी राजाको सब उपायोंसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी उचित है ॥ १ ॥

केनास्मिन्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ।
असंत्यजन्पुत्रपौत्राननुक्रोशात्पितामह ॥ २ ॥

यह सब लोक सत्कृत धर्म नष्ट होनेपर इस आपदके समयमें जो ब्राह्मण दयाके वशमें होकर पुत्र–पौत्रोंको परित्याग करनेमें असमर्थ है, तो वह कैसे उपायके जरिये जीवन धारण करे ? ॥२॥

भीष्म उवाच—

विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते ।
सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किंचन ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– हे राजन् ! विपदकाल उपस्थित होनेपर ब्राह्मण अपने विज्ञान बलका अवलम्बन करके जीवन व्यतीत करे; इस जगत्में जो कुछ भोग्य वस्तु हैं, वे साधुओंके निमित्त उत्पन्न हुई हैं, दुष्टोंके वास्ते कुछ भी नहीं उत्पन्न हुई हैं ॥ ३ ॥

असाधुभ्यो निरादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः ॥ ४ ॥

जो अपनेको अर्थागमका उपाय करके दुष्टोंसे धन ग्रहण करके साधुओंको दान करता है, वह सब आपद् धर्मको जानता है; ॥ ४ ॥

सुरोषेणात्मनो राजन्राज्ये स्थितिमकोपयन् ।
अदत्तमप्याददीत दातुर्वित्तं ममेति वा ॥ ५ ॥

राजन्! राजा किसी तरह राज्यकी व्यवस्थाका बिगाड न करके अपने प्रजापालन धर्मकी अभिलाषा करके दूसरेके धनको पालन कर्त्ताका—राजाका ही धन समझके उनके दिये बिना भी ग्रहण करे ॥ ५ ॥

विज्ञानबलपूतो यो वर्तते निन्दितेष्वपि ।
वृत्तविज्ञानवान्धीरः कस्तं किं वक्तुमर्हति । ॥ ६ ॥

जो विज्ञान—बलसे पवित्र रहके किस वृत्तिसे किसका निर्वाह होता है, यह अच्छी तरह समझता है और राज्यको संकटसे बचानेके लिये निन्दित कार्य किया करता है; उस धीर पुरुषकी कौन निन्दा कर सकता है? ॥ ६ ॥

येषां बलकृता वृत्तिर्नैषामन्याभिरोचते ।
तेजसाभिप्रवर्धन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

हे युधिष्ठिर! जो लोग बलपराक्रमसे वृत्ति प्राप्त करते हैं, उन्हें दूसरी रीतिसे वृत्ति प्राप्त करनेकी रुचि नहीं होती। बलवान् पुरुष निज तेजोप्रभावसे ही जिविका निर्वाहमें वर्धित होते हैं ॥ ७ ॥

यदेव प्रकृतं शास्त्रमविशेषेण विन्दति ।
तदेव मध्याः सेवन्ते मेधावी चाप्यथोत्तरम् ॥ ८ ॥

आपदग्रस्त राजा निज राज्य और परराज्यसे धन संग्रह करे। इस आपद्धर्मके उपयोगी सामान्य शास्त्रका अभ्यास करे; मेधावी राजा उक्त शास्त्र और दोनों राज्यमें स्थित धनियोंमेंसे जो कदर्य और कार्यवशसे दण्डके योग्य हैं, उनके निकटसे धन लेके कोष सञ्चय करे। इस विशेष शास्त्रको भी अविशेष भावसे वशमें करे ॥ ९ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्सत्कृतैरभिपूजितान् ।
न ब्राह्मणान्यातयेत दोषान्प्राप्नोति यातयन् ॥ ९ ॥

राजा अत्यन्त आदपग्रस्त होनेपर भी ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य और सत्कृत तथा पूजित ब्राह्मणोंसे कदापि धन लेकर उन्हें पीडा न दे; उन लोगोंको कष्ट देनेसे वह दोषग्रस्त होता है ॥ ९ ॥

एतत्प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत्सनातनम् ।
तत्प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत्साध्वसाधु वा ॥ १० ॥

यही लोगोंके लिये प्रमाणभूत बात है; तथा यही नेत्र स्वरूप सनातन प्रमाण है; इससे चाहे यह उत्तम ही अथवा बुरा ही होवे, आपदयुक्त राजाको ऐसा ही आचरण करना उचित है ॥ १० ॥

बहूनि ग्रामवास्तव्या रोषाद् ब्रूयुः परस्परम् ।
न तेषां वचनाद्राजा सत्कुर्याद्घातयेत वा ॥ ११ ॥

बहुतेरे ग्रामवासी पुरुष क्रोधके वशमें होकर राजाके पास आकर परस्पर निन्दा–स्तुति करें, परन्तु राजा उन लोगोंके वचन अनुसार किसीको भी पुरस्कार वा तिरस्कार न करे ॥ ११ ॥

न वाच्यः परिवादो वै न श्रोतव्यः कथंचन ।
कर्णावेव पिधातव्यौ प्रस्थेयं वा ततोऽन्यतः ॥ १२ ॥

किसीकी निन्दा नहीं करनी तथा उसे किसी प्रकार सुनना न चाहिये; यदि कोई सभामें किसीकी निन्दा करे, तो अपने दोनों कानोंको मूंद ले अथवा वहांसे दूसरी जगह चला जावे ॥ १२ ॥

न वै सतां वृत्तमेतत्परिवादो न पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! दूसरेकी निन्दा करना वा चुगली खाना सज्जनोंका स्वभाव–सिद्ध धर्म नहीं है; साधुओंके बीच श्रेष्ठ पुरुष केवल दूसरेके गुणोंका वर्णन किया करते हैं ॥ १३ ॥

यथा समधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ।
यथा यथास्य वहतः सहायाः स्युस्तथापरे ॥ १४ ॥

जैसे सुन्दर दमनीय, अच्छी तरह बोझ ढोनेमें समर्थ, दान्त नयी अवस्थाके दो बैल कंधोंपर बोझा धारण करके उसे ढोते हैं, राजा भी वैसा ही अपने राज्यका भार संभाले; जैसे व्यवहारसे राज्यकी धुरा संभालते हुए उसे बहुतसी सहायता प्राप्त होवे, राजा वैसे ही आचरणका प्रचार करे ॥ १४ ॥

आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम् ।
अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः ।
मार्दवादथ लोभाद्वा ते ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥ १५ ॥

पण्डित लोग आचरणको ही धर्मका श्रेष्ठ लक्षण समझते हैं। जो शंख और लिखित मुनिके मतका अवलम्बन करनेवाले हैं, वे दूसरे लोग इस मतको नहीं स्वीकारते हैं; मार्दवता और लोभके वशसे वे लोग आचरणको धर्म समझते हैं; ऋषि शासन ही उनका अनुमोदनीय है ॥ १५ ॥

+

आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य यापनम् ।
न चार्षात्सदृशं किंचित्प्रमाणं विद्यते क्वचित् ॥ १६ ॥

कुकर्म करनेवाले पुरुषोंको शासन करना ही ऋषियोंने वर्णन किया है; ऋषियोंके वचनोंके समान दूसरा कोई प्रमाण कहीं भी विद्यमान नहीं है ॥ १६ ॥

देवा अपि विकर्मस्थं यातयन्ति नराधमम् ।
व्याजेन विन्दन्वित्तं हि धर्मात्तु परिहीयते ॥ १७ ॥

देवता लोग भी कुकर्मी अधर्म पुरुषको शासन किया करते हैं। जो छलसे धन सञ्चय करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट होता है ॥ १७ ॥

सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रभवकारणैः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥ १८ ॥

ऐश्वर्यकी प्राप्तिके जो मुख्य कारण हैं, ऐसे वेदमें कहे हुए, मनु आदि स्मृतियोंमें वर्णित, देश और कालके अनुसार साधुओंसे आचरित तथा हृदयसे भी अनुमोदित होता है, राजा उस ही धर्मका अवलम्बन करे ॥ १८ ॥

यश्चतुर्गुणसंपन्नं धर्मं वेद स धर्मवित् ।
अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ १९ ॥

जो वेदविहित, तर्कसे निश्चित्त, वार्त्ताशास्त्र सम्मत और दण्ड नीति प्रसिद्ध चतुर्गुण सम्पन्न धर्मको जानता है, वही धर्म जाननेवाला है; सांपके पैरको अन्वेषण करनेकी तरह धर्मका मूल अन्वेषण करना अत्यन्त कठिन कर्म है ॥ १९ ॥

यथा मृगस्य विद्धस्य मृगव्याधः पदं नयेत् ।
कक्षे रुधिरपातेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ २० ॥

जैसे व्याधा बाणविद्ध मृगके रुधिरसे भीगे हुए पांवके चिन्हको देखकर उसके गमन करनेके मार्गको मालूम करता है, उसी प्रकार चतुर्गुण युक्त धर्म भी धर्मके यथार्थ मार्गकी प्राप्ति कराता है ॥ २० ॥

एवं सद्भिर्विनीतेन पथा गन्तव्यमच्युत ।
राजर्षीणां वृत्तमेतदवगच्छ युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥ ४५४७ ॥

हे युधिष्ठिर ! अच्युत ! इसी प्रकार साधुओंसें आचरित मार्गसे विचरण करना उचित है। राजर्षियोंका इसी प्रकार सदाचार है, तुम भी ऐसा ही करो ॥ २१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३० ॥ ४५४७ ॥

: १३१ :

भीष्म उवाच —

स्वराष्ट्रात्परराष्ट्राच्च कोशं संजनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलः प्रवर्तते ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे कुन्तीनन्दन! राजा निजराज्य और परराज्यसे धन लेकर संग्रह करे, क्योंकि धनसे ही धर्मकी वृद्धि और राज्यकी जडें बढती हैं ॥ १ ॥

तस्मात्संजनयेत्कोशं संहृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः ॥ २ ॥

इसलिये राजाको धन इकट्ठा करके यत्नके सहित उसकी रक्षा करनी उचित है; और रक्षा करके उसकी नित्य वृद्धि करनी चाहिये, यही सनातन धर्म है ॥ २ ॥

न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जायते ।
पदं मध्यममास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ३ ॥

केवल पवित्र आचार–विचारसे वा क्रूरतासे धन सञ्चय कभी नहीं हो सकता, इसलिये मध्यम मार्गका अवलंबन करके कोष संग्रह करना उचित है ॥ ३ ॥

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीः कुतो भवेत् ॥ ४ ॥

बलहीन राजाके पास धन संग्रह कैसे रहेगा? धनहीनके पास सेना कहां? सेनाहीनके पास कैसे राज्य स्थिर रहेगा? राज्यहीनके पास श्री–लक्ष्मी कहांसे होगी? ॥ ४ ॥

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात्कोशं बलं मित्राण्यथ राजा विवर्धयेत् ॥ ५ ॥

धनसे ऊंचे और महान् पदपर स्थित पुरुषके धनकी हानि हो जाय तो वह उसे मृत्युके समान है; इससे राजाको उचित है, कि जिस उपायसे धन, बल और मित्रोंकी बढती हो, उसही विषयमें यत्नवान् होवे ॥ ५ ॥

हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमभ्युत्सहन्ति च ॥ ६ ॥

मनुष्य धनहीन राजाकी अवज्ञा किया करते हैं; वे लोग उससे अल्प धन पाके सन्तुष्ट नहीं होते, और उसका कार्य करनेके वास्ते उत्साह प्रकाशित नहीं करते ॥ ६ ॥

श्रियो हि कारणाद्राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
साऽस्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ॥ ७ ॥

राजा कोष–सम्पत्तिके कारणसे ही परम सम्मानको प्राप्त होता है। जैसे वस्त्र स्त्रियोंके गोपनीय अंगोंको छिपाता है, उसी प्रकार धन–सम्पत्ति भी राजाके दोषोंको सम्वरण किया करती है ॥ ७ ॥

ऋद्धिमस्यानुवर्तन्ते पुरा विप्रकृता जनाः ।
शालावृका इवाजस्रं जिघांसूनिव विन्दति ।
ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भरतसत्तम ॥ ८ ॥

पहिले तिरस्कृत हुए मनुष्य राजाकी समृद्धिके समयमें उसके अनुयायी होते हैं और उक्त पुरुष कपट आचारके जरिये अपने वधकी इच्छा करनेवाले राजाका आश्रय करते हैं, जैसे कुत्ते अपने घातक दुरात्माकी सेवामें रहते हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! जो राजा इस प्रकार है, उसे सुख कैसे हो सकता है ? ॥ ८ ॥

उद्यच्छेदेव न ग्लायेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ९ ॥

इससे सब तरहसे उन्नतिके वास्ते चेष्टा करनी योग्य है; नतमस्तक होना उचित नहीं है; क्योंकि उद्यम ही पुरुषार्थ कहाता है । जैसे सूखी लकडी टूट जाती है, परंतु झुकती नहीं है, वैसे ही राजा स्वयं नष्ट ही हो जाय, परंतु उसे कभी नत नहीं होना चाहिये ॥ ९ ॥

अप्यरण्यं समाश्रित्य चरेद्दस्युगणैः सह ।
न त्वेवोद्धृतमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत् ।
दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ १० ॥

वनका सहारा करके दस्यु समूहके साथ भ्रमण करना भी अच्छा है, परन्तु मर्यादारहित दस्युओंके साथ कदापि रहना उचित नहीं है । हे भारत ! भयङ्कर कार्योंमें डाकूके समान सेनाका संग्रह सहजमें ही सिद्ध होता है ॥ १० ॥

एकान्तेन ह्यमर्यादात्सर्वोऽप्युद्विजते जनः ।
दस्यवोऽप्युपशङ्कन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥ ११ ॥

अत्यन्त मर्यादारहित होनेपर सब लोग ही व्याकुल हुआ करते हैं, और डाकू लोग भी निर्दयी मनुष्यसे अत्यन्त शङ्कित होते हैं; ॥ ११ ॥

स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनीम् ।
अल्पाप्यथेह मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥ १२ ॥

इसलिये जो मर्यादा सब लोगोंके चित्तको प्रसन्न करे, उसे ही स्थापित करनी उचित है; जगत्में छोटेसे काममें भी मर्यादा पूजित हुआ करती है ॥ १२ ॥

नायं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः ।
नालं गन्तुं च विश्वासं नास्तिके भयशङ्किनि ॥ १३ ॥

यह लोक वा परलोक हैं ही नहीं, जगत्में ऐसे भी साधारण लोग हैं । इस तरह भयसे शङ्कित नास्तिकके मतमें विश्वास करना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

यथा सद्भिः परादानमहिंसा दस्युभिस्तथा ।
अनुरज्यन्ति भूतानि समर्यादेषु दस्युषु ॥ १४ ॥

डाकुओंमें मर्यादशील ऐसे पुरुष भी हैं, जो पराये धनको हरते हैं, परन्तु किसीकी हिंसा नहीं करते; इससे डाकू लोग मर्यादायुक्त होनेपर अन्तमें सबकी रक्षा कर सकते हैं ॥ १४ ॥

अयुध्यमानस्य वधो दारामर्शः कृतघ्नता ।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा ।
स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद्विगर्हितम् ॥ १५ ॥

जो पुरुष युद्ध करनेसे विरत हुआ है उसका वध करना, स्त्री हरना; कृतघ्नता, ब्राह्मणका वित्त ग्रहण करना, किसीका सर्वस्व हरण करना, कन्याका अपहरण और किसी ग्राम आदिपर आक्रमण करके प्रभुत्वभावसे निवास– ये सब डाकुओंमें निन्दित मानी जाती हैं ॥ १५ ॥

स एष एव भवति दस्युरेतानि वर्जयन् ।
अभिसंदधते ये न विनाशायास्य भारत ।
न शेषमेवोपलभ्य न कुर्वन्तीति निश्चयः ॥ १६ ॥

और जो इस ही स्वभावका है, डाकुओंके विषयमें ये सब कार्य विशेष रूपसे निन्दनीय हैं, इसलिये डाकुओंको इन सब कर्मोंको त्यागना उचित है । हे भारत ! जो लोग दस्युओंके नाशके निमित्त उनसे मेलजोल नहीं करते हैं, वे लोग उन्हें विश्वास उत्पन्न करके अशेष रूपसे उनके धनसम्पत्तिको प्राप्त करके उन्हें नष्ट नहीं कर सकते हैं, यह निश्चित है ॥ १६ ॥

तस्मात्सशेषं कर्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः ।
न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् ॥ १७ ॥

इसलिये डाकुओंको योग्य है कि वे दूसरोंके धनको अपने अधिकारमें लेकर भी कुछ शेष रखें, सारा नहीं लूटें; 'मैं बलवान् हूं' ऐसा मानकर क्रूरता युक्त वर्ताव न करे ॥ १७ ॥

सशेषकारिणस्तात शेषं पश्यन्ति सर्वतः ।
निःशेषकारिणो नित्यमशेषकरणाद्भयम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥ ४५६५ ॥

हे तात ! जो डाकू दूसरोंके धनको शेष छोडते हैं, वे सब ओर अपने धनका भी अवशेष देख सकते हैं; जो दूसरोंके धनमेंसे कुछ भी शेष नहीं छोडते, वे सदा अपने धनके भी निःशेष होनेका भय रखते हैं ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३१ ॥ ४५६५ ॥

: १३२ :

भीष्म उवाच—

अत्र कर्मान्तवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः ।
प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः ।
तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षा धर्मयापना ॥ १ ॥

इस विषयमें इतिहासवेत्ता पण्डित लोग कर्मविधिका वर्णन किया करते हैं, वह है— विशेषज्ञ क्षत्रिय राजा धर्म और अर्थको ही प्रत्यक्ष करते हैं; प्रत्यक्ष धर्मका शास्त्रोक्त विचार रखकर किसीके कर्तव्यमें व्यवधान डालनेका आचरण करना उचित नहीं है, कारण यह है कि धर्मका फल प्रत्यक्ष नहीं है ॥ १ ॥

अधर्मो धर्म इत्येतद्यथा वृकपदं तथा ।
धर्माधर्मफले जातु न ददर्शेह कश्चन ॥ २ ॥

पृथ्वीपर भेडियेके पैरका चिन्ह देखकर "यह वाघका या कुत्तेका पैर है," यह निश्चय नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष धर्म और अधर्मके विषयमें निर्णय करना कठिन है । इस लोकमें किसी पुरुषने धर्म और अधर्मके फलको प्रत्यक्ष नहीं देखा है ॥ २ ॥

बुभूषेद्बलवानेव सर्वं बलवतो वशे ।
श्रियं बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति ॥ ३ ॥

राजा बलवान् होनेके लिये इच्छा करे; क्योंकि यह सब जगत् ही बलवान् पुरुषके वशमें रहता है । इस जगत्में बलवान् पुरुष ही धन, बल और सेवकोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ।
बह्वपथ्यं बलवति न किंचित्त्रायते भयात् ॥ ४ ॥

जो निर्द्धन है, वह पतित माना जाता है; जिसके पास जो कुछ अल्प धन है, वह उच्छिष्ट कहके गिना जाता है । बलवान् पुरुषके अनेक निन्दित कर्म करनेपर भी भयके कारण कोई उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

उभौ सत्याधिकारौ तौ त्रायेते महतो भयात् ।
अति धर्माद्बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

धर्म और बल दोनों ही यदि सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हों तो ये मनुष्यका महत् भयसे परित्राण करते हैं । मैं बल ही अधिक धर्मसे प्रबल मानता हूं, क्योंकि बलसे ही धर्म उत्पन्न हुआ करता है ॥ ५ ॥

बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमः ।
धूमो वायोरिव वशं बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ ६ ॥

जैसे पृथ्वी पर जङ्गम जीव स्थित हैं, उसी तरह बल धर्ममें प्रतिष्ठित हो रहा है । जैसे धुआं वायुके वशमें होकर आकाशमें उड जाता है, उसही भांति धर्म बलका अनुसरण करता है ॥६॥

अनीश्वरे बलं धर्मो द्रुमं वल्लीव संश्रिता ।
वश्ये बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥ ७ ॥

जैसे लता वृक्षका आसरा किया करती है, वैसे ही निर्बल धर्म बलको अवलम्बन करके सदा स्थिर रहता है। जैसे सुख भोग सम्पन्न पुरुषोंके वशमें रहता है, वैसे ही धर्म बलवानके अधिकारमें है। बलवानोंको कुछ भी असाध्य नहीं है, उनके सब कार्य ही पवित्र हैं ॥ ७ ॥

दुराचारः क्षीणबलः परिमाणं नियच्छति ।
अथ तस्मादुद्विजते सर्वो लोको वृकादिव ॥ ८ ॥

दुराचारी और बलहीन पुरुषके परित्राणका उपाय नहीं है, बल्कि सब लोगही भेडियेकी तरह उससे व्याकुल हुआ करते हैं ॥ ८ ॥

अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।
जीवितं यदवक्षिप्तं यथैव मरणं तथा ॥ ९ ॥

दुर्बल मनुष्य ऐश्वर्यरहित होकर सबके अपमानका पात्र होता है और अत्यन्त दुःखसे जीवन विताता है; घृणित जीवन और मरना दोनोंही समान हैं ॥ ९ ॥

यदेनमाहुः पापेन चारित्रेण विनिक्षतम् ।
स भृशं तप्यतेऽनेन वाक्शल्येन परिक्षतः ॥ १० ॥

दुर्बल मनुष्यके विषयमें लोग कहते हैं, कि पापी चरित्रके कारण यह पुरुष बान्धवोंसे परित्यक्त हुआ है; वह उनके वचन रूपी बाणसे घायल होके अत्यन्त ही दुःखित होता है ॥ १० ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिमोक्षणे ।
त्रयीं विद्यां निषेवेत तथोपासीत च द्विजान् ॥ ११ ॥

यहां अधर्मसे धनको प्राप्त करनेमें जो पाप होता है, उसके छुडानेके विषयमें पहिलेके आचार्योंने ऐसा कहा है, कि पापी पुरुष तीनों वेदोंका अध्ययन करे, ब्राह्मणोंकी सेवा—उपासनामें रहे ॥ ११ ॥

प्रसादयेन्मधुरया वाचाप्यथ च कर्मणा ।
महामनाश्चैव भवेद्विवहेच्च महाकुले ॥ १२ ॥

तथा मधुर वचन और उत्तम कार्योंसे उन्हें प्रसन्न करे, उदार चित्तवाला होवे, उच्च वंशमें विवाह करे, ॥ १२ ॥

इत्यस्मीति वदेदेवं परेषां कीर्तयन्गुणान् ।
जपेदुदकशीलः स्यात्पेशलो नातिजल्पनः ॥ १३ ॥

मैं आपका सेवक हूं इस प्रकार नम्रतासे अपना परिचय दे, दूसरोंके गुणोंको कहे, स्नानशील होके जप करे, कोमल स्वभाव धारण करे, बहुत न बोले ॥ १३ ॥

ब्रह्मक्षत्रं संप्रविशेद्बहु कृत्वा सुदुष्करम् ।
उच्यमानोऽपि लोकेन बहु तत्तदचिन्तयन् ॥ १४ ॥

बहुतेरे दुष्कर कार्योंको करके ब्राह्मण और क्षत्रियोंके समीप आश्रय ग्रहण करे; लोग यदि बहुत पापाचारी कहकर उसकी निन्दा करें, तो भी उसकी चिन्ता न करे ॥ १४ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
सुखं वित्तं च भुञ्जीत वृत्तेनैतेन गोपयेत् ।
लोके च लभते पूजां परत्र च महत्फलम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥ ४५८० ॥

ऐसे आचरण करनेवाला पुरुष शीघ्र ही पापसे रहित और सबमें आदर युक्त होता है; इस लोक और परलोकमें महत् सम्मान लाभ करता है, और अपने सुकृतसे सब पापोंको धोकर महा सुख तथा ऐश्वर्य भोग करनेमें समर्थ होता है ॥ १५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३२ ॥ ४५८० ॥

: १३३ :

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावे न नश्यति ॥ १ ॥

भीष्म बोले– इस स्थलमें पुराने लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, कि डाकू होके भी मर्यादा युक्त होने पर मरनेके अनन्तर वह नरकगामी नहीं होता ॥ १ ॥

प्रहर्ता मतिमाञ्शूरः श्रुतवाननृशंसवान् ।
रक्षन्नक्षयिणं धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥ २ ॥
निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः ।
कापव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात्सिद्धिमाप्तवान् ॥ ३ ॥

एक निषाद–स्त्रीके गर्भमें क्षत्रियके वीर्यसे कापव्य नाम क्षत्रिय धर्म पालक एक निषाद उत्पन्न हुआ था । यह दस्यु होने पर भी प्रहार कुशल, बुद्धिमान्, शूर, शास्त्रज्ञ और क्रूरता रहित होनेसे आश्रमवासी ऋषियोंके धर्मकी रक्षा, ब्राह्मणोंका हित साधन और गुरुजनोंका सम्मान करता था; इन्हीं सब कारणोंसे उसने सिद्धि लाभ की थी ॥ २–३ ॥

अरण्ये सायपूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता ।
विधिज्ञो मृगजातीनां निपानानां च कोविदः ॥ ४ ॥

वह प्रतिदिन सबेरे और शामके समय वनमें जाकर मृगोंके समूहोंको उत्तेजित करता था; वह मृग–विज्ञान विषयमें अत्यन्त जानकार था; तथा जलाशयोंका पण्डित था ॥ ४ ॥

सर्वकाननदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा ।
धर्मज्ञः सर्वभूतानाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥

वह वनके संपूर्ण प्रदेशोंका ज्ञानी था; वह सदा पारिपात्र पर्वत पर घूमते हुए सब प्राणियोंके धर्मको जानता था; उसके सब बाण अमोघ और अस्त्र दृढ थे ॥ ५ ॥

अप्यनेकशताः सेना एक एव जिगाय सः ।
स वृद्धावन्धपितरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ॥ ६ ॥

वह अकेले ही कई सौ मनुष्योंकी सेनाको जीतता था; महा वनके बीच बूढे और अन्धे माता-पिताकी सेवा करता था ॥ ६ ॥

मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि ।
सत्कृत्य भोजयामास सम्यपरिचचार च ॥ ७ ॥

सत्कार करके उन्हें मधु, मांस, मूल, फल तथा अनेक प्रकारके अन्नोंसे भोजन कराता और माननीय लोगोंकी भी यथावत् सेवा करता था ॥ ७ ॥

आरण्यकान्प्रव्रजितान्ब्राह्मणान्परिपालयन् ।
अपि तेभ्यो मृगान्हत्वा निनाय च महावने ॥ ८ ॥

वनवासी सन्यासी ब्राह्मणोंकी पूजा करता, और महावनमें सदा मृगोंको मारके उन लोगोंको दान करता था ॥ ८ ॥

ये स्म न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया ।
तेषामासज्य गेहेषु काल्य एव स गच्छति ॥ ९ ॥

जो लोग लुटेरेके घरका भोजन होनेकी शंकासे उस अन्नका दान नहीं लेते थे, वह बडे सबेरे उठके उनके घरोंमें अन्न, फल आदि रख जाता था ॥ ९ ॥

तं बहूनि सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे ।
निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशकारिणाम् ॥ १० ॥

एक समय अनेक क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले और मर्यादा हीन कई हजार डाकुओंने उसके निकट आके उसे अपना अधिपति करनेकी प्रार्थना की ॥ १० ॥

×

दस्यव ऊचुः—

मुहूर्तदेशकालज्ञ प्राज्ञ शीलदृढायुध ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव संमतः ॥ ११ ॥

डाकू लोग बोले— हे देश, काल और मूहूर्त्तको विशेष रूपसे जाननेवाले ! बुद्धिमान्, शील संपन्न तथा दृढ आयुधवाले ! हम सब लोगोंका यह अभिप्राय है, कि आप हमारे मुख्य सरदार— अधिपति होवें ॥ ११ ॥

यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ।
पालयास्मान्यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ १२ ॥

आप हमको जो आज्ञा देंगे, हम लोग वही करेंगे; इससे माता–पिताकी तरह हम लोगोंका न्यायके अनुसार प्रतिपालन करिये ॥ १२ ॥

कापव्य उवाच—

मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम् ।
नायुध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात्स्त्रियः ॥ १३ ॥

कापव्य बोला— हे बन्धुओ ! तुम लोग स्त्री, डरपोक, बालक और तपस्वीका वध न करना; जो पुरुष तुमसे युद्ध नहीं करता है, उसका वध करना उचित नहीं है; बलपूर्वक स्त्रियोंको ग्रहण करना योग्य नहीं है; ॥ १३ ॥

सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु युध्यता ।
नित्यं गोब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः ॥ १४ ॥

कोई भी पुरुष सब प्राणियोंके स्त्रीकी किसी तरह भी युद्ध करते समय हत्या न करे । सदा गो–ब्राह्मणोंका मङ्गल साधन और उनकी रक्षाके लिये दूसरोंसे युद्ध भी करना ॥ १४ ॥

सस्यं च नापहन्तव्यं सीरविघ्नं च मा कृथाः ।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा ॥ १५ ॥

सत्यका हनन करना उचित नहीं है, खेती आदि कार्योंमें विघ्न न करना । जहां देवता, पितर और अतिथि पूजित होते हैं, वहां कोई उपद्रव नहीं करना ॥ १५ ॥

सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति ।
कार्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् ॥ १६ ॥

सब प्राणियोंमें ब्राह्मण डाकुओंसे छुटकारा पानेका अधिकारी है; अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उनकी उन्नति, सेवा–पूजा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यस्य ह्येते संप्ररुष्टा मन्त्रयन्ति पराभवम् ।
न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥

ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होके जिसके पराभव विषयकी मन्त्रणा करते हैं, तीनों लोकके बीच कोई भी उसका त्राता नहीं होता ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणान्परिभवेद्विनाशं चापि रोचयेत्।
सूर्योदय इवावश्यं ध्रुवं तस्य पराभवः ॥ १८ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणोंका अपमान करे, अथवा उनके नाशकी इच्छा करे; सूर्य उदय होनेकी तरह निश्चय ही उसकी पराजय होती है ॥ १८ ॥

इहैव फलमासीनः प्रत्याकाङ्क्षति शक्तितः।
ये ये नो प्रदास्यन्ति तांस्तान्सेनाभियास्यसि ॥ १९ ॥

तुम लोग इस ही स्थानमें वास करते हुए सामर्थ्यके अनुसार सब फल प्राप्तिकी अभिलाषा करना, जो व्यापारी हम लोगोंको स्वेच्छासे धन नहीं देंगे, उनकी ओर सेना भेजी जावेगी ॥ १९॥

शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वधार्थं विनिश्चयः।
ये च शिष्टान्प्रबाधन्ते धर्मस्तेषां वधः स्मृतः ॥ २० ॥

दुष्टोंके दमनके लिये दण्ड विहित है, वधके लिये नहीं है; जो शिष्ट पुरुषोंको सताते हैं उनका वध ही उनके लिये धर्म माना गया है ॥ २० ॥

ये हि राष्ट्रोपरोधेन वृत्तिं कुर्वन्ति केचन।
तदेव तेऽनु मीयन्ते कुणपं कृमयो यथा ॥ २१ ॥

जो लोग राष्ट्रके विषयमें उपद्रव करके जिस किसी उपायसे होवे अपनी जीविकाके लिये प्रयत्न करते हैं, वे लोग मृतदेहमें पडे हुए कृमियोंके समूहकी तरह थोडे ही समयमें नष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्तेरन्निह दस्यवः।
अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥

जो सब डाकू लोग इस जगत्में धर्मशास्त्रके अनुसार जीवन विताते हैं, वे डाकू होनेपर भी शीघ्र ही सिद्धि लाभ करनेमें समर्थ होंगे ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच –

तत्सर्वमुपचक्रुस्ते कापव्यस्यानुशासनम्।
वृत्तिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥

भीष्म बोले– उन सब डाकुओंने कापव्यके शासनको मानकर उसका प्रतिपालन किया; उससे सब ही उन्नति लाभ करके पापकर्मोंसे विरत हुए ॥ २३ ॥

कापव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान्।
साधूनामाचरन्क्षेमं दस्यून्पापान्निवर्तयन् ॥ २४ ॥

कापव्यने साधुओंके विषयमें मङ्गल आचरण और डाकुओंको पापसे निवर्त्तन किया था, इससे उसने महती सिद्धि प्राप्त की थी ॥ २४ ॥

इदं कापव्यचरितं यो नित्यमनुकीर्तयेत् ।
नारण्येभ्यः हि भूतेभ्यो भयमाच्छेंत्कदाचन ॥ २५ ॥

जो कापव्यके इस चरित्रका सदा गान करते हैं, उन्हें वनवासी प्राणियोंसे कुछ भी भय नहीं होता ॥ २५ ॥

भयं तस्य न मर्तेभ्यो नामर्तेभ्यः कथंचन ।
न सतो नासतो राजन्स ह्यरण्येषु गोपतिः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥ ४६०६ ॥

अधिक क्या कहें, सब मर्त्य—अमर्त्य प्राणियोंसे ही कुछ भय नहीं होता; राजन् ! किसी दुष्टसे भी उसको डर नहीं लगता; वह वनके बीच राजा होकर निश्चित रूपसे निवास कर सकता है ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३३ ॥ ४६०६ ॥

: १३४ :

भीष्म उवाच—

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
येन मार्गेण राजानः कोशं संजनयन्ति च ॥ १ ॥

भीष्म बोले— राजा जिस उपायके जरिये कोषका सञ्चय किया करता है, उस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंके जाननेवाले पण्डित लोग ब्रह्माकी कही हुई गाथाएं कहा करते हैं ॥ १ ॥

न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव तत् ।
दस्यूनां निष्क्रियणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति ॥ २ ॥

यज्ञ करनेवाले ऋषियोंका धन और देवस्व हरण करना उचित नहीं है; क्षत्रिय राजा डाकू और क्रियाहीन लोगोंके धनको हरण कर सकता है ॥ २ ॥

इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां रक्ष्याश्चाद्याश्च भारत ।
धनं हि क्षत्रियस्येह द्वितीयस्य न विद्यते ॥ ३ ॥

हे भारत ! क्षत्रियोंको ही ये सब प्रजाएं हैं और सर्व प्रथम इनकी रक्षा करनी चाहिये तथा यहां सब धन भी क्षत्रियोंके अधिकृत हैं, दूसरेके नहीं ॥ ३ ॥

तदस्य स्याद्बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव वा ।
अभोग्या ह्योषधीश्छित्त्वा भोग्या एव पचन्त्युत ॥ ४ ॥

वह धन उसकी सेना अथवा यज्ञके अनुष्ठानके लिये है। जैसे लोग खानेके अयोग्य औषधियोंको काटके उससे खानेके योग्य औषधियोंको पकाते हैं ॥ ४ ॥

योे वै न देवान्न पितॄन्न मर्त्यान्हविषार्चति ।
आनान्तिकां तां धनितामाहुर्वेदविदो जनाः ॥ ५ ॥

जो पुरुष देवता, पितर और मनुष्योंकी हविके द्वारा अर्चना नहीं करता, वेद जाननेवाले पुरुष उसके धनको कनिष्ठ कहा करते हैं ॥ ५ ॥

हरेत्तद्द्रविणं राजन्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
न हि तत्प्रीणयेल्लोकान्न कोशं तद्विधं नृपः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! धार्मिक राजा वह धन हरण करे और वैसे धनसे राजा प्रजाका पालन तथा कोष सञ्चय न करे ॥ ६ ॥

असाधुभ्यो निरादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा मन्ये धर्मविदेव सः ॥ ७ ॥

जो राजा दुष्टोंसे धन लेके उसे साधुओंको दान करता है, वह अपने आपको सेतु बनाकर उनको पार करता है; वही सब धर्मोंका जाननेवाला है, ऐसे मैं मानता हूं ॥ ७ ॥

औद्भिज्जा जन्तवः केचिद्युक्तवाचो यथा तथा ।
अनिष्टतः संभवन्ति तथायज्ञः प्रतायते ॥ ८ ॥

उद्भिज्ज जन्तु और वज्रकीट आदि जीव जैसे विनाकारणके ही उत्पन्न होके विस्तृत होते हैं; वैसे ही अनिष्टके कारण यज्ञहीन कर्म विरोधी मनुष्य राज्यमें उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम् ।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु तथा धर्मो विधीयते ॥ ९ ॥

जैसे मच्छर, मशक और चींटी आदि कीटोंके साथ बर्ताव किया जाता है, अयाज्ञिक पुरुषोंके विषयमें वैसा ही व्यवहार करना उचित है; यह धर्मानुसार विहित होता है, इससे धर्मका प्रसार होता है ॥ ९ ॥

यथा ह्यकस्माद्भवति भूमौ पांसुतृणोलपम् ।
तथैवेह भवेद्धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरोऽपि च ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥ ४६१६ ॥

जैसे अकस्मात् भूमिपर पडा हुआ पांशु पत्थर आदिसे पिसकर अत्यन्त सूक्ष्म होजाता है; इस लोकमें धर्म भी उसी प्रकार सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है ॥ १० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३४ ॥ ४६१६ ॥

: १३५ :

भीष्म उवाच—

अत्रैव चेदमव्यग्रः शृण्वाख्यानमनुत्तमम् ।
दीर्घसूत्रं समाश्रित्य कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १ ॥

भीष्म बोले—हे राजन् ! इस समय दीर्घसूत्रको अवलम्बन करके कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करनेके विषयको लेकर एक उत्तम उपाख्यान कहता हूं, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥१॥

नातिगाधे जलस्थाये सुहृदः शकुलास्त्रयः ।
प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभूवुः सहचारिणः ॥ २ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! बहुत सी मछलियोंसे परिपूरित स्वल्प जलसे युक्त किसी एक तालावमें कार्य कुशल तीन मछलियां सुहृदताके सहित साथ विचरनेवाली, आपसमें प्रेमी होकर वास करती थीं ॥ २ ॥

अत्रैकः प्राप्तकालज्ञो दीर्घदर्शी तथापरः ।
दीर्घसूत्रश्च तत्रैकस्त्रयाणां जलचारिणाम् ॥ ३ ॥

उन तीनों जलसङ्गियोंके बीच एक तो प्राप्त कालका ज्ञाता, दूसरा दीर्घदर्शी और तीसरा दीर्घसूत्री था ॥ ३ ॥

कदाचित्तज्जलस्थायं मत्स्यबन्धाः समन्ततः ।
निःस्रावयामासुरथो निम्नेषु विविधैर्मुखैः ॥ ४ ॥

किसी समय मत्स्यजीवी मछवाहोंने चारों ओरसे जल निकलनेके मार्गके जरिये उस तालावके जलको निम्न प्रदेशमें निकालनेका यत्न किया ॥ ४ ॥

प्रक्षीयमाणं तं बुद्ध्वा जलस्थायं भयागमे ।
अब्रवीद्दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥ ५ ॥

कार्य उपस्थित होनेपर क्रमसे उस तालावका जल थोडा होने लगा । उसे जानकर दीर्घदर्शी मत्स्यने अनागत विधाता भयके कारण दूसरे दोनों मित्रोंसे बोला ॥ ५ ॥

इयमापत्समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम् ।
शीघ्रमन्यत्र गच्छामः पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ६ ॥

इस जलाशयमें रहनेवाले सब मत्स्योंपर यह आपद उपस्थित हुई है । इससे जबतक हमारे निकलनेका मार्ग दूषित नहीं होता है, उतने ही समयमें जितनी जलदी हो सके, हम लोग दूसरी जगह गमन करें ॥ ६ ॥

अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधते ।
न स संशयमाप्नोति रोचतां वां व्रजामहे ॥ ७ ॥

जो अनागत अनर्थको उत्तम नीतिसे निवारण करता है, वह कभी प्राण जानेके संशयमें नहीं पडता; इससे तुम लोगोंकी इस विषयमें अभिरुची होवे, तो चलिये, दूसरे जलाशयको चलें ॥ ७ ॥

दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत्सम्यगुच्यते ।
न तु कार्या त्वरा यावदिति मे निश्चिता मतिः ॥ ८ ॥

ऐसा वचन सुनके दीर्घसूत्री बोला– हे भाई ! तुम उत्तम बात कहते हो, परन्तु मेरा निश्चित विचार यह है, कि किसी विषयमें शीघ्रता करनी उचित नहीं है ॥ ८ ॥

अथ संप्रतिपत्तिज्ञः प्राब्रवीद्दीर्घदर्शिनम् ।
प्राप्ते काले न मे किंचिन्न्यायतः परिहास्यते ॥ ९ ॥

अनन्तर प्रत्युत्पन्नमति दीर्घदर्शीसे बोला, समय उपस्थित होनेपर मैं न्यायके अनुसार किसी उपायको ढूंढनेमें कभी नहीं भूल करता हूं ॥ ९ ॥

एवमुक्तो निराक्रमद्दीर्घदर्शी महामतिः ।
जगाम स्रोतसैकेन गम्भीरसलिलाशयम् ॥ १० ॥

महा बुद्धिमान् दीर्घदर्शी ऐसा वचन सुनकर उस ही स्रोतके जलसे वहांसे निकलकर किसी गहरे तालावमें चला गया ॥ १० ॥

ततः प्रस्रुततोयं तं समीक्ष्य सलिलाशयम् ।
बबन्धुर्विविधैर्योगैर्मत्स्यान्मत्स्योपजीविनः ॥ ११ ॥

अनन्तर मछुवाहोंने जब देखा, कि इस तालावका प्रायः सब जल निकल गया है, तब अनेक उपायोंके जरिये सब मछलियोंको बांध लिया ॥ ११ ॥

विलोड्यमाने तस्मिंस्तु स्रुततोये जलाशये ।
अगच्छद्ग्रहणं तत्र दीर्घसूत्रः सहापरैः ॥ १२ ॥

उस जलाशयके सब जल बाहर निकलने तथा विलोडित होनेके समय दीर्घसूत्री भी अन्य मत्स्योंके सहित जालमें बंधा गया ॥ १२ ॥

उद्दानं क्रियमाणं च मत्स्यानां वीक्ष्य रज्जुभिः ।
प्रविश्यान्तरमन्येषामग्रसत्प्रतिपत्तिमान् ॥ १३ ॥

जब मछुवाहोंने उस समय सनकी डोरीसे सब मछलियोंको गूंथना आरम्भ किया, तब प्रत्युत्पन्नमति भी उनके बीच प्रवेश करके मुखसे पहिले डोरी पकडके बंधासा गया ॥ १३ ॥

ग्रस्तमेव तदुद्दानं गृहीत्वास्त तथैव सः ।
सर्वानेव च तांस्तत्र ते विदुर्ग्रथिता इति ॥ १४ ॥

वह मत्स्य उस जालकी डोरीको मुंहमें लेकर अन्य मछलियोंके तरह बंधा हुआसा दिखने लगा; जालजीवियोंने सब मछलियोंको गुंथा हुआ समझा ॥ १४ ॥

ततः प्रक्षाल्यमानेषु मत्स्येषु विमले जले।
त्यक्त्वा रज्जुं विमुक्तोऽभूच्छीघ्रं संप्रतिपत्तिमान् ॥ १५ ॥

अनन्तर जब विमल जलवाले बडे तालावमें सब मछलियां धोई जाने लगीं; तब प्रत्युत्पन्नमति मुखमें ली हुई जालकी रस्सी छोडके उसके बन्धनसे मुक्त हुआ और शीघ्र जलमें प्रविष्ट हुआ ॥ १५ ॥

दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः।
मरणं प्राप्तवान्मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥ १६ ॥

और बुद्धिहीन आलसी मूढ दीर्घसूत्री नष्टेन्द्रिय लोगोंकी तरह अचेत होकर नष्ट हुआ ॥१६॥

एवं प्राप्ततमं कालं यो मोहान्नावबुध्यते।
स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घसूत्रो यथा झषः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार जो पुरुष मृत्युकाल उपस्थित होनेपर उसे मोहके वशमें होकर नहीं जान सकता, वह दीर्घसूत्री मत्स्यकी तरह शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ १७ ॥

आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान्।
स संशयमवाप्नोति यथा संप्रतिपत्तिमान् ॥ १८ ॥

“मैं अत्यन्त बुद्धिमान् तथा कार्यकुशल हूं,”— ऐसा समझके जो पुरुष पहिलेसे अपने कल्याणका मार्ग ठीक नहीं करता, वह प्रत्युत्पन्नमतिकी तरह प्राणसंशयसे युक्त हुआ करता है ॥ १८ ॥

अनागतविधानं तु यो नरः कुरुते क्षमम्।
श्रेयः प्राप्नोति सोऽत्यर्थं दीर्घदर्शी यथा ह्यसौ ॥ १९ ॥

संकट आनेसे पहले ही जो मनुष्य अपने बचावका योग्य उपाय करता है, वह दीर्घदर्शीके समान उसमेंसे बचनेका कल्याणमय मार्ग प्राप्त कर सकता है ॥ १९ ॥

कलाः काष्ठा मुहूर्ताश्च दिना नाड्यः क्षणा लवाः।
पक्षा मासाश्च ऋतवस्तुल्याः संवत्सराणि च ॥ २० ॥

कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, दिन, नाडी, क्षण, लव, पक्ष, महीना, ऋतु, तुल, सम्वत्सर, ॥ २० ॥

पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं न्यायतो यच्च तत्तथा ॥ २१ ॥

—इन्हें काल कहते हैं, और पृथिवीको देश कहा जाता है; परन्तु काल दीख नहीं पडता है। अभिलपित विपयकी सिद्धिके निमित्त जिसकी जैसी चिन्ता की जाती है; वह उस योग्य ही रीतिसे सिद्ध हुआ करता है ॥ २१ ॥

एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः ।
प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामेशाभिमतौ नृणाम् ॥ २२ ॥

धर्म, अर्थ और मोक्ष विषयक सब शास्त्रोंमें महर्षियोंने इन देश और कालको ही कार्यसिद्धिका प्रधान उपाय कहा है; मनुष्योंकी इच्छा पूर्तिके लिये भी ये देश तथा काल मुख्य माने गये हैं ॥ २२ ॥

परीक्ष्यकारी युक्तस्तु सम्यक्समुपपादयेत् ।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥ ४६३९ ॥

जो पुरुष परीक्षा पूर्वक कार्य सिद्ध करता है और जो युक्तिके अनुसार सब कार्योंको पूरा करता है, वह देशकालके अनुसार सब लोगोंसे सम्मत होके दीर्घदर्शी और प्रत्युत्पन्नमतिसे भी अधिक इच्छित फल पाता है ॥ २३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३५ ॥ ४६३९ ॥

१३६

युधिष्ठिर उवाच—

सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ ।
अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरत-श्रेष्ठ ! सब विषयोंमें ही अपनी बुद्धि श्रेष्ठ है, अनागत और प्रत्युत्पन्ना बुद्धि ही उत्तम है आपने यह बताया है और दीर्घसूत्री बुद्धि नाश करनेवाली है, यह भी बताया ॥ १ ॥

तदिच्छामि परां बुद्धिं श्रोतुं भरतसत्तम ।
यथा राजन्न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजन् ! इससे इस समय आपसे परमबुद्धिके विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं, जिसे अवलम्बन करनेसे राजा शत्रुओंमें घिरके भी मोहको नहीं प्राप्त होता ॥ २ ॥

धर्मार्थकुशल प्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
पृच्छामि त्वा कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे धर्मार्थ विषयकी व्याख्या करनेमें निपुण, बुद्धिमान् और सर्व शास्त्रके जाननेवाले, कुरुश्रेष्ठ ! मैं जो कुछ इस विषयमें पूछता हूं, उसे मेरे समीप वर्णन करनेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्तेत पार्थिवः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथाविधि ॥ ४ ॥

राजा अनेक शत्रुओंसे घिरकर जिस प्रकार निवास करे, वह सब विधिपूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४ ॥

+

विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः ।
बहवोऽप्येकमुद्धर्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः ॥ ५ ॥

दुर्बल राजाके अत्यन्त विपद युक्त होने पर पहिले दुःखित हुए डाकू आदि शत्रु लोग बहुतसे इकट्ठे होके उसकी पराजयके लिये यत्नवान होते हैं ॥ ५ ॥

सर्वतः प्राथ्र्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः ।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं कथं भवेत् ॥ ६ ॥

महाबलसे युक्त शत्रु लोग जब सहाय रहित, अकेले निर्बल राजाको आक्रमण करनेका यत्न करें, तो वह अकेला असहाय राजा किस प्रकार उस परिस्थितिका सामना कर सके ? ॥६॥

कथं मित्रमरिं चैव विन्देत भरतर्षभ ।
चेष्टितव्यं कथं चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! किस तरह वह मित्र और शत्रु लाभ करता और शत्रु तथा मित्रोंके बीच उसे कैसी चेष्टा करनी उचित है ? ॥ ७ ॥

प्रज्ञातलक्षणे राजन्नमित्रे मित्रतां गते ।
कथं नु पुरुषः कुर्यात्किं वा कृत्वा सुखी भवेत् ॥ ८ ॥

राजन् ! पहले लक्षणोंसे शत्रु समझा गया मनुष्य यदि मित्र हो जाय, तो उसके विषयमें कैसा व्यवहार करे और कैसा आचरण करके वह सुखी होता है ? ॥ ८ ॥

विग्रहं केन वा कुर्यात्संधिं वा केन योजयेत् ।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेताबलवानिति ॥ ९ ॥

राजा किसके साथ विग्रह करे ? और किसके सङ्ग सन्धि बन्धन करे तथा बलवान् पुरुष भी शत्रुओंके बीच मिल जाय तो उसके साथ किस प्रकार बर्ताव करे ? ॥ ९ ॥

एतद्वै सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परंतप ।
नैतस्य कश्चिद्वक्तास्ति श्रोता चापि सुदुर्लभः ॥ १० ॥
ऋते शांतनवाद्भीष्मात्सत्यसंधाज्जितेन्द्रियात् ।
तदन्विष्य महाबाहो सर्वमेतद्वदस्व मे ॥ ११ ॥

हे महाबाहु शत्रुतापन ! सब कर्त्तव्य विषयोंमें इसेही आप श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझिये; सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय शान्तनुनन्दन भीष्मके अतिरिक्त इस विषयका वक्ता दूसरा कोई भी नहीं है, और इसका श्रोता भी अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये यह सारा विषय मुझसे कहिये ॥ १०–११ ॥

भीष्म उवाच—

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर गुणोदयः ।
शृणु मे पुत्र कात्स्न्र्येन गुह्यमापत्सु भारत ॥ १२ ॥

भीष्म बोले— हे भरतकुल तिलक तात युधिष्ठिर ! तुमने जो प्रश्न किया वह युक्तियुक्त और उसके सुननेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है; इससे आपत्कालमें जैसा कार्य करना चाहिये, वह सब गुप्त विषय कहता हूं, सुनो ॥ १२ ॥

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात्कार्याणां तद्गत्या हि सदा गतिः ॥ १३ ॥

कार्योंके सामर्थ्य निबन्धनसे शत्रु भी मित्र बन जाता है, मित्र भी शत्रु भावसे दूषित होता है; इससे शत्रु-मित्रकी परिस्थिति – गति सदा ही अनित्य है ॥ १३ ॥

तस्माद्विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १४ ॥

तब कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयको विशेषरूपसे निश्चय करना हो, तो देशकालका विचार करके किसीके विषयमें विश्वास करना और किसीके साथ युद्ध करना उचित है ॥ १४ ॥

संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्यं च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि संधेयं प्राणा रक्ष्याश्च भारत ॥ १५ ॥

हे भारत ! कर्तव्यका विचार करके हितैषी पण्डितोंके साथ सन्धि करनी उचित है और सदा प्राणरक्षाके वास्ते शत्रुके साथ भी सन्धि करनी योग्य है ॥ १५ ॥

यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः ।
न सोऽर्थमाप्नुयात्किंचित्फलान्यपि च भारत ॥ १६ ॥

भारत ! जो मूर्ख पुरुष शत्रुओंके साथ कभी भी सन्धि स्थापित नहीं करता, वह कोई अर्थ वा फल लाभ नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यस्त्वमित्रेण संधत्ते मित्रेण च विरुध्यते ।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद्विन्दते फलम् ॥ १७ ॥

जो पुरुष अर्थ युक्ति अवलम्बन करके समयके अनुसार शत्रुओंके साथ सन्धि और मित्रोंके सङ्ग विरोध करता है, वह महत् फल लाभ करता है ॥ १७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषकस्य च ॥ १८ ॥

प्राचीन विषयोंके जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें किसी वटवृक्षके निकटमें स्थित बिडाल और मूषिकके सम्वाद युक्त प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ १८ ॥

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत् ।
लताजालपरिच्छन्नो नानाद्विजगणायुतः ॥ १९ ॥

किसी महावनके बीच लतासमूहसे घिरा हुआ, तथा अनेक तरहके पक्षियोंसे युक्त, एक विशाल वटका वृक्ष था ॥ १९ ॥

स्कन्धवान्मेघसंकाशः शीतच्छायो मनोरमः ।
वैरन्त्यमभितो जातस्तरुर्व्यालमृगाकुलः ॥ २० ॥

बहुत बडी शाखाओंसे सम्पन्न होनेसे वह मेघके समान दिखता था; शीतल छायासे युक्त वह मनोरम वृक्ष वनके समीप होनेसे सर्प और मृगसमूहसे परिपूरित था ॥ २० ॥

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम् ।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषकः ॥ २१ ॥

पलित नामक एक महाबुद्धिमान् चूहा उसके मूलस्थलके अवलम्बसे सौ दरवाजेकी बिल बनाकर उसमें वास करता था ॥ २१ ॥

शाखाश्च तस्य संश्रित्य वसति स्म सुखं पुरः ।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसत्त्वावसादकः ॥ २२ ॥

और पक्षियोंको भक्षण करनेवाला लोमश नामका बिडाल पहिलेसे ही उस वृक्षकी शाखाका सहारा करके परम सुखसे निवास करता था ॥ २२ ॥

तत्र चागत्य चाण्डालो वैरन्त्यकृतकेतनः ।
अयोजयत्तसुन्माथं नित्यमस्तं गते रवौ ॥ २३ ॥

वनवासी कोई चाण्डाल प्रतिदिन सूर्य अस्त होनेपर उस वट वृक्षके समीप आके पशुपक्षियोंके बन्धनके निमित्त जालका विस्तार किया करता था ॥ २३ ॥

तत्र स्नायुमयान्पाशान्यथावत्संनिधाय सः ।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ॥ २४ ॥

वह वहांपर यथा रीतिसे तांतमय जालको बिछाके घरमें जाकर सुखसे सोता और रात बीतनेपर सबेरे वहां आके उपस्थित होता था ॥ २४ ॥

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः ।
कदाचित्तत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तोऽप्यबध्यत ॥ २५ ॥

रातके समय अनेक तरहके मृग उस पाशजालमें बंध जाया करते थे । किसी दिन वह बिडाल अपनी असावधानीके कारण उस जालमें बंधा गया था ॥ २५ ॥

तस्मिन्बद्धे महाप्राज्ञः शत्रौ नित्याततायिनि ।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा विचचार सुनिर्भयः ॥ २६ ॥

सदा आततायी शत्रु उस बिडालके बंधने पर महाबुद्धिमान् पलित नामक चूहा अवसर पाके बिलके बाहर आके निर्भयताके सहित सब ओर घूमने लगा ॥ २६ ॥

तेनानुचरता तस्मिन्वने विश्वस्तचारिणा ।
भक्षं विचरमाणेन नचिरादृदृष्टमामिषम् ॥ २७ ॥

मूषिक विश्वस्तभावसे उस वनके बीच भक्ष्यवस्तुओंको खोजते हुए घूम रहा था; कुछ समयके अनन्तर उस जालपर बंधा हुआ मांस देखा ॥ २७ ॥

स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत् ।
तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन् ॥ २८ ॥

चूहा उस जाल उपर चढके मांस भक्षण करने लगा । फिर वह जालमें बंधे हुए शत्रुके विषयमें मनही मन उपहास करने लगा ॥ २८ ॥

आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन् ।
अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम् ॥ २९ ॥

वह मांस भक्षणमें आसक्त हुआ ही था कि इतनेमें उसकी दृष्टि दूसरी ओर गयी; फिर उसने एक दूसरे महाघोर निज वैरीको समीप आते देखा ॥ २९ ॥

शरप्रसूनसंकाशं महीविवरशायिनम् ।
नकुलं हरिकं नाम चपलं ताम्रलोचनम् ॥ ३० ॥

पृथ्वीपर बिलमें वास करनेवाले उस नेवलेका शरीर शर–पुष्पके समान, उसके नेत्र लालवर्ण और वह अत्यन्त चञ्चल था और उसका नाम हरि था ॥ ३० ॥

तेन मूषकगन्धेन त्वरमाणमुपागतम् ।
भक्षार्थं लेलिहद्वक्त्रं भूमावूर्ध्वमुखं स्थितम् ॥ ३१ ॥

वह चूहेका गन्ध सूंघके शीघ्रतासे उधर आया था और अपना आहार भक्षणके वास्ते जीभ लपलपाता ऊपर मुंह करके पृथ्वीपर खडा रहा था ॥ ३१ ॥

शाखागतमरिं चान्यदपश्यत्कोटरालयम् ।
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ॥ ३२ ॥

इधर उस चूहेने उस वृक्षके कोटरमें रहनेवाले रातमें विचरनेवाले वडी तीरकी चोंचवाले चन्द्रक नामक एक दूसरे वैरी उलूकको वृक्षकी डालियोंपर भ्रमण करते देखा ॥ ३२ ॥

गतस्य विषयं तस्य नकुलोलूकयोस्तदा ।
अथास्यासीदियं चिन्ता तत्प्राप्य सुमहद्भयम् ॥ ३३ ॥

चूहा, नेवला और उलूक–दोनोंका लक्ष्य बनकर अत्यन्त भयके वशमें होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ ३३ ॥

आपद्यस्यां सुकष्टायां मरणे समुपस्थिते ।
समन्ताद्भय उत्पन्ने कथं कार्यं हितैषिणा ॥ ३४ ॥

"यह अत्यन्त दुःखमय आपदके समय चारों ओरसे भय उत्पन्न और मरण सम्भव हुआ है। मरण उपस्थित होने पर हितैषी पुरुषको कैसा कार्य करना चाहिये ?" ॥ ३४ ॥

स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र समदर्शनः ।
अभवद्भयसंतप्तश्चक्रे चेमां परं गतिम् ॥ ३५ ॥

चूहा इसी प्रकार चारों ओरसे घिरकर सब तरफ भयका कारण देखते हुए भयसे दुःखित होके सूक्ष्म बुद्धिसे विचार कर श्रेष्ठ उपाय सोचने लगा ॥ ३५ ॥

आपद्विनाशभूयिष्ठा शतैकीयं च जीवितम् ।
समन्तसंशया चेयमस्मानापदुपस्थिता ॥ ३६ ॥

विपद नष्ट होनेके उपायके जरिये क्लेश निवारण करके जीवनके समयको प्रशस्त करना उचित है, परन्तु चारों ओरसे मेरे समीप यह संशय युक्त समस्त आपद उपस्थित हुई है ॥ ३६ ॥

गतं हि सहसा भूमिं नकुलो मां समाप्नुयात् ।
उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात् ॥ ३७ ॥

मैं यदि पृथ्वी पर गमन करूं तो सहसा नकुल आके मुझे पकडकर भक्षण करेगा । यहां पर रहनेसे उल्लूके ग्रासमें पतित होना पडेगा और जाल काट कर भीतर जाऊं तो बिडाल मुझे भक्षण करनेमें विलम्ब न करेगा ॥ ३७ ॥

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः संमोहं गन्तुमर्हति ।
करिष्ये जीविते यत्नं यावदुच्छ्वासनिग्रहम् ॥ ३८ ॥

परन्तु मेरे समान बुद्धिमान्को कभी मोहित होना योग्य नहीं है; इससे युक्ति और बुद्धिशक्तिके प्रभावसे जहांतक हो सकेगा, मैं अपने जीवनरक्षाके वास्ते यत्न करूंगा ॥ ३८ ॥

न हि बुद्ध्यान्विताः प्राज्ञा नीतिशास्त्रविशारदाः ।
संभ्रमन्त्यापदं प्राप्य महतोऽर्थानवाप्य च ॥ ३९ ॥

नीतिशास्त्रको जाननेवाले, बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष कठिन और भयंकर विपद्में पडके भी उसमें नहीं डूब जाते, उससे छूटनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ३९ ॥

न त्वन्यामिह मार्जाराद्गतिं पश्यामि सांप्रतम् ।
विषमस्थो ह्ययं जन्तुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥ ४० ॥

इस समय बिडालसे उपकारके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं देखता हूं; परन्तु यह मेरा कट्टर शत्रु इस समय विपदग्रस्त हुआ है; इसका महत् उपकार करना मुझे उचित मालूम होता है ॥ ४० ॥

जीवितार्थी कथं त्वद्य प्रार्थितः शत्रुभिस्त्रिभिः ।
तस्मादिममहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥ ४१ ॥

इस समय मैं तीन शत्रुओंके बीच घिरके किस प्रकार जीवन रक्षाकी आशा कर सकता हूं; इससे बिडाल मेरा सदाका शत्रु है, तौभी उसका आश्रय ग्रहण करना ही उचित मालूम होता है ॥ ४१ ॥

क्षत्रविद्यां समाश्रित्य हितमस्योपधारये ।
येनेमं शत्रुसंघातं मतिपूर्वेण वञ्चये ॥ ४२ ॥

मैं क्षत्रविद्याका आश्रय करके इसके हितका उपदेश प्रदान करूंगा; इस ही के जरिये इन सब शत्रुओंकी बुद्धि-पूर्वक वञ्चना कर सकूंगा और बच जाऊंगा ॥ ४२ ॥

अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः ।
मूढो ग्राहयितुं स्वार्थं संगत्या यदि शक्यते ॥ ४३ ॥

यह मूढ बिडाल मेरा सदाका शत्रु है, परंतु इस समय अत्यन्त विपदग्रस्त हुआ है; इससे स्वार्थ–साधन करनेके लिये सङ्गतिके क्रमसे यदि इसे सम्मत कर सकूं, तभी जीवनकी रक्षा होगी ॥ ४३ ॥

कदाचिद्व्यसनं प्राप्य संधिं कुर्यान्मया सह ।
बलिना संनिविष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ।
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना ॥ ४४ ॥

यह इस समय विपद्ग्रस्त हुआ है, इससे मेरे साथ सन्धि कर भी सकता है। बलवान् पुरुष विषम विपद्में पडनेपर जीवनकी रक्षाके निमित्त अपने निकटवर्ती शत्रुके साथ सन्धि करें, ऐसा प्राचीन आर्य लोग कहा करते हैं ॥ ४४ ॥

श्रेयान्हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितम् ।
मम ह्यमित्रे मार्जारे जीवितं संप्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

विद्वान् शत्रु भी अच्छा है; परंतु मूर्ख मित्र कदापि उत्तम नहीं है। इस समय मेरे शत्रु बिडालके निकट मेरा जीवन प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

हन्तैनं संप्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ।
अपीदानीमयं शत्रुः संगत्या पण्डितो भवेत् ॥ ४६ ॥

जो हो मैं इसे आत्म–मुक्तिका उपाय कहूंगा; यह शत्रु मूर्ख होनेपर भी मेरे सहवासके कारण पण्डित हो सकेगा। संभव है विवेकपूर्ण कार्य करेगा ॥ ४६ ॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः संधिविग्रहकालवित् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषकोऽब्रवीत् ॥ ४७ ॥

अनन्तर सन्धि–विग्रहके समय और प्रयोजन सिद्धिके उपायको जाननेवाला चूहा धीरज देके बिडालसे यह वचन बोला ॥ ४७ ॥

सौहृदेनाभिभाषे त्वा कच्चिन्मार्जार जीवसि ।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ४८ ॥

हे बिडाल! मैं सुहृद्भावसे तुमसे कहता हूं, कि तुम जीवित हो न? मैं तुम्हारे जीवनकी रक्षा हो, ऐसे ही इच्छा करता हूं, क्योंकि वह हम दोनोंके वास्ते कल्याणकारी है ॥ ४८ ॥

न ते सौम्य विषत्तव्यं जीविष्यसि यथा पुरा ।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि प्राणानपि जह्यां हि ते कृते ॥ ४९ ॥

हे प्रियदर्शन! तुम भय मत करो, पहलेके समान तुम सुखपूर्वक जीवित रहोगे। मैं तुम्हें इस विपदसे छुडाऊंगा, तुम्हारे लिये प्राणोंका ही त्याग करूंगा ॥ ४९ ॥

अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र पुष्कलः प्रतिभाति माम् ।
येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेये यथा मया ॥ ५० ॥

इस विषयमें एक उत्तम उपाय है, और मेरे अन्तःकरणमें वह प्रतीत हो रहा है, जिसके जरिये तुम मेरे सहारे विपदसे छूटोगे, और मैं भी कल्याण लाभ कर सकूंगा ॥ ५० ॥

मया ह्युपायो दृष्टोऽयं विचार्य मतिमात्मनः ।
आत्मार्थं च त्वदर्थं च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥५१॥

मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत विचार करके अपने और तुम्हारे कल्याण–सिद्धिके वास्ते एक ऐसा उपाय देखा है, वह मेरे और तुम्हारे दोनोंके ही वास्ते कल्याणकारी है ॥ ५१ ॥

इदं हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्यभितः स्थितम् ।
न धर्षयति मार्जार तेन मे स्वस्ति सांप्रतम् ॥५२॥

हे विडाल ! यह नकुल और उलूक पापबुद्धि अवलम्बन करके मेरे सम्मुख वर्त्तमान हैं; ये दोनों जबतक मुझपर आक्रमण नहीं करते, तभी इस समय मेरा मङ्गल है ॥ ५२ ॥

कूजंश्चपलनेत्रोऽयं कौशिको मां निरीक्षते ।
नगशाखाग्रहस्तिष्ठंस्तस्याहं भृशमुद्विजे ॥५३॥

यह वृक्षकी डालके ऊपर बैठा हुआ चञ्चल नेत्रवाला पापात्मा उलूक चिल्लाते हुए मुझे देख रहा है, इससे मैं उसके भयसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूं ॥ ५३ ॥

सतां साप्तपदं सख्यं सवासो मेऽसि पण्डितः ।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते मृत्युतो भयम् ॥५४॥

साधुओंकी आपसमें सप्त पद उच्चारण पूर्वक आलापसे ही मित्रता होती है; तुम मेरे विद्वान् मित्र हो; हम और तुम यहां सदा ही साथ रहते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे साथ यथार्थ मित्रका कार्य करूंगा, अब तुम्हें मृत्युसे कुछ भय नहीं है ॥ ५४ ॥

न हि शक्नोषि मार्जार पाशं छेत्तुं विना मया ।
अहं छेत्स्यामि ते पाशं यदि मां त्वं न हिंससि ॥५५॥

हे विडाल ! तुम मेरे विना स्वयं जालका बंधन काटनेमें समर्थ न होगे; यदि तुम मेरी हिंसा न करो, तो मैं तुम्हारा समस्त पाश काट दूंगा ॥ ५५ ॥

त्वमाश्रितो नगस्याग्रं मूलं त्वहमुपाश्रितः ।
चिरोषिताविहावां वै वृक्षेऽस्मिन्विदितं हि ते ॥५६॥

तुम इस वृक्षके अग्रभाग पर और मैं इसके मूलको अवलम्बन करके वास कर रहा हूं; हम दोनों ही बहुत दिनोंसे इस वृक्षका आश्रय करके वास कर रहे हैं, वह तुमसे छिपा नहीं है ॥ ५६ ॥

यस्मिन्नाश्वसते कश्चिद्यश्च नाश्वसते क्वचित् ।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नचेतसौ ॥५७॥

जो पुरुष किसीका विश्वास नहीं करता और जिसका कोई विश्वास नहीं करते, वैसे सदा व्यग्रचित्त दोनों पुरुषोंकी पण्डित लोग प्रशंसा नहीं करते ॥ ५७ ॥

तस्माद्विवर्धतां प्रीतिः सत्या संगतिरस्तु नौ ।
कालातीतमपार्थं हि न प्रशंसंति पण्डिताः　　　॥ ५८ ॥

इसलिये हम लोगोंके सदाका सहवास और प्रीति परिवर्धित हो; प्रयोजनका समय बीतनेकी पण्डित लोग प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ५८ ॥

अर्थयुक्तिमिमां तावद्यथाभूतां निशामय ।
तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम्　　　॥ ५९ ॥

विडाल! इससे इस विषयमें यही यथार्थ युक्ति समझो; तुम यदि मेरे जीवन रक्षाके अभिलाषी होगे, तो मैं भी तुम्हारे जीवनकी रक्षा करनेके वास्ते इच्छा करूंगा ॥ ५९ ॥

कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम् ।
स तारयति तत्काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते　　　॥ ६० ॥

कोई मनुष्य जब काष्ठके सहारे अत्यन्त गहरी महानदी पार होता है, तब वह उस लकडीको भी किनारे लगा देता है और वह लकडी भी उसे तारनेमें सहायक होती है ॥ ६० ॥

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुनिस्तरः ।
अहं त्वां तारयिष्यामि त्वं च मां तारयिष्यसि　　　॥ ६१ ॥

इस प्रकार हम दोनोंके इस मिलापका परिणाम सुखप्रद होगा । मैं तुम्हें जालसे छुडाऊंगा, तुमभी मुझे विपदसे बचाओगे ॥ ६१ ॥

एवमुक्त्वा तु पलितस्तदर्थमुभयोर्हितम् ।
हेतुमद्ग्रहणीयं च कालाकाङ्क्षी व्यपैक्षत　　　॥ ६२ ॥

पलित इसी प्रकार दोनोंके लिये हितकर, युक्तियुक्त और ग्रहणीय वचन कहके उत्तर मिलनेकी अपेक्षा करता हुआ उसकी ओर देखने लगा ॥ ६२ ॥

अथ सुव्याहृतं तस्य श्रुत्वा शत्रुर्विचक्षणः ।
हेतुमद्ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत्　　　॥ ६३ ॥

अनन्तर चूहेका शत्रु विचक्षण विडालने उसका युक्तियुक्त तथा मानने योग्य सुन्दर वचन सुनके उत्तर दिया; ॥ ६३ ॥

बुद्धिमान्वाक्यसंपन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन् ।
तामवस्थामवेक्ष्यात्मां साम्नैव प्रत्यपूजयत्　　　॥ ६४ ॥

और उस बुद्धिमान् तथा वाक्य-निपुण विडालने चूहेके वचनको मनमें दुहराके और अपनी अवस्था देखके साम नीतिपूर्वक उसकी प्रशंसा की ॥ ६४ ॥

+

ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो वैडूर्यमणिलोचनः ।
मूषकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशोऽब्रवीत् ॥ ६५ ॥

अन्तमें तीक्ष्ण दांतवाला और वैडूर्यके समान नेत्रवाला लोमश बिडाल चूहेको धीरे धीरे देखके बोला ॥ ६५ ॥

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवन्तमिच्छसि ।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥ ६६ ॥

हे प्रियदर्शन ! तुम्हारा कल्याण होवे; तुम जो मेरे जीवन रक्षाके वास्ते यत्न करते हो उससे मैं अत्यन्त ही आनन्दित होकर तुम्हारा अभिनन्दन करता हूं । यदि हमारे कल्याणका उपाय जानते हो, तो करो; विलम्ब मत करो ॥ ६६ ॥

अहं हि दृढमापन्नस्त्वमापन्नतरो मया ।
द्वयोरापन्नयोः संधिः क्रियतां मा विचारय ॥ ६७ ॥

मैं आपद्ग्रस्त हूं और तुम मुझसे भी अधिक आपदमें पडे हो; इससे दोनों आपदग्रस्तोंकी सन्धि होनी चाहिये; विलम्बका प्रयोजन नहीं है ॥ ६७ ॥

विधत्स्व प्राप्तकालं यत्कार्यं सिध्यतु चावयोः ।
मयि कृच्छ्राद्विनिर्मुक्ते न विनङ्क्ष्यति ते कृतम् ॥ ६८ ॥

समयपर जिसमें हमारे कार्यकी सिद्धि हो, वैसाही करो; मैं इस क्लेशकारी विपदसे छूटनेपर तुम्हारे किये हुए उपकारको व्यर्थ नहीं करूंगा; मैं इसका बदला चुकाऊंगा ॥ ६८ ॥

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत्तथा ।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥ ६९ ॥

मैं मेरा मान त्यागके तुम्हारा अनुरक्त, भक्त, शिष्य, तुम्हारा हितकारी होकर तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहूंगा; मैं शरणागत हुआ हूं ॥ ६९ ॥

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम् ।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवत् ॥ ७० ॥

अपने कार्यको जाननेवाले पलितने बिडालका ऐसा वचन सुनके उसे अपने वशमें जानकर विनयपूरीत अर्थ–युक्त हितकर वचनसे बोला– ॥ ७४ ॥

उदारं यद्भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे ।
विदितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥ ७१ ॥

आपने जो उदार वचन कहे, वह तुम्हारे समान पुरुषके विषयमें विचित्र नहीं हैं; दोनोंके हितके निमित्त मैंने जिस उपायका विधान किया है, वह मुझसे सुनो ॥ ७१ ॥

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद्भयम् ।
त्रायस्व मां मा वधीश्च शक्तोऽस्मि तव मोक्षणे ॥ ७२ ॥

नेंवलेसे मुझे अत्यन्त भय लगता है, इससे मैं तुम्हारे समीप जालमें प्रवेश कर बैठता हूं; मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हूं; इससे आप मेरी रक्षा कीजिये, वध न करना; ॥ ७२ ॥

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम् ।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान्सखे सत्येन ते शपे ॥ ७३ ॥

इधर क्षुद्र उल्लू मुझपर आक्रमण करनेकी आशा करता है, इससे उससे भी मुझे बचाओ । हे मित्र ! मैं सत्यपूर्वक शपथ करता हूं, कि तुम्हारे समस्त पाश काट दूंगा ॥ ७३ ॥

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत् ।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ७४ ॥

लोमशने पलित चूहेका युक्ति, सुसंगत और अर्थयुक्त वचन सुनके हर्षके वशमें होकर उसे देखके स्वागत वचनसे सम्मानित किया ॥ ७४ ॥

स तं संपूज्य पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः ।
सुविचिन्त्याब्रवीद्धीरः प्रीतस्त्वरित एव हि ॥ ७५ ॥

पलितकी इस प्रकार प्रशंसा तथा पूजा करके अनन्तर वह वीरवर विडाल सुहृदभावसे स्थित ही प्रसन्नता और शीघ्रतासे पलितको सम्मानित करके विशेष विचारके अनन्तर बोला ॥७५॥

क्षिप्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा ।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि क्षिप्रं प्राप्स्यामि जीवितम् ॥ ७६ ॥

हे मित्र ! जलदी आओ, तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम मेरे प्राणं समान सखा हो । हे बुद्धिमान् ! तुम्हारी ही कृपासे मैं तुरंत ही जीवन लाभ करूंगा ॥ ७६ ॥

यद्यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव ।
तदाज्ञापय कर्ताहं संधिरेवास्तु नौ सखे ॥ ७७ ॥

इस सङ्कटके समयमें मैं तुम्हारा जो कुछ उपकार कर सकूं, उसकी तुम आज्ञा करो; मैं वैसाही करूंगा । हे मित्र ! हम दोनोंमें सन्धि रहे ॥ ७७ ॥

अस्मात्ते संशयान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः ।
सर्वकार्याणि कर्ताहं प्रियाणि च हितानि च ॥ ७८ ॥

इस विपदसे छूटनेपर मैं अपने सभी मित्रों और बन्धुबान्धवोंके सहित तुम्हारा जो कुछ प्रिय और हितकर कार्य होगा, वह सब सिद्ध करूंगा ॥ ७८ ॥

मुक्तश्च व्यसनादस्मात्सौम्याहमपि नाम ते ।
प्रीतिमुत्पादयेयं च प्रतिकर्तुं च शक्नुयाम् ॥ ७९ ॥

हे प्रियदर्शन ! इस विपदसे छूटनेपर मैं तुम्हारे हृदयमें प्रीति उत्पन्न करूंगा; तुम मेरा प्रिय करनेवाले हो, इसलिये तुम्हारी प्रसन्नता तथा सत्कार साधन करूंगा ॥ ७९ ॥

ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्जारं मूषकस्तदा ।
प्रविवेश सुविस्रब्धः सम्यगर्थाश्चचार ह ॥ ८० ॥

चूहेने स्वार्थसाधनके लिये बिडालको इस प्रकार सम्मत करके विश्वासपूर्वक उस अपराध करनेवाले शत्रुकी गोदमें प्रवेश किया ॥ ८० ॥

एवमाश्वासितो विद्वान्मार्जारेण स मूषकः ।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥ ८१ ॥

बुद्धिमान् चूहेंने बिडालसे इस प्रकार आश्वासित होकर पिता–माताकी तरह विश्वस्त होकर उसकी छातीपर शयन किया ॥ ८१ ॥

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्याथ मूषकम् ।
तौ दृष्ट्वा नकुलोलूकौ निराशौ जग्मतुर्गृहान् ॥ ८२ ॥

नकुल और उल्लू चूहेको बिडालके शरीरमें लीन होते देखकर, निराश हुए और अपने घरपर चले गये ॥ ८२ ॥

लीनस्तु तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान्नृपते कालाकाङ्क्षी शनैः शनैः ॥ ८३ ॥

हे महाराज ! अनन्तर देशकालकी गतिको जाननेवाला पलित समयकी प्रतीक्षा करता हुआ बिडालके अंगोंमें छिपा रहकर थोडा थोडा बिडालके शरीरके पाशको काटने लगा ॥ ८३ ॥

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ॥ ८४ ॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तदा ।
संचोदयितुमारेभे मार्जारो मूषकं तदा ॥ ८५ ॥

अनन्तर बिडाल बन्धनके दुःखसे अत्यन्त क्लेशित रहके, चूहेको पाश काटनेमें फुर्तीरहित हो, बिलम्ब करते देखकर आतुरताके सहित बन्धन काटनेमें जल्दी न करनेवाले पलित नामक चूहेको शीघ्रतासे उत्तेजित करने लगा और बोला– ॥ ८४–८५ ॥

किं सौम्य नाभित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे ।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति सः ॥ ८६ ॥

हे मित्र ! तुम विलम्ब क्यों करते हो ? स्वयं कृतकार्य होकर क्या तुम अवज्ञा करते हो ? हे शत्रुनाशन ! व्याधा आगे आरहा है, इससे तुम जल्दी मेरे पाश काटो ॥ ८६ ॥

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान्पलितोऽब्रवीत् ।
मार्जारमकृतप्रज्ञं वश्यमात्महितं वचः ॥ ८७ ॥

शीघ्रता करनेवाले बिडालके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् पलित चूहेने अपक्वबुद्धि बिडालसे पथ्य और आत्महितकर वचन कहा ॥ ८७ ॥

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न संभ्रमः ।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ८८ ॥

हे प्रियदर्शन ! तुम मौनभावसे रहो, शीघ्रता और भय करना तुम्हें उचित नहीं है; मैं समयज्ञ हूं, इससे प्रकृत समय परित्याग नहीं करता; ठीक अवसर आनेपर मैं कभी नहीं चूकूंगा ॥८८॥

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुं नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥ ८९ ॥

हे मित्र ! असमयमें आरम्भ किया हुआ कार्य करनेवालेके लिये फलदायक सिद्ध नहीं होता है और वह कार्य ही समयपर आरम्भ किया जाय तो महान् अर्थका साधक होता है ॥८९॥

अकालविप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत् ।
तस्मात्कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ९० ॥

तुम्हारे असमय बन्धनसे छूटनेपर तुमसे मुझे भयकी सम्भावना है, इससे हे मित्र ! समयकी प्रतीक्षा करो, शीघ्रता क्यों करते हो ? ॥ ९० ॥

यावत्पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम् ।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशं प्राप्ते साधारणे भये ॥ ९१ ॥

शस्त्रधारी चाण्डालको मैं जब आते देखूंगा, तभी तुम्हारे ऊपर साधारणसा भय उपस्थित होनेपर मैं शीघ्रही तुम्हारे पाशको काट दूंगा ॥ ९१ ॥

तस्मिन्काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोहसि ।
न हि ते जीवितादन्यत्किंचित्कृत्यं भविष्यति ॥ ९२ ॥

उस ही समय तुम बन्धनसे छूटके वृक्षके ऊपर चढोगे, तुम्हें अपनी जीवन रक्षाके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कार्य आवश्यक प्रतीत नहीं होगा ॥ ९२ ॥

ततो भवत्यतिक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश ।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवाञ्शाखां गमिष्यति ॥ ९३ ॥

हे लोमश ! तुम्हारे त्रसित तथा डरकर भागनेपर मैं बिलमें प्रवेश करूंगा; तुम भी वृक्षकी शाखाको अवलम्बन करोगे ॥ ९३ ॥

एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषकेणात्मनो हितम् ।
वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महामतिः ॥ ९४ ॥

चूहेनें जब बिडालसे ऐसा कहा, तब जीनेकी इच्छा करनेवाला, वाक्य तत्वज्ञ महाबुद्धिमान् लोमश अपने हितकी बात कहता हुआ बोला ॥ ९४ ॥

अथात्मकृत्यत्वरितः सम्यक्प्रश्रयमाचरन् ।
उवाच लोमशो वाक्यं मूषकं चिरकारिणम् ॥ ९५ ॥

आत्मकार्यको पूर्ण रीतिसे सिद्ध करनेके निमित्त जल्दी करके वह लोमश विनयपूर्ण वर्ताव करके पाशको काटनेमें विलम्ब करनेवाले चूहेसे बोला ॥ ९५ ॥

न ह्येवं मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः ।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात्त्वरमाणेन वै मया ॥ ९६ ॥

साधु लोग मित्रोंके कार्य प्रीतिपूर्वक करते हैं; तुम्हारी तरह नहीं करते; मैंने जैसे शीघ्रताके सहित तुम्हें विपदसे मुक्त किया, ॥ ९६ ॥

तथैव त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम ।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा स्वस्त्यावयोर्भवेत् ॥ ९७ ॥

तुम्हें भी वैसे ही शीघ्रताके सहित मेरा हित साधन करना उचित है। हे महाबुद्धिमान् ! इस समय जिससे हम दोनोंका कल्याण होवे, तुम इस विषयमें यत्नवान् होवो ॥ ९७ ॥

अथ वा पूर्ववैरं त्वं स्मरन्कालं विकर्षसि ।
पश्य दुष्कृतकर्मत्वं व्यक्तमायुःक्षयो मम ॥ ९८ ॥

अथवा यदि तुम पहिलेके वैरको स्मरण करके समय बिताओगे, तो हे दुष्ट पापी ! इस पापके कारण विशेष रूपसे तुम मेरी आयुको नष्ट होती देखोगे ॥ ९८ ॥

यच्च किंचिन्मयाज्ञानात्पुरस्ताद्विप्रियं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षमये त्वां प्रसीद मे ॥ ९९ ॥

यदि अज्ञानताके कारण पहिले मैंने कुछ पाप कर्म किया हो, तो उसे तुम स्मरण मत करो, मैं क्षमा प्रार्थना करता हूं; तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जावो ॥ ९९ ॥

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रविद्बुद्धिसंमतः ।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषकस्तदा ॥ १०० ॥

बिडालके ऐसा कहनेपर शास्त्र जाननेवाला बुद्धिमान् विज्ञ चूहा उस समय उससे यह हितकर वचन बोला– ॥ १०० ॥

श्रुतं मे तव मार्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः ।
ममापि त्वं विजानीहि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥ १०१ ॥

हे बिडाल ! तुमने निज प्रयोजन सिद्धिके लिये व्याकुल होके जो सब वचन कहा, उसे मैंने सुना है; और मैंने भी अपने प्रयोजन सिद्धिकी अभिलाषासे कातर होके तुमसे जो कहा है, उसे तुम जानते हो ॥ १०१ ॥

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम्।
सुरक्षितं ततः कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥ १०२॥

जो अत्यंत भयभीत प्राणीद्वारा मित्र किया गया है और जो स्वयं भयसे विचलित होकर उसका मित्र बना है, इन दोनों मित्रोंकी रक्षा होनी चाहिये; सांपके मुखसे निज हाथ बचानेकी तरह उनकी यथा रीतिसे रक्षा करनी उचित है ॥ १०२॥

कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्यानर्थाय कल्पते ॥ १०३॥

जो पुरुष बलवानके साथ सन्धि करके आत्मरक्षाका उपाय नहीं करता, उसका वह मेल खाये हुए अपथ्य अन्नकी तरह उपकारक नहीं होता ॥ १०३॥

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचित्सुहृत्।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैर्वनगजा इव ॥ १०४॥

इस जगत्में विना कारणके कोई पुरुष किसीका मित्र वा सुहृत् नहीं होता; जैसे पाले हुए हाथियोंसे जङ्गली हाथियोंको बान्धते हैं, वैसे ही स्वार्थके सहारे ही स्वार्थ साधन हुआ करता है ॥ १०४॥

न हि कश्चित्कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥ १०५॥

कार्य पूरा हो जानेपर कोई करनेवालेकी ओर नहीं देखता; उसका हित नहीं करता, इससे सब कार्योंको अधुरे रखकर करना योग्य है ॥ १०५॥

तस्मिन्कालेऽपि च भवान्दिवाकीर्तिभयान्वितः।
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः ॥ १०६॥

जब व्याधा आयेगा तब तुम उस समय उसीके भयसे पीडित हो भागनेमें तत्पर होगे, इससे मुझे पकड न सकोगे ॥ १०६॥

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः।
छेत्स्याम्यहं तदप्याशु निर्वृत्तो भव लोमश ॥ १०७॥

मैंने अनेक तातोंको काट दिया हैं, अब केवल एक ही तांत बाकी रखी है। उसे भी जल्दी ही काटूंगा, हे लोमश ! तुम निश्चिंत रहो ॥ १०७॥

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः।
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं चाविशद्भयम्। ॥ १०८॥

विपदयुक्त चूहा और विडालके इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए रात्रि बीत कर सवेरा हुआ। रात्रि बीतकर सवेरा होनेपर लोमशके हृदयमें भय उत्पन्न होने लगा ॥ १०८॥

ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ।
स्थूलस्फिग्विकचो रूक्षः श्वचक्रपरिवारितः ॥ १०९ ॥

अनन्तर भोरके समय एक विकृत–रूपवाला, कृष्ण–पिंगल वर्ण, स्थूल नितम्बवाला, केश-रहित क्रूरमूर्ति, कुत्तोंके समूहसे घिरा हुआ, ॥ १०९ ॥

शङ्कुकर्णो महावक्त्रः पलितो घोरदर्शनः ।
परिघो नाम चण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत ॥ ११० ॥

ऊंचे कानोंसे युक्त, विशाल मुखवाला, मलिन, वदसूरत और हाथमें शस्त्र लिये हुए परिघ नाम चाण्डाल दीख पडा ॥ ११० ॥

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ।
उवाच पलितं भीतः किमिदानीं करिष्यसि ॥ १११ ॥

विडाल उस यमदूतके समान चाण्डालको देखकर त्रस्तचित्त तथा भयभीत होके पलित चूहेसे बोला–मित्र ! इस समय क्या करोगे ? ॥ १११ ॥

अथ चापि सुसंत्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरदर्शनम् ।
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यं जग्मतुस्तदा ॥ ११२ ॥

वे दोनों अत्यंत भयभीत हुए थे; इधर भयानक दर्शनवाले उसे देखकर क्षणभरमें नेवला और उल्लूभी निराश हुए ॥ ११२ ॥

बलिनौ मतिमन्तौ च संघातं चाप्युपागतौ ।
अशक्यौ सुनयात्तस्मात्संप्रधर्षयितुं बलात् ॥ ११३ ॥

और स्वयं बलवान् और बुद्धिमान् होते हुए भी, घातमें पास बैठे हुए थे तो भी, उनके संगठनसे बलपूर्वक उन दोनोंपर हमला करनेमें असमर्थ हो गये ॥ १२३ ॥

कार्यार्थं कृतसंधी तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषकौ ।
उलूकनकुलौ तूर्णं जग्मतुः स्वं स्वमालयम् ॥ ११४ ॥

चूहे और विडालको कार्यके लिये संधिमें बंधे देख उल्लू और नेवला दोनों शीघ्र ही अपने घरपर चले गये ॥ ११४ ॥

ततश्चिच्छेद तं तन्तुं मार्जारस्य स मूषकः ।
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम् ॥ ११५ ॥

पश्चात् चूहेने विडालका पाश काट दिया । बिलाड जालके वन्धनसे छूटतेही उसी पेडपर चढ गया ॥ ११५ ॥

स च तस्मात्भयान्मुक्तो मुक्तो घोरेण शत्रुणा ।
बिलं विवेश पलितः शाखां भेजे च लोमशः ॥ ११६ ॥

उस महाघोर शत्रु और भारी भयसे मुक्त होकर पलित अपने बिलमें घुस गया और लोमेश वृक्षकी शाखापर चढकर बैठ गया ॥ ११६ ॥

उन्माथमप्यथादाय चण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ।
विहताशः क्षणेनाथ तस्माद्देशादपाक्रमत् ।
जगाम च स्वभवनं चण्डालो भरतर्षभ ॥ ११७ ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! इधर चाण्डाल वागुरा ग्रहण करके क्षणभरमें उसे सब ओरसे उलट पलटकर देखके निराश होकर उस स्थानसे हठकर निज स्थान पर चला गया ॥ ११७ ॥

ततस्तस्माद्भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् ।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥ ११८ ॥

अनन्तर वृक्षकी शाखा पर बैठे हुए लोमशने वैसी विपदसे छूटके तथा दुर्लभ जीवन लाभ करके बिलके बीच स्थित पलितको पुकारके कहा ॥ ११८ ॥

अकृत्वा संविदं कांचित्सहसाहमुपप्लुतः ।
कृतज्ञं कृतकल्याणं कच्चिन्मां नाभिशङ्कसे ॥ ११९ ॥

हे मित्र ! तुम मेरे साथ क्यों विना कुछ वार्त्तालाप किये ही सहसा निज स्थान पर गये हो ? मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूं; मैंने तुम्हारा भी कल्याण किया है; इसे जान कर भी तुम मेरी शङ्का तो नहीं करते हो ? ॥ ११९ ॥

गत्वा च मम विश्वासं दत्वा च मम जीवितम् ।
मित्रोपभोगसमये किं त्वं नैवोपसर्पसि ॥ १२० ॥

हे मित्र ! विपत्तिके समय तुम मेरे विश्वास पात्र होके, मुझे प्राणदान किया; अब मैत्रीके सुख-भोगके समय तुम मेरे निकट क्यों नहीं आते हो ? ॥ १२० ॥

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति ।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥ १२१ ॥

जो पुरुष पहिले बहुतसे मित्र करके फिर उस मित्रका अनुष्ठान नहीं करता, वह नीच-बुद्धि मनुष्य कष्टकरी आपदके समय उन मित्रोंका लाभ करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १२१ ॥

तत्कृतोऽहं त्वया मित्रं सामर्थ्यादात्मनः सखे ।
स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ १२२ ॥

हे मित्र ! तुमने सामर्थ्यके अनुसार मेरा सत्कार किया है; मैंने भी आत्म सुखमें आसक्त होकर तुम्हारे साथ मित्रता की है, इससे मेरे साथ सुख भोग करना तुम्हें उचित है ॥१२२॥

यानि मे सन्ति मित्राणि ये च मे सन्ति बान्धवाः ।
सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम् ॥ १२३ ॥

मेरे जो सब मित्र, बन्धुबान्धव, सम्बन्धी आदि आत्मीय हैं, वे सब इस प्रकार तुम्हारा सम्मान करेंगे, जैसे शिष्य लोग गुरुकी सेवा करते हैं ॥ १२३ ॥

×

अहं च पूजयिष्ये त्वां समित्रगणबान्धवम् ।
जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् ॥ १२४ ॥

तुम मेरे प्राणदाता हो, इससे मैं भी तुम्हारा और तुम्हारे बन्धु-बान्धवोंका सम्मान करूंगा; कौन कृतज्ञ पुरुष अपने जीवन दाताकी पूजा नहीं करता ? ॥ १२४ ॥

ईश्वरो मे भवानस्तु शरीरस्य गृहस्य च ।
अर्थानां चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥ १२५ ॥

तुम मेरे शरीर, घर तथा सब धनके स्वामी बनो तथा उसके शासक बनो; और मुझे सत् उपदेश प्रदान करो ॥ १२५ ॥

अमात्यो मे भव प्राज्ञ पितेव हि प्रशाधि माम् ।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥ १२६ ॥

हे बुद्धिमान ! तुम मेरे अमात्य बनो और पिताकी तरह मुझे कर्तव्यका उपदेश करो । मैं अपने जीवनकी शपथ करके कहता हूं कि हमसे तुम्हें कुछ भी भय नहीं है ॥ १२६ ॥

बुद्ध्या त्वमुशनाः साक्षाद्बले त्वधिकृता वयम् ।
त्वन्मन्त्रबलयुक्तो हि विन्देत जयमेव ह ॥ १२७ ॥

तुम बुद्धि—कौशलमें साक्षात् शुक्राचार्यके समान हो । तुम मन्त्रणाबलसे युक्त हो; किस रीतिसे विजय पाना यह तुम जानते हो; इसलिये तुमने हम लोगोंके ऊपर अधिकार प्राप्त किया है ॥ १२७ ॥

एवमुक्तः परं सान्त्वं मार्जारेण स मूषकः ।
उवाच परमार्थज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥ १२८ ॥

बिडालने इसी प्रकार चूहेसे परम शान्तिपूर्ण वचन कहा, तब परमार्थको जाननेवाला चूहा कोमल भावसे आत्महितकर वचन कहने लगा ॥ १२८ ॥

यद्भवानाह तत्सर्वं मया ते लोमश श्रुतम् ।
ममापि तावद्ब्रुवतः शृणु यत्प्रतिभाति माम् ॥ १२९ ॥

हे लोमश ! तुमने जो कुछ कहा, मैंने वह सब सुना; इस समय मैं जो कुछ विचार सिद्ध जानके कहता हूं, उसे सुनो ॥ १२९ ॥

वेदितव्यानि मित्राणि बोद्धव्याश्चापि शत्रवः ।
एतत्सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन्दृश्यते प्राज्ञसंमतम् ॥ १३० ॥

मित्रोंको जानना चाहिये तथा शत्रुओंको भी मालूम करना उचित है; इस जगत्में मित्र और शत्रुकी यह जानकारी अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्राज्ञ लोगोंको सम्मत है ॥ १३० ॥

शत्रुरूपाश्च सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः ।
सान्त्वितास्ते न बुध्यन्ते रागलोभवशं गताः ॥ १३१ ॥

शत्रुरूपी मित्रों और मित्ररूपी शत्रुओंके साथ सान्त्वना–सन्धि होने पर भी जब वे राग-लोभके वशमें ही जाते हैं, तब वे मित्र हैं या शत्रु हैं, यह समझना कठिन हो जाता है ॥ १३१ ॥

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १३२ ॥

इस जगत्में कभी स्वाभाविकही कोई किसीका मित्र वा शत्रु नहीं होता; कार्यवशसे ही लोग एक दूसरेके मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ॥ १३२ ॥

यो यस्मिञ्जीवति स्वार्थं पश्येत्तावत्स जीवति ।
स तस्य तावन्मित्रं स्याद्यावन्न स्याद्विपर्ययः ॥ १३३ ॥

जो जिसके जीवित रहनेपर निज प्रयोजन सिद्धि ही देखता है, तबतक वह उसका मित्र बना रहता है, तथा जबतक उस भावका विपर्यय नहीं होता, तबतक वह उसका मित्र हुआ करता है ॥ १३३ ॥

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्या हि जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १३४ ॥

मैत्री और शत्रुता स्थिर नहीं रहती; स्वार्थ–प्रयोजनसे ही शत्रु वा मित्र हुआ करते हैं ॥१३४॥

मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥ १३५ ॥

कालक्रमसे मित्र भी शत्रु होता है और शत्रु भी मित्र हुआ करता है; इससे स्वार्थ ही अत्यंत बलवान् है ॥ १३५ ॥

यो विश्वसति मित्रेषु न चाश्वसति शत्रुषु ।
अर्थयुक्तिमविज्ञाय चलितं तस्य जीवितम् ॥ १३६ ॥

जो मनुष्य प्रयोजन न जानके मित्रोंका केवल विश्वास करता है और शत्रुओंके विषयमें अविश्वास स्थापित किया करता है, उसका जीवन विचलित होता है ॥ १३६ ॥

अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः शुभे कुरुते मतिम् ।
मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः ॥ १३७ ॥

शत्रु वा मित्रके विषयमें अर्थका प्रयोजन न जानके जो मनुष्य उत्तम बुद्धि ही रखता है, उसकी बुद्धि भी चञ्चल ही माननी चाहिये ॥ १३७ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ १३८ ॥

अविश्वासी पुरुषका विश्वास न करे, विश्वासी पुरुषका भी अत्यन्त विश्वास करना उचित नहीं है; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय विश्वासकी जडको काटता है ॥ १३८ ॥

अर्थयुक्त्या हि दृश्यन्ते पिता माता सुतास्तथा ।
मातुला भागिनेयाश्च तथा संबन्धिबान्धवाः ॥ १३९ ॥

पिता, माता, पुत्र, मामा, भानजे, सम्बन्धी और बान्धव आदि स्वार्थ–प्रयोजनके अनुसार प्रिय हुआ करते हैं ॥ १३९ ॥

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ।
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम् ॥ १४० ॥

प्रिय पुत्रके पतित होनेपर पिता–माता उसे परित्याग करते हैं; सब लोग अपनी ही रक्षा करते हैं; इससे स्वार्थ कैसा सारवान है, उसे मालूम करो ॥ १४० ॥

तं मन्ये निकृतिप्रज्ञं यो मोक्षं प्रत्यनन्तरम् ।
कृत्यं मृगयसे कर्तुं सुखोपायमसंशयम् ॥ १४१ ॥

हे बुद्धिमान् ! जो पुरुष किसी विपदसे छूटनेपर फिर शत्रुके सुखका असंदिग्ध उपाय खोजता है, उसको मैं कृतज्ञतावश समझता हूं; फिर तुम क्यों उपकारका बदला देना चाहते हो ? ॥१४१॥

अस्मिन्निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ।
पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान् ॥ १४२ ॥

तुम वटवृक्षसे इस स्थानपर उतरे थे; परन्तु पहिले ही जो जालबन्धन संयोजित हुआ था; चपलताके कारण उसे न जान सके ॥ १४२ ॥

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ॥ १४३ ॥

मनसे चञ्चल दूसरा कुछ भी नहीं है, जो चपल प्राणी अपना ही हित नहीं करता, तो वह दूसरेका क्या करेगा ? इसलिये चञ्चल चित्तवाला निश्चयही सब कार्य नष्ट कर देता है ॥१४३॥

ब्रवीति मधुरं किंचित्प्रियो मे ह भवानिति ।
तन्मिथ्याकरणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु ॥ १४४ ॥

इस समय तुम जो कुछ मुझसे मधुर वचन कहते हो, वह मुझे प्रसन्न करनेवाला है, यह ठीक है; परन्तु इसका जो मिथ्याकरण है, उसे मैं विस्तारपूर्वक कहता हूं, उसे सुनो ॥ १४४ ॥

कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ॥ १४५ ॥

इस संसारमें मनुष्य कारणके अनुसारही सबका प्यारा होता है और कारणके अनुसार ही द्वेष पात्र हुआ करता है; जीव–मात्र ही स्वार्थका प्रयोजन चाहनेवाले हैं, इससे विना कारणके कोई किसीको प्रिय नहीं होता ॥ १४५ ॥

सख्यं सोदरयोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ॥ १४६ ॥

दो सहोदर भाइयोंका सौभ्रात्र और पति–पत्नी–दम्पतिका परस्पर प्रेम विना कारणके नहीं है, स्वार्थवश ही है; इस जगत्में किसीकी भी प्रीतिको मैं निष्कारण नहीं समझता ॥ १४६ ॥

यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्या वा कारणान्तरे ।
स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः ॥ १४७ ॥

कभी कभी भाई और भार्या किसी कारणसे क्रुद्ध होनेपर भी, वे लोग स्वभाविक परस्पर जैसा प्रेम करते हैं, दूसरे लोग उस तरह प्रीतियुक्त नहीं होते ॥ १४७ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः ॥ १४८ ॥

इस जगत्में कोई दानके जरिये प्रिय होता है, कोई प्रिय वचनसे प्यारा बनता है; दूसरे कार्य सिद्धिके निमित्त मन्त्र, होम और जपसे प्रीतिलाभ करते हैं ॥ १४८ ॥

उत्पन्ने कारणे प्रीतिर्नास्ति नौ कारणान्तरे ।
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ॥ १४९ ॥

हम दोनोंकी प्रीति विशेष कारणसे उत्पन्न हुई थी, इस समय उस कारणकी समाप्ति हुई है, अब वह रह नहीं सकती; उस कारणका स्थान नष्ट होनेपर उससे उत्पन्न हुई प्रीति स्वयं ही निवृत्त होती है ॥ १४९ ॥

किं नु तत्कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ।
अन्यत्राभ्यवहारार्थात्तत्रापि च बुधा वयम् ॥ १५० ॥

ऐसा कौनसा कारण है,– जिससे मैं तुम्हारा प्यारा बन सकूं ? मुझे खानेके सिवा दूसरा कौनसा कारण है, जो मैं मान लूं । इस समय जो तुम्हारा स्वार्थ है, उसे मैं विशेष रूपसे जानता हूं ॥ १५० ॥

कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्तते ।
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तते ॥ १५१ ॥

कालही कारणको बदलता है, और स्वार्थ उसका अनुसरण करता है; बुद्धिमान् पुरुष स्वार्थ विषयको जानता है, इससे लोग प्राज्ञ पुरुषका ही अनुवर्त्तन किया करते हैं ॥ १५१ ॥

न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते ।
अकालेऽविषमस्थस्य स्वार्थहेतुरयं तव ॥ १५२ ॥

स्वार्थको जाननेवाले विद्वान् पुरुषके विषयमें ऐसा वचन कहना तुम्हें उचित नहीं है । तुम मेरे विषयमें जो स्नेह प्रकाश करते हो, वह असमय है, तुम्हारे उस स्नेहका स्वार्थ ही कारण है ॥ १५२ ॥

तस्मान्नाहं चले स्वार्थात्सुस्थितः संधिविग्रहे ।
अभ्राणामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे ॥ १५३ ॥

इससे अपने स्वार्थके कारण मैं भी विचलित नहीं हो सकता; संधि तथा विग्रहके विषयमें मेरा विचार सुनिश्चित है । यह सब सन्धि–विग्रह क्षण क्षणमें बादलकी तरह अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं; ॥ १५३ ॥

अद्यैव हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव सौहृदम् ।
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम् ॥ १५४ ॥

तुम आज ही मेरे शत्रु होकर फिर अभी हमारे मित्र हो सकते हो, फिर आज ही मेरे शत्रु हो सकते हो; इससे सब स्वार्थ–योगोंकी कैसी चपलता है, उसे देखो ॥ १५४ ॥

आसीत्तावतु मैत्री नौ यावद्धेतुरभूत्पुरा ।
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ॥ १५५ ॥

पहिले जबतक योग्य कारण था, तबतक हम लोगोंकी मित्रता थी; परंतु कालने जिसे निर्माण किया था उस कारणके निवृत्त होनेपर इस समय वह मित्रता भी चली गयी है ॥ १५५ ॥

त्वं हि मेऽत्यन्ततः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ।
तत्कृत्यमभिनिर्वृत्तं प्रकृतिः शत्रुतां गता ॥ १५६ ॥

तुम स्वाभाविक ही मेरे अत्यन्त शत्रु हो, परन्तु दूसरे वैरीसे मेरी रक्षा करनेके सामर्थ्यके कारण मित्र हुए थे; उस मित्रताका कार्य निवृत्त हुआ है, अब तुम्हारे स्वभावने सहज शत्रुभाव धारण किया है ॥ १५६ ॥

सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्त्वतः ।
प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृतं तद्वदस्व मे ॥ १५७ ॥

इससे मैं प्राचीन आचार्योंके बनाये हुए नीति शास्त्रोंको जानके किस प्रकार तुम्हारे लिये उस जालमें प्रवेश करूं ? यह तुम ही मुझे कहो ॥ १५७ ॥

त्वद्वीर्येण विमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ।
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ॥ १५८ ॥

मैं तुम्हारे बलवीर्यके सहारे विपदसे मुक्त हुआ हूं, तुम भी मेरी शक्तिके प्रभावसे विपदसे पार हुए हो; इससे जब आपसका अनुग्रह निवृत्त हुआ है, तब फिर हमें परस्पर मिलनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १५८ ॥

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्थास्तथा वयम् ।
न तेऽस्त्यन्यन्मया कृत्यं किंचिदन्यत्र भक्षणात् ॥ १५९ ॥

हे प्रियदर्शन ! इस समय तुम कृतार्थ हुए हो, मेरा भी प्रयोजन सिद्ध हुआ है; इससे मुझे भक्षण करनेके अतिरिक्त आज तुम्हारा मेरे सङ्ग कुछ भी कार्य नहीं है ॥ १५९ ॥

अहमन्नं भवान्भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान्बली ।
नावयोर्विद्यते संधिर्वियुक्ते विषमे बले ॥ १६० ॥

मैं भक्ष्य हूं, तुम भोक्ता हो; मैं निर्बल और तुम बलवान् हो; ऐसे असदृश सम्बन्धके स्थानमें हम दोनोंकी सन्धि नहीं होसकती ॥ १६० ॥

संमन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात्प्रत्यनन्तरम् ।
भक्ष्यं मृगयसे नूनं सुखोपायमसंशयम् ॥ १६१ ॥

इस समय मैं तुम्हारे बुद्धि–कौशल विषयमें ऐसा ही मालूम करता हूं कि आपदसे छूटके अब तुम अनायास कर्मके जरिये भक्ष्य–लाभकी इच्छा निःसंशय करते हो ॥ १६१ ॥

भक्ष्यार्थमेव बद्धस्त्वं स मुक्तः प्रसृतः क्षुधा ।
शास्त्रज्ञमभिसंधाय नूनं भक्षयितास्व माम् ॥ १६२ ॥

तुम भक्ष्यके वास्ते ही बन्धे थे, और उससे मेरे सहारे मुक्त होकर भूखसे अत्यंत पीडित हो रहे हो । इस समय शास्त्रसिद्ध बुद्धिका अवलम्बन करके मुझे तुम खा जाओगे ॥ १६२ ॥

जानामि क्षुधितं हि त्वामाहारसमयश्च ते ।
स त्वं मामभिसंधाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ॥ १६३ ॥

मैं तुम्हें भूखा समझता हूं और तुम्हारे भोजनका समय भी उपस्थित हुआ है । इससे तुम मुझे ही लक्ष्य करके फिर मुझसे संधि करके अपना भक्ष्य खोज रहे हो ॥ १६३ ॥

यच्चापि पुत्रदारं स्वं तत्संनिसृजसे मयि ।
शुश्रूषां नाम मे कर्तुं सखे मम न तत्क्षमम् ॥ १६४ ॥

मित्र ! तुम स्त्री–पुत्रोंके बीचमें रहके भी जब मेरे साथ सन्धि करके सेवा करनेमें यत्नवान् होरहे हो; तब मैं उसमें सम्मत होनेमें समर्थ नहीं हूं ॥ १६४ ॥

त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्या सुताश्च ये ।
कस्मान्मां ते न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयिनस्त्वयि ॥ १६५ ॥

तुम्हारी प्रिय भार्या और पुत्र जो तुमसे प्रेम रखते हैं, तुम्हारे सङ्ग मुझे स्थित देखके आनन्दित हो मुझे क्यों नहीं खायेंगे ? ॥ १६५ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ।
शिवं ध्यायस्व मेऽव्यग्रः सुकृतं स्मर्यते यदि ॥ १६६ ॥

समागमका कारण समाप्त हुआ है, इससे अब मैं फिर तुम्हारे साथ न मिलूंगा; यदि तुम मेरे शुभ कर्मके लिये कृतज्ञ हो तो मेरे कल्याणकी चिन्ता करो ॥ १६६ ॥

शत्रोरन्नाद्यभूतः सन्क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ॥ १६७ ॥

जो असत् शत्रु क्लेश युक्त, भूखा और अपने लिये भक्ष्य ढूंढ रहा हो, कौन बुद्धिमान् पुरुष उसके अधिकारमें जावेगा ? ॥ १६७ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ।
नाहं त्वया समेष्यामि निर्वृतो भव लोमश ॥ १६८ ॥

तुम्हारा कल्याण होवे; मैं जाता हूं । मैं तुमसे दूर रहके भी व्याकुल होता हूं । हे लोमश ! इससे मैं तुम्हारे साथ न मिल सकूंगा, तुम लौट जावो ॥ १६८ ॥

बलवत्संनिकर्षो हि न कदाचित्प्रशस्यते ।
प्रशान्तादपि मे प्राज्ञ भेतव्यं बलिनः सदा ॥ १६९ ॥

बलवानोंके साथ संबंध रखना दुर्बलके लिये कभी प्रशंशित नहीं होता; हे विद्वन् ! जो बलवान् है और वह जो शान्तभावसे रहता है, तो भी मुझे सदा उससे डरना चाहिये ॥ १६९ ॥

यदि त्वर्थेन मे कार्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।
कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वात्मानं कदाचन ॥ १७० ॥

यदि तुम्हारा मुझसे दूसरा कुछ स्वार्थ-प्रयोजन हो तो कहो, मैं तुम्हारा कौनसा कार्य करूं ? मैं तुम्हारी अभिलषित सब वस्तुओंको ही प्रदान कर सकता हूं, परन्तु आत्म प्रदान कभी नहीं कर सकता; ॥ १७० ॥

आत्मार्थे संततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनं तथा ।
अपि सर्वस्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना ॥ १७१ ॥

अपने वास्ते संतति, धन, रत्न और राज्य पर्यन्त परित्याग किया जासकता है; इससे अपना सर्वस्व परित्याग करके भी स्वयं अपनी रक्षा करे ॥ १७१ ॥

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रेऽपि तिष्ठताम् ।
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ॥ १७२ ॥

हमने सुना है कि अपनी रक्षाके वास्ते जो सब धन, रत्न आदि ऐश्वर्य शत्रुके हाथमें समर्पण किया जाता है, वह स्वयं जीवित रहनेपर सब फिर निज हस्तगत हो सकता है; यह सब देखा भी जाता है ॥ १७२ ॥

न त्वात्मनः संप्रदानं धनरत्नवदिष्यते ।
आत्मा तु सर्वतो रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि ॥ १७३ ॥

धन और रत्नोंकी तरह अपने आपको शत्रुके हाथमें देना अभीष्ट नहीं है; भार्या और धन आदिसे अर्थात् उनका त्याग करके भी सब ओरसे सदा अपनी रक्षा करनी उचित है ॥१७३॥

आत्मरक्षिततन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ।
आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः ॥ १७४ ॥

जो सब पुरुष आत्म-रक्षामें तत्पर होकर विचार पूर्वक कार्य करते हैं, उन्हें निज दोष जनित आपदकी सम्भावना नहीं होती ॥ १७४ ॥

शत्रून्सम्यग्विजानन्ति दुर्बला ये बलीयसः ।
तेषां न चाल्यते बुद्धिरात्मार्थं कृतनिश्चया ॥ १७५ ॥

जो स्वयं निर्बल प्राणी अपने बलवान् शत्रुओंको भलीभांति मालूम करते हैं, उनकी आत्मार्थ दर्शिनी स्थिर बुद्धि कभी विचलित नहीं होती ॥ १७५ ॥

इत्यभिव्यक्तमेवासौ पलितेनावभर्त्सितः ।
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषकं वाक्यमब्रवीत् ॥ १७६ ॥

पलित चूहाने जब मार्जारकी इस प्रकार विस्पष्ट निन्दा की, तब वह लज्जित होकर चूहेसे कहने लगा ॥ १७६ ॥

संमन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ।
उक्तवानर्थतत्त्वेन मया संभिन्नदर्शनः ॥ १७७ ॥

यह मैं जानता हूं, कि तुम मेरे हितकारी हैं और यह तुम्हारी उत्तम बुद्धिका परिणाम है; तुमने अर्थशास्त्रकी यथार्थ आलोचनाके जरिये नीतिशास्त्रका सब सार और मेरा भिन्न भाव देखके सब कुछ कहा है ॥ १७७ ॥

न तु मामन्यथा साधो त्वं विज्ञातुमिहार्हसि ।
प्राणप्रदानजं त्वत्तो मम सौहृदमागतम् ॥ १७८ ॥

हे साधो ! उसके अनुसार मुझे दूसरी तरह गलत मालूम करना तुम्हें उचित नहीं है। तुमने मुझे प्राणदान किया है, इस ही कारण मुझसे तुम्हारी सुहृदता हुई है ॥ १७८ ॥

धर्मज्ञोऽस्मि गुणज्ञोऽस्मि कृतज्ञोऽस्मि विशेषतः ।
मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्विधेषु विशेषतः ॥ १७९ ॥

मैं धर्मज्ञ, गुणज्ञ, विशेषतः कृतज्ञ और मित्रवत्सल हूं; विशेष करके तुमपर अनुरक्त हुआ हूं; ॥ १७९ ॥

तन्मामेवंगते साधो न यावयितुमर्हसि ।
त्वया हि याव्यमानोऽहं प्राणाञ्जह्यां सबान्धवः ॥ १८० ॥

इससे मेरे साथ फिर तुम्हें ऐसा आचरण करना उचित नहीं है; तुम्हारी आज्ञा होनेसे मैं बान्धवोंके सहित प्राण-परित्याग कर सकता हूं ॥ १८० ॥

+

धिक्शब्दो हि बुधैर्दृष्टो मद्विधेषु मनस्विषु ।
मरणं धर्मतत्त्वज्ञ न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ १८१ ॥

हे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले ! धीर लोगोंने मेरे समान मनस्वी पुरुषोंको सदा मरण प्राय धिक् शब्दसे ही देखा है; मेरे विषयमें तुम्हें शङ्का करनी उचित नहीं है ॥ १८१ ॥

इति संस्तूयमानो हि मार्जारेण स मूषकः ।
मनसा भावगम्भीरं मार्जारं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८२ ॥

चूहेने बिडालसे इस प्रकार प्रशंसित होकर भी मानसिक भावसे गम्भीर बिडालको इस प्रकार कहा ॥ १८२ ॥

साधुर्भवाञ्श्रुतार्थोऽस्मि प्रीयते न च विश्वसे ।
संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ॥ १८३ ॥

हे मित्र ! तुम साधु हो; यह बात मैंने सुनी है; तुम्हारे वचनका मर्म जानके मैं प्रसन्न हुआ, परन्तु इस समय मैं तुम्हारा फिर विश्वास नहीं कर सकता; तुम प्रशंसा वा धन बलसे फिर मुझे वशीभूत न कर सकोगे; ॥ १८३ ॥

न ह्यमित्रवशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ।
अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ॥ १८४ ॥

हे सखे ! क्योंकि विज्ञ पुरुष विना कारण शत्रुके वशमें नहीं होते; इस विषयमें शुक्राचार्यने जो दो गाथाएं कही हैं, उन्हें सुनो ॥ १८४ ॥

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ।
समाहितश्चरेद्युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ॥ १८५ ॥

जब अपने और शत्रुपर एकही विपत्ति आयी हो, तब निर्बल मनुष्य बलवान् शत्रुके साथ सन्धि करके सावधान रहकर युक्तिके सहित अपना काम पूर्ण करावे और कृतकार्य होनेपर फिर शत्रुका विश्वास न करे ॥ १८५ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ।
द्रव्याणि संततिश्चैव सर्वं भवति जीवतः ॥ १८६ ॥

इससे सब अवस्थाओंमें ही अपने जीवनकी रक्षा करनी उचित है । जीवित रहनेपर ही द्रव्य-सामग्री और सन्तान–सन्तति सब हुआ करती है ॥ १८६ ॥

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ।
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ॥ १८७ ॥

किसीका भी विश्वास न करना ही परम श्रेष्ठ है, यही समस्त नीति शास्त्रोंका संक्षिप्त उपदेश है । इससे मनुष्य मात्रका अविश्वास करना अपना अत्यन्त हितकर विषय है ॥ १८७ ॥

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः　　॥ १८८ ॥

मनुष्य यदि निर्बल होके भी सावधान होकर किसीका विश्वास न करे, तो वे शत्रुओंसे मारे नहीं जाते; और यदि मनुष्य बलवान् होके भी शत्रुका विश्वास करे, तो वे दुर्बल शत्रुओंसे शीघ्र ही वध्य हुआ करते हैं ॥ १८८ ॥

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा ।
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात्　　॥ १८९ ॥

हे बिडाल ! इससे तुम जैसे लोगोंसे आत्मरक्षा करनी मुझे सदा उचित है; तुम भी निज शत्रु, पापी जाति चाण्डालसे अपनी रक्षा करो ॥ १८९ ॥

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं संत्रासाज्जातसाध्वसः ।
स्वबिलं हि जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः　　॥ १९० ॥

बिडाल चूहेका ऐसा वचन सुनके चाण्डालके भयसे डरके शीघ्रताके सहित वहांसे भागकर अपने बिलमें घुस गया ॥ १९० ॥

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ।
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह　　॥ १९१ ॥

और शास्त्रके अर्थ और तत्वको जाननेवाला बुद्धिमान् चूहा निज बुद्धिका सामर्थ्य प्रदर्शित करके दूसरे बिलके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ १९१ ॥

एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः ।
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसंधिताः　　॥ १९२ ॥

इसी तरह बुद्धिमान् पलित चूहेने निर्बल और अकेले होनेपर भी अपने बुद्धिबलसे अनेक शत्रुओंके निकटसे उनको परास्त कर मुक्ति लाभ की थी ॥ १९२ ॥

अरिणापि समर्थेन संधिं कुर्वीत पण्डितः ।
मूषकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात्　　॥ १९३ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको अपेक्षाकृत प्रबल वैरीके साथ सन्धि करनी योग्य है । चूहा और बिडाल इसी प्रकार सन्धिबलसे आपसके आश्रयसे विपद्से छूटे थे ॥ १९३ ॥

इत्येष क्षत्रधर्मस्य मया मार्गोऽनुदर्शितः ।
विस्तरेण महीपाल संक्षेपेण पुनः शृणु　　॥ १९४ ॥

हे महाराज ! इसी भांति विस्तारपूर्वक मैंने क्षत्रधर्मका मार्ग दिखाया है, अब उसे संक्षेपसे कहता हूं, सुनो ॥ १९४ ॥

अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम् ।
अन्योन्यमभिसंधातुमभूच्चैव तयोर्मतिः ॥ १९५ ॥

चूहा और बिडाल परस्पर वैर रखनेवाले प्राणी हैं, तो भी उन्होंने संकट उत्पन्न होनेपर एक दूसरेसे उत्तम प्रीति कर ली; उनमें परस्पर संधि कर लेनेका विचार उत्पन्न हो गया ॥१९५॥

तत्र प्राज्ञोऽभिसंधत्ते सम्यग्बुद्धिबलाश्रयात् ।
अभिसंधीयते प्राज्ञः प्रमादादपि चाबुधैः ॥ १९६ ॥

ऐसे अवसरोंपर बुद्धिमान् पुरुष निज श्रेष्ठ बुद्धि बलके कौशलसे शत्रुको ठगनेमें समर्थ होता है, और निर्बुद्धि पुरुष भी विद्वान् पुरुष यदि असावधानता दोषयुक्त रहे तो उसे परास्त करते हैं ॥ १९६ ॥

तस्मादभीतवद्भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ।
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति ॥ १९७ ॥

इससे भयभीत होनेपर भी निडरकी तरह और दूसरेके विषयमें अविश्वास रहने पर भी विश्वासीकी तरह व्यवहार करना उचित है । जो पुरुष इस तरह सावधान रहता है, वह कभी विचलित नहीं होता और होनेपर विनष्ट होता है ॥ १९७ ॥

कालेन रिपुणा संधिः काले मित्रेण विग्रहः ।
कार्य इत्येव तत्त्वज्ञाः प्राहुर्नित्यं युधिष्ठिर ॥ १९८ ॥

हे युधिष्ठिर ! उचित समय उपस्थित होनेपर शत्रुके साथ सन्धि करे, और समयके अनुसार मित्रके साथ भी युद्ध करनेमें प्रवृत्त होवे; नीतिशास्त्रके तत्त्वके जाननेवाले पण्डितोंके जरिये ऐसाही सिद्धान्त कर्तव्य कहके वर्णित हुआ है ॥ १९८ ॥

एवं मत्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ।
अभियुक्तोऽप्रमत्तश्च प्राग्भयाद्भीतवच्चरेत् ॥ १९९ ॥

हे महाराज ! ऐसा ही जानके नीतिशास्त्रके अर्थको मालूम करके भयका कारण उपस्थित होनेके पहिले ही स्थिर और सावधान होकर भयभीतकी तरह आचरण करे ॥ १९९ ॥

भीतवत्संविधिः कार्यः प्रतिसंधिस्तथैव च ।
भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगजा ॥ २०० ॥

और बलवान् शत्रुसे भय उपस्थित होनेके पहिले भययुक्त व्यवहार तथा उसके साथ अवश्य सन्धि करनी चाहिये; सावधान पुरुषके प्रयत्नशील रहनेसे स्वयं संकटसे बचानेवाली बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है ॥ २०० ॥

न भयं विद्यते राजन्भीतस्यानागते भये ।
अभीतस्य च विस्रब्धात्सुमहज्जायते भयम्　　　॥ २०१ ॥

हे महाराज! जो पुरुष भयका कारण उपस्थित न होते ही उसकी ओरसे भीत–संशययुक्त रहता है, उसे कभी भय उत्पन्न नहीं होता; और जो निर्भयचित्तसे सबका विश्वास करता है, उसे सदा ही भय उपस्थित हुआ करता है ॥ २०१ ॥

न भीरुरिति चात्यन्तं मन्त्रोऽदेयः कथंचन ।
अविज्ञानाद्धि विज्ञाते गच्छेदास्पददर्शिषु　　　॥ २०२ ॥

जो अत्यंत निर्भय होके विचरता है, उसे कभी सलाह देनी किसी तरह भी योग्य नहीं है; वह उसे मानता ही नहीं । भयभीत पुरुष अपनेको अविज्ञ समझके सदा बहुदर्शी पण्डितोंके निकट गमन किया करता है; ॥ २०२ ॥

तस्मादभीतवद्भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ।
कार्याणां गुरुतां बुद्ध्वा नानृतं किंचिदाचरेत्　　　॥ २०३ ॥

इससे बुद्धिमान् पुरुष भीत होके निर्भयकी तरह निवास करे और अविश्वासी लोगोंके समीप विश्वास प्रदर्शित करके सब कार्योंकी गूढता मालूम करके भी लोगोंके समीप मिथ्या व्यवहार न करे ॥ २०३ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तमितिहासं युधिष्ठिर ।
श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत्समुपाचर　　　॥ २०४ ॥

हे युधिष्ठिर! मैंने नीतिशास्त्रके सार मर्मको वर्णन करनेके उद्देश्यसे इस मार्जार–मूषिकके इतिहासको कहा है; तुम इसे हृदयङ्गम करके अपने मित्रोंके बीचमें यथायोग्य बर्ताव करो ॥ २०४ ॥

उपलभ्य मतिं चाग्र्यामरिमित्रान्तरं तथा ।
संधिविग्रहकालं च मोक्षोपायं तथापदि　　　॥ २०५ ॥

इस विषयको सुनके शुद्ध बुद्धिका आश्रय करके सन्धि–विग्रहके समय, शत्रु–मित्रोंके मानसिक भावको अवरोध करके, आपदकालमें मुक्तिके उपायको मालूम करो ॥ २०५ ॥

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ।
समागमं चरेद्युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत्　　　॥ २०६ ॥

शत्रुके साधारण कार्यमें निर्बल पुरुष अपेक्षानुसार बलवान् शत्रुके साथ सन्धि करके उसके साथ फिर समागम होनेपर युक्तिके अनुसार व्यवहार करे और कृतकार्य होके भी उसका विश्वास न करे ॥ २०६ ॥

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां युधिष्ठिर ।
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद्भूयस्त्वं रञ्जयन्प्रजाः ॥ २०७ ॥

हे युधिष्ठिर ! यह नीतिकाव्य धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गसे युक्त है; इसका तुम आश्रय लो; इसे सुनके फिर प्रजा पालन तथा रञ्जन करते हुए तुम अभ्युदय लाभ करोगे ॥२०७॥

ब्राह्मणैश्चापि ते सार्धं यात्रा भवतु पाण्डव ।
ब्राह्मणा हि परं श्रेयो दिवि चेह च भारत ॥ २०८ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! तुम ब्राह्मणोंके साथ अपनी जीवन यात्रा करो; हे भारत ! ब्राह्मण लोगही इस लोक और स्वर्गलोकमें परम कल्याण साधन किया करते हैं ॥ २०८ ॥

एते धर्मस्य वेत्तारः कृतज्ञाः सततं प्रभो ।
पूजिताः शुभकर्माणः पूर्वजित्या नराधिप ॥ २०९ ॥

हे महाराज ! ये लोगही सदा धर्मवेत्ता और अत्यन्त कृतज्ञ होते हैं; ये लोग पूजित होनेसे परम कल्याणका विधान करते हैं; इससे इनकी पूजा करनी उचित है ॥ २०९ ॥

राज्यं श्रेयः परं राजन्यशः कीर्तिं च लप्स्यसे ।
कुलस्य संततिं चैव यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ २१० ॥

हे राजन् ! तुम न्यायके अनुसार यथा रीतिसे राज्य, परम कल्याण, यश, कीर्ति और वंशकी वृद्धि करनेवाली सन्तान लाभ करोगे ॥ २१० ॥

द्वयोरिमं भारत संधिविग्रहं सुभाषितं बुद्धिविशेषकारितम् ।
तथान्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डले ॥ २११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥ ४८५० ॥

हे भरत कुलप्रदीप ! उक्त मार्जार-मूषिकके सन्धिविग्रह-विषयक बुद्धिको श्रेष्ठ करनेवाले सुन्दर वचनको यथार्थ रूपसे हृदयङ्गम करके राजाको शत्रु मण्डलीके बीच निवास करना उचित है ॥ २११ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ छत्तिसवां अध्याय समाप्त ॥ १३६ ॥ ४८५० ॥

१३७

युधिष्ठिर उवाच —

उक्तो मन्त्रो महाबाहो न विश्वासोऽस्ति शत्रुषु ।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबाहो ! शत्रुओंके बीच विश्वास करना उचित नहीं है; आपने ऐसी ही मन्त्रणा प्रदान की है; यदि किसीका भी विश्वास करना उचित न हुआ, तो राजा किस उपायको अवलम्बन करके राज्यका व्यवहार चलावे ? ॥ १ ॥

विश्वासाद्धि परं राज्ञो राजन्नुत्पद्यते भयम् ।
कथं वै नाश्वसन्राजा शत्रूञ्जयति पार्थिव　　॥ २ ॥

हे भूपाल ! विश्वासके कारणसे ही राजाओंको अत्यन्त भय उत्पन्न होता है; इससे राजा किसी पुरुषका विश्वास न करनेसे किस प्रकार शत्रुओंको जय करनेमें समर्थ होगा ? ॥ २ ॥

एतन्मे संशयं छिन्धि मनो मे संप्रमुह्यति ।
अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह　　॥ ३ ॥

पितामह ! इस अविश्वासकी कथा सुनकर मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है; इससे आप मेरे इस सन्देहको नष्ट कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु कौन्तेय यो वृत्तो ब्रह्मदत्तनिवेशने ।
पूजन्या सह संवादो ब्रह्मदत्तस्य पार्थिव　　॥ ४ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! ब्रह्मदत्त राजाके मन्दिरमें पूजनी चिडियाके साथ उनका जो वार्तालाप हुआ था, उस सम्वादको सुनो ॥ ४ ॥

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य अन्तःपुरनिवासिनी ।
पूजनी नाम शकुनी दीर्घकालं सहोषिता　　॥ ५ ॥

काम्पिल्यके ब्रह्मदत्त राजाके अन्तःपुरमें रहनेवाली एक पूजनी नाम चिडिया बहुत दिनोंसे उनके सङ्ग वास करती थी ॥ ५ ॥

रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः ।
सर्वज्ञा सर्वधर्मज्ञा तिर्यग्योनिगतापि सा　　॥ ६ ॥

यह जीवजीवक पक्षीकी तरह सब प्राणियोंकी बोली समझ सकती थी और तिर्यग्–योनिमें उत्पन्न होके भी सर्वज्ञ तथा सब धर्म–तत्त्वोंको जाननेवाली थी ॥ ६ ॥

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम् ।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्याः पुत्रो व्यजायत　　॥ ७ ॥

पूजनीने उस राजमन्दिरमें एक सुन्दर तेजस्वी पुत्र प्रसव किया; उस ही समय राजाके भी राज-महिषीके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

समुद्रतीरं गत्वा सा त्वाजहार फलद्वयम् ।
पुष्ट्यर्थं च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह　　॥ ८ ॥

किसी समय समुद्रके किनारे गमन करके दो फल— एक निज पुत्र और दूसरा राजपुत्रकी पुष्टिके निमित्त वह लाती थी ॥ ८ ॥

फलमेकं सुतायादाद्राजपुत्राय चापरम् ।
अमृतास्वादसदृशं बलतेजोविवर्धनम् ।
तत्रागच्छत्परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् ॥ ९ ॥

इसी तरह वह वैसे अमृत स्वादके समान स्वादु, बल और तेजको बढानेवाले, उन दोनों फलोंमेंसे एक अपने पुत्र और दूसरा राजपुत्रको देती थी; राजपुत्र उस फलके खानेसे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हुआ ॥ ९ ॥

धात्र्या हस्तगतश्चापि तेनाक्रीडत पक्षिणा ।
शून्ये तु तमुपादाय पक्षिणं समजातकम् ।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागमत् ॥ १० ॥

एक दिन वह राजपुत्र धात्रीके गोदमें बैठकर उस पक्षीके बच्चेके साथ खेलने लगा। हे राजेन्द्र ! अनन्तर राजपुत्रने उस समजात बच्चेको सूने स्थानमें ले जाकर उसे मारकर दासीके गोदमें बैठ गया ॥ १० ॥

अथ सा शकुनी राजन्नागमत्फलहारिका ।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥ ११ ॥

हे राजन् ! अनन्तर वह पूजनी चिडिया फल लेके आई और अपने बच्चेको राजपुत्रके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर पडा देखा ॥ ११ ॥

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा सा तु हतं सुतम् ।
पूजनी दुःखसंतप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अपने बच्चेको मरा देखके, पूजनीके मुखपर आंसुओंकी धारा वहने लगी और वह मन मलिन, दीन और दुःखसे सन्तापित होकर रोती हुई बोली ॥ १२ ॥

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम् ।
कारणे संभजन्तीह कृतार्थाः संत्यजन्ति च ॥ १३ ॥

क्षत्रियमें सहवासका भाव, प्रीति वा सुहृदता नहीं होती; ये लोग किसी स्वार्थ प्रयोजनके कारण ही दूसरोंके पूजक होते हैं और कृतकार्य होनेपर आश्रितोंको परित्याग किया करते हैं ॥ १३ ॥

क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापघातिषु ।
अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥ १४ ॥

सबका विनाश करनेवाले क्षत्रियोंपर विश्वास करना उचित नहीं है; ये लोग सदा अपकार करके भी निरर्थक सान्त्वना दिया करते हैं; ॥ १४ ॥

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम् ।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १५ ॥

इससे आज मैं इस विश्वासघाती, अत्यंत क्रूर और कृतघ्न क्षत्रिय बालकसे यथा उचित वैरका पल्टा लूंगी; ॥ १५ ॥

सहसंजातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः ।
शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्यस्य किल्बिषम् ॥ १६ ॥

साथमें उत्पन्न होके बढे हुए, साथमें भोजन करनेवाले और शरणागत पुरुषका वध करनेसे इसे तीन तरहका पाप हुआ है ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा ।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

पूजनीने ऐसा वचन कहके अपने दोनों पंखोंसे राजपुत्रके दोनों नेत्रोंको फोड डाला और आकाशमें उडके यह वचन बोली ॥ १७ ॥

इच्छयैव कृतं पापं सद्य एवोपसर्पति ।
कृतप्रतिक्रियं तेषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ १८ ॥

इस संसारमें जो इच्छापूर्वक पापकर्म किया जाता है, उसका फल उस ही समय उस पाप करनेवालेको मिलता है । जिनके पापका बदला मिल जाता है, उनके पहिलेके शुभाशुभ फल नष्ट नहीं होते ॥ १८ ॥

पापं कर्म कृतं किंचिन्न तस्मिन्यदि विद्यते ।
निपात्यतेऽस्य पुत्रेषु न चेत्पौत्रेषु नप्तृषु ॥ १९ ॥

यद्यपि गृहस्वामीके किये हुए पापकर्मका कुछ भी फल न दीख पडे, तौभी उसके पुत्र, पौत्र, नाती आदिकोंमें वह पापकर्मका फल दीख पडता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच—

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया ।
उभयं तत्समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥ २० ॥

ब्रह्मदत्त बोले– हे पूजनी ! हमने तेरा अपराध किया था, तुमने उसका पल्टा लिया है, इससे हम दोनोंका कार्य समान हो गया; इसलिये तुम मेरे गृहमेंही वास करो; यहांसे दूसरी जगह मत जाओ ॥ २० ॥

पूजन्युवाच—

सकृत्कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः ।
न तद्बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥ २१ ॥

पूजनी बोली– जिसने जिस स्थानपर एक बार किसीका अपराध किया है, पण्डित लोग उसके फिर उस स्थानमें वास करनेकी प्रशंसा नहीं करते; उसका वहांसे भागनाही कल्याणकारी है ॥ २१ ॥

×

सान्त्वे प्रयुक्ते नृपते कृतवैरे न विश्वसेत्।
क्षिप्रं प्रवध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति ॥ २२ ॥

कृतवैर पुरुषके अत्यन्त सान्त्व वचन प्रयोग करनेपर भी उसका विश्वास करना उचित नहीं है; जो मूढ पुरुष उसका विश्वास करता है, वह शीघ्रही वध्य होता है और शत्रुभावकी भी एक ही समयमें शान्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

अन्योन्यं कृतवैराणां पुत्रपौत्रं निगच्छति।
पुत्रपौत्रे विनष्टे तु परलोकं निगच्छति ॥ २३ ॥

जिनमें आपसकी शत्रुता है, उन लोगोंके पुत्रपौत्र आदि सभी उस वैरभावसे पीडित होते हैं; पुत्रपौत्रोंका नाश होनेसे भी परलोकमें भी वह साथ नहीं छोडता है ॥ २३ ॥

सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखावहः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकः ॥ २४ ॥

वैर करनेवाले पुरुष मात्रका अविश्वास करना ही सुखावह है; विश्वासघातक पुरुषोंके साथ एकवारगी विश्वास करना उचित नहीं है ॥ २४ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्।
कामं विश्वासयेदन्यान्परेषां च न विश्वसेत् ॥ २५ ॥

अविश्वासी पुरुषका विश्वास न करें और विश्वस्त पुरुषका अत्यन्त विश्वास करना भी योग्य नहीं है; स्वयं दूसरेका विश्वास पात्र होवे, परन्तु स्वयं दूसरेका विश्वास न करे ॥ २५ ॥

माता पिता बान्धवानां वरिष्ठौ भार्या जरा बीजमात्रं तु पुत्रः।
भ्राताः शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य आत्मा ह्येकः सुखदुःखस्य वेत्ता ॥ २६ ॥

इस जगत्‌में पिता—माता ही स्वाभाविक प्रेमके कारण बान्धवोंके बीच वरिष्ठ हैं, भार्या जरा है, पुत्र अपना अंश है, भ्राता शत्रु समझा जाता है, मित्र जब तक उसका हाथ गीला रहता है, तबतक मित्र है; इसलिये अकेला आत्माही केवल सुख—दुःखका जाननेवाला है ॥ २६ ॥

अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते।
स च हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥ २७ ॥

जिन लोगोंमें एक वार आपसमें वैर हुआ है, फिर उन लोगोंकी सन्धि सङ्घटित नहीं होती। मैं जिस लिये तुम्हारे गृहमें वास करती थी, वह कारण समाप्त हुआ है ॥ २७ ॥

पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः।
चेतो भवत्यविश्वस्तं पूर्वं त्रासयते बलात् ॥ २८ ॥

पहिले किसी पुरुषकी बुराई करके फिर धनदान और सम्मानसे उसे सम्मानित करने पर उसका मन कभी विश्वास युक्त नहीं होता; पहले किया हुआ अनुचित कर्म ही उसे भयभीत करता है ॥ २८ ॥

पूर्वं संमानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना ।
जह्यात्तं सत्त्ववान्वासं संमानितविमानितः ॥ २९ ॥

जिस स्थानमें पहिले सम्मान मिला हो और पीछे अपमान होवे, तो बुद्धिमान् पुरुष सम्मानित–अपमानित होनेपर वैसे स्थानको परित्याग करे; ॥ २९ ॥

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालमहिंसिता ।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमास्स्व व्रजाम्यहम् ॥ ३० ॥

मैंने बहुत समयसे सम्मानित अहिंसित होके आपके गृहमें वास किया, इस समय यह वैर भाव उत्पन्न हुआ; इसलिये मैं अनायास ही सुखके सहित इस स्थानसे गमन करूंगी ॥ ३० ॥

ब्रह्मदत्त उवाच—

यत्कृते प्रतिकुर्याद्वै न स तत्रापराध्नुयात् ।
अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३१ ॥

ब्रह्मदत्त बोले—हे पूजनी ! जो उपकारके बदलेमें कुछ करता है, उसके लिये वह अपराधी नहीं होता; बल्कि उससे वह पहलेका अपराधी अऋणी हुआ करता है, इसलिये तुम इस ही स्थानमें वास करो, दूसरी जगह मत जाओ ॥ ३१ ॥

पूजन्युवाच—

न कृतस्य न कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः ।
हृदयं तत्र जानाति कर्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३२ ॥

पूजनी बोली— अपकारक और प्रत्यपकारकमें फिर मित्रता वा सन्धि नहीं होती; जो अपराध करता है और जिसपर अपकार किया जाता है, उन लोगोंके अन्तःकरणमें ही यह बात खटकती है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच—

कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः ।
वैरस्योपशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मदत्त बोले— अनेक स्थानोंमें अपकर्ता और प्रत्यपकर्त्ताका फिर मिलन हुआ करता है, तथा उनके शत्रुताकी शान्ति देखी गई है, दूसरी बार फिर उस पापका फल नहीं भोगना पडता ॥ ३३ ॥

पूजन्युवाच—

नास्ति वैरमुपक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
विश्वासाद्बध्यते बालस्तस्माच्छ्रेयो ह्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥

पूजनी बोली— इस प्रकार वैरकी कभी समाप्ति नहीं होती; शत्रुने मेरी सान्त्वना की है ऐसा समझके उसका विश्वास न करे; संसारमें ऐसी अवस्थामें विश्वासके कारण ही मूर्ख–अज्ञानी मनुष्य मारा जाता है; इसलिये शत्रुके साथ भेंट न होनी ही कल्याणकारी है ॥ ३४ ॥

तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि ।
सान्ना ते विनिगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥ ३५ ॥

उत्तम पानी चढे हुए शस्त्रके जरिये जिन लोगोंको जय नहीं किया जा सकता, उन्हें इस प्रकार सान्त्वना वचनके जरिये वशमें लाया जाता है; जैसे हथिनियोंकी सहायतासे हाथियोंको वशीभूत किया जाता है ॥ ३५ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच—

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि ।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥ ३६ ॥

ब्रह्मदत्त बोले– चाण्डालके सङ्ग रहनेसे कुत्तेका उसके प्रति स्नेह और विश्वास होता है; प्राणनाश करनेवाले पुरुषोंके निकट भी परस्परके सहवासके कारण प्रीति उत्पन्न होती है, और उस ही कारणसे आपसमें विश्वास उत्पन्न हुआ करता है ॥ ३६ ॥

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम् ।
नैव तिष्ठति तद्वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥ ३७ ॥

कृतवैर पुरुषोंका वैरीभाव परस्परके सहवासके कारण मृदुताको प्राप्त होकर, पद्म–पत्र पर स्थित जलकी तरह वह वैर भी टिक नहीं सकता ॥ ३७ ॥

पूजन्युवाच –

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः ।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससपत्नापराधजम् ॥ ३८ ॥

पूजनी बोली– वैर पांच तरहसे उत्पन्न होता है, इसे पण्डित लोग जानते हैं। पहिला कृष्ण और शिशुपालके विवादकी भांति स्त्रीके वास्ते, दूसरा कौरव और पाण्डवोंकी तरह वस्तु–घर और जमीन–के लिये, तीसरा द्रुपद और द्रोणाचार्यकी भांति कठोर वचनके कारण, चौथा बिडाल और चूहेका स्वभावसिद्ध जाति वैर, पांचवा मेरे और आपके अपराधके कारण जो सङ्घटित हुआ है, यह अपराधज है ॥ ३८ ॥

तत्र दाता निहन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा बुद्ध्वा देशबलादिकम् ॥ ३९ ॥

उसके बीच प्रकाश्य वा अप्रकाश्य भावसे दोषके देश तथा बलाबलको विचारके दातव्य पुरुषका विशेष करके क्षत्रियको वध करना उचित है ॥ ३९ ॥

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि ।
छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४० ॥

इस जगतमें मित्रके साथ शत्रुता होनेपर फिर उसका विश्वास न करे। काष्ठके बीच छिपी हुई अग्निकी तरह उसके हृदयमें वैरभाव गूढ भावसे स्थित रहता है ॥ ४० ॥

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः ।
वैराग्निः शाम्यते राजन्नौर्वाग्निरिव सागरे ॥ ४१ ॥

हे राजन् ! समुद्रमें रहनेवाली वाडवाग्निकी तरह वैराग्नि वित्त, कठोरता, सान्त्व वचन और शास्त्रके जरिये शान्त नहीं होती ॥ ४१ ॥

न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म वाप्यपराधजम् ।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात् ॥ ४२ ॥

महाराज ! बढ़ी हुई वैरकी अग्नि और अपराध–युक्त कर्म एक पक्षको जलाके नष्ट विना किये शान्त नहीं होते ॥ ४२ ॥

सत्कृतस्यार्थमानाभ्यं स्यात्तु पूर्वापकारिणः ।
नैव शान्तिर्न विश्वासः कर्म त्रासयते बलात् ॥ ४३ ॥

प्रथम अपकार करनेवाले पुरुषका यदि अपकृतके द्वारा धन और सम्मानसे सत्कार किया जाय तो उसे उस शत्रुमें मित्रकी तरह विश्वास स्थापित करना उचित नहीं है; क्योंकि उसके किये हुए पापकर्म ही बलपूर्वक भयभीत करते हैं ॥ ४३ ॥

नैवापकारे कस्मिंश्चिदहं त्वयि तथा भवान् ।
विश्वासादुषिता पूर्वं नेदानीं विश्वसाम्यहम् ॥ ४४ ॥

मैंने पहिले कभी आपको बुराई नहीं की थी, आपने भी पहिले कभी मेरी बुराई नहीं की थी, इस ही कारण मैंने आपके गृहमें निवास किया था; परन्तु इस समय अब मैं आपका विश्वास नहीं करती ॥ ४४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच —

कालेन क्रियते कार्यं तथैव विविधाः क्रियाः ।
कालेनैव प्रवर्तन्ते कः कस्येहापराध्यति ॥ ४५ ॥

ब्रह्मदत्त बोले— काल–वशसे कार्य सङ्घटित होते हैं, और कालके अनुसार अनेक क्रिया आरम्भ हुआ करती हैं, इसलिये कौन पुरुष किसीके समीप अपराधी होगा ? ॥ ४५ ॥

तुल्यं चोभे प्रवर्तेते मरणं जन्म चैव ह ।
कार्यते चैव कालेन तन्निमित्तं हि जीवति ॥ ४६ ॥

कालके वशमें सब जगत् है, हम दोनोंका कुछ दोष नहीं है । जन्म और मृत्यु दोनों ही समान रूपसे हुआ करती हैं; जीव कालके अनुसार जन्मता और कालवशसे ही मरता है ॥४६॥

वध्यन्ते युगपत्केचिदेकैकस्य न चापरे ।
कालो दहति भूतानि संप्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥ ४७ ॥

कितने ही लोग एक साथ ही वध्य होते हैं, कुछ एक एक मरते हैं, और दूसरे बहुतसे दीर्घ-कालतक मरतेही नहीं; जैसे अग्नि काष्ठ प्राप्त होनेसे ही भस्म करती है, वैसे ही काल सब जीवोंको जला रहा है ॥ ४७ ॥

नाहं प्रमाणं नैव त्वमन्योन्यकरणे शुभे ।
कालो नित्यमुपाधत्ते सुखं दुःखं च देहिनाम् ॥ ४८ ॥

हे कल्याणि ! तुम अथवा मैं हम दोनों ही परस्परके दुःखके कारण नहीं हैं, क्योंकि काल ही सदा देहधारियोंके सुख–दुःखको ग्रहण या उत्पन्न किया करता है ॥ ४८ ॥

एवं वसेह सस्नेहा यथाकाममहिंसिता ।
यत्कृतं तच्च मे क्षान्तं त्वं चैव क्षम पूजनि ॥ ४९ ॥

हे पूजनी ! इससे जैसे तुम मेरे गृहमें रहती थी, वैसे ही प्रीतिपूर्वक इच्छानुसार हिंसा रहित चित्तसे वास करो; तुमने मेरी जो बुराई की है, उसे मैंने क्षमा किया और मुझसे तुम्हारा जो कुछ अपकार हुआ है, उसे तुम क्षमा करो ॥ ४९ ॥

पूजन्युवाच—
यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद्भवेत् ।
कस्मात्त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवे हते ॥ ५० ॥

पूजनी बोली– हे राजन् ! यदि आपके अभिप्रायके अनुसार काल ही सबका कारण होता, तो किसीके साथ कोई पुरुषकी शत्रुता न होती; बान्धवोंके मरने पर बन्धु लोग किस कारण दुःखको प्राप्त होते हैं ? ॥ ५० ॥

कस्माद्देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे ।
यदि कालेन निर्याणं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ ५१ ॥

देवता और दानवोंने ही किस कारणसे पहिले आपसमें युद्ध करके एक दूसरेका वध किया था ? यदि कालके अनुसार ही मृत्यु, सुख–दुःख और उन्नति–अवनति आदि होते हैं, ॥५१॥

भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणे ।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५२ ॥

वैद्य लोग रोगियोंके वास्ते क्यों औषधि तय्यार करनेमें प्रवृत्त होते हैं ? यदि काल वशसे ही जीवोंकी मृत्यु होती, तो औषध प्रयोग करनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ५२ ॥

प्रलापः क्रियते कस्मात् सुमहाञ्शोकमूर्छितैः ।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्तृषु ॥ ५३ ॥

शोकसे मूर्च्छित प्राणी किस कारण महान् प्रलाप वचन कहा करते हैं ? यदि काल ही आपके मतमें प्रमाण हुआ तो कर्तृसमूहके विषयमें धर्म विषयक विधि निषेध आदि नियमका पालन क्यों रखा है ? ॥ ५३ ॥

तव पुत्रो ममापत्यं हतवान्हिंसितो मया ।
अनन्तरं त्वया चाहं बन्धनीया महीपते ॥ ५४ ॥

हे नरनाथ ! आपके पुत्रने मेरे सन्तानको नष्ट किया, इस ही कारण मैंने भी उसे घायल किया है; इसके बाद आप मुझे मारेंगे ॥ ५४ ॥

अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे ।
यथा त्वया प्रहर्तव्यं तथा तत्त्वं च मे शृणु ॥ ५५ ॥

मैंने पुत्र–शोकके वशमें होकर आपके आत्मजके साथ अनिष्ट आचरण किया है, आप भी उस प्रकार मेरे ऊपर प्रहार करेंगे; उस विषयकी तत्व कथा कहती हूं, सुनो ॥ ५५ ॥

भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः ।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः ॥ ५६ ॥

मनुष्य लोग भोजन और खेलनेके वास्ते पक्षियोंकी इच्छा करते हैं; उन लोगोंके वध और बन्धनके अतिरिक्त तीसरा कारण और कुछ भी नहीं है ॥ ५६ ॥

वधबन्धभयादेके मोक्षतन्त्रमुपागताः ।
मरणोत्पातजं दुःखमाहुर्धर्मविदो जनाः ॥ ५७ ॥

वध और बन्धनके भयसे ही मुमुक्षुलोग मुक्ति पथका आश्रय किया करते हैं। धर्मके जानने-वाले श्रेष्ठ पुरुष जन्म और मरणका दुःख असह्य है, ऐसे कहा करते हैं ॥ ५७ ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः ।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ५८ ॥

अपने प्राण और पुत्र सबको ही प्रिय है, और सब लोगही दुःखसे व्याकुल होते हैं; सुखमें सबकी ही अभिलाषा होती है ॥ ५८ ॥

दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्ययः ।
दुःखं चानिष्टसंवासो दुःखमिष्टवियोगजम् ॥ ५९ ॥

हे ब्रह्मदत्त ! दुःख अनेक तरहसे उत्पन्न हुआ करता है; बुढापा, धनका नाश, अनिष्ट सहवास और प्रियजनोंका वियोग दुःख है ॥ ५९ ॥

वैरबन्धकृतं दुःखं हिंसाजं स्त्रीकृतं तथा ।
दुःखं सुखेन सततं जनाद्विपरिवर्तते ॥ ६० ॥

वैर और बन्धन, स्त्रीके कारण और हिंसासे उत्पन्न दुःख अनेक प्रकारके हैं; उसके बीच पुत्रवियोग–जनित दुःख लोगोंको विशेष रूपसे लगता है ॥ ६० ॥

न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः ।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६१ ॥

कोई कोई निर्बुद्धि मनुष्य दूसरेके दुःखमें दुःख नहीं होता ऐसे कहा करता है; परंतु जो दुःखके तत्त्वको नहीं जानता, वही ऐसा श्रेष्ठ पुरुषोंके निकट कहता है ॥ ६१ ॥

यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत् ।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथा परे ॥ ६२ ॥

जो पुरुष दुःखसे आर्त्त होकर शोक करता है, वह किस तरह ऐसा कहनेमें उत्साही हो सकता है ? जिस पुरुषने सब दुःखोंके विषयोंको ग्रहण किया है, वह अपनेमें जैसा देखता है, दूसरेमें भी उसी तरह देखा करता है ॥ ६२ ॥

यत्कृतं ते मया राजंस्त्वया च मम यत्कृतम् ।
न तद्वर्षशतैः शक्यं व्यपोहितुमरिंदम ॥ ६३ ॥

हे वैरीदमन राजन् ! मैंने आपकी जो बुराई की है और आपने भी जो अहित आचरण किया है, उसे सैंकडों वर्षोंमें भी भुलाया नहीं जा सकता ॥ ६३ ॥

आवयोः कृतमन्योन्यं तत्र संधिर्न विद्यते ।
स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति ॥ ६४ ॥

इस प्रकार आपसमें एक दूसरेका अपकार करनेके कारण फिर अब हमारा परस्परका मिलन नहीं होसकता; आप जिस समय पुत्रको स्मरण करेंगे, उसही समय वैरभाव नवीन हो जावेगा ॥ ६४ ॥

वैरमन्तिकमासज्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति ।
मृन्मयस्येव भग्नस्य तस्य संधिर्न विद्यते ॥ ६५ ॥

जैसे मिट्टीका पात्र टूटनेपर फिर नहीं जुडता वैसे ही जो शीघ्र वैर करके प्रीति करनेकी इच्छा करता है, उसका प्रेम कभी सुखदायक नहीं हो सकता ॥ ६५ ॥

निश्चितश्चार्थशास्त्रज्ञैरविश्वासः सुखोदयः ।
उशनाश्चाथ गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत्पुरा ॥ ६६ ॥

अविश्वास करना ही सुखदायक है, ऐसा नीतिशास्त्रके जाननेवाले पण्डितोंका निश्चय है; पहिले शुक्राचार्यने भी प्रह्लादसे इस विषयमें दो गाथाएं कही थीं ॥ ६६ ॥

ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा ।
ते श्रद्दधाना वध्यन्ते मधु शुष्कतृणैर्यथा ॥ ६७ ॥

जो शत्रुके सत्य वा मिथ्या वचनमें विश्वास करते हैं, वे सूखे तृणसे युक्त अन्धकूपमें गिरे हुए मधुलोभीकी तरह शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ६७ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुलेष्वा दशमाद्युगात् ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले चेद्विद्यते पुमान् ॥ ६८ ॥

ऐसा देखा गया है, कि किसी स्थानमें शत्रुता वंश परम्परासे प्रचलित रहती है। जिस कुलमें वैर बंध जाता है, वह दस युगोंतक शान्त नहीं होता; उसे याद दिलानेवाले लोग वंशमें बने ही रहते हैं; जबतक कुलमें एक भी पुरुष विद्यमान रहता है, तब तक वह रहता ही है ॥६८॥

उपगुह्य हि वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिपाः ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ६९ ॥

राजा लोग मनमें वैरकी भावना रखकर ऊपरसे शत्रुके साथ मधुर वचनोंसे सान्त्वना करते हैं, परंतु वेही पत्थरपर गिरे हुए पूर्ण घडेकी तरह उसे चूर्ण किया करते हैं ॥ ६९ ॥

सदा न विश्वसेद्राजन्पापं कृत्वेह कस्यचित् ।
अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद्दुःखमश्नुते ॥ ७० ॥

राजन् ! इस जगतमें किसीके साथ अनिष्ट आचरण करके कभी उसका विश्वास न करे; दूसरोंकी बुराई करके भी उनपर विश्वास करनेसे दुःख–भोगना पडता है ॥ ७० ॥

ब्रह्मदत्त उवाच —

नाविश्वासाच्चिन्वतेऽर्थान्नेहन्ते चापि किंचन ।
भयादेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ॥ ७१ ॥

ब्रह्मदत्त बोले– इस जगतमें अविश्वास करनेसे कोई अभीष्ट अर्थ–सञ्चय वा दूसरे कुछ कार्यके लिये उपाय नहीं कर सकता; बल्कि एक पक्षका सदा अविश्वास करनेसे भयके कारण मृतकके समान हो जायंगे ॥ ७१ ॥

पूजन्युवाच—

यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति ।
क्षण्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमभिधावतः ॥ ७२ ॥

पूजनी बोली– इस संसारमें जो पुरुष व्रणयुक्त पदसे भ्रमण करता है, वह सावधान रहकर दौडनेपर भी उसके दोनों पांव फिर घावसे युक्त ही होते रहेंगे ॥ ७२ ॥

नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते ।
तस्य वायुरुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य अपने रुग्ण नेत्रोंसे वायुके प्रतिकूल दिशाकी ओर देखता है, वायु निश्चयही उसके दोनों नेत्रोंके लिये पीडाजनक होजाती है ॥ ७३ ॥

दुष्टं पन्थानमाश्रित्य यो मोहादभिपद्यते ।
आत्मनो बलमज्ञात्वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७४ ॥

जो अपना बल न जानके अज्ञानताके कारण दुर्गम मार्गका अवलम्बन करके उसमें उपस्थित होता है, उस ही स्थानमें उसका जीवन समाप्त हुआ करता है ॥ ७४ ॥

यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कृषति मानवः ।
हीनं पुरुषकारेण सस्यं नैवाप्नुते पुनः ॥ ७५ ॥

जो मनुष्य वर्षाका समय मालूम न करके खेत बोता है, वह पुरुषार्थ व्यर्थ हो जानेके कारण फिर सस्य भोग करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ७५ ॥

×

यश्च तिक्तं कषायं वाप्यास्वादविधुरं हितम् ।
आहारं कुरुते नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ७६ ॥

जो तीता, मसेला, मीठा वा मधुर हीन परंतु हितकर नित्य आहार करता है, वह अन्न उसके लिये अमृत समान होता है ॥ ७६ ॥

पथ्यं भुक्त्वा नरो लोभाद्योऽन्यदश्नाति भोजनम् ।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७७ ॥

और जो परिणामके विचार किये विना लोभवशसे पथ्य भोजनोंको परित्याग करके अपथ्य भोजन करता है, उसका जीवन वहीं नष्ट होता है ॥ ७७ ॥

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् ।
उदात्तानां कर्म तन्त्रं दैवं क्लीवा उपासते ॥ ७८ ॥

दैव और पुरुषार्थ आपसमें एक दूसरेके आश्रयसे स्थिति करते हैं । उदार पुरुष सत्कर्मोंका आसरा ग्रहण करते हैं और नपुंसक लोग ही दैवको अवलम्बन किया करते हैं ॥ ७८ ॥

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिंचनः ॥ ७९ ॥

आत्म हितकर कर्म चाहे कठोर हो, चाहे कोमल ही होवे, उसे अवश्य करना चाहिये; कर्महीन तुच्छ पुरुष सदा निर्धन होकर अनर्थ-ग्रस्त हुआ करता है ॥ ७९ ॥

तस्मात्संशयितेऽप्यर्थे कार्य एव पराक्रमः ।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८० ॥

इससे सब संशयग्रस्त कार्योंमें भी पराक्रम प्रकाश करना ही योग्य है । सर्वस्व परित्याग करके भी मनुष्यको आत्म-हितकर कार्य करना उचित है ॥ ८० ॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चकम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह यैर्बुधाः ॥ ८१ ॥

विद्या, शूरता, दक्षता, बल और धीरज इन पांचोंको पण्डित लोग मनुष्यके सहज मित्र कहा करते हैं; और वे लोग इन पांच प्रकारके मित्रोंके अवलम्बनसे जीवन विताते हैं ॥ ८१ ॥

निवेशनं च कुप्यं च क्षेत्रं भार्या सुहृज्जनः ।
एतान्युपचितान्याहुः सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८२ ॥

गृह, ताम्र आदि पात्र, क्षेत्र, भार्या तथा सुहृदवृन्द—इन पांचोंको पण्डित लोग उपमित्र कहते हैं; मनुष्य सर्वत्र ही इन पाचोंको पाता है ॥ ८२ ॥

सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विरोचते ।
न विभीषयते कंचिद्भीषितो न बिभेति च ॥ ८३ ॥

बुद्धिमान् पुरुष सर्वत्र ही आनन्दमें रहता है और सब जगह विराजता है; कोई पुरुष उसे भय नहीं दिखा सकता, भय दिखानेसे भी वह नहीं डरता है ॥ ८३ ॥

नित्यं बुद्धिमतो ह्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।
दाक्ष्येण कुरुते कर्म संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ८४ ॥

बुद्धिमान् पुरुषके पास थोडा धन होनेपर भी वह सदा बढता है, निपुणताके सहित कर्म करते हुए संयमसे उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥ ८४ ॥

गृहस्नेहावबद्धानां नराणामल्पमेधसाम् ।
कुस्त्री खादति मांसानि माघमा सेगवामिव ॥ ८५ ॥

कर्कटीके गर्भसे उत्पन्न हुए सब सन्तान जैसे उसके मांसको भक्षण करके उसे नष्ट करती हैं, वैसे गृहस्नेहमें आबद्ध अल्पबुद्धि मनुष्योंकी दुष्ट स्त्रियां वाक्य—यन्त्रणाके जरिये उन लोगोंके मांस और रुधिरको सुखा देती है ॥ ८५ ॥

गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्वदेश इति चापरे ।
इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविपर्यये ॥ ८६ ॥

कोई पुरुष अपने बुद्धिदोषसे विदेश जानेके समय मेरा गृह, मेरा क्षेत्र, मेरे मित्र और हमारा स्वदेश ऐसीही चिन्ता करके दुःखित हुआ करते हैं ॥ ८६ ॥

उत्पतेत्सरुजाद्देशाद्व्याधिदुर्भिक्षपीडितात् ।
अन्यत्र वस्तुं गच्छेद्वा वसेद्वा नित्यमानितः ॥ ८७ ॥

स्वदेश यदि व्याधि वा दुर्भिक्षसे पीडित होवे, तो आत्मरक्षाके लिये उसे परित्यागके दूसरे देशमें वास करनेके वास्ते जाना चाहिये; यदि वहां ही रहना हो तो सम्मानित होके रहना उचित है ॥ ८७ ॥

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनाहार्यं तव पुत्रेण पार्थिव ॥ ८८ ॥

इसलिये मैं दूसरी जगह वास करनेके लिये गमन करूंगी । हे महाराज ! मैंने आपके पुत्रके विषयमें अत्यन्त ही अन्याय आचरण किया है, इसलिये मैं इस स्थानमें वास करनेकी इच्छा नहीं करती हूं, दूसरी जगह चली जाऊंगी ॥ ८८ ॥

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसंबन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ८९ ॥

कुभार्या, कुपुत्र, कुटिल राजा, कुमित्र, कुसम्बन्ध और कुदेशको एकबारगी दूरसेही परित्याग करना चाहिये ॥ ८९ ॥

कुमित्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे न प्रजीव्यते ॥ ९० ॥

कुपुत्रमें विश्वास नहीं हो सकता, कुभार्यामें अनुराग नहीं होता, कुराज्यमें सुख-शान्ति नहीं मिल सकती और कुदेशमें जीविका निर्वाह नहीं होता ॥ ९० ॥

कुमित्रे संगतं नास्ति नित्यमस्थिरसौहृदे ।
अवमानः कुसंबन्धे भवत्यर्थविपर्यये ॥ ९१ ॥

सदा अस्थिर सुहृद् कुमित्रके सहित सङ्गति नहीं निभती और प्रयोजनमें विपर्यय होनेसे कुसम्बन्धमें अपमान हुआ करता है ॥ ९१ ॥

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥ ९२ ॥

जो भार्या प्रिय वचन कहे, वही उत्तम भार्या है; जिस पुत्रसे सुखी होवे, वही पुत्र है; जिसका विश्वास किया जाय वही श्रेष्ठ मित्र है; जिस देशमें अनायास ही जीविका निर्वाह हो, वही स्वदेश है ॥ ९२ ॥

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः ।
न चैव ह्यभिसंबन्धो दरिद्रं यो बुभूषति ॥ ९३ ॥

जिस राज्यमें जबर्दस्ती नहीं, वहां किसी भयकी भी सम्भावना नहीं रहती; जो राजा दरिद्रोंका पालन करनेकी इच्छा करता है, उसके साथ प्रजाका पाल्य—पालन सम्बन्ध होता है; इसलिये ऐसा राजा ही तीक्ष्ण शासनकारी कहके प्रसिद्ध होता है ॥ ९३ ॥

भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसंबन्धिबान्धवाः ।
एतत्सर्वं गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९४ ॥

धर्मपालक गुणवान् राजाके राज्यमें भार्या, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी-बान्धव और देश आदि सभी उत्तम गुणसे युक्त हुआ करते हैं ॥ ९४ ॥

अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजा गच्छन्त्यनिग्रहात् ।
राजा मूलं त्रिवर्गस्य अप्रमत्तोऽनुपालयन् ॥ ९५ ॥

अधर्म्मी राजाके निग्रह निबन्धनसे प्रजाका नाश होता है। राजाही धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गका मूल है; इसलिये प्रमादरहित होके उसे प्रजापालन करना अवश्य उचित है ॥९५॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं तमुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिवतस्करः ॥ ९६ ॥

जो राजा प्रजासमूहके समीपसे छठवां भाग कर लेके उसका उपभोग करता है, और प्रजासमूहका पूर्णरीतिसे पालन नहीं करता वह राजाओंके बीच तस्कर कहके निन्दित होता है ॥ ९६ ॥

दत्त्वाभयं यः स्वयमेव राजा न तत्प्रमाणं कुरुते यथावत् ।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापमधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥ ९७ ॥

जो राजा स्वयं अभय दान करके फिर उसमें असम्मत होता है, वह अधर्म बुद्धि राजा सब लोगोंके पापको ग्रहण करके अन्त समयमें नरकमें गमन किया करता है ॥ ९७ ॥

दत्त्वाभयं यः स्म राजा प्रमाणं कुरुते सदा ।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ९८ ॥

जो राजा स्वयं अभयदान करके प्रजाका धर्मपालन करते हुए उसे प्रमाणित करे, तो वह सबको सुख देनेवाला कहके विख्यात होता है ॥ ९८ ॥

पिता माता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः ।
सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ९९ ॥

प्रजापति मनुने कहा है, कि राजामें पिता, माता, गुरु, रक्षिता, अग्नि, कुबेर और यम इन सातोंका गुण रहता है; ॥ ९९ ॥

पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पकः ।
तस्मिन्मिथ्याप्रणीते हि तिर्यग्गच्छति मानवः ॥ १०० ॥

राजा प्रजा समूहके विषयमें कृपा प्रकाशित करनेसे पितृस्वरूप है; जो मनुष्य उसके समीप मिथ्या विनय करता है, वह तिर्यग् योनिमें जन्म लेता है ॥ १०० ॥

संभावयति मातेव दीनमभ्युपपद्यते ।
दहत्यग्निरिवानिष्टान्यमयन्भवते यमः ॥ १०१ ॥

राजा दीन–दुखियोंका माताके समान पालन करता है, इसीसे मातृस्थानीय हुआ है। बुराइयोंको जलाता है, इससे अग्नि और दुष्टोंका दमन करके उन्हें संयममें रखता है, इस ही कारण यम स्वरूप हुआ है ॥ १०१ ॥

इष्टेषु विसृजत्यर्थान्कुबेर इव कामदः ।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालनात् ॥ १०२ ॥

प्रियजनोंको धन दान करके उनकी कामना पूरी करता है इसलिये कुबेर, धर्म उपदेश करनेसे गुरु और सबका पालन करनेसे रक्षक स्वरूप हुआ करता है ॥ १०२ ॥

यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान्गुणैः ।
न तस्य भ्रश्यते राज्यं गुणधर्मानुपालनात् ॥ १०३ ॥

जो राजा अपने गुणसमूहसे पुरवासी और जनपदबासी लोगोंके चित्तको प्रसन्न करता और गुण–धर्मके अनुसार स्वयं उनका पालन किया करता है, उसका राज्य कभी भ्रष्ट नहीं होता ॥ १०३ ॥

स्वयं समुपजानन्हि पौरजानपदक्रियाः ।
स सुखं मोदते भूप इहलोके परत्र च ॥ १०४ ॥

हे भद्र ! जो स्वयं पुरवासी और जनपद वासियोंका सम्मान करना जानता है, वह इस लोक और परलोकमें सुखभोग किया करता है ॥ १०४ ॥

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः ।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥ १०५ ॥

जिसकी प्रजा कर भारसे पीडित होकर सदा व्याकुल होती है और बुराइयोंके जरिये क्लेश पाती है, वह राजा पराभवको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

प्रजा यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम् ।
स सर्वयज्ञफलभाग्राजा लोके महीयते ॥ १०६ ॥

तालावमें शत दल कमलकी तरह जिसकी सब प्रजा सदा वर्द्धित होती है, वह फलभागी राजा इस जगत्में सम्मानित होता है ॥ १०६ ॥

बलिना विग्रहो राजन्न कथंचित्प्रशस्यते ।
बलिना विगृहीतस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥ १०७ ॥

हे महाराज ! बलवान्के साथ युद्ध करना कदापि प्रशंसित नहीं है; जिसका बलवानके साथ विग्रह हुआ करता है, उसके राज्य ही कहां ? वा सुख ही कहां है ? ॥ १०७ ॥

भीष्म उवाच—

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिपम् ।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाथेप्सितां दिशम् ॥ १०८ ॥

भीष्म बोले— हे नरनाथ ! वह पूजनी चिडिया राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा ही कहके उनकी आज्ञा लेकर निज अभिलषित दिशामें चली गई ॥ १०८ ॥

एतत्ते ब्रह्मदत्तस्य पूजन्या सह भाषितम् ।
मयोक्तं भरतश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥ ४९५९ ॥

हे राजन् ! पूजनीके साथ ब्रह्मदत्तकी जैसी वार्ता हुई थी, उसे मैंने तुमसे कहा और कहो क्या सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ १०९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३७ ॥ ४९५९ ॥

: १३८ :

युधिष्ठिर उवाच—

युगक्षयात्परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत ।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतकुलतिलक पितामह ! युगक्षयके कारण जगत्में धर्मका क्षय हो रहा है तथा डाकुओंके जरिये पीडित होनेपर किस तरह निवास करना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत ।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! राजा काल क्रमसे करुणा त्यागके जिस तरह निवास करे, मैं तुम्हारे समीप उस आपत्कालके योग्य नीतिका विषय वर्णन करूंगा ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भरद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुंतपस्य च ॥ ३ ॥

पुराने पण्डित लोग इस विषयमें राजा शत्रुंतप और भरद्वाजके सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

राजा शत्रुंतपो नाम सौवीराणां महारथः ।
कणिङ्कमुपसंगम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

सौवीर देशमें शत्रुंतप नामके एक महारथी राजा थे; उन्होंने भरद्वाज कणिङ्कके निकट जाके अपने कर्तव्यके विषयमें विशेष निर्णयका उनसे प्रश्न किया ॥ ४ ॥

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पालयेत्केन पालितं प्रणयेत्कथम् ॥ ५ ॥

अप्राप्त अर्थकी प्राप्तिकी इच्छा किस तरह करनी चाहिये ? प्राप्त हुए धनकी किस प्रकार बढती होती है ? बढे हुए वित्तकी रक्षा किससे की जाती है और रक्षित अर्थ किस प्रकार व्यय किया जा सकता है ? ॥ ५ ॥

तस्मै विनिश्चयार्थं स परिपृष्टार्थनिश्चयः ।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तरम् ॥ ६ ॥

शास्त्रका निश्चित स्वरूपसे ज्ञाता राजाने जब इस प्रकार कर्तव्यनिर्णयके विषयमें प्रश्न किया, तब द्विजवर भरद्वाज उनके पूछे हुए विषयका, युक्तियुक्त श्रेष्ठ उत्तर देने लगे ॥ ६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥ ७ ॥

राजा सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे, सदा अपना पराक्रम प्रकाश करे; स्वयं निर्दोष होकर शत्रुओंका दोषदर्शी और छिद्रान्वेषी होवे। शत्रुओंकी दुर्बलताका पता लगनेपर उनपर आक्रमण करे ॥ ७ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्ररोधयेत् ॥ ८ ॥

जो राजा सदा दण्ड उद्यत कर रखता है, मनुष्य उसके निकट अत्यन्त भय करते हैं; इसलिये सब प्राणियोंको दण्डके जरिये ही शासित करे ॥ ८ ॥

एवमेव प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन्प्रधानो दण्ड उच्यते ॥ ९ ॥

तत्वदर्शी पण्डित लोग इसी तरह दण्डकी प्रशंसा किया करते हैं; इसलिये साम, दान, दण्ड, भेद–इन चारोंके बीच दण्डही प्रधान कहके वर्णित हुआ है ॥ ९ ॥

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हतः ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १० ॥

आश्रयस्थानकी जड काटनेसे उसके आश्रयसे जीवन निर्वाह करनेवाले सभी जीवोंका ही जीवन नष्ट हो जाता है; वृक्षकी जड काटनेपर उसकी सब शाखाएं उसमें कैसे रह सकती हैं ? ॥ १० ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात्परपक्षस्य पण्डितः ।
ततः सहायान्पक्षं च सर्वमेवानुसारयेत् ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् राजा पहिले शत्रुके पक्षका मूलच्छेदन करे; अनन्तर उसके सहायकों और पक्षपातियोंको भी उस मूलके मार्गका अनुसरण करावे ॥ ११ ॥

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदां पदकालेषु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥

आपद उपस्थित होनेपर उत्तम मन्त्रणा, पराक्रम प्रकाश, अच्छी तरहसे युद्ध करे और प्रसंगोंपर पलायन भी करे; संकटके समय योग्य कर्म ही करे, इस विषयमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १२ ॥

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

हृदयसे छुरेकी तरह तीक्ष्ण रहके वचनमात्रसे विनय दिखावे; पहले मृदुभावसे वार्त्तालाप करे और कामक्रोधको त्याग दे ॥ १३ ॥

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा संधिं न विश्वसेत् ।
अपक्रामेत्ततः क्षिप्रं कृतकार्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥

शत्रुके साथ कार्यसंश्रव उपस्थित होनेपर पहिले सन्धि करके उसका विश्वास न करे । बुद्धिमान् पुरुष कृतकार्य होकर शीघ्रही शत्रुका सङ्ग परित्याग करे ॥ १४ ॥

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
नित्यशश्चोद्विजेत्तस्मात्सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १५ ॥

शत्रुको मित्ररूपसे सान्त्व वचनसे शान्त करके, सर्पयुक्त गृहकी भांति सदा उससे शङ्कित रहे ॥ १५ ॥

यस्य बुद्धिं परिभवेत्तमतीतेनं सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ १६ ॥

निज बुद्धिके जरिये जिसकी बुद्धिको पराजित करनी होगी, उसे अभयदान करते हुए भूत-कालकी बातें सुनाकर धीरज देवें। मन्दबुद्धि पुरुषको अनागत बुद्धिसे—भविष्यमें आशा दिला कर—और पण्डित पुरुषको प्रत्युत्पन्न बुद्रिके सहारे—तत्काल धन आदिसे—शान्त करे ॥१६॥

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रपातनं चैव कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥

जो पुरुष अपने कल्याणकी इच्छा करे, वह हाथ जोडकर, शपथ करके, सान्त्व—वचनसे शिर झुकाकर आंसू बहाते हुए वचन कहे ॥ १७ ॥

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः ।
अथैनमागते काले भिन्द्याद्धटमिवाश्मनि ॥ १८ ॥

जबतक समय परिवर्तन होकर अपने अनुकूल न होवे, तबतक शत्रुको कन्धेपर चढाके ढोवे; अनुकूल समय उपस्थित हुआ जानके पत्थरपर फेंके हुए घडेकी तरह उसे नष्ट कर डाले ॥१८॥

मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत् ।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत नरश्चिरम् ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र ! मनुष्य तिन्दुककाष्ठकी तरह मुहूर्त्त भर प्रज्वलित होवे—शत्रुके सामने अतुल पराक्रम प्रकट करे; ज्वालारहित तूषकी अग्निकी भांति सदा सुलगता न रहे ॥ १९ ॥

नानर्थकेनार्थवत्त्वं कृतघ्नेन समाचरेत् ।
अर्थे तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥ २० ॥

अनेक प्रयोजनसे युक्त पुरुष कृतघ्नके साथ अर्थयुक्त सम्बन्ध न रखे; किसीका भी काम पूरा न करे; क्योंकि कृतघ्न पुरुष कृतकार्य होकर उपकारकी अवमानना किया करता है। इसलिये दूसरोंके सब कार्योंको सब तरहसे पूर्ण न करके उसे शेष रखना उचित है ॥ २० ॥

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
व्याडस्य भक्तिचित्रस्य यच्छ्रेष्ठं तत्समाचरेत् ॥ २१ ॥

राजा निज प्रतिपाल्य लोगोंको अन्नके जरिये प्रतिपालन करनेमें कोकिलका, शत्रुका मूल उखाडनेमें वराहका, अनुल्लङ्घनीयता गुणमें सुमेरु पर्वतका, अर्थागम करनेके कारण शून्य गृहका, अनेक रूप धारण करनेमें नटका, और प्रजासमूहके विषयमें दयायुक्त व्यवहार प्रकाश करनेके लिये मित्रका— इन सब श्रेष्ठ गुणोंका—अनुकरण करे ॥ २१ ॥

+

उत्थायोत्थाय गच्छेच नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान्।
कुशलं चापि पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ॥ २२ ॥

राजा प्रतिदिन उठके शत्रुके गृहमें जावे, शत्रुका अमङ्गल ही हो रहा हो, तौभी उसे कुशल प्रश्न करे ॥ २२ ॥

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा न च मानिनः।
न च लोकरवाद्भीता न च शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥ २३ ॥

आलसी, कायर, अभिमानी, लोकापवादसे डरनेवाले और सदा संशय–युक्त चित्तवाले लोग धनलाभ करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ २३ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ २४ ॥

अपने छिद्रका शत्रुको पता न चले इसलिये राजा सावधान रहे, परंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले; जैसे कछुआ अपने सब अंगोंको छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रोंको छिपा रखे ॥ २४ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ २५ ॥

बगुलेकी तरह एकाग्रचित्त होकर अर्थचिन्ता, सिंहकी भांति पराक्रम, भेडियेकी तरह आक्रमण और शशककी भांति शत्रु भेद करे; ॥ २५ ॥

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसङ्गो ह्यत्र दोषवान् ॥ २६ ॥

सुरापान, जुआ खेलना, स्त्रीसंभोग, मृगया और गीतवाद्य– इन सबका युक्तिके अनुसार सेवन करे; इन सब विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होनेसे ही दोषी होना पडता है ॥ २६ ॥

कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥

बांस आदिसे धनुष तयार करावे, मृगकी तरह सावधानीसे शयन किया करे, समयके अनुसार कभी अन्धे और कभी बधिरकी तरह व्यवहार करे ॥ २७ ॥

देशं कालं समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः।
देशकालाभ्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥ २८ ॥

बुद्धिमान् राजा देश और कालके अनुसार विक्रम प्रकाश करे; क्योंकि देशकालको अतिक्रम करके विक्रम प्रकाश करनेसे वह निष्फल हुआ करता है ॥ २८ ॥

कालाकालौ संप्रधार्य बलाबलमथात्मनः।
परस्परबलं ज्ञात्वा तथात्मानं नियोजयेत् ॥ २९ ॥
समयके अनुसार अपना बलाबल निश्चय कर, शत्रुके बलको भी मालूम करके युद्ध या संधिके कर्तव्य कार्योंमें अपनेको लगावे ॥ २९ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति।
स मृत्युमुपगृह्यास्ते गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३० ॥
जो राजा दण्डसे नतमस्तक हुए शत्रुको नष्ट नहीं करता, वह खच्चरीके गर्भ धारणकी भांति मृत्युमुखमें पतित हुआ करता है ॥ ३० ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान्स्याद्दुरारुहः।
आमः स्यात्पक्कसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित् ॥ ३१ ॥
अच्छी तरह फूले हुए वृक्ष भी फलहीन होते हैं, फलवान वृक्ष दुरारोह हुआ करते हैं, और जिसका फल अपक्क अवस्थामें रहता है, उसे भी पके हुए फलकी तरह देखा जाता है, इसलिये राजा इन सब कारणोंको देखके किसीके समीप दीन न होवे ॥ ३१ ॥

आशां कालवतीं कुर्यात्तां च विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ॥ ३२ ॥
राजा शत्रुओंकी आशा बहुत समयमें सिद्ध होवे, उसमें विघ्न डाले, वचनसे ऐसा ही विधान करे; परंतु विशेष कारण दिखाके उस विषयमें विघ्नका अनुष्ठान करना उचित है ॥ ३२ ॥

भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ३३ ॥
जबतक भय उपस्थित न होवे, तबतक भयभीत पुरुषकी तरह उसे टालनेका प्रयत्न करे; परन्तु भयका कारण उपस्थित होनेपर निडरकी भांति उसे नष्ट करनेमें प्रवृत्त होवे ॥ ३३ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥
मनुष्य प्राणोंके संशयमें आरोहण न करनेसे कल्याणका मार्ग देखनेमें समर्थ नहीं होता; परन्तु प्राणसंकटमें पडकर यदि जीवित रहे, तो अवश्य ही अपना कल्याण देखता है ॥ ३४ ॥

अनागतं विजानीयाद्यच्छेद्भयमुपस्थितम्।
पुनर्वृद्धिक्षयात्किंचिदभिवृत्तं निशामयेत् ॥ ३५ ॥
भविष्यमें जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहलेसे ही जाननेका प्रयत्न करे और भय सामने दैववशात उपस्थित होनेपर उसका प्रतिकार करना उचित है; दबाये हुए भयकी फिर वृद्धि होगी; इस भयसे उसे अनिवृत्तकी तरह निवारण करना चाहिये; ॥ ३५ ॥

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम् ।
अनागतसुखाशा च नैष बुद्धिमतां नयः ॥ ३६ ॥

उपस्थित सुखको त्यागना और अनुपस्थित सुखकी आशा करनी बुद्धिमान् पुरुषकी रीति नहीं है ॥ ३६ ॥

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रप्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ३७ ॥

जो शत्रुके साथ सन्धि बन्धन करके विश्वासपूर्वक सुखकी नींद सोता है, वह वृक्षके अग्रभागमें सोये हुए पुरुषकी तरह है । ऐसा पुरुष नीचे गिरने पर ही सचेत होता है ॥ ३७ ॥

कर्मणा येन तेनेह मृदुना दारुणेन वा ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८ ॥

मनुष्य कोमल होवे, अथवा कठोर हो, जिस किस कर्मके जरिये होसके दीनदशासे अपना उद्धार करना उचित है, और समर्थ होनेपर धर्माचरण करना योग्य है ॥ ३८ ॥

ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानपवत्सयेत् ।
आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चाराः प्रणिहिताः परैः ॥ ३९ ॥

शत्रुके सब शत्रुओंका सेवन करे, अपने ऊपर शत्रुओं द्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये गये हों, उनको भी जाननेका उपाय करना चाहिये ॥ ३९ ॥

चारः सुविहितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च ।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रं प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥

अपने तथा शत्रुके राज्यमें अत्यंत योग्य गुप्तचरोंकी नियुक्ति करे; पाखण्ड वेशधारी और तपस्वियोंको दूतरूपसें दूसरेके राज्यमें प्रवेश करावे ॥ ४० ॥

उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च ।
पानागारेषु वेशेषु तीर्थेषु च सभासु च ॥ ४१ ॥

वे गुप्तचर वगीचा, विहार स्थान, जलसत्र, पान्थनिवास, पानागार, नगरके प्रवेशद्वार, सब तीर्थों और सभा स्थानोंमें भ्रमण करे ॥ ४१ ॥

धर्माभिचारिणः पापाश्चारा लोकस्य कण्टकाः ।
समागच्छन्ति तान्बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयेदपि ॥ ४२ ॥

कपटपूर्ण धर्माचरण करनेवाले, पापी, चोर तथा कण्टकरूपी मनुष्य वहां कपटवेष धारण करके आते हैं; इसलिये उन लोगोंको मालूम करके उन्हें कैद करे और उन्हें शान्त करना ही योग्य है ॥ ४२ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नापि विश्वसेत्।
विश्वस्तं भयमन्वेति नापरीक्ष्य च विश्वसेत् ॥ ४३ ॥

अविश्वासी मनुष्य पर कभी विश्वास न करे, और विश्वासीका भी अत्यन्त विश्वास करना उचित नहीं; क्यों कि विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, और विशेष रीतिसे परीक्षा न करके किसीका विश्वास न करे ॥ ४३ ॥

विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना।
अथास्य प्रहरेत्काले किंचिद्विचलिते पदे ॥ ४४ ॥

यथार्थ कारण दिखाके उस शत्रुका विश्वासपात्र होवे; कालक्रमसे उसका किसी विषयमें तनिक भी पैर विचलित होनेपर उसके ऊपर प्रहार करे ॥ ४४ ॥

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात्।
भयं हि शङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ ४५ ॥

जिससे शङ्काकी सम्भावना नहीं है, उसकी भी शङ्का करनी और शङ्का करने योग्य पुरुषोंकी सदा शङ्का करनी उचित है; क्यों कि अशंकित होनेसे उत्पन्न हुआ भय मूल सहित नष्ट किया करता है ॥ ४५ ॥

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद्यथा वृकः ॥ ४६ ॥

ध्यान-धारणा, मौनावलम्बन, गेरुआ वस्त्र पहरना, जटा और मृगछाला धारणके जरिये शत्रुके चित्तमें विश्वास उत्पन्न करके अवसर देखकर फिर भेडियेकी तरह उसे लुप्त करे ॥४६॥

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिवर्धनाः ॥ ४७ ॥

पिता, भ्राता, पुत्र अथवा सुहृद लोग यदि अर्थ प्राप्तिमें विघ्न करें, तो ऐश्वर्यकी वृद्धिकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको उन्हें नष्ट करना चाहिये ॥ ४७ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥ ४८ ॥

गुरु भी यदि कर्तव्याकर्तव्य कर्म न जानके गर्वित और कुमार्ग गामी होवे, तो उसके लिये भी दण्ड रूप शासनकी विधि है। दण्ड उसे मार्गपर लाता है ॥ ४८ ॥

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां संप्रदानेन कस्यचित्।
प्रतिपुष्कलघाती स्यातीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९ ॥

जैसे तीक्ष्ण चोंचवाला पक्षी वृक्षोंके फूल और फलोंको नष्ट करता है, वैसे ही अभ्युत्थान, अभिवादन वा जिस किसी वस्तु दानसे हो सके, शत्रुका विश्वास पात्र होकर अन्तमें उसके सब पुरुषार्थको नष्ट करे ॥ ४९ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति परमां श्रियम् ॥ ५० ॥

मछली मारनेवाले मछुवाहेकी तरह दूसरोंके मर्मच्छेद किये विना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये विना और प्राण लिये विना महा समृद्धि नहीं प्राप्त हो सकती है ॥ ५० ॥

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ५१ ॥

जन्मसे ही कोई किसीका शत्रु वा मित्र नहीं होता; सामर्थ्य प्रयोजनके अनुसार ही शत्रु और मित्र उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

अमित्रं नैव मुञ्चेत ब्रुवन्तं करुणान्यपि ।
दुःखं तत्र न कुर्वीत हन्यात्पूर्वापकारिणम् ॥ ५२ ॥

शत्रु करुणाजनक बोल रहा हो तो भी उसे कभी मारे विना न छोडे; जिसने पहले अपकार किया हो, उसको अवश्य मारे, उसमें दुःख न माने ॥ ५२ ॥

संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता ।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३ ॥

जो अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करता है, वह किसीकी निन्दा किये विना लोगोंको अपने बनानेमें और दूसरोंपर अनुग्रह करनेमें प्रयत्नशील रहे; शत्रुको पराजित करनेके लिये भी यत्न करे ॥५३॥

प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात्प्रहृत्यापि प्रियोत्तरम् ।
अपि चास्य शिरश्छित्त्वा रुद्याच्छोचेदथापि वा ॥ ५४ ॥

प्रहार करनेके लिये तैय्यार होकर भी प्रिय वचन कहे और प्रहार करके भी प्रिय वार्ता कहे; किसीका सिर काटके भी उसके वास्ते शोक प्रकाश और रोदन करे ॥ ५४ ॥

निमन्त्रयेत सान्त्वेन संमानेन तितिक्षया ।
आशाकारणमित्येतत्कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ५५ ॥

जो ऐश्वर्यकी अभिलाषा करता है, वह सान्त्ववचन, सम्मान और सहनशीलताके जरिये सब लोगोंको अपने पास आनेके लिये आमन्त्रित करे, इसी तरह लोगोंकी आराधना करनी चाहिये, यही आशाका कारण है; इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

न शुष्कवैरं कुर्वीत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ।
अपार्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम् ।
दन्ताश्च परिघृष्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते ॥ ५६ ॥

जिससे कुछ लाभ न हो, वैसा वैर न करना चाहिये; और बाहुके सहारे नदी पार न होवे; गोशृङ्गको भक्षण वा चर्वण करने जैसा यह निरर्थक और आयुष्य नाशक कर्म है; उससे दांत टूटते और कुछ रस नहीं मिलता ॥ ५६ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडानुबन्धास्त्रय एव च ।
अनुबन्धवधौ ज्ञात्वा पीडां हि परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

धर्म, अर्थ और काम– इन त्रिवर्गकी तीन तरहकी पीडा होती है अर्थात् धर्मसे अर्थमें बाधा, अर्थके जरिये धर्ममें बाधा और धर्म अर्थ दोनोंके जरिये काममें बाधा हुआ करती है; इसी प्रकार उनके शान्ति, सर्वहित और उपभोग– ये तीन फल होते हैं; फलोंको नष्ट करनेवाली बाधाओंसे बचना चाहिये; इसलिये इनके बलाबलको विचार कर उक्त पीडाओंको त्याग देवे ॥ ५७ ॥

ऋणशेषोऽग्निशेषश्च शत्रुशेषस्तथैव च ।
पुनः पुनर्विवर्धेत स्वल्पोऽप्यनिवारितः ॥ ५८ ॥

ऋण, अग्नि और शत्रुमेंसे कुछ भी विना रोके या हराये शेप रह जाय तो वह बार बार बढता रहता है; इससे इन्हें निःशेप करना उचित है ॥ ५८ ॥

वर्धमानमृणं तिष्ठत्परिभूताश्च शत्रवः ।
आवहन्त्यनयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

वृद्धिशील ऋण, पराभूत शत्रुसमूह और उपेक्षित व्याधि शेप रह जायं तो ये सब अत्यन्त भय उत्पन्न करते हैं ॥ ५९ ॥

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत् ।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥ ६० ॥

कोई कार्य आरम्भ करके उसे विना पूरा किये विरत न होवे, सदा सावधान रहे; क्षुद्र कण्टक भी अच्छी तरहसे शरीरमेंसे न निकालनेपर उसका कुछ भाग शरीरमें टूटकर रह जाय तो सदाके लिये विकार उत्पन्न किया करता है ॥ ६० ॥

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च ।
आकराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥

मनुष्यहत्या, मार्गोंका भंजन और भण्डारोंको नष्ट भ्रष्ट करके शत्रु राज्यको नष्ट करे ॥ ६१ ॥

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः ।
अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजंगचरितं चरेत् ॥ ६२ ॥

गृध्रकी तरह दूरदर्शी, बगुलेकी तरह निश्चल, कुत्तेकी तरह सावधान, सिंहकी भांति पराक्रमी, मनमें उद्विग्न न रहे और कौवेकी तरह दूसरेका इङ्गितज्ञ होकर धीरताके सहित सर्पकी तरह अकस्मात् शत्रुका छिद्र देखकर उसपर आक्रमण करे ॥ ६२ ॥

श्रेणिमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च ।
अमात्यान्परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६३ ॥

श्रेणीमुख्य, मित्र और अमात्य इनकी भेद अनुनय–विनय तथा दलबंदीके जालके यत्नसे पूर्णतः रक्षा करनी उचित है ॥ ६३ ॥

मृदुरित्यवमन्यन्ते तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले च तीक्ष्णः स्यान्मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥ ६४ ॥

राजाके मृदुस्वभाव होनेसे प्रजा उसकी अवज्ञा करती है और तीक्ष्ण होनेसे सब कोई उससे उद्विग्न– भयभीत होते हैं; इसलिये तीक्ष्ण होनेके समय तीक्ष्ण और कोमलके समय मृदु होना उचित है ॥ ६४ ॥

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीक्ष्णतरं मृदु ॥ ६५ ॥

बुद्धिमान् राजा मृदुताके जरिये कोमल शत्रुका नाश करता है, कोमलतासे कठोर शत्रुको भी नष्ट करता है; कोमल उपायके जरिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है; इसलिये मृदुता तीक्ष्णसे भी तीक्ष्ण है ॥ ६५ ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स साधयति कृत्यानि शत्रूंश्चैवाधितिष्ठति ॥ ६६ ॥

जो समयके अनुसार कोमल और समयानुसार कठोर होता है; वह अपने सब कार्य सिद्ध करता है और शत्रुको विजय करनेमें समर्थ हो सकता है ॥ ६६ ॥

पण्डितेन विरुद्धः सन्दूरेऽस्मीति न विश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ६७ ॥

पण्डितके साथ विरोध करके " मैं दूर हूं " कहके निश्चिन्त नहीं होवे, क्योंकि बुद्धिमान्‌की भुजाएं बहुत लम्बी होती हैं; वह हिंसित होकर उससे ही हिंसा कर सकता है ॥ ६७ ॥

न तत्तरेद्यस्य न पारमुत्तरेन्न तद्धरेद्यत्पुनराहरेत्परः ।
न तत्खनेद्यस्य न मूलमुत्खनेन्न तं हन्याद्यस्य शिरो न पातयेत् ॥ ६८ ॥

जिसके दूसरे किनारे पर तैरके न पहुंच सके, वैसी नदीमें न तैरे; शत्रु लोग जिसे फिर हरण कर सकें, वैसा धन हरण न करे; जिसकी जड नहीं उखाडी जा सकती, उस वृक्षको न खोदे; जिस वीरका सिर काटकर पृथ्वीपर न गिराया जासके, उसके ऊपर प्रहार न करे ॥ ६८ ॥

इतीदमुक्तं वृजिनाभिसंहितं न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्तं तु कथं निशामयेदतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ॥ ६९ ॥

आपत्कालके अभिप्रायसे मैंने ऐसा कहा है; मनुष्य सदा ऐसा आचरण न करे; शत्रुसे आक्रान्त होनेपर कैसा व्यवहार करे– उसके निमित्त मैंने आपका हितार्थी होकर इस प्रकार कहा है ॥ ६९ ॥

यथावदुक्तं वचनं हितं तदा निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रियः।
तथाकरोद्वाक्यमदीनचेतनः श्रियं च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥ ५०२९ ॥

भारद्वाजने जब सौवीर राज्याधिपतिसे ऐसी कथा कही, तब उन्होंने सुनकर सावधान चित्तसे उसे प्रतिपालन किया और बान्धवोंके सहित समुज्ज्वल राजलक्ष्मी भोग करने लगे ॥ ७० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३८ ॥ ५०२९ ॥

: १३९ :

युधिष्ठिर उवाच –

हीने परमके धर्मे सर्वलोकातिलङ्घिनि।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! सब लोगोंसे परम धर्म उल्लङ्घित होनेपर श्रेष्ठ धर्म नष्ट प्राय होने लगे, अधर्म धर्मकी तरह और धर्म अधर्मकी भांति मान लिया जाने लगे, ॥ १ ॥

मर्यादासु प्रभिन्नासु क्षुभिते धर्मनिश्चये।
राजभिः पीडिते लोके चोरैर्वापि विशां पते ॥ २ ॥

मर्यादाएं नष्ट, धर्म–निश्चय क्षुभित और सब लोग राजा वा डाकुओंसे पीडित होने लगे, ॥ २ ॥

सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च।
कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥

आश्रमवासियोंके मोह युक्त तथा सब धर्म–कर्मोंके नष्ट होने; लोभ, मोह और कामके कारण सब कोईके भय अनुभव करने, ॥ ३ ॥

अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यभीतेषु पार्थिव।
निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥ ४ ॥

जीव मात्रके सदा अविश्वस्त होने, सभी सदा डरते रहने, धोखेसे एक दूसरेको मारने लगनेपर, सब कोईके परस्पर वञ्चना करते रहनेपर, ॥ ४ ॥

संप्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मण्ये चाभिपीडिते।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते ॥ ५ ॥

सब देशमें आग लगायी जानेपर और ब्राह्मणोंके अत्यंत पीडित होने, बादल बरसनेसे विरत, आपसमें भेद और विरोध उत्पन्न होने ॥ ५ ॥

सर्वस्मिन्दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ।
केन स्विद्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥ ६ ॥

और पृथिवीमें जो सब उपजीव्य वस्तु हैं, वह सब दस्युओंके हस्तगत होनेसे, इस बुरे आपद कालके आनेपर ब्राह्मण किस प्रकार जीवन व्यतीत करे ? ॥ ६ ॥

अतित्यक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ।
कथमापत्सु वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७ ॥

हे राजन् ! पितामह ! ब्राह्मण इसी आपत्तिके समय दयाके कारण अपने पुत्र–पौत्र आदिको त्यागनेकी इच्छा न करे तो कैसे जीविका चलावे, यह मुझे कहिये ॥ ७ ॥

कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषतां गते ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परंतप ॥ ८ ॥

हे परंतप ! सब लोगोंके पापाचारी होनेपर राजा किस प्रकार बर्ताव करे और किस प्रकार वह धर्म और अर्थसे भ्रष्ट न हो ? ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच—

राजमूला महाराज योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ ९ ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति और प्राप्त राज्यका प्रतिपालन स्वरूप योगक्षेम, उत्तम वृष्टि, प्रजासमूहके व्याधि, मरण और भय इन सब विषयोंका राजा ही मूल कारण है ॥ ९ ॥

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूलानि सर्वाणि मम नास्त्यत्र संशयः ॥ १० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग इन युगोंके परिवर्तन विषयमें राजा ही मूल कारण हुआ करता है; इसमें मुझे सन्देह नहीं है ॥ १० ॥

तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तदा भवेत् ॥ ११ ॥

प्रजासमूहके लिये दोषकारक उस आपदकालके उपस्थित होनेपर विज्ञानबलको अवलम्बन करके जीवन व्यतीत करना चाहिये ॥ ११ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विश्वामित्रस्य संवादं चण्डालस्य च पक्कणे ॥ १२ ॥

पण्डित लोग इस विषयमें चाण्डालके घरमें हुए विश्वामित्र और चाण्डालके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १२ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ पुरा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद्धोरा राजन्द्वादशवार्षिकी ॥ १३ ॥

राजन् ! त्रेता और द्वापर–युगके सन्धि समयमें जगतमें दैव इच्छासे बारह वर्षोंतक घोर अनावृष्टि हुई थी ॥ १३ ॥

प्रजानामभिवृद्धानां युगान्ते पर्युपस्थिते ।
त्रेतानिर्मोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ॥ १४ ॥

त्रेताके अन्त और द्वापरके आरम्भके समय प्रजाएं बहुत बढ गयी थीं; वर्षा बंद होनेसे प्रलय-काल उपस्थित होगया ॥ १४ ॥

न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद्गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥

देवराजने जलकी वर्षा नहीं की, बृहस्पति प्रतिकूल हो गये थे और चन्द्रमण्डलने निज लक्षण परित्याग करके दक्षिण मार्गसे गमन किया था ॥ १५ ॥

नावश्यायोऽपि रात्र्यन्ते कुत एवाभ्रराजयः ।
नद्यः संक्षिप्ततोयौघाः क्वचिदन्तर्गताभवन् ॥ १६ ॥

उस समय रात्रिके अन्तमें नीहार पात भी नहीं हुआ था, फिर बादलका सञ्चार तो दूर रहे; तब नदियोंका जल अत्यंत क्षीण हो गया और दूसरी अदृश्य हो गयीं; ॥ १६ ॥

सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च ।
हतत्विट्कान्यलक्ष्यन्त निसर्गाद्दैवकारितात् ॥ १७ ॥

बडे तालाव, सरिताएं, कूएं और झरने दैववश अथवा स्वाभाविक अनावृष्टिसे जल रहित और प्रभाहीन होनेसे अलक्षित होने लगे; ॥ १७ ॥

उपशुष्कजलस्थाया विनिवृत्तसभाप्रपा ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया निर्वषट्कारमङ्गला ॥ १८ ॥

जलस्थान आदि जलशून्य हुए, जल न होनेके कारण प्याऊं बंद हो गये, ब्राह्मणोंके यज्ञ, वेदाध्ययन और वषट्कार आदि मङ्गल कार्य निवृत्त होगये; ॥ १८ ॥

उत्सन्नकृषिगोरक्ष्या निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तपूगसमया संप्रनष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥

कृषिकार्य और गोरक्षा नष्ट हुई; विपणि और आपण आदि निवृत्त हुए, यज्ञके स्तम्भ, यज्ञका होना और समस्त उत्सव एकवारही नष्ट हुए; ॥ १९ ॥

अस्थिकङ्कालसंकीर्णा हाहाभूतजनाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥ २० ॥

सब ओर हड्डियोंके ढेर पडे थे; प्रजा व्याकुल होकर हाहाकार मचा रही थी; बहुतेरे नगर सूने होगये थे और ग्राम तथा घर आग लगनेसे जल गये थे; ॥ २० ॥

क्वचिच्चोरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद्राजभिरातुरैः ।
परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्जना ॥ २१ ॥

सब प्रजाके किसी स्थानमें चोरोंसे, किसी जगह शस्त्रोंसे, किसी स्थानमें राजासे और किसी जगह क्षुधातुर मनुष्योंसे पीडित होकर, परस्पर भयके कारण भागनेसे सब ग्राम सूने तथा निर्जन होगये; ॥ २१ ॥

गतदैवतसंकल्पा वृद्धबालविनाकृता ।
गोजाविमहिषैर्हीना परस्परहराहरा ॥ २२ ॥

सब देवस्थान नष्ट हुए, और बालक तथा वृद्ध मर गये थे; गौ, बकरे, मेंढे और भैंसें पञ्चत्वको प्राप्त हुए; सब क्षुधासे युक्त होकर एक दूसरेकी वस्तुओंका हरण करते थे ॥२२॥

हतविप्रा हतारक्षा प्रनष्टौषधिसंचया ।
श्यावभूतनरप्राया बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥

ब्राह्मण लोग मृत्युके ग्रासमें पतित हुए; रक्षक लोगोंका नाश हुआ; औषधियां नष्ट होगई; अधिक क्या कहें, उस समय पृथ्वीमण्डलके समस्त प्राणी श्यामवर्ण हो गये थे ॥ २३ ॥

तस्मिन्प्रतिभये काले क्षीणे धर्मे युधिष्ठिर ।
बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादन्तः स्म परस्परम् ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! उस भयङ्कर समयमें धर्म नष्ट होनेसे मनुष्य लोग भूखे होकर परस्परके मांसको भक्षण करते हुए भ्रमण करने लगे ॥ २४ ॥

ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यक्ताग्निदैवताः ।
आश्रमान्संपरित्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥

अग्निके उपासक ऋषि लोग जप, होम और नियम त्याग कर आश्रमोंको भी छोडकर भोजनके लिये इधर उधर दौडने लगे ॥ २५ ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान्महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधा परिगतो धीमान्समन्तात्पर्यधावत ॥ २६ ॥

अनन्तर बुद्धिमान् भगवान् विश्वामित्र महर्षि क्षुधासे आर्त्त हो घर त्यागके चारों ओर दौडते थे ॥ २६ ॥

स कदाचित्परिपतञ्श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिहन्तॄणामाससाद वने क्वचित् ॥ २७ ॥

वह घूमते घूमते किसी समय वनके बीच प्राणघातक हिंसक चाण्डालोंकी बस्तीमें गिरते पडते जा पहुंचे ॥ २७ ॥

विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्माच्छादनायुतम् ।
वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २८ ॥

वहां पहुंचके देखा, कि वह स्थान टूटे घडे, कुत्तोंके चमडे छेदनेवाले हथियार, वराह और गधोंकी टूटी हड्डियां, खपडे और घडे– आदिसे भरा हुआ है ॥ २८ ॥

मृतचेलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् ।
सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नकुटीमठम् ॥ २९ ॥

और मरे हुए मनुष्योंके वस्त्र चारों ओर पडे थे; उनके गृह सब निर्माल्यसे अलंकृत किये हुए थे, उनकी कुटियां तथा सब मठ सर्पकी केंचुलोंकी मालाओंसे चिन्हित तथा विभूषित की गयी थीं ॥ २९ ॥

उलूकपक्षध्वजिभिर्देवतायतनैर्वृतम् ।
लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३० ॥

उनके देवालय उल्लू पक्षीकी पाखोंकी ध्वजाओंसे आवृत्त थे; वहांके स्थान लोहेकी घण्टियोंसे अलंकृत तथा कुत्तोंके समूहसे घेरे हुए थे ॥ ३० ॥

तत्प्रविश्य क्षुधाविष्टो गाधेः पुत्रो महानृषिः ।
आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥ ३१ ॥

महर्षि गाधिपुत्र विश्वामित्र क्षुधायुक्त होकर उस स्थानमें प्रवेश करके खाद्य वस्तुके खोजनेमें अत्यन्त यत्न करने लगे; ॥ ३१ ॥

न च क्वचिदविन्दत्स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः ।
मांसमन्नं मूलफलमन्यद्वा तत्र किंचन ॥ ३२ ॥

परन्तु भीख मांगनेपर भी किसी स्थानमें उन्हें मांस, अन्न, मूल, फल वा दूसरी कुछ भोजनकी सामग्री प्राप्त न हुई ॥ ३२ ॥

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात्तस्मिंश्चण्डालपक्कणे ॥ ३३ ॥

“ हाय ! मैंने क्याही कष्ट पाया है । ” ऐसा ही विचार करके विश्वामित्र शरीरकी निर्बलताके कारण उस ही चाण्डाल वस्तीके बीच एक घरमें पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ३३ ॥

चिन्तयामास स मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥

हे नृपसत्तम ! वे उस समय क्या करनेसे मेरा भला होगा और किस प्रकार अन्नके विना मेरी वृथा मृत्यु न हो, ऐसी ही चिन्ता करने लगे ॥ ३४ ॥

स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चण्डालस्य गृहे राजन्सद्यः शस्त्रहतस्य च ॥ ३५ ॥

राजन् ! मुनिने चिन्ता करते करते देखा, चाण्डालके घरमें तत्कालही शस्त्रसे मारे हुए कुत्तेके मांसका एक बडा टुकडा पडा है ॥ ३५ ॥

स चिन्तयामास तदा स्तेयं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायोऽन्यो विद्यते प्राणधारणे ॥ ३६ ॥

उसे देखकर मुनिने विचारा कि, इस समय मेरे प्राण धारणके विषयमें दूसरा कुछ उपाय नहीं है; इसलिये मुझे इस मांसकी चोरी करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

आपत्सु विहितं स्तेयं विशिष्टसमहीनतः ।
परं परं भवेत्पूर्वमस्तेयमिति निश्चयः ॥ ३७ ॥

आपद्कालमें प्राण रक्षाके वास्ते ब्राह्मणको श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्यके घरमें चोरी करना उचित है; यह चोरी नहीं होती ऐसा शास्त्रका विधान है ॥ ३७ ॥

हीनादादेयमादौ स्यात्समानात्तदनन्तरम् ।
असंभवादाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ ३८ ॥

पहिले अपनी अपेक्षा नीच पुरुषके घरसे, अनन्तर समान व्यक्तिके घरसे; वह भी असम्भव होनेपर, विशिष्ट धर्मवालोंके यहांसे भोजनोंकी वस्तु हरन करे; ॥ ३८ ॥

सोऽहमन्तावसानानां हरमाणः परिग्रहात् ।
न स्तेयदोषं पश्यामि हरिष्यामेतदामिषम् ॥ ३९ ॥

इसलिये मैं प्राण नष्ट होनेके समय इन चाण्डालोंके घरसे कुत्तेका मांस हरण करूंगा; किसीसे दान लेनेसे अधिक दोष मुझे इस चोरीमें नहीं दीखता है ॥३९ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः ।
तस्मिन्देशे प्रसुष्वाप पतितो यत्र भारत ॥ ४० ॥

हे भारत ! महामुनि विश्वामित्र ऐसी ही बुद्धि अवलम्बन करके उस घरमें सो गये, जहां चाण्डाल रहते थे ॥ ४० ॥

स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चण्डालपक्कणे ।
शनैरुत्थाय भगवान्प्रविवेश कुटीमठम् ॥ ४१ ॥

जब घने अन्धकारसे युक्त रात हो गयी और चाण्डालके घरके लोग सो गये, तब भगवान् मुनि धीरे धीरे उठके उसके कुटियामें घुसे ॥ ४१ ॥

स सुप्त एव चण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः ।
परिभिन्नस्वरो रूक्ष उवाचाप्रियदर्शनः ॥ ४२ ॥

वह बदसूरत चाण्डाल कीचडसे बंदसे हुए नेत्रसे निद्रितकी तरह जान पडता था, परंतु वह जागता था; वह मुनिको आया देख रूखे और फटे हुए स्वरसे कहने लगा ॥ ४२ ॥

कः कुतन्त्रीं घट्टयति सुप्ते चण्डालपक्कणे ।
जागर्मि नावसुप्तोऽस्मि हतोऽसीति च दारुणः ॥ ४३ ॥
जातिके सब लोग सोये हुए हैं, अकेला केवल मैं ही जागता हूं, फिर इस समय कौन मेरे घरमें घुसके मांस चुरानेके वास्ते दण्ड उखाड रहा है ? अब मैं देखता हूं तू मारा गया ॥ ४३ ॥

विश्वामित्रोऽहमित्येव सहसा तमुवाच सः ।
सहसाभ्यागतभयः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४४ ॥
अनन्तर विश्वामित्र चोरी कार्यके कारण व्याकुल तथा लज्जायुक्त होकर उससे सहसा सामने हुए भयको देखकर 'मैं हूं' ऐसा बोले ॥ ४४ ॥

चण्डालस्तद्वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः ।
शयनादुपसंभ्रान्त इयेषोत्पतितुं ततः ॥ ४५ ॥
पवित्र अंतःकरणवाले महर्षिका ऐसा वचन सुनके चाण्डाल शङ्कायुक्त चित्तसे शय्यापरसे उठके उनके समीप आया ॥ ४५ ॥

स विसृज्याश्रु नेत्राभ्यां बहुमानात्कृताञ्जलिः ।
उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन्किं ते चिकीर्षितम् ॥ ४६ ॥
और दोनों आंखोंसे आंसुओंको बहाते हुए सम्मानपूर्वक हाथ जोडके विश्वामित्रसे बोला— हे ब्रह्मन् ! इस रात्रिके समय आपको कौनसा कार्य साधन करनेकी इच्छा है ? ॥ ४६ ॥

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४७ ॥
चाण्डालको धीरज देके विश्वामित्र बोले— मैं अत्यन्त भूखा हूं, इसलिये मृतकके समान होकर तुम्हारे गृहसे यह कुत्तेका निकृष्ट मांस ले जाऊंगा ॥ ४७ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणाः स्मृतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
स्वधर्मं बुध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४८ ॥
मेरे प्राण शिथिल हो रहे हैं; क्षुधा मेरी श्रवणशक्ति नष्ट करती है; स्वधर्मको अच्छी तरहसे जानते हुए भी मैं कुत्तेका मांस हरण करनेके वास्ते उद्यत हुआ हूं ॥ ४८ ॥

अटन्भैक्षं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ।
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४९ ॥
मैंने तुम्हारे बस्तीमें हरएक गृहमें घूमकर मांगनेपर भी भिक्षा नहीं पाई; इसलिये इस समय पाप कार्यमें मेरी प्रवृत्ति हुई है, मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करूंगा ॥ ४९ ॥

तृषितः कलुषं पाता नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुद्धर्मं दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५० ॥

मैं भूखसे आकण्ठ होकर पापसे आक्रान्त हो यहां आया हूं; भोजनकी इच्छासे भूखे पुरुषमें लज्जा नहीं रहती; इस समय क्षुधाने मुझे दूषित किया है, मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करूंगा ॥५०॥

अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिपाड्विभुः ।
यथा स सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ॥ ५१ ॥

भगवान् अग्नि जो देवताओंके मुखस्वरूप हैं और पुरोधा होकर पवित्र वस्तु मात्र भक्षण किया करते हैं, उन्हें भी समयके अनुसार सर्वभुक्त होना पडता है, इसलिये मुझे सर्वभक्षी होनेपर भी धर्मानुसार ब्राह्मण ही समझो ॥ ५१ ॥

तमुवाच स चण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ।
श्रुत्वा तथा समातिष्ठ यथा धर्मान्न हीयसे ॥ ५२ ॥

तब चाण्डाल उनसे बोला, हे महर्षि ! मेरा वचन सुनिये और सुनकर जिसमें आपका धर्म नष्ट न हो, वैसा ही अनुष्ठान करिये ॥ ५२ ॥

मृगाणामधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्योरुजाघनी ॥ ५३ ॥

पण्डित लोग कुत्तेको सियारसे भी निकृष्ट समझते हैं; उसका जांघका मांस शरीरके अधम-स्थानसे भी अधिक निकृष्ट है ॥ ५३ ॥

नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे कर्म वैकृतम् ।
चण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥ ५४ ॥

हे महर्षि ! इसलिये आपने जो यह निश्चय किया है, वह उत्तम कार्य नहीं है । चाण्डालस्व, विशेष करके अभक्ष्य मांस, हरण करना अत्यन्त धर्मनिन्दित कर्म है ॥ ५४ ॥

साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे ।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥ ५५ ॥

आप प्राण धारणके वास्ते दूसरा कोई उत्तम उपाय देखिये । हे महामुनि ! मांसलोभके कारण आपकी तपस्या नष्ट नहीं होनी चाहिये ॥ ५५ ॥

जानतोऽविहितो मार्गो न कार्यो धर्मसंकरः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मविदुत्तमः ॥ ५६ ॥

आप शास्त्र विहित मार्गको जानते हैं, फिर आपको धर्मसङ्कर करना योग्य नहीं है; आप धर्म-शास्त्र जाननेवाले पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं; इसलिये धर्मका परित्याग न करिये ॥ ५६ ॥

विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्षभ ।
क्षुधार्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ५७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! राजन्! महामुनि विश्वामित्रने चाण्डालका ऐसा वचन सुनके और क्षुधासे आर्त्त होकर फिर उसे इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ५७ ॥

निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽभ्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥ ५८ ॥

मैंने निराहार रहके घूमते हुए बहुत समय बिताया है, अब मेरे प्राणधारणका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ५८ ॥

येन तेन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत्सीदमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ५९ ॥

प्राणान्त होनेके समय जिस किसी कर्मसे हो सके, जीवित रहे; उसके अनन्तर समर्थ होनेपर धर्माचरण करे ॥ ५९ ॥

ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि समयं क्षुधा ॥ ६० ॥

क्षत्रियोंका इन्द्रकी तरह पालन करना ही धर्म है, ब्राह्मणोंका अग्निकी तरह सर्व भक्षित्व ही धर्म हुआ करता है; वेदरूपी अग्नि मेरा बल है, मैं उस ही बलको अवलम्बन करके अभक्ष्य मांस भक्षण करके इस समय क्षुधाको शान्त करूंगा ॥ ६० ॥

यथा यथा वै जीवेद्धि तत्कर्तव्यमपीडया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

जिस किसी उपायके सहारे जीवन धारण किया जा सके, पीडा रहित यत्नपूर्वक वैसा ही करना चाहिये । मरनेकी अपेक्षा जीवन श्रेष्ठ है, जीवित रहनेसे फिर धर्माचरण हो सकता है ॥ ६१ ॥

सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्षस्यापि भक्षणम् ।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ६२ ॥

इसलिये मैं प्राणधारणके निमित्त ज्ञानपूर्वक अभक्ष्यको भक्षण करनेमें उद्यत हुआ हूं; तुम इसमें अनुमोदन करो ॥ ६२ ॥

जीवन्धर्मं चरिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि च ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥ ६३ ॥

मैं जीवित रहनेसे धर्माचरण करूंगा और जैसे सूर्य आदि ज्योतिवाले गृह घोर अन्धकारको नष्ट करते हैं, वैसे ही विद्या और तपोबलसे सब अशुभ कर्मोंका नाश करूंगा ॥ ६३ ॥

+

श्वपच उवाच—

नैतत्खादन्प्राप्स्यसे प्राणमन्यं नायुर्दीर्घं नामृतस्येव तृप्तिम् ।

भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥६४॥

चाण्डाल बोला— इस अभक्ष्य मांसको खानेसे कोई परमायु प्राप्त नहीं कर सकता; प्राण शक्ति प्राप्त नहीं होती है; अमृतपानकी तरह तृप्ति नहीं होती है; इससे आप दूसरी कुछ भिक्षा मांगिये; कुत्तेका मांस भक्षण करनेमें चित्त न लगाईये; कुत्ता ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य है ॥ ६४ ॥

विश्वामित्र उवाच —

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यच्छ्वपाक नान्नं न च मेऽस्ति वित्तम् ।

क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः श्वमांसे चास्मिन्षड्रसान्साधु मन्ये ॥ ६५ ॥

विश्वामित्र बोले— इस दुर्भिक्षके समय दूसरा मांस सुलभ नहीं है, दूसरा अन्न भी मिलना सम्भव नहीं है; मेरी कुछ भी संपत्ति नहीं है; मैं क्षुधाके निमित्त उपायरहित और निराश हुआ हूं; इसलिये इस कुत्तेके मांसमें छः प्रकारके रसोंका स्वाद लेना उत्तम समझता हूं ॥६५॥

श्वपच उवाच—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै द्विज ।

यदि शास्त्रं प्रमाणं ते माभक्ष्ये मानसं कृथाः ॥ ६६ ॥

चाण्डाल बोला— हे द्विज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके लिये शशक आदि पांच प्रकारके पञ्च नखवाले पशु ही आपत्कालमें भक्ष्य माने गये हैं; इस विषयमें यदि आप शास्त्र ही प्रमाण मानते हैं तो आप अभक्ष्य वस्तुके खानेमें प्रवृत्ति न कीजिये ॥ ६६ ॥

विश्वामित्र उवाच—

अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः क्षुधितेन वै ।

अहमापद्गतः क्षुब्धो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम् ॥ ६७ ॥

विश्वामित्र बोले— अगस्त्य मुनिने भूखे होकर वातापि नामक दानवको भक्षण किया था, मैं भी आपदग्रस्त और क्षुधासे आर्त्त हुआ हूं, इसलिये कुत्तेका महा निकृष्ट मांस भोजन करूंगा ॥ ६७ ॥

श्वपच उवाच—

भिक्षामन्यामाहरेति न चैतत्कर्तुमर्हसि ।

न नूनं कार्यमेतद्वै हर कामं श्वजाघनीम् ॥ ६८ ॥

चाण्डाल बोला— आप और कुछ भिक्षा लेकर आइये; इस तरह अभक्ष्य भक्षण करना आपके लिये योग्य नहीं है; यह अवश्य ही आपका कर्त्तव्य नहीं है; तो भी आपकी इच्छा हो, तो कुत्तेका मांस ले जाइये ॥ ६८ ॥

विश्वामित्र उवाच—

शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्तये ।
परां मेध्याशनादेतां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम् ॥ ६९ ॥

विश्वामित्र बोले– शिष्ट पुरुष ही धर्माचरण विषयमें कारण हैं, इससे मैं उन्हींके चरित्रोंका अनुसरण करूंगा; पवित्र सामग्रीको भक्षण करनेके समान इस कुत्तेके मांसको मैं उत्तम भक्ष्य समझता हूं ॥ ६९ ॥

श्वपच उवाच—

असता यत्समाचीर्णं न स धर्मः सनातनः ।
नावृत्तमनुकार्यं वै मा छलेनानृतं कृथाः ॥ ७० ॥

चाण्डाल बोला– असाधु पुरुषने जैसा आचरण किया है, वह सनातन धर्म नहीं है; इस समय आपको ऐसा न करने योग्य कर्म करना उचित नहीं है; आप छलके जरिये पापमय कार्य न करिये ॥ ७० ॥

विश्वामित्र उवाच—

न पातकं नावमतमृषिः सन्कर्तुमर्हति ।
समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद्भक्ष्या श्वजाघनी ॥ ७१ ॥

विश्वामित्र बोले– ऋषि होकर कोई साधारणके असम्मत पापके करनेमें समर्थ नहीं होता; परन्तु इस समय मैं कुत्ता और मृग दोनोंको ही पशु कहके तुल्य ही मानता हूं, इससे मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस भोजन करूंगा ॥ ७१ ॥

श्वपच उवाच—

यद्ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन तेनर्षिणा तच्च भक्ष्याधिकारम् ।
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति सर्वैरुपायैर्हि स रक्षितव्यः ॥ ७२ ॥

चाण्डाल बोला– ब्राह्मणोंको वातापि भक्षण करता था, इस ही लिये महर्षि अगस्तिने ब्राह्मणोंकी प्रार्थनाके अनुसार उसे भक्षण किया, वैसी अवस्थामें नरमांस भक्षण दोषयुक्त नहीं है; जिसमें पापका स्पर्श नहीं, वही धर्म है और सब तरहके उपायसे ब्राह्मणकी रक्षा करनी उचित है ॥ ७२ ॥

विश्वामित्र उवाच—

मित्रं च मे ब्राह्मणश्चायमात्मा प्रियश्च मे पूज्यतमश्च लोके ।
तं भर्तुकामोऽहमिमां हरिष्ये नृशंसानामीदृशानां न बिभ्ये ॥ ७३ ॥

विश्वामित्र बोले– मैं ब्राह्मण हूं, मुझे यह मेरा शरीरही परम प्रिय और पूजनीय मित्र है; उस शरीरकी रक्षाके निमित्तही इस निकृष्ट मांसको हरण करनेकी इच्छा करता हूं; इसलिये ऐसे नृशंस कर्मोंसे मुझे भय नहीं होता ॥ ७३ ॥

श्वपच उवाच—

कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति न चाभक्ष्यैः प्रतिकुर्वन्ति तत्र ।

सर्वान्कामान्प्राप्नुवन्तीह विद्वन्प्रियस्व कामं सहितः क्षुधा वै ॥ ७४ ॥

चाण्डाल बोला— हे विद्वन् ! साधु मनुष्य लोग बल्कि अपने जीवनको त्यागते, तथापि कोई अभक्ष्य वस्तुके भक्षण करनेमें प्रवृत्त नहीं होते; वे लोग भूखको जीतके ही इस लोकमें समस्त कामना प्राप्त करते हैं, इससे आप भी क्षुधाके वेगको सहके इच्छानुसार प्रीति लाभ करिये ॥ ७४ ॥

विश्वामित्र उवाच -

स्थाने तावत्संशयः प्रेत्यभावे निःसंशयं कर्मणां वा विनाशः ।

अहं पुनर्व्रती इत्याशयात्मा मूलं रक्ष्यन्भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम् ॥ ७५ ॥

विश्वामित्र बोले— पाप कर्म करके प्राणत्यागनेसे परलोकमें क्या होगा, इसमें संशय उपस्थित होता है, यह ठीक है; परन्तु ऐसा करनेसे सब पुण्यमय कर्मोंका नाश होगा इसमें कुछ संशय नहीं रहता । इसलिये मैं जीवनरक्षाके बाद व्रतोंमें तत्पर रहकर प्रायश्चित्त करूंगा; इस समय धर्म आचरणके मुख्य साधन शरीरकी रक्षा करनी उचित है, इसीसे मैं अभक्ष्य मांसको भक्षण करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं ॥ ७५ ॥

बुद्ध्यात्मके व्यस्तमस्तीति तुष्टो मोहादेकत्वं यथा चर्म चक्षुः ।

यद्यप्येनःसंशयादाचरामि नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥ ७६ ॥

विवेक शक्तियुक्त पुरुषके समीप यह अभक्ष्य भक्षण भी पवित्र कर्म कहके वर्णित होता है, क्योंकि साधनभूत शरीरकी रक्ष्यासे मैं प्रसन्न हूं; और मोह और आसक्तिपूर्वक कर्मसे दोष उत्पन्न होता है, यह भी स्पष्ट है; मैं जीवन संशयके समयमें यद्यपि इस असत् कार्यको करूं, तौ भी तुम्हारी तरह चाण्डाल न हूंगा; तपस्यासे इस दोषका मार्जन करूंगा ॥ ७६ ॥

श्वपच उवाच —

पतनीयमिदं दुःखमिति मे वर्तते मतिः ।

दुष्कृती ब्राह्मणं सन्तं यस्त्वामहमुपालभे ॥ ७७ ॥

चाण्डाल बोला— मेरा यह निश्चित विचार है, कि इस पतित-दुःखद कार्यसे आपको आपकी रक्षा करनी योग्य है; ब्राह्मण यदि दुष्कर्म करे, तो उनमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता; इस ही कारण मैं आपको निवारण करता हूं ॥ ७७ ॥

विश्वामित्र उवाच—

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि ।

न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ॥ ७८ ॥

विश्वामित्र बोले— मेढक ऊंचे स्वरसे चिल्लाते रहते हैं, गौवें कभी जल पीनेसे विरत नहीं होतीं, तुम्हें धर्म उपदेश करनेका कुछ अधिकार नहीं है; इसलिये तुम आत्म-प्रशंसा मत करो ॥७८॥

श्वपच उवाच —

सुहृद्भूत्वानुशास्मि त्वा कृपा हि त्वयि मे द्विज ।
तदेवं श्रेय आधत्स्व मा लोभाच्छ्वानमादिथाः ॥ ७९ ॥

चाण्डाल बोला— हे द्विजवर ! आपके विषयमें मुझे करुणा हुई है, इसलिये मैं सुहृद् भावसे आपको यह धर्माचरणकी सलाह देता हूं; इससे यदि आप इसे अपना कल्याणदायक समझिये, तो ऐसा ही करिये; परन्तु लोभके कारण कुत्तेके मांसको खानेका पाप कर्म न कीजिये ॥७९॥

विश्वामित्र उवाच —

सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां समुद्धर ।
जानेऽहं धर्मतोऽऽत्मानं श्वानीमुत्सृज जाघनीम् ॥ ८० ॥

विश्वामित्र बोले— तुम यदि मेरे सुहृद् और सुखकी इच्छा करनेवाले हो, तो मेरा इस आपदसे उद्धार करो; मैं अपने धर्मको जानता हूं; तुम मुझे यह कुत्तेका मांस दे दो ॥ ८० ॥

श्वपच उवाच—

नैवोत्सहे भवते दातुमेतां नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम् ।
उभौ स्यावः स्वमलेनावलिप्तौ दाताहं च त्वं च विप्र प्रतीच्छन् ॥ ८१ ॥

चाण्डाल बोला— हे विप्र ! यह कुत्तेका मांस मेरा अपना भक्ष्य है, इसे आपको दान नहीं कर सकता; और मेरे सम्मुख आप इसे हरण करेंगे, उसमें भी उपेक्षा न कर सकूंगा । मैं इसे दान करने और आप ब्राह्मण होके इसे ग्रहण करनेसे हम दोनों ही नरकमें गमन करेंगे ॥८१॥

विश्वामित्र उवाच—

अद्याहमेतद्वृजिनं कर्म कृत्वा जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम् ।
प्रपूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये यदेतयोर्गुरु तद्वै ब्रवीहि ॥ ८२ ॥

विश्वामित्र बोले— मैं आज यदि इस पापयुक्त कर्म करके शरीर रक्षा करते हुए जीवित रहूंगा, तो भविष्यत् कालमें परम पवित्र धर्मका आचरण करूंगा । इससे मैं पवित्र होकर धर्मको प्राप्त करूंगा, उपवास करके शरीर त्यागना और अभक्ष्य भक्षणके जरिये जीवित रहना, इन दोनोंके बीच कौनसा श्रेष्ठ है, उसे तुम कहो ॥ ८२ ॥

श्वपच उवाच —

आत्मैव साक्षी किल लोककृत्ये त्वमेव जानासि यदत्र दुष्टम् ।
यो ह्याद्रियेद्भक्ष्यमिति श्वमांसं मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम् ॥ ८३ ॥

चाण्डाल बोला— वंश परम्परासे प्रचलित धर्म-सम्पादन विषयमें आत्मा ही निश्चित साक्षी है, इसलिये इसमें पाप है, वा नहीं; उसे आपही जानते हैं । जो पुरुष कुत्तेके मांसको भक्ष्य कहके आदर करता है, मालूम होता है, उसके लिये दूसरी कोई वस्तु भी परित्याग करनेके योग्य नहीं होती है ॥ ८३ ॥

विश्वामित्र उवाच—

उपादाने खादने वास्य दोषः कार्यो न्यायैर्नित्यमत्रापवादः ।
यस्मिन्न हिंसा नानृते वाक्यलेशो भक्ष्यक्रिया तत्र न तद्गरीयः ॥ ८४ ॥

विश्वामित्र बोले– अभक्ष्य वस्तुके ग्रहण करने वा भोजन करनेसे अवश्य पाप होता है; यह मैं मानता हूं; परन्तु प्राण नष्ट होनेके समय वह दोपयुक्त नहीं है, ऐसे शास्त्रोंमें अपवाद वचन हैं; जिसमें हिंसा वा मिथ्या व्यवहार नहीं है और जिस कर्मके करनेसे जनसमाजके बीच अत्यन्त निन्दित नहीं होना पडता; वैसे अभक्ष्यभक्षणमें बहुत भारी पापका कारण नहीं है; जो आपत्कालमें निषेध करनेवाले वचन हैं, वे आदरणीय नहीं है ॥ ८४ ॥

श्वपच उवाच—

यद्येष हेतुस्तव खादनस्य न ते वेदः कारणं नान्यधर्मः ।
तस्मादभक्ष्ये भक्षणाद्वा द्विजेन्द्र दोषं न पश्यामि यथेदमात्थ ॥ ८५ ॥

चाण्डाल बोला– यदि अभक्ष्यको भक्षण करके प्राणरक्षा करना ही आपका मुख्य कारण हुआ, तो वेद और अन्य धर्म– श्रेष्ठोंका आधार धर्म– आपके समीप कुछ भी नहीं हैं । हे द्विजवर ! आप अभक्ष्यभक्षण करनेके लिये आग्रह प्रकाश करते हैं, तब खाद्याखाद्य वस्तुमात्रमें ही कुछ दोप नहीं है, ऐसा ही प्रतिपन्न होता है ॥ ८५ ॥

विश्वामित्र उवाच—

न पातकं भक्षणमस्य दृष्टं सुरां पीत्वा पततीतीह शब्दः ।
अन्योन्यकर्माणि तथा तथैव न लेशमात्रेण कृत्यं हिनस्ति ॥ ८६ ॥

विश्वामित्र बोले– अभक्ष्य भोजन करनेसे अत्यन्त पाप होता है; ऐसा शास्त्रीय वचन देखनेमें नहीं आता; नहीं किया जाता; सुरापान करनेसे ब्राह्मण पतित होता है, यह शास्त्रका वचन स्पष्ट है; दूसरे कर्म निपिद्ध हैं, वैसा अभक्ष्य भक्षण भी है; आपत्तिके समय किये हुए सामान्य पापसे पुण्यकर्मका लेशमात्र नहीं होता ॥ ८६ ॥

श्वपच उवाच—

अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद्वा तं विद्वांसं बाधते साधुवृत्तम् ।
स्थानं पुनर्यो लभते निषङ्गात्तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥ ८७ ॥

चाण्डाल बोला– जो अयोग्य स्थानसे, अनुचित कर्मसे वा निन्दित पुरुषसे निषिद्ध वस्तु लेना चाहता है, उस विद्वान्‌को उसका सदाचार ही अधर्म करनेसे रोकता है; परंतु जो नीच जाति चाण्डालके घरसे अत्यन्त आग्रह के सहित जो कुत्तेका मांस ग्रहण करता है, उसे अवश्य ही दण्डित होना पडता है ॥ ८७ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा निववृते मातङ्गः कौशिकं तदा ।
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥ ८८ ॥

भीष्म बोले— चाण्डाल उस समय महर्षि विश्वामित्रसे ऐसा ही कहके निवृत्त हुआ; बुद्धिमान् विश्वामित्र उसे लेनेका निश्चय किये हुए थे, अतः कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करके ही गये ॥ ८८ ॥

ततो जग्राह पञ्चाङ्गीं जीवितार्थी महामुनिः ।
सदारस्तामुपाकृत्य वने यातो महामुनिः ॥ ८९ ॥

अनन्तर उस समय महामुनि जीवनधारणाकी इच्छा करते हुए कुत्तेका मांस लेकर वनमें पत्नी सहित चले गये ॥ ८९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्षाथ वासवः ।
संजीवयन्प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९० ॥

उस ही समय देवराजने सब प्रजासमूहको सञ्जीवित करते हुए बहुत ही जल बरसाया; उससे अन्न आदि सब औषधियोंको उत्पन्न किया ॥ ९० ॥

विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥ ९१ ॥

भगवान् विश्वामित्र भी बहुत समय तक तपस्या करके पाप जलाकर अनन्तर परम अद्भुत सिद्धिको प्राप्त हुए ॥ ९१ ॥

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥ ९२ ॥

उन्होंने उस आरम्भ किये हुए कार्यकी समाप्ति वैसे चरुका स्वाद न लेकर ही की थी; इसी प्रकार शङ्कारहित दीन चित्त न होकर सभी उपायोंसे होसके अपने आपका उद्धार ॥ ९२ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।
जीवन्पुण्यमवाप्नोति नरो भद्राणि पश्यति ॥ ९३ ॥

सदा ऐसी ही बुद्धिका अवलम्बन करके जीवित रहना उचित है; पुरुष जीवित रहनेसे पुण्य सञ्चय और कल्याणभोग कर सकता है ॥ ९३ ॥

तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन्वर्तितव्यं यतात्मना ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥ ५१२३ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! इसलिये विद्वान् पुरुषको धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें अपनीही विशुद्ध बुद्धिको अवलम्बन करके इस लोकमें जीवन व्यतीत करनेका प्रयत्न करना उचित है ॥ ९४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ उनतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३९ ॥ ५१२३ ॥

: १४० :

युधिष्ठिर उवाच—

यदिदं घोरमुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम् ।
अस्ति स्विद्दस्युमर्यादा यामहं परिवर्जये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— आपने अनृतकी तरह श्रद्धारहित जिस घोर कार्यको महत् पुरुषोंका भी कर्तव्य कहके वर्णन किया है, उसे सुनकर पूछना पडता है, कि डाकुओंका क्या कर्म है और हम लोगोंके लिये ही कौनसा विषय त्यागने योग्य है ? ॥ १ ॥

संमुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः ।
उद्यमं नाधिगच्छामि कुतश्चित्परिचिन्तयन् ॥ २ ॥

मैं शोक और मोहसे युक्त हुआ हूं; मेरा धर्मबन्धन शिथिल हुआ जाता है; मैं चित्तको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होता हूं, इसलिये मैं ऐसा धर्माचरण करनेमें उत्साहित नहीं हो रहा हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

नैतच्छुद्धागमादेव तव धर्मानुशासनम् ।
प्रज्ञासमवतारोऽयं कविभिः संभृतं मधु ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— मैं वेदागम आदि शास्त्रोंको सुनकर तुम्हें ऐसा धर्माचरण करनेका उपदेश नहीं करता हूं ! आपदकालमें ऐसा आचरण न करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं; जैसे अनेक प्रकारके फूलोंका रस लाकर मक्खियां मधु सञ्चय करती हैं, उसी प्रकार विद्वानोंने निज बुद्धिकौशलके जरिये अच्छी तरह इसे कल्पना किया है ॥ ३ ॥

बह्वयः प्रतिविधातव्याः प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः ।
नैकशाखेन धर्मेण यात्रैषा संप्रवर्तते ॥ ४ ॥

राजाको सब जगहसे भिन्न भिन्न प्रकारकी शिक्षा–बुद्धि सीखनी चाहिये; जब जिस विषयमें तुम्हारी यह बुद्धि प्रवर्तित होवे, उसे ही करना; वह आत्मरक्षाका उपाय सुझाती है; धर्मके एकही शाखा मात्र धर्मका अवलम्बन करना उचित नहीं है ॥ ४ ॥

बुद्धिसंजननं राज्ञां धर्ममाचरतां सदा ।
जयो भवति कौरव्य तदा तद्विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥

हे कुरुनन्दन ! धर्मका आचरण करनेवाले राजाओंसेही विशुद्ध बुद्धि सदा प्रकट होती है; सदा जयका लाभ होता है; मेरी इस बातको अच्छी तरह मालूम करो ॥ ५ ॥

बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानो जयन्ति विजयैषिणः ।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः ॥ ६ ॥

विजयकी इच्छा करनेवाले तथा बुद्धिमें श्रेष्ठ सभी राजा विजयी होते हैं; इसलिये राजाको बुद्धिबलका अवलम्बन करके शिक्षा लेकर धर्मसंस्कारमें प्रवृत्त होना उचित है ॥ ६ ॥

नैकशाखेन धर्मेण राज्ञां धर्मो विधीयते ।
दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुदाहृता ॥ ७ ॥
राजधर्म अनेक शाखाओंसे युक्त है; इसलिये उसके एकदेशके सहारे व्यवहार करना उचित नहीं है । अध्ययनके समय धर्मशास्त्र अच्छी तरह न सीखनेसे बुद्धि शुद्ध नहीं होती; निर्बल पुरुष एक शाखाधर्मके जरिये किसी कार्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति ।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत ॥ ८ ॥
हे भारत ! एकमात्र धर्म या कर्म ही कभी धर्म और कभी अधर्मरूपसे मालूम होता है; जो पुरुष इस विषयमें अनभिज्ञ है, वह दो तरहके मार्गमें पडके संशययुक्त होता है; इससे बुद्धिके अनुसार इस प्रकार द्वैधको मालूम करना उचित है ॥ ८ ॥

पार्श्वतःकरणं प्रज्ञा विषूची त्वापगा इव ।
जनस्तूच्चारितं धर्मं विजानात्यन्यथान्यथा ॥ ९ ॥
अनन्तर जो करना होगा, पहिले उसे बुद्धिसे निश्चय करके ही करे; अन्यथा दूसरे लोग उसके द्वारा आचरित धर्मको और किसी रूपमें समझने लगते हैं ॥ ९ ॥

सम्यग्विज्ञानिनः केचिन्मिथ्याविज्ञानिनोऽपरे ।
तद्वै यथातथं बुद्ध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥ १० ॥
कोई कोई यथार्थ ज्ञानी, कोई मिथ्या ज्ञानयुक्त होते हैं; इसे यथार्थ रीतिसे जानकर बुद्धिमान् राजा साधुओंके ही ज्ञानको ग्रहण किया करते हैं ॥ १० ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः ।
वैषम्यमर्थविद्यानां नैरर्थ्यात्ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥
धर्मद्वेषी तथा अर्थज्ञानरहित मनुष्य शास्त्रोंकी निन्दा तथा शास्त्रोंकी अप्रमाणता– निरर्थकता प्रकट किया करते हैं ॥ ११ ॥

आजिजीविषवो विद्यां यशस्कामाः समन्ततः ।
ते सर्वे नरपापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥
हे महाराज ! जो लोग शास्त्र और आचारके निन्दा-प्रसङ्गमें केवल जीविका–निर्वाहके लिये विद्या सीखकर सब ओरमें उसीके बलसे यशकी इच्छा करते हैं, वेही धर्मद्वेषी और पापी हैं ॥ १२ ॥

अपक्वमतयो मन्दा न जानन्ति यथातथम् ।
सदा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रापरिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥
शास्त्रज्ञानरहित, अयुक्तिसम्पन्न लोगोंकी तरह अपरिणत बुद्धिवाले मूर्ख लोग यथार्थ तत्त्व कर्त्तव्य कर्मको नहीं जानते हैं ॥ १३ ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः ।
विज्ञानमथ विद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥ १४ ॥

शास्त्रके दोषदर्शी पुरुष सदा शास्त्रोंकी निन्दा किया करते हैं; शास्त्रोंका अर्थ मालूम होनेपर भी उन लोगोंके समीप वह साधुभावसे प्रतिपन्न नहीं होता ॥ १४ ॥

निन्दया परविद्यानां स्वां विद्यां ख्यापयन्ति ये ।
वागस्त्रा वाक्छुरीमत्त्वा दुग्धविद्याफला इव ।
तान्विद्यावणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत ॥ १५ ॥

वे लोग कृतविद्य पुरुषोंकी तरह वचनरूपी अस्त्र वा बाण धारण करके ही दूसरेकी विद्याके निन्दावादके जरिये निज विद्याकी भलाईका मिथ्या प्रचार करते हैं। हे भारत ! तुम ऐसे लोगोंको विद्यावणिक् और राक्षसोंके समान जानो ॥ १५ ॥

व्याजेन कृत्स्नो विदितो धर्मस्ते परिहास्यते ।
न धर्मवचनं वाचा न बुद्ध्या चेति नः श्रुतम् ॥ १६ ॥

उनके कपट प्रचारसे तुम्हारा साधु पुरुषोंसे विहित धर्म नष्ट हो जायगा। हमने सुना है, वचन वा बुद्धिके जरिये धर्म उच्चारण करनेसे ही धर्मका निश्चय नहीं होता है ॥ १६ ॥

इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ।
न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते ॥ १७ ॥

शास्त्र वचन और तर्क दोनोंके द्वारा ही उसका निर्णय होता है, देवराजने स्वयं बृहस्पतिका यह उपदेश कहा था। विद्वान् विना कारणके कोई वचन नहीं कहते हैं ॥ १७ ॥

स्वविनीतेन शास्त्रेण व्यवस्यन्ति तथापरे ।
लोकयात्रामिहैके तु धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ १८ ॥

कोई कोई पुरुष शास्त्रज्ञानसे युक्त होकर उसके अनुसार धर्मका आचरण करते हैं, कोई कोई मनीषी पुरुष इस जगतमें लोक-यात्रा विधानको ही धर्म कहा करते हैं ॥ १८ ॥

समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेन्न पण्डितः ।
अमर्षाच्छास्त्रसंमोहादविज्ञानाच भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! पण्डित पुरुष स्वयं साधुओंके अनुष्ठित धर्मका क्रोध, मोह और अज्ञानके वशमें होकर शास्त्रीय ऊहापोह न करे ॥ १९ ॥

शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ।
आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते ॥ २० ॥

बुद्धिमान् पुरुषके शास्त्रके प्रवचनका जनसमाजमें कोई प्रभाव नहीं पडता है; परंतु वेदशास्त्रोंसे अनुमोदित विशुद्ध बुद्धिसे जो बात कही जाती है, उसीसे शास्त्रकी प्रशंसा होती है ॥ २० ॥

अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद्वचनं साधु मन्यते ।
अनपाहृतमेवेदं नेदं शास्त्रमपार्थकम् ॥ २१ ॥

दूसरे लोग अज्ञात विषयका ज्ञान करानेके लिये तर्कको श्रेष्ठ मानते हैं, यह उनकी भूल है; युक्तिसे जो लोग शास्त्र प्रमाणित बातोंको काट कर, यह व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं, परंतु उनका कथन योग्य नहीं है ॥ २१ ॥

दैतेयानुशनाः प्राह संशयच्छेदने पुरा ।
ज्ञानमव्यपदेश्यं हि यथा नास्ति तथैव तत् ॥ २२ ॥

पहले शुक्राचार्यने दानवोंसे यह सन्देहको नष्ट करनेवाला वचन कहा था,– 'सन्देहयुक्त ज्ञानका रहना और न रहना समान है ॥ २२ ॥

तेन त्वं छिन्नमूलेन कं तोषयितुमर्हसि ।
अतथ्यविहितं यो वा नेदं वाक्यमुपाश्नुयात् ॥ २३ ॥

वैसे ज्ञानके जरिये जो धर्म होता है, उसके मूलको काटकर–संशय च्छेदन करके, तुम किसे संतोषित करेंगे ? यदि तुम मेरे इस उपदेशको नहीं स्वीकार करते हैं, तो तुम्हारा यह व्यवहार अनुचित है ॥ २३ ॥

उग्रायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे न त्ववेक्षसे ।
अङ्गमामन्ववेक्षस्व राजनीतिं बुभूषितुम् ।
यया प्रमुच्यते त्वन्यो यदर्थं च प्रमोदते ॥ २४ ॥

तुम उग्र कर्म सिद्ध करनेके वास्ते ही उत्पन्न हुए हो, वह क्या तुम नहीं देखते हैं ? देखो, मैंने युद्ध-विग्रहमें प्रवृत्त होकर कितने राज्यकी अभिलाषा करनेवाले ऐश्वर्यवान् क्षत्रियोंको स्वर्गलोकमें भेजा है, उससे उन लोगोंकी सद्गति हुई है; कोई कोई पुरुष इसके वास्ते मेरे ऊपर सन्तुष्ट हुए हैं ॥ २४ ॥

अजोऽश्वः क्षत्रमित्येतत्सदृशं ब्रह्मणा कृतम् ।
तस्मादभीक्ष्णभूतानां यात्रा काचित्प्रसिध्यति ॥ २५ ॥

प्रजापतिने बकरे, घोडे और क्षत्रियोंको समान रूपसे परोपकारके निमित्त उत्पन्न किया है; इससे सदा प्राणियोंकी जीवनयात्रा सिद्ध होती रहती है ॥ २५ ॥

यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः ।
एषैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

अवध्य पुरुषके मारनेसे जैसा दोष होता है, वध्य पुरुषका वध न करनेसे भी वैसा दोष हुआ करता है । यह दोष ही मर्यादा है, जिसका क्षत्रिय राजा परित्याग करे ॥ २६ ॥

तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेदुत ।
अन्योन्यं भक्षयन्तो हि प्रचरेयुर्वृका इव ॥ २७ ॥

राजा अत्यन्त तीक्ष्ण स्वभाववाला होकर प्रजासमूहको स्वधर्ममें स्थापित करे; इसमें अन्यथा होनेसे वे लोग भेडियोंकी तरह परस्परमें एक एक दूसरेको भक्षण करते हुए भ्रमण करेंगे ॥ २७ ॥

यस्य दस्युगणा राष्ट्रे ध्वाङ्क्षा मत्स्याञ्जलादिव ।
विहरन्ति परस्वानि स वै क्षत्रियपांसनः ॥२८॥

जिसके राज्यमें डाकू लोग जलसे मछलियोंको पकडनेवाले कौओंके समान परधन हरण किया करते हैं, वह राजा क्षत्रियोंके बीच कलंक ही है ॥ २८ ॥

कुलीनान्सचिवान्कृत्वा वेदविद्यासमन्वितान् ।
प्रशाधि पृथिवीं राजन्प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! तुम वेदविद्यायुक्त, सत्कुलमें उत्पन्न हुए लोगोंको मन्त्रीपदपर अभिषिक्त करके धर्मके अनुसार प्रजापालन करते हुए पृथ्वीका शासन करो ॥ २९ ॥

विहीनजमकर्माणं यः प्रगृह्णाति भूमिपः ।
उभयस्याविशेषज्ञस्तद्वै क्षत्रं नपुंसकम् ॥ ३० ॥

अकुलीन तथा सत्कर्मसे शून्य, और दोनोंके कार्योंसे अनभिज्ञ पुरुषको जो राजा मन्त्री बनाता है, वह नपुंसक क्षत्रिय है ॥ ३० ॥

नैवोग्रं नैव चानुग्रं धर्मेणेह प्रशस्यते ।
उभयं न व्यतिक्रामेदुग्रो भूत्वा मृदुर्भव ॥ ३१ ॥

राजा लोग अत्यन्त कोमल तथा अत्यन्त कठोर होनेसे धर्मपूर्वक प्रशंसित नहीं होते; इसलिये मृदुता और कठोरता दोनोंको ही अतिक्रम करना उचित नहीं है; इससे तुम पहिले उग्र होकर पीछे मृदु बनो ॥ ३१ ॥

कष्टः क्षत्रियधर्मोऽयं सौहृदं त्वयि यत्स्थितम् ।
उग्रे कर्मणि सृष्टोऽसि तस्माद्राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३२ ॥

यह क्षत्रियधर्म कष्टयुक्त है । मैं तुमपर अत्यन्त स्नेह किया करता हूं; इसलिये कहता हूं । विधाताने उग्र कार्योंके करनेके ही वास्ते तुम्हें उत्पन्न किया है; इसलिये तुम उसहीके अनुसार राज्यशासन करो ॥ ३२ ॥

अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम् ।
इति शक्रोऽब्रवीद्धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् इन्द्रने कहा है, आपदकालमें सदा दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोंको सदा प्रतिपालन करना ही धर्म है ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अस्ति स्विद्दस्युमर्यादा यामन्यो नातिलङ्घयेत् ।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे साधुसत्तम पितामह ! दूसरे लोगोंसे अलङ्घनीय यदि कोई दस्युओंकी मर्यादा हो, तो मैं पूंछता हूं, आप उसे कहिये ॥ ३४ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः ।
श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान्पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३५ ॥

भीष्म बोले– वेद जाननेवाले, शास्त्रज्ञानसे सम्पन्न, सच्चरित्र, तपस्वी ब्राह्मणोंकी सेवा करो, यही अत्यन्त पवित्र उत्तम कर्म है ॥ ३५ ॥

या देवतासु वृत्तिस्ते सास्तु विप्रेषु सर्वदा ।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥ ३६ ॥

तुम देवताओंके विषयमें जैसा व्यवहार किया करते हो, ब्राह्मणोंके विषयमें भी सदा वैसाही व्यवहार करो । हे महाराज ! ब्राह्मणोंने क्रुद्ध होकर अनेक दुष्कर कर्म किये हैं ॥ ३६ ॥

तेषां प्रीत्या यशो मुख्यमप्रीत्या तु विपर्ययः ।
प्रीत्या ह्यमृतवद्विप्राः क्रुद्धाश्चैव यथा विषम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥ ५१६० ॥

उन ब्राह्मण लोगोंकी प्रसन्नतासे बहुत श्रेष्ठ यश प्राप्त होता है, अप्रसन्नतासे नाश हुआ करता है । ब्राह्मण लोग प्रसन्न होनेसे अमृतके समान जीवनदायक होते हैं और क्रुद्ध होनेसे विषकी तरह भयंकर हुआ करते हैं ॥ ३७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४० ॥ ५१६० ॥

: १४१ :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सब शास्त्रोंके जाननेवाले महाबुद्धिमान् पितामह ! शरणागत लोगोंके प्रतिपालन करनेसे जो धर्म होता है, आप मुझसे वही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

महान्धर्मो महाराज शरणागतपालने ।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भरतसत्तम महाराज ! शरणागत पुरुषोंके प्रतिपालन करनेसे महान् धर्म हुआ करता है; तुम ही इस विषयके प्रश्न करनेके योग्यपात्र हो ॥ २ ॥

नृगप्रभृतयो राजन्राजानः शरणागतान् ।
परिपाल्य महाराज संसिद्धिं परमां गताः ॥ ३ ॥

हे राजन् ! नृग आदि राजा लोग शरणागत लोगोंका प्रतिपालन करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३ ॥

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ ४ ॥

सुना जाता है, किसी कबूतरने शरणागत शत्रुका विधिपूर्वक संमान करके, अपना मांस खानेके लिये उसको निमन्त्रित किया था ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः ।
स्वमांसैर्भोजितः कां च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! पहिले समयमें कबूतरने किस प्रकार शरणागत शत्रुको निज मांस भोजन कराया और किस तरह उसकी गति हुई थी ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु राजन्कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेण ह ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! भगवान् भार्गवने मुचुकुन्द राजाके समीप सब पापोंको नष्ट करनेवाली दिव्य कथा कही थी, उसे तुम सुनो ॥ ६ ॥

इममर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः ।
भार्गवं परिपप्रच्छ प्रणतो भरतर्षभ ॥ ७ ॥

हे पुरुषप्रवर पृथापुत्र ! पहिले मुचुकुन्द राजाने भार्गवके निकट विनीत भावसे प्रणाम करके इस विषयमें यही प्रश्न किया था ॥ ७ ॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय भार्गवोऽकथयत्कथाम् ।
इयं यथा कपोतेन सिद्धिः प्राप्ता नराधिप ॥ ८ ॥

जनेश्वर ! भार्गवने उस सेवा करनेवाले राजासे कबूतरने जिस प्रकार सिद्धि लाभ की थी, उस कथाको इस भांति वर्णन किया था ॥ ८ ॥

धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थसहितां कथाम् ।
शृणुष्वावहितो राजन्गदतो मे महाभुज ॥ ९ ॥

हे महाभुज महाराज ! मैं धर्म-काम-अर्थ-निर्णय युक्त कथा कहता हूं; तुम सावधान होके मेरे मुखसे इसे सुनो ॥ ९ ॥

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसंमतः ।
चचार पृथिवीं पापो घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १० ॥

किसी महावनके बीच कालान्तक यमराजके समान विकट रूपवाला घोर पापी एक पक्षी-घातक निषाद भ्रमण करता था ॥ १० ॥

काकोल इव कृष्णाङ्गो रूक्षः पापसमाहितः ।
यवमध्यः कृशग्रीवो ह्रस्वपादो महाहनुः ॥ ११ ॥

उसका शरीर काकोल कौओंकी तरह काला, दयाहीन, पापी, पतली कमर, कृश गरदन, छोटे पैर और लंबी ठोढी थी ॥ ११ ॥

नैव तस्य सुहृत्कश्चिन्न संबन्धी न बान्धवः ।
स हि तैः संपरित्यक्तस्तेन घोरेण कर्मणा ॥ १२ ॥

वह भयङ्कर घोर कार्य करता था, इसलिये उसके कोई सुहृद्, सम्बधी और बान्धव नहीं था; सब कोईने ही उसे परित्याग किया था ॥ १२ ॥

स वै क्षारकमादाय द्विजान्हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतंगानां नराधिप ॥ १३ ॥

हे नरनाथ ! वह निषाद जाल ग्रहण करके वनमें सदा पक्षियोंको मारकर उन्हें बाजारमें बेचता था ॥ १३ ॥

एवं तु वर्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः ।
अगमत्सुमहान्कालो न चाधर्ममबुध्यत ॥ १४ ॥

उस दुष्टात्माके इसी प्रकार व्यवसायमें प्रवृत्त रहते हुए बहुत समय बीत गया; तौ भी वह निज कार्यसे जो अधर्म होता है, उसे न जान सका ॥ १४ ॥

तस्य भार्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् ।
दैवयोगविमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १५ ॥

वह इसी प्रकार उपायके सहारे भार्याके सहित विहार करता समय बिता रहा था; दैवयोगसे मूढताके कारण उसे दूसरे किसी व्यवसायमें अभिलाषा नहीं हुई ॥ १५ ॥

ततः कदाचित्तस्याथ वनस्थस्य समुद्गतः ।
पातयन्निव वृक्षांस्तान्सुमहान्वातसंभ्रमः ॥ १६ ॥

अनन्तर किसी समय वह निषाद वनके बीच घूम रहा था; तो उसकी चारों ओरसे बडे जोरसे आंधी उठी; वायुका प्रचण्ड वेग मानो वृक्षोंको उखाडता हुआ सा जान पडा ॥१६॥

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
संछन्नं सुमुहूर्तेन नौस्थानेनेव सागरः ॥ १७ ॥

जैसे समुद्र नौकासमूहसे परिपूरित होता है, वैसे ही आकाशमण्डल मुहूर्त्त भरके बीच बादलों और बिजलीसमूहसे भर गया ॥ १७ ॥

वारिधारासमूहैश्च संप्रहृष्टः शतक्रतुः ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुंधराम् ॥ १८ ॥

अत्यंत प्रसन्न हुए देवराजने जलधाराओंके समूहसे वर्षा करके क्षणभरमें पृथ्वीको जलसे परिपूर्ण किया ॥ १८ ॥

ततो धाराकुले लोके संभ्रमन्नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद्वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

अनन्तर उस मुसलधार वर्षाके समय निषाद चेतना रहित और शीतसे आर्त्त होकर व्याकुल चित्तसे वनके बीच घूमने लगा ॥ १९ ॥

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहंगहा ।
पूरितो हि जलौघेन मार्गस्तस्य वनस्य वै ॥ २० ॥

उसको नीची-उंची भूमिका कुछ पता नहीं लगता था; उसका मार्ग तथा वनके सब मार्ग भी जलसे भर गये थे ॥ २० ॥

पक्षिणो वातवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगाः सिंहा वराहाश्च स्थलान्याश्रित्य तस्थिरे ॥ २१ ॥

पवनके वेगसे पक्षीसमूह मरके पृथ्वीमें पडे हुए थे; कितने अपने घोंसलोंमें छिपे थे; मृग, सिंह, वराह आदि ऊंचे स्थलको अवलम्बन करके बैठे रहे ॥ २१ ॥

महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौकसः ।
भयार्ताश्च क्षुधार्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥ २२ ॥

जंगली जीव प्रचण्डवायु और वर्षासे त्रासित, भयसे आर्त्त और भूखे होकर सब कोई वनमें एक साथमें भ्रमण करने लगे ॥ २२ ॥

स तु शीतहतैर्गात्रैर्जगामैव न तस्थिवान् ।
सोऽपश्यद्वनषण्डेषु मेघनीलं वनस्पतिम् ॥ २३ ॥

पक्षीघातक निषाद शीतार्त्त शरीरसे आगे ही जाता रहा, एक स्थानमें नहीं रहा; इतनेहीमें उसने वनमें मेघके समान नील वनस्पतिको देखा ॥ २३ ॥

ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्मलं च ह ।
मेघैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥ २४ ॥

अनन्तर फूले हुए कुमुददलसे रञ्जित जलयुक्त बडे तालावकी तरह आकाशमण्डल क्षणभरमें तारा समूहसे सुशोभित हुआ । शीत-विह्वल व्याधाने बादलोंसे मुक्त हुए आकाशको देखा ॥२४॥

दिशोऽवलोकयामास वेलां चैव दुरात्मवान् ।
दूरे ग्रामनिवेशश्च तस्माद्देशादिति प्रभो ।
कृतबुद्धिर्वने तस्मिन्वस्तुं तां रजनीं तदा ॥ २५ ॥

फिर उस दुरात्माने सब दिशाओंकी तथा सीमाओंकी ओर देखा; इस स्थानसे बहुत दूर मेरा गाम तथा निवास स्थान है,— ऐसा विचारके उसने उस वनमें रात्रि बितानेका निश्चय किया ॥ २५ ॥

सोऽञ्जलिं प्रयतः कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् ।
शरणं यामि यान्यस्मिन्दैवतानीह भारत ॥ २६ ॥

अनन्तर उसने प्रयत्नपूर्वक हाथ जोडके वनस्पतिको प्रणाम करके कहा— इस वृक्षके ऊपर जो सब देवता हैं, मैं उन सबका शरणागत हुआ हूं ॥ २६ ॥

स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
दुःखेन महताविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥ ५१८७ ॥

पक्षीघातकने महादुःखमें पडके ऐसा वचन कहकर पृथ्वीपर कुछ पत्ते बिछाकर पत्थरके ऊपर शिर रखके शयन किया ॥ २७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ एकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४१ ॥ ५१८७ ॥

: १४२ :

भीष्म उवाच—

अथ वृक्षस्य शाखायां विहंगः ससुहृज्जनः ।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! विचित्र पङ्खयुक्त एक पक्षी बहुत समयसे अपने सुहृदोंके सहित उस वृक्षकी शाखापर वास करता था ॥ १ ॥

तस्य काल्यं गता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत ।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥ २ ॥

उसकी भार्या प्रातःकाल चारा चुगने गई थी; रात्रि उपस्थित हुई तौभी वह लौटकर नहीं आई; इससे वह पक्षी अत्यन्त दुःखित होकर कहने लगा ॥ २ ॥

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
किं नु तत्कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥ ३ ॥

इसके पहिले प्रचण्ड पवन बहता था और जलकी वर्षा हुई थी; मेरी प्रेयसी अबतक भी क्यों नहीं आई ? वह जो अभीतक नहीं लौटी, इसका क्या कारण है ? ॥ ३ ॥

\+

अपि स्वस्ति भवेत्तस्याः प्रियाया मम कानने ।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥ ४ ॥

वनमें मेरी प्रिया कुशलसे तो होगी ? प्रियाके बिना आज यह मेरा गृह– घोंसला सूना मालूम होता है ॥ ४ ॥

यदि सा रक्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा ।
अद्य नाभ्येति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे ॥ ५ ॥

मेरी वह आरक्तनयनी, विचित्राङ्गी, मधुर वचन कहनेवाली, प्यारी यदि आज न आवे, तो मेरे जीनेका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ५ ॥

पतिधर्मरता साध्वी प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी ॥ ६ ॥

मेरी प्रिया पतिधर्ममें रत, साध्वी, प्राणोंसे भी श्रेष्ठ है; वह तपस्विनी ही जानती है कि मैं थका और भूखसे पीडित हूं ॥ ६ ॥

अनुरक्ता हिता चैव स्निग्धा चैव पतिव्रता ।
यस्य वै तादृशी भार्या धन्यः स मनुजो भुवि ॥ ७ ॥

वह मेरे ऊपर अनुरक्त, हितकारिणी, स्निग्ध–मूर्ति तथा पतिव्रता है; जिसकी उसके समान भार्या है, भूलोकमें वह पुरुष ही धन्य है ॥ ७ ॥

भार्या हि परमो नाथः पुरुषस्येह पठ्यते ।
असहायस्य लोकेऽस्मिँल्लोकयात्रासहायिनी ॥ ८ ॥

इस लोकमें भार्या ही पुरुषका परम नाथ करके कही जाती है; सहायरहित पुरुषके लोकयात्रा-निर्वाहके विषयमें भार्या ही सहायक होती है ॥ ८ ॥

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च ।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ ९ ॥

रोगयुक्त और सदा क्लेशमें पडे हुए उस पीडित मनुष्यके लिये भार्याके समान और कोई भी दूसरी औषधि नहीं है ॥ ९ ॥

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसाधनः ॥ १० ॥

जगत्में भार्याके समान बन्धु नहीं है, भार्याके समान कोई आश्रय नहीं है और जनसमाजमें धर्मसाधनके विषयमें भार्याके समान और कोई भी सहायक नहीं है ॥ १० ॥

एवं विलपतस्तस्य द्विजस्यार्तस्य तत्र वै ।
गृहीता शाकुनघ्नेन भार्या शुश्राव भारतीम्　　॥ ११ ॥
न सा स्त्रीत्यभिभाषा स्याद्यस्या भर्ता न तुष्यति ।
अग्निसाक्षिकमप्येतद् भर्ता हि शरणं स्त्रियः　　॥ १२ ॥

कबूतर इसी तरह पीडित होकर विलाप कर रहा था, तब पक्षिघाती निषादसे हस्तगत हुई भार्या कपोतीने पतिका करुणायुक्त वचन सुना । जिस नारीके ऊपर पति प्रसन्न नहीं है, उसे स्त्री कहके गिनना अनुचित है । अग्निको साक्षी बनाकर स्त्री जिसकी पत्नी हो गयी, वही उसका पति और स्त्रीके लिये परम शरण आश्रय है ॥ ११–१२ ॥

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ।
कपोती लुब्धकेनाथ यत्ता वचनमब्रवीत्　　॥ १३ ॥

निषादके हस्तगत हुई कपोती दुःखसे आर्त्त होकर इस समय इसी भांति चिन्ता करके अपने शोकित पतिसे प्रयत्नपूर्वक बोली ॥ १३

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा च कुरु तत्तथा ।
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः　　॥ १४ ॥

हे नाथ ! मैं तुम्हें कल्याणकी कथा कहती हूं, तुम उसे सुनकर वैसा ही करो; तुम एक शरणागत प्राणीकी विशेष रीतिसे रक्षा करो ॥ १४ ॥

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै प्रयोजय　　॥ १५ ॥

एक व्याध तुम्हारे स्थानपर आके सो रहा है; यह पुरुष शीतसे दुःखित तथा क्षुधासे आर्त्त हुआ है; इसलिये इसकी यथोचित सेवाका प्रयोजन करो ॥ १५ ॥

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद्गां वा लोकस्य मातरम् ।
शरणागतं च यो हन्यात्तुल्यं तेषां च पातकम्　　॥ १६ ॥

जो कोई ब्राह्मणकी हत्या करे, जो कोई लोकमाता गऊको मारे और जो पुरुष शरणागत पुरुषका वध करता है, उन लोगोंके पाप समान ही होते हैं ॥ १६ ॥

याऽस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती जातिधर्मतः ।
सा न्याय्यात्मवता नित्यं त्वद्विधेनाभिवर्तितुम्　　॥ १७ ॥

हमारी कपोतजातिके धर्म अनुसार जैसा व्यवहार विहित है, उसी भांति आप जैसे बुद्धिमान् पुरुषको सदा उसका अनुसरण करना उचित है ॥ १७ ॥

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ।
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम । ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ शक्तिके अनुसार धर्माचरण करता है, हमने सुना है कि वह मरनेके पश्चात् अक्षय लोकोंको पाता है ॥ १९ ॥

स त्वं संतानवानद्य पुत्रवानपि च द्विज ।
तत्स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य वै ।
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १९ ॥

इस समय तुमने कन्यापुत्रोंका मुख देखा है, इससे निज शरीरके लिये दया त्यागके धर्म और अर्थका परिग्रह करके जिस प्रकार इसका चित्त प्रसन्न हो, उसी तरह उसका सत्कार करो ॥ १९ ॥

इति सा शाकुनी वाक्यं क्षारकस्था तपस्विनी ।
अतिदुःखान्विता प्रोच्य भर्तारं समुदैक्षत ॥ २० ॥

पीञ्जरेमें स्थित भूखी तपस्विनी कपोती पतिसे यह कहकर अत्यन्त दुःखित होकर पतिको देखने लगी ॥ २० ॥

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो बाष्पव्याकुललोचनः ॥ २१ ॥

कपोत निज पत्नीका धर्मपूरित युक्तियुक्त वचन सुनके अत्यन्त हर्षित हुआ और उसके नेत्रोंमें आंसू भर आये ॥ २१ ॥

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पूजयामास यत्नेन स पक्षी पक्षिजीविनम् ॥ २२ ॥

उसने पक्षिजीवी निषादको देखकर यथाविधि यत्नपूर्वक उसका सत्कार किया ॥ २२ ॥

उवाच च स्वागतं ते ब्रूहि किं करवाण्यहम् ।
संतापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ २३ ॥

और बोला— तुम्हारा स्वागत है । कहिये, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं ? अभी तुम संताप न करो, तुम अपने ही घरमें हैं ॥ २३ ॥

तद्ब्रवीतु भवान्क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि ।
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ॥ २४ ॥

तुम्हारी क्या अभिलाषा है ? शीघ्र कहो, मैं उसे ही करूंगा । मैं तुमसे प्रेमसे पूछ रहा हूं; आप हमारे घर आये हैं ॥ २४ ॥

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यमिह यत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥ २५ ॥

पञ्चयज्ञमें प्रवृत्त गृहस्थ पुरुषको विशेष यत्नके सहित घरपर आये अतिथिका आदर-सत्कार करना चाहिये, यह उसका श्रेष्ठ धर्म है ॥ २५ ॥

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी ।
तस्य नायं न च परो लोके भवति धर्मतः ॥ २६ ॥

गृहस्थाश्रममें रहकर जो पुरुष मोहके वशमें होकर पञ्चयज्ञ करनेमें विरत होता है; धर्मपूर्वक उसकी इस लोक और परलोकमें सद्गति नहीं होती ॥ २६ ॥

तद्‌ब्रूहि त्वं सुविस्रब्धो यत्त्वं वाचा वदिष्यसि ।
तत्करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २७ ॥

इससे तुम विश्वासी होकर मुझसे कहो; मुझसे तुम जो कुछ कहोगे, मैं वही करूंगा; तुम अपने मनमें शोक मत करो ॥ २७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत् ।
बाधते खलु मा शीतं हिमत्राणं न विधीयताम् ॥ २८ ॥

निषाद कबूतरका ऐसा वचन सुनके उससे बोला- मैं जाडेसे अत्यन्त दुःखी हूं, इससे जिस प्रकार जाडेसे परित्राण हो, तुम वैसा ही विधान करो ॥ २८ ॥

एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
यथाशुष्काणि यत्नेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥ २९ ॥

निषादके ऐसा कहनेपर कपोतने सामर्थ्यके अनुसार पृथ्वीपर कितने ही पत्तोंको इकट्ठा किया और अग्नि लानेके वास्ते अपने पंखोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही गमन किया ॥ २९ ॥

स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽभ्यदीदिपत् ॥ ३० ॥

वह लुहारके घर जाकर आग ले आया; फिर सूखे पत्तोंके बीच उसने अग्नि जला दिया ॥३०॥

सुसंदीप्तं महत्कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापय सुविस्रब्धं स्वगात्राण्यकुतोभयः ॥ ३१ ॥

कबूतर इसी तरह आग बहुत जलाके शरणागत पुरुषसे बोला, तुम विश्वासी होकर निःशंक-चित्तसे अपना शरीर गर्म्म करो ॥ ३१ ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत् ।
अग्निप्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहंगमम् ॥ ३२ ॥

कपोतका ऐसा वचन सुन निषादने बहुत अच्छा कहकर अपना शरीर गर्म्म किया । अग्नि-तापसे उसका जीवन प्रत्यागत हुआ, तब वह कपोतको पुकारके बोला- ॥ ३२ ॥

दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद्बाधते हि माम् ।
तद्वचः स प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहंगमः ॥ ३३ ॥

हे पक्षी ! मैं भूखसे कातर हुआ हूं, इससे इच्छा करता हूं, कि तुम मुझे कुछ भोजन दान करो; कबूतरने व्याधेका वचन सुनके कहा— ॥ ३३ ॥

न मेऽस्ति विभवो येन नाशयामि तव क्षुधाम् ।
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ॥ ३४ ॥

मेरे पास ऐसी कोई सम्पत्ति सञ्चित नहीं है, जिससे मैं तुम्हारी क्षुधा शान्त कर सकूं । हम वनवासी पक्षी हैं; प्रतिदिन जो कुछ चारा लाते हैं, उसहीसे जीविका–निर्वाह किया करते हैं ॥ ३४ ॥

संचयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव कानने ।
इत्युक्त्वा स तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत् ॥ ३५ ॥

मुनियोंकी तरह हम लोगोंके पास वनमें भोजनकी वस्तु सञ्चित नहीं रहती है; कपोत निषादसे ऐसा वचन कहके दुःखित हुआ ॥ ३५ ॥

कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरः सदा ।
बभूव भरतश्रेष्ठ गर्हयन्वृत्तिमात्मनः ॥ ३६ ॥

और हे भरतश्रेष्ठ ! वह अब मुझे क्या करना चाहिये, ऐसी ही चिन्ता करते हुए निज वृत्तिकी निन्दा करने लगा ॥ ३६ ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातकम् ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ ३७ ॥

कपोत मुहूर्त भरके अनन्तर सावधान होकर पक्षिघातीसे बोला, "थोडी देर ठहरो, मैं तुम्हें तृप्त करूंगा" ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैः स संप्रज्वाल्य हुताशनम् ।
हर्षेण महता युक्तः कपोतः पुनरब्रवीत् ॥ ३८ ॥

कपोत निषादसे ऐसा वचन कहके सूखे पत्तोंमें आग जलाकर अत्यन्त हर्षित होकर फिर व्याधसे बोला ॥ ३८ ॥

देवानां च मुनीनां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
श्रुतपूर्वो मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥ ३९ ॥

मैंने पहिले देवता, मुनि, पितर और महानुभावोंके निकटसे सुना है, कि अतिथिपूजनसे महान् धर्म हुआ करता है ॥ ३९ ॥

कुरुष्वानुग्रहं मेऽद्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥ ४० ॥

इससे, हे प्रियदर्शन ! मैं तुमसे सत्य कहता हूं, तुम मेरे ऊपर कृपा करो; मैंने उत्तम अतिथि-पूजा करनेके विषयमें निश्चय कर लिया है ॥ ४० ॥

ततः सत्यप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव ।
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश महीपते ॥ ४१ ॥

हे राजन् ! अनन्तर सत्य प्रतिज्ञा किये हुए उस महाबुद्धिमान् कपोतने तीन बार उस अग्निकी प्रदक्षिणा करके, हंसते हंसते उसमें प्रवेश किया ॥ ४१ ॥

अग्निमध्यं प्रविष्टं तं लुब्धो दृष्ट्वाथ पक्षिणम् ।
चिन्तयामास मनसा किमिदं नु कृतं मया ॥ ४२ ॥

निषाद कपोतको अग्निमें प्रवेश करते देखकर " मैंने यह क्या किया " ऐसी ही मनही मन चिन्ता करने लगा ॥ ४२ ॥

अहो मम नृशंसस्य गर्हितस्य स्वकर्मणा ।
अधर्मः सुमहान्घोरो भविष्यति न संशयः ॥ ४३ ॥

हाय ! मैं कैसा नृशंस और क्या ही निन्दनीय हूं ? निजकर्मके दोषसे मुझे निःसन्देह महाघोर अधर्म होगा ॥ ४३ ॥

एवं बहुविधं भूरि विललाप स लुब्धकः ।
गर्हयन्स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥ ५२३१ ॥

व्याधा पक्षीकी वैसी अवस्था देखकर निज कर्मकी निन्दा करते हुए इसी भांति अनेक प्रकार विलाप करने लगा ॥ ४४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४२ ॥ ५२३१ ॥

: १४३ :

भीष्म उवाच—

ततस्तं लुब्धकः पश्यन्कृपयाभिपरिप्लुतः ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर क्षुधासे आर्त्त वह लोभी अग्निमें प्रविष्ट हुए कपोतको देखकर दयापूर्ण भावसे फिर यह वचन बोला ॥ १ ॥

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं हृदि जीवतः ॥ २ ॥

मैं अत्यन्य नृशंस और निर्बुद्धि हूं, मैंने क्या यह पाप कर्म किया ? मैं अत्यन्त क्षुद्रजीवी हूं; इस कार्यसे अवश्यही सदा जीवित रहते हुए मेरे हृदयमें महापाप होगा ॥ २ ॥

स विनिन्दन्नथात्मानं पुनः पुनरुवाच ह ।
धिङ्मामस्तु सुदुर्बुद्धिं सदा निकृतिनिश्चयम् ।
शुभं कर्म परित्यज्य योऽहं शकुनिलुब्धकः ॥ ३ ॥

वह बार बार अपनी निन्दा करके फिर बोला, मैं शुभ कार्यको त्यागके पक्षिलोभी हुआ हूं; मैं अत्यन्त दुर्बुद्धि तथा सदा पापमें रत हूं, मुझे धिक्कार है ॥ ३ ॥

नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः ।
दत्तः स्वमांसं ददता कपोतेन महात्मना ॥ ४ ॥

मैं बहुत ही निष्ठुर हूं, इस ही लिये महात्मा कपोतने निज शरीरको जलाकर अपना मांस दिया है; इस त्यागसे उसने मुझे धिक्कार पूर्वक धर्माचरणका उपदेश दान किया, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान्प्राणान्पुत्रदारं विसृज्य च ।
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेनातिधर्मिणा ॥ ५ ॥

इससे मैं स्त्री-पुत्रोंको त्यागके अपने प्रिय प्राणोंको छोडूंगा; अत्यन्त धार्मिक महात्मा कपोतने मुझे धर्मका उपदेश प्रदान किया है ॥ ५ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम् ।
यथा स्वल्पं जलं ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ॥ ६ ॥

जैसे ग्रीष्मकालमें थोडे जलसे युक्त तालाव सूख जाता है, उसही प्रकार मैं आजसे निज-शरीरको सब भोगोंसे रहित करके सुखाऊंगा ॥ ६ ॥

क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये पारलौकिकम् ॥ ७ ॥

भूख, प्यास और आतपको सहके शरीर दुर्बल करके धमनी संयुक्त शरीरसे अनेक तरहके उपवासके सहारे पारलौकिक धर्म आचरण करूंगा ॥ ७ ॥

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजना ।
तस्माद्धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ।
दृष्टो हि धर्मो धर्मिष्ठैर्यादृशो विहगोत्तमे ॥ ८ ॥

कैसा आश्चर्य है ! कपोतने अपने देहका दान करके अतिथिसत्कार दिखाया, मैं अब धर्मका ही आचरण करूंगा, क्योंकि धर्म ही परम गति है ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ॥ ९ ॥

धर्मिष्ठ पक्षिश्रेष्ठ में जैसा धर्म दीख पडा, वैसा मुझे भी इच्छित है; ऐसा ही कहके उस क्रूर कर्म करनेवाले लोभी व्याधने तीक्ष्ण व्रतका अवलम्बन तथा निश्चय करके महाप्रस्थानका आश्रय किया ॥ ९ ॥

ततो यष्टिं शलाकाश्च क्षारकं पञ्जरं तथा ।
तांश्च बद्धान्कपोतान्स संप्रमुच्योत्ससर्ज ह ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥ ५२४१ ॥

फिर उसने बन्दी किये हुए कबूतरोंको पींजरेसे छोडके अपनी यष्टि, शलाका, जाल और पिञ्जरा– सबको परित्याग किया ॥ १० ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४३ ॥ ५२४१ ॥

: १४४ :

भीष्म उवाच—

ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता ।
संस्मृत्य भर्तारमथो रुदती शोकमूर्छिता ॥ १ ॥

भीष्म बोले– निषादके जानेपर पतिको स्मरण करके परम दुःखी कपोतवनिता शोकसे मूर्च्छितसी होकर रोदन करती हुई बोली– ॥ १ ॥

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे ।
सर्वा वै विधवा नारी बहुपुत्रापि खेचर ।
शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना मनस्विनी ॥ २ ॥

नाथ ! तुमने कभी मेरा अप्रिय कार्य किया था, ऐसा मुझे स्मरण नहीं होता; बहुतसे पुत्रवाली स्त्रियां भी विधवा होनेपर शोक किया करती हैं; पतिसे रहित मनस्विनी नारी बन्धु जनोंके लिये शोचनीय होती है ॥ २ ॥

लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च सान्त्विता ।
वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसकृत्सुमनोहरैः ॥ ३ ॥

तुमने सदा मेरा लालन किया; स्नेह युक्त, सुखद, मीठे और मनोहर वचनोंसे अनेक तरहसे मेरा सान्त्वन किया है ॥ ३ ॥

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया प्रिय ॥ ४ ॥

हे प्रिय ! पहाडकी गुफा, नदियोंके झरने और रमणीय वृक्षोंकी चोटियोंमें मैंने तुम्हारे सङ्गमें विहार किया है; ॥ ४ ॥

×

आकाशगमने चैव सुखिताहं त्वया सुखम् ।
विहृतास्मि त्वया कान्त तन्मे नाद्यास्ति किंचन ॥ ५ ॥

आकाशमें गमन करनेके समय भी मैं तुम्हारे साथ सुखसे फिरती थी । हे नाथ ! मैंने पहिले तुम्हारे साथ जो सब विहार किया है, आज अब वह आपके मुझे छोड जानेपर कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ६ ॥

पिता, माता, पुत्र आदि नारीको परिमित सुख प्रदान करते हैं; अपरिमित सुख देनेवाले पतिकी कौन स्त्री पूजा नहीं करती ? ॥ ६ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो न च भर्तृसमं सुखम् ।
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ॥ ७ ॥

स्त्रीके लिये पतिके समान नाथ नहीं है तथा पतिके समान सुख नहीं है; सर्वस्व और धन परित्याग करके स्त्रियोंके लिये एक मात्र पति ही अवलम्बनीय है ॥ ७ ॥

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।
पतिहीनापि का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ॥ ८ ॥

हे नाथ ! इस समय तुम्हारे विना मेरे जीनेका कुछ प्रयोजन नहीं है; कौन सती सीमन्तिनी पतिहीन होकर जीनेका उत्साह करेगी ? ॥ ८ ॥

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ।
पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ॥ ९ ॥

अत्यन्त दुःखिता पतिव्रता कपोतीने करुणास्वरसे इसी भांति अनेक तरह विलाप करके जलती हुई अग्निमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ततश्चित्राम्बरधरं भर्तारं सान्वपश्यत ।
विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः ॥ १० ॥

अनन्तर उसने अपने पतिको देखा; वह विचित्र वस्त्र धारण किये विमानपर बैठा था और महानुभाव सुकृतिजन उसकी बहुत प्रशंसा करते थे ॥ १० ॥

चित्रमाल्याम्बरधरं सर्वाभरणभूषितम् ।
विमानशतकोटीभिरावृतं पुण्यकीर्तिभिः ॥ ११ ॥

वह उस समय विचित्रमाला, वस्त्र और सर्व प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होकर, शतकोटि विमानोंपर विहार करनेवाले पुण्यवान् पुरुषोंसे घिरा था ॥ ११ ॥

ततः स्वर्गगतः पक्षी भार्यया सह संगतः ।
कर्मणा पूजितस्तेन रेमे तत्र स भार्यया ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥ ५२५३ ॥

इस प्रकार कपोत पत्नीके सहित विमानपर चढके स्वर्ग लोकमें जाकर वहां निज कर्मके अनुसार सत्कृत होकर प्रियाके सहित विहार करने लगा ॥ १२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४४ ॥ ५२५३ ॥

: १४५ :

भीष्म उवाच—

विमानस्थौ तु तौ राजँल्लुब्धको वै ददर्श ह ।
दृष्ट्वा तौ दंपती दुःखादचिन्तयत सद्गतिम् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! निषादने उस कपोत दम्पतीको विमानपर चढे हुए निवास करते देखा और उन्हें देखकर वह दुःखित होकर उनकी सद्गतिके विषयमें विचार करने लगा ॥१॥

कीदृशेनेह तपसा गच्छेयं परमां गतिम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे ॥ २ ॥

मैं भी किस प्रकार तपस्याके सहारे परम गतिको प्राप्त होऊंगा ? उसने मनही मन ऐसाही निश्चय करके गमन करनेकी तैयारी की ॥ २ ॥

महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवनः ।
निश्चेष्टो मारुताहारो निर्ममः स्वर्गकाङ्क्षया ॥ ३ ॥

पक्षिजीवी व्याधा महाप्रस्थानका आश्रय करके, स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे चेष्टारहित और ममताहीन होकर वायु भक्षण कर रहने लगा ॥ ३ ॥

ततोऽपश्यत्सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्मविभूषितम् ।
नानाद्विजगणाकीर्णं सरः शीतजलं शुभम् ।
पिपासार्तोऽपि तद्दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः ॥ ४ ॥

अनन्तर सुन्दर, शीतल जलसे युक्त, अत्यन्त मंगल तथा अनेक प्रकारके कमल—समूहोंसे परिपूरित एक बडा सरोवर उसके दृष्टिगोचर हुआ; प्यासा पुरुष भी उसे देखनेसे ही निःसन्देह तृप्त होता था ॥ ४ ॥

उपवासकृशोऽत्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः ।
उपसर्पत संहृष्टः श्वापदाध्युषितं वनम् ॥ ५ ॥

महाराज ! व्याधा उस समय उपवासके कारण अत्यन्त कृश हुआ था, उसने उस रमणीय तालावकी ओर विशेष रूपसे न देखकर ही विविध श्वापदयुक्त एक महाघोर वनके बीच हर्षपूर्वक प्रवेश किया; ॥ ५ ॥

महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः प्रविवेश ह ।
प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः च कण्टकैः ॥ ६ ॥

महान् लक्ष्य साधनेका निश्चय करके वह उस वनमें प्रविष्ट हुआ; प्रवेश करते ही वह कांटोंसे युक्त झाडियोंमें फंस गया ॥ ६ ॥

स कण्टकविभुग्नाङ्गो लोहिताद्रीकृतच्छविः ।
बभ्राम तस्मिन्विजने नानामृगसमाकुले ॥ ७ ॥

उसका शरीर कांटोंसे क्षत विक्षत होकर रक्त-पूरित होगया; तौभी वह उस अनेक मृग आदिकोंसे युक्त निर्जन वनके बीच भ्रमण करने लगा ॥ ७ ॥

ततो द्रुमाणां महतां पवनेन वने तदा ।
उदतिष्ठत संघर्षात्सुमहान्हव्यवाहनः ॥ ८ ॥

अनन्तर वनमें वेगपूर्वक वायुके चलनेसे बडे बडे वृक्षोंके आपसमें रगड खानेसे प्रबल दावाग्नि प्रकट हुई ॥ ८ ॥

तद्वनं वृक्षसंकीर्णं लताविटपसंकुलम् ।
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ९ ॥

धीरे धीरे प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित अग्नि क्रुद्ध होकर विविध वृक्षों और लता-पल्लवोंसे परिपूरित वनको जलाने लगी ॥ ९ ॥

सज्वालैः पवनोध्दूतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्वितः ।
ददाह तद्वनं घोरं मृगपक्षिसमाकुलम् ॥ १० ॥

अग्निदेव ज्वालामालायुक्त वायुसे बढके अग्निपुञ्जके सहारे मृगपक्षियोंसे युक्त घोर वनको जलाने लगे ॥ १० ॥

ततः स देहमोक्षार्थं संप्रहृष्टेन चेतसा ।
अभ्यधावत संवृद्धं पावकं लुब्धकस्तदा ॥ ११ ॥

व्याधा अपने शरीरका त्याग करनेके वास्ते कृतनिश्चय होकर हृष्टचित्तसे बढी हुई अग्निकी ओर दौडा ॥ ११ ॥

ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकिल्बिषः ।
जगाम परमां सिद्धिं तदा भरतसत्तम ॥ १२ ॥

हे भरतसत्तम ! निषाद जब उस अग्निके जरिये भस्म हुआ, तब उसके सारे पाप विनष्ट हो गये; अन्तमें उसने परम सिद्धि लाभ की ॥ १२ ॥

ततः स्वर्गस्थमात्मानं सोऽपश्यद्विगतज्वरः ।
यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत् ॥ १३ ॥

अनन्तर उसने पापरहित होकर स्वर्गलोकमें गमन करके अपनेको यक्ष, गन्धर्व और सिद्धोंके बीच देवराजके समान विराजते हुए देखा ॥ १३ ॥

एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता ।
लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा ॥ १४ ॥

इसी प्रकार पतिव्रता कपोती और कपोत निषादके सहित अपने पुण्यकर्मके सहारे सुरलोकमें गये थे ॥ १४ ॥

यापि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते ।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिका अनुसरण करती है, वह शीघ्र ही कपोतीकी तरह स्वर्ग-लोकमें स्थित हो अपने तेजसे शोभित होती है ॥ १५ ॥

एवमेतत्पुरा वृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः ।
कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा ॥ १६ ॥

मैंने महात्मा कपोत और व्याधेका यह प्राचीन वृत्तान्त कहा; इन्होंने पवित्र कर्मके जरिये धार्मिक पुरुषोंकी गति लाभ की थी ॥ १६ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं विद्यते तस्य मनसापि प्रमादतः ॥ १७ ॥

जो पुरुष सदा इसे सुनता वा कहता है, प्रमादके कारण मनमें भी कभी उसका अशुभ नहीं होता है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृतां वर ।
गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन्निष्कृतिः पापकर्मणः ।
निष्कृतिर्न भवेत्तस्मिन्यो हन्याच्छरणागतम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥ ५२७१ ॥

हे धार्मिकप्रवर युधिष्ठिर ! इसी तरह शरणागत पुरुषकी रक्षा करना ही महान् धर्म है, यह कार्य करके गोहत्या करनेवाला मनुष्य भी पाप कर्मसे छूट जाता है, परन्तु जो पुरुष शरणागतका वध करता है, उसको कभी इस पापसे मुक्ति नहीं मिलती ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४५ ॥ ५२७१ ॥

॥ १४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अबुद्धिपूर्वं यः पापं कुर्याद्भरतसत्तम ।
मुच्यते स कथं तस्मादेनसस्तद्वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतसत्तम ! जो पुरुष अज्ञानताके कारण पापाचरण करता है, वह किस प्रकार उससे मुक्त होता है ? आप मुझसे वही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्र ते वर्णयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— शुनकपुत्र द्विजवर इन्द्रोत ने जो जनमेजयसे कहा था, मैं इस विषयमें तुम्हारे निकट ऋषियोंसे सत्कृत वह प्राचीन वृत्तान्त वर्णन करूंगा ॥ २ ॥

आसीद्राजा महावीर्यः पारिक्षिज्जनमेजयः।
अबुद्धिपूर्वं ब्रह्महत्या तमागच्छन्महीपतिम् ॥ ३ ॥

परीक्षितके पुत्र जनमेजय नामके महाबलवान् पराक्रमी एक राजा थे; उन्हें अज्ञानताके कारण ब्रह्महत्याका पाप लग गया था ॥ ३ ॥

तं ब्राह्मणाः सर्वं एव तत्यजुः सपुरोहिताः।
जगाम स वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ४ ॥

इसीसे पुरोहितके सहित सभी ब्राह्मणोंने उन्हें परित्याग किया, तब वे रात-दिन शोककी अग्निसे जलते हुए वनमें चले गये ॥ ४ ॥

स प्रजाभिः परित्यक्तश्चकार कुशलं महत्।
अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥ ५ ॥

अंतमें प्रजासमूह ने भी उन्हें परित्याग किया, इसलिये वे महत् कल्याण साधनमें लग गये। राजा शोकसे जलते हुए घोर तपस्या करनेमें लगे रहे ॥ ५ ॥

तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम्।
दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ६ ॥

उस विषयमें यह धर्मकी वृद्धि करनेवाला वृत्तान्त मैं वर्णन करता हूं, सुनो! किसी समय राजा जनमेजयने अपने पाप कार्यसे दह्यमान होकर भ्रमण करते हुए ॥ ६ ॥

वरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम्।
समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ७ ॥

कठोर व्रती शुनकनन्दन महर्षि इन्द्रोतके निकट जाके उनके दोनों चरण ग्रहण किये और उन्हें धीरे धीरे दबाने लगे ॥ ७ ॥

ततो भीतो महाप्राज्ञो जगर्हे सुभृशं तदा।
कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥ ८ ॥

तब महाप्राज्ञ महर्षि भययुक्त होकर उस समय राजाकी ओर देखकर अत्यन्त निन्दा करके बोले— तुम ब्रह्महत्या करनेवाले और महान् पापाचारी होकर किस निमित्त इस स्थानमें आये हो? ॥ ८ ॥

किं तवास्मासु कर्तव्यं मा मा स्प्राक्षीः कथंचन।
गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मानिह ध्रुवम् ॥ ९ ॥
हमारे निकट तुम्हारा क्या प्रयोजन है? मुझे किसी तरह छूना नहीं। तुम मुझसे कोई बात मत पूछो; जाओ, शीघ्र जाओ; यह तुम्हारे योग्य स्थान नहीं है; तुम्हारे आनेसे मैं प्रसन्न नहीं हुआ हूं॥ ९॥

रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम्।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥ १०॥
तुम्हारे शरीरसे रुधिरकी तरह दुर्गन्धि वहार होती है, आकार मुर्देकी तरह दीख पडता है; तुम अमङ्गलाचारी होकर मङ्गलाचारी और मृत होकर जीवितकी तरह भ्रमण कर रहे हो ॥१०॥

अन्तर्मृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन्।
प्रबुध्यसे प्रस्वपिषि वर्तसे चरसे सुखी ॥ ११ ॥
तुम मलिनस्वभाव और मृत्युसे आक्रान्त हुए हो, तुम पापकी चिन्ता करते हुए सोते और जागते हो; और सुखसे रहते तथा घुमते हो॥ ११॥

मोघं ते जीवितं राजन्परिक्लिष्टं च जीवसि।
पापायेव च सृष्टोऽसि कर्मणे ह यवीयसे ॥ १२ ॥
हे राजन्! तुम्हारा जीवन निरर्थक है, तुम अत्यन्त क्लेशसे जीवन बिता रहे हो। नीच पापकर्म करनेके वास्ते विधाताने तुम्हें उत्पन्न किया है॥ १२॥

बहु कल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितरः सुतान्।
तपसा देवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥ १३ ॥
माता-पिता अनेक कल्याणकी इच्छा करके तपस्या, देवपूजा, वन्दना और तितिक्षाके जरियें पुत्रकामना किया करते हैं॥ १३॥

पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम्।
निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥ १४ ॥
परन्तु देखो, तुम्हारे लिये तुम्हारे सब पितर नरकगामी हो गये हैं; तुममें उन लोगोंका जो सब आशाबन्धन था, वह भी निरर्थक हुआ है॥ १४॥

यान्पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः सुखम्।
तेषु ते सततं द्वेषो ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १५ ॥
लोग जिनकी पूजा करते हुए स्वर्ग, आयु, यश और सुखका लाभ करते हैं, तुम बिना कारणके ही उन ब्राह्मणोंसे सदा द्वेष किया करते हो॥ १५॥

इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्धा पतिष्यसि ।
अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १६ ॥

इसलिये तुम इस लोकको परित्याग करनेपर पापकर्मके कारण शिर नीचे करके सब कर्मोंके फल भोगनेके लिये बहुत समयतक नरकमें डूबते रहोगे ॥ १६ ॥

अद्यमानो जन्तुगृध्रैः शितिकण्ठैरयोमुखैः ।
ततोऽपि पुनरावृत्तः पापयोनिं गमिष्यसि ॥ १७ ॥

वहांपर लोहेके समान चोंचवाले गिद्ध और मयूरसमूह तुम्हें प्रतिक्षण भक्षण करेंगे। अनन्तर तुम फिर पापयोनिको प्राप्त होगे ॥ १७ ॥

यदिदं मन्यसे राजन्नायमस्ति परः कुतः ।
प्रतिस्मारयितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥ ५२८९ ॥

हे राजन् ! तुम यह समझता है कि यह लोकही नहीं है, यहां पापका फल नहीं मिलता है, तो परलोक कहां है ? ऐसा होनेसे यमस्थानपर यमदूत लोग प्रतिक्षण तुम्हें उसे स्मरण करा देंगे ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥ ५२८९ ॥

: १४७ :

भीष्म उवाच—

एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमेजयः ।
गर्ह्यं भवान्गर्हयति निन्द्यं निन्दति मा भवान् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— इन्द्रोत मुनिने जब जनमेजयसे ऐसा कहा, तब वह मुनिको सम्बोधन करके बोले— हे तपोधन ! आप घृणा-तिरस्कारके योग्य मेरा तिरस्कार करते हैं; आप निन्दनीय मेरी निन्दा करते हैं ॥ १ ॥

धिक्कार्यं मा धिक्कुरुते तस्मात्त्वाहं प्रसादये ।
सर्वं हीदं स्वकृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥

मैं धिकारने ही योग्य हूं, इससे आप मुझे और मेरे कार्यकी निन्दा कर रहे हैं, इसलिये मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूं; मैंने जो कुछ किया है, वह सब दुष्कर्म हैं; इस समय मैं चिन्तासे दग्ध हो रहा हूं, मानो अग्निमें पडके जल रहा हूं ॥ २ ॥

स्वकर्माण्यभिसंधाय नाभिनन्दति मे मनः ।
प्राप्तं नूनं मया घोरं भयं वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥

निज कर्मोंको स्मरण करके मेरा अन्तःकरण किसी तरह सन्तुष्ट नहीं होता है; निश्चय ही मैं यमसे भी अत्यन्त भयभीत होता हूं; ॥ ३ ॥

तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् ।
सर्वमन्यून्विनीय त्वमभि मा वद शौनक ॥ ४ ॥

यमभयरूपी शल्यको विना निकाले किस प्रकार जीवन धारण करनेमें समर्थ होऊंगा ? हे शौनक महर्षि ! आप समस्त क्रोध परित्याग करके मुझे सदुपदेश प्रदान करिये ॥ ४ ॥

महानसं ब्राह्मणानां भविष्याम्यर्थवान्पुनः ।
अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंका हृदय महान् कृपालु है, इसलिये फिर मेरा जीवन सार्थक होगा ही; आपसे प्रार्थना करता हूं कि मेरे इस वंशका शेष रहना चाहिये; इसका विनाश नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

न हि नो ब्रह्मशप्तानां शेषो भवितुमर्हति ।
श्रुतीरलभमानानां संविदं वेदनिश्चियात् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणोंके शाप देनेपर हमारे कुलका शेष रहना उचित नहीं है; हम पापके कारण जनसमाजमें तथा बन्धुओंके साथ अपयशके पात्र और वेद निर्णयके अनुसार निज जातिसे परित्यज्य हुए हैं ॥ ६ ॥

निर्विद्यमानः सुभृशं भूयो वक्ष्यामि सांप्रतम् ।
भूयश्चैवाभिनङ्क्षन्ति निर्धर्मा निर्जपा इव ॥ ७ ॥

मैं अत्यन्त दुःखित हुआ हूं, जैसे निधर्मी तथा पापी अत्यंत उद्विग्न होते हैं; इसलिये अभी युक्तियुक्त वचन बार बार प्रकाश करके कहता हूं ॥ ७ ॥

अर्वाक्च प्रतितिष्ठान्ति पुलिन्दशबरा इव ।
न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथंचन ॥ ८ ॥

यज्ञहीन मनुष्य किसी प्रकार इस लोकको नहीं प्राप्त होते, वे पुलिन्द और शबर आदि म्लेच्छ जातियोंकी तरह नरकमें निवास किया करते हैं ॥ ८ ॥

अविज्ञायैव मे प्रज्ञां बालस्येव सुपण्डितः ।
ब्रह्मन्पितेव पुत्रेभ्यः प्रति मां वाञ्छ शौनक ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप उत्तम पण्डित हैं, इसलिये मैंने बालककी तरह न जानकर जो कुछ कहा है, आप उसे क्षमा करिये; पुत्रके विषयमें पिताकी तरह आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये ॥ ९ ॥

शौनक उवाच—

किमाश्चर्यं यतः प्राज्ञो बहु कुर्याद्धि सांप्रतम् ।
इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नोपतप्यति ॥ १० ॥

शौनक बोले— संयमी, प्राज्ञ पुरुष जो बहुतसे युक्त कर्म किया करता है, उसमें आश्चर्य नहीं है; ज्ञानवान् होके भी जो जीवोंके विषयमें योग्य व्यवहार नहीं करता, वही आश्चर्य है ॥ १० ॥

+

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपश्यति ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिरूपी महलपर चढके स्वयं अशोच्य होकर दूसरेके लिये शोक किया करता है; वह अपने ज्ञानसे सब जानता है, जैसे पहाडपर वास करनेवाला पृथ्वीपरकी सब वस्तुओंको देखता है ॥ ११ ॥

न चोपलभते तत्र न च कार्याणि पश्यति ।
निर्विण्णात्मा परोक्षो वा धिक्कृतः सर्वसाधुषु ॥ १२ ॥

जो पुरुष साधुओंको समीप निन्दनीय होकर दुःखित होता और उनकी दृष्टिके अगोचर हुआ करता है, वह कभी कल्याणलाभ और कर्त्तव्यको नहीं देख सकता ॥ १२ ॥

विदित्वोभयतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे ।
कुरुष्वेह महाशान्तिं ब्रह्मा शरणमस्तु ते ॥ १३ ॥

वेद शास्त्रोंमें कहे हुए ब्राह्मणोंके पराक्रम और महात्म्य तुम्हें अविदित नहीं हैं; इसलिये इस समय जिससे शान्तिलाभ हो, वही प्रयत्नपूर्वक करो; जिससे ब्राह्मण लोग तुम्हारी रक्षा करें ॥ १३ ॥

तद्वै पारत्रिकं चारु ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।
अथ चेत्तप्यसे पापैर्धर्मं चेदनुपश्यसि ॥ १४ ॥

हे प्रिय ! क्रोधरहित ब्राह्मण लोगोंकी सेवाके लिये जो किया जाता है, उसीसे अन्तकालमें उपकार होता है; इस समय तुम पापसे परितापित हो रहे हो, इसलिये एक मात्र धर्मकाही अवलम्बन करो ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच -

अनुतप्ये च पापेन न चाधर्मं चराम्यहम् ।
बुभूषुं भजमानं च प्रतिवाञ्छामि शौनक ॥ १५ ॥

जनमेजय बोले– हे शुनकनन्दन ! मुझे अभी पापके कारण पश्चात्ताप हो रहा है; अब अधर्माचरण नहीं करूंगा; कल्याणकी इच्छा करके आपकी आराधना कर रहा हूं; आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये ॥ १५ ॥

शौनक उवाच—

छित्त्वा स्तम्भं च मानं च प्रीतिमिच्छामि ते नृप ।
सर्वभूतहिते तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मर ॥ १६ ॥

शौनक बोले– हे राजन् ! मैं तुम्हारी जडता और अभिमानका नाश करके तुम्हारी प्रीतिको अभिलाष करता हूं; तुम एकमात्र धर्मको स्मरण करके सब प्राणियोंके हितानुष्ठानमें अनुरक्त रहो ॥ १६ ॥

न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभात्त्वामुपाह्वये ।
तां मे देवा गिरं सत्यां शृण्वन्तु ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥

भय, दीनता अथवा लोभके वशमें होकर मैं तुम्हें अनुशासन नहीं करता हूं, ब्राह्मणोंके सहित देवता मेरा सत्य वचन सुनें ॥ १७ ॥

सोऽहं न केनचिच्चार्थी त्वां च धर्मामुपाह्वये ।
क्रोशतां सर्वभूतानामहो धिगिति कुर्वताम् ॥ १८ ॥

मैं तुमसे किसी वस्तुके लिये इच्छा नहीं करता । हा ! हा ! धिक् धिक् ! कहके जो सब जीवसमूह चिल्लाया करते हैं, उनके सम्मुखमें ही मैं तुम्हें धर्मके लिये उपदेश देता हूं ॥ १८ ॥

वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञा वक्ष्यन्त्यसुहृदो जनाः ।
वाचस्ताः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९ ॥

अधार्मिक और शत्रु लोग इसके लिये मुझे बहुत कुछ कहेंगे; तुम्हें धर्मका उपदेश देनेकी बात सुनकर मेरे सुहृद् मुझपर अत्यंत क्रोध करेंगे ॥ १९ ॥

केचिदेव महाप्राज्ञाः परिज्ञास्यन्ति कार्यताम् ।
जानीहि मे कृतं तात ब्राह्मणान्प्रति भारत ॥ २० ॥

कोई कोई महाबुद्धिमान् मनुष्यही यथार्थ रूपसे मेरा अभिप्राय तथा कार्य जान सकेंगे । हे भारत ! ब्राह्मणोंके विषयमें उपकार करनेके लिये ही यह मैं कर रहा हूं, उसे तुम मालूम करो; ॥ २० ॥

यथा ते मत्कृते क्षेमं लभेरंस्तत्तथा कुरु ।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २१ ॥

ब्राह्मण लोग मेरे लिये जिस प्रकार कल्याण लाभ करें, तुम वैसा ही प्रयत्न करो; हे नरनाथ ! ब्राह्मणोंकी कभी बुराई नहीं करूंगा, कहके तुम प्रतिज्ञा करो ॥ २१ ॥

जनमेजय उवाच—

नैव वाचा न मनसा न पुनर्जातु कर्मणा ।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान्विप्र चरणावेव ते स्पृशे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥ ५३११ ॥

जनमेजय बोले— हे विप्रवर ! मैं आपके दोनों चरण छूके प्रतिज्ञा करता हूं, कि वचन, मन और कर्मसे फिर कभी ब्राह्मणोंके विषयमें अनिष्ट आचरण नहीं करूंगा ॥ २२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४७ ॥ ५३११ ॥

: १४८ :

शौनक उवाच—

तस्मात्तेऽहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृत्तचेतसे।
श्रीमान्महाबलस्तुष्टो यस्त्वं धर्ममवेक्षसे।
पुरस्ताद्दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत् ॥ १ ॥

शौनक बोले– हे राजन् ! इस समय तुम्हारा चित्त धर्म मार्गमें लौटा हुआ है, इस ही कारण मैं तुम्हें उपदेश दान करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं; तुम श्रीमान्, महाबलवान् और संतुष्ट चित्त होकर स्वयं धर्मदर्शी हो। राजा पहिले कठोर स्वभाववाला होके, ॥ १ ॥

अनुगृह्णन्ति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिव।
कृत्स्ने नूनं सदसती इति लोको व्यवस्यति।
यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्ममव्यानुपश्यसि ॥ २ ॥

पीछे जीवोंके विषयमें कृपा प्रकाशित किया करता है, यह अत्यन्तही आश्चर्य है। लोग कहा करते हैं, कि राजा सदा निष्ठुर स्वभाववाला होता है, वह सब लोगोंको दुःखित करता है। तुम भी पहिले वैसाही होकर इस समय धर्मदर्शी हुए हो ॥ २ ॥

हित्वा सुरुचिरं भक्ष्यं भोगांश्च तप आस्थितः।
इत्येतदपि भूतानामद्भुतं जनमेजय। ॥ ३ ॥

हे जनमेजय ! तुमने जो राज्य भोग भक्ष्य भोज्य परित्याग करके बहुत दिनोंसे तपस्या अवलम्बन की है, वह अधर्म युक्त राजाओंके विषयमें अद्भुत कार्य है ॥ ३ ॥

यो दुर्बलो भवेद्दाता कृपणो वा तपोधनः।
अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नातिदूरे हि वर्तते ॥ ४ ॥

समृद्धियुक्त पुरुष दाता हो वा कृपण जो तपस्वी होता है, वह आश्चर्य नहीं हैं; क्योंकि उन लोगोंका दान और तपसे युक्त होना, कठिन नहीं है ॥ ४ ॥

एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमीक्षितम्।
तस्मात्समीक्षयैव स्याद्भवेत्तस्मिंस्ततो गुणः ॥ ५ ॥

पूर्व पर विचार न करके कार्य करनेसे दोष घटनाकी सम्भावना रहती है और अच्छी तरह परीक्षा करके कार्य करनेपर उसमें अनेक गुण उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! यज्ञ, दान, दया, वेदाध्ययन और सत्य वचन– इन पांच कर्मोंको पवित्र माना गया है तथा उत्तम रीतिसे तपस्या करना ही परम पवित्र धर्म है ॥ ६ ॥

तदेव राज्ञां परमं पवित्रं जनमेजय ।
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥ ७ ॥

हे जनमेजय! राजाओंके लिये ये छहों कर्म परम पवित्र हैं; तुम पूर्ण रीतिसे उस ही तपस्याको अवलम्बन करनेसे श्रेष्ठ धर्म-लाभ करोगे ॥ ७ ॥

पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम् ।
अपि ह्युदाहरन्तीमा गाथा गीता ययातिना ॥ ८ ॥

पवित्र देशोंमें गमन करना भी परम पवित्र कर्म है, इसे ऋषियोंने स्मरण किया है। इस विषयमें ययाति राजाने जो गाथा कही थी, पण्डित लोग उसे ही उदाहरणमें कहा करते हैं ॥ ८ ॥

यो मर्त्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवेत वा पुनः ।
यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत्संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य बहुत दिन जीनेकी इच्छा करता है, वह यत्नपूर्वक यज्ञ करके, अन्तमें उसे छोडके तपस्या करे ॥ ९ ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं सरस्वत्यां पृथूदकम् ।
यत्रावगाह्य पीत्वा वा नैवं श्वोमरणं तपेत् ॥ १० ॥

पण्डित लोग कुरुक्षेत्रको पवित्र तीर्थ कहा करते हैं और सरस्वतीसे पृथूदक तीर्थ पवित्र है; उसमें नहाने और उसका जल पीनेसे मनुष्य अकाल–मृत्युसे कदापि दुःखी नहीं होता ॥१०॥

महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ।
कालोदं त्वेव गन्तासि लब्धायुर्जीविते पुनः ॥ ११ ॥

तुम महासरोवर पुष्कर, प्रभास, उत्तर मानस और कालोद आदि सब तीर्थोंमें स्नान करोगे, तो पुनः दीर्घायु प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ सेवमानोऽनुसंचरेः ।
स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेषु समुपस्पृशेः ॥ १२ ॥

सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके सङ्गम तीर्थोंमें जाकर स्नान करके भ्रमण करें। सब तीर्थ स्थानोंमें स्वाध्यायमें रत होकर स्नान करे ॥ १२ ॥

त्यागधर्मं पवित्राणां संन्यासं परमब्रवीत् ।
अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः ॥ १३ ॥

मनुने कहा है; कि सब पवित्र धर्मोंमें त्याग धर्म पवित्र है और सन्यास-धर्म उससे अधिक पवित्र है। इस विषयमें सत्यवानने जो अपनी निज सम्मति प्रकाशित की है, पण्डित लोग उसे ही उदाहरण दिया करते हैं ॥ १३ ॥

यथा कुमारः सत्यो वै न पुण्यो न च पापकृत् ।
न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन्कुतः सुखम् ॥ १४ ॥

रागद्वेषसे रहित बालक जैसे पापपुण्यमें आसक्त नहीं होता, तुम भी उसी प्रकार पाप-पुण्यके अनुष्ठानसे निवृत्त होजाओ। इस जगत्के सब जीवोंमें सुख-दुःख कुछ भी नहीं है ॥ १४ ॥

एवं प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ।
त्यजतां जीवितं प्रायो विवृते पुण्यपातके ॥ १५ ॥

जीवोंके पुत्र कलत्र आदिके संयोग वियोगके कारण सुख दुःख कल्पना मात्र है; निखिल-पापी संसर्गमें रहनेवाले पुरुषोंके पुण्य और पाप निवृत्त होनेपर वे ब्रह्मस्वरूप लाभ करके जीवन परित्याग करके परम कल्याण भाजन होते हैं ॥ १५ ॥

यत्त्वेव राज्ञो ज्यायो वै कार्याणां तद्वदामि ते ।
बलेन संविभागैश्च जय स्वर्गं पुनीष्व च ॥ १६ ॥

इस समय राजाओंके कर्त्तव्य कार्योंके बीच जो उत्तम है, वह तुमसे कहता हूं। हे प्रजानाथ! तुम धीरज और दानके सहारे स्वर्ग लोकपर अधिकार करो और पवित्र होवो ॥ १६ ॥

यस्यैवं बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ।
ब्राह्मणार्थं सुखार्थं त्वं पर्येहि पृथिवीमिमाम् ॥ १७ ॥

जिसमें धीरज, ओज और दान शक्ति है, वही मनुष्य धार्मिक है। तुम ब्राह्मणोंके सुखके निमित्त ही इस पृथ्वीका पालन करो ॥ १७ ॥

यथैवैनान्पुराक्षैप्सीस्तथैवैतान्प्रसादय ।
अपि धिक्क्रियमाणोऽपि त्यज्यमानोऽप्यनेकधा ॥ १८ ॥

पहिले तुमने जिस प्रकार ब्राह्मणोंकी निन्दा की थी, उस भांति इस समय उन्हें सदाचरणसे प्रसन्न करो। ब्राह्मणोंसे वारंवार धिक्कृत और परित्यक्त होनेपर भी ॥ १८ ॥

आत्मनो दर्शनं विद्वन्नाहन्तास्मीति मा क्रुधः ।
घटमानः स्वकार्येषु कुरु नैःश्रेयसं परम् ॥ १९ ॥

तुम आत्म दृष्टिके जरिये निश्चय करो कि अब मैं ब्राह्मणोंका कभी वध नहीं करूंगा; कभी क्रोध नहीं करना; फिर निज कार्योंमें नियुक्त रहके परम कल्याणका साधन करो ॥ १९ ॥

हिमाग्निघोरसदृशो राजा भवति कश्चन ।
लाङ्गलाशनिकल्पो वा भवत्यन्यः परन्तप ॥ २० ॥

कोई राजा बर्फके समान शीतल, कोई अग्निकी तरह ताप देनेवाला और यमकी भांति भयानक होता है; और कोई शत्रुतापन राजा हलकी तरह शत्रुओंके मूलको नष्ट करता तथा कोई वज्रके अकस्मात् गिरनेकी भांति दुष्टोंको शासन किया करता है ॥ २० ॥

न निःशेषेण मन्तव्यमचिकित्स्येन वा पुनः ।
न जातु नाहमस्मीति प्रसक्तव्यमसाधुषु ॥ २१ ॥

दुष्टोंके सङ्ग विशेषरूपसे प्रीति करनेसे वह स्थिरताके सहित वर्त्तमान नहीं रहती, इसलिये कल्याणकी इच्छा करनेवाले राजाको कभी मेरा अभाव नहीं हो जाय, ऐसा समझकर खलोंके साथ कभी प्रीति करनी उचित नहीं है ॥ २१ ॥

विकर्मणा तप्यमानः पादात्पापस्य मुच्यते ।
नैतत्कार्यं पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ।
चरिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात्परिमुच्यते ॥ २२ ॥

यदि कभी पापकर्म बन जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करनेपर उस पापसे छुटकारा होता है; दूसरी बार पापकर्म बन जाय तो फिर ऐसा कर्म नहीं करूंगा इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेसे उससे निस्तार हो सकता है; तीसरी बार पापकर्म करनेपर "धर्माचरण ही करूंगा" कहके दृढ प्रतिज्ञ होनेपर वह नष्ट होता है ॥ २२ ॥

कल्याणमनुमन्तव्यं पुरुषेण बुभूषता ।
ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ।
ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ॥ २३ ॥

सुखकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको कल्याणपथका पथिक होना उचित है। जो लोग सुगन्धित वस्तुओंका सेवन करते हैं, उनका शरीर सुगन्धयुक्त होता है; और जो लोग दुर्गन्ध वस्तुओंका सेवन किया करते हैं, उनका शरीर दुर्गन्धमय हो जाता है ॥ २३ ॥

तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद्धि परिमुच्यते ।
संवत्सरमुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते ।
त्रीणि वर्षाण्युपास्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २४ ॥

तपस्या करनेवाला पुरुष पापसे तत्काल ही मुक्त हुआ करता है। अभिशापयुक्त पुरुष एक वर्षतक अग्निकी उपासना करनेसे कलंकसे मुक्तिलाभ करता है। भ्रूण-हत्या करनेवाला मनुष्य तीन वर्षतक अग्निकी उपासना करनेसे मुक्त हो सकता है ॥ २४ ॥

यावतः प्राणिनो हन्यात्तज्जातीयान्स्वभावतः ।
प्रमीयमाणानुन्मोच्य भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २५ ॥

प्राणी-घातक मनुष्य जितने प्राणियोंका वध करता है, उस जातिके उतने ही प्राणियोंको मरनेके संकटसे छुडा दे, तो वह उस पापसे छूट जाता है ॥ २५ ॥

अपि वाप्सु निमज्जेत त्रिर्जपन्नघमर्षणम् ।
यथाश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत् ॥ २६ ॥

मनुने कहा है, कि मनुष्य तीन बार अघमर्षण मन्त्रका जप करते हुए यदि जलमें स्नान करे, तो वह अश्वमेध यज्ञमें अवभृतस्नान करनेका फल पाता है ॥ २६ ॥

क्षिप्रं प्रणुदते पापं सत्कारं लभते तथा ।
अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जडमूकवत् ॥ २७ ॥

वह अघमर्षण मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही अपने पापोंसे मुक्त होकर पवित्र होके जनसमाजमें आदरयुक्त हुआ करता है, और जीव मात्रही जड तथा मूक की तरह उससे प्रसन्न होते हैं ॥ २७ ॥

बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः समेत्य सर्वे नृपतेऽन्वयुञ्जन् ।
धर्मे फलं वेत्थ कृते महर्षे तथेतरस्मिन्नरके पापलोके ॥ २८ ॥

हे राजन् ! पहिले सब देवता और असुरोंने देव गुरु बृहस्पतिके समीप जाके विनीत वचनसे कहा था, हे महर्षि ! आप धर्मके फलको जानते हैं और जिसके जरिये परलोकमें नरकमें गमन करना पडता है, वह पापका फल भी आपको अविदित नहीं है; ॥ २८ ॥

उभे तु यस्य सुकृते भवेतां किं स्वित्तयोस्तत्र जयोत्तरं स्यात् ।
आचक्ष्व नः कर्मफलं महर्षे कथं पापं नुदते पुण्यशीलः ॥ २९ ॥

जिसके पाप पुण्य दोनों ही समान हैं, वह क्या पुण्यके जरिये पापको जय नहीं कर सकता ? सो पुण्यका फल कैसा है, और पुण्यशील मनुष्य किस प्रकार पाप खण्डन करता है ? वह आप हम लोगोंसे कहिये ॥ २९ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं पुण्यानि यः कुरुते बुद्धिपूर्वम् ।
स तत्पापं नुदते पुण्यशीलो वासो यथा मलिनं क्षारयुक्त्या ॥ ३० ॥

बृहस्पति बोले— पहिले अज्ञानपूर्वक पाप कर्म करके, फिर यदि ज्ञानपूर्वक पुण्यका अनुष्ठान करे, तो जिस प्रकार क्षारके संयोगसे मैले वस्त्रोंका मल दूर किया जाता है, वैसे ही पुण्य करनेवाला पुरुष धर्माचरणके सहारे पापखण्डन करनेमें समर्थ होता है ॥ ३० ॥

पापं कृत्वा न मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ३१ ॥

पुरुष पापकर्म करके अभिमान न करे; श्रद्धायुक्त और असूयारहित होकर कल्याणमय धर्मकी ही इच्छा करे ॥ ३१ ॥

छिद्राणि वसनस्येव साधुना विवृणोति यः ।
यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥ ३२ ॥

जो साधुओंके विवृत छिद्रोंको छिपाया करता है, तथा जो पुरुष पापाचार करके उससे विरत हो कल्याणकी इच्छा करता है, वे दोनों पापरहित होते हैं ॥ ३२ ॥

यथादित्यः पुनरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति ।
कल्याणमाचरन्नेवं सर्वं पापं व्यपोहति ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य भोरके समय उदय होकर समस्त अन्धकारको नष्ट करता है, धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष उसी तरह सब पापखण्डन किया करता है ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम् ।
याजयामास विधिवद्वाजिमेधेन शौनकः ॥ ३४ ॥

भीष्म बोले— शुनकपुत्र महर्षि इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे ऐसा ही कहके विधिपूर्वक उससे अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ ३४ ॥

ततः स राजा व्यपनीतकल्मषः श्रिया युतः प्रज्वलिताग्निरूपया ।
विवेश राज्यं स्वममित्रकर्शनो दिवं यथा पूर्णवपुर्निशाकरः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥ ५३४६ ॥

अनन्तर शत्रुनाशन राजा जनमेजयने पापरहित और कल्याणयुक्त होकर जैसे पूर्णचन्द्र आकाशमें उदय होता है, वैसे ही जलती अग्निके समान तेजःपुञ्ज—युक्त शरीरसे निज नगरमें प्रवेश किया ॥ ३५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४८ ॥ ५३४६ ॥

: १४९ :

भीष्म उवाच—

शृणु पार्थ यथावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
गृध्रजम्बुकसंवादं यो वृत्तो वैदिशे पुरा ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे कुन्तीपुत्र ! पहिले समय नैमिषारण्यमें गिद्ध और जम्बुकका संवादयुक्त प्राचीन इतिहास जिस प्रकार कहा गया था, उसे सुनो ॥ १ ॥

दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ २ ॥

वंशके सर्वस्वभूत तथा अप्राप्त अवस्थावाले मृत बालकको उठाके उसके कुछ बान्धव दुःखित और शोकित होकर रोदन करने लगे ॥ २ ॥

+

बालं मृतं गृहीत्वाथ श्मशानाभिमुखाः स्थिताः ।
अङ्केनाङ्कं च संक्रम्य रुरुदुर्भूतले तदा । ॥ ३ ॥

उस मृत बालकको लेकर उन्होंने श्मशानकी ओर प्रस्थान किया। वे लोग वहां पहुंचकर खडे हो गये और अत्यन्त दुःखी होकर रोने लगे ॥ ३ ॥

तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
एकात्मकमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत माचिरम् ॥ ४ ॥

उस ही समय कोई गृध्र उन लोगोंके रोदनकी ध्वनिके अनुसार वहांपर आके बोला— तुम लोग इस एक मात्र पुत्रको इस स्थानमें परित्याग करके गमन करो, देरी मत करो ॥ ४ ॥

इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव हि ।
समानीतानि कालेन किं ते वै जात्वबान्धवाः ॥ ५ ॥

इस स्थानमें कालके द्वारा सहस्रों पुरुष और स्त्रियां आया करती हैं, बान्धव लोग यथासमयमें उन्हें परित्याग कर जाते हैं ॥ ५ ॥

संपश्यत जगत्सर्वं सुखदुःखैरधिष्ठितम् ।
संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ॥ ६ ॥

देखो, सब जगत् ही सुख और दुःखसे व्याप्त है; पर्याय क्रमसे पुत्रकलत्र आदिके सङ्ग संयोग और वियोग हुआ करता है; ॥ ६ ॥

गृहीत्वा ये च गच्छन्ति येऽनुयान्ति च तान्मृतान् ।
तेऽप्यायुषः प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥

जो लोग मृत सम्बन्धियोंको ग्रहण करके श्मशानमें जाते हैं अथवा उनका अनुगमन करते हैं; वे सभी जीवजन्तु निज परमायुके परिमाणके अनुसार यमलोकमें गमन करते हैं; ॥ ७ ॥

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ॥ ८ ॥

इसलिये इस गृध्र और गीदडोंसे युक्त अनेक प्रेतोंसे घिरे हुए, सब प्राणियोंको भयङ्कर घोर श्मशानमें रहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है; ॥ ८ ॥

न पुनर्जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ ९ ॥

प्रिय हो, वा अप्रिय ही होवे, कोई पुरुष पञ्चत्वको प्राप्त होकर फिर जीवित नहीं होता; सब प्राणियोंकी ऐसीही गति है ॥ ९ ॥

सर्वेण खलु मर्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता ।
कृतान्तविहिते मार्गे को मृतं जीवयिष्यति ॥ १० ॥

मर्त्यलोकमें जिसने जन्म लिया है, उसे अवश्य मरना होगा; इसलिये इस कालकृत नियमके रहते कौन पुरुष मरे हुए प्राणीको जीवित कर सकेगा ? ॥ १० ॥

कर्मान्तविहिते लोके चास्तं गच्छति भास्करे।
गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥ ११ ॥

कार्यकी समाप्तिके कारण सब लोगोंके विरत होनेपर सूर्य अस्ताचलपर गमन कर रहे हैं; इसलिये तुम लोग पुत्रस्नेह त्यागके निज निवासस्थानपर गमन करो ॥ ११ ॥

ततो गृध्रवचः श्रुत्वा विक्रोशन्तस्तदा नृप।
बान्धवास्तेऽभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १२ ॥

हे राजन् ! अनन्तर बान्धव लोग गिद्धका वचन सुनके उस समय जोर–जोरसे रोते हुए पुत्रको पृथ्वीपर छोडके गृहकी ओर गमन करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १२ ॥

विनिश्चित्याथ च ततः संत्यजन्तः स्वमात्मजम्।
निराशा जीविते तस्य मार्गमारुह्य धिष्ठिताः ॥ १३ ॥

बान्धव लोग विशेष रीतिसे निश्चय करके कि अब यह नहीं जी सकेगा, तो उसके जीवनसे निराश हो वे सब लोग बच्चेको छोडकर जानेके लिये मार्गके बीच आकर खडे थे ॥ १३ ॥

ध्वाङ्क्षाभ्रसमवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः।
गच्छमानान्स्म तानाह निर्घृणाः खलु मानवाः ॥ १४ ॥

उस ही समय कौएके समान काले रङ्गका एक सियार बिलसे निकलके उन घर जानेवाले बान्धवोंसे बोला, मनुष्यों ! तुम बहुत दयाहीन मूढ हो ॥ १४ ॥

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम्।
बहुरूपो मुहूर्तश्च जीवेतापि कदाचन ॥ १५ ॥

हे मूर्खों ! यह देखो, सूर्य अभीतक अस्त नहीं हुआ है; इसलिये अब भी तुम लोग बच्चेकों स्नेह करो; भय मत करो; मुहूर्त्तका अत्यन्त चमत्कार प्रभाव है; शुभ मुहूर्त्तके प्रभावसे इसका फिर जीवित होना असम्भव नहीं है ॥ १५ ॥

यूयं भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः।
श्मशाने पुत्रमुत्सृज्य कस्माद्गच्छथ निर्घृणाः ॥ १६ ॥

तुम लोग अपत्यस्नेहहीन और निर्दयी होकर श्मशानमें भूमिपर इस पुत्रको छोडके किस लिये गमन करते हो ? ॥ १६ ॥

न वोऽस्त्यस्मिन्सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमुपगच्छथ ॥ १७ ॥

जिसका वचन कानमें प्रविष्ट होनेसे ही तुम लोग प्रसन्न होते थे, उस मधुर वचन कहनेवाले शिशु सन्तानके ऊपर क्या तुम्हारा स्नेह नहीं है ? ॥ १७ ॥

न पश्यथ सुतस्नेहं यादृशः पशुपक्षिणाम् ।
न येषां धारयित्वा तान्कश्चिदस्ति फलागमः ॥ १८ ॥

पशुपक्षी आदि अपनी सन्तानोंको प्रतिपालन करके कोई फल नहीं पाते; तौ भी उनका कैसा अपत्यस्नेह है, उसे तुम लोग देखते नहीं है ॥ १८ ॥

चतुष्पात्पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम् ।
परलोकगतिस्थानां मुनियज्ञक्रिया इव ॥ १९ ॥

कर्मसंन्यासी मुनियोंके यज्ञ कार्यकी भांति पशुपक्षी कीट आदि स्नेहबद्ध प्राणियोंको पुत्र आदिके पालन–पोषण करनेपर भी परलोकमें फलकी आशा नहीं है, ॥ १९ ॥

तेषां पुत्राभिरामाणामिह लोके परत्र च ।
न गुणो दृश्यते कश्चित्प्रजाः संधारयन्ति च ॥ २० ॥

उन पशु आदिको इस लोक और परलोकमें पुत्रादिकोंमें स्नेह रखकर कुछ लाभ प्राप्त नहीं होता, तौभी वे कैसे यत्नके सहित अपने अपत्योंकी रक्षा किया करते हैं ? ॥ २० ॥

अपश्यतां प्रियान्पुत्रान्नैषां शोकोऽनुतिष्ठति ।
न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ क्वचित् ॥ २१ ॥

पशुपक्षी आदि प्राणियोंकी सन्तानें बडी होकर कभी अपने पितामाताका प्रतिपालन नहीं करती, तौभी प्रिय पुत्रोंको न देखनेपर उनके मनमें शोक उत्पन्न होता ही है ॥ २१ ॥

मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भविष्यति ।
इमं कुलकरं पुत्रं कथं त्यक्त्वा गमिष्यथ ॥ २२ ॥

मनुष्योंमें इतना स्नेह कहां है, जो उन्हें अपने बच्चोंके लिये शोक होता है । तुम लोग इस तुम्हारे वंशधर पुत्रको छोडके कहां जाओगे ? ॥ २२ ॥

चिरं मुञ्चत बाष्पं च चिरं स्नेहेन पश्यत ।
एवंविधानि हीष्टानि दुस्त्यजानि विशेषतः ॥ २३ ॥

तुम लोग बहुत समयतक आंसू बहाते हुए स्नेहयुक्त नेत्रसे इसे देखो; ऐसे प्रियपात्रोंको परित्याग करना अत्यंत कठिन है ॥ २३ ॥

क्षीणस्याथाभियुक्तस्य श्मशानाभिमुखस्य च ।
बान्धवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नावतिष्ठते ॥ २४ ॥

दुर्बल, अभियुक्त और श्मशानमें स्थित पुरुषके निकट उसके बान्धवही स्थित होते हैं; दूसरा कोई वहां साथ नहीं देता ॥ २४ ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥ २५ ॥

अपना जीवन सबको ही प्यारा है, सभी दूसरोंसे स्नेहलाभ किया करते हैं; पशु–पक्षीकी योनिके प्राणियोंमें जो अपने संतानोंपर प्रेम है, उसे देखिये ॥ २५ ॥

त्यक्त्वा कथं गच्छथेमं पद्मलोलायताक्षकम् ।
यथा नवोद्वाहकृतं स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ २६ ॥

नवीन विवाहके समय पुष्प मालासे विभूषितकी तरह इस कमलनेत्रवाले बालकको छोडके तुम लोग किस कारण चले जाते हो ? ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच—

जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा कृपणं परिदेवतः ।
न्यवर्तन्त तदा सर्वे शवार्थं ते स्म मानुषाः ॥ २७ ॥

भीष्म बोले– उस समय दीनतापूर्वक विलाप करते हुए सियारका वचन सुनके सब कोई बान्धव लोग उस मृत बालकके शरीरकी रक्षा करनेके लिये फिर लौटे ॥ २७ ॥

गृध्र उवाच—

अहो धिक्सुनृशंसेन जम्बुकेनाल्पमेधसा ।
क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्त्वा मानुषाः किं निवर्तथ ॥ २८ ॥

गिद्ध बोला– हाय ! क्या आश्चर्य है ! हे पुरुषार्थहीन मनुष्यों ! तुम लोग इस अल्पबुद्धि, क्रूर तथा क्षुद्र सियारका वचन सुनके क्यों निवृत्त होते हो ? ॥ २८ ॥

पञ्चभूतपरित्यक्तं शून्यं काष्ठत्वमागतम् ।
कस्माच्छोचथ निश्चेष्टमात्मानं किं न शोचथ ॥ २९ ॥

पञ्चभूतोंसे परित्यक्त और काष्ठत्वको प्राप्त हुए शून्य और चेष्टाहीन मुर्देके शरीरके लिये क्यों शोक प्रकाश करते हो ? तुम लोग अपने वास्ते क्यों नहीं शोक प्रकाश करते ? ॥२९॥

तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्बिषात् ।
तपसा लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥ ३० ॥

तीव्र तपस्याचरण करो, जिसके जरिये पापोंसे मुक्त हो जाओगे; तपस्याके जरिये सब प्राप्त हो सकता है; विलाप करनेसे क्या होगा ? ॥ ३० ॥

अनिष्टानि च भाग्यानि जानीत सह मूर्तिभिः ।
येन गच्छति लोकोऽयं दत्त्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३१ ॥

अनिष्ट फल और भाग्य शरीरोंके साथ ही उत्पन्न होते हैं; उस ही अदृष्टका अनुगामी होकर यह बालक तुम लोगोंको अनन्त शोक समुद्रमें डालकर गमन करता है ॥ ३१ ॥

धनं गाश्च सुवर्णं च मणिरत्नमथापि च ।
अपत्यं च तपोमूलं तपोयोगाच्च लभ्यते ॥ ३२ ॥

धन, गाय, सुवर्ण, मणिरत्न और पुत्र– इनका मूल कारण तपस्याही है; और तपस्याके योगसे ये प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखता ।
गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥ ३३ ॥

जो प्राणी जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख पाता है; जीव सुख और दुःखको ग्रहण करके जन्म लेता है ॥ ३३ ॥

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति त्यक्त्वा सुकृतदुष्कृते ॥ ३४ ॥

पिताके कर्मसे पुत्रका अथवा पुत्रके कर्ममें पिताका कोई सम्बन्ध नहीं है; अपने अपने सुकृत वा दुष्कृतका त्याग करके विभिन्न मार्गसे जाते हैं ॥ ३४ ॥

धर्मं चरत यत्नेन तथाधर्मान्निवर्तत ।
वर्तध्वं च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३५ ॥

तुम यत्नपूर्वक धर्माचरण करो और अधर्मसे निवृत्त हो जावो; देवता और ब्राह्मणोंकी समयके अनुसार सेवा करो ॥ ३५ ॥

शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्तत ।
त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्तत ॥ ३६ ॥

शोक और दीनताका परित्याग करो; पुत्रस्नेहसे निवृत्त हो जाओ; इसे सूने स्थानमें छोडके शीघ्र गृहकी ओर गमन करो ॥ ३६ ॥

यत्करोति शुभं कर्म तथाधर्मं सुदारुणम् ।
तत्कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र हि ॥ ३७ ॥

जो जीव शुभ वा अशुभ कर्म करता है, वही उसका फलभोग किया करता है; उसमें बान्धवोंका क्या सम्बन्ध है ? ॥ ३७ ॥

इह त्यक्त्वा न तिष्ठन्ति बान्धवा बान्धवं प्रियम् ।
स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णाविलेक्षणाः । ॥ ३८ ॥

बान्धवलोग प्रियपुत्र आदिको परित्याग करके इस स्थानमें निवास नहीं करते; वे लोग स्नेह त्यागके आंसू भरे नेत्रसे युक्त होकर घर चले जाते हैं ॥ ३८ ॥

प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोऽपि वा ।
सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥ ३९ ॥

प्राज्ञ हो वा मूर्ख हो; धनवान हो वा निर्द्धन ही होवे; सबको ही शुभाशुभ कर्मोंसे युक्त होकर कालके वशमें होना पडता है ॥ ३९ ॥

किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ ।
सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥ ४० ॥

शोक करके क्या करोगे ? मरे हुएके वास्ते किस लिये शोक करते हो ? धर्मानुसार समदर्शी कालही सबका नियन्ता है ॥ ४० ॥

यौवनस्थांश्च बालांश्च वृद्धान्गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत् ॥ ४१ ॥

युवा, बालक, वृद्ध और गर्भस्थ सभी मृत्युको वशीभूत होते हैं, जगत्‌की ऐसी ही गति है ॥ ४१ ॥

जम्बुक उवाच--

अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पमेधसा ।
पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम् ॥ ४२ ॥

सियार बोला— कैसा आश्चर्य है, हे मनुष्यों ! तुम लोग अपत्यस्नेहसे युक्त होकर अत्यन्त शोक प्रकाश करते हो, अल्पबुद्धि गिद्ध इस समय तुम लोगोंके स्नेहबन्धनको शिथिल करता है ॥ ४२ ॥

समैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ।
यद्गच्छथ जनुस्थायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४३ ॥

क्योंकि इसके समभावसे भली भांति प्रयुक्त प्रत्ययान्वित वचनके जरिये तुम लोग दुःस्तर स्नेह त्यागके निज स्थानपर जाते हो ॥ ४३ ॥

अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात् ।
क्रोशतां वै भृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४४ ॥

हाय ! बछडोंसे हीन गायोंकी तरह पुत्रवियोगके कारण श्मशानमें मुर्देकी सेवा करते हुए रोदन करते करते तुम लोगोंको अत्यन्त दुःख होता है ॥ ४४ ॥

अद्य शोकं विजानामि मानुषाणां महीतले ।
स्नेहं हि करुणं दृष्ट्वा ममाप्यश्रूण्यथागमन् ॥ ४५ ॥

पृथ्वीमण्डलमें मनुष्योंको जैसा शोक हुआ करता है, उसे आज मैंने जाना है । तुम लोगोंका स्नेह और करुण विलाप देखके मेरे भी आंसू बहने लगे हैं ॥ ४५ ॥

यत्नो हि सततं कार्यः कृतो दैवेन सिध्यति ।
दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ॥ ४६ ॥

सदा इच्छित प्राप्तिके लिये यत्न करनेसे दैवके जरिये वह सिद्ध होता है; दैव और पुरुषका प्रयत्न समयके अनुसार सिद्ध होते हैं ॥ ४६ ॥

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात्प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद्गच्छथ निर्दयाः ॥ ४७ ॥

सदा दुःख न करना ही उचित है; क्योंकि शोकसे सुख नहीं मिलता; यत्न करनेसे प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है; इसलिये तुम लोग दयारहित होके क्यों जाते हो ? ॥ ४७ ॥

आत्ममांसोपवृत्तं च शरीरार्धमयीं तनुम् ।
पितॄणां वंशकर्तारं वने त्यक्त्वा क यास्यथ ॥ ४८ ॥

तुम्हारे ही रक्त-मांससे उत्पन्न हुई अर्द्ध शरीर स्वरूप तथा पितरोंके वंशकी वृद्धि करनेवाली सन्तानको वनमें परित्याग करके कहां जाते हो ? ॥ ४८ ॥

अथ वास्तं गते सूर्ये संध्याकाल उपस्थिते ।
ततो नेष्यथ वा पुत्रमिहस्था वा भविष्यथ ॥ ४९ ॥

सूर्यके अस्त होने तथा संध्याकाल उपस्थित होनेपर तुम लोग इस बालकको घर ले जाना, अथवा इसको लेकर ही स्थानमें निवास करना ॥ ४९ ॥

गृध्र उवाच –

अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः ।
न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ५० ॥

गिद्ध बोला– हे मनुष्य लोगो ! इस समय मुझे उत्पन्न हुए सहस्र वर्षसे भी अधिक समय हुआ होगा; परन्तु पुरुष, स्त्री और नपुंसकोंमेंसे कोई मरके फिर जीवित हुआ है, इसे मैंने नहीं देखा ॥ ५० ॥

मृता गर्भेषु जायन्ते म्रियन्ते जातमात्रकाः ।
विक्रमन्तो म्रियन्ते च यौवनस्थास्तथापरे ॥ ५१ ॥

कोई कोई गर्भोंमें ही मरके जन्म लेते हैं, कोई जन्मते ही मृत्युके ग्रासमें पतित हुआ करते हैं; कोई बाल्यकालमें पांवसे चलनेके समय और कोई युवा अवस्थामें पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं ॥५१॥

अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि ।
जङ्गमाजङ्गमानां चाप्यायुरग्रेऽवतिष्ठते ॥ ५२ ॥

इस लोकमें पशु-पक्षी आदि जङ्गम मात्रोंके भाग्यफल अनित्य हैं; स्थावर तथा जङ्गम सभी परमायुके अधीन हैं ॥ ५२ ॥

इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्रशोकान्वितास्तथा ।
दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यदा ॥ ५३ ॥

प्यारी स्त्रीके विरह और पुत्र शोकसे संतप्त हो जलते हुए मनुष्य प्रतिदिन इस स्थानसे घरको चले जाते हैं ॥ ५३ ॥

अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च ।
उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥ ५४ ॥

बान्धव लोग इस लोकमें सहस्रों अप्रिय और सैकड़ों प्रिय व्यक्तियोंको परित्याग करके अत्यन्त दुःखित होकर यहांसे गमन करते हैं ॥ ५४ ॥

त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः ।
अन्यदेहविषक्तो हि शावं काष्ठमुपासते ॥ ५५ ॥

इसलिये तुम लोग इस शोचनीय अवस्थायुक्त जीवनहीन और तेज रहित बालकको परित्याग करो; इसका जीव दूसरे शरीरमें संसक्त होनेसे इस निर्जीव बालकका यह शव काष्ठत्वको प्राप्त हुआ है ॥ ५५ ॥

भ्रान्तजीवस्य वै बाष्पं कस्माद्धित्वा न गच्छथ ।
निरर्थको ह्ययं स्नेहो निरर्थश्च परिग्रहः ॥ ५६ ॥

इस मृत शरीरको परित्याग करके किस लिये तुम लोग गमन करनेमें विरत हो रहे हो ? इस समय इसके ऊपरका यह स्नेह निरर्थक है और इसे घेरकर स्थिति करनेसे कोई फल नहीं है ॥ ५६ ॥

न चक्षुर्भ्यां न कर्णाभ्यां संशृणोति समीक्षते ।
तस्मादेनं समुत्सृज्य स्वगृहान्गच्छताशु वै ॥ ५७ ॥

इस समय यह बालक आंखोंसे नहीं देखता है और कानोंसे कुछ नहीं सुनता है; इससे तुम लोग इसे त्यागके शीघ्रही निज गृहकी ओर गमन करो ॥ ५७ ॥

मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ।
मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ॥ ५८ ॥

मेरे ये वचन निष्ठुर नहीं हैं; ये युक्तियुक्त और मोक्षधर्मसे पूरित हैं; इसलिये कहता हूं, तुम लोग विलम्ब न करके निज निज स्थानपर चले जाओ ॥ ५८ ॥

प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना ।
वचनं श्राविता रूक्षं मानुषाः संनिवर्तत ॥ ५९ ॥

बुद्धि और विज्ञानवान् चैतन्य-प्रद गिद्धका रूखा वचन सुनकर मनुष्य लोग निवृत्त हुए ॥ ५९ ॥

जम्बुक उवाच—

इदं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं पुत्रं त्यजध्वं पितृपिण्डदम् ॥ ६० ॥

सियार बोला— हे मनुष्यों ! आप लोग गिद्धका वचन सुनके इस सुवर्णके वर्णवाले, आभूषणोंसे भूषित तथा पितरोंको पिण्ड देनेवाले पुत्रको क्यों परित्याग करते हैं ? ॥ ६० ॥

न स्नेहस्य विरोधोऽस्ति विलापरुदितस्य वै ।
मृतस्यास्य परित्यागात्तापो वो भविता ध्रुवम् ॥ ६१ ॥

इस मृत पुत्रके त्यागनेसे तुम्हारे स्नेह, विलाप और रोदनका अन्त न होगा; बल्कि अवश्य ही तुम्हारा संताप बढ जायगा ॥ ६१ ॥

×

श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः ।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात्सत्यपराक्रमात् ॥ ६२ ॥

मैंने सुना है कि सत्य पराक्रमी रामचन्द्रसे शम्बुक नामक शूद्रके मारे जानेपर उस धर्मबलसे कोई ब्राह्मणका बालक फिर जीवित हुआ था; ॥ ६२ ॥

तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दिष्टान्तमागतः ।
श्वेतेऽभूते धर्मनित्येन मृतः संजीवितः पुनः ॥ ६३ ॥

और राजर्षि श्वेतका बालक पुत्र पञ्चत्वको प्राप्त हुआ था, परंतु धर्मनिष्ठ श्वेतने उस पुत्रको फिर जीवित किया था ॥ ६३ ॥

तथा कश्चिद् भवेत्सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा ।
कृपणानामनुक्रोशं कुर्याद्वो रुदतामिह ॥ ६४ ॥

उसी तरह कोई सिद्ध मुनि वा देवता तुम लोगोंका करुणायुक्त रोदन सुनके दया कर सकता है ॥ ६४ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्ताः संन्यवर्तन्त शोकार्ताः पुत्रवत्सलाः ।
अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम् ॥ ६५ ॥

भीष्म बोले—सियारका ऐसा वचन सुन शोकसे आर्त पुत्रवत्सल बान्धव लोग घर जानेसे निवृत्त हुए और मृत बालकका सिर गोदमें रखके अत्यन्त विलापके सहित रोदन करने लगे ॥ ६५ ॥

गृध्र उवाच—

अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शनपीडितः ।
धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घां निद्रां प्रवेशितः ॥ ६६ ॥

गिद्ध बोला—तुम्हारे आंसू बहानेसे जिसका शरीर गीला हुआ है और तुम्हारे हाथोंसे जो बार-बार दबाया गया है, ऐसा यह बालक धर्मराजके नियोग निबन्धनसे दीर्घ निद्राको प्राप्त हुआ है ॥ ६६ ॥

तपसापि हि संयुक्तो न काले नोपहन्यते ।
सर्वस्नेहावसानं तदिदं तत्प्रेतपत्तनम् ॥ ६७ ॥

तपस्या करनेवाले मनुष्य भी इस कालको पीडित नहीं कर सकते; सब स्नेह बंधनका नाश यहां होता है; यह प्रेतोंका नगर है ॥ ६७ ॥

बालवृद्धसहस्राणि सदा संत्यज्य बान्धवाः ।
दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ६८ ॥

बान्धव लोग इस स्थानपर सहस्रों बालक और वृद्धोंको परित्याग करते हुए रात-दिन दुःखित भावसे निवास करते है ॥ ६८ ॥

अलं निर्बन्धमागम्य शोकस्य परिवारणम् ।
अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ६९ ॥

इसलिये आग्रहपूर्वक लौटकर शोक भार निवारण करनेसे कुछ फल नहीं है; इस समय इसका फिर जीवित होना किसी प्रकारभी विश्वासके योग्य नहीं है ॥ ६९ ॥

नैष जम्बुकवाक्येन पुनः प्राप्स्यति जीवितम् ।
मृतस्योत्सृष्टदेहस्य पुनर्देहो न विद्यते ॥ ७० ॥

यह बालक सियारके वचनसे फिर जीवित नहीं होगा; जो मनुष्य कालके वशमें होकर शरीर छोडता है, फिर वह जीवित नहीं होता ॥ ७० ॥

न वै मूर्तिप्रदानेन न जम्बुकशतैरपि ।
शक्यो जीवयितुं ह्येष बालो वर्षशतैरपि ॥ ७१ ॥

सियार यदि अपने समान सैकडों शरीर प्रदान करे, तौभी सैकडों वर्षोंमें भी यह बालक जीवित नहीं हो सकेगा ॥ ७१ ॥

अपि रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव वा ।
वरमस्मै प्रयच्छेयुस्ततो जीवेदयं शिशुः ॥ ७२ ॥

यदि रुद्रदेव, स्वामी कार्तिक, ब्रह्मा अथवा विष्णु इसे वरदान करें; तो यह बालक जीवित हो सकेगा ॥ ७२ ॥

न च बाष्पविमोक्षेण न चाश्वासकृतेन वै ।
न दीर्घरुदितेनेह पुनर्जीवो भविष्यति ॥ ७३ ॥

तुम लोगोंके आंसू बहाने, वा आश्वासन पूर्वक सान्त्वना देनेसे और बहुत समय तक रोदन करनेसे यह बालक फिर जीवित नहीं होगा ॥ ७३ ॥

अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं चैवास्य बान्धवाः ।
धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि ॥ ७४ ॥

मैं, यह सियार और तुम सब बान्धव लोग– ये सब धर्म और अधर्मको ग्रहण करके इस मार्गपर चल रहे हैं ॥ ७४ ॥

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ।
अधर्ममनृतं चैव दूरात्प्राज्ञो निवर्तयेत् ॥ ७५ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अप्रिय वर्ताव, कठोर वचन, परद्रोह, परनारीसे प्रणयकी अभिलाष, अधर्म और मिथ्या व्यवहारको एकवारही परित्याग करे ॥ ७५ ॥

सत्यं धर्मं शुभं न्याय्यं प्राणिनां महतीं दयाम् ।
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ॥ ७६ ॥

तुम लोग सत्य, धर्म, शुभ, न्याय, प्राणियोंके ऊपर महती दया, शठताका अभाव और सरलताका यत्नपूर्वक अनुसरण करो ॥ ७६ ॥

मातरं पितरं चैव बान्धवान्सुहृदस्तथा ।
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ॥ ७७ ॥

जो लोग माता, पिता, बान्धव और सुहृदोंको जीवित नहीं देखते, उनका आदर नहीं करते, उनके धर्मकी हानि होती है ॥ ७७ ॥

यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथंचन ।
तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ ॥ ७८ ॥

जो नेत्रसे देखने और अङ्ग आदि चलानेमें समर्थ नहीं है, उसके शरीरान्त होनेपर तुम लोग अब रोदन करके क्या करोगे ? ॥ ७८ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तास्तं सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः ।
दह्यमानाः सुतस्नेहात्प्रययुर्बान्धवा गृहान् ॥ ७९ ॥

भीष्म बोले— अपत्य-स्नेह-निबन्धनसे जलते हुए वे सब शोकयुक्त बान्धव लोग गिद्धका ऐसा वचन सुनकर पुत्रको भूमिपर परित्याग करके घर जानेमें प्रवृत्त हुए ॥ ७९ ॥

जम्बुक उवाच—

दारुणो मर्त्यलोकोऽयं सर्वप्राणिविनाशनः ।
इष्टबन्धुवियोगश्च तथैवाल्पं च जीवितम् ॥ ८० ॥

सियार बोला— प्राणियोंके विनाश साधनाका स्थान यह मर्त्यलोक अत्यन्त दारुण स्थल है, इस स्थलमें प्रिय बन्धुओंका वियोग होता है; यहांका जीवन अत्यन्त अल्प है ॥ ८० ॥

बह्वलीकमसत्यं च प्रतिवादाप्रियंवदम् ।
इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं दुःखशोकाभिवर्धनम् ॥ ८१ ॥

इस जगतमें अनेक प्रकारका कुटिल व असत्य व्यवहार, अतिवाद और अप्रिय वचन आदि दुःख-शोकको बढानेवाले समस्त भाव है ॥ ८१ ॥

न मे मानुषलोकोऽयं मुहूर्तमपि रोचते ।
अहो धिग्गृध्रवाक्येन संनिवर्तथ मानुषाः ॥ ८२ ॥

यह देखकर मुहूर्त्तभरके लिये भी इस मर्त्यलोकमें निवास करनेकी मेरी रुचि नहीं होती। अहो ! धिक् धिक् ! कैसा आश्चर्य है । हे मनुष्यो ! तुम लोग गिद्धके वचनसे निवृत्त हो रहे हो ॥ ८२ ॥

प्रदीप्ताः पुत्रशोकेन यथैवाबुद्धयस्तथा ।
कथं गच्छथ सस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च ।
श्रुत्वा गृध्रस्य वचनं पापस्येहाकृतात्मनः ॥ ८३ ॥

तुम लोग पुत्रशोकसे जलते हुए, बुद्धिहीन लोगोंकी तरह, प्रेमपूर्ण होते हुए भी पापी, चञ्चल बुद्धिवाले गिद्धका वचन सुनकर अपत्यस्नेह त्यागके इस समय किस प्रकार घर जानेमें प्रवृत्त हुए हो ? ॥ ८३ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखान्विते लोके नेहास्त्येकमनन्तकम् ॥ ८४ ॥

इस सुख-दुःखसे पूरित लोकके बीच सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके बाद सुख होता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ८४ ॥

इमं क्षितितले न्यस्य बालं रूपसमन्वितम् ।
कुलशोकाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥ ८५ ॥

हे मूढ लोगो! वंशके शोकको उत्पन्न करनेवाले इस रूपवान् शिशु सन्तानको पृथ्वीपर त्यागके तुम लोग कहां जाओगे? ॥ ८५ ॥

रूपयौवनसंपन्नं द्योतमानमिव श्रिया ।
जीवन्तमेनं पश्यामि मनसा नात्र संशयः ॥ ८६ ॥

इस उत्तम रूप और यौवनयुक्त तथा अपनी कान्तिसे शोभायमान बालकको मैं मनही मन जीवितकी तरह देखता हूं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८६ ॥

विनाशश्चाप्यनर्होऽस्य सुखं प्राप्स्यथ मानुषाः ।
पुत्रशोकाग्निदग्धानां मृतमप्यद्य वः क्षमम् ॥ ८७ ॥

हे मनुष्यों! इसका मरनाही अनुचित है, तुम लोग अनायासही इसे पाओगे। यदि इसे छोडते जाओगे, तो पुत्रशोकसे दग्ध होकर आजही तुम लोग मृतक तुल्य होंगे ॥ ८७ ॥

दुःखसंभावनां कृत्वा धारयित्वा स्वयं सुखम् ।
त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत् ॥ ८८ ॥

रात्रिमें इस स्थानपर निवास करनेसे इस बालकसे सुखकी सम्भावना जानके स्वयं सुखमें रहनेकी इच्छासे, अल्पबुद्धि लोगोंकी भांति इसे त्यागके कहां जाओगे? ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच—

तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिध्यायिना ।
श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता तदा ॥ ८९ ॥
ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः ।
जम्बुकेन स्वकार्यार्थं बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः ॥ ९० ॥

भीष्म बोले— नित्य श्मशानवासी सियारने स्वार्थ-सिद्धिके लिये रात्रिकालकी प्रतीक्षा करते हुए, उस समय अमृतके समान धर्मविरोधी मिथ्या प्रिय वचनके जरिये, उन सब बान्धवोंकी गति निवृत्त करके, उन्हें मध्यवर्ती किया; तब वे लोग वहांपर स्थित रहे ॥ ८९-९० ॥

गृध्र उवाच—

अयं प्रेतसमाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः ।
दारुणः काननोद्देशः कौशिकैरभिनादितः ॥ ९१ ॥

गिद्ध बोला— यह प्रेतोंसे परिपूरित, यह राक्षस-सेवित, तथा उल्लूकी आवाजसे अनुनादित, यह वन्य प्रदेश अति भयङ्कर है ॥ ९१ ॥

भीमः सुघोरश्च तथा नीलमेघसमप्रभः ।
अस्मिञ्शवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९२ ॥

यह अत्यन्त घोर, भयानक और काले बादलके समान अन्धकारपूर्ण है; तुम लोग इस वनस्थलमें मुर्देका शरीर परित्याग करके समस्त प्रेतकर्म समाप्त करो ॥ ९२ ॥

भानुर्यावन्न यात्यस्तं यावच्च विमला दिशः ।
तावदेनं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९३ ॥

जबतक सूर्य अस्त नहीं होते हैं और जबतक दिशाएं निर्मल हैं, तभीतक इसे छोडकर तुम लोग इसके प्रतकर्म करो ॥ ९४ ॥

नदन्ति परुषं श्येनाः शिवाः क्रोशन्ति दारुणाः ।
मृगेन्द्राः प्रतिनन्दन्ति रविरस्तं च गच्छति ॥ ९४ ॥

बाज पक्षी कर्कश बोली बोल रहे हैं । सियारोंने भयंकर चिल्लाना आरम्भ किया है, सिंह गर्ज रहे हैं और सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं ॥ ९४ ॥

चिताधूमेन नीलेन संरज्यन्ते च पादपाः ।
श्मशाने च निराहाराः प्रतिनन्दन्ति देहिनः ॥ ९५ ॥

श्मशानमें स्थित वृक्षसमूह चिताके काले धूएंसे रञ्जित होते हैं, श्मशानमें देहधारी लोग निराहार रहनेसे गर्ज रहे हैं ॥ ९५ ॥

सर्वे विक्रान्तवीर्याश्च अस्मिन्देशे सुदारुणाः ।
युष्मान्प्रधर्षयिष्यन्ति विकृता मांसभोजनाः ॥ ९६ ॥

इस श्मशानस्थलके बीच रहनेवाले सब प्राणी अत्यंत पराक्रमी और भयंकर हैं; ये मांस खानेवाले और विकृत शरीरके हैं; वे तुम लोगोंको वशीभूत करेंगे ॥ ९६ ॥

दूराच्चायं वनोद्देशो भयमत्र भविष्यति ।
त्यज्यतां काष्ठभूतोऽयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः ॥ ९७ ॥

दूरसे भी यह वनका भाग भयङ्कर है; आज यहां तुम लोगोंको अवश्य ही भय होगा; इसलिये इस काष्ठके समान मृत शरीरको परित्याग करो; सियारका वचन मत मानो ॥ ९७ ॥

यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च ।
श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ ९८ ॥

तुम लोग यदि ज्ञानभ्रष्ट होकर जम्बुकके निष्फल तथा मिथ्या वचनको सुनोगे, तो सब कोई नष्ट होगे ॥ ९८ ॥

जम्बुक उवाच—

स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत्तपति भास्करः ।
तावदस्मिन्सुतस्नेहादनिर्वेदेन वर्तत ॥ ९९ ॥

सियार बोला— हे मनुष्यों ! जबतक सूर्य अस्ताचलपर गमन नहीं करते हैं, उतने समयतक तुम लोग अपत्यस्नेह-निबन्धनसे दुःख न करके इस स्थानमें निवास करो; भय करना उचित नहीं है ॥ ९९ ॥

स्वैरं रुदत विस्रब्धाः स्वैरं स्नेहेन पश्यत ।
स्थीयतां यावदादित्यः किं वः क्रव्यादभाषितैः ॥ १०० ॥

तुम लोग विश्वासी होकर रोदन करते हुए बहुत समयतक सन्तानकी ओर स्नेहयुक्त नेत्रसे देखो; जबतक सूर्य प्रकाशित होते हैं, तबतक यहीं ठहरो; इस मांसभक्षी पशुके कहनेसे क्या होगा ? ॥ १०० ॥

यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च ।
गृहीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति ॥ १०१ ॥

तुम लोग यदि मोहित होकर इस गिद्धके निष्ठुर तथा दुःखद वचनको मानोगे, तो तुम लोगोंका पुत्र फिर जीवित न होगा ॥ १०१ ॥

भीष्म उवाच—

गृध्रोऽनस्तमिते त्वाह गतेऽस्तमिति जम्बुकः ।
मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ ॥ १०२ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! गिद्ध बोला— सूर्य अस्त नहीं हुआ; सियारने कहा—सूर्य अस्त हुआ; इसी तरह वे भूखसे अत्यन्त पीडित होकर अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उस मृतकके बन्धु-बान्धवोंसे बातें करते थे ॥ १०२ ॥

स्वकार्यदक्षिणौ राजन्गृध्रो जम्बुक एव च ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पतः ॥ १०३ ॥

राजन् ! गीध और सियार अपना काम बनानेके लिये तैयार हुए थे; दोनों भूख और प्याससे कातर होकर शास्त्रका आधार लेकर बात करते थे ॥ १०३ ॥

तयोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोर्जम्बुकपत्रिणोः ।
वाक्यैरमृतकल्पैर्हि प्रातिष्ठन्त व्रजन्ति च ॥ १०४ ॥

वे लोग उन विज्ञानवित् गिद्ध और सियारके अमृतसमान वचनोंसे कभी प्रभावित हो ठहर जाते और कभी घरकी ओर गमन करनेमें उद्यत होते थे ॥ १०४ ॥

शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा ।
स्वकार्यकुशलाभ्यां ते संभ्राम्यन्ते ह नैपुणात् ॥ १०५ ॥

अन्तमें वे लोग शोक और दीनतासे युक्त होकर रोदन करते हुए उन कार्यदक्ष गिद्ध और सियारकी वचन निपुणतासे प्रतारित होकर भी उस समय वहां निवास करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १०५ ॥

तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः ।
बान्धवानां स्थितानां च उपातिष्ठत शंकरः ॥ १०६ ॥

इसी प्रकार विवाद करनेवाले उन विज्ञानवित् गिद्ध और सियार तथा वहांपर स्थिर बान्धवोंके समीप भगवान् शंकर उपस्थित हुए ! ॥ १०६ ॥

ततस्तानाह मनुजान्वरदोऽस्मीति शूलभृत् ।
ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः ॥ १०७ ॥

और उन मनुष्योंसे बोले— मैं शूलधारी वरदाता शङ्कर हूं । तब उन दुःखित बान्धवोंने प्रणाम करके खडे होकर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १०७ ॥

एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीवितार्थिनाम् ।
पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि ॥ १०८ ॥

हे भगवन् ! हम सब कोई एक मात्र पुत्रसे हीन होकर मृतवत् हो रहे हैं, इसलिये आप कृपा करके हमारे इस पुत्रको जीवित करके हम जीवनार्थियोंको कृपा करके जीवनदान दीजिये ॥ १०८ ॥

एवमुक्तः स भगवान्वारिपूर्णेन पाणिना ।
जीवं तस्मै कुमाराय प्रादाद्वर्षशताय वै ॥ १०९ ॥

भगवान् शंकरने मनुष्योंका ऐसा वचन सुनके जलसे युक्त हाथके जरिये बालकको जीवित करके उसे सौ वर्षोंकी आयु प्रदान की ॥ १०९ ॥

तथा गोमायुगृध्राभ्यामाददत्क्षुद्विनाशनम् ।
वरं पिनाकी भगवान्सर्वभूतहिते रतः ॥ ११० ॥

और सब प्राणियोंके हितैषी भगवान् पिनाकपाणिने गिद्ध और सियारको उनकी क्षुधा-शान्तिका वरदान दिया ॥ ११० ॥

ततः प्रणम्य तं देवं श्रेयोहर्षसमन्विताः।
कृतकृत्याः सुखं हृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो ॥ १११ ॥

हे राजन्! अनन्तर उन लोगोंने कल्याणपूरित, हर्षयुक्त, कृतकृत्य और अत्यन्त सुखसे आनन्दित होकर देवोंके देव शंकरको प्रणाम करके प्रस्थान किया ॥ १११ ॥

अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च।
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते ॥ ११२ ॥

उत्साह, दीर्घ प्रयत्न और दृढ़-निश्चयके जरिये देवाधिदेव महादेवकी कृपासे शीघ्रही अभिलषित फल प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

पश्य देवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्चयम्।
कृपणानां हि रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम् ॥ ११३ ॥

देवका संयोग और बान्धवोंका दृढनिश्चय देखो! वे लोग दुःखित होकर रोदन कर रहे थे, भगवानने उनके आंसू पोंछे ॥ ११३ ॥

पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च।
प्रसादं शंकरात्प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् ॥ ११४ ॥

थोडेही समयके बीच उनके निश्चय पूर्वक किये खोजके सहारे भगवान् महादेवकी कृपासे दुःखित मनुष्य सुखी हुए ॥ ११४ ॥

ते विस्मिताः प्रहृष्टाश्च पुत्रसंजीवनात्पुनः।
बभूवुर्भरतश्रेष्ठ प्रसादाच्छंकरस्य वै ॥ ११५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! वे लोग भगवान् महादेव शंकरकी कृपासे पुत्रके फिर जीवित होनेपर विस्मय-युक्त और अत्यन्त हर्षित हुए थे ॥ ११५ ॥

ततस्ते त्वरिता राजञ्श्रुत्वा शोकमघोद्भवम्।
विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्टमानसाः।
एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्ये निदर्शिता ॥ ११६ ॥
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शुभम्।
श्रुत्वा मनुष्यः सततमिह प्रेत्य च मोदते ॥ ११७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥ ५४६३ ॥

हे राजन्! अनन्तर उन लोगोंने शिशुके कारण प्राप्त हुए शोकको त्यागके शीघ्रही पुत्रके सहित हर्षपूर्वक नगरमें प्रवेश किया। ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके बीच सबके ही विषयमें इस प्रकारका ज्ञान निदर्शन रूपसे दिखाया गया है। मनुष्य इस धर्म, अर्थ और मोक्ष-संयुक्त इस पवित्र इतिहासको सुननेसे इस लोक और परलोकमें सदा आनन्दित हुआ करता है ॥ ११६-११७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ १४९ ॥ ५४६३ ॥

×

ः १५० ः

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं भरतश्रेष्ठ शल्मलेः पवनस्य च ॥ १ ॥

भीष्म बोले—हे भरतश्रेष्ठ ! पुराने लोग इस विषयमें शल्मलि और पवनके संवादयुक्त प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ १ ॥

हिमवन्तं समासाद्य महानासीद्वनस्पतिः ।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखास्कन्धपलाशवान् ॥ २ ॥

हिमालय पर्वत पर अनेक वर्षोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ—शाखा और स्कन्ध पलाशयुक्त एक बहुत बडा शल्मलिका वृक्ष था ॥ २ ॥

तत्र स्म मत्ता मातङ्गा घर्मार्ताः श्रमकर्शिताः ।
विश्रमन्ति महाबाहो तथान्या मृगजातयः ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! वहां मतवाले हाथियोंके यूथ और दूसरे अनेक भांतिके सब पशु ग्रीष्मकालमें गर्मीसे आर्त होने तथा थकने पर विश्राम करते थे ॥ ३ ॥

नल्वमात्रपरीणाहो घनच्छायो वनस्पतिः ।
शुकसारिकसंघुष्टः फलवान्पुष्पवानपि ॥ ४ ॥

उस वृक्षकी लंबाई चारसौ हाथकी थी; वह घनी छायासे परिपूरित और फल—फूलोंसे सुशोभित भरा रहनेसे शुकसारिकासमूह सदा उसमें निवास करते थे ॥ ४ ॥

सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः ।
वसन्ति वासान्मार्गस्थाः सुरम्ये तरुसत्तमे ॥ ५ ॥

समूहसे यात्रा करनेवाले वणिक्, वनवासी तपस्वी और दूसरे प्रवासी उस श्रेष्ठ वृक्षके नीचे निवास करते थे ॥ ५ ॥

तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धांश्च सर्वतः ।
अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ ॥ ६ ॥

हे भरतर्षभ ! किसी समय महर्षि नारद उस शल्मलि वृक्षके स्कन्ध और बहुतसी शाखाओंको देखकर उसके निकट आके बोले—॥ ६ ॥

अहो नु रमणीयस्त्वमहो चासि मनोरमः ।
प्रीयामहे त्वया नित्यं तरुप्रवर शल्मले ॥ ७ ॥

हे तरुप्रवर ! शल्मले ! तुम क्या ही रमणीय तथा मनोरम हो; तुम्हें देखके मैं अत्यन्त प्रसन्न हो रहा हूं ॥ ७ ॥

सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाधस्तथा गजाः ।
वसन्ति तव संहृष्टा मनोहरतरास्तथा ॥ ८ ॥

तात ! मनोहर मृग, पक्षी, गाध और हाथियोंके यूथ हर्षित होकर सदा तुम्हारे आसरेमें निवास करते हैं ॥ ८ ॥

तव शाखा महाशाख स्कन्धं च विपुलं तथा ।
न वै प्रभग्नान्पश्यामि मारुतेन कथंचन ॥ ९ ॥

हे महाशाख ! तुम्हारे बडे स्कन्ध और सब शाखाओंको कभी वायुके जरिये किसी तरह टूटी हुई नहीं देखता हूं ॥ ९ ॥

किं नु ते मारुतस्तात प्रीतिमानथ वा सुहृत् ।
त्वां रक्षति सदा येन वनेऽस्मिन्पवनो ध्रुवम् ॥ १० ॥

तात ! इस वनके बीच जब पवन सदा तुम्हारी रक्षा करता है, तब बोध होता है, वह तुम्हारा मित्र है; अथवा तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो रहा है ॥ १० ॥

विवान्हि पवनः स्थानादुवृक्षानुचावचानपि ।
पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान् ॥ ११ ॥

वेगशाली भगवान् पवन बहते हुए विविध वृक्षसमूह और पर्वतोंकी शिखर समूहको स्वस्थानसे विचलित करते हैं ॥ ११ ॥

शोषयत्येव पातालं विवान्गन्धवहः शुचिः ।
ह्रदांश्च सरितश्चैव सागरांश्च तथैव ह ॥ १२ ॥

और पवित्र गन्धयुक्त पवन पाताल, सरोवर, नदियों और समुद्रोंकी भी सुखा सकते हैं ॥ १२ ॥

त्वां संरक्षेत पवनः सखित्वेन न संशयः ।
तस्माद्बहलशाखोऽसि पर्णवान्पुष्पवानपि ॥ १३ ॥

इसलिये मित्रताके कारण पवन तुम्हारी रक्षा करता है, इसमें सन्देह नहीं है; इसीसे तुम अनेक शाखाओंसे युक्त होके फूल पत्रोंसे शोभित हो रहे हो ॥ १३ ॥

इदं च रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते ।
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥ १४ ॥

हे तरुवर ! तुम इस रमणीय रूपसे शोभित होते हो । इसलिये ये सब पक्षीसमूह तुम्हें अवलम्बन करके प्रसन्न मनसे विहार कर रहे हैं ॥ १४ ॥

एषां पृथक्समस्तानां श्रूयते मधुरः स्वरः ।
पुष्पसंमोदने काले वाशतां सुमनोहरम् ॥ १५ ॥

वसन्तकालमें मनोहर शब्द करनेवाले इन पक्षियोंकी मीठी बोली कानोंमें अमृतकी वर्षा करती है ॥ १५ ॥

तथेमे मुदिता नागाः स्वयूथकुलशोभिनः ।
घर्मार्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शल्मले ॥ १६ ॥

हे शल्मले ! गर्मीसे विकल हाथियोंके समूह निज यूथसे सुशोभित ये आनन्दित होकर तुम्हारे आसरे सुखभोग करते हैं ॥ १६ ॥

तथैव मृगजातीभिरन्याभिरुपशोभसे ।
तथा सर्वाधिवासैश्च शोभसे मेरुवद् द्रुम ॥ १७ ॥

हे वृक्ष ! इसी तरह तुम दूसरे सब मृगजाति और समस्त जीवोंके आश्रयके कारण होके मेरु पर्वतकी भांति शोभित होते हो ॥ १७ ॥

ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैरपि ।
त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव ह ॥ १८ ॥

तपस्यासे सिद्ध ब्राह्मण, तपस्वी और संन्यासियोंके समूहसे परिपूरित होनेसे तुम्हारा यह स्थान मुझे स्वर्गके समान निश्चितसा मालूम होता है ॥ १८ ॥

बन्धुत्वादथ वा सख्याच्छल्मले नात्र संशयः ।
पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोऽनिलः ॥ १९ ॥

हे वृक्ष ! सर्वत्र गमन करनेवाला भयङ्कर वायु बन्धुता वा मित्रताके कारण ही सदा तुम्हारी रक्षा करता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

न्यग्भावं परमं वायोः शल्मले त्वमुपागतः ।
तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २० ॥

शल्मले ! तुम उसके समीप अत्यंत नम्रतासे— मैं तुम्हारा ही हूं—ऐसा वचन अङ्गीकार करके परम आत्मीय हुए हो, इस ही निमित्त वह सदा तुम्हारी रक्षा करता है ॥ २० ॥

न तं पश्याम्यहं वृक्षं पर्वतं वापि तं दृढम् ।
यो न वायुबलाद्भग्नः पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ २१ ॥

मैं भूलोकमें ऐसे किसी वृक्ष, पहाड और स्थानको दृढ नहीं देखता हूं, जो वायुके बलसे न टूटता हो; मेरा विश्वास है कि पवन सबको तोडकर गिरा सकता है ॥ २१ ॥

त्वं पुनः कारणैर्नूनं शल्मले रक्ष्यसे सदा ।
वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ २२ ॥

शल्मले ! इसलिये मुझे मालूम होता है, तुम किसी कारणसे शाखा पल्लवके सहित वायुसे रक्षित होनेसे संशय रहित होके निवास करते हो ॥ २२ ॥

शल्मलिरुवाच —

न मे वायुः सखा ब्रह्मन्न बन्धुर्न च मे सुहृत् ।
परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति मानिलः ॥ २३ ॥

शल्मलिने कहा— हे ब्रह्मन् ! वायु मेरा सखा, बन्धु वा मित्र नहीं है; वह ब्रह्मा भी नहीं है, जो मेरी रक्षा करेगा ॥ २३ ॥

मम तेजोबलं वायोर्भीममपि हि नारद ।
कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ॥ २४ ॥

हे नारद ! मेरा तेज और बल वायुसे भी प्रबल है, पवन अपनी प्राणशक्तिसे मेरे बलके अठारहवें भागके एक भागके समान भी नहीं है ॥ २४ ॥

आगच्छन्परमो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात् ।
रुजन्द्रुमान्पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किंचन ॥ २५ ॥

वह जब वृक्ष, पर्वत तथा दूसरी वस्तुओंको तोडता–फोडता हुआ मेरे समीप आता है, उस समय मैं बलपूर्वक उसे स्तम्भित कर रखता हूं ॥ २५ ॥

स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन्वै प्रभञ्जनः ।
तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥ २६ ॥

हे देवर्षे ! मैंने तोड–फोड करनेवाले वायुको अनेक वार रोका है; इसलिये वायुके क्रुद्ध होनेपर भी मैं उससे भय नहीं करता ॥ २६ ॥

नारद उवाच—

शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः ।
न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ २७ ॥

नारद बोले– हे शल्मलि ! तुम्हारी विपरीत बुद्धि हुई है, इसमें सन्देह नहीं है । वायुके बलके समान बलवान् कोई भी नहीं है, और कभी किसी स्थानमें कोई हुआ भी नहीं था ॥ २७ ॥

इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः ।
न तेऽपि तुल्या मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ २८ ॥

वनस्पते ! इन्द्र, यम, कुबेर और जलके स्वामी वरुण भी वायुके समान नहीं है; फिर तुम्हारी बात तो दूर रहे ॥ २८ ॥

यद्धि किंचिदिह प्राणि शल्मले चेष्टते भुवि ।
सर्वत्र भगवान्वायुश्चेष्टाप्राणकरः प्रभुः ॥ २९ ॥

शल्मले ! इस जगत्में जो सब जीव जीवन धारण करते हैं, भगवान् पवनही उसके कारण हैं, वेही सबके प्राणदाता और चैतन्य करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

एष चेष्टयते सम्यक्प्राणिनः सम्यगायतः ।
असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतो नृपु ॥ ३० ॥

इसी वायुके प्रशान्त भावसे रहनेसे सब प्राणी जीवित रहते और इसीके अशान्त होनेपर सब जीव नष्ट होते हैं ॥ ३० ॥

स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृतां वरम् ।
न पूजयसि पूज्यं तं किमन्यद्बुद्धिलाघवात् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार तुम सब बलवानोंमें अग्रगण्य और पूजयीय वायुकी जो पूजा नहीं करते हो, उसका कारण तुम्हारी बुद्धिलाघवके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥

असारश्चासि दुर्बुद्धे केवलं बहु भाषसे ।
क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या वदसि शल्मले ॥ ३२ ॥

हे दुर्बुद्ध ! तुम अत्यन्त सार हीन हो; इस ही कारण केवल बडी बात बोलते और क्रोधमें भरकर मिथ्या वचन कहते हो ॥ ३२ ॥

मम रोषः समुत्पन्नस्त्वय्येवं संप्रभाषति ।
ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु ॥ ३३ ॥

तुम्हारा ऐसा वचन सुनके मुझे क्रोध उत्पन्न हुआ है; मैं स्वयं वायुके समीप जाके तुम्हारा यह सब दुष्ट वचन कहूंगा ॥ ३३ ॥

चन्दनैः स्पन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभिः ।
वेतसैर्बन्धनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ ३४ ॥

चन्दन, स्पन्दन, शील, सरल, देवदारु, वेतस और बकुल आदि दूसरे जो सब सारवान तथा बलवान वृक्ष हैं, ॥ ३४ ॥

तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभिः ।
ते हि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ ३५ ॥

रे नीचबुद्धि ! वे जितात्मा वृक्ष कभी वायुका इस प्रकार तिरस्कार नहीं करते; वे सब वायुके और अपने बलाबलको अच्छी तरह जानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मात्ते वै नमस्यन्ति श्वसनं द्रुमसत्तमाः ।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥ ५४९९ ॥

इस कारण वे सब श्रेष्ठ वृक्ष वायुको प्रणाम किया करते हैं। तुमने मोहके वशमें होकर वायुके अनन्त बलको नहीं जाना है, इसहीसे ऐसा कहते हो ॥ ३६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पचासवां अध्याय समाप्त ॥ १५० ॥ ५४९९ ॥

: १५१ :

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शल्मलिं ब्रह्मवित्तमः ।
नारदः पवने सर्वं शल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे राजेन्द्र ! ब्रह्मज्ञानीओंमें श्रेष्ठ नारद शल्मलिसे ऐसा वचन कहके पवनके समीप जाके उसकी सब बात कहने लगे ॥ १ ॥

हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छल्मलिः परिवारवान् ।
बृहन्मूलो बृहच्छाखः स त्वां वायोऽवमन्यते ॥ २ ॥

हे वायु ! हिमालय पर्वतके पृष्ठ भागपर बडे परिवारवाला शाखापल्लवोंसे युक्त बृहत् मूलवाला कोई शल्मलि वृक्ष तुम्हारा अपमान करता है ॥ २ ॥

बहून्याक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः ।
न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं त्वयि प्रभो ॥ ३ ॥

हे प्रभु ! उसने तुम्हारे प्रति बहुत आक्षेप युक्त वचन कहे हैं, तुम्हारे समीप वे सब वचन कहना मुझे उचित नहीं है ॥ ३ ॥

जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतां वरम् ।
वरिष्ठं च गरिष्ठं च क्रोधे वैवस्वतं यथा ॥ ४ ॥

हे वायु ! मैं तुम्हें सब प्राणियोंमें अग्रगण्य, वरिष्ठ और गरिष्ठ समझता हूं; तुम क्रुद्ध होनेपर वैवस्वत यमकालके समान हुआ करते हो ॥ ४ ॥

एवं तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः ।
शल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वायु नारदका यह वचन सुनके उस शल्मलि वृक्षके समीप आके अतिक्रुद्ध होकर कहने लगे ॥ ५ ॥

शल्मले नारदे यत्तत्त्वयोक्तं मद्विगर्हणम् ।
अहं वायुः प्रभावं ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥ ६ ॥

हे शल्मलि ! तुमने इधरसे जाते हुए नारदके निकट मेरी निन्दा की है; मैं वायु हूं; इसलिये मैं तुम्हें अपना बल और प्रभाव दिखाऊंगा ॥ ६ ॥

नाहं त्वा नाभिजानामि विदितश्चासि मे द्रुम ।
पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान्प्रभुः ॥ ७ ॥

हे वृक्ष ! मैं तुम्हें जानता नहीं हूं ऐसा नहीं; मैं तुम्हारे विषयमें सब कुछ जानता हूं; पितामहने प्रजाकी सृष्टि करनेके समय तुम्हारे मूलमें विश्राम किया था, ॥ ७ ॥

तस्य विश्रमणादेव प्रसादो यः कृतस्तव ।
रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्याद्द्रुमाधम ॥ ८ ॥

उनके विश्राम करनेके कारणही मैं तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करता था। रे नीचबुद्धि अधमवृक्ष ! उस ही कारण मैं तेरी रक्षा करता था; तू निज बलके प्रभावसे रक्षित नहीं हुआ है ॥ ८ ॥

यन्मा त्वमवजानीषे यथान्यं प्राकृतं तथा ।
दर्शयाम्येष आत्मानं यथा मामवभोत्स्यसे ॥ ९ ॥

तू जब सामान्य लोगोंकी भांति मेरी अवज्ञा करता है, तब जिससे फिर मेरी अवज्ञा न करे, उसी प्रकार अपना प्रभाव दिखाऊंगा ॥ ९ ॥

एवमुक्तस्ततः प्राह शल्मलिः प्रहसन्निव ।
पवन त्वं वने क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥

शल्मलि वायुका ऐसा वचन सुनकर हंसके बोला, हे पवन ! तुम वनमें मेरे ऊपर क्रुद्ध होके क्या पराक्रम प्रकाशित करोगे ? अपनेको ही अपना बल दिखाओ ॥ १० ॥

मयि वै त्यज्यतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि ।
न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयंप्रभुः ॥ ११ ॥

मेरे ऊपर अपना क्रोध प्रकट करो; मुझपर क्रोध करके तुम क्या करोगे ? हे वायु ! तुम स्वयं शासन करनेमें समर्थ हो, तौभी मैं तुमसे भय नहीं करता ॥ ११ ॥

इत्येवमुक्तः पवनः श्व इत्येवाब्रवीद्वचः ।
दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रिरुपागमत् ॥ १२ ॥

वायु शल्मलिकी ऐसी बात सुनके, 'कल मैं तुम्हें अपना पराक्रम दिखाऊंगा,' ऐसा कहके चले गये। अनन्तर रात आ गयी ॥ १२ ॥

अथ निश्चित्य मनसा शल्मलिर्वातकारितम् ।
पश्यमानस्तदात्मानमसमं मातरिश्वनः ॥ १३ ॥

तब शल्मलिने मनही मन पवनके द्वारा जो पराक्रम किया जानेवाला था, उसपर विचार करके और अपनेको उसके असदृश जानके सोचा- ॥ १३ ॥

नारदे यन्मया प्रोक्तं पवनं प्रति तन्मृषा ।
असमर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान्हि सः ॥ १४ ॥

मैंने नारदके निकट वायुके विषयमें जो कहा था, वह सब असत्य है; मैं वायुका सामना करनेमें असमर्थ हूं; क्योंकि पवन मुझसे प्रबल बलशाली है ॥ १४ ॥

मारुतो बलवान्नित्यं यथैनं नारदोऽब्रवीत् ।
अहं हि दुर्बलोऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः ॥ १५ ॥

नारदने जैसा कहा है, वायु वैसाही नित्य बलवान् है। उसके समीप मैं अत्यन्त असमर्थ हूं; उसकी बात तो दूर है, मैं दूसरे वृक्षोंसे भी निर्बल हूं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मम कश्चिद्वनस्पतिः ।
तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात् ॥ १६ ॥

परन्तु कोई भी वृक्ष मेरे समान बुद्धिमान नहीं है; इससे मैं बुद्धिवलके अवलम्बनसे पवनके भयसे अपना परित्राण करूंगा ॥ १६ ॥

यदि तां बुद्धिमास्थाय चरेयुः पर्णिनो वने ।
अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात्पवनान्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

वनमें रहनेवाले दूसरे वृक्षसमूह यदि मेरी तरह बुद्धिका सहारा लेकर निवास करें, तो सदा क्रोध पूरित वायुसे निःसंदेह उनकी कोई बुराई नहीं होगी ॥ १७ ॥

तेऽत्र बाला न जानन्ति यथा नैनान्समीरणः ।
समीरयेत संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १८ ॥

क्रुद्ध वायु उन्हें जिस प्रकार सञ्चालित करता है, उसे मैं जैसा अच्छी तरह जानता हूं, वे लोग मूर्ख होनेसे वैसा नहीं जानते ॥ १८ ॥

ततो निश्चित्य मनसा शल्मलिः क्षुभितस्तदा ।
शाखाः स्कन्धान्प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १९ ॥

अनन्तर शल्मलिने मनमें ऐसा विचार करके क्षुब्ध होकर आपही अपनी सब शाखाओं, डालियों और स्कन्धोंको नीचे गिरा दिया ॥ १९ ॥

स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च ।
प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥ २० ॥

वह शाखा, पत्र, पुष्प आदि परित्याग करके भोरके समय वायुके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २० ॥

ततः क्रुद्धः श्वसन्वायुः पातयन्वै महाद्रुमान् ।
आजगामाथ तं देशं स्थितो यत्र स शल्मलिः ॥ २१ ॥

अनन्तर सवेरा होनेपर क्रोधयुक्त वायु बडे बडे वृक्षोंको गिराता हुआ जहां शल्मलिका वृक्ष था, उस स्थानपर आया ॥ २१ ॥

तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं विशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः ।
उवाच वाक्यं स्मयमान एनं मुदा युतं शल्मलिं रुग्णशाखम् ॥ २२ ॥

आके उसे शाखा, पत्रपुष्पोंसे रहित देखके, अत्यन्त हर्षित और विस्मययुक्त होकर उस शाखा विरहित शल्मकिको कहा ॥ २२ ॥

×

अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः शल्मले रुषा ।
आत्मना यत्कृतं कृत्स्नं शाखानामपकर्षणम् ॥ २३ ॥

हे शल्मलि ! तुम आप ही कष्ट करके सब डालियोंको छेदन करके जैसे हुए हो, मैं भी क्रोधपूर्वक तुम्हें ऐसाही करना चाहता था ॥ २३ ॥

हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णाङ्कुरपलाशवान् ।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगोऽभवः ॥ २४ ॥

तुम अपनी बुद्धिहीनताके कारण मेरे बल पराक्रमके वशमें होकर फल, पत्ता, डाली और अंकुरसे रहित हुए हो ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शल्मलिर्व्रीडितस्तदा ।
अतप्यत वचः स्मृत्वा नारदो यत्तदाब्रवीत् ॥ २५ ॥

शल्मलि उस समय वायुका ऐसा वचन सुनके लज्जित हुआ और देवऋषि नारदने पहिले जो कहा था, उसे स्मरण करके अनुताप करने लगा ॥ २५ ॥

एवं यो राजशार्दूल दुर्बलः सन्बलीयसा ।
वैरमासज्जते बालस्तप्यते शल्मलिर्यथा ॥ २६ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! इसी प्रकार जो अल्पबुद्धि मूर्ख मनुष्य स्वयं निर्बल होके किसी बलवानके सङ्ग वैर करता है, वह शल्मलिकी भांति दुःखित होता है ॥ २६ ॥

तस्माद्वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः ।
शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शल्मलिस्तथा ॥ २७ ॥

इसलिये निर्बल मनुष्य प्रबलोंके साथ वैर न करे; यदि वह करे तो शल्मलिकी तरह शोचनीय दशाको प्राप्त होकर शोकचित्त होता है ॥ २७ ॥

न हि वैरं महात्मानो विवृण्वन्त्यपकारिषु ।
शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम् ॥ २८ ॥

महाराज ! बलवाले महात्मा पुरुष भी अपकारीके समीपमें सहसा वैरभाव प्रकाशित नहीं करते हैं; वे लोग धीरे धीरे शत्रुके निकट अपना पराक्रम दिखाया करते हैं ॥ २८ ॥

वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना ।
बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तूलेष्विव हुताशनः ॥ २९ ॥

दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य बुद्धिमानके सङ्ग शत्रुताचरण न करे; तृणसमूहमें पडी हुई अग्निकी तरह बुद्धिमानोंकी बुद्धि सर्वत्र अनायास ही प्रवेश करती है ॥ २९ ॥

न हि बुद्ध्या समं किंचिद्विद्यते पुरुषे नृप ।
तथा बलेन राजेन्द्र न समोऽस्तीति चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

हे राजेन्द्र ! पुरुषमें बुद्धिके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है; जगत्में जो पुरुष बुद्धि और बलसे युक्त है, उसके समान दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३० ॥

तस्मात्क्षमेत बालाय जडायान्धाय बधिराय च ।
बलाधिकाय राजेन्द्र तद्‌दृष्टं त्वयि शत्रुहन् ॥ ३१ ॥

इसलिये बालक, जड, अन्धे, बधिर और अपनेसे अधिक बलवाले पुरुषके विषयमें क्षमा करे। हे शत्रुदमन राजन् ! यह क्षमा करनेके स्वभाव तुममें है ॥ ३१ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते ।
बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥

हे अत्यंत तेजस्वी राजन् ! दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणी और तुम्हारी सात अक्षौहिणी सेना भी महाबली अर्जुनके बलके समान नहीं है ॥ ३२ ॥

हतास्ताश्चैव भग्नाश्च पाण्डवेन यशस्विना ।
चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे ॥ ३३ ॥

यशस्वी इन्द्र तथा पाण्डुके यशस्वी पुत्र धनञ्जयने अपने बलका आश्रय लेकर युद्धमें घूमते हुए उन शत्रुओंको मारा और पराजित किया ॥ ३३ ॥

उक्तास्ते राजधर्माश्च आपद्धर्माश्च भारत ।
विस्तरेण महाराज किं भूयः प्रब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥ ५५३३ ॥

हे भारत ! महाराज ! यही मैंने तुमसे राजधर्म और आपद्धर्म विस्तारके सहित कहा है, अब कहो, क्या सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ ३४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५१ ॥ ५५३३ ॥

: १५२ :

युधिष्ठिर उवाच–

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते ।
एतादिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! पापका निवासस्थान क्या है और जिससे पाप प्रवर्त्तित होता है, मैं उसे ही यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच–

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे नरनाथ ! जिससे पाप उत्पन्न होता है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ ही पापका अधिष्ठान है; वह मनुष्यके लिये महा ग्राह है; लोभसे ही पाप प्रकट होता है ॥ २ ॥

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥

उससे पाप, अधर्म और अत्यन्त दुःख उत्पन्न हुआ करता है; शठताका भी मूल कारण लोभ है, इससे लोग लोभके कारण पापाचरणमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ३ ॥

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानस्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥

क्रोध, काम, मोह, माया, अभिमान, गर्व और पराधीनता, आदि दोष निर्माण होते हैं ॥४॥

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याप्रज्ञता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्तते ॥ ५ ॥

अक्षमा, निर्लज्जता, श्रीनाश, धर्महीनता, चिन्ता और अकीर्ति आदि सभी लोभसे उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

अन्यायश्चावितर्कश्च विकर्मसु च याः क्रियाः ।
कूटविद्यादयश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥

अन्याय, तर्कशून्यता, कुकर्ममें प्रवृत्ति, कूटविद्या आदिका ज्ञान, सुन्दरता और ऐश्वर्यका अभिमान, ॥ ६ ॥

सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ।
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वयुक्तता ।
हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम् ॥ ७ ॥

सब जीवोंमें अविश्वास, सबके विषयमें असम्मान, सब प्राणियोंके प्रति द्रोह और अयुक्त बर्ताव प्रकाशित करना, परधनहरण, परनारीगमन, ॥ ७ ॥

वाग्वेगो मानसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ।
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः ॥ ८ ॥

वचन और मनका आवेग, दूसरेकी निन्दा करनेकी प्रवृत्तिं, इन्द्रियपरतन्त्रता, उदरम्भरिता, मृत्युका भयंकर वेग, ॥ ८ ॥

ईर्ष्यावेगश्च बलवान्मिथ्यावेगश्च दुस्त्यजः ।
रसवेगश्च दुर्वारः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ॥ ९ ॥

बलवती ईर्ष्या, दुष्पार मिथ्या व्यवहार, दुर्निवार्य रसवेग, दुःसह श्रोत्रवेग, ॥ ९ ॥

कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता ।
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा ॥ १० ॥

नीचता, अपनी बडाई, मत्सरता, पाप, दुष्कर कार्यमें प्रवृत्ति और समस्त साहसके कार्य, तथा अकार्यके अभिमानजनित पाप, लोभके कारणसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

जातौ बाल्येऽथ कौमारे यौवने चापि मानवः ।
न संत्यजत्यात्मकर्म यन्न जीर्यति जीर्यतः ॥ ११ ॥

मनुष्य जन्म कालमें, बाल्यकालमें, कौमार और युवा अवस्थामें भी जिसके कारण अपने बुरे कर्मको छोड नहीं सकते; जो मनुष्यके वृद्ध होनेपर भी जीर्ण नहीं होता, वह लोभ ही है ॥११॥

यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह ।
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः ।
न प्रहृष्यति लाभैर्यो यश्च कामैर्न तृप्यति ॥ १२ ॥

हे कुरुकुलधुरन्धर महाराज ! जैसे गहरे जलसे युक्त नदियोंके समूहसे समुद्र परिपूर्ण नहीं होता, वैसेही सदा फल प्राप्त होनेपर भी लोभको कभी परिपूर्ण नहीं किया जा सकता । लोभी मनुष्य अर्थलाभसे हर्षित और कामना सिद्ध होनेसे परितृप्त नहीं होता; ॥ १२ ॥

यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः ।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ।
स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना ॥ १३ ॥

देवता, गन्धर्व, असुर, महान सर्प और समस्त भूतगणोंसे ही लोभका यथार्थ रूप नहीं जाना जाता है । उस लोभको मोहके सहित जय करना जितेन्द्रिय पुरुषको उचित है ॥१३॥

दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ॥ १४ ॥

हे कौरव ! इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले लोभियोंमें दम्भ, दूसरेकी बुराई, पराई निन्दा, चुगली और मत्सरता उत्पन्न हुआ करती है ॥ १४ ॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ॥ १५ ॥

जो लोग अनेक शास्त्रोंको पढके बहुदर्शी और समस्त संशयोंको काटनेमें समर्थ हुए हैं, वे भी अल्पबुद्धि पुरुषोंकी भांति लोभजालमें फंसके क्लेश पाते हैं ॥ १५ ॥

द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ।
अन्तःक्षुरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव ।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥ १६ ॥

द्वेष और क्रोधसे आसक्त और शिष्टाचारसे बाहर हुए लोभी पुरुष तृणसे ढंके हुए कूएंकी भांति भीतरमें क्रूर और बाहरमें मधुर हुआ करते हैं । वे क्षुद्राशयवाले पुरुष अधर्मप्रचारक होकर धर्मके छलसे दूसरेका अनिष्ट करते हुए जगत्‌को ठगा करते हैं ॥ १६ ॥

कुर्वते च बहून्मार्गांस्तांस्तान्हेतुबलाश्रिताः ।
सर्वं मार्गं विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिताः ॥ १७ ॥

किसी युक्ति-बलके उपायको अवलम्बन करके अनेक असत् मार्ग खडे करते हैं; तथा लोभ और अज्ञानमें आसक्त होकर सत् मार्गको लुप्त करते हैं ॥ १७ ॥

धर्मस्याह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः साभिप्रपद्यते ॥ १८ ॥

लोभग्रस्त दुष्टात्माओंके अननुष्ठित धर्मकी जो जो अवस्था विगड जाती है, वह उसके अनुसार ही प्रसिद्ध हुआ करती है ॥ १८ ॥

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
तत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ।
एतानशिष्टान्बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ॥ १९ ॥

हे कुरुनन्दन ! दर्प, क्रोध, मद, स्वप्न, हर्ष, शोक और अत्यंत अभिमान—ये सब लुब्धबुद्धि पुरुषोंको आश्रय किया करते हैं; इन सब लोभयुक्त लोगोंको सदा अशिष्ट कहके मालूम करो ॥ १९ ॥

शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ।
येषु वृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ॥ २० ॥

तुम्हें शिष्ट पुरुषोंसे ही अपनी शंकाएं पूछनी चाहिये; अब पवित्र चरित्रवाले शिष्टोंका विषय कहता हूं, सुनो। हे भारत ! जिन्हें संसारमें अपनी वृत्ति और परलोकका भय नहीं है, ॥२०॥

नामिषेषु प्रसङ्गोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ।
शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥

जो विषयिक सुखमें आसक्त नहीं हैं, तथा प्रिय और अप्रिय वस्तुओंमें जिन्हें द्वेष नहीं है, जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है और इन्द्रियसंयम जिनमें प्रतिष्ठित है ॥ २१ ॥

सुखं दुःखं परं येषां सत्यं येषां परायणम् ।
दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ॥ २२ ॥

सुख तथा दुःखमें जिनका समभाव है, सत्य ही जिनका परम आश्रय है, जो दानशील और दयावान हैं, तथा दूसरेके धनको ग्रहण करनेमें पराङ्मुख हैं ॥ २२ ॥

पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ।
सर्वोपकारिणो धीराः सर्वधर्मानुपालकाः ॥ २३ ॥

जो पितरों, देवताओं और अतिथियोंको तृप्त करनेमें सदा रत रहते हैं, जो सबका उपकार करनेवाले, धीर और सब धर्मोंके पालक हैं ॥ २३ ॥

सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत।
न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारपारगाः ॥ २४ ॥

भारत ! जो सब प्राणियोंके हितैषी और साधारणके उपकारके निमित्त प्राणदान करनेमें समर्थ हैं; उन सब धार्मिक पुरुषोंको धर्ममार्गसे विचलित करनेमें किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है ॥ २४ ॥

न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम्।
न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ॥ २५ ॥

पहिलेके साधु लोग जैसा आचरण कर गये हैं, उन लोगोंका आचरण उनसे पृथक् नहीं है, उनका वह आचार नष्ट नहीं होता। जो लोग सदा सन्मार्गमें निवास करते हैं, वे किसीको भय नहीं दिखाते; वे लोग चपल और उग्र स्वभाववाले नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता।
कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ २६ ॥

जिनमें अहिंसा नित्य प्रतिष्ठित है, उन सब पुरुषोंकी सदा सेवा करनी साधुओंका कर्तव्य है। जो लोग काम, क्रोध, ममता और अहङ्कारसे रहित, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले और स्थिर मर्यादायुक्त हैं, उनकी उपासना करते हुए तुम धर्मजिज्ञासा करो ॥ २६ ॥

न गवार्थं यशोर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर।
अवश्यकार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! गौ और यशके निमित्त उनका धर्मपालन नहीं है; देह धारणके वास्ते आहार आदिकी तरह अवश्य कर्त्तव्य कहके वे लोग धर्म पालन किया करते हैं; ॥ २७ ॥

न भयं क्रोधचापल्यं न शोकस्तेषु विद्यते।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं किंचिदास्थिताः ॥ २८ ॥

उन लोगोंमें भय, क्रोध, चपलता और शोक नहीं होता, वे धर्मध्वजी वा पापण्डधर्मावलम्बी नहीं होते ॥ २८ ॥

येष्वलोभस्तथामोहो ये च सत्यार्जवे रताः।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येष्वतन्द्रीकृतं मनः ॥ २९ ॥

जिन लोगोंमें लोभ और मोह नहीं है, जो सत्य और सरलताको अवलम्बन किया करते हैं, हे कुन्तीनन्दन ! तुम सावधानचित्तसे उन लोगोंमें ही अनुरक्त रहो ॥ २९ ॥

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३० ॥

जो लोग लाभसे हर्षित और हानिसे व्यथित नहीं होते, जो ममताहीन, अहङ्काररहित, सत्त्वगुण अवलम्बी और समदर्शी होते हैं ॥ ३० ॥

लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुद्धात्मनां सत्त्वमवस्थितानाम् ॥ ३१ ॥

उन सन्मार्गमें स्थित, स्थिर पराक्रमी, बोधेच्छु पुरुषोंको लाभालाभ, सुख–दुःख, प्रियाप्रिय और जीवन–मरण सभी समान है ॥ ३१ ॥

सुखप्रियैस्तान्सुमहाप्रतापान्यत्तोऽप्रमत्तश्च समर्थयेथाः ।
दैवात्सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभा वाक्प्रलापा यथैव ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥ ५५६५ ॥

हे भद्र ! तुम इन्द्रियनिग्रहमें रत और सावधान होकर उन सब धर्मसुखप्रिय महानुभावोंका सब प्रकारसे सम्मान करना ! ये सब श्रेष्ठ पुरुष स्वभावसेही गुणवान् हैं; इन लोगोंके वचन कभी दैववशसे गुण गौरव युक्त होकर सम्पत्तिका कारण होता है, कभी वही फिर विपत्का हेतु हो जाता है ॥ ३२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५२ ॥ ५५६५ ॥

: १५३ :

युधिष्ठिर उवाच—

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह ।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! लोभ ही सब अनर्थोंका मूल है, इसे आपने कहा; तात ! इस समय अज्ञान किसे कहते हैं, उसे यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षमम् ।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले– जो पुरुष अज्ञानताके कारण पापाचरण करता है, उससे अपना नाश होगा उसे वह नहीं जान सकता, तथा उत्तम चरित्रवाले पुरुषोंसे द्वेष करता है, वह लोगोंके समीप निन्दनीय होता है ॥ २ ॥

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम् ।
अज्ञानात्क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥ ३ ॥

मनुष्य अज्ञानके वशमें होके नरकगामी, दुर्गतिभागी, क्लेश तथा आपदायुक्त हुआ करता है ॥३॥

युधिष्ठिर उवाच—

अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिं क्षयोदयौ ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले— अब मैं अज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उदय, मूल, योग, गति, काल, कारण और हेतु क्या है ? ॥ ४ ॥

श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव ।
अज्ञानप्रभवं हीदं यद्दुःखमुपलभ्यते ॥ ५ ॥

हे राजन् ! उसे यथार्थ रीतिसे तत्त्वके साथ सुननेकी इच्छा करता हूं; क्योंकि जो दुःख भोग किया जाता है, वह अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रीरालस्यमेव च ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, ॥६॥

इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता ।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥ ७ ॥

सब विषयोंमें अभिलाष, वैर, पराई वृद्धिमें परिताप और पापकर्म— ये सब अज्ञान कहके वर्णित हुए हैं ॥ ७ ॥

एतया या प्रवृत्तिश्च वृद्ध्यादीन्यांश्च पृच्छसि ।
विस्तरेण महाबाहो शृणु तच्च विशां पते ॥ ८ ॥

हे महाबाहो राजन् ! तुम जो अज्ञानकी उत्पत्ति और वृद्धि आदि पूछते हो, उसे विशेष तथा विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो ॥ ८ ॥

उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत ।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव ॥ ९ ॥

हे भारत ! पृथ्वीपति ! अज्ञान और अत्यन्त लोभ, इन दोनोंका फल तथा दोप समान हैं, इसलिये तुम इन दोनोंको एक ही समझो ॥ ९ ॥

लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्धते ।
स्थाने स्थानं क्षये क्षैण्यमुपैति विविधां गतिम् ॥ १० ॥

लोभकी वृद्धि, क्षय और उत्पत्तिके अनुसार उससे प्रकट हुआ अज्ञान वर्द्धित, क्षीण और उदित हुआ करता है। अज्ञान और लोभके कारण ही जीव अनेक योनियोंमें जन्मता है ॥१०॥

+

मूलं लोभस्य महतः कालात्मगतिरेव च ।
छिन्नेऽच्छिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव हि ॥ ११ ॥

मोह ही महान् लोभका मूल है, और यह कालस्वरूप अज्ञान ही मनुष्यकी बुरी गतिका कारण है; लोभके छिन्नभिन्न होनेमें काल ही कारण है ॥ ११ ॥

तस्याज्ञानात्तु लोभो हि लोभादज्ञानमेव च ।
सर्वे दोषास्तथा लोभात्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १२ ॥

अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान होता है तथा लोभसे ही दूसरे सब दोष उत्पन्न हुआ करते हैं; इसलिये लोभको त्याग देना चाहिये ॥ १२ ॥

जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित् ।
लोभक्षयाद्दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये जनाधिपाः ॥ १३ ॥

जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् और दूसरे बहुतेरे राजा लोग लोभ त्यागनेसे देवलोकमें गये हैं ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना ।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥ ५५७९ ॥

हे कुरुवर ! प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोभका तुम स्वयं परित्याग करो । लोभका त्याग कर इस लोकमें सुख और परलोकमें परम आनन्द प्राप्त करोगे ॥ १४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तिरपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५३ ॥ ५५७९ ॥

: १५४ :

युधिष्ठिर उवाच—

स्वाध्यायकृतयत्नस्य ब्राह्मणस्य पितामह ।
धर्मकामस्य धर्मात्मन्किं नु श्रेय इहोच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे धर्मात्मन् ! पितामह ! स्वाध्यायमें यत्नशील धर्म पालन करनेवाले ब्राह्मणके विषयमें इस लोकमें क्या कल्याणदायक है ? ॥ १ ॥

बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे ।
अस्मिँल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! जगत्में श्रेयका प्रतिपादन करनेवाले अनेक दर्शन—मत हैं; इनके बीच इस लोक और परलोकमें जिसके जरिये कल्याण हो, जिसे आप श्रेय मानते हैं— आप मुझसे वही कहिये ॥२॥

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ ३ ॥

हे भारत ! धर्मका मार्ग बहुत बडा और अनेक शाखाओंसे युक्त है; इसमेंसे धर्मका कौनसा अंश पालन करने योग्य माना जाता है ? ॥ ३ ॥

धर्मस्य महतो राजन्बहुशाखस्य तत्त्वतः ।
यन्मूलं परमं तात तत्सर्वं ब्रूह्यतन्द्रितः ॥ ४ ॥

अनेक शाखाओंसे युक्त धर्म अत्यन्त महत् पदार्थ है, इसलिये उस महान् धर्मका जो परम मूल है, तात ! आप वह सब यथार्थ रीतिसे सावधान होकर वर्णन करिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयः प्रपत्स्यसे ।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥

भीष्म बोले– हे राजन् ! मैं तुम्हारा प्रश्न सुनके सन्तुष्ट हुआ, जिससे तुम्हारा कल्याण होगा, उसे कहता हूं । अमृत पीके जिस प्रकार तृप्ति होती है, तुम भी वैसे ही ज्ञानी होकर इस ज्ञानसे तृप्त हो जाओगे ॥ ५ ॥

धर्मस्य विधयो नैके ते ते प्रोक्ता महर्षिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥

महर्षियोंने निज निज विज्ञानको अवलम्बन करके धर्मकी एक नहीं, अनेक प्रकारकी विधियां बतायी हैं; उनमें इन्द्रियनिग्रहही परम श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

निश्चयदर्शी वृद्ध लोग इन्द्रिय–निग्रहको ही कल्याणका कारण कहा करते हैं; विशेष करके ब्राह्मणोंके विषयमें इन्द्रियनिग्रह ही सनातन धर्म है ॥ ७ ॥

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥

असंयमी ब्राह्मणकी विधिपूर्वक कार्यसिद्धि नहीं होती; दमगुण दान, यज्ञ, वेदाध्ययनसे भी उत्तम है ॥ ८ ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥

दमसे तेजकी वृद्धि होती है; दम परम पवित्र साधन है; दमको अवलम्बन करनेसे पुरुष पापरहित और तेजस्वी होकर महत् फल लाभ कर सकता है ॥ ९ ॥

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥ १० ॥

हमने लोकमें इन्द्रियनिग्रहके समान दूसरा धर्म और कुछ भी नहीं सुना है । सभी धर्मवालोंने सब कर्मोंके बीच इन्द्रिय-निग्रह ही परम श्रेष्ठ कहा है, और उसकी अत्यंत प्रशंसा की है ॥ १० ॥

प्रेत्य चापि मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् ।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥

हे नरनाथ ! इन्द्रियोंको निग्रह करनेवाले पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति होती है; वह इस लोक और परलोकमें परम सुख भोग करता है ॥ १० ॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥

इन्द्रिय दमन करनेवाला पुरुष सुखसे सोता, जागता तथा सब ठौर विचरता है और उसका मन सदा प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान्प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥ १३ ॥

असंयमी पुरुष सदा क्लेश भोग करते हुए, अपने दोषोंके कारणसे ही बहुत अनर्थोंमें फंसता है ॥ १३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥

पण्डितोंने कहा है, चारों आश्रमोंके बीच इन्द्रिय निग्रह ही उत्तम व्रत है । हे कुरुनन्दन ! इससे जिसकी समष्टिको दम कहते हैं उसका सब लक्षण कहता हूं ॥ १४ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाविजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥

क्षमा, धीरज, अहिंसा, सब जीवोंमें समभाव, सत्य, सरलता, इन्द्रियोंको जीतना, दक्षता, कोमलता, लज्जा, चपलतारहितता, ॥ १५ ॥

अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविवित्सानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

अकृपणता, अक्रोध, सन्तोष, प्रियवादिता, दूसरोंके दोष न देखना और असूयाहीनता— इन गुणोंका उदय होना ही दम है ॥ १६ ॥

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादोऽमृषावादः स्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन ! गुरुसेवा, सब जीवोंके विषयमें दया और चुगली न खाना— ये गुण दम करनेवालेमें होते हैं । धर्मात्मा पुरुष खलता, लोकापवाद, मिथ्या वचन, स्तुति, निन्दा, ॥ १७ ॥

काम: क्रोधश्च लोभश्च दर्प: स्तम्भो विकत्थनम्।
मोह ईर्ष्यावमानश्चेत्येतद्दान्तो न सेवते ॥ १८ ॥

काम, क्रोध, लोभ, गर्व, अविनय, अपनी बडाई, मोह, ईर्षा और दूसरोंका अपमान— इन दुर्गुणोंका सेवन नहीं करता ॥ १८ ॥

अनिन्दितो ह्यकामात्माथाल्पेच्छोऽथानसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कदाचन पूर्यते ॥ १९ ॥

वह अनिन्दित, कामनारहित, छोटी छोटी वस्तुओंकी इच्छा नहीं करता और असूयारहित होता है; और जैसे समुद्र जलसे परिपूर्ण नहीं होता, वैसे ही वह ब्रह्मलोक प्राप्त होनेपर भी किसी भांति तृप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

अहं त्वयि मम त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम्।
पूर्वसंबन्धिसंयोगान्नैतद्दान्तो निषेवते ॥ २० ॥

जितेन्द्रिय पुरुष मैं तुम्हारे, तुम मेरे, वह मेरा, मैं उसका; ऐसे सम्बन्धयुक्त ममतापाशमें बद्ध नहीं होता ॥ २० ॥

सर्वा ग्राम्यास्तथारण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥

ग्राम और अरण्य भेदसे लोकके बीच जो दो प्रकारकी प्रवृत्तियां हैं, उसमें तथा निन्दा और प्रशंसामें जो आसक्त नहीं होता, वही मुक्ति लाभ किया करता है ॥ २१ ॥

मैत्रोऽथ शीलसंपन्नः सुसहायपरश्च यः।
मुक्तश्च विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य महत्फलम् ॥ २२ ॥

जो सब जीवोंके प्रति हितैषी, शीलयुक्त, दूसरोंको नित्य सहाय करनेवाला, आत्मज्ञानी और अनेक तरहकी विषयासक्तिसे रहित है, उसे परलोकमें महत् फल प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

सुवृत्तः शीलसंपन्नः प्रसन्नात्मात्मविद्बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

सच्चरित्र, सुशील, प्रसन्नचित्त और आत्मवित् पुरुष इस लोकमें साधुता पाके परलोकमें सद्गति लाभ करता है ॥ २३ ॥

कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत्।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्धर्मो न हीयते ॥ २४ ॥

इस लोकमें जो कर्म शुभरूपसे प्रसिद्ध है और साधु लोग जिसका आचरण किया करते हैं, ज्ञानयुक्त मौनावलम्बी मनुष्यका वही स्वाभाविक धर्म है; वह इस मार्गसे कभी च्युत नहीं होता ॥ २४ ॥

निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरन्नेवं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २५ ॥

ज्ञानयोगसे युक्त होकर जो जितेन्द्रिय पुरुष घर त्यागके वनमें जाकर मृत्युकालकी प्रतीक्षा करके समय बिताता हुआ व्रताचरण करता है, वह ब्रह्मसारूप्य लाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥

सब जीवोंसे जिसे भय नहीं होता और जिससे सब भूतोंको भी भयकी सम्भावना नहीं रहती, उस देहाभिमानसे रहित पुरुषको कहींसे भी भय नहीं होता ॥ २६ ॥

अवाचिनोति कर्माणि न च संप्रचिनोति ह ।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥

जो भोगके जरिये कर्मफलोंका नाश करता और कभी उसे सञ्चय करके नहीं रखता, वह सब प्राणियोंमें समदर्शी विद्वान् पुरुष सब जीवोंको मित्रकी भांति अभयदान देता हुआ विचरता है ॥ २७ ॥

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य वा ।
यथा गतिर्न दृश्यते तथा तस्य न संशयः ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियों और जलमें जलचरोंकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती, वैसे ही निःसन्देह सब जीवोंके हितैषी पुरुषकी गति नेत्रसे नहीं दीख पडती ॥ २८ ॥

गृहानुत्सृज्य यो राजन्मोक्षमेवाभिपद्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः ॥ २९ ॥

हे राजन् ! जो गृह त्यागके मोक्ष मार्गका पथिक होता है, उसके वास्ते सदाके लिये तेजोमय समस्त लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः ।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥
कामेषु चाप्यनावृत्तः प्रसन्नात्मात्मविच्छुचिः ।
प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते ॥ ३१ ॥

जो कामभोगोंसे पराङ्मुख, प्रसन्नात्मा, आत्मवित् और आचार-विचारसे शुद्ध मनुष्य है, वह सब कर्मोंका, तपस्याका और विविध विद्याओंका विधिपूर्वक संन्यास करते हुए सर्व त्यागी संन्यासी होकर इस लोकमें आदरयुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३०-३१ ॥

यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम् ।
गुहायां पिहितं नित्यं तद्दमेनाभिपद्यते ॥ ३२ ॥

पितामहके तपसे उत्पन्न हुआ जो उनका स्थान है, वह हृदय गुफाके बीच छिपा हुआ नित्यलोक है, वह इन्द्रियोंके जीतनेसे प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः ।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोके भयं कुतः ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानकी आलोचनासे तृप्त और सावधान हुआ है, तथा किसीके सङ्ग जिसका विरोध नहीं है, ऐसे ज्ञानीको इस लोकमें फिर जन्म लेनेका भय नहीं रहता । तब परलोकका भय क्यों होगा ? ॥ ३३ ॥

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय जीतनेमें एकही दोष दीख पडता है, दूसरा नहीं देखा जाता । दमयुक्त पुरुष क्षमाशील होता है, इसीसे लोग उसे असमर्थ समझते हैं ॥ ३४ ॥

एतस्य तु महाप्राज्ञ दोषस्य सुमहान्गुणः ।
क्षमायां विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुना ॥ ३५ ॥

हे महाबुद्धिमान् धर्मराज ! उसके इस एकही दोषका महान् गुण है; क्षमावृत्तिसे उसको विपुल लोक सुलभ होते हैं और क्षमासे सहिष्णुता भी आ जाती है ॥ ३५ ॥

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत ।
यत्रैव हि वसेद्दान्तस्तदरण्यं स आश्रमः ॥ ३६ ॥

संयमी पुरुषको वनमें जानेका क्या प्रयोजन है ? और असंयमीको वनमें रहनेसे क्या लाभ है ? संयमी जिस स्थानमें निवास करता है, वही वन और आश्रम सदृश हुआ करता है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतद्भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥ ३७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले—राजा युधिष्ठिर भीष्मके ऐसे वचन सुन इस प्रकार आनन्दित हुए, जैसे कोई अमृत पीके तृप्त होता है ॥ ३७ ॥

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।
ततः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥ ५६१७ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! उन्होंने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शान्तनुपुत्रसे फिर तपस्याके विषयमें प्रश्न किया । अनन्तर भीष्मदेव प्रसन्न होके उस विषयमें सब कुछ उनसे कहने लगे ॥ ३८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ १५४ ॥ ५६१७ ॥

: १५५ :

भीष्म उवाच—

सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते ।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्यते ॥ १ ॥

भीष्म बोले—ऋषि लोग इस जगत्का तप ही मूल कारण कहा करते हैं; जो मूढबुद्धि तपस्या नहीं करता, वह कभी कर्मका फल नहीं पाता ॥ १ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

सर्व शक्तिमान् प्रजापतिने तपोबलसे ही इस दृश्यमान जगत्को बनाया है; इसी तरह ऋषियोंने भी तपके प्रभावसे वेदोंको प्राप्त किया है ॥ २ ॥

तपसो ह्यानुपूर्व्येण फलमूलानिलाशनाः ।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥

विधाताने फल, मूल आदि अन्नोंको तपस्यासे ही उत्पन्न किया है; एकान्त योगयुक्त सिद्धि लोग तपके प्रभावसे तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ३ ॥

औषधान्यगदादीनि तिस्रो विद्याश्च संस्कृताः ।
तपसैव हि सिध्यन्ति तपो मूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥

रोगनाश करनेवाली सब औषधि, आरण्य और तीनों पवित्र विद्याएं तपस्यासे ही सिद्ध होती हैं, सब साधनोंका मूल तप ही है ॥ ४ ॥

यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरुत्सहम् ।
सर्वं तत्तपसा शक्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ५ ॥

संसारमें जो दुर्लभ बडी कठिनतासे वशमें होने योग्य, दुराधर्ष और दुःसह है; वह सब तपस्यासे सुलभ हो सकता है; क्योंकि तप अत्यंत प्रबल है ॥ ५ ॥

सुरापोऽसंमतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापाद्विमुच्यते ॥ ६ ॥

सुरा पीनेवाला, धन हरनेवाला, भ्रूणहत्या करनेवाला और गुरुस्त्रीगामी मनुष्य उत्तम रीतिसे तपस्या करनेपर उन पापोंसे छूट जाता है ॥ ६ ॥

तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः ।
निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात्परम् ॥ ७ ॥

तपस्याके अनेक रूप हैं तथा भिन्न-भिन्न मार्गोंसे मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है। विषयिक-सुखभोगोंसे निवृत्त होके चलनेवालेको अनशनसे बढके परम तपस्या और कुछ भी नहीं है ॥७॥

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम् ॥ ८ ॥

महाराज ! अहिंसा, सत्यवचन, दान और इन्द्रियदमनसे बढकर तप है और उपवाससे बडी दूसरी तपस्या नहीं है ॥ ८ ॥

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रमः ।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥

दानसे बढकर कुछ भी कठिन धर्म नहीं है; जननीकी सेवाको अतिक्रम करके दूसरे आश्रममें गमन करना धर्म नहीं है; तीनों वेदोंके विद्वानोंसे दूसरा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है; संन्यासही परम तपस्या है ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति धनधान्याभिगुप्तये ।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात्परम् ॥ १० ॥

लोग सुख-समृद्धि और धन-धान्यादिकी रक्षाके निमित्त इस लोकमें इन्द्रियसंयम किया करते हैं, उनके निमित्त धर्म और अर्थके सिद्धिके लिये तप श्रेष्ठ साधन है और अनशन व्रतसे श्रेष्ठ दूसरी कोई तपस्या नहीं है ॥ १० ॥

ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगसत्तमाः ।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ११ ॥

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, मृग श्रेष्ठ तथा इनके अतिरिक्त दूसरे जो सब स्थावर–जङ्गम जीव हैं, ॥ ११ ॥

तपःपरायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं चाप्यवाप्नुवन् ॥ १२ ॥

वे सभी तपस्यामें रत होके तपके जरिये सिद्ध होते हैं। इसी भांति देवताओंको भी तपस्याके जरिये महत्व प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसा सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥ ५६३० ॥

ये अनेक जो अभीष्ट फल कहे हैं, वे सब सदा तपस्यासे सुलभतया प्राप्त होते हैं; तपस्यासे निःसन्देह देवत्व भी प्राप्त हो सकता है ॥ १३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५५ ॥ ५६३० ॥

×

: १५६ :

युधिष्ठिर उवाच—

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता लोग सत्य धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं; इसलिये मैं सत्यधर्म सुननेकी अभिलाषा करता हूं; आप मुझसे वही कहिये ॥ १ ॥

सत्यं किंलक्षणं राजन्कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत्किं च कथं चैव तदुच्यते ॥ २ ॥

राजन् ! सत्यका क्या लक्षण है ? किस प्रकार वह प्राप्त होता है ? और सत्यके पालनसे क्या लाभ होता है ? कैसे होता है ? आप उसे वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते ।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मोंके बीच परस्पर संकर उत्तम नहीं माना जाता है; सब वर्णोंके बीच अविकारी सत्य ही श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥

साधुओंके समीप सत्यधर्म ही सदा आदरणीय है, सत्य ही सनातन धर्म है; सब कोई सत्यका आदर करें, सत्य ही परम गति है ॥ ४ ॥

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

धर्म, तपस्या और योगसाधन सत्य है; सत्यही सनातन ब्रह्म है; सत्यही परम श्रेष्ठ यज्ञ कहके वर्णित होता है और सब वस्तु ही सत्यसे प्रतिष्ठित हो रही है ॥ ५ ॥

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः ।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

सत्यका जैसा स्वरूप आचार और लक्षण है, उसे मैं विधिपूर्वक विस्तारके सहित क्रमशः कहता हूं ॥ ६ ॥

प्राप्यते ह यथा सत्यं तच्च श्रोतुं त्वमर्हसि ।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥

और जिस प्रकार सत्य प्राप्त होता है, उसे भी वर्णन करूंगा, तुम इसके सुननेके योग्य पात्र हो । हे भारत ! सब लोगोंके बीच सत्य तेरह प्रकारके रूपसे विख्यात है ॥ ७ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता　　॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरहीनता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, ॥ ८ ॥

त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश　　॥ ९ ॥

त्याग, ध्यान, आर्यत्व, नित्य स्थिर रहनेवाली धृति तथा अहिंसा— ये तेरह प्रकार सत्यके रूप हैं ॥ ९ ॥

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धं च योगेनैतदवाप्यते　　॥ १० ॥

अव्यय और अविकारी नित्य वस्तुका नाम सत्य है; सब धर्मोंके अविरोधयोगके जरिये वह प्राप्त होता है ॥ १० ॥

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा　　॥ ११ ॥

अपने इष्ट और शत्रुके अनिष्ट विषयोंमें तुल्य दृष्टि रखना समता कहते हैं । इच्छा, द्वेष, काम और क्रोधको नष्ट करना ही समत्वकी प्राप्तिका उपाय है ॥ ११ ॥

दमो नान्यस्पृहा नित्यं धैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
अभयं क्रोधशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते　　॥ १२ ॥

दूसरेकी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रखनी, सदा धीरज और गम्भीरता रखना, भयको त्यागना और क्रोधको शान्त करना— यह दमका लक्षण है; यह ज्ञानके प्रभावसे प्राप्त होता है ॥१२॥

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दानं धर्मे च संयमम् ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत्　　॥ १३ ॥

दान और धर्म विषयके संयमको पण्डित लोग अमात्सर्य कहते हैं; सदा सत्य मार्गमें स्थित रहनेसे मनुष्य मत्सरतासे रहित होता है ॥ १३ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सर्वतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवान्　　॥ १४ ॥

अक्षमा और क्षमाके विषयमें तथा प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको—वचनोंको भी जो समानरूपसे सहन करता है, वही सर्वसम्मतः क्षमावान् श्रेष्ठ पुरुष है; सत्यवादी पुरुष उत्तम रीतिसे इस क्षमाभावकी शक्तिको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

कल्याणं कुरुते गाढं ह्रीमान्न श्लाघते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते　　॥ १५ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य दूसरोंका अत्यंत कल्याण करता है, कभी भी आत्मश्लाघा नहीं करता, जो सदा शान्तचित्त और स्थिर वचनवाला रहता है, वह लज्जाशील कहा जाता है; यह लज्जा धर्मयुक्त आचरणसे प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं तु सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥

धर्म और अर्थके निमित्त मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कही जाती है; लोक-संग्रहके लिये क्षमाका पालन अवश्य करना चाहिये; धीरजसे तितिक्षा प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

त्यागः स्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

ममता और विषयवासनाका परित्याग करनेका नाम त्याग है; राग-द्वेषसे रहित पुरुष ही त्यागी होता है; दूसरा नहीं ॥ १७ ॥

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागत्वमेव च ॥ १८ ॥

यत्नपूर्वक जीवोंके प्रति अपनेको प्रकट न करके शुभ कार्योंको सिद्ध करनेके कार्यको ही आर्यता कहते हैं, यह आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १९ ॥

जिसके जरिये सुख और दुःखकी विकृति नहीं होती, उसे ही धृति कहा जाता है; जो बुद्धिमान् पुरुष अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करे, वह सदा धृतिके वशवर्त्ती होवे ॥ १९ ॥

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥ २० ॥

मनुष्य सदा क्षमाशील और सत्यपरायण होवे; जिसने हर्ष, भय और क्रोधका परित्याग किया है, वह पण्डित पुरुष ही धृतिलाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ २० ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

वचन, मन और कर्मके जरिये सब जीवोंके विषयमें अद्रोह, अनुग्रह और दान करना साधुओंका सनातन धर्म है ॥ २१ ॥

एते त्रयोदशाकाराः पृथक्सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ति च भारत ॥ २२ ॥

हे भारत ! येही तेरह प्रकारके पृथक् पृथक् गुणोंके इकट्ठे होनेपर सत्य होता है; इस लोकमें ये सब सत्यका ही आसरा लेते और उसकी वृद्धि करते हैं ॥ २२ ॥

नान्तः शक्यो गुणानां हि वक्तुं सत्यस्य भारत।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ २३ ॥

हे भारत ! सत्यके सब गुणोंका अन्त नहीं कहा जा सकता; इसीलिये पितरों और देवताओंके सहित ब्राह्मण लोग सत्यकी प्रशंसा किया करते हैं ॥ २३ ॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥ २४ ॥

सत्यसे बढके परम धर्म और कुछ भी नहीं है। मिथ्याके समान परम पाप दूसरा कुछ नहीं है। सत्य ही धर्मका आसरा है; इसलिये सत्यका लोप न करे ॥ २४ ॥

उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ॥ २५ ॥

सत्यसे ही दान, दक्षिणायुक्त यज्ञ, अग्निहोत्र, समस्त वेद और दूसरे जो धर्मका निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनका भी फल मनुष्य प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥ ५६५६ ॥

एक ओर सहस्र अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर अकेले सत्यके तुलादण्डपर रखनेसे सहस्र अश्वमेधसे अकेला सत्य अधिक होता है ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ १५६ ॥ ५६५६ ॥

: १५७ :

युधिष्ठिर उवाच—

यतः प्रभवति क्रोधः कामश्च भरतर्षभ।
शोकमोहौ विवित्सा च परासुत्वं तथा मदः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबुद्धिमान् भरतश्रेष्ठ ! क्रोध, काम, शोक, मोह, दोष जाननेकी इच्छा, पराधीनता, मद, ॥ १ ॥

लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत्सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ॥ २ ॥

लोभ, मत्सरता, ईर्षा, निन्दा, असूया और कृपा— ये दोष जिससे उत्पन्न होते हैं, आप मेरे समीप उसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

त्रयोदशैतेऽतिबला: शत्रव: प्राणिनां स्मृता: ।
उपासते महाराज समस्ता: पुरुषानिह ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे धर्मराज ! ये तेरह दोष प्राणियोंके अत्यंत प्रबल शत्रु माने गये हैं, ये सब यहां मनुष्योंको ग्रस्त करते हैं ॥ ३ ॥

एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्ता नुदन्ति हि ।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषेतरान् ॥ ४ ॥

ये सदा सावधान रहकर स्खलित पुरुषको भ्रमित करते हैं; मनुष्यको देखते ही भेडियोंकी तरह उसको खाने लगते हैं ॥ ४ ॥

एभ्य: प्रवर्तते दु:खमेभ्य: पापं प्रवर्तते ।
इति मर्त्यो विजानीयात्सततं भरतर्षभ ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इन्हींसे दु:ख प्राप्त होता है, इन्हींसे पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है; यह मनुष्यको सदा जानना उचित है ॥ ५ ॥

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पुरुषोत्तम ।
हन्त ते वर्तयिष्यामि तन्मे निगदत: शृणु ॥ ६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति और निवृत्तिका विषय तुम्हारे समीप वर्णन करूंगा। वह तुम सावधान होकर मुझसे सुनो ॥ ६ ॥

लोभात्क्रोध: प्रभवति परदोषैरुदीर्यते ।
क्षमया तिष्ठते राजञ्श्रीमांश्च विनिवर्तते ॥ ७ ॥

लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और वह पराये दोष देखनेसे उद्दीप्त होकर, क्षमाके सहारे निवद्ध वा निवृत्त हुआ करता है ॥ ७ ॥

संकल्पाज्जायते काम: सेव्यमानो विवर्धते ।
अवद्यदर्शनाद्व्येति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम् ॥ ८ ॥

सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है, उसकी जितनी ही सेवा की जाय उतना ही वह बढता है। मनमें अनिष्ट वस्तुओंके दर्शनसे भी इसकी उत्पत्ति होती और बुद्धिमान् पुरुषोंके तत्वज्ञानके जरिये निवृत्ति देखी जाती है ॥ ८ ॥

विरुद्धानि हि शास्त्राणि पश्यन्तीहाल्पबुद्धय: ।
विवित्सा जायते तत्र तत्त्वज्ञानान्निवर्तते ॥ ९ ॥

यहां जो अल्पबुद्धि लोग धर्मके विरोधी शास्त्रोंको देखते हैं, उन लोगोंकी विवित्सा अर्थात् कार्यके आरम्भमें व्यग्रता उत्पन्न होती है; तत्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति हुआ करती है ॥ ९ ॥

प्रीतेः शोकः प्रभवति वियोगात्तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ १० ॥

प्रणययुक्त देहधारी जीवको पुत्र आदिके वियोगके कारण शोक उत्पन्न होता है; जब मनुष्यको यह विदित होता है कि शोक व्यर्थ है, तब उस समय ही शोककी शान्ति हुआ करती है ॥ १० ॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते ।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात्सा निवर्तते ॥ ११ ॥

क्रोध, लोभ और अभ्यासके कारणसे अकार्य परतन्त्रता प्रकट होती है; सब जीवोंमें दया और वैराग्यके कारण उसकी निवृत्ति होती है ॥ ११ ॥

सत्त्वत्यागात्तु मात्सर्यमहितानि च सेवते ।
एतत्तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १२ ॥

सत्त्वके त्यागने और अनिष्ट-विषयोंकी सेवा करनेसे मत्सरता उत्पन्न होती है; तात ! वह साधुओंकी सङ्गति करनेसे नष्ट होती है ॥ १२ ॥

कुलाज्ज्ञानात्तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।
एभिरेव तु विज्ञातैर्मदः सद्यः प्रणश्यति ॥ १३ ॥

देहधारी मनुष्योंमें कुलकी मर्यादा, विद्या और ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है; इन सबकी यथार्थता मालूम होनेपर उसही समय मदका नाश होता है ॥ १३ ॥

ईर्ष्या कामात्प्रभवति संघर्षाच्चैव भारत ।
इतरेषां तु मर्त्यानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १४ ॥

हे भारत ! काम और संघर्षसे ईर्षा प्रकट होती है, साधारण प्राणियोंकी विवेकशील बुद्धिद्वारा वह नष्ट होती है ॥ १४ ॥

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसंगतैः ।
कुत्सा संजायते राजन्नुपेक्षाभिः प्रशाम्यति ॥ १५ ॥

हे राजन् ! समाजसे च्युत लोगोंके द्वेषपूर्ण और असम्मत वचनोंको सुनकर भ्रममें पडनेसे—निन्दा करनेकी—कुत्साकी उत्पत्ति होती है । उपेक्षासे उसकी शान्ति होती है ॥ १५ ॥

प्रतिकर्तुमशक्याय बलस्थायापकारिणे ।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद्विनिवर्तते ॥ १६ ॥

जो लोग बलवान् शत्रुके प्रतिकार करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन लोगोंमें तीक्ष्ण असूया उत्पन्न हुआ करती है, करुणाका भाव होनेसे वह निवृत्त होती है ॥ १६ ॥

कृपणान्सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा ।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥ १७ ॥

सदा अनाथ पुरुषोंके देखनेसे कृपा उत्पन्न होती है; धर्मनिष्ठ पुरुषोंके उदार भाव विदित होनेपर उसकी निवृत्ति हुआ करती है ॥ १७ ॥

एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश ।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश ।
त्वया सर्वात्मना नित्यं विजिता जेष्यसे च तान् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥ ५६७४ ॥

बुद्धिमान् लोग कहा करते हैं, कि शान्तिके जरिये इन तेरहों दोषोंको पराजित किया जाता है । धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें येही सब दोष थे, सर्वात्मन् तुमने सत्यके अभिलाषी होकर इन सबपर जय किया है ॥ १८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५७ ॥ ५६७४ ॥

: १५८ :

युधिष्ठिर उवाच—
आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा ।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! मैं सदा साधुओंकी सङ्गतिमें रहनेसे कोमलतापूर्ण वर्तावको जानता हूं; नृशंस और उनके कर्मोंके विषयको नहीं जानता ॥ १ ॥

कण्टकान्कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः ।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥

लोग कांटे, कूएं और अग्निको जिस तरह त्यागते हैं, निठुर मनुष्यको भी उसी तरह परित्याग किया करते हैं ॥ २ ॥

नृशंसो ह्यधमो नित्यं प्रेत्य चेह च भारत ।
तस्माद्ब्रवीहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

भारत ! नृशंस पुरुष इस लोक और परलोकमें सदा स्पष्ट रूपसे अधम ही है; इसलिये आप उस विषय और कर्मनिर्णयको वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—
स्पृहास्यान्तर्हिता चैव विदितार्था च कर्मणा ।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव बन्धिता बध्यते च यः ॥ ४ ॥

भीष्म बोले—नृशंस पुरुषके मनमें स्पृहा रहती है और उसके कर्मसे उसके दुष्ट हेतु जान पडते हैं; वह स्वयं जन समाजमें निन्दनीय होकर भी सदा दूसरेकी निन्दा करता है और अपनेको सबके समीप बन्धनयुक्त समझता और पापमें प्रवृत्त होता है ॥ ४ ॥

दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः ।
असंभोगी च मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥ ५ ॥

वह दिये हुए दानकी प्रशंसा करता है, उसके मनमें विषमता भरी रहती है, नीच बुद्धि, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला और शठ होता है; असंभोगी, अभिमानी, आसक्त और अपनी बडाईमें रत होकर निज वदान्यता प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

सर्वातिशङ्की पुरुषो बालिशः कृपणस्तथा ।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥ ६ ॥

सबकी ही शङ्का किया करता है; कठोर स्वभाववाला मूर्ख और कृपण होता है; निज सम्प्रदायकी प्रशंसा, आश्रमोंसे द्वेष करता और वर्णसंकरता फैलाता है ॥ ६ ॥

हिंसाविहारी सततमविशेषगुणागुणः ।
बह्वलीको मनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥ ७ ॥

सदा हिंसामें प्रवृत्त होकर घूमता है, दोष गुणका विचार नहीं करता; बहुतसी न कहने योग्य बात कहता है, अशान्त चित्त और लोभी होकर निठुर कार्य किया करता है ॥ ७ ॥

धर्मशीलं गुणोपेतं पाप इत्यवगच्छति ।
आत्मशीलानुमानेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥ ८ ॥

धर्म करनेवाले गुणवान् मनुष्यको ही पापी कहके निश्चय करता है, अपने चरित्रके प्रमाण अनुसार दूसरे किसीपर विश्वास नहीं करता ॥ ८ ॥

परेषां यत्र दोषः स्यात्तद्गुह्यं संप्रकाशयेत् ।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥ ९ ॥

दूसरोंका दोष देखनेपर उनके गुप्त दोषोंको प्रकट करता है; दूसरेका दोष निज दोषके समान होनेपर भी जीविका निर्वाहके लिये दूसरेका नाश करता है ॥ ९ ॥

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम् ।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥ १० ॥

उपकारी पुरुषको वह केवल वञ्चित समझता है; समयके अनुसार उपकारीको धनदान करके फिर दुःख किया करता है ॥ १० ॥

भक्ष्यं भोज्यमथो लेह्यं यच्चान्यत्साधु भोजनम् ।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंस इति तं विदुः ॥ ११ ॥

प्राप्त हुए उत्तम भक्ष्य, भोज्य, पेय और अन्य वस्तुओंको दूसरेके देखते रहते भी जो पुरुष अकेला भोजन करता है, उसे भी नृशंस कहते हैं ॥ ११ ॥

×

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते ।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२॥

जो पहिले ब्राह्मणको भोजनकी वस्तुओंको दान करके पीछे सुहृदोंके सङ्ग उसे भोजन करता है, वह इस लोकमें अनन्त सुख भोग करता है और अन्तकालमें स्वर्ग लाभ करता है ॥१२॥

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः ।
सदा विवर्जनीयो वै पुरुषेण बुभूषता ॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥ ५६८७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यही तुम्हारे निकट नृशंस मनुष्यका विषय वर्णन किया है । विज्ञानयुक्त मनुष्यको सदा नृशंसका सङ्ग परित्याग करना उचित है ॥ १३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एकसौ अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५८ ॥ ५६८७ ॥

: १५९ :

भीष्म उवाच—

कृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः ।
आचार्यपितृभार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि वा ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! सब वेदोंके जाननेवाले, यज्ञशील, धर्मात्मा साधु ब्राह्मणके कृतार्थ होनेपर आचार्य कार्य, पितर कर्म, भार्याका पोषण और पढनेके लिये उसको अर्थदान करना अवश्य उचित है ॥ १ ॥

एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः ।
अस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

ये श्रेष्ठ ब्राह्मण केवल धर्मके लिये धनकी याचना करते देखे गये हैं; इन निर्धनोंको दान और विद्याभ्यासके लिये विशेष करके धन देना चाहिये ॥ २ ॥

अन्यत्र दक्षिणा या तु देया भरतसत्तम ।
अन्येभ्यो हि बहिर्वेद्यां नाकृतान्नं विधीयते ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इससे भिन्न परिस्थितिमें ब्राह्मणको और अन्य लोगोंको केवल दक्षिणा देवें; यज्ञवेदीसे बाहर कच्चा अन्न देनेका विधान नहीं है ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा च यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणाश्चैव यज्ञाश्च सहान्नाः सहदक्षिणाः ॥ ४ ॥

राजा ब्राह्मणोंको उनकी योग्यताके अनुसार सब प्रकारके रत्न दान करे; ब्राह्मण लोग ही वेद, अन्न और दक्षिणायुक्त यज्ञ स्वरूप है ॥ ४ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥

जिस ब्राह्मणके पास अपने आश्रितोंके पालन करनेके निमित्त त्रिवर्षिक और उससे भी अधिक धन- अन्न उपस्थित रहता है, वही सोमपान करनेमें समर्थ होता है ॥ ५ ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिविद्धः स्यादङ्गेनैकेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ६ ॥

धर्मात्मा राजा वर्त्तमान रहते हुए किसी यज्ञ करनेवाले विशेष करके ब्राह्मणका यज्ञ यदि एक अंगके जरिये रुक जाय, ॥ ६ ॥

यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥

तो राजा यज्ञ और सोमरस पान न करनेवाले अनेक पशुसमूहसे युक्त वैश्यका धन ग्रहण करके यज्ञके निमित्त ब्राह्मणको दान करे ॥ ७ ॥

आहरेद्वेश्मतः किंचित्कामं शूद्रस्य द्रव्यतः ।
न हि वेश्मानि शूद्रस्य कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ ८ ॥

राजा इच्छानुसार शूद्रके घरसे धन ग्रहण करे; क्यों कि शूद्रको घरमें कुछ भी अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ९ ॥

जो एक सौ गऊवाला होकर अग्निमें आहुति नहीं देता और जो सहस्र गऊसे युक्त होके भी यज्ञ नहीं करता, राजा कुछ भी विचार न करके यज्ञके लिये उन दोनों कुटुम्बोंसे धन हरण करे ॥ ९ ॥

अदातृभ्यो हरेन्नित्यं व्याख्याप्य नृपतिः प्रभो ।
तथा ह्याचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ १० ॥

प्रभो ! राजा प्रकाश्य रीतिसे सदा कृपणोंके धनको हरण करे; जो राजा ऐसा आचरण करता है, उसे सम्पूर्ण धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ।
खलात्क्षेत्रात्तथागाराद्यतो वाप्युपपद्यते ॥ ११ ॥

जिस ब्राह्मणने अन्नके अभावसे छः समय तक उपवास किया है, तो वह सातवें समयको किसी निकृष्ट कर्म करनेवाले मनुष्यके घरसे, अन्नराशिसे, खेतसे, बगीचेसे अथवा जिस स्थानसे मिल सके, वहांसे एक दिनके योग्य अन्न हरण कर सकता है ॥ ११ ॥

आख्यातव्यं नृपस्यैतत्पृच्छतोऽपृच्छतोऽपि वा ।
न तस्मै धारयेद्दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित् । ॥ १२ ॥

राजा फिर न पूछे या पूछे तो भी उसके समीप यह प्रकाशित करे; धर्म जाननेवाला राजा धर्मके अनुसार उसके विषयमें दण्ड धारण न करे ॥ १२ ॥

क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ।
श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् ।
अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३ ॥

क्षत्रिय राजाकी असावधानीसे ही ब्राह्मण क्षुधासे क्लेशित होता है; राजा ब्राह्मणकी विद्या और चरित्रको जानके उसकी जिवीका वृत्तिका विधान करे । जैसे पिता अपने औरस पुत्रका प्रतिपालन करता है, राजा वैसे ही ब्राह्मणकी सब तरहसे रक्षा करे ॥ १३ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
अविकल्पः पुराधर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १४ ॥

सम्वत्के अन्तमें किये जानेवाले यज्ञ यदि न किये जा सके हों तो प्रतिदिन वैश्वानरी यज्ञ करे । धर्म जाननेवाले पुरुषोंने निःसंदेह इसको पहलेसे आचरित धर्म कहा है ॥ १४ ॥

विश्वैस्तु देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्लिङ्गप्रतिनिधिः कृतः ॥ १५ ॥

विश्वेदेव, साध्य, महर्षि तथा ब्राह्मणोंने मरनेसे डरके आपद्कालके विषयमें प्रत्येक विधिका प्रतिनिधि स्वरूप निश्चित किया है ॥ १५ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १६ ॥

जो पुरुष मुख्य विधिको करनेमें समर्थ होकर अनुकल्प—गौण विधिका अनुवर्ती होता है, उस दुर्बुद्धि मनुष्यको पारलौकिक फल नहीं मिलता ॥ १६ ॥

न ब्राह्मणान्वेदयेत किञ्चिद्राजनि मानवः ।
अवीर्यो वेदनाद्विद्यात्सुवीर्यो वीर्यवत्तरम् ॥ १७ ॥

वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके विषयमें कोई मनुष्य राजाके निकट निवेदन न करे; अबलकी शक्तिकी अपेक्षा ब्राह्मणकी शक्ति ही प्रबल है ॥ १७ ॥

तस्माद्राज्ञा सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम् ।
मन्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ।
तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुक्तामीरयेद्गिरम् ॥ १८ ॥

इसलिये ब्रह्मवादियोंका तेज राजाके लिये सदा दुःसह है । ब्राह्मण मन्ता, शास्ता, धाता और देवता स्वरूप कहा जाता है; ब्राह्मणोंके निकट रूखा और अमांगलिक वचन न कहे ॥ १८ ॥

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरत्यापदमात्मनः ।
धनेन वैश्यः शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः ॥ १९ ॥

क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य और शूद्र बहुतसे धनके जरिये और ब्राह्मण मन्त्र तथा होमके सहारे अपनी आपदसे पार होता है ॥ १९ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नामन्त्रो न च बालिशः ।
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा ।
नरके निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत् ॥ २० ॥

कन्या, युवती, मन्त्रज्ञानसे हीन, मूर्ख और संस्कारहीन पुरुष अग्निहोत्रमें आहुति न देवे; ये लोग जिसके होमकी अग्निमें आहुति देते हैं, उसके सहित अपनेको नरकमें डालते हैं ॥ २० ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २१ ॥

जो यज्ञकी अग्नि स्थापित करके प्रजापतिके लिये अश्वरूप दक्षिणाका दान नहीं करता, धर्मदर्शी पुरुष उसे अनाहिताग्नि कहते हैं ॥ २१ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथंचन ॥ २२ ॥

मनुष्य श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय होकर समस्त पुण्यकर्म करे; कभी पर्याप्त दक्षिणा-रहित यज्ञ न करे ॥ २२ ॥

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः ।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चास्योपकृन्तति ॥ २३ ॥

जो यज्ञ करके दक्षिणा नहीं देता, उसकी प्रजा, पशु, स्वर्ग, यश, कीर्ति, आयु और समस्त इन्द्रियां नष्ट होती हैं ॥ २३ ॥

उदक्या ह्यासते ये च ये च केचिदनग्नयः ।
कुलं चाश्रोत्रियं येषां सर्वे ते शूद्रधर्मिणः ॥ २४ ॥

जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्रीसे सङ्ग करते हैं, जो आहिताग्नि नहीं हैं और जिनके वंशमें वेदज्ञानसे रहित पुरुष जन्म लेते हैं, वे सब ही शूद्रके समान हैं ॥ २४ ॥

उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
उषित्वा द्वादश समाः शूद्रकर्मेह गच्छति ॥ २५ ॥

ब्राह्मण शूद्रकी कन्याका पाणिग्रहण करके जिस गांवमें केवल एक ही कूएका जल ही उपजीव्य है, वहां बारह वर्ष वास करनेसे शूद्रत्वको प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

अनार्यां शयने बिभ्रदुज्झन्बिभ्रच्च यो द्विजाम् ।
अब्राह्मणो मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः ।
तथा स शुध्यते राजञ्शृणु चात्र वचो मम ॥ २६ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण यदि अनार्या स्त्री और शूद्रको माननीय समझके अपनी शय्यापर शयन करने दे, और दूसरे ब्राह्मणेतरोंको सम्मान देकर ऊंचे आसनपर बिठाकर स्वयंको अब्राह्मण मानकर चटाईपर बैठे तो वह ब्राह्मणत्वसे गिरता है; उसकी शुद्धि जिससे होती है, उस विषयमें मैं जो कहता हूं, उसे सुनो ॥ २६ ॥

यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणः सेवमानः ।
स्थानासनाभ्यां विचरन्व्रती संस्त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥ २७ ॥

जो ब्राह्मण एक रात भी नीच वर्णके मनुष्यकी सेवा करके, एक स्थान और एक आसनपर उसके सङ्ग विहार करके पापग्रस्त होता है, वह तीन वर्षोंतक व्रतनिष्ठ होकर विचरनेसे उस पापको नष्ट करनेमें समर्थ हुआ करता है ॥ २७ ॥

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ २८ ॥

हे राजन् ! परिहासके समय, स्त्रीके निकट, विवाहकालमें, गुरुके लिये और निज जीवनकी रक्षाके निमित्त मिथ्या वचन कहनेसे दोष नहीं होता; पण्डित लोग इस पांच प्रकारके झूठ व्यवहारको पाप नहीं कहते ॥ २८ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाचरेत् ।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीतेति धारणा ॥ २९ ॥

श्रद्धवान् पुरुष नीच जातिके पुरुषसे भी उत्तम विद्या सीखे; अपवित्र जगहसे भी कुछ विचार न करके सुवर्ण ग्रहण करे ॥ २९ ॥

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् ।
अदुष्टा हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥ ३० ॥

नीच कुलसे भी उत्तम स्त्रीको ग्रहण करे और विषके स्थानसे भी अमृत लेके पीवे; क्योंकि स्त्रियां, रत्न और जल– ये धर्मपूर्वक दूषित नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां संकरेषु च ।
गृह्णीयात्तु धनुर्वैश्यः परित्राणाय चात्मनः ॥ ३१ ॥

गऊ तथा ब्राह्मणोंका हित, वर्णसंकरताका निवारण तथा अपने परित्राणके लिये वैश्य भी शस्त्र ग्रहण करे ॥ ३१ ॥

सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा ।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तानीति धारणा ॥ ३२ ॥

सुरापान, ब्रह्महत्या और गुरुस्त्री गमन—इन पापोंसे छूटनेके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया है; अपने प्राणोंका अन्त करना ही इनका प्रायश्चित्त होगा ऐसी पंडितोंकी धारणा है ॥३२॥

सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रासङ्गश्च पातकम् ।
विहरन्मद्यपानं चाप्यगम्यागमनं तथा ॥ ३३ ॥

सुवर्णकी चोरी, अन्य वस्तुओंकी चोरी और ब्राह्मण स्त्रीसे समागम, सुरापान और अगम्या स्त्रीके साथ गमन करना—यह पाप है ॥ ३३ ॥

पतितैः संप्रयोगाच्च ब्राह्मणैर्योनिनस्तथा ।
अचिरेण महाराज तादृशो वै भवत्युत ॥ ३४ ॥

महाराज ! पतितोंके सङ्ग सहवास करनेसे और अब्राह्मण होके ब्राह्मणीके साथ गमन करनेसे पुरुष शीघ्र ही पतित होता है ॥ ३४ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ३५ ॥

पतित हुए पुरुषके सङ्ग व्यवहार करनेसे, उसका याजन और अध्यापन करनेसे मनुष्य एक वर्षसे पतित होता है; परंतु उसकी संतानके साथ अपनी संतानका विवाह करनेसे, एक आसन पर बैठनेसे और उसके साथ एकत्र भोजन करनेसे पतित नहीं होता ॥ ३५ ॥

एतानि च ततोऽन्यानि निर्देश्यानीति धारणा ।
निर्देश्यकेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३६ ॥

ब्रह्महत्या आदि महापातकोंका प्रायश्चित्त नहीं कहा है, प्राणत्याग ही उसका प्रायश्चित्त है; इनसे अतिरिक्त दूसरे जो पाप हैं, उनका प्रायश्चित्त कहा है; उस प्रायश्चित्तसे पाप नष्ट करके अन्तमें पुरुष फिर उसमें प्रवृत्त न होवे ॥ ३६ ॥

अन्नं तिर्यङ्न होतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते ।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणाम् ॥ ३७ ॥

पूर्वोक्त सुरा पीनेवाले, ब्रह्महत्यारे और गुरुपत्नीगामी—तीन पापियोंके मरने पर, उनके दाहकर्म तथा प्रेतकार्यकी क्रिया किये बिना सपिण्ड लोग इस विषयमें विचार न करके उनका अशौच ग्रहण न करके उनके अन्न और सुवर्ण ग्रहण करें ॥ ३७ ॥

अमात्यान्वा गुरून्वापि जह्याद्धर्मेण धार्मिकः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणैर्नैतैरर्हति संविदम् ॥ ३८ ॥

धार्मिक राजा अपने अमात्य और गुरुजनोंके पतित होने पर जबतक वे अपने पापोंका प्रायश्चित्त न करें, तबतक धर्मके अनुसार उन्हें त्याग दे और उनके सङ्ग बात न करे ॥३८॥

अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
ब्रुवन्स्तेन इति स्तेनं तावत्प्राप्नोति किल्बिषम् ।
अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात् ॥ ३९ ॥

पाप करनेवाला मनुष्य तपस्या और धर्माचरणसे अपने पापको नष्ट करता है । चोरको चोर कहनेसे उसके समान पापका भागी होना पडता है; और जो मनुष्य चोर नहीं है, उसे चोर कहनेसे उसके पापसे दूना पाप कहनेवालेको लगता है ॥ ३९ ॥

त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ।
यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

कुमारी कन्या यदि व्यभिचारसे दूषित हो, तो उसे ब्रह्महत्याका तीन चौथाई पाप भोगना पडता है; और जो पुरुष उसे दूषित करता है, वह शेष चौथाई पापका भागी होता है ॥४०॥

ब्राह्मणायावगूर्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ।
वर्षाणां हि शतं पापः प्रतिष्ठां नाधिगच्छति ॥ ४१ ॥

यहां ब्राह्मणोंको गाली देकर या उन्हें अपमानपूर्वक धक्के देकर हटानेसे मनुष्यको अत्यंत पाप लगता है; सौ वर्षोंतक उसको प्रतिष्ठा नहीं मिलती ॥ ४१ ॥

सहस्रं त्वेव वर्षाणां निपात्य नरके वसेत् ।
तस्मान्नैवावगूर्याद्धि नैव जातु निपातयेत् ॥ ४२ ॥

फिर एक सहस्र वर्ष पर्यन्त नरकमें वास करना पडता है; इसलिये कभी ब्राह्मणको गाली न दे वा उसे जमीन पर न गिरावे ॥ ४२ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णीयाद्द्विजक्षतात् ।
तावतीः स समा राजन्नरके परिवर्तते ॥ ४३ ॥

राजन् ! ब्राह्मणके ऊपर प्रहार करनेसे उसके शरीरसे निकला हुआ रुधिर धूलके जितने कणोंको भिंगोता है, उसे चोंट पहुंचानेवाला मनुष्य उतने ही वर्ष पर्यन्त नरकमें वास किया करता है ॥ ४३ ॥

भ्रूणहाहवमध्ये तु शुध्यते शस्त्रपातितः ।
आत्मानं जुहुयाद्वह्नौ समिद्धे तेन शुध्यति ॥ ४४ ॥

भ्रूणहत्या करनेवाला पुरुष युद्धमें शस्त्रके आघातसे मरकर शुद्ध होता है अथवा जलती हुई अग्निमें अपने शरीरको आहुति देनेसे शुद्ध हो सकता है ॥ ४४ ॥

सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद्विमुच्यते ।
तया स काये निर्दग्धे मृत्युना प्रेत्य शुध्यति ।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः ॥ ४५ ॥

सुरा पीनेवाला मनुष्य गरम मद्य पीनेसे पापसे मुक्त होता है; अर्थात् उष्ण मद्य पीनेसे उसका शरीर जलनेपर वह मृत्युके कारण परलोकमें गमन करके पवित्र होता है। ब्राह्मण सुरापान करके ऐसा आचरण करके शुद्ध होनेपर ही शुभ लोकोंको प्राप्त करता है; इसमें अन्यथा करनेसे असत् गतिको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः ।
सूर्मीं ज्वलन्तीमाश्लिष्य मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ ४६ ॥

पापबुद्धि दुष्टात्मा पुरुष गुरुपत्नीके साथ गमनका पाप करनेपर जलती हुई लोहमयी स्त्रीकी मूर्त्तिको आलिङ्गन करके प्राणत्यागनेसे शुद्ध होता है ॥ ४६ ॥

अथ वा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम् ।
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत्स त्वजिह्मगः ॥ ४७ ॥

अथवा स्वयं अपने शिश्न और अण्डकोशको काटकर अञ्जलिमें लेकर नैर्ऋत्य दिशामें गमन करता हुआ गिर पडे ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान्संत्यजेत्तेन शुध्यति ।
अश्वमेधेन वापीष्ट्वा गोमेधेनापि वा पुनः ।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूयते ॥ ४८ ॥

अथवा ब्राह्मणके निमित्त प्राणोंका परित्याग करनेसे शुद्ध होगा। यज्ञ करनेसे, अथवा अश्वमेध यज्ञ, फिर गोमेध वा अग्निष्टोम यज्ञ अच्छी तरहसे करके इस लोक और परलोकमें सत्कृत हो सकेगा ॥ ४८ ॥

तथैव द्वादश समाः कपाली ब्रह्महा भवेत् ।
ब्रह्मचारी चरेद्भैक्षं स्वकर्मोदाहरन्मुनिः ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्या करनेवाला मनुष्य मरे हुए ब्राह्मणका कपाल धारण करके बारह वर्ष तक निरन्तर निज कार्यको प्रकाश करते हुए भिक्षा मांगकर व्रतचारी और मननशील होवे ॥ ४९ ॥

एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत् ।
एवं वा गर्भमज्ञाता चात्रेयीं योऽभिगच्छति ।
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीव्यसने भवेत् ॥ ५० ॥

ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुषको इसी प्रकार मननशील और तपमें निष्ठावान होना उचित है। इसी प्रकार जो पुरुष अनजाने गर्भिणीसे समागम करता है, उसे उस कारण दो ब्रह्महत्याओंका पाप लगता है ॥ ५० ॥

×

सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षमाचरः ।
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽथ वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम् ।
ऋषभैकसहस्रं गा दत्त्वा शुभमवाप्नुयात् ॥ ५१ ॥

सुरा पीनेवाला मनुष्य मिताहारी और ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर विचरता रहे; इस प्रकार तीन वर्षोंतक रहकर केवल अग्निष्टोम यज्ञ करे; शेषमें एक हजार बैल तथा एक सहस्र गऊ दान करके शुद्ध होगा और शुभ लोक प्राप्त कर सकेगा ॥ ५१ ॥

वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशताश्च गाः ।
शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभैकादशाश्च गाः ॥ ५२ ॥

वैश्यका वध कर दे तो दो वर्षोंतक व्रती रहनेके बाद एक सौ बैल और एक सौ गऊ दान करे । शूद्रको मारनेसे एक वर्षतक नियमपूर्वक रह कर एक बैल और ग्यारह गऊ दान करे ॥ ५२ ॥

श्वबर्बरखरान्हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत् ।
मार्जारचाषमण्डूकान्काकं भासं च मूषकम् ॥ ५३ ॥

कुत्ता, वर्बर और गधेको मारनेसे शूद्र वध सम्बन्धी व्रतका ही आचरण करे । हे राजन् ! बिडाल, नीलकण्ठ, मेढक, कौवा, स्वर्णचातक और चूहा आदि ॥ ५३ ॥

उक्तः पशुसमो धर्मो राजन्प्राणिनिपातनात् ।
प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५४ ॥

जीवोंकी हिंसा करनेसे उक्त पशु हत्याका ही धर्म-व्रत कहा गया है । इस समय दूसरे सब प्रायश्चित्तोंका कथा क्रमके अनुसार वर्णन करता हूं ॥ ५४ ॥

तल्पे चान्यस्य चौर्ये च पृथक्संवत्सरं चरेत् ।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे तु द्वे स्मृते ॥ ५५ ॥

किसी दूसरेकी शय्यापर समागम और चोरी करनेपर प्रत्येकके लिये एक एक वर्षतक व्रतका आचरण करे; वेद जाननेवाले ब्राह्मणकी भार्यासे गमन करने पर तीन वर्षतक और परस्त्री मात्रके सङ्ग गमन करनेसे दो वर्षोंतक व्रतका आचरण करे ॥ ५५ ॥

काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्त्रिरह्नोऽभ्युदियादपः ।
एवमेव निराचान्तो यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ५६ ॥

और दिनके चौथे भागमें भोजन करके ब्रह्मचारी और व्रतमें निष्ठावान होवे । स्वयंके लिये पृथक् स्थान और आसन रखकर घुमता रहे; दिनमें तीन बार जलसे स्नान करे; ऐसा करनेसे वह अपने पापोंका निराकरण कर सकता है । अग्निको जो भ्रष्ट करता है, उसके लिये भी यही प्रायश्चित्त है ॥ ५६ ॥

त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं तथा ।
पतितः स्यात्स कौरव्य तथा धर्मेषु निश्चयः ॥ ५७ ॥

हे कुरुनन्दन ! जो पुरुष विना कारणके ही पिता और माताका परित्याग करता है, वह धर्मनिर्णयके अनुसार पतित होता है ॥ ५७ ॥

ग्रासाच्छादनमत्यर्थं दद्यादिति निदर्शनम् ।
भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः ।
यत्पुंसां परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ ५८ ॥

उसे मात्र अन्न और वस्त्र दे, यही धर्मशास्त्रका निर्णय है। भार्याके व्यभिचारिणी होनेपर और उसे विशेष रीतिसे उसे इस कार्यमें पकड ली जानेपर, परस्त्री गमन करनेवाले पुरुषके लिये जैसा प्रायश्चित्त है, उसे भी उसी व्रतका आचरण करावे ॥ ५८ ॥

श्रेयांसं शयने हित्वा या पापीयांसमृच्छति ।
श्वभिस्तां खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंवृते ॥ ५९ ॥

जो स्त्री अपने श्रेष्ठ पतिको त्यागके दूसरे पुरुषकी शय्यापर जाकर पापाचार करती है, राजा उसे अनेक लोगोंसे परिपूरित स्थानमें खडी करके कुत्तोंसे भक्षण करावे ॥ ५९ ॥

पुमांसं बन्धयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ६० ॥

इसी तरह बुद्धिमान् राजा व्यभिचारी पुरुषको तपायी हुई लोहमय शय्यापर सुलावे और उसमें काठका ढेर लगाकर उसे आग लगा दे, तो पाप करनेवाला मनुष्य उसीमें भस्म होगा॥६०॥

एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमे ।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् । ॥ ६१ ॥

महाराज ! स्त्रियोंको पतिके विषयमें व्यतिक्रम करनेसे उन्हें भी इसी तरह दण्ड देना योग्य है । जो दुष्टात्मा पापकर्म करके वर्षके बीच प्रायश्चित्त नहीं करता, उसे दूना प्रायश्चित्त करना पडता है ॥ ६१ ॥

द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनः ।
कुचरः पञ्च वर्षाणि चरेद्भैक्षं मुनिव्रतः ॥ ६२ ॥

प्रायश्चित्त न करनेवाले पुरुषके सङ्ग जो मनुष्य दो, तीन, चार अथवा पांच वर्षतक वास करता है, वह मुनिव्रत अवलम्बन करके भिक्षा मांगके जीवन व्यतित करे ॥ ६२ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
पाणिग्राहश्च धर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः ॥ ६३ ॥

जेठे भाईका विवाह होनेसे पहले छोटा भाई यदि अधर्मपूर्वक विवाह करे, तो बडे भाईको परिवित्ति और छोटे भाईको परिवेत्ता कहते हैं; और जिसका धर्मपूर्वक ग्रहण किया जाता है, ये सब पतित माने गये हैं ॥ ६३ ॥

चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद्व्रतं चरेत् ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥ ६४ ॥

वीरघाती पुरुष या यज्ञहीन ब्राह्मण जिस व्रतका अनुष्ठान करता है, वह इनको पृथक् पृथक् अपनी शुद्धिके लिये करना चाहिये अथवा एक महीने तक उसही कृच्छ्र वा चान्द्रायण व्रतका आचरण करे; ॥ ६४ ॥

परिवेत्ता प्रयच्छेत परिवित्ताय तां स्नुषाम् ।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयान्प्रत्यनन्तरम् ।
एनसो मोक्षमाप्नोति सा च तौ चैव धर्मतः ॥ ६५ ॥

अन्तमें परिवेत्ता जेठे भाईको वह विवाहिता भार्या पतोहूके रूपमें प्रदान करे; अनन्तर छोटा भाई बडेकी अनुमतिसे फिर उसे पत्नी रूपमें ग्रहण करे; तब वे तीनों धर्मके अनुसार पापसे मुक्त होते हैं ॥ ६५ ॥

अमानुषीषु गोवर्जमनावृष्टिर्न दुष्यति ।
अधिष्ठानारमत्तारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ६६ ॥

गऊको छोडके दूसरे पशुओंकी हिंसा दोषयुक्त नहीं होती; पण्डित लोग मानते हैं, कि मनुष्य पशुओंका प्रतिपालक और अधिष्ठाता है ॥ ६६ ॥

परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् ।
चरेत्सप्त गृहान्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ६७ ॥

गोवध करनेवाला पापी पुरुष गायके चवरेको ऊपरकी ओर धारण करके निज पाप कर्मको कहते हुए मिट्टीका पात्र लेकर प्रतिदिन सात घरोंमें भिक्षाके वास्ते भ्रमण करे ॥ ६७ ॥

तत्रैव लब्धभोजी स्याद्द्वादशाहात्स शुध्यति ।
चरेत्संवत्सरं चापि तद्व्रतं यन्निराकृति ॥ ६८ ॥

और उस भिक्षासे जो अन्न प्राप्त हो, वही भोजन करें; बारह दिनतक इसी तरह व्रत करनेसे उसके अनन्तर शुद्ध होगा । पाप शान्ति न होनेपर एक वर्षतक ऐसाही व्रत करे; तो पाप नष्ट हो सकेगा ॥ ६८ ॥

भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ।
दातं त्वादानसक्तेषु सर्वमेव प्रकल्पयेत् ।
अनास्तिकेषु गोमात्रं प्राणमेकं प्रचक्षते ॥ ६९ ॥

मनुष्योंके लिये इसी तरहका उत्तम प्रायश्चित्त है । दान करनेमें रत पुरुषोंके विषयमें इन्हीं सब दानोंका विचारपूर्वक विधान करे; जो लोग नास्तिक नहीं है, उनके निमित्त केवल एक गऊका दान पण्डितोंके जरिये कहा गया है ॥ ६९ ॥

श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ।
मांसं मूत्रपुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति ॥ ७० ॥

ब्राह्मण यदि कुत्ता, सूअर, मनुष्य, मुर्गा और गधेका मांस, मूत्र अथवा पुरीष भोजन करे, तो फिरसे उसका संस्कार करना होना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्राह्मणस्य सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णास्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो भवेत्त्र्यहम् ॥ ७१ ॥

सोमपान करनेवाला यदि सुरा पीनेवाले ब्राह्मणका गन्ध सूंघे, तो वह पहिले तीन दिनोंतक केवल गर्म जल पीवे, फिर तीन दिन गर्म दूध पीवे; तीन दिन गरम दूध पीनेके बाद तीन दिनतक केवल वायु भक्षण करे ॥ ७१ ॥

एवमेतत्समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तत्त्वज्ञानेन जायते ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥ ५७५९ ॥

इस प्रकार सब वर्णोंके लिये यह सनातन प्रायश्चित्त कहा गया है; विशेष करके ब्राह्मणके विना जाने किये हुए पापोंका इसी प्रकार शास्त्रयुक्त प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ७२ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ १५९ ॥ ५७५९ ॥

: १६० :

वैशम्पायन उवाच—

कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः ।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– तलवार युद्धके जाननेवाले नकुलने कथाकी समाप्ति देखकर शरशय्याशायी पितामह भीष्मदेवसे यह बात कही ॥ १ ॥

धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमिति वादः पितामह ।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥

हे धर्म जाननेवाले पितामह ! सब शस्त्रोंके बीच धनुष अत्यन्त उत्तम माना जाता है; पर मेरे मतमें अत्यंत तीक्ष्ण तलवार ही प्रशंसनीय है ॥ २ ॥

विशीर्णे कार्मुके राजन्प्रक्षीणेषु च वाजिषु ।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

राजन् ! धनुष कटने और घोडोंके नष्ट होने पर युद्धमें केवल तलवारसे अपने शरीरकी भलीभांति रक्षा की जा सकती है ॥ ३ ॥

शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा ।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥

अकेला तलवार ग्रहण करनेवाला वीर पुरुष, धनुषधारी और गदाशक्तिसे प्रहार करनेवाले शत्रुओंको निवारण करनेमें समर्थ होता है ॥ ४ ॥

अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च ।
किं स्वित्प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥ ५ ॥

हे राजन् ! इससे मुझे इस विषयमें बहुत ही संशय और कौतुहल उत्पन्न हुआ है; सब युद्धोंमें कौनसा शस्त्र उत्तम है ? ॥ ५ ॥

कथं चोत्पादितः खड्गः कस्यार्थाय च केन वा ।
पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥

हे प्रपितामह ! किस कारण, किस जरिये, किस तरह खड्ग उत्पन्न हुआ था और पहिले कौन खड्गविद्याका आचार्य था ? आप वह सब वर्णन करिये ॥ ६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः ।
सर्वं कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थवच्छुभम् ॥ ७ ॥

बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलका यह शुभ वचन जो कौशलयुक्त, सूक्ष्म और विचित्र अर्थके सहित था, सुनकर ॥ ७ ॥

ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम् ।
शिक्षान्यायोपसंपन्नं द्रोणशिष्याय पृच्छते ॥ ८ ॥

फिर सुशिक्षित न्यायशास्त्रसंपन्न द्रोणशिष्यसे पूंछे जानेपर मधुर स्वर तथा वर्णोंसे युक्त उत्तम वचन उत्तरमें ॥ ८ ॥

उवाच सर्वधर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः ।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥ ९ ॥

धनुर्वेदके जाननेवाले सर्व धर्मज्ञ शरशय्याशायी भीष्मदेव महानुभाव नकुलसे कहने लगे ॥ ९ ॥

तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत्परिपृच्छसि ।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥

हे माद्रीपुत्र ! तुमने यह प्रश्न पूछकर गेरू धातुसे रंगे हुए पर्वतके समान पडे हुए मुझे सावधान किया; उस विषयका यथार्थ वृत्तान्त कहता हूं, सुनो ॥ १० ॥

सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम् ।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥

हे तात ! पहिले यह सब जगत् जलसमूहमें महा समुद्रमय, कम्पन रहित, आकाश विना तथा भूतलके बिना ही था ॥ ११ ॥

तमःसंवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम् ।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः ॥ १२ ॥

अन्धेरेसे परिपूरित, स्पर्शरहित, शब्दहीन, अप्रमेय और अत्यन्त गम्भीर था, उस समय पृथ्वीतलका पता न था; पितामह ब्रह्माने उस ही समय जन्म लिया था ॥ १२ ॥

सोऽसृजद्वायुमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान् ।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतिम् ॥ १३ ॥

उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्माने वायु, अग्नि, सूर्य, आकाश, स्वर्ग, पाताल, भूमि और नैर्ऋति (राक्षस समूह) की रचना की ॥ १३ ॥

नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
संवत्सरानहोरात्रानृतूनथ लवान्क्षणान् ॥ १४ ॥

चन्द्रमा और तारोंसहित आकाश, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, दिवस, रात्र, ऋतु, लव और क्षण इन सबकी सृष्टि की ॥ १४ ॥

ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः ।
जनयामास भगवान्पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम् ॥ १६ ॥

अनन्तर भगवान् पितामहने लौकिक शरीर धारण करके मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ, अङ्गिरा और सब कार्योंमें समर्थ रुद्र– इन अत्यन्त तेजस्वी ऋषिसन्तानोंको उत्पन्न किया ॥ १५–१६ ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याः षष्टिमजीजनत् ।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥

प्रचेताओंके पुत्र दक्ष प्रजापतिसे साठ कन्याएं उत्पन्न हुईं; ब्रह्मर्षिने पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उन सब कन्याओंको ग्रहण किया ॥ १७ ॥

ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च ॥ १८ ॥

उन्हीं कन्याओंसे सब प्राणि, देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, विविध राक्षस, ॥ १८ ॥

पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवंगाश्च महोरगाः ।
नानाकृतिबलाश्चान्ये जलक्षितिविचारिणः ॥ १९ ॥

पक्षी, पशु, मत्स्य, वानर, महान् नाग तथा दूसरे अनेक प्रकारके आकारवाले जल और पृथ्वीपर विचरनेवाले प्राणी ॥ १९ ॥

औद्भिदाः स्वेदजाश्चैव अण्डजाश्च जरायुजाः ।
जज्ञे तात तथा सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

वृक्ष–लता–तरु, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज आदि प्राणि तथा स्थावर–जङ्गमसे युक्त समस्त जगत् उत्पन्न हुआ ॥ २० ॥

भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं च युयुजे पुनः ॥ २१ ॥

फिर सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने इन सब जीवोंको उत्पन्न करके उनको शाश्वत वेदोक्त धर्मके पालनका कार्य दिया ॥ २१ ॥

तस्मिन्धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः ।
आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुदश्विनः ॥ २२ ॥

आचार्य और पुरोहितके सहित देवता लोग, आदित्यगण, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद् और दोनों अश्विनीकुमार उस ही धर्मका अनुष्ठान करने लगे ॥ २२ ॥

भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपश्च तपोधनः ।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥

भृगु, अत्रि, अङ्गिरा– ये सिद्ध मुनि, तपस्वी कश्यप, वशिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, नारद, पर्वत, ॥ २३ ॥

ऋषयो बालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा ।
घृतचाः सोमवायव्या वैखानसमरीचिपाः ॥ २४ ॥

बालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतच, सोमप, वायव्य, वैखानस, मरीचिप, ॥ २४ ॥

अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयोऽथाग्नियोनिजाः ।
वानप्रस्था पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने ॥ २५ ॥

अकृष्ट, हंस, अग्नियोनि सब ऋषि, वानप्रस्थ तथा पृश्नि आदि ऋषि– ये सब ब्रह्माकी आज्ञामें स्थित रहकर सनातन धर्मका पालन करने लगे ॥ २५ ॥

दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत्पितामहशासनम् ।
धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः ॥ २६ ॥

दानवेन्द्रोंने क्रोध और लोभसे युक्त होकर पितामहका वह शासन अतिक्रम करके धर्म नष्ट करनेको आरम्भ किया ॥ २६ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः ।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च प्रह्लादो नमुचिर्बलिः ॥ २७ ॥

हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, प्रह्लाद, नमुचि और बलि– ॥ २७ ॥

एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः ।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः ॥ २८ ॥

ये सब तथा समूहके सहित दूसरे बहुतेरे दैत्य दानव धर्मबन्धन उल्लङ्घन करके अधर्ममें रत हुए थे ॥ २८ ॥

सर्वे स्म तुल्यजातीया यथा देवास्तथा वयम् ।
इत्येवं हेतुमास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः ॥ २९ ॥

सब कोई समान वंशमें उत्पन्न हुए हैं; इसलिये जैसे देवता लोग हैं वैसे ही हम भी हैं, दैत्य लोग ऐसाही धर्म अवलम्बन करके देवर्षियोंके सङ्ग स्पर्धा करने लगे ॥ २९ ॥

न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ।
न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः ॥ ३० ॥

हे भारत ! वे लोग जीवोंके ऊपर करुणा तथा उनका प्रियकार्य नहीं करते थे। साम, दाम, भेदरूपी तीनों उपायोंको लांघकर केवल दण्डसे प्रजा समूहको पीडित करने लगे; वे सब मुख्य मुख्य असुर लोग दर्पयुक्त होकर प्रजाके साथ बोलते भी नहीं थे ॥ ३० ॥

अथ वै भगवान्ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः ।
तदा हिमवतः पृष्ठे सुरम्ये पद्मतारके ॥ ३१ ॥

अनन्तर भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षियोंके सहित हिमालय पर्वतके कमलके समान तारोंसे युक्त सुन्दर तलपर उपस्थित हुए ॥ ३१ ॥

शतयोजनविस्तारे मणिमुक्ताचयाचिते ।
तस्मिन्गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने ।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३२ ॥

उसका विस्तार सौ योजनका था और वह मणि-रत्नोंसे परिपूरित था, हे पुत्र ! देवोंमें श्रेष्ठ विधाताने प्रजासमूहके प्रयोजनसिद्धिके निमित्त वन फूलोंसे भरे हुए, वृक्षोंसे परिपूर्ण उस पर्वतपर निवास किया ॥ ३२ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत्प्रभुः ।
विधिना कल्पदृष्टेन यथोक्तेनोपपादितम् ॥ ३३ ॥

अनन्तर सहस्रवर्षके बाद भगवान् ब्रह्माने शास्त्रोक्त विधानके अनुसार यज्ञ आरम्भ किया ॥३४॥

ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत्कर्मकर्तृभिः ।
मरुद्भिः परिसंस्तीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः ॥ ३४ ॥

विधिके अनुसार कर्म करनेवाले यज्ञदक्ष ऋषियोंके जरिये यथारीति वह यज्ञ पूर्ण होने लगा। यज्ञका स्थान प्रकाशमान अग्नि और मरुत्समूहसे परिपूरित था ॥ ३५ ॥

+

काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् ।
वृतं देवगणैश्चैव प्रबभौ यज्ञमण्डलम् ॥ ३५ ॥

दीप्तिमान सुवर्णमय यज्ञकलशोंसे अलंकृत वह यज्ञमण्डल मुख्य मुख्य देवताओंसे घिरकर अत्यंत शोभित हुआ था ॥ ३५ ॥

तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम् ।
तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम् ॥ ३६ ॥

तथा सभासद ब्रह्मर्षियोंसे भी सुशोभित हुआ था। तब उस यज्ञमें एक अत्यंत भयंकर आश्चर्यजनक घटना हुई, जिसे मैंने ऋषियोंसे सुना था ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम् ।
विदार्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते ततः ॥ ३७ ॥

उदित ताराओंसे शोभित निर्मल आकाशमें जैसे चन्द्रमाका उदय होता है, वैसे ही कोई भूत अग्निको विक्षिप्त करके प्रकट हुआ, ऐसा सुना जाता है ॥ ३७ ॥

नीलोत्पलसंवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् ।
प्रांशु दुर्दर्शनं चैवाप्यतितेजस्तथैव च ॥ ३८ ॥

वह भूत नीलकमलके समान श्यामवर्ण; उसके सब दांत तीक्ष्ण, उसका उदर अत्यन्त क्षीण, आकार बहुत ऊंचा, अत्यन्त तेजसे- युक्त और दुर्दर्शन था ॥ ३८ ॥

तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुंधरा ।
तत्रोर्मिकलिलावर्तश्चुक्षुभे च महार्णवः ॥ ३९ ॥

उसके उत्पन्न होते ही पृथ्वी विचलित होने लगी और महासमुद्र क्षुब्ध होकर उसमें प्रचण्ड तरंगोंके साथ भंवरे उठने लगीं ॥ ३९ ॥

पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः ।
अप्रसन्ना दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ ।
मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात्तथा ॥ ४० ॥

उल्काएं गिरने लगीं, महान् उत्पात होने लगे; वृक्ष अपनी सब शाखाओंको गिराने लगे; समस्त दिशाएं कलुषित हुईं और अकल्याणयुक्त वायु बहने लगा। उस समय सब जीव भयके कारण वारंवार दुःखित होने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुतुमुलं दृष्ट्वा तदद्भुतमुपस्थितम् ।
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः ॥ ४१ ॥

अनन्तर पितामह उस तुमुल कारण और अद्भुत भूतको उपस्थित देखकर, देवता, गन्धर्व तथा महर्षियोंसे यह वचन बोले ॥ ४१ ॥

मयैतच्चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान् ।
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ४२ ॥

जगत्की रक्षा और देवद्रोही असुरोंके वधके लिये मैंने इस बलवान् असि नामक भूतको इसी तरह चिन्तन किया था ॥ ४२ ॥

ततस्तद्रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ।
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः ॥ ४३ ॥

क्षणभरके अनन्तर भूत उस अद्भुत रूपको परित्याग करके, उद्यत काल और अन्तकके समान तीक्ष्ण तीस अंगुलवाले धारयुक्त तलवारके रूपमें प्रकाशित हुआ ॥ ४३ ॥

ततस्तं शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे ।
ब्रह्मा ददावसिं दीप्तमधर्मप्रतिवारणम् ॥ ४४ ॥

अनन्तर ब्रह्माने वृषभध्वज नीलकण्ठ भगवान् रुद्र देवको वह अधर्मका निवारण करनेमें समर्थ तेजस्वी तलवार प्रदान की ॥ ४४ ॥

ततः स भगवान्रुद्रो ब्रह्मर्षिगणसंस्तुतः ।
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह ॥ ४५ ॥

ब्रह्मर्षिगणोंसे स्तूयमान अनन्त महिमाधार भगवान रुद्रदेवने उस खड्गको ग्रहण करके दूसरा रूप धारण किया ॥ ४५ ॥

चतुर्बाहुः स्पृशन्मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि नभस्तलम् ।
ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन् ।
विकुर्वन्बहुधा वर्णान्नीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४६ ॥

उस समय उन्होंने चतुर्भुज होकर पृथ्वीपर स्थित होके अपने मस्तकसे आकाशको स्पर्श किया और महालिङ्ग मूर्त्ति धारण कर उर्ध्वदृष्टि होकर मुखसे ज्वाला बाहर छोडने लगे । नील, श्वेत और लोहित आदि अनेक तरहके रंग प्रकट करने लगे ॥ ४६ ॥

बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् ।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं महत् ।
शुशुभाते च विमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले ॥ ४७ ॥

रुद्रने सुवर्णतारोंसे खचित कृष्णाजीनको वस्त्रके रूपमें धारण किया । उनके माथेपर सूर्यके समान एक अत्यंत तेजस्वी नेत्र धारण किया हुआ था; काले और पीले वर्णवाले उनके दोनों विमल नेत्र सुशोभित हो रहे थे ॥ ४७ ॥

ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ।
संप्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निनलसंनिभम् ॥ ४८ ॥

अनन्तर भग देवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले महाबली, पराक्रमी शूलपाणि महादेव प्रलयकी अग्निके समान तेजस्वी प्रकाशमान खड्गको ग्रहण करके ॥ ४८ ॥

त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम् ।
चचार विविधान्मार्गान्महाबलपराक्रमः ।
विधुन्वन्नसिमाकाशे दानवान्तचिकीर्षया ॥ ४९ ॥

विजलीयुक्त बादलकी तरह दोनों बगल और अग्रभागमें धारणक्षम त्रिकूटयुक्त ढाल ग्रहण करके दानवोंका अन्त करनेकी इच्छासे आकाशमें तलवार घुमाते हुए विविध मार्गोंसे भ्रमण करने लगे ॥ ४९ ॥

तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः ।
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत ॥ ५० ॥

हे भारत ! उस समय रुद्रदेवके महाहास्य और निनाद करनेसे उनका भयङ्कर रूप प्रकाशित हुआ ॥ ५० ॥

तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्म चिकीर्षवः ।
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः ॥ ५१ ॥

रौद्र कर्म करनेवाले रुद्रदेवने युद्धके निमित्त वैसा रूप धारण किया। उसे देखकर सब दानव लोग हर्षित होकर उनके सम्मुख आक्रमणके लिये दौडे ॥ ५१ ॥

अश्मभिश्चाप्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ।
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः शितधारैरयोमुखैः ॥ ५२ ॥

कुछ लोग पत्थरोंकी वर्षा करने लगे; कुछ जलते हुए अङ्गार, दूसरे घोर आयुधों तथा लोहमय तीक्ष्ण धारवाले अस्त्र–शस्त्रोंसे आघात करने लगे ॥ ५२ ॥

ततस्तद्दानवानीकं संप्रणेतारमच्युतम् ।
रुद्रखड्गबलोद्धूतं प्रचचाल मुमोह च ॥ ५३ ॥

अनन्तर दानवोंकी सेना बलपूर्वक विध्वंस करनेवाले अच्युत रुद्रदेवको खड्गके साथ सज्ज देखकर मोहित और विचलित हुई ॥ ५३ ॥

चित्रं शीघ्रतरत्वाच्च चरन्तमसिधारिणम् ।
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे ॥ ५४ ॥

वह अकेले ही तलवार ग्रहण करके अत्यंत शीघ्रतापूर्वक विचित्र गतिसे घूम रहे थे; तब असुर लोग उन्हें सहस्ररूपसे समझने लगे ॥ ५४ ॥

छिन्दन्भिन्दन्रुजन्कृन्तन्दारयन्प्रमथन्नपि ।
अचरद्दैत्यसंघेषु रुद्रोऽग्निरिव कक्षगः ॥ ५५ ॥

वे भगवान् रुद्र तृणसमूहमें पडी हुई दावानल अग्निकी भांति दैत्योंके समुदायमें उनको मारते, काटते, चीरते, फाडते, घायल करते, छेदते, विदीर्ण और पृथ्वीपर गिराते हुए भ्रमण करने लगे ॥ ५५ ॥

असिवेगप्ररुग्णास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ।
संप्रकृत्तोत्तमाङ्गाश्च पेतुरुर्व्यां महासुराः ॥ ५६ ॥

महाबली दानव लोग तलवारके वेगसे छिन्नभिन्न होगये; कितनोंकी भुजाएं कटीं, कितनोंकी जांघें, कितनोंके वृक्षस्थल विदीर्ण हो गये और कितनोंके शिर कटके पृथ्वी पर गिर पडे ॥५६॥

अपरे दानवा भग्ना रुद्रघातावपीडिताः ।
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः संप्रतिपेदिरे ॥ ५७ ॥

कितनेही भगवान् रुद्रकी तलवारकी चोटसे पीडित होकर युद्धत्यागके, आपसमें एक दूसरेके विषयमें आक्रोश करते हुए दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ५७ ॥

भूमिं केचित्प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा ।
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन् ॥ ५८ ॥

कोई भूगर्भ, कोई पर्वतके बीच, कोई कोई आकाशमार्ग और कोई जलके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ५८ ॥

तस्मिन्महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे ।
बभौ भूमिः प्रतिभया तदा रुधिरकर्दमा ॥ ५९ ॥

उस अत्यन्त दारुण कठोर संग्रामके आरम्भ होनेपर मांस और रुधिरमय कीचडसे युक्त पृथ्वी अत्यन्त भयङ्कर दीखने लगी ॥ ५९ ॥

दानवानां शरीरैश्च महद्भिः शोणितोक्षितैः ।
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः ॥ ६० ॥

महाबाहो ! फूले हुए पलाशके वृक्षोंसे युक्त पर्वत समूहकी तरह दानवोंके रुधिरपूरित मृत शरीरोंसे पृथ्वी भर गई ॥ ६० ॥

रुधिरेण परिक्लिन्ना प्रबभौ वसुधा तदा ।
रक्तार्द्रवसना श्यामा नारीव मदविह्वला ॥ ६१ ॥

उस समय पृथ्वी रुधिरकी धाराओंसे युक्त होकर मदविह्वल रुधिरसे भींगे हुए वस्त्रवाली श्यामा स्त्रीकी तरह शोभायमान हुई ॥ ६१ ॥

स रुद्रो दानवान्हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत् ।
रौद्रं रूपं विहायाशु चक्र रूपं शिवं शिवः ॥ ६२ ॥

रुद्रदेवने दानवोंको मारके जगत्में धर्मकी प्रधानता स्थापित करते हुए रौद्ररूप त्यागकर, कल्याणयुक्त शिवरूप धारण किया ॥ ६२ ॥

ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा ।
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवमथार्चयन् ॥ ६३ ॥

अनन्तर सब महर्षि और देवताओंने आश्चर्यमय विजयसे आनन्दित होकर देवाधिदेव महादेवकी पूजा की ॥ ६३ ॥

ततः स भगवान्रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम् ।
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे ॥ ६४ ॥

अन्तमें भगवान् रुद्रदेवने दानवोंके रुधिरसे रंगे हुए उस धर्मकी रक्षा करनेवाले खड्गको सत्कारके साथ भगवान् विष्णुको प्रदान किया ॥ ६४ ॥

विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवांश्च तम् ।
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय तु ॥ ६५ ॥

भगवान् विष्णुने मरीचिको, मरीचिने महर्षियोंको और महर्षियोंने महेन्द्रको वह खड्ग प्रदान किया ॥ ६५ ॥

महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ।
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम् ॥ ६६ ॥

हे पुत्र! देवराज महेन्द्रने लोकपालोंको और लोकपालोंने सूर्यपुत्र मनुको वह बहुत बडा खड्ग प्रदान किया ॥ ६६ ॥

ऊचुश्चैनं तथैवाद्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ।
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति ॥ ६७ ॥

और उन्होंने मनुसे यह वचन कहा, 'तुम मनुष्योंके प्रभु हो; इससे इस धर्मगर्भ तलवारके जरिये प्रजासमूहका पालन करो' ॥ ६७ ॥

धर्मसेतुमतिक्रान्ताः सूक्ष्मस्थूलार्थकारणात् ।
विभज्य दण्डं रक्ष्याः स्युर्धर्मतो न यदृच्छया ॥ ६८ ॥

जिन्होंने शरीर और मनकी प्रीतिके निमित्त धर्मबन्धनका अतिक्रम किया है, उन लोगोंको न्यायपूर्वक पृथक् पृथक् दण्ड देकर, धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करनी उचित है; इच्छानुसार दण्डप्रयोग करना उचित नहीं है ॥ ६८ ॥

दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ।
व्यङ्गनं च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात् ॥ ६९ ॥

दण्ड चार प्रकारका है । दुष्ट वचनसे अपराधीका निग्रह करना वाक्दण्ड है, सुवर्ण वसूल करना वह अर्थदण्ड है, शरीरकी अङ्गहानि करना शारीरिक दण्ड है और अधिक अपराधके कारण वधरूपी प्राणदण्ड विहित है । तलवारके दुर्वाचा आदि ये चारों दण्ड समस्त प्रजाको बता देने चाहिये ॥ ६९ ॥

असेरेतानि रूपाणि दुर्वाचादीनि निर्दिशेत् ।
असेरेव प्रमाणानि परिमाणव्यतिक्रमात् ॥ ७० ॥

प्रजाके द्वारा धर्मका उल्लंघन हो जाय तो खड्गके द्वारा प्रमाणित इन दण्डोंका प्रयोग करके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ७० ॥

अभिसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः।
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम् ॥ ७१ ॥

अनन्तर अपने पुत्र प्रजापालक मनुको विदा किया; फिर मनुने लोकाधिपति निजपुत्र क्षुपको अभिषिक्त करके प्रजासमूहकी रक्षाके लिये वह खड्ग प्रदान किया ॥ ७१ ॥

क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः।
आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि ॥ ७२ ॥

क्षुपसे वह इक्ष्वाकुको मिला; इक्ष्वाकुसे पुरुरवा, पुरुरवासे आयुने उसे पाया; आयुसे नहुषने इस पृथ्वीपर वह खड्ग प्राप्त किया ॥ ७२ ॥

ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान्।
आमूर्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः ॥ ७३ ॥

नहुषसे ययातिने और ययातिसे वह पूरुको मिला; पूरुसे अमूर्त्तरयस, उनसे राजा भूमिशयने, ॥ ७३ ॥

भरतश्चापि दौःषन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम्।
तस्माच्च लेभे धर्मज्ञो राजन्नैडविडस्तथा ॥ ७४ ॥

भूमिशयसे दुष्यन्तपुत्र भरतने वह तलवार पाया; उनसे धर्मज्ञ राजा ऐडविडको मिला; ॥७४॥

ततश्चैडविडाल्लेभे धुन्धुमारो जनेश्वरः।
धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत् ॥ ७५ ॥

ऐडविडसे राजा धुन्धुमार, धुन्धुमारसे काम्बोज, उनसे मुचकुन्दने पाई; ॥ ७५ ॥

मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः।
रैवताद्युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः ॥ ७६ ॥

मुचकुन्दसे मरुत्त, मरुत्तसे रैवत, रैवतसे युवनाश्व, युवनाश्वसे इक्ष्वाकुवंशीय रघु; ॥ ७६ ॥

इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान्।
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि ॥ ७७ ॥

रघुसे प्रतापी हरिणाश्व; हरिणाश्वसे शुनकने उस तलवारको पाया ॥ ७७ ॥

उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद्भोजाः सयादवाः।
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः ॥ ७८ ॥

शुनकसे धर्मात्मा उशीनर, उशीनरसे यदुवंशीय भोज, यदुवंशियोंसे शिबि, शिबिसे प्रतर्दनने उसे पाया ॥ ७८ ॥

प्रतर्दनादष्टकश्च रुशदश्वोऽष्टकादपि ।
रुशदश्वाद्भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात्कृपस्ततः ।
ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ७९ ॥

प्रतर्दनसे अष्टक, अष्टकसे रुशदश्व, रुशदश्वसे भरद्वाज वंशी द्रोण, द्रोणसे कृप और कृपसे भाइयोंके सहित तुमने इस परम तलवारको पाया है ॥ ७९ ॥

कृत्तिकाश्चास्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम् ।
रोहिण्यो गोत्रमस्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥ ८० ॥

इस असि का कृत्तिका नक्षत्र है, अग्नि देवता, रोहिणी गोत्र और रुद्रदेव परम गुरु हैं ॥८०॥

असेरष्टौ च नामानि रहस्यानि निबोध मे ।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयँल्लभते जयम् ॥ ८१ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! मनुष्य जिन नामोंका सदा कीर्तन करनेसे जयलाभ करता है, असिके अत्यन्त गोपनीय उन आठ नामोंको मुझसे सुनो ॥ ८१ ॥

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णवर्त्मा दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८२ ॥

असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णवर्त्मा, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल—ये आठ नाम हैं ॥ ८२ ॥

अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत ।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ॥ ८३ ॥

हे माद्रीपुत्र ! सब शस्त्रोंमें खड्गही प्रधान है; यह महेश्वरप्रणीत कहके पुराणमें इसकी श्रेष्ठताका निश्चय किया गया है ॥ ८३ ॥

पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिंदम ।
तेनेयं पृथिवी पूर्वं वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८४ ॥

हे शत्रुदमन ! पृथुराजने पहिले धनुष उत्पन्न किया और उसही वेनकुमार पृथुने पहले धर्म-पूर्वक पृथ्वीका पालन किया था ॥ ८४ ॥

तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि ।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः ॥ ८५ ॥

हे माद्रीपुत्र ! यह ऋषियोंका बताया हुआ मत तुम्हें प्रमाण और विश्वसनीय मानना चाहिये । युद्ध विशारद पुरुषोंको सदा खड्गकी पूजा करनी योग्य है ॥ ८५ ॥

इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरः ।
असेरुत्पत्तिसंसर्गो यथावद्भरतर्षभ ॥ ८६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तलवारकी उत्पत्तिका प्रसंग मैंने विस्तारपूर्वक और यथावत् कहा है, इससे खड्ग ही आयुधोंमें सर्व प्रथम प्रकट हुआ है, यह जान सकते हो ॥ ८६ ॥

सर्वथैतदिह श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम् ।
लभते पुरुषः कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥ ५८४६ ॥

मनुष्य सदा इस उत्तम खड्गकी उत्पत्तिका विषय सुनकर इस लोकमें कीर्त्तिलाभ और परलोकमें अत्यन्त सुख भोग करता है ॥ ८७ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ साठवां अध्याय समाप्त ॥ १६० ॥ ५८४६ ॥

: १६१ :

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छावसरं गत्वा भ्रातॄन्विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— भीष्मदेव जब इतनी कथा कहके चुप हुए, तब युधिष्ठिरने अवसर पाके विदुरके संग एकत्र वर्त्तमान चारों भाइयोंसे पूछा ॥ १ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता ।
तेषां गरीयान्कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों विषयोंसे लोकव्यवहार चलता है; उनमें कौन सबसे उत्तम, कौन मध्यम और कौनसा निकृष्ट है? ॥ २ ॥

कस्मिंश्चात्मा नियन्तव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै ।
संतुष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद्वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥

तथा काम, क्रोध और लोभको जीतनेके लिये विशेषतः किस विषयमें चित्त लगाना चाहिये; आप लोग अच्छी तरह प्रसन्न होकर यह विषय यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये ॥ ३ ॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् ।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

अनन्तर अर्थकी गति और तत्वको जाननेवाले बुद्धिमान् विदुर धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहने लगे ॥ ४ ॥

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा ।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसंपदः ॥ ५ ॥

अनेक शास्त्रोंको पढना, तपस्या, त्याग, दान, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, कपटहीनता, भावशुद्धि, दया, सत्य और इन्द्रियनिग्रह— ये सब धर्मकी— आत्माकी सम्पत्ति हैं ॥ ५ ॥

×

एतदेवाभिपद्यस्व मा ते भूचलितं मनः ।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हितम् ॥ ६ ॥

तुम इन्हींको प्राप्त करो; तुम्हारा चित्त इनकी ओरसे विचलित न हो, धर्म और अर्थका मूल ये ही हैं; यह एकही अत्यंत हितकारी है ॥ ६ ॥

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा दिविगा धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥

ऋषि लोग धर्मके सहारे संसारसे पार हुए हैं, सब लोग धर्मसे ही प्रतिष्ठित हैं; देवताओंने धर्मसे ही दिव्य स्वर्ग पाया है और धर्ममें ही अर्थ स्थित है ॥ ७ ॥

धर्मो राजन्गुणश्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ॥ ८ ॥

हे राजन् ! पण्डित लोग धर्मको ही सब गुणोंके बीच श्रेष्ठ, अर्थको मध्यम और कामको कनिष्ठ कहा करते हैं; इसलिये मनको संयमित करके धर्मको मुख्य ध्येय समझे ॥ ८ ॥

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः ।
पार्थो वाक्यार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यमतन्द्रितः ॥ ९ ॥

विदुरका वचन समाप्त होनेपर धर्म, अर्थके तत्वज्ञ, अर्थशास्त्रके जाननेवाले, पृथापुत्र अर्जुनने सावधान होकर युधिष्ठिरके प्रश्नके अनुसार वक्ष्यमाण वचन कहना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्त्ता प्रशस्यते ।
कृषिवाणिज्यगोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च ॥ १० ॥

राजन् ! यह पृथ्वी कर्मभूमि है, इसलिये इसमें प्रवृत्तिविधायक कर्मकी ही प्रशंसा होती है; कृषि, वाणिज्य, गोपालन और विविध शिल्पकर्म– ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं ॥ १० ॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
न ऋतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ ११ ॥

अर्थ ही सब कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है; अर्थके विना धर्म और काम स्थित नहीं हो सकते; ऐसा श्रुति कहती है ॥ ११ ॥

विजयी ह्यर्थवान्धर्ममाराधयितुमुत्तमम् ।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

विजयी धनवान् मनुष्य ही उत्तम धर्मका पालन और असंयमी पुरुषोंके लिये दुष्प्राप्य इच्छाओंकी प्राप्ति कर सकता है ॥ १२ ॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।
अर्थसिद्ध्या हि निर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ १३ ॥

धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं, ऐसा श्रुतिका कहना है; अर्थकी सिद्धिसे ही इन दोनोंकी सिद्धि होती है ॥ १३ ॥

तद्भूतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः ।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १४ ॥

जैसे सब जीव प्रजापति ब्रह्माकी उपासना करते हैं, वैसे ही सत्कुलमें उत्पन्न पुरुष धनवान् मनुष्यकी सदा सेवा किया करते हैं ॥ १४ ॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः ।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १५ ॥

जटा और मृगछाला धारण करनेवाले, दमयुक्त, जितेन्द्रिय, सिरमुडे और निष्ठावान् ब्रह्मचारी लोग भी अर्थके अभिलाषी होकर पृथक् पृथक् धर्मके अनुसार निवास करते हैं ॥ १५ ॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीसुसंवृताः ।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥ १६ ॥

दूसरे गेरुए वस्त्र पहरके, दाढी–मूंछ बढाये, लज्जाशील, शान्त और सब तहरकी आसक्तिसे रहित विद्वान् पुरुष भी धनकी इच्छा करते हैं ॥ १६ ॥

अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः ।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं मार्गमनुष्ठिताः ॥ १७ ॥

और दूसरे कोई कोई पुरुष जो स्वर्गकी कामना रखते हैं और कुलरीति नियमोंका अवलम्बन करके निज निज धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे भी धनकी इच्छा रखते हैं ॥ १७ ॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे ।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशता ॥ १८ ॥

आस्तिक और नास्तिक लोग परम संयममें रत होके भी अर्थके अभिलाषी होते हैं । अर्थका महत्त्व न जानना तमोमय अज्ञान है और अर्थके महत्त्वका ज्ञान प्रकाशमय है ॥ १८ ॥

भृत्यान्भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान् ।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम् ।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ॥ १९ ॥

जो अपने सेवकोंको भोगमे और शत्रुओंको दण्डसे शासित करता है, वही धनवान है । हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! यही मेरा अपना मत है; अब नकुल और सहदेव कुछ कहनेकी इच्छा करते हैं; इससे इनका वचन सुनिये ॥ १९ ॥

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम् ।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २० ॥

अनन्तर धर्म और अर्थके जाननेवाले माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव अपने उत्तम वचन कहनेको उद्यत हुए ॥ २० ॥

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि च स्थितः ।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद्योगैरुच्चावचैरपि ॥ २१ ॥

मनुष्य बैठते, सोते, चलते और खडे होते समय भी विविध उपायोंसे धनकी आयको दृढ बनानेकी चेष्टा करे ॥ २१ ॥

अस्मिंस्तु वै सुसंवृत्ते दुर्लभे परमप्रिये ।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २२ ॥

परम प्रिय दुर्लभ धनकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य इस लोकमें कामनाओंका फल भोगता है, यह प्रत्यक्ष दीखता है; इसलिये इसमें सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः ।
मध्विवामृतसंयुक्तं तस्मादेतौ मताविह ॥ २३ ॥

धर्मके संग मिला हुआ धन और धनसे संपन्न धर्म वह अवश्य ही आपके लिये अमृतसे युक्त मधुके समान है, यह हम दोनोंका मत है ॥ २३ ॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः ।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद्यो बहिष्कृतः ॥ २४ ॥

अर्थहीन मनुष्यको काम्य वस्तुका भोग नहीं प्राप्त होता और धर्महीन मनुष्यको धन कैसे मिल सकता है ? इसलिये जो पुरुष धर्म और अर्थसे रहित हुआ है, सब लोग उससे उद्विग्न होते हैं ॥ २४ ॥

तस्माद्धर्मप्रदानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना ।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्व एव हि ॥ २५ ॥

इसलिये स्थिरचित्तवाले पुरुषको धर्मको मुख्य मानके अर्थसाधन करना योग्य है; ऐसा होनेसे धर्मपरायण पुरुषपर ही सब प्राणियोंका विश्वास होता है और मनुष्यका सारा कार्य स्वयं हि सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

धर्मं समाचरेत्पूर्वं तथार्थं धर्मसंयुतम् ।
ततः कामं चरेत्पश्चात्सिद्धार्थस्य हि तत्फलम् ॥ २६ ॥

इसलिये पहिले धर्मका आचरण करे । उसके अनन्तर धर्मयुक्त अर्थ प्राप्त करे; पीछे कामका सेवन करे; क्योंकि जिसके प्रयोजन सिद्ध हुए हैं, उसके लिये कामही श्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

विरेमतुस्तु तद्वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २७ ॥

नकुल और सहदेव ऐसा कहके चुप हुए । तब भीमसेन वक्ष्यमाण वचन कहने लगे ॥ २७ ॥

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात्कामो विशिष्यते ॥ २८ ॥

निष्काम पुरुष अर्थकी इच्छा नहीं करता, कामहीन पुरुष धर्मका अभिलाषी नहीं होता और जिसे काम नहीं है वह किसी विषयकी कामना भी नहीं करता, इसलिये कामही उत्तम है ॥ २८ ॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः ।
पलाशफलमूलाशा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ २९ ॥

ऋषि लोग कामनाके कारण फल-मूल-पलाश आदि तथा वायु भक्षण करके, अत्यन्त इंद्रिय संयमी होके तपस्यामें रत हुआ करते हैं ॥ २९ ॥

वेदोपवादेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः ।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३० ॥

दूसरे लोग कामनाके कारण ही वेद वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुशीलनमें रत होकर उसमें पारङ्गत विद्वान् होते हैं; कामनाके कारण ही लोग श्राद्ध, यज्ञ, दान और प्रतिग्रह करते हैं ॥ ३० ॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा ।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३१ ॥

बनिये, कृषक, पशुपालक, कारीगर, शिल्पकार और जो लोग देवकर्म किया करते हैं, वे सभी कामनाके अनुसार कार्योंमें नियुक्त होते हैं ॥ ३१ ॥

समुद्रं चाविशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः ।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३२ ॥

कोई कोई मनुष्य कामनायुक्त होकर समुद्रमें प्रवेश करते हैं । कामनाके रूप अनेक तरहके हैं; सब प्रदार्थ ही कामनासे व्याप्त होरहे हैं ॥ ३२ ॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद्भूतं कामात्मकात्परम् ।
एतत्सारं महाराज धर्मार्थावत्र संश्रितौ ॥ ३३ ॥

हे महाराज ! सभी प्राणी कामनायुक्त हैं; कामना रहित प्राणी कहीं नहीं है, कभी नहीं था और भविष्यमें नहीं होगा ही; इसलिये यही काम त्रिवर्गका सार है; धर्म और अर्थ इसहीमें स्थित हो रहे हैं ॥ ३३ ॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।
श्रेयस्तैलं च पिण्याकाद्‌घृतं श्रेय उदश्वितः ॥ ३४ ॥

जैसे दहीसे साररूप माखन है, वैसे ही धर्म और अर्थका सार काम है; जैसे खलीसे तेल श्रेष्ठ है, मट्ठेसे घी श्रेष्ठ है, ॥ ३४ ॥

श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात्कामो धर्मार्थयोर्वरः ।
पुष्पतो मध्विव रसः कामात्संजायते सुखम् ॥ ३५ ॥

काष्ठसे फूल और फल तथा पुष्पसे उसका मधु तुल्य रस श्रेष्ठ है; वैसे ही धर्म और अर्थसे काम उत्तम है; काम ही धर्म–अर्थ स्वरूप है, कामसे सुख प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभिर्मदोत्कटाभिः प्रियवादिनीभिः ।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं कामो हि राजंस्तरसाभिपाती ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! आप उत्तम वेषसे भूषित, आभूषणोंसे परिपूरित, मदसे मतवाली, प्रिय भाषण करनेवाली खूबसूरत स्त्रियोंके सङ्ग कामनानुसार क्रिडा करिये; हमारे लिये बलयुक्त काम ही उत्तम है ॥ ३६ ॥

बुद्धिर्ममैषा परिषत्स्थितस्य मा भूद्विचारस्तव धर्मपुत्र ।
स्यात्संहितं सद्भिरफल्गुसारं समेत्य वाक्यं परमानृशंस्यम् ॥ ३७ ॥

हे धर्मराज ! मैंने अच्छी तरह विचार करके बुद्धिसे यह निश्चय किया है; इसलिये आपको इस विषयमें विचार करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। मेरा यह उत्तम, कोमल, दुष्टतारहित वचन सारभूत है, इसलिये साधु पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं ॥ २७ ॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यस्त्वेकसेवी स नरो जघन्यः ।
द्वयोस्तु दक्षं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे ॥ ३८ ॥

धर्म, अर्थ और कामको समान रीतिसे एक साथ ही सेवन करना योग्य है; जो पुरुष एकका ही सेवन करता है, वह अधम है; धर्म और अर्थ दोनोंके सेवनमें निपुण है, वह पुरुष मध्यम श्रेणीका है; और जो इन तीनोंमें समानतया रत है, वह उत्तम मनुष्य है ॥ ३८ ॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः ।
ततो वचः संग्रहविग्रहेण प्रोक्त्वा यवीयान्विरराम भीमः ॥ ३९ ॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दन चर्चित और माला तथा आभूषणोंसे भूषित युवा भीमसेन वीरोंके निकट संक्षेप और विस्तारयुक्त वचनसे अपना अभिप्राय प्रकट करके चुप हुए ॥ ३९ ॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक् ।
उवाच वाचावितथं स्मयन्वै बहुश्रुतो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४० ॥

तब शास्त्र जाननेवाले धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर विदुर आदिकी बातोंको मुहूर्त भरके बीच भली भांति विचार करके मुसकराते हुए यथार्थ वचन कहने लगे ॥ ४० ॥

निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः ।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्यमुक्तं यद्वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे ।
इह त्ववश्यं गदतो ममापि वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४१ ॥

आप लोग धर्मशास्त्रके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निर्णय किये हुए हैं; आप सब प्रमाणोंको निःसंदेह मालूम किये हैं। मैंने जो जाननेकी इच्छासे कहा था, उसका सिद्धान्त वचन आपसे सुना; आप लोगोंने जो कहा, वह अवश्य ही निश्चित वचन है; परन्तु अब मैं कुछ कहता हूं, सावधानचित्तसे सुनिये ॥ ४१ ॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनः स मुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य पाप, पुण्य, धर्म, अर्थ और काममें रत नहीं है, जो दोषरहित और सुवर्ण तथा मिट्टीके ढेलेमें समदर्शी है, वह सुख, दुःख और अर्थसिद्धिसे छूट जाता है ॥ ४२ ॥

भूतानि जातीमरणान्विनानि जराविकारैश्च समन्वितानि ।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४३ ॥

पूर्वजन्मको स्मरण करनेवाले और जराविकारसेयुक्त मनुष्य लोग बार बार सुखदुःख आदिके उपभोगसे पीडित हो, उससे सावधान होकर मोक्षकी प्रशंसा किया करते हैं; परन्तु हम मोक्षका विषय कुछ भी नहीं जानते हैं ॥ ४३ ॥

स्नेहे नबद्धस्य न सन्ति तानीत्येवं स्वयंभूर्भगवानुवाच ।
बुधाश्च निर्वाणपरा वदन्ति तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ॥ ४४ ॥

भगवान् स्वयम्भूने कहा है, कि राग, द्वेष और स्नेहसे युक्त मूढ पुरुषकी मुक्ति कभी नहीं होती; आसक्तिहीन पण्डित लोग मुक्तिलाभ करते हैं; इसलिये मुमुक्षु किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे ॥ ४४ ॥

एतत्प्रधानं न तु कामकारो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा चरामि ।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४५ ॥

मोक्षप्राप्तिका यही उत्तम उपाय है; मेरे इच्छानुसार प्रवृत्त होनेपर भी विधाता मुझे जिस विषयमें जिस तरह नियुक्त करता है, वैसा ही मैं करता हूं; विधाता ही सब प्राणियोंको समस्त विषयोंमें नियुक्त करता है; इसलिये सबको जानना चाहिये, कि विधाता ही बलवान् है ॥४५॥

न कर्मणाप्नोत्यनवाप्यमर्थं यद्भावि सर्वं भवतीति वित्त ।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं तस्मादिदं लोकहिताय गुह्यम् ॥ ४६ ॥

इसे तुम सबको जानना उचित है, कि कर्मसे अप्राप्य अर्थ नहीं मिलता; जो अवश्य होनहार है, वही प्राप्त होता है; धर्म, अर्थ, काम– इन त्रिवर्गोंसे हीन मनुष्य भी अर्थलाभ करता है; इसलिये सब लोकोंके हितके लिये विधाताने इस विषयको अत्यन्त गोपनीय कर रखा है ॥४६॥

ततस्तदर्ग्यं वचनं मनोनुगं समस्तमाज्ञाय ततोऽतिहेतुमत् ।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते कुरुप्रवीराय च चक्रुरञ्जलीन् ॥ ४७ ॥

अनन्तर भीमसेन आदि युधिष्ठिरका वह सब उत्तम, युक्ति-कल्याणयुक्त और मनोहर वचन सुनके अच्छी तरहसे समझकर हर्षित तथा प्रसन्न हुए और उन्होंने हाथ जोडके उस कुरुप्रवीर युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ ४७ ॥

सुचारुवर्णाक्षरशब्दभूषितां मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम् ।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ।
पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं ततः परं धर्ममहीनसत्त्वः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥ ५८९४ ॥

हे राजन् ! वे सब राजालोग उत्तम वर्णाक्षरोंसे विभूषित युधिष्ठिरके कही हुई कण्टकरहित कथा सुनके उसकी अत्यन्त ही प्रशंसा करने लगे। अनन्तर वह सावधान चित्तवाले गंगापुत्र भीष्मदेवके समीप आके फिर परम धर्मका विषय पूछने लगे ॥ ४८ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६१ ॥ ५८९४ ॥

: १६२ :

युधिष्ठिर उवाच -

पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
प्रश्नं कंचित्प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कुरुकुलकी कीर्ति बढानेवाले महाबुद्धिमान् पितामह ! मैं और भी कुछ पूछता हूं, उसे वर्णन करिये ॥ १ ॥

कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत् ।
आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान्वदस्व मे ॥ २ ॥

कैसे मनुष्य सौम्य स्वभावके होते हैं ? किनके सङ्ग प्रीति करनी उत्तम होती है ? भविष्य और वर्त्तमान कालमें कौनसे लोग हितकारी हुआ करते हैं ? आप मेरे समीप इन सब पुरुषोंका विषय वर्णन करिये ॥ २ ॥

न हि तत्र धनं स्फीतं न च संबन्धिबान्धवाः ।
तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥

मुझे ऐसा मालूम होता है, कि बहुतसा धन सम्बन्धी और बान्धव सुहृदोंके समान नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत् ।
एतद्धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

हितकारी वचन सुननेवाला और हितकर कार्योंको करनेवाला, मित्र अत्यन्त दुर्लभ है । हे धार्मिकप्रवर ! आप यह सब वर्णन करिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच --

संधेयान्पुरुषान्राजन्नसंधेयांश्च तत्त्वतः ।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्म बोले– हे धर्मराज ! किन पुरुषोंके साथ मित्रता करनी चाहिये और किनके साथ मित्रता करनी योग्य नहीं है, उसे यथार्थ रीतिसे कहता हूं, ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ५ ॥

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतः शठ एव च ।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः ॥ ६ ॥

हे नरनाथ ! जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, धूर्त्त, शठ, क्षुद्र, पापी, सबसे शङ्का करनेवाला, आलसी, ॥ ६ ॥

दीर्घसूत्रोऽनृजुः कष्टो गुरुदारप्रधर्षकः ।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥

दीर्घसूत्री, कोमलताहीन, अनिष्ट, गुरुस्त्रीगामी, विपदमें पडे हुए बान्धवोंको त्यागनेवाला, दुष्टात्मा, लज्जारहित, ॥ ७ ॥

सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः ।
संप्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामनिरतश्चरेत् ॥ ८ ॥

सब तरहसे पापदर्शी, नास्तिक, वेदनिन्दक, जनसमाजमें स्वेच्छाचारी तथा इन्द्रियोंके वशमें होनेवाला, ॥ ८ ॥

असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः ।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

झूठा, लोगोंसे द्वेष करनेवाला, कार्यके समय असावधान, चुगुलखोर, नष्टबुद्धि, मत्सरी, पाप करनेवाला, ॥ ९ ॥

दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा ।
मित्रैरर्थकृती नित्यमिच्छत्यर्थपरश्च यः ॥ १० ॥

अशुद्धचित्तवाला, नृशंस, कितव, सदा मित्रोंका अपकार करनेवाला और दूसरोंका धन लेनेकी इच्छा करनेवाला, ॥ १० ॥

+

वहतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः ।
अमित्रमिव यो भुङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥

शक्तिके अनुसार दान करनेपर भी प्रसन्न नहीं होता, नीचबुद्धि, जो पुरुष सदा मित्रको भी शत्रुवत् मानता है, ॥ ११ ॥

अस्थानक्रोधनो यश्च अकस्माच्च विरज्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी ॥ १२ ॥

जो विनाकारणके ही क्रोध करनेवाला और अकस्मात् विरोध किया करता है; जो पापी हितैषी मित्रोंको शीघ्र परित्याग करता, ॥ १२ ॥

अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात्कृतेऽपि च ।
कार्योपसेवी मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥

जो मूढ पुरुष अनजानेमें थोडी भी बुराई होनेके कारण मित्रका अनिष्ट करता है; अपना काम बनानेके लिये उसही समय मित्रोंकी उपासना किया करता है, मित्रद्वेषी, ॥ १३ ॥

शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोभनः ।
न रज्यति च कल्याणे यस्त्यजेत्ताहशं नरम् ॥ १४ ॥

जो मुखसे मित्रता दिखाकर अंदरसे शत्रुभाव रखता है, विपरीतदृष्टि, अत्यंत लोभी, हितमें रत मनुष्यका भी परित्याग करनेवाला, ॥ १४ ॥

पानपो द्वेषणः क्रूरो निर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक्तथा प्राणिवधे रतः ॥ १५ ॥

सुरा पीनेवाला, शत्रुता करनेवाला, क्रूर, दयारहित, कठोर, दूसरेसे डाह करनेवाला, मित्रद्रोही, प्राणिहिंसामें रत, ॥ १५ ॥

कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कथंचन ।
छिद्रान्वेषी न संधेयः संधेयानपि मे शृणु ॥ १६ ॥

कृतघ्न और जो अधम है, उसके साथ कभी मित्रता करनी उचित नहीं है । जो दूसरोंका छिद्र खोजता है, वह भी संधि करने योग्य नहीं है । अब जिसके साथ मित्रता करनी उचित है, वह मुझसे सुनिये ॥ १६ ॥

कुलीना वाक्यसंपन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः ।
मित्रज्ञाश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञाः शोकवर्जिताः ॥ १७ ॥

जो लोग सत्कुलमें उत्पन्न हुए, वचनयुक्त, ज्ञानविज्ञानके जाननेवाले, मधुर स्वभाववाले, सत्य-प्रिय, जितेन्द्रिय, उत्तम मित्रयुक्त, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, शोकहीन, ॥ १७ ॥

माधुर्यगुणसंपन्नाः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ।
व्यायामशीलाः सततं भृतपुत्राः कुलोद्गताः ॥ १८ ॥

सदा कसरत करनेवाले, उत्तम कुलोत्पन्न, अपने बंधुजनोंका भार वहन करनेमें समर्थ, ॥१८॥

रूपवन्तो गुणोपेतास्तथालुब्धा जितश्रमाः ।
दोषैर्वियुक्ताः प्रथितैस्ते ग्राह्याः पार्थिवेन ह ॥ १९ ॥

रूपवान्, गुणवान्, अलोभी, परिश्रमी, दोषरहित और जनसमाजमें विख्यात हैं, वे सब मनुष्य राजाके ग्राह्य हुआ करते हैं ॥ १९ ॥

यथाशक्तिसमाचाराः सन्तस्तुष्यन्ति हि प्रभो ।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद्विरागिणः ॥ २० ॥

हे प्रभो ! जो लोग शक्तिके अनुसार सदाचारमें रत होकर सन्तुष्ट होते हैं, विना कारणके क्रोध नहीं करते, जो अकस्मात् स्नेहका त्याग नहीं करते, ॥ २० ॥

विरक्ताश्च न रुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः ।
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः ॥
न विरज्यन्ति मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥

जो मन ही मन विरक्त होनेपर भी बुराई नहीं चाहते, अर्थ कोविद; जो स्वयं कष्ट सहके भी मित्रका कार्य सिद्ध करते हैं; जैसे रंगा हुआ ऊनी वस्त्र अपना रंग नहीं छोडता, वैसे ही वे लोग मित्रोंसे विरक्त नहीं होते हैं ॥ २१ ॥

दोषांश्च लोभमोहादीनर्थेषु युवतिष्वथ ।
न दर्शयन्ति सुहृदां विश्वस्ता बन्धुवत्सलाः ॥ २२ ॥

दोषोंके वशमें होकर मित्रका अनर्थ नहीं करते और लोभ-मोहके कारण स्त्रियोंको आसक्तिसे दुःखित नहीं करते; जो विश्वासपात्र और बन्धुओंके प्रति प्रीतियुक्त हैं, ॥ २२ ॥

लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्स्वशठबुद्धयः ।
ये चरन्त्यनभीमाना निसृष्टार्थविभूषणाः ।
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा ॥ २३ ॥

जो सुवर्ण और लोष्टमें समदर्शी और सहृदोंके विषयमें कुटिलतारहित बुद्धियुक्त हुआ करते हैं, जो मनुष्य शास्त्रज्ञानका अभिमान त्यागके चलते हैं और प्रारब्धसे प्राप्त हुए विभूषणोंमें संतुष्ट रहते हैं; कुटुम्बीजनोंका संग्रह करते हुए सदा स्वामीके कार्यमें तत्पर होते हैं, ॥२३॥

ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैः संधिं यः कुरुते नृपः ।
तस्य विस्तीर्यते राष्ट्रं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥ २४ ॥

वैसे श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ जो राजा मित्रता करता है, उसका राज्य चन्द्रमाकी चन्द्रिकासमान बढता है ॥ २४ ॥

शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणप्रियाः ।
क्षान्ताः शीलगुणोपेताः संधेयाः पुरुषोत्तमाः ॥ २५ ॥

सदा शास्त्रमें रत, क्रोध जीतनेवाले, पराक्रमी, युद्धप्रिय, क्षमाशील, शीलयुक्त और गुणवान् हैं ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके सङ्ग मित्रता करनी उचित है ॥ २५ ॥

ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ ।
तेषामप्यधमो राजन्कृतघ्नो मित्रघातकः ।
त्यक्तव्यः स दुराचारः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ २६ ॥

हे पापरहित महाराज ! पहिले मैंने जो दोषयुक्त मनुष्य कहा है, उन सबमें कृतघ्न और मित्रघाती पुरुष अधम है; ऐसे दुराचारियोंका परित्याग करना योग्य है, यह सबका निश्चिय है ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—
विस्तरेणार्थसंबन्धं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तं च मे वद ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे राजन् ! आपने जो मित्रद्रोही और कृतघ्नका विषय कहा, मैं उसका पूरा इतिहास विस्तारके सहित सुननेकी इच्छा करता हूं; इससे मेरे समीप उसे वर्णन कीजिये ॥२७॥

भीष्म उवाच—
हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
उदीच्यां दिशि यद्वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप ॥ २८ ॥

भीष्म बोले—हे नरनाथ ! उत्तर दिशामें म्लेच्छ देशके बीच जो घटना हुई थी; मैं प्रसन्न होकर तुम्हारे निकट वह प्राचीन इतिहास वर्णन करता हूं; सुनो ॥ २८ ॥

ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कृष्णाङ्गो ब्रह्मवर्जितः ।
ग्रामं प्रेक्ष्य जनाकीर्णं प्राविशद्भैक्षकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

मध्यदेशीय गौतम नाम किसी कुबडे और वेदाध्ययनसे रहित ब्राह्मणने लोगोंसे परिपूर्ण एक गांव देखकर भीख मांगनेकी इच्छासे उसमें प्रवेश किया ॥ २८ ॥

तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित् ।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥ ३० ॥

वहां सब वर्णोंके विषयको जाननेवाला ब्रह्मनिष्ठ, सत्यसन्ध, दानमें रत एक धनवान डकैत वास करता था ॥ ३० ॥

तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत ।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणने उसके स्थानमें पहुंचके रहनेके लिये घर और वर्षभर निर्वाह करनेके योग्य भिक्षा मांगी ॥ ३१ ॥

प्रादात्तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदृशं नवम् ।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तदा ॥ ३२ ॥

डाकूने भिक्षाका योग्य प्रबन्ध करके, उस ब्राह्मणके योग्य नया वस्त्र और सेवाके लिये एक पतिहीन युवा स्त्री दासी दान की ॥ ३२ ॥

एतत्संप्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तदा ।
तस्मिन्गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! उस समय ब्राह्मण डाकूके समीप वह सब पाके प्रसन्न-चित्त होकर, उस उत्तम गृहमें स्त्रीके सहित परम सुखसे वह गौतम ब्राह्मण रहने लगा ॥ ३३ ॥

कुटुम्बार्थेषु दस्योः स साहाय्यं चाप्यथाकरोत् ।
तत्रावसत्ततोऽथ वर्षाः समृद्धे शबरालये ।
बाणवेध्ये परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः ॥ ३४ ॥

और उस दासीके कुटुम्बकी सहायता भी करने लगा; उसने डकैतके उस समृद्धियुक्त स्थानमें कई वर्षोंतक वास किया; क्रमसे बाण वेधनेमें गौतम अत्यन्त यत्नवान् हुआ ॥ ३४ ॥

चक्राङ्गांस्तु स नित्यं वै सर्वतो बाणगोचरे ।
जघान गौतमो राजन्यथा दस्युगणस्तथा ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! वह गौतम कुबडा होते हुए भी डाकुओंकी तरह जंगलमें घूमफिरकर सदा बाणोंसे वनचारी हंसोंको मारने लगा ॥ ३५ ॥

हिंसापरो घृणाहीनः सदा प्राणिवधे रतः ।
गौतमः संनिकर्षेण दस्युभिः समतामियात् ॥ ३६ ॥

गौतम धीरे धीरे हिंसायुक्त, दयाहीन और सदा प्राणियोंके वधमें रत रहनेसे तथा दस्युओंके सहवासके कारण उनके समान होगया ॥ ३६ ॥

तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ।
अगच्छन्बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून् ॥ ३७ ॥

उस समय उसी भांति अनेक पक्षियोंको मारते और डकैतके गांवमें वास करते हुए उसके कई महीने व्यतीत हुए ॥ ३७ ॥

ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागमत् ।
जटी चीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः ॥ ३८ ॥

अनन्तर एक समय कोई दूसरा ब्राह्मण उस गाममें आया; जो जटा, वल्कल, मृगछाल धारण करनेवाला, स्वाध्यायमें रत, पवित्र, ॥ ३८ ॥

विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ।
सब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियम् ।
तं दस्युग्राममगमद्यत्रासौ गौतमोऽभवत् ॥ ३९ ॥

विनययुक्त, नियमके अनुसार भोजन करनेवाला, ब्रह्मनिष्ठ और वेदपारंग था, वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण गौतमके गांवका निवासी और उसका अत्यन्त प्यारा तथा सखा था; गौतम डाकुओंके जिस गांवमें वास करता था, वह भी उस ही जगह उपस्थित हुआ ॥ ३९ ॥

स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः ।
ग्रामे दस्युजनाकीर्णे व्यचरत्सर्वतोदिशम् ॥ ४० ॥

वह शूद्रका अन्न नहीं लेता था, इस ही कारण डाकुओंसे परिपूरित उस गांवमें ब्राह्मणका घर खोजता हुआ सब और घूमने लगा ॥ ४० ॥

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः ।
गौतमश्चापि संप्राप्तस्तावन्योन्येन संगतौ ॥ ४१ ॥

अनन्तर उस श्रेष्ठ विप्रने गौतमके गृहमें प्रवेश किया । गौतम भी उस समय वहां उपस्थित हुआ; इससे परस्पर भेंट हुई ॥ ४१ ॥

वक्राङ्गभारहस्तं तं धनुष्पाणिं कृतागसम् ।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४२ ॥

नये ब्राह्मणने गौतमको कन्धेपर हंसका भार और हाथमें धनुषबाण लिये, पाप कृत्य किया हुआ रुधिरपूरित शरीरसे राक्षसकी तरह घरके दरवाजेपर आया हुआ ॥ ४२ ॥

तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम् ।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडामगमद्वाक्यमाह च ॥ ४३ ॥

देखकर वह जान गया कि यह ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुका है; पहिलेकी पहचानके कारण उसे इस अवस्थामें आया देख पहचान कर वह बडा लज्जित होकर उसने यह वचन कहा ॥४३॥

किमिदं कुरुषे मौढ्याद्विप्रस्त्वं हि कुलोद्गतः ।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४४ ॥

तुम वंशके धुरन्धर विप्र होके मूढताके वशमें पडके यह कौनसा कार्य कर रहे हो ? मध्य-देशके विख्यात ब्राह्मण होके किस कारण दस्युभावको प्राप्त हुए हो ? ॥ ४४ ॥

पूर्वान्स्मर द्विजाग्र्यांस्तान्प्रख्यातान्वेदपारगान् ।
येषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥

तुम अपने उन ब्राह्मणश्रेष्ठ प्रख्यात वेदपारग पूर्वजोंका स्मरण करो; तुम उन्हींके वंशमें जन्म लेके ऐसे कुलाङ्गार हुए हो ॥ ४५ ॥

अवबुध्यात्मनात्मानं सत्यं शीलं श्रुतं दमम् ।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ॥ ४६ ॥

हे द्विज ! तुम स्वयं अपने आपको जानके और ब्राह्मणके सत्य, शील, अध्ययन, दम तथा दयाको स्मरण करके इस निवासस्थानको छोडो ॥ ४६ ॥

एवमुक्तः स सुहृदा तदा तेन हितैषिणा ।
प्रत्युवाच ततो राजन्विनिश्चित्य तदार्तवत् ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! अनन्तर गौतमने उस हितैषी मित्रका ऐसा वचन सुनके और उसकी बातोंको विशेषरूपसे निश्चय करके आर्त्त पुरुषकी तरह उत्तर दिया ॥ ४७ ॥

अधनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ न च वेदविदप्यहम् ।
वृत्त्यर्थमिह संप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ ४८ ॥

हे द्विजसत्तम ! मैं धनहीन और वेदज्ञानसे रहित हूं; इसही कारण हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! धनसंग्रह करनेके लिये इस स्थानमें आया हूं, तुम ऐसाही समझो ॥ ४८ ॥

त्वद्दर्शनात्तु विप्रर्षे कृतार्थं वेद्म्यहं द्विज ।
आत्मानं सह यास्याव: श्वो वसाद्येह शर्वरीम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥ ५९४३ ॥

हे विप्रवर ! आज मैं आपको देखके कृतार्थ हुआ; आजकी रात आप इस ही स्थानमें वास करिये; कल हम दोनों साथ ही चलेंगे ॥ ४९ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ बासठवां अध्याय समाप्त ॥ १६२ ॥ ५९४३ ॥

: १६३ :

भीष्म उवाच—

तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन्द्विजोत्तमे ।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत्समुद्रं प्रति भारत ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! रात बीतनेपर भोरके समय उस ब्राह्मणके जानेके अनन्तर गौतमने घरसे निकलके समुद्रकी ओर गमन किया ॥ १ ॥

सामुद्रकान्स वणिजस्ततोऽपश्यत्स्थितान्पथि ।
स तेन सार्थेन सह प्रययौ सागरं प्रति ॥ २ ॥

चलते चलते रास्तेमें समुद्रके आसपास रहनेवाले बनियोंको देखा; फिर वह उन लोगोंके साथ समुद्रकी ओर जाने लगा ॥ २ ॥

ततोऽस्तं भास्करे याते संध्याकाल उपस्थिते ।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात्खगोत्तमः ॥ १७ ॥

अनन्तर सूर्यके अस्त तथा सन्ध्याकालके उपस्थित होनेपर ब्रह्मलोकसे वहां एक श्रेष्ठ पक्षी आया; वह वृक्ष उसका वासस्थान था ॥ १७ ॥

नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा ।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसंभवः ॥ १८ ॥

वह कश्यप महर्षिका पुत्र और ब्रह्माका प्रिय सखा था; उसका नाम नाडीजङ्घ था; वह बक पक्षियोंका राजा और अत्यंत बुद्धिमान् था ॥ १८ ॥

राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि ।
देवकन्यासुतः श्रीमान्विद्वान्देवपतिप्रभः ॥ १९ ॥

देवराजके समान प्रभायुक्त, देवकन्यापुत्र, श्रीमान् , विद्वान्, निरुपम बकराज पृथ्वीपर राजधर्मी नामसे भी विख्यात था; ॥ १९ ॥

मृष्टहाटकसंछन्नो भूषणैरर्कसंनिभैः ।
भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन् ॥ २० ॥

उसका सब शरीर सूर्यके चमकीले किरणोंके समान सुवर्णमय भूषणोंसे विभूपित था, वह देवगर्भसे उत्पन्न हुआ पक्षिराज अपने सभी अंगोंमें दिव्य अलंकारोंसे भूपित हो उस समय सुन्दरतासे प्रकाशित होता था ॥ २० ॥

तमागतं द्विजं दृष्ट्वा विस्मितो गौतमोऽभवत् ।
क्षुत्पिपासापरीतात्मा हिंसार्थी चाप्यवैक्षत ॥ २१ ॥

गौतम उस पक्षिश्रेष्ठको आया हुआ देखके विस्मययुक्त हुआ; वह भूख और प्याससे अत्यन्त व्याकुल था; इस कारण पक्षीको मार डालनेकी इच्छासे देखने लगा ॥ २१ ॥

राजधर्मोवाच —

स्वागतं भवते विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम् ।
अस्तं च सविता यातः संध्येयं समुपस्थिता ॥ २२ ॥

राजधर्मा बोले— हे विप्र! आपका स्वागत है। मेरे भाग्यसे ही आप मेरे घरपर उपस्थित हुए हैं। सूर्य अस्ताचलको चला गया और सन्ध्याका समय उपस्थित हुआ है ॥ २२ ॥

मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः ।
पूजितो यास्यासि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥ ५९६६ ॥

आप अनिन्दित और प्रिय अतिथि कृपापूर्वक मेरे घर आये हैं; इसलिये आज इसी स्थानपर विधिपूर्वक सत्कृत-पूजित होकर निवास करिये; कल सवेरे निज स्थानपर जाइयेगा ॥ २३ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ तिरसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६३ ॥ ५९६६ ॥

: १६४ :

भीष्म उवाच—

गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा ।
कौतूहलान्वितो राजन्राजधर्माणमैक्षत ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! उस समय गौतम पक्षीकी उस मधुर वाणीको सुनकर विस्मित और कौतूहलयुक्त होकर राजधर्माको देखने लगा ॥ १ ॥

राजधर्मोवाच—

भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे ।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजर्षभ ॥ २ ॥

राजधर्मा बोला— हे द्विजवर ! मैं कश्यपका पुत्र हूं, दाक्षायणी मेरी माता है; आप गुणवान अतिथि हैं; मैं आपका स्वागत करता हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं समुपकल्पयत् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर कश्यपपुत्र राजधर्माने उस ब्राह्मणका विधिपूर्वक सत्कार करके शाल फूलोंका दिव्य आसन बैठनेके लिये प्रदान किया ॥ ३ ॥

भगीरथरथाक्रान्तान्देशान्गङ्गानिषेवितान् ।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥ ४ ॥

राजा भगीरथके रथसे आक्रान्त हुए भूभागोंमें गंगा प्रवाहित होती है, वहांके जलमें जो बडे मत्स्य विचरते हैं, उनमेंसे कुछ मत्स्य लाकर गौतमकी भोजनकी व्यवस्था की ॥ ४ ॥

वह्निं चापि सुसंदीप्तं मीनांश्चैव सुपीवरान् ।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपः ॥ ५ ॥

कश्यप पुत्रने अग्नि प्रज्वलित करके, बडे मत्स्य लाकर गौतम अतिथिको अर्पण किये ॥ ५ ॥

भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महामनाः ।
क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ॥ ६ ॥

ब्राह्मण भोजन करके प्रसन्न हुआ, महामनस्वी बकराज उसकी थकावट दूर होनेके लिये अपने पङ्खोंसे उसे हवा करने लगा ॥ ६ ॥

ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत ।
सोऽब्रवीद्गौतमोऽस्मीति ब्राह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥

अनन्तर वह विश्रामके बाद जब बैठा, तब राजधर्माने उसका नाम और गोत्र पूछा। वह "मैं गौतम हूं और मैं ब्राह्मण हूं"— इतना ही कहके और कुछ न बोला ॥ ७ ॥

तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम् ।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात्स शिश्ये तत्र वै सुखम् ॥ ८ ॥

फिर पक्षिराजने उसे दिव्य फूलोंसे सुवासित सुगन्धमय पत्तोंसे युक्त दिव्य शय्या दी; वह उसपर परम सुखसे सोया ॥ ८ ॥

अथोपविष्टं शयने गौतमं बकराट् तदा ।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥

अनन्तर जब गौतम बिछौनेपर बैठा, तब बोलनेमें कुशल कश्यपपुत्र पक्षिराजने उसके आगमनका प्रयोजन पूछा ॥ ९ ॥

ततोऽब्रवीद्गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते ।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत ॥ १० ॥

हे भारत ! गौतम उससे बोला, हे महाबुद्धिमान ! मैं अत्यन्त दरिद्र हूं, इसलिये धनसञ्चय करनेके वास्ते समुद्रकी ओर जानेकी इच्छा की है ॥ १० ॥

तं काश्यपोऽब्रवीत्प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्रव्यो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥

राजधर्मा प्रसन्न होकर उससे बोला– हे द्विजवर ! आप आतुर न होइये । यहीं कृतकार्य होकर धन-सञ्चयके सहित घर जाइये ॥ ११ ॥

चतुर्विधा ह्यर्थगतिर्बृहस्पतिमतं यथा ।
पारंपर्यं तथा दैवं कर्म मित्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥

हे प्रभो ! बृहस्पतिके मतके अनुसार वंश परम्पर, दैव, धनके लिये किये गये प्रयत्न पूर्वक कर्म और मित्रकी सहायतासे अर्थसिद्धि चार प्रकारकी होती है ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि ।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथार्थवान् ॥ १३ ॥

इस समय मैं तुम्हारा मित्र हुआ हूं और तुम्हारे ऊपर मेरी सुहृदयता उत्पन्न हुई है; इससे तुम जिस तरह धनवान् होगे, मैं उसमें यत्नवान् होऊंगा ॥ १३ ॥

ततः प्रभातसमये सुखं पृष्ट्वाब्रवीदिदम् ।
गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥

अनन्तर पक्षिराज भोरके समय गौतमको सुखसे मंगलकुशल प्रश्न करके यह वचन बोला– हे प्रियदर्शन ! तुम इस मार्गसे जाइये, अवश्य ही कृतकार्य होगे ॥ १४ ॥

इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान् ।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः ॥ १५ ॥

यहांसे तीन योजन जानेपर विरूपाक्ष नामसे विख्यात महाबली पराक्रमी मेरे मित्र एक राक्षसराजको देखोगे ॥ १५ ॥

तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं मम वाक्यप्रचोदितः ।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः ॥ १६ ॥

हे विप्रश्रेष्ठ ! तुम उनके पास जाओ, वह मेरे वचनके अनुसार तुम्हें निःसंदेह यथेष्ट धन और सब अभिलषित वस्तु दान करेंगे ॥ १६ ॥

इत्युक्तः प्रययौ राजन्गौतमो विगतक्लमः ।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्स्म यथेष्टतः ॥ १७ ॥

हे राजन् ! थकावट दूर हुआ गौतम पक्षिराजका ऐसा वचन सुन, इच्छानुसार अमृतसमान मधुर फलोंको खाकर सावधान होके चलने लगा ॥ १७ ॥

चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च ।
तस्मिन्पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ ॥ १८ ॥

महाराज ! वह उस मार्गमें विशेषतः चन्दन, अगरु वृक्षोंके और भोजपत्रोंके सुन्दर वनोंसे होता हुआ शीघ्रताके सहित जाने लगा ॥ १८ ॥

ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम् ।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्रार्गलं तथा ॥ १९ ॥

अनन्तर वह शैल–तोरण सम्पन्न पहाडकी दीवार और पर्वतयुक्त शैलयन्त्रोंसे परिपूरित मेरुव्रज नामक नगरमें जा पहुंचा ॥ १९ ॥

विदितश्चाभवत्तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ।
प्रहितः सुहृदा राजन्प्रीयता वै प्रियातिथिः ॥ २० ॥

हे राजन् ! वह वहां पहुंचके बुद्धिमान् राक्षसराजके प्रिय मित्र– जो बहुत प्रसन्न है– के भेजनेसे आया हूं, कहके प्रिय अतिथि रूपसे मालूम हुआ ॥ २० ॥

ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान्प्रेष्यानाह युधिष्ठिर ।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति ॥ २१ ॥

हे युधिष्ठिर ! अनन्तर राक्षसराजने अपने दूतोंसे कहा, कि नगरके दर्वाजेसे गौतमको शीघ्र लाया जाय ॥ २१ ॥

ततः पुरवरात्तस्मात्पुरुषाः श्वेतवेष्टनाः ।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन् ॥ २२ ॥

शीघ्रता करनेवाले सफेद वस्त्रधारी राजदूतोंने स्वामीकी आज्ञा पाते ही श्रेष्ठ नगरके द्वारपर उपस्थित होकर गौतमका नाम लेकर उसे बुलाया ॥ २२ ॥

ते तमूचुर्महाराज प्रेष्या रक्षःपतेर्द्विजम् ।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ २३ ॥

हे महाराज ! वे सब राक्षसराजके दूत उस समय ब्राह्मणसे बोले– तुम शीघ्रता करो, जलदी चलो; राजा तुम्हें देखनेकी इच्छा करते हैं ॥ २३ ॥

राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः ।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत्क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ २४ ॥

विरूपाक्ष नामसे प्रसिद्ध वीर राक्षसराज तुम्हें देखनेके लिये आतुर हो रहे हैं; इसलिये जलदी आओ ॥ २४ ॥

ततः स प्राद्रवद्विप्रो विस्मयाद्विगतक्लमः ।
गौतमो नगरर्द्धिं तां पश्यन्परमविस्मितः ॥ २५ ॥

अनन्तर गौतम ब्राह्मण वह सुनते ही श्रमरहित तथा उस नगरकी परम समृद्धिको देखकर अत्यन्त विस्मित होके दौडने लगा ॥ २५ ॥

तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत् ।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥ ५९९२ ॥

राक्षसराजके दर्शनकी इच्छा करता हुआ, वह ब्राह्मण दूतोंके सङ्ग शीघ्रही राजमन्दिरमें उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६४ ॥ ५९९२ ॥

: १६५ :

भीष्म उवाच—

ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम् ।
पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर गौतमके आगमनकी राक्षसराजको सूचना दी गयी और वह उसके रमणीय मन्दिरमें प्रविष्ट हुआ; वहां राक्षसराजने उसका सत्कार किया; फिर वह एक सुन्दर आसनपर बैठ गया ॥ १ ॥

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम् ।
न तत्र व्याजहारान्यद्गोत्रमात्राहृते द्विजः ॥ २ ॥

विरूपाक्षने उसके गोत्र, आचार, वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्यके विषयमें पूछा; उसने केवल गोत्र बताया और कुछ भी नहीं कहा ॥ २ ॥

ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायविरतस्य च ।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत ॥ ३ ॥

तब राक्षसराजने उस ब्राह्मणत्वके तेजसे रहित, स्वाध्यायहीन, गोत्रमाके जाननेवाले ब्राह्मणसे उसका निवासस्थान पूछा ॥ ३ ॥

क्व ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते ।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्रमस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

हे विप्र ! तुम्हारा निवास कहां है ? तुम्हारी पत्नी किस गोत्रकी है ? डरो मत, सत्य कहो; निःशङ्क चित्तसे सुखपूर्वक विश्राम करो ॥ ४ ॥

गौतम उवाच—

मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये ।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

गौतम बोला— मैंने मध्यदेशमें जन्म लिया । इस समय डाकूके घर वास करता हूं; मैंने एक विधवा शूद्रासे विवाह किया है, यह बात तुम्हारे निकट सत्यही कहता हूं ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत् ।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर राक्षसराजने विमर्शयुक्त होके मनही मन विचार किया, कि किस तरह यह कार्य सिद्ध होगा ? किस प्रकार मेरा सुकृतसञ्चय हो सकेगा ? इस प्रकार उन्होंने बुद्धिपूर्वक विचार किया ॥ ६ ॥

अयं वै जननाद्विप्रः सुहृत्तस्य महात्मनः ।
संप्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम् ॥ ७ ॥

यह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण है, महात्मा बकराजका मित्र है; इसीसे कश्यपपुत्रने इसे मेरे पास भेजा है; ॥ ७ ॥

तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा ।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयंगमः ॥ ८ ॥

वह सदा मुझपर विश्वास रखता है; तथा मेरा भ्राता, बान्धव और हृदयसे सखा भी है; इसलिये मैं उसका प्रिय कार्य सिद्ध करूंगा ॥ ८ ॥

कार्त्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः ।
तत्रायमपि भोक्ता वै देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥

आज कार्तिकी पूर्णिमाके दिन मेरे यहां सहस्रों श्रेष्ठ ब्राह्मण भोजन करेंगे; यह भी उनके साथ भोजन करेगा; तब उन्हींके साथ इसे धनदान करूंगा ॥ ९ ॥

ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम् ।
स्नातानामनुसंप्राप्तमहतक्षौमवाससाम् ॥ १० ॥

राक्षसराजके ऐसा विचार करनेके अनन्तर स्नात, पीताम्बरधारी और चन्दन आदिसे अलंकृत सहस्रों विद्वान् ब्राह्मण उसके गृहपर भोजनके समय उपस्थित हुए ॥ १० ॥

तानागतान्द्विजश्रेष्ठान्विरूपाक्षो विशां पते।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ११ ॥

हे पृथ्वीपते ! विरूपाक्षने आये हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका शास्त्रीय विधिपूर्वक यथायोग्य स्वागत सत्कार किया ॥ ११ ॥

बृस्यस्तेषां तु संन्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्।
भूमौ वरकुथास्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम ॥ १२ ॥

हे भरतसत्तम ! राक्षसराजकी आज्ञाके अनुसार सेवकोंने भूमिपर उनके लिये कुशके उत्तम आसन बिछा दिये ॥ १२ ॥

तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः।
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणलोग राक्षसराजसे सत्कार पाके आसनोंपर बैठ गये, महाराज ! उन आसनोंपर बैठकर वे चन्द्रमाकी भांति शोभित होने लगे ॥ १३ ॥

ततो जाम्बूनदाः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः।
वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृताप्लुताः ॥ १४ ॥

अनन्तर राक्षसराजने ब्राह्मणोंको घृत और मधुयुक्त उत्तम अन्नोंसे भरे हुए हीरोंसे जटित निर्मलसुवर्ण पात्र प्रदान किया ॥ १३ ॥

तस्य नित्यं तथाषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः।
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा ॥ १५ ॥

हर वर्ष आषाढी और माघी पूर्णमासीको सदा बहुतेरे ब्राह्मण उसके स्थानमें सत्कारपूर्वक इच्छानुसार उत्तम भोजन पाते थे ॥ १५ ॥

विशेषतस्तु कार्त्तिक्यां द्विजेभ्यः संप्रयच्छति।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः ॥ १६ ॥

ऐसा सुननेमें आता है, कि विशेषकरके शरत् ऋतुके बीतनेपर कार्तिककी पूर्णमासीको राक्षसराज बहुत ब्राह्मणोंको इसी तरह भोजन कराके बहुतसे रत्नदान किया करता था ॥ १६ ॥

सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकम्।
वज्रान्महाधनांश्चैव वैडूर्याजिनराङ्कवान् ॥ १७ ॥
रत्नराशीन्विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत।
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान्विरूपाक्षो महायशाः ॥ १८ ॥

भारत ! जो हो, ब्राह्मणोंके भोजन कर चुकनेपर उन्हें दक्षिणा देनेके निमित्त महायशस्वी विरूपाक्षने सोने, चांदी, मणि, मोती, महामूल्यवान् हीरे, वैदूर्यमणि, रंकुमृगके चर्म तथा रत्नोंके ढेर मंगाके उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा— ॥ १७–१८ ॥

गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेप्सतः ।
येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः ।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ १९ ॥

हे द्विजसत्तमो ! आप लोग उत्साहके अनुसार इन रत्नोंको लेके जिसने जिनमें भोजन किया है, वह उन पात्रोंको भी लेकर अपने अपने घर जावे ॥ १९ ॥

इत्युक्तवचने तस्मिन्राक्षसेन्द्रे महात्मनि ।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २० ॥

उन महात्मा राक्षसराजके ऐसा कहनेपर माननीय ब्राह्मणोंने इच्छानुसार उन सब रत्नोंको ग्रहण किया ॥ २० ॥

ततो महार्हैस्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः ।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म तदाभवन् ॥ २१ ॥

फिर पवित्र और महामूल्यवान् रत्नोंसे पूजित होकर वे सब उज्ज्वल वस्त्रधारी ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

ततस्तान्राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः ।
नानादिगागतान्राजन्राक्षसान्प्रतिषिध्य वै ॥ २२ ॥

हे राजन् ! अनन्तर राक्षसराजने अनेक देशोंसे आये हुए राक्षसोंको हिंसा करनेसे रोककर उन ब्राह्मणोंसे फिर कहा ॥ २२ ॥

अद्यैकदिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् ।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात माचिरम् ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मणलोगो ! आज एक दिनके लिये इस स्थानमें आप लोगोंको राक्षसोंसे कुछ भय नहीं है; इसलिये आप लोग आनन्द कीजिये और शीघ्र ही अपने अभिलषित देशोंमें जाइये । देर न कीजिये ॥ २३ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः ।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २४ ॥

अनन्तर ब्राह्मणलोग निज निज दिशाओंकी ओर दौडे; गौतम भी शीघ्रताके सहित सुवर्णभार उठाके चला गया ॥ २४ ॥

कृच्छ्रात्समुद्वहन्वीर न्यग्रोधं समुपागमत् ।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च ह ॥ २५ ॥

हे वीर ! वह अत्यन्त कष्टसे वह भार ढोता हुआ वटवृक्षके निकट उपस्थित हुआ और परिश्रमसे अत्यन्त थककर तथा भूखा होके वहां बैठ गया ॥ २५ ॥

+

ततस्तमभ्यगाद्राजन्राजधर्मा खगोत्तमः ।
स्वागतेनाभ्यनन्दच्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! अनन्तर मित्रवत्सल पक्षिश्रेष्ठ राजधर्मा गौतमके पास आया और स्वागत प्रश्नसे उसे अभिनन्दित किया ॥ २६ ॥

तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत्खगः ।
पूजां चाप्यकरोद्धीमान्भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ २७ ॥

और अपने दोनों पंखोंको डुलाकर उसकी थकावट दूर कर दी; फिर बुद्धिमान् पक्षीने उसका यथा उचित सत्कार–पूजन करके, भोजनकी सामग्री ला दी ॥ २७ ॥

स भुक्तवान्सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत्तदा ।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान्मया ।
गृहीतो लोभमोहाद्वै दूरं च गमनं मम ॥ २८ ॥

गौतम उस समय परिश्रमरहित होके भोजन करके सोचने लगा, कि "मैंने लोभ और मोहके वशमें होकर बहुतसा सुवर्ण भार ग्रहण किया है, मुझे बहुत दूर जाना पडेगा; ॥ २८ ॥

न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ।
किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत् ॥ २९ ॥

रास्तेमें प्राणधारणके लिये भोजनकी कुछ भी सामग्री नहीं है; इससे किस तरह मैं अपने प्राणोंको धारण करूंगा ?" इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ २९ ॥

ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किंचन ।
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् ॥ ३० ॥

हे पुरुषप्रवर ! अनन्तर कृतघ्न ब्राह्मणने मार्गमें जानेके समय खाने योग्य कुछ भी वस्तु सङ्गमें न देखकर मनही मन ऐसाही सोचा ॥ ३० ॥

अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो मम ।
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥ ६०२३ ॥

यह मांसराशि बकराज मेरे बगलमें स्थित है, इसेही मारके ग्रहण करके शीघ्रताके सहित वेगपूर्वक गमन करूंगा ॥ ३१ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ पैसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६५ ॥ ६०२३ ॥

: १६६ :

भीष्म उवाच—

अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः ।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– पक्षिराजने वटवृक्षके निकट ब्राह्मणकी रक्षाके निमित्त वायुकी सहायतासे युक्त महा अर्चिष्मान् अग्नि स्थापित की थी ॥ १ ॥

स चापि पार्श्वे सुष्वाप विश्वस्तो बकराट् तदा।
कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरजागरत् ॥ २ ॥

बकराजने भी विश्वासपूर्वक उसके निकटमें ही शयन किया। दुष्टात्मा कृतघ्न ब्राह्मण उसे मारनेकी इच्छासे उठा ॥ २ ॥

ततोऽलातेन दीप्तेन विश्वस्तं निजघान तम्।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥

अनन्तर उस दुष्टात्माने उस विश्वासी बकराजको जलती हुई लकड़ीसे मार डाला; मारके हर्षित हुआ; मित्रके वधसे होनेवाला पाप अथवा दोष उसने नहीं देखा ॥ ३ ॥

स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत्तदा।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः ॥ ४ ॥

अनन्तर उसने उस मृत पक्षीको पङ्खहीन तथा लोमरहित करके आगके बीच पकाया। पकानेके बाद उस पक्षिमांस और सुवर्णको लेके वह अत्यन्त जलदी वेगपूर्वक जाने लगा ॥ ४ ॥

ततोऽन्यस्मिन्गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत्सुतम्।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥

अनन्तर दूसरा दिन हो जानेपर विरूपाक्षने निज पुत्रको सम्बोधन करके कहा, हे पुत्र! आज मैं पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजधर्माको नहीं देख रहा हूं ॥ ५ ॥

स पूर्वसंध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां चादृष्ट्वा कदाचित्स न गच्छति गृहान्खगः ॥ ६ ॥

वह प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माकी वन्दना करने जाया करते हैं; और मुझे विना देखे कभी घर नहीं जाते थे ॥ ६ ॥

उभे द्विरात्रं सन्ध्ये वै नाभ्यगात्स ममालयम्।
तस्मान्न शुध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत् ॥ ७ ॥

आज दो सन्ध्याएं और दो रात्रि बीत गई, वह मेरे स्थानपर नहीं आये; इसलिये मेरा मन प्रसन्न नहीं होता है; मनमें संदेह होता है; वह मेरे सुहृद् कहां है, उनकी खोज करो ॥ ७ ॥

स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तं गतस्तत्र मे शङ्का हन्यात्तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥

वेदज्ञानसे हीन, ब्रह्मवर्चसरहित, हिंसामें रत, वह अधम ब्राह्मण वहां गया है, वह उनका वध कर सकता है, मुझे ऐसीही शङ्का होरही है ॥ ८ ॥

दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्क्रियो दारुणाकारः कृष्णो दस्युरिवाधमः ॥ ९ ॥

मैंने उसकी चेष्टाओंसे जान लिया है, कि गौतम अत्यन्त दुराचारी, नीचबुद्धि, निष्क्रीय-निर्दयी, दारुण आकारवाला भयंकर और दस्युओंकी तरह अधम प्रकृतिवाला है ॥ ९ ॥

गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम ।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ।
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति माचिरम् ॥ १० ॥

वह उस स्थानपर गया है; इसही लिये मेरा मन व्याकुल होरहा है । हे पुत्र ! इससे तुम शीघ्रही यहांसे राजधर्माके स्थानपर जाके मालूम करो, कि वे शुद्ध स्वभाववाले सुहृद् जीवित हैं, वा नहीं । इसमें देर न करो ॥ १० ॥

स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ।
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत्कङ्कालं राजधर्मणः ॥ ११ ॥

राक्षसराजका पुत्र पिताका वचन सुनकर शीघ्रताके सहित राक्षसोंको सङ्ग लेकर वटवृक्षके निकट गया और जाके वहांपर राजधर्माकी हड्डियां पंख आदि देखी ॥ ११ ॥

स रुदन्नगमत्पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ।
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् राक्षसराजका पुत्र यह देखके अत्यन्त दुःखित होकर रोता हुआ, पूरी शक्तिके अनुसार शीघ्रताके सहित गौतमको पकडनेके लिये दौडा ॥ १२ ॥

ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ।
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम् ॥ १३ ॥

अनन्तर राक्षसोंने कुछ दूर जाके पङ्ख, हड्डी और पैर रहित राजधर्माके शरीरके सहित गौतमको पकडा ॥ १३ ॥

तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ।
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः ।
कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापचेतसम् ॥ १४ ॥

उसे पकडके वे राक्षस शीघ्रताके सहित मेरुव्रज नगरमें गये; उन्होंने राजाको राजधर्माका मृत शरीर दिखाया और पापी कृतघ्न गौतमको भी सामने उपस्थित किया ॥ १४ ॥

रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः ।
आर्तनादश्च सुमहानभूत्तस्य निवेशने ॥ १५ ॥

राजा पुरोहित तथा मन्त्रियोंके सहित उसे देखकर रोने लगे; राजभवनमें बहुतही आर्त्तनाद उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम् ।
अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति ॥ १६ ॥

नगरके बीच बालक, स्त्री सबका चित्त व्याकुल होगया । अनन्तर राक्षसराजने पुत्रको आज्ञा दी, "इस पापीका शीघ्र वध करो" ॥ १६ ॥

अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेच्छतः ।
पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापनिश्चयः ।
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः ॥ १७ ॥

और ये सब राक्षस लोग इच्छानुसार उसका मांस भक्षण करके सन्तुष्ट होवें। हे राक्षसलोगो! मेरे विचारमें ऐसा आता है, कि तुम लोग इसी समय इस पापाचारी, पापकर्म करनेवाले, पापमें रत, पापात्माका वध करो ॥ १७ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ।
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्मायमित्युत ॥ १८ ॥

घोर पराक्रमी राक्षसोंने राक्षसेन्द्रका ऐसा वचन सुनके भी उस पापीको भक्षण करनेकी इच्छा नहीं की ॥ १८ ॥

दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः ।
इत्यूचुस्तं महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः ॥ १९ ॥

महाराज उन सब निशाचरोंने राक्षसराजसे कहा— प्रभो! इस अधम मनुष्यको भक्षण करनेके लिये इसी समय दस्युओंके हाथमें सौंपिये ॥ १९ ॥

शिरोभिश्च गता भूमिमूचू रक्षोगणाधिपम् ।
न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम् ॥ २० ॥

इसका पापमय शरीर भक्षण करनेके वास्ते हम लोगोंको आज्ञा देना आपको उचित नहीं है। इस प्रकार सब राक्षसोंने राक्षसाधिपतिको भूमिपर मस्तक रखकर प्रार्थना की ॥ २० ॥

एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ।
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः ॥ २१ ॥

राक्षसराजने निशाचरोंके वचनमें सम्मत होके उनसे कहा, हे राक्षसलोगो! ऐसा ही होवे; इस कृतघ्नको आज ही दस्युओंके हाथमें सौंपो ॥ २१ ॥

इत्युक्ते तस्य ते दासाः शूलमुद्गरपाणयः ।
छित्त्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा ॥ २२ ॥

शूल और मुद्गलधारी उन सेवकोंने स्वामीकी आज्ञा पाते ही उस पापी गौतमके टुकडे टुकडे करके उस ही समय दस्युओंके हवाले किया ॥ २२ ॥

दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम् ।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥ २३ ॥

दस्युओंने भी उस पापाचारीको भक्षण करनेकी इच्छा नहीं की। हे राजेन्द्र! मांसभक्षी प्राणी भी कृतघ्नका मांस भक्षण नहीं करते ॥ २३ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन्कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मणघाती, सुरा पीनेवाले, चोर और व्रतभंग करनेवाले पुरुषोंके लिये शास्त्रमें प्रायश्चित्त कहा गया है; परन्तु कृतघ्नके उद्धारका कोई मार्ग नहीं बताया गया है ॥ २४ ॥

मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः ।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चान्यैर्न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥ ६०४८ ॥

जो मित्रद्रोही, नृशंस, कृतघ्न और नराधम हैं; मांसभक्षी प्राणी तथा दूसरे मांसभक्षी कीडे भी उन्हें भक्षण नहीं करते ॥ २५ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ छाछठवां अध्याय समाप्त ॥ १६६ ॥ ६०४८ ॥

: १६७ :

भीष्म उवाच—

ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः ।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर राक्षसराजने रत्नों, सुगन्धित द्रव्यों और अनेक वस्त्रोंसे अलंकृत एक चिता बकराजके लिये तैय्यार करायी ॥ १ ॥

तत्र प्रज्वाल्य नृपते बकराजं प्रतापवान् ।
प्रेतकार्याणि विधिवद्राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥

हे नृपते ! तत्पश्चात् वहां बकराजके शवको ऊपर रखकर प्रतापशाली राक्षसराजने उसमें आग लगायी और विधिपूर्वक उसका प्रेत कर्म किया ॥ २ ॥

तस्मिन्कालेऽथ सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा ।
उपरिष्टात्ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥

उस समय दक्षनन्दिनी पयस्विनी शोभना सुरभीदेवी वहां आकर आकाशमें उसके ऊपरके विभागमें खडी हो गयी ॥ ३ ॥

तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदानघ ।
सोऽपतद्वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥ ४ ॥

हे अनघ ! उनके मुखसे क्षीर-मिश्रित फेन निकलके राजधर्माकी चितामें गिरा ॥ ४ ॥

ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदानघ ।
उत्पत्य च समेयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥

अनघ ! अनन्तर बकराज उसहीके जरिये फिर जीवित होके उडकर विरूपाक्षके निकट उपस्थित हुआ ॥ ५ ॥

ततोऽभ्ययाद्देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा ।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्यायं जीवतीत्युत ॥ ६ ॥

उसही समय देवराज इन्द्र विरूपाक्षके नगरमें आके उससे इस प्रकार बोले– हे राक्षसराज ! प्रारब्धसेही तुमने राजधर्माको फिर जीवित किया ॥ ६ ॥

श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् ।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥

पहिले समयमें प्रजापति ब्रह्माने राजधर्माको जो शाप दिया था, देवेन्द्रने वह प्राचीन वृत्तान्त विरूपाक्षको सुनाया ॥ ७ ॥

यदा बकपती राजन्ब्रह्माणं नोपसर्पति ।
ततो रोषादिदं प्राह बकेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! एक समय बकराज प्रजापतिके निकट नहीं गये, इसीसे ब्रह्माने इनके ऊपर क्रुद्ध होके यह शाप वचन कहा था ॥ ८ ॥

यस्मान्मूढो मम सदो नागतोऽसौ बकाधमः ।
तस्माद्वधं स दुष्टात्मा नचिरात्समवाप्स्यति ॥ ९ ॥

"मूर्ख तथा अधम बगला जब मेरी सभामें नहीं आया, तब शीघ्रही उस दुष्टात्माका वध होगा" ॥ ९ ॥

तदायं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै ।
तेनैवामृतासिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥ १० ॥

इसलिये ब्रह्माके वचनके अनुसार ही ये गौतमके जरिये मरकर उन्हींके अमृत सेचनसे फिर जीवित हुए हैं ॥ १० ॥

राजधर्मा ततः प्राह प्रणिपत्य पुरंदरम् ।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः पुरंदर ।
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत ॥ ११ ॥

अनन्तर राजधर्मा बकने पुरन्दरको प्रणाम करके कहा–हे पुरंदर ! यदि आपकी मुझपर कृपा है, तो मेरे प्रियमित्र गौतमको फिर जीवित करिये ॥ ११ ॥

तस्य वाक्यं समाज्ञाय वासवः पुरुषर्षभ ।
संजीवयित्वा सख्ये वै प्रादात्तं गौतमं तदा ॥ १२ ॥

पुरुषप्रवर ! देवराज इन्द्रने उनके वचनके अनुसार अमृत छिडकके उनके मित्र गौतमको भी फिर जिला दिया ॥ १२ ॥

सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ।
संपरिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! बकराजने सुवर्णपात्र आदिसे युक्त उस प्रिय सुहृद्को पाकर परम प्रीतिके सहित आलिङ्गन दिया ॥ १३ ॥

अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः ।
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम् ॥ १४ ॥

फिर बकराज राजधर्माने उस पापाचारीको धन-रत्नोंके सहित विदा कर दिया और स्वयं अपने घरमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तदा ।
ब्रह्मा च तं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् ॥ १५ ॥

तदनंतर बकराज पहिलेकी भांति यथोचित प्रजापतिकी सभामें गया; ब्रह्माने उस महात्माको अतिथि-सत्कारसे सम्मानित किया ॥ १५ ॥

गौतमश्चापि संप्राप्य पुनस्तं शबरालयम् ।
शूद्रायां जनयामास पुत्रान्दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥

गौतम भी फिर डाकूओंके गांवमें जाकर रहने लगा; वहां उसने शूद्राभार्यासे बहुतसे पापी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा ।
कुक्षौ पुनर्भ्वां भार्यायां जनयित्वा चिरात्सुतान् ।
निरयं प्राप्स्यति महत्कृतघ्नोऽयमिति प्रभो ॥ १७ ॥

उस समय देवताओंने गौतमको महाशाप दिया; यह पापाचारी कृतघ्न ब्राह्मण दूसरा पति करनेवाली शूद्रा स्त्रीके गर्भसे बहुत समयतक बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न कर रहा है; इसलिये यह महानरकगामी होगा ॥ १७ ॥

एतत्प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ।
संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं पुरुषर्षभ ।
मयापि भवते सर्वं यथावदुपवर्णितम् ॥ १८ ॥

हे भारत ! मुझसे नारद मुनिने पहले यह सब वृत्तान्त कहा था; भरतर्षभ ! मैंने वह सब स्मरण करके तुम्हारे समीप यथार्थ रीतिसे यह महान् आख्यान वर्णन किया है ॥ १८ ॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १९ ॥

कृतघ्न पुरुषोंको यश, सुख और आश्रयस्थान कैसे प्राप्त हो सकता है ? कृतघ्न अत्यन्त अश्रद्धेय है, कृतघ्न पुरुषका किसी तरह निस्तार नहीं होता ॥ १९ ॥

मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः ।
मित्रध्रुङ्निरयं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

मनुष्यको विशेष करके मित्रद्रोह करना उचित नहीं; मित्रद्रोही मनुष्य अनन्त कालतक महाघोर नरकमें गमन करता है ॥ २० ॥

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चानघ ।
मित्रात्प्रभवते सत्यं मित्रात्प्रभवते बलम् ।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २१ ॥

मित्रकी इच्छा करनेवाले अनघ ! मनुष्यको सदा कृतज्ञ होना उचित है; मित्रसे समस्त वस्तु प्राप्त होती हैं; मित्रसे ही सत्यका और बलका प्रादुर्भाव होता है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारोंके जरिये मित्रकी पूजा करे ॥ २१ ॥

परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः ।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः ॥ २२ ॥

पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार, पापकर्ममें रत, पुरुषोंमें अधम, पुरुषका पण्डित-लोग सदा परित्याग करे ॥ २२ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव ।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

हे धार्मिकवर ! यह मैंने तुम्हारे निकट पापाचारी, मित्रद्रोही और कृतघ्न मनुष्यका विषय वर्णन किया है । फिर कहिये अब कौनसे विषयको सुननेकी अभिलाषा करते हो ? ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥ ६०७२ ॥
॥ समाप्तमापद्धर्मपर्व ॥

हे जनमेजय ! उस समय महानुभाव भीष्मकी कही हुई इतनी कथा सुनके युधिष्ठिर अत्यंत प्रसन्नचित्त हुए ॥ २४ ॥

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक सौ सरसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६७ ॥ ६०७२ ॥

आपद्धर्मपर्व समाप्त ।







पारडी [जि. बलसाड]

